॥ ओ३म् ॥

ऋग्वेद-भाष्य-भास्कर

(महर्षि दयानन्द सरस्वती प्रणीत वेदभाष्य की व्याख्या
सायणभाष्य-समीक्षा सहित)

प्रथम भाग

व्याख्याता व समीक्षक

श्री पण्डित सुदर्शनदेव आचार्य एम० ए०
श्री पण्डित राजवीर आचार्य एम० ए०

प्रकाशक

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

४५५, खारी बावली
दिल्ली-११०००६

दूरभाष—२३३११२, २३८३६०, २५२६७२८

सर्वाधिकार प्रकाशक के अधीन है

दयानन्दाब्द १५४
विक्रम संवत् २०३५, सन् १९७८ ई०
सृष्टि-संवत् १९६०८५३०७८

प्रथम बार—११००

मूल्य ५० रुपये

मुद्रक—सैनी प्रिण्टर्स ७११७ पहाडी धीरज दिल्ली-६

प्राक्कथन (देवतार्थ-सूची)

ईश्वरप्रोक्त स्वतः प्रामाण वेदों में मन्त्रों के देवता का स्पष्ट उल्लेख है। वेदार्थ के अध्येता को उन देवताओं का ज्ञान इसलिए परमावश्यक है, क्योंकि देवता मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय होता है। जब मन्त्र-पठित पदों के धात्वर्थ के अनुसार अनेक अर्थ हो जाते हैं, तब उस स्थान पर कौन सा पदार्थ सुसंगत हो सकता है, इस बात का पूर्णतः निश्चय देवतार्थ को समझकर ही हो सकता है, अन्यथा नहीं। अतः वेदार्थ जिज्ञासुओं तथा गवेषकों को देवता का ज्ञान होना अपरिहार्य है। शौनकीय बृहद्देवता (अ० १ श्लो० २) में देवता का महत्त्व बताते हुए लिखा है—

वेदितव्यं दैवतं हि मन्त्रे मन्त्रे प्रयत्नतः। दैवतज्ञो हि मन्त्राणां तदर्थमवगच्छति॥

अर्थात् प्रत्येक मन्त्र में सर्वप्रथम पूर्ण प्रयत्न करके देवतार्थ का ज्ञान करना चाहिए। क्योंकि देवतार्थ को समझकर ही मन्त्रार्थ का सम्यग् बोध तथा मन्त्रार्थ की पूर्वापर की संगति होती है। वेदार्थ-दीपक निरुक्त में भी देवता को 'महाभाग्याद् देवतायाः' (निरु० ७।४) कहकर महामहिम बताया है। इस दैवत-विज्ञान को महर्षि दयानन्द से पूर्ववर्ती पौराणिक भाष्यकार आचार्य सायण, महीधरादि ने बिल्कुल भी नहीं समझा अथवा जानबूझकर देवतार्थ को छोड़ दिया। क्योंकि देवता के अर्थ को खोलने से प्रकरण का स्पष्ट निर्देश हो जाता है और कोई भी भाष्यकार यदि देवतार्थ को स्पष्ट करके स्वयं कल्पित अथवा पौराणिक विचारों को मन्त्रार्थ में समावेश करता है, तो वह प्रकरणविरुद्ध होने से अथवा देवातार्थ के सामान्य और विशेष धर्मों से प्रतिकूल होने से पाठक को स्वयं ही मन्त्रार्थ की न्यूनता का आभास होने लगता है। इसलिए इन वेदभाष्यकारों ने देवता जैसे महत्त्वपूर्ण विषय को मौन धारण करके ही छोड़ दिया है और फिर वेदार्थ में स्वेच्छा से विचरण करने का प्रयास किया है, जिसके कारण वेदों के प्रति अनास्था ही पैदा हुई है। अतएव महर्षि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में सायणादि के भाष्यों को स्थान-स्थान पर मिथ्याभाष्य लिखा है और वेद के सत्यार्थ का प्रकाश करने के लिए प्राचीन वेदार्थ की सत्य-परम्पराओं को अक्षुण्ण रखते हुए प्रत्येक मन्त्र के देवता के अर्थ का सर्वप्रथम स्पष्टीकरण किया है। वेदार्थ करने के विषय में सर्वमान्य निरुक्त शास्त्र में आचार्य यास्क लिखते हैं—

'न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः, प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः।' निरु० १३।१२)

अर्थात् मन्त्रों का व्याख्यान प्रकरण के अनुकूल ही करना चाहिए, प्रकरण से विरुद्ध नहीं। इस परम्परा का पूर्णतः पालन कोई भी वेदभाष्यकार तब ही कर सकता है, जब उसे प्रकरण का बोध होगा। और प्रकरण का बोध देवतार्थ को बिना समझे नहीं हो सकता। सायणादि के भाष्यों में देवतार्थ को न खोलकर प्रकरण विरुद्ध मन्त्रार्थ किए गए हैं। क्योंकि इन्द्र-वरुणादि देवताओं पर कहीं भी विचार नहीं किया। इसीलिए मन्त्र में इन्द्र का ईश्वर, विद्युत्, राजा, जीवादि अर्थों में से किस की संगति हो सकती हैं, यह वे न दिखा सके। और इसी भूल के कारण मन्त्र के पदों के सामान्य-विशेष या विशेषण-विशेष्य भाव की संगति भी वे न लगा सके। जैसे यदि मन्त्र में विद्युत् का वर्णन है, तो उसके विशेषणों को ईश्वर-परक अथवा जीव-परक कैसे लगाया जा सकता है? क्योंकि सभी पदार्थों के सामान्य तथा विशेष धर्मों में समता कैसे सम्भव है। अतः वेदार्थ के लिए देवतार्थ ज्ञान आवश्यक है।

प्रस्तुत ऋग्वेद देवतार्थ-सूची महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य से बड़े परिश्रम से संगृहीत की गई है। जिससे जहाँ पाठकों को यह स्पष्ट ज्ञान प्राप्त होगा कि महर्षि दयानन्द ने अपनी प्रखर प्रतिभा से ज्ञान के अथाह सागर वेदों से किन-किन मुख्य रत्नों को खोजा है, वहां वेदाध्येता तथा अनुसन्धान-निरत व्यक्तियों को यह भी सुविधा होगी कि वे देवतार्थ को अनायास ही समझने में समर्थ होंगे। यह विषयानुसार देवतार्थसूची और देवता क्रम से विषय-सूची पाठकों को स्वाभीष्ट विषयों के देखने में परमोपादेय सिद्ध होगी आशा है पाठक इससे अवश्य ही लाभान्वित होंगे।

—राजवीर शास्त्री

देवतानुसारी विषय-सूची

अग्नि : भौतिक, ईश्वर—१.१.१—५ । १.११.३ । १.१२.७—१२ ।। ईश्वर—१.१.६—९ । १.२४.२ । भौतिक अग्नि—१.१२.१, ४—६ । १.१५.१२ । १.२२.९ । १.२३.२३—२४ । ईश्वर, विद्युत्—१.१२.२ । विद्युत् प्रसिद्ध अग्नि १.१५.४ । विद्वान् १.२२.१० ।।

अग्निर्मरुतश्च—भौतिक अग्नि, वायु १.१९.१—९ ।

अश्विनौ—अग्नि, जल—१.३.१—३ । १.२२.२ । सूर्य-चन्द्रमा १.१५.११ । द्यावापृथिवी १.२२.१ । अध्यापक, शिष्य १.२२.३ । रथों का रचयिता, चालक १.२२.४ ।।

आपः—जल १.२३.१६—२० । प्राण: १.२३.२१—२२ ।

इडः—भौतिक अग्नि १.१३.४ ।

इध्मःसमिद्धोऽग्निः—ईश्वर, भौतिक १.१३.१ ।।

इन्द्रः—ईश्वर, सूर्य १.३.४ । १.७.६ । १.९.१ । १.१०.३,७ ।। ईश्वर १.३.५ । १.४.१,३,६—७, ९,१० । १.५.८—१० । १.६.३,१० । १.७.४, ७—१० । १.८,१—६, ८—१० । १.९.३—१० । १.१०.१—२, ४—६, ८—१२ । १,११.८ । १.१६.९—२, वायु १.३.६ । १.१५.५ । १.१६.४ । ६—८ । सूर्य १.४.२ । १.७.३ । १.८.७ । १.११.५, १.१५.१ । १.१६.१,२, ५ । विद्वान् १.४.४, ५ । १.५.६,७ । शूरवीर १.४.८ । १.११.६—७ । ईश्वर, वायु १.५.१—४ । ईश्वर, वायु, सूर्य १,५.५ । १.६.१ । १.७ १,५ । सूर्य, अग्नि १.६.२ । वायु, सूर्य १.७.२ । जीव १.९.२ । ईश्वर, विजेता १.११.१—२ । ईश्वर, सभाध्यक्ष १.११.३ । सूर्य, सेनापति १.११.४ । ईश्वर, विद्युत्, वायु १.१६.३ ।।

इन्द्रवायू—सूर्य, वायु १.२.४—६ । अग्नि, वायु १.२३.२—३ ।।

इन्द्राग्नी—वायु, अग्नि १.२१,१—६ ।।

इन्द्राणीवरुणान्यग्नाय्यः—इन्द्राण्यादि देवपत्नियां १.२२.१२ ।।

इन्द्रावरुणौ—सूर्य, चन्द्रमा १.१७.१—२ । अग्नि, जल १.१७ ३ =७ । वायु, जल १.१७.८—९ ।।

इन्द्रोमरुत्वान्—वायुसहचारिणी विद्युत् १.२३.७ । वायु सहचारी सूर्य १.२३.८—९ ।।

उषासानक्ता—अहोरात्र १,१३.७ ।।

ऋतवः—वसन्तादि १.१५.१,३,५ ।।

ऋभवः—विद्वान् १.२०.१—८ ।।

तनूनपात्—शरीरादि संरक्षक अग्नि १.१३.२ ।।

त्वष्टा—ईश्वर, भौतिक अग्नि १.१३.१० ।।

देवीद्वारः—प्रकाशमान घर का द्वार १.१३.६ ।।

देव्य—विदुषी स्त्रियां १.२२.११ ।।

दैव्यौ, होतारौ प्रचेतसौ—शोधक प्रसिद्ध, अग्नि १.१३,८ ।

द्रविणोदाः—ईश्वर, भौतिक अग्नि १.१५.७—८ । यज्ञानुष्ठाता १.१५.९ । ईश्वर १.१५.१० ।।

द्यावापृथिव्यौ—अग्नि, भूमि १.२२.१३—१४ ।।

नराशंसः—भौतिक अग्नि १.१३.३ ।।

पूषा—सूर्यलोक १.२३.१३ ।। ईश्वर १.२३.१४—१५ ।।

पृथिवी—भूमि १.२२.१५ ।।

प्रजापति—ईश्वर १.२४.१ ।।

बर्हिः—अन्तरिक्ष १.१३.५ ।

बृहस्पतिदक्षिणे—ईश्वर, दक्षिणा १.१८.५ ।।

बृहस्पतीन्द्रसोमाः—ईश्वर, वायु, ओषधि १.१८.४ ।।

ब्रह्मणस्पतिः—ईश्वर १.१८.१—३ ।।

मरुतः—वायु १.६.४,६,८,९ । १.१५.२ ।।

मरुत इन्द्रश्च—वायु, सूर्य १.६.५ । ईश्वर, वायु, सूर्य १.६.७ ।।

मित्रावरुणौ—सूर्य, वायु १.२.७—९ । १.२३.—६ । प्राण, उदान १.१५.६ । १.२३.४ ।।

वनस्पतिः—स्पष्ट १.१३.११ ।।

वरुणः—वायु, सूर्य १.२४.७ । ईश्वर, वायु १.२४.४—८ ।

राजाप्रजा १.२४.९। ईश्वर, सूर्य १.२४.१०—११। ईश्वर। १.२४.६,१२—१५॥

वायुः—ईश्वर, भौतिक १.२.१—३। भौतिक १.२३.१।

विश्वेदेवाः—विद्वान् १.३.७—९। १.१४.५,७,९,१२। ईश्वर, भौतिक अग्नि १.१४.१—२। मन्त्रोक्त इन्द्रादि १.१४.३—४। विद्युतादि १.१४.८,१०। ईश्वर १.१४.११। वायुगण १.२३.१०,१२। वायु, विद्युत् १.२३.११॥

विष्णुर्देवो वा—ईश्वर, विद्वान् १.२२.१६॥

विष्णुः—ईश्वर १.२२.१७—२१॥

सदसस्पतिः—परमेश्वर, सभाध्यक्ष १.१८.६। ईश्वर १.१८.७—८॥

सदसस्पतिनाराशंसौ—यज्ञ, ईश्वर १.१८.९॥

सरस्वती—वाणी १.३.१०—१२॥

सरस्वतीडाभारत्यस्तिस्रो देव्यः—सरस्वत्यादि वाणी १.१३.९॥

सविता—ईश्वर १.२२.५,६। ईश्वर, सूर्य १.२२.७,८॥

सविता भगो वा—ईश्वर १.२४.३—५। ईश्वर धनं वा १.२४.४॥

कौनसा विषय किस देवता के साथ

इस पुस्तक में देवतार्थ-सूची प्रथम छपी हुई है। देवता के अनेक अर्थ होते हैं और एक विषय का प्रतिपादन अनेक देवताओं से किया जाता है। किसी एक विषय पर विचार करने वालों के सहायतार्थ यह विषयसूची तैयार की गई है। यह विषय-सूची इस पुस्तक में छपी देवतार्थ-सूची से तैयार की है। इस सूची में वेद के पदों का निर्देश नहीं किया गया है क्योंकि उनका निर्देश देवताओं के साथ हो चुका है। यह सूची विषयों के अकरादि क्रम से तैयार की गई है। किस विषय का निर्देश किस किस देवता के साथ किया गया है, इसका बोध सरलता से इस सूची से पाठक कर सकेंगे। इस सूची में प्रथम काले टाइप में विषय है और उसके आगे देवताङ्कित हैं। यह सूची इस पुस्तक में आए ऋग्वेद के प्रारम्भिक २४ सूक्तों की है।

अग्नि—अग्नि, अग्निमरुतश्च, अश्विनौ, इडः, इध्मः समिद्धोऽग्निः, इन्द्र, इन्द्रवायू, इन्द्राग्नी, इन्द्रावरुणौ, तनूनपात्, त्वष्टा, दैव्यौ, होतारौ प्रचेतसौ, द्रविणोदाः, द्यावापृथिवी, नराशंस, विश्वेदेवा।

अध्यापक-शिष्य—अश्विनौ।

ईश्वर—अग्नि, इध्मः, समिद्धोऽग्नि, इन्द्र, त्वष्टा, द्रविणोदाः, प्रजापति, बृहस्पतीन्द्रसोमाः, बृहस्पतिदक्षिणे, ब्रह्मणस्पति, मरुतइन्द्र, वरुण, वायु, विष्णुर्देवो वा, विष्णु, विश्वेदेवा—सदसस्पति, सदसस्पतिनाराशंसौ, सविता भगो वा।

चालक—अश्विनौ

जल—अश्विनौ, आपः

द्यावापृथिवी—अश्विनौ

धनम्—सविता भगो वा

प्राणः—आपः

मन्त्रोक्त—विश्वेदेवाः

यज्ञ—सदसस्पति नाराशंसौ

रथों की रचयिता—अश्विनौ

वाणी—सरस्वती, सरस्वतीडाभारत्यः तिस्रो देव्यः

वायु—अग्निमरुतश्च, इन्द्र, वायु, विश्वेदेवाः

विद्युत्—अग्नि, विश्वेदेवाः

विद्वान्—अग्नि, इन्द्र, विष्णुर्देवो वा, विश्वेदेवाः

शूरवीर—इन्द्र

सभाध्यक्ष—सदसस्पति

सूर्य—इन्द्र, सविता

सूर्यचन्द्र—अश्विनौ

ऋग्वेदभाष्य-भास्करः

द्वितीयो भागः

प्रथममण्डले पञ्चविंशं सूक्तम्

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः । **वरुणः** (ईश्वरः) देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

तत्रादौ प्रथममन्त्रे दृष्टान्तेन जगदीश्वरस्य प्रार्थना प्रकाश्यते ॥

अब पच्चीसवें सूक्त का प्रारम्भ है। उसके पहले मन्त्र में दृष्टान्त से जगदीश्वर की प्रार्थना का प्रकाश किया जाता है ॥

यच्चिद्धि ते विशो यथा प्र देव वरुण व्रतम् । मिनीमसि द्यविद्यवि ॥ १ ॥

यत् । चित् । हि । ते । विशः । यथा । प्र । देव । वरुण । व्रतम् । मिनीमसि । द्यविऽद्यवि ॥१॥

पदार्थः—(यत्) स्पष्टार्थः (चित्) अपि (हि) कदाचिदर्थे (ते) तव (विशः) प्रजाः (यथा) येन प्रकारेण (प्र) क्रियायोगे (देव) सुखप्रद (वरुण) सर्वोत्कृष्ट जगदीश्वर (व्रतम्) सत्याचरणम् (मिनीमसि) हिंस्मः । अत्र इदन्तो मसि इति मसेरिदागमः । (द्यविद्यवि) प्रतिदिनम् । अत्र वीप्सायां द्विर्वचनम् । द्यविद्यवीत्यहर्नामसु पठितम् । निघं० १ । ९ ॥ १ ॥

प्रमाणार्थ—(मिनीमसि) यहां 'इदन्तो मसि' (अ० ७ । १ । ४६) इस सूत्र से 'मस्' प्रत्यय को 'इत्' का आगम है। (द्यविद्यवि) यहां वीप्सा अर्थ में द्विर्वचन है। वीप्सा=व्याप्ति, यह सुबन्तों में होती है। 'द्यविद्यवि' यह पद निघण्टु (१ । ९) में अहर्नामों में पढ़ा गया है, अहः=दिन ॥ १ ॥

अन्वयः—हे देव वरुण जगदीश्वर त्वं यथाऽज्ञानात्कस्यचिद्राज्ञो मनुष्यस्य वा विशः प्रजाः सन्तानादयो वा द्यविद्यव्यपराध्यन्ति कदाचित्कार्याणि हिंसन्ति स तन्न्यायं करुणां च करोति तथैव वयं ते तव यद्व्रतं हि प्रमिणीमस्यस्मभ्यं तन्न्यायं करुणां चित्करोषि ॥ १ ॥

सपदार्थान्वयः—हे देव सुखप्रद **वरुण** सर्वोत्कृष्ट जगदीश्वर ! त्वं यथा येन प्रकारेण **अज्ञानात् कस्यचिद् राज्ञो मनुष्यस्य वा विशः=प्रजाः सन्तानादयो वा द्यविद्यवि** प्रतिदिनम् **अपराध्यन्ति, कदाचित् कार्याणि हिंसन्ति, स तन्न्यायं करुणां च करोति, तथैव वयं ते=तव यद्**

भाषार्थ—हे (देव) सुख देने वाले (वरुण) सब से उत्तम जगदीश्वर ! आप—(यथा) जिस प्रकार अज्ञान से किसी राजा वा मनुष्य की (विशः) प्रजा वा सन्तान आदि (द्यविद्यवि) प्रतिदिन अपराध करते हैं, कभी कार्यों को नष्ट करते हैं; यह उनका न्याय तथा उन पर करुणा करता

व्रतं सत्याचरणं हि कदाचित् **प्रमिणीमसि** प्रकर्षेण हिंस्मः **अस्मभ्यं तन्न्यायं करुणां चित्** अपि करोषि ॥ १ ॥

है—वैसे ही हम लोग (**ते**) आपका (**यत्**) जो (**व्रतम्**) सत्याचरण है, उसकी (**हि**) कभी (**प्रमिणीमसि**) हिंसा करते हैं, अर्थात् छोड़ देते हैं—आप हमारे लिये उसका न्याय तथा करुणा (**चित्**) भी करते हो ॥ १ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः । हे भगवन् ! यथा पित्रादयो विद्वांसो राजानश्च क्षुद्राणां बालबुद्धीनामुन्मत्तानां वा बालकानामुपरि करुणां न्यायं शिक्षां च विदधति, तथैव भवानपि प्रतिदिनमस्माकं न्यायाधीशः करुणाकरः शिक्षको भवत्विति ॥ १ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमा अलंकार है। हे भगवन् ! जैसे पिता आदि, विद्वान् और राजा लोग छोटे बालबुद्धि, उन्मत्त लोगों पर वा बालकों पर करुणा, न्याय और शिक्षा करते हैं, वैसे ही आप भी प्रतिदिन हमारे न्यायाधीश, करुणा करने वाले, शिक्षक बनो ॥ १ ॥

भाष्यसार—**जगदीश्वर-प्रार्थना**—जिस प्रकार अज्ञान से किसी राजा वा मनुष्य की प्रजा वा सन्तान आदि प्रतिदिन अपराध करते हैं और कभी कार्यों को नष्ट करते हैं तब वह उनका न्याय तथा उनपर करुणा करता है वैसे सुख देने वाला तथा सबसे उत्तम जगदीश्वर हम लोगों के लिये न्याय और करुणा करे। हम लोग जगदीश्वर के सत्याचरण रूप व्रत की हिंसा नहीं करते हैं, उसे छोड़ते नहीं हैं ॥ १ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में 'यथा' पद उपमा-वाचक है, अतः उपमा अलंकार है। उपमा यह है कि जैसे राजा वा अन्य साधारण मनुष्य प्रजा वा सन्तान आदि को अपराध करने पर न्याय एवं करुणा करते हैं, वैसे जगदीश्वर हम लोगों पर भी न्याय तथा करुणा करता है ॥ १ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे वरुणदेव ! जैसे लोक में प्रजाएँ कभी प्रमाद कर देती हैं, वैसे हमने भी तुम्हारे जिस किसी कर्म का प्रमाद से हिंसन=(अपूर्ण या दोषपूर्ण) किया है, आप उस प्रमाद को दूर करके पूर्ण करो।"

इस मन्त्र का देवता 'वरुण' है। इसकी सायण ने कोई व्याख्या नहीं की है। प्रतिपाद्य-विषय (देवता) की व्याख्या के विना सम्पूर्ण मन्त्रार्थ अस्पष्ट है। मन्त्र पठित 'देव' शब्द को तो मन्त्र-व्याख्या से निकाल ही दिया है। क्या मन्त्रस्थ पद निरर्थक होते हैं ? अतः सब पदों की व्याख्या न करने से सायण-भाष्य अपूर्ण भी है। वरुण-देव कौन है ? इसकी व्याख्या महर्षि-दयानन्द ने 'सुखप्रद तथा सर्वोत्कृष्ट जगदीश्वर' की है। आचार्य यास्क ने 'वरुण' की व्याख्या में लिखा है—'वरुणो वृणोतीति सतः' (नि० १०। ४) अर्थात् जो आच्छादन करे अथवा जो वरण करता है, उसे वरुण कहते हैं। मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि हमारे कर्मों में जो न्यूनताएँ प्रमादवश हो जाती हैं, वरुण उन्हें अपनी कृपा से सद्बुद्धि देकर पूर्ण कराए। यह-कार्य कौन देव करता है ? किस देव का ऐसा सामर्थ्य है, जो जीवों के कर्मों को देखता रहता है और उन्हें सामर्थ्य देकर सहायता करता है। विचार करने से स्पष्ट है कि यह सामर्थ्य तथा विवेक जल, वायु आदि जड़ देवों में तो सम्भव नहीं है अतः सर्वव्यापक परमेश्वर 'वरुण' का यहां अर्थ सुसंगत होता है। महर्षि ने ईश्वर-परक 'वरुण' पद की व्याख्या करते हुए अन्यत्र

---

(१) हे वरुण ! यथा लोके विशः प्रजाः कदाचित् प्रमादं कुर्वन्ति तथा वयमपि ते तव सम्बन्धि यच्चिद्धि यदेव किंचित् व्रतं कर्म द्यवि-द्यवि प्रतिदिनं प्रमिनीमसि प्रमादेन हिंसितवन्तः। तदपि व्रतं प्रमादपरिहारेण साङ्गं कुरु इति शेषः ॥ (सायणः)

भी लिखा है—" (वृञ् वरणे वर ईप्सायाम्) इन धातुओं से उणादि 'उनन्' प्रत्यय होने पर 'वरुण' शब्द सिद्ध होता है। 'यः सर्वान् शिष्टान् मुमुक्षून् धर्मात्मनो वृणोत्यथवा यः शिष्टैर्मुमुक्षुभिर्धर्मात्मभिर्व्रियते वर्यते वा स वरुणः परमेश्वरः।' जो आत्मयोगी, विद्वान् मुक्ति की इच्छा करने वाले मुक्त और धर्मात्माओं को स्वीकार करता और अथवा जो शिष्ट मुमुक्षु मुक्त और धर्मात्माओं से ग्रहण किया जाता है, वह ईश्वर 'वरुण' संज्ञक है। अथवा 'वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः' जिसलिए परमेश्वर सबसे श्रेष्ठ है, इस लिए उसका नाम 'वरुण' है।" (सत्यार्थ०प्रथम०) महर्षि ने अपनी व्याख्या में वेद का प्रमाण भी दिया है, जिससे उनकी व्याख्या प्रामाणिक है—'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः०' (ऋ० १।१६४।४६) इत्यादि॥ १॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **वरुणः** (**ईश्वरः**) देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनः स एवार्थ उपदिश्यते॥

जगदीश्वर-प्रार्थना का फिर उपदेश किया जाता है॥

मा नो वधाय हत्नवे जिहीळानस्य रीरधः। मा हृणानस्य मन्यवे॥ २॥

मा। नः। वधाय। हत्नवे। जिहीळानस्य। रीरधः। मा। हृणानस्य। मन्यवे॥ २॥

पदार्थः—(**मा**) निषेधार्थे (**नः**) अस्मान् (**वधाय**) हननाय (**हत्नवे**) हननकरणाय। अत्र **कृहनिभ्यां क्त्नुः**। उ० ३। २९। अनेन हनधातोः क्त्नुः प्रत्ययः। (**जिहीळानस्य**) अज्ञानादस्माकमनादरं कृतवतो जनस्य। अत्र **पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्**। इत्यकारस्येकारः। (**रीरधः**) संराधय। अत्र 'रध' हिंस संराध्योरस्माण्णिजन्ताल्लोडर्थे लुङ्। (**मा**) निषेधे (**हृणानस्य**) लज्जितस्योपरि (**मन्यवे**) क्रोधाय। अत्र **यजिमनि०** इति युच् प्रत्ययः॥ २॥

प्रमाणार्थ—(**हत्नवे**) यहां 'कृहनिभ्नां क्त्नुः' (उ० ३। ३०) इस सूत्र से 'हन्' धातु से 'क्त्नु' प्रत्यय है (हन्+क्त्नु+सु=हत्नुः)। (**जिहीळानस्य**) यहाँ पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (अ० ६। ३। १०८) इस सूत्र से एकार के स्थान में ईकार आदेश है। (**रीरधः**) यहां 'रध हिंसासंराध्योः' इस धातु से णिजन्त से 'लोट्' लकार के अर्थ में 'लुङ्' लकार और 'अट्' आगम का अभाव है। (**मन्यवे**) यहां 'यजिमनि०' (३। २०) इस उणादिसूत्र से 'मन्' धातु से 'युच्' प्रत्यय है॥ २॥

अन्वयः—हे वरुण जगदीश्वर त्वं जिहीडानस्य हत्नवे वधाय च [नः]=अस्मान्कदाचिन्मा रीरधो मा संराधयैवं हृणानस्यास्माकं समीपे लज्जितस्योपरि मन्यवे मा रीरधः॥ २॥

सपदार्थान्वयः— हे **वरुण जगदीश्वर**! त्वं **जिहीडानस्य** अज्ञानादस्माकमनादरं कृतवतो जनस्य **हत्नवे** हननकरणाय **वधाय** हननाय **नः=अस्मान् कदाचिन्मा न रीरधः=संराधय, एवं हृणानस्य=अस्माकं समीपे लज्जितस्योपरि मन्यवे** क्रोधाय **मा न रीरधः** संराधय॥२॥

भाषार्थ—हे (**वरुण**) जगदीश्वर! आप—(**जिहीडानस्य**) अज्ञान से हमारा अनादर करने वाले मनुष्य की (**हत्नवे**) हिंसा तथा (**वधाय**) वध करने के लिये (**नः**) हमें कभी (**मा**) मत (**रीरधः**) प्रेरित करो। इसी प्रकार (**हृणानस्य**) अपराध के पश्चात् हमारे सामने लज्जित होने वाले के ऊपर (**मन्यवे**) क्रोध करने के लिये (**मा**) मत (**रीरधः**) प्रवृत्त करो॥ २॥

भावार्थः—ईश्वर उपदिशति—हे मनुष्याः ! यूयं बालबुद्धिभिरज्ञानादपराधे कृते हननाय मा प्रवर्त्तध्वम्। कश्चिदपराधं कृत्वा लज्जां कुर्यात्, तस्योपरि क्रोधं मा निपातयतेति ॥ २ ॥

भावार्थ—ईश्वर उपदेश करता है—हे मनुष्यो ! तुम—बालबुद्धि लोगों के अज्ञान से अपराध करने पर उन्हें मारने के लिये मत पवृत्त होओ। यदि कोई अपराध करके लज्जा करे तो उसके ऊपर क्रोध मत करो ॥ २ ॥

भाष्यसार—**जगदीश्वर-प्रार्थना**—जगदीश्वर से प्रार्थना है कि वह अज्ञान से हमारा अनादर करने वाले बालबुद्धि मनुष्यों की हिंसा तथा वध करने के लिये हमें कभी प्रेरित न करे। अपराध करने के पश्चात् यदि कोई व्यक्ति हमारे समक्ष लज्जित हो जाता है तो उस पर भी क्रोध करने के लिये प्रवृत्त न करे ॥ २ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे वरुण ! आप का जो वध=दण्ड अनादर करने वाले पापी मनुष्यों के लिए होता है, उसका विषय हमें न बनाओ। और (दुष्टों के प्रति) जो आप का क्रोध है, उसका विषय (सम्बद्ध) हमें न करो।"

इस मन्त्र का भी देवता 'वरुण' है। जिसकी व्याख्या न करने से सायण कृत व्याख्या सारी ही अधूरी है। मन्त्र में जो प्रार्थना है कि वह वरुण पापी जनों के प्रति क्रोध करता है अथवा उनका वध करता है, उससे भी 'वरुण' का अर्थ परमेश्वर ही यहाँ होना चाहिए। महर्षि दयानन्द की मन्त्र-व्याख्या में 'वरुण=जगदीश्वर' करके अतीव सुसङ्गत व्याख्या की गई है। परमेश्वर से भिन्न जलादि का ऐसा कोई वरुण-देव नहीं है और नहीं उसका यह सामर्थ्य है कि वह जीवों के कर्मों को देखता हो और दुष्कर्म करने वालों को दण्ड भी देता हो।

इस मन्त्र की सायण कृत व्याख्या में दूसरा दोष यह है कि वरुण=परमेश्वर देव सर्वज्ञ, सर्व-व्यापक चेतन सत्ता है। उसके कार्यों में किसी भी प्रकार की न्यूनता कभी नहीं होती। उसका न्याय बहुत ही अटल है। यह कभी सम्भव नहीं कि उसका दुष्टों के प्रति दिया गया दण्ड अथवा क्रोध दूसरों (श्रेष्ठ कर्म करने वालों) पर कैसे हो सकता है ? अतः 'रीरधः' क्रिया की संगति सायण-भाष्य में नहीं है। महर्षि की व्याख्या में कितना सुसंगत तथा स्पष्ट अर्थ है कि जो दुष्ट पुरुष हमारा अनादर करता है, अथवा हिंसा करता है, उसके प्रति हमारे अन्दर प्रतिशोध रूप में जो वैर बुद्धि पैदा होती है जिसका परिणाम कदापि अच्छा नहीं होता, उस वैर-बुद्धि को हटाने के लिए वरुण-देव से प्रार्थना की गई है। अतः 'रीरधः' क्रिया का संराधय=प्रेरित करना अर्थ ही यहाँ संगत होता है।

सायण-भाष्य में इस मन्त्र-व्याख्या में 'रीरधः' प्रयोग की व्याख्या में 'राध्' धातु से णिजन्त लुङ् लकार मानकर भी 'विषयभूतान् कुरु' लोट् अर्थ में व्याख्या की है। जो पौराणिक विद्वान् वेद-मन्त्रों में लुङादि भूतकालीन लकारों का भूतकाल में ही व्याख्या करके वेदों में इतिहास दर्शाने का दुस्साहस करते हैं, उन्हें यहाँ अपने आचार्य का ही तो अनुकरण करना चाहिए। और महर्षि ने जो मन्त्रों की व्याख्या में व्यत्यय की सहायता से अर्थ किए हैं, उनको गलत बताने वालों का अज्ञान दूर होना चाहिए कि क्या सायण ने विना व्यत्यय के ही लोट् अर्थ में लुङ् को मान लिया ?

---

१. हे वरुण ! जिहीळानस्य अनादरं कृतवतः हत्नवे हन्तुः पापिहननशीलस्य तव संबन्धिने तत् कर्त्तृकाय वधाय न अस्मान् मा रीरिधः संसिद्धान् विषयभूतान् मा कुरु। हृणानस्य हृणीयमानस्य क्रुद्धस्य तव मन्यवे क्रोधाय मा अस्मान् रीरिधः ॥ (सायणः)

और मन्त्र-पठित 'हृणानस्य' पद की व्याख्या में सायण ने 'हृणीङ् लज्जायाम्' धातु को दर्शाया है, किन्तु सायण इस अर्थ की संगति न देखकर 'क्रुद्धस्य' अर्थ कर गए। यह भी सायण-व्याख्या मिथ्या ही है। यदि वरुण-देव को 'लज्जित होना' कहना उचित नहीं, तो 'क्रुद्ध होना' कैसे संगत है? क्या मनुष्य आदि की भांति वरुण भी क्रोधादि से युक्त होकर अविवेकपूर्ण कर्म कर सकता है? यथार्थ में वरुण के लिए मन्त्र में 'लज्जित होना' अथवा 'क्रुद्ध होना' ऐसा कुछ नहीं कहा गया है। इनकी सुसंगत तथा सुस्पष्ट व्याख्या महर्षि के भाष्य में दुष्ट तथा अपराधी-परक व्याख्या से जाना जा सकता है॥ २॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **वरुणः** (ईश्वरः) देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनः स एवार्थ उपदिश्यते॥

जगदीश्वर-प्रार्थना का फिर उपदेश किया जाता है॥

वि मृळीकाय ते मनो रथीरश्वं न संदितम्। गीर्भिर्वरुण सीमहि॥ ३॥

वि। मृळीकाय। ते। मनः। रथीः। अश्वम्। न। सम्ऽदितम्। गीःऽभिः। वरुण। सीमहि॥३॥

पदार्थः—(वि) क्रियार्थे (मृळीकाय) उत्तमसुखाय अत्र **मृडः कीकच्कङ्कणौ**। उ० ४।२५। अनेन कीकच्प्रत्ययः। (ते) तव (मनः) ज्ञानम् (रथीः) रथस्वामी अत्र **वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति इति** सोर्लोपो न। (अश्वम्) रथवोढारं वाजिनम् (न) इव (संदितम्) सम्यग्बलावखण्डितम् (गीर्भिः) संस्कृताभिर्वाणीभिः (वरुण) जगदीश्वर (सीमहि) हृदये प्रेम वा कारागृहे चोरादिकं बन्धयामः। **अत्र बहुलं छन्दसि** इति श्नोर्लुक् वर्णव्यत्ययेन दीर्घश्च॥ ३॥

प्रमाणार्थ—(**मृळीकाय**) यहां 'मृडः कीकच्कङ्कणौ' (४। २४) इस उणादिसूत्र से 'कीकच्' प्रत्यय है (मृड्+कीकच्+सु=मृडीकः)। (**रथीः**) यहां 'छन्दसी वनिपौ च वक्तव्यौ' (अ० ५। २। १०९) इस वार्तिक सूत्र से मतुप् अर्थ में 'ई' प्रत्यय है (रथ+ई+सु=रथीः)। (**सीमहि**) यहां 'बहुलं छन्दसि' (अ० २। ४। ७३) इस सूत्र से 'श्नु' का लुक् है और वर्ण-व्यत्यय से दीर्घ है॥ ३॥

अन्वयः—हे वरुण वयं रथीः सन्दितमश्वं न—इव मृळीकाय ते तव गीर्भिर्मनो विषीमहि॥ ३॥

सपदार्थान्वयः—हे **वरुण** जगदीश्वर! **वयं रथीः** रथस्वामी **सन्दितं** सम्यग्बलावखण्डितम् **अश्वं** रथवोढारं वाजिनं **न=इव मृळीकाय** उत्तमसुखाय **ते=तव मनः** ज्ञानं **गीर्भिः** संस्कृताभिर्वाणीभिः **विषीमहि** हृदये प्रेम्णा, वा कारागृहे चोरादिकं बन्धयामः॥ ३॥

भाषार्थ—हे (**वरुण**) जगदीश्वर! हमलोग—(न) जैसे (**रथीः**) रथ का स्वामी (**सन्दितम्**) उत्तम रीति से वश में किये हुये (**अश्वम्**) रथ के वोढा घोड़े को बांधता है, वैसे (**मृळीकाय**) उत्तम सुख के लिये (ते) आपके (मनः) ज्ञान को (**गीर्भिः**) पवित्र वेद-वाणियों से (**विषीमहि**) अपने हृदय में प्रेमपूर्वक—कारागार में चोर आदि के तुल्य—बांधते हैं॥ ३॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः। हे भगवन्! यथा रथपतेर्भृत्योऽश्वं सर्वतो बध्नाति, तथैव वयं तव वेदस्थं विज्ञानं हृदये निश्चलीकुर्मः॥ ३॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमा अलंकार है। हे भगवन्! जैसे रथ के स्वामी का भृत्य घोड़े को सब ओर से बांधता है, वैसे ही हमलोग आपके वेद-विज्ञान को हृदय में स्थिर करते हैं॥ ३॥

भाष्यसार—**जगदीश्वर-प्रार्थना**—हे जगदीश्वर ! जैसे रथ का स्वामी वा भृत्य रथ के वोढा घोड़े को बांधता है, वैसे हमलोग उत्तम सुख की प्राप्ति के लिये आप के पवित्र वेद-विज्ञान को अपने हृदय में प्रेमपूर्वक बांधते हैं। जैसे कारागार में चोर आदि को स्थिर करते हैं वैसे हम आपके उक्त विज्ञान को अपने हृदय में स्थिर करते हैं ॥ ३ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में 'न' पद उपमा-वाचक है, अतः उपमा अलंकार है। उपमा यह है—जैसे रथपति घोड़े को बांधता है वैसे हम लोग वेद-विज्ञान को अपने हृदय में बांधते हैं ॥ ३ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे वरुण ! हम अपने सुख के लिए तुम्हारे मन को स्तुतियों से विशेष रूप में बान्धते हैं=प्रसन्न करते हैं। इसमें दृष्टान्त है—जैसे रथ का स्वामी दूरगमन से थके हुए घोड़े को घासादि देकर प्रसन्न करता है।"

इस मन्त्र का देवता 'वरुण' है। इसकी व्याख्या न करने से सायणकृत मन्त्रार्थ सारा ही अस्पष्ट है। इसके अतिरिक्त सायण-व्याख्या की विसंगतियाँ देखिए—(१) मन्त्र में घोड़े की उपमा देकर समझाया गया है कि जैसे रथ का स्वामी घोड़े को प्रशिक्षित करके अपने आधीन रखता है, वैसे ही हम परमेश्वर-प्रदत्त मनः=ज्ञान को श्रवण, मनन तथा निदिध्यासनादि ज्ञान-प्राप्ति के साधनों से अपने हृदय में स्थिर करें। ज्ञानप्राप्ति के श्रवणादि चार प्रकार हैं। अन्यथा ज्ञान अधूरा रहता है। परन्तु सायण-भाष्य में उपमान-उपमेय भाव को न समझकर मिथ्या व्याख्या ही की है। और सायण ने मन्त्र के पदों के धात्वर्थ से भिन्न अर्थ करने में भी संकोच नहीं किया। 'सन्दितम्' का अर्थ 'श्रान्तम्' और 'विसीमहि' का अर्थ प्रसन्न करना बहुत ही अटपटा अर्थ है। रथ का स्वामी विना प्रशिक्षण के घोड़े को वश में नहीं रख सकता है, वैसे ही ज्ञान की विधि भी है। केवल श्रवण मात्र से ज्ञान (स्थिर) नहीं होता। इस प्रकार उपमान व उपमेय में बहुत ही समानता है। (२) सायण-भाष्य में 'मनः' पद की कोई व्याख्या नहीं की है। परन्तु 'वरुण के मन को स्तुतियों से प्रसन्न करते हैं' इस व्याख्या से स्पष्ट है कि सायण 'मनः' पद का अन्तरिन्द्रिय मन को ही मान रहे हैं। यह अर्थ बहुत ही असंगत अर्थ है। जो वरुण दुष्टों को दण्ड देता है, जो जीवों को सुख देता है, क्या उस को भी मन आदि इन्द्रियाँ हैं ? जिस वरुण=परमेश्वर को 'अकायम्' (यजु०) 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' (उपनि०) स्थूल सूक्ष्म तथा कारण शरीरों से रहित बताया है, जिसकी इन्द्रियों का भी निषेध किया है, उसका मनुष्यादि की भांति 'मन' बताना वेद तथा शास्त्रों से विरुद्ध है। भला विचारना चाहिए कि मन-इन्द्रिय ज्ञान-प्राप्ति का साधन है, सर्वज्ञ परमेश्वर को इसकी क्या आवश्यकता ? और मन के लक्षण के अनुसार एक समय में एक ही ज्ञान प्राप्त हो सकता है, यदि वरुण मन-युक्त है तो वह सब जीवों के विभिन्न कार्यों को एक समय में कैसे जानेगा ? और क्या वरुण देव हमारी स्तुतियों से प्रसन्न हो जाता है। यह तो अल्पज्ञ लौकिक राजादि की भांति ही चाटुकारितादि से प्रसन्न होना है, फिर वरुण तथा लौकिक राजा में क्या अन्तर होगा ? (३) मन्त्र में मृळीकाय=सुख के लिए प्रार्थना है। और सुख की प्राप्ति ज्ञान के विना नहीं होती। जैसे कि अन्यत्र वेद में कहा है—'विद्ययाऽमृतमश्नुते' (यजु०) अर्थात् विद्या से मोक्ष-सुख प्राप्त होता है। अतः सुख की प्राप्ति के कारण मनः=ज्ञान के लिए ही मन्त्र में प्रार्थना होनी चाहिए। अतः 'मनः' का अर्थ ज्ञान ही संगत होता है। (४) वेद मन्त्रों के प्रकाशक नियमों को बताने वाले निरुक्त-शास्त्र में

---

१. हे वरुण ! मृळीकाय अस्मत्सुखाय ते तव मनः गीर्भिः स्तुतिभिः विसीमहि विशेषेण बध्नीमः प्रसादयाम इत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः। रथीः रथस्वामी संदितं सम्यक् खण्डितं दूरगमनेन श्रान्तम् अश्वं न=अश्वमिव। यथा स्वामी श्रान्तमश्वं घासप्रदानादिना प्रसादयति तद्वत्।

वैदिक पदों को आख्यातज=यौगिक माना है। इस नियम से धात्वर्थ के अनुसार भी 'मनः=ज्ञानम्' अर्थ ही स्पष्ट होता है। (५) 'स्तुति' का अर्थ—गुण-कीर्त्तन है। यह भी ज्ञान-प्राप्ति का साधन है। किसी भी पदार्थ के गुण-दोषों के विचार करने से ही ज्ञान प्राप्त होता है। और तभी वह ज्ञान स्थिर होता है। यही ज्ञान का विशेष प्रकार से बांधना है।

इत्यादि सायण कृत मन्त्र-व्याख्या में अनेक विसंगतियाँ हैं। इनका समाधान महर्षि-दयानन्द की व्याख्या से स्पष्ट हो जाता है और किसी प्रकार की भ्रान्ति नहीं रहती है। अतः सायण-कृत मन्त्रार्थ असङ्गत तथा अस्पष्ट होने से मिथ्या है॥ ३॥

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **वरुणः** (**ईश्वरः**) देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनः स एवार्थो दृष्टान्तेन साध्यते॥

ईश्वर-प्रार्थना को दृष्टान्त से फिर सिद्ध किया जाता है॥

परा हि मे विमन्यवः पतन्ति वस्यइष्टये। वयो न वसतीरुप॥ ४॥

परा। हि। मे। विऽमन्यवः। पतन्ति। वस्यःऽइष्टये। वयः। न। वसतीः। उप॥ ४॥

पदार्थः—(**परा**) उपरिभावे। **प्रपरेत्येतस्य प्रातिलोम्यं प्राह।** निरु० १। ३। (**हि**) खलु (**मे**) मम (**विमन्यवः**) विविधो मन्युर्येषां ते (**पतन्ति**) पतन्तु=गच्छन्तु। अत्र **लोडर्थे लट्।** (**वस्यइष्टये**) वसीयत इष्टये=संगतये। अत्र वसुशब्दान्मतुप् ततोऽतिशय ईयसुनि। **विन्मतोर्लुक्।** अ० ५। ३। ६५। इति मतोर्लुक्। **टेः।** ६। ४। १५५। इति **टेर्लोपस्ततश्छान्दसो वर्णलोपो वा** इतीकारस्य लोपश्च। (**वयः**) पक्षिणः (**न**) इव (**वसतीः**) वसन्ति यासु ता विहाय (**उप**) **सामीप्ये॥ ४॥**

प्रमाणार्थ—(**परा**) निरुक्त (१।३) के अनुसार 'प्र' यह पद 'परा' इसके विपरीत अर्थ को कहता है। (**पतन्ति**) पतन्तु। यहां 'लोट्' लकार के अर्थ में लट् लकार है। (**वस्यऽइष्टये**) यहां 'वसु' शब्द से 'मतुप्' पत्यय और उससे अतिशय अर्थ में ईयसुन् पत्यय करने पर 'विन्मतोर्लुक्' (अ० ५।३।६५) इस सूत्र से 'मतु' प्रत्यय का लुक् होता है, और 'टेः' (अ० ६। ४। ११५) इस सूत्र से 'टि' भाग का लोप होकर 'छान्दसो वर्णलोपो वा' (अ० ८। २। २५) इस महाभाष्य वचन से ईकार लोप होता है (वसु+मतुप्+ईयसुन्। वसु+ईयस्। वस्+ईयस्। वस्+यस्+सु=वस्यः)॥ ४॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर त्वत्कृपया वयो वसतीर्विहाय दूरस्थानान्युपपतन्ति नइव। मे मम वासात् वस्यइष्टये विमन्यवः परा पतन्ति हि खलु दूरे गच्छन्तु॥ ४॥

सपदार्थान्वयः—हे जगदीश्वर! **त्वत्कृपया वयः** पक्षिणः **वसतीः** वसन्ति यासु ता **विहाय दूरस्थानान्युत्पतन्ति न=इव मे=मम वासात् वस्यऽइष्टये** वसीयस इष्टये=संगतये **विमन्यवः** विविधो मन्युर्येषान्ते **परापतन्ति** उपरि पतन्तु=गच्छन्तु **हि खलु दूरे गच्छन्तु॥ ४॥**

भाषार्थ—हे जगदीश्वर! (**न**) जैसे आपकी कृपा से (**वयः**) पक्षी (**वसतीः**) अपने घोंसलों को छोड़कर दूर देश में उड़ जाते हैं, वैसे (**मे**) मेरे निवास से (**वस्यऽइष्टये**) धन की कामना के लिये (**विमन्यवः**) विविध मन्यु=क्रोध करने वाले दुष्ट जन (**हि**) निश्चय से (**परापतन्ति**) दूर चले जायें॥ ४॥

भावार्थः— अत्रोपमालङ्कारः। यथा ताडिताः पक्षिणो दूरं गत्वा वसन्ति, तथैव क्रोधयुक्ताः प्राणिनो मत्तो दूरे वसन्तु, अहमपि तेभ्यो दूरे वसेयम्। यस्मादस्माकं स्वभावविपर्यासो धनहानिश्च कदाचिन्न स्यातामिति ॥ ४ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमा अलंकार है। जैसे ताड़ना किये हुये पक्षी दूर जाकर बसते हैं, वैसे ही क्रोधी प्राणी मुझ से दूर रहें, मैं भी उनसे दूर रहूँ। जिनसे हमारा स्वभाव-परिवर्तन और धन की हानि कभी न हो ॥ ४ ॥

भाष्यसार—ईश्वर की प्रार्थना—जैसे ताड़ना किये हुये पक्षी अपने घोंसलों को छोड़कर दूर देश में उड़ जाते हैं, वैसे ही मेरे निवास धन की कामना से क्रोध करने वाले दुष्ट जन जगदीश्वर की कृपा से दूर चले जाते हैं ॥ ४ ॥

अलङ्कार—इस मन्त्र में 'न' पद उपमा-वाचक है, अतः उपमा अलंकार है। उपमा यह है कि जैसे पक्षी दूर देश में चले जाते हैं वैसे ही धार्मिक जन से क्रोधी दुष्ट मनुष्य ईश्वर की कृपा से दूर चले जाते हैं ॥ ४ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे वरुण ! मुझ शुनःशेप की क्रोध-रहित बुद्धियाँ अतिशय जीवन प्राप्ति के लिए पुनरावृत्तिरहित होकर फैल रही हैं। जैसे पक्षी अपने निवास स्थानों को प्राप्त होते हैं।"

इस मन्त्र का भी देवता 'वरुण' है। महर्षि ने इसकी व्याख्या 'जगदीश्वर' की है। परन्तु सायण ने इसकी कोई व्याख्या न करके मन्त्रार्थ व्याख्या असंगत ही की है। मन्त्रार्थ की संगति न लगने पर सायण ने मन्त्र में अविद्यमान 'शुनःशेप' शब्द को जोड़कर कल्पित कथा को मन्त्रार्थ के साथ जोड़ने का दुस्साहस मात्र ही किया है। मन्त्र में 'परापतन्ति' क्रिया का अर्थ भी प्रमाण-विरुद्ध किया है। 'परा' उपसर्ग का अर्थ 'प्र परेत्येतस्य प्रातिलोम्यं प्राह' (निरु० १। ३) इस प्रमाण से 'दूर जाना' ही अर्थ होना चाहिए। और इसी अर्थ की मन्त्रोक्त उपमान-उपमेय भाव के साथ संगति भी है। जैसे वस्य इष्टये=धनादि भोग्य पदार्थों को प्राप्त करने के लिए पक्षी अपने स्थान से दूर दूर स्थानों पर चले जाते हैं, वैसे ही विमन्यवः=विविध मन्यु=क्रोधादि दुर्गुणयुक्त जन मेरे निवास से दूर चले जाएँ। यह तो संगति ठीक है। किन्तु सायण की व्याख्या में शुनःशेप की बुद्धियाँ इधर-उधर फैल रही हैं और पक्षी अपने घोंसलों को प्राप्त हो रहे हैं। जब इसमें कोई समानता नहीं है, तो उपमान-उपमेय भाव ही क्या रहा ? और 'वस्य' का अर्थ 'अतिशय जीवन भी सायण की शुनःशेप की कथा से संगति लगाने का दुष्प्रयास मात्र ही है। क्योंकि 'वसु' शब्द के 'धन' 'अन्न' आदि अर्थ तो निरुक्त में किए हैं। जीवन-परक अर्थ सायण का कल्पित ही है ॥ ४ ॥ ●

आजीगर्तिः शुनःशेप ऋषिः। **वरुणः (ईश्वरः)** देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

पुनः स वरुणः कीदृशोऽस्तीत्युपदिश्यते ॥

वह ईश्वर कैसा है यह फिर उपदेश किया जाता है ॥

---

१. हे वरुण ! मे मम शुनःशेपस्य विमन्यवः क्रोधरहिता बुद्धयः वस्य इष्टये वसीयसः अतिशयेन वसुमतो जीवनस्य प्राप्तये परा पतन्ति पराङ्मुखाः पुनरावृत्तिरहिताः प्रसरन्ति। परापतने दृष्टान्तः। वयो न। पक्षिणो यथा वसतीः निवासस्थानानि उप सामीप्येन प्राप्नुवन्ति तद्वत् ॥ (सायणः)

कदा क्षत्रश्रियं नरमा वरुणं करामहे। मृळीकायोरुचक्षसम् ॥ ५ ॥

कदा। क्षत्रश्रियम्। नरम्। आ। वरुणम्। करामहे। मृळीकाय। उरुऽचक्षसम् ॥ ५ ॥

पदार्थः—(**कदा**) कस्मिन्काले (**क्षत्रश्रियम्**) चक्रवर्त्तिराजलक्ष्मीम् (**नरम्**) नयनकर्त्तारम् (**आ**) समन्तात् (**वरुणं**) परमेश्वरम् (**करामहे**) कुर्य्याम(**मृळीकाय**) सुखाय (**उरुचक्षसम्**) उरु=बहुविधं वेदद्वारा चक्ष=आख्यानं यस्य तम् ॥ ५ ॥

अन्वयः—वयं कदा मृळीकायोरुचक्षसं नरं वरुणं परमेश्वरं संसेव्य क्षत्रश्रियं करामहे ॥ ५ ॥

सपदार्थान्वयः—**वयं कदा** कस्मिन् काले **मृळीकाय** सुखाय **उरुचक्षसम्** उरु=बहुविधं वेदद्वारा चक्ष=आख्यानं यस्य तं **नरं** नयनकर्त्तारं **वरुणं=परमेश्वरं संसेव्य क्षत्रश्रियं** चक्रवर्त्तिराज्यलक्ष्मीम् **आकरामहे** समन्तात् कुर्याम ॥ ५ ॥

भाषार्थ—हम लोग—(**कदा**) कब (**मृळीकाय**) सुख के लिये (**उरुचक्षसम्**) बहुत प्रकार से वेद के द्वारा जिसका आख्यान होता है उस, (**नरम्**) सन्मार्ग पर ले जाने वाले (**वरुणम्**) परमेश्वर का सेवन (आज्ञापालन) करके (**क्षत्रश्रियम्**) चक्रवर्ती राज्यलक्ष्मी को (**आ+करामहे**) सर्वत्र सिद्ध करें ?

भावार्थः—मनुष्यैः परमेश्वराज्ञां यथावत् पालयित्वा सर्वसुखं चक्रवर्त्तिराज्यं न्यायेन सदा सेवनीयमिति ॥ ५ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन करके सब के लिये सुखदायक चक्रवर्ती राज्य का न्याय से सेवन करें ॥ ५ ॥

भाष्यसार—**ईश्वर कैसा है**—परमेश्वर का बहुत प्रकार से वेदों के द्वारा आख्यान (कथन) होता है। वह सन्मार्ग पर ले जाने वाला है। हमलोग उसकी आज्ञा का यथावत् पालन करके सब के लिये सुखदायक चक्रवर्ती राज्यलक्ष्मी का न्याय से सदा सेवन कर सकते हैं ॥ ५ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"अपने सुख के लिए हम वरुण देव को किस समय इस कर्म में आया हुआ करते हैं ? वह वरुण कैसा है ? (वह वरुण) बल का सेवन करने वाला, नेता तथा सब को देखने वाला है।"

इस मन्त्र के देवता वरुण की मन्त्र में कुछ विशेषताएँ बताई हैं १ नरम्=वरुण सब को सन्मार्ग पर ले जाने वाला है। २ उरुचक्षसम्=बहुतों को देखने वाला है। ३ क्षत्रश्रियम्=बल का सेवन करने वाला है और उस वरुण को हम सुख के लिए बुलाते हैं अर्थात् वह हमें सुख देने वाला है। सायण-भाष्य के अनुसार इन विशेषताओं से युक्त वरुण-देव कौन है ? यह कुछ भी व्याख्यात नहीं है। जिससे प्रतिपाद्यविषय में ही सन्देह रहने से समस्त मन्त्रार्थ अस्पष्ट है। महर्षि दयानन्द ने 'वरुण' का परमेश्वर अर्थ करके स्पष्ट कर दिया है कि मन्त्रोक्त समस्त विशेषताएँ परमेश्वर में ही सुसंगत होती हैं। जीवों को परमेश्वर ही सुख देता है, परमेश्वरोक्त आज्ञापालन करने से परमेश्वर जीवों को सन्मार्ग पर चलाता है।

किन्तु परमेश्वर तो सर्वत्र व्यापक होने से सबका द्रष्टा है। अतः उसका आह्वान बुलाना तो कदापि सम्भव नहीं है। मन्त्रोक्त 'आकरामहे' क्रिया का सायण-भाष्य में 'आगतं करवाम' अर्थ करके परमेश्वरदेव का बुलाना माना है, जो कि अवैदिक पौराणिक कल्पना मात्र ही है। इस अर्थ की यहाँ

---

(१) मृळीकाय अस्मत्सुखाय वरुणं कदा कस्मिन् काले आकरामहे अस्मिन् कर्मणि आगतं करवाम। कीदृशम्। क्षत्रश्रियं बलसेविनं नरं नेतारम् उरुचक्षसं बहूनां द्रष्टारम् ॥ (सायणः)

कोई संगति नहीं है। क्योंकि जो पूर्ण है, सर्वत्र विद्यमान है, उसका बुलाना कैसे सम्भव है? जो जहाँ न हो, उसको वहाँ बुलाया जाता है। इसीलिए स्वामी शंकराचार्य ने 'परापूजा' में स्पष्ट लिखा है—"पूर्णस्याह्वानं कुत्र=पूर्ण परमेश्वर का बुलाना कैसे सम्भव है।" मन्त्रोक्त क्रिया में आङ्पूर्वक 'करोति' क्रिया है। 'करोतिरयमभूतप्रादुर्भावे चापि वर्त्तते' (महाभाष्ये) अर्थात् 'करोति' क्रिया अभूत प्रादुर्भाव अर्थ में भी है। अर्थात् जो वस्तु या सुख की सामग्री हमारे पास नहीं है, उसको हम परमेश्वर की आज्ञा का पालन करते हुए प्राप्त करें। हम क्या प्राप्त करें? इसके लिए मन्त्र में 'क्षत्रश्रियम्=चक्रवर्त्ती राज्य-लक्ष्मी' पद पढ़ा हुआ है। जिसको सायण ने भ्रान्तिवश नहीं समझा और उसका अर्थ वरुण के लिए 'बलसेविनम्' कर दिया है। यह पद वरुण के साथ कदापि संगत नहीं होता। जब मन्त्रोक्त वरुण की विशेषताओं से स्पष्ट है कि कोई एकदेशी देव न होकर सर्वद्रष्टा, व्यापक तथा सन्मार्ग-प्रापक परमेश्वर है, तो वह बल का कैसे सेवन कर सकता है? क्या वह निर्बल है? जो उसे बल की आवश्यकता है? अथवा बलवानों का ही आश्रय करता है, निर्बलों का नहीं। इस प्रकार परमेश्वर में अनेक दोष आते हैं। इसलिए मन्त्र के गाम्भीर्य तथा सूक्ष्मता को समझकर महर्षि ने इस पद को वरुण के साथ नहीं जोड़ा है। जिससे समस्त मन्त्रार्थ बहुत सुगम एवं भ्रान्तिरहित होने से स्पष्ट हो गया है कि हम वरुण-परमेश्वर का सेवन=उपासना करके राज्यलक्ष्मी को सिद्ध करें॥ ५॥

इति प्रथमाष्टके द्वितीयाध्याये षोडशो वर्गः॥
यह प्रथम अष्टक के दूसरे अध्याय में सोलहवां वर्ग समाप्त हुआ॥ ●

आजीगर्तिः शुनःशेप ऋषिः। **मित्रावरुणौ** (**सूर्यो वायुश्च**) देवते। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

अथ वायुसूर्य्यावुपदिश्येते॥

अब वायु और सूर्य का उपदेश किया जाता है॥

तदित्समानमाशाते वेनन्ता न प्रयुच्छतः। धृतव्रताय दाशुषे॥ ६॥

तत्। इत्। समानम्। आशाते इति। वेनन्ता। न। प्र। युच्छतः। धृतऽव्रताय। दाशुषे॥ ६॥

पदार्थः—(**तत्**) हुतं हविः। विमानादिरचनविधानं वा (**इत्**) एव (**समानम्**) तुल्यम् (**आशाते**) व्याप्नुतः (**वेनन्ता**) वादित्रवादकौ। अत्र 'वेनृ' धातोर्वादित्राद्यर्थो गृह्यते। **सुपां सुलुग्०** इत्याकारादेशश्च। (**न**) इव। निरुक्तकारनियमेन परः प्रयुज्यमानो नकार उपमार्थे भवतीति हेतोः सायण-आचार्य्यस्य निषेधार्थव्याख्यानमशुद्धमेव (**प्र**) प्रकृष्टार्थे (**युच्छतः**) हर्षं कुरुतः (**धृतव्रताय**) धृतं=धारितं व्रतं=सत्यभाषणादिकं क्रियामयं वा येन तस्मै (**दाशुषे**) दानकर्त्रे॥ ६॥

प्रमाणार्थ—(**वेनन्ता**) यहां 'वेनृ' धातु का वादित्र आदि अर्थ ग्रहण किया जाता है और यहां 'सुपां सुलुक्०' (अ० ७। १। ३९) इस सूत्र से 'औ' विभक्ति के स्थान में आकार आदेश है। (**न**) इव। निरुक्तकार के नियम से पर प्रयुक्त नकार उपमार्थ में होता है, इसलिये सायणाचार्य का निषेध अर्थ में व्याख्यान करना अशुद्ध ही है॥ ६॥

अन्वयः—एतौ वेनन्ता प्रयुच्छतो न—इव मित्रावरुणौ धृतव्रताय दाशुषे तदिद्यानं समानमाशाते व्याप्नुतः॥ ६॥

सपदार्थान्वयः— एतौ वेनन्ता वादित्रवादकौ **प्रयुच्छतः** प्रकृष्टतया हर्षं कुरुतः **न=इव मित्रावरुणौ धृतव्रताय** धृतं=धारितं व्रतं =सत्यभाषणादिकं क्रियामयं वा येन तस्मै **दाशुषे** दानकर्त्रे **तत्** हुतं हविः, विमानादिरचनविधानं वा **इत्** एव **यानं समानं** तुल्यम् **आशाते** व्याप्नुतः ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः । यथा हर्षवन्तौ वादित्रवादनकुशलौ वादित्राणि गृहीत्वा चालयित्वा शब्दयतः, तथैव साधितं धृतविद्येन मनुष्येण हुतं हविर्विमानादियानं च कलायन्त्रेषु यथावत् प्रयोजितौ वायुसूर्यौ धृत्वा चालयित्वा शब्दयतः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(न) जैसे ये दो (**वेनन्ता**) वादित्र=बाजा बजाने वाले (**प्रयुच्छतः**) अत्यन्त हर्षित होते हैं, वैसे (**मित्रावरुणौ**) वायु और सूर्य (**धृतव्रताय**) सत्यभाषणादि व्रत एवं क्रियामय यज्ञ को धारण करने वाले (**दाशुषे**) दाता पुरुष के लिये (**तत्**) होम की हुई हवि वा विमान आदि रचना की विधि को (**इत्**) ही (**समानम्**) समान रूप से (**आशाते**) व्याप्त करते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमा अलंकार है। जैसे हर्ष से युक्त, वादित्र=बाजे बजाने में कुशल दो व्यक्ति—बाजों को ग्रहण करके उन्हें चलाकर शब्द करते हैं, वैसे ही विद्या को धारण करने वाले मनुष्य के द्वारा सिद्ध करके होम की हुई हवि और विमान आदि यान को कलायन्त्रों में यथावत् प्रयोग किये हुये वायु और सूर्य धारण करके तथा चलाकर शब्द करते हैं ॥ ६ ॥

भाष्यसार=वायु और सूर्य—जैसे वादित्र=बाजे बजाने वाले दो पुरुष अत्यन्त हर्षित होते हैं तथा वादित्रों को चलाकर शब्द करते हैं वैसे ही वायु और सूर्य यज्ञ करने वाले पुरुष के लिये होम की हुई हवि को वा विमान आदि यान को समान रूप से व्याप्त करते हैं अर्थात् उनका धारण और चालन करके शब्द करते हैं ॥ ६ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में 'न' पद उपमावाचक है अतः उपमा अलंकार है। उपमा यह है कि जैसे वादित्र बजाने वाले दो पुरुष उनसे शब्द करते हैं वैसे वायु और सूर्य भी हवि और विमान आदि यानों को धारण और चालन करके शब्द करते हैं ॥ ६ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"कर्मों का जिसने अनुष्ठान किया है, उस हवि देनेवाले यजमान की इच्छा करने वाले मित्र और वरुण दोनों देव हमारे से दी हुई साधारण हवि को व्याप्त करते हैं और कभी भी प्रमाद नहीं करते।"

इस मन्त्र के दो देवता हैं 'मित्र और वरुण'। ये यज्ञ करने वाले यजमान की हवि को व्याप्त करने वाले देव कौन हैं ? सायण-भाष्य में इनके विषय में कुछ भी नहीं लिखा है। जो कुछ भी हम हवि अग्नि में डालते हैं, उनको कौन व्याप्त करते हैं ? यह एक वैज्ञानिक प्रश्न है। अग्नि-देव यज्ञ में प्रदत्त आहुति को सूक्ष्म करके वायुदेव को प्रदान कर देता है और वायु जल को शुद्ध करके अन्नादि के द्वारा हमारी पुष्टि करता है। महर्षि ने इसी वैज्ञानिक तथ्य को समझकर ही 'मित्रावरुणौ' देवताओं का वायु व सूर्य अर्थ किया है यद्यपि 'मित्र-वरुणौ' के विभिन्न अर्थ हैं, किन्तु प्रकरण के अनुसार यहाँ वायु-सूर्य की ही संगति होती है। 'मित्र' पद के वायु अर्थ में निरुक्त का प्रमाण देखिए—

---

(१) धृतव्रताय अनुष्ठितकर्मणे दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय वेनन्तौ कामयमानौ मित्रावरुणाविति शेषः। तावुभौ समानं साधारणं तदित् अस्माभिर्दत्तं तदेव हविः आशाते अश्नुवाते। न प्रयुच्छतः कदाचिदपि प्रमादं न कुरुतः ॥ (सायणः)

मित्रः प्रमीतेस्त्रायते, संमिन्वानो द्रवतीति वा, मोदयतेर्वा। (निरु० १०।२२) अर्थात् वायु मनुष्यों की रक्षा करता है, वृष्टि करता है, और ओषधि, वनस्पतियों को स्निग्ध करता है। वेद में अन्यत्र कहा भी है—'मित्राय घृतवत् हव्यं जुहोत' (ऋ० ३। ५९।१) अर्थात् पवित्र मित्र=वायु के लिए घृतसंयुक्त हवि की आहुति दो। 'मित्रं हुवे पूतदक्षम्' (ऋ० १। २। ७) पवित्रता करने वाले मित्र=वायु को मैं ग्रहण करता हूँ। वेद में अन्यत्र कहा है—'उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठ' (ऋ० ७। ३३। ११) अर्थात् हे अतिशय वास के हेतु जल! तुम मित्र और वरुण से उत्पन्न होते हो। यहाँ भी मित्र का अर्थ वायु (हाईड्रोजन वायु) ही है।

वायु के अतिरिक्त यज्ञ की हवि को सूर्य की किरणें भी व्याप्त करती हैं। इसलिए यज्ञ करने के समय का शास्त्रकारों ने यही निर्धारण किया है कि यज्ञ सूर्योदय होने पर तथा सूर्यास्त से पूर्व करना चाहिए। वायु और सूर्य की किरणों के आश्रय से यज्ञ में प्रक्षिप्त पदार्थ सूक्ष्म रूप से सर्वत्र व्याप्त हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त महर्षि ने वायु तथा सूर्य का प्रयोग विमानादि की रचना के लिए भी दर्शाया है। जिसको वैज्ञानिक अभी मूर्त्तरूप नहीं दे सके हैं। वायु और सूर्य के विमानादि के चलाने के लिए प्रयोग अनुसन्धान करने योग्य हैं।

ऐसे वैज्ञानिक सत्यार्थ को न समझकर सायणाचार्य के भाष्य से यही स्पष्ट होता है कि मित्र तथा वरुण कोई शरीरधारी देव यज्ञ की हवि लेने के लिए यज्ञ-प्रदेश में आते हैं। वे कभी प्रमाद नहीं करते। यह उनकी महाभ्रान्ति ही है क्योंकि ऐसे देवों की सायण-सदृश पौराणिक पण्डित ही कल्पना कर सकते हैं। सायणाचार्य ने निरुक्त शास्त्र के नियम की भी मन्त्रार्थ में उपेक्षा की है। महर्षि ने सायण-भाष्य की अशुद्धि बताते हुए लिखा है—

"निरुक्तकारनियमेन परः प्रयुज्यमानो नकार उपमार्थे भवतीति हेतोः सायणाचार्यस्य निषेधार्थ-व्याख्यानमशुद्धमेव॥"

अर्थात् 'उपरिष्टादुपचारस्तस्य येनोपमिमिते' (निरु० १। ४) इस नियम में यह स्पष्ट किया गया है कि 'न' का प्रयोग कहाँ निषेधार्थक है और कहाँ उपमार्थक है। प्रतिषेध अर्थ में प्रतिषेध्य से पूर्व और उपमा अर्थ में उपमान के पीछे 'न' का प्रयोग होता है। इस नियम का उल्लंघन करके आचार्य सायण ने 'वेनन्तौ न' प्रयोग को न समझकर 'न' का निषेध अर्थ ही कर दिया है। यह उनकी व्याख्या अशुद्ध ही है॥ ६॥

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **वरुणः (विद्वान्)** देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

एतद्यथावत्को वेदेत्युपदिश्यते॥

उक्त शिल्पविद्या को यथावत् कौन जानता है इस विषय का उपदेश किया जाता है॥

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः॥ ७॥

वेद। यः। वीनाम्। पदम्। अन्तरिक्षेण। पतताम्। वेद। नावः। समुद्रियः॥ ७॥

पदार्थः—(**वेद**) जानाति। **द्व्यचोतस्तिङ** इति दीर्घः। (**यः**) विद्वान् मनुष्यः (**वीनाम्**) विमानानां=सर्वलोकानां पक्षिणां वा (**पदम्**) पदनीयं=गन्तव्यमार्गम् (**अन्तरिक्षेण**) आकाशमार्गेण। अत्र **अपवर्गे तृतीया**। अ० २। ३। ६। इति तृतीया विभक्तिः। (**पताताम्**) गच्छताम् (**वेद**) जानाति

(**नावः**) नौकायाः (**समुद्रियः**) समुद्रेऽन्तरिक्षे जलमये वा भवः । अत्र **समुद्राभ्राद् घः** । अ० ४ । ४ । ११८ । अनेन समुद्रशब्दाद् घः प्रत्ययः ॥ ७ ॥

प्रमाणार्थ—(**वेदा**) यहां 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (अ० ६ । ३ । १३४) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—(**वेदा**) । (**अन्तरिक्षेण**) यहां अपवर्गे तृतीया' (अ० २ । ३ । ६) इस सूत्र से तृतीया विभक्ति है (**समुद्रियः**) यहां 'समुद्राभ्राद् घः' (अ० ४ । ४ । ११८) इस सूत्र से 'घ' प्रत्यय है (समुद्र+घ । समुद्र+इय+सु=समुद्रियः) ॥ ७ ॥

अन्वयः—यः समुद्रियो मनुष्योऽन्तरिक्षेण पततां वीनां पदं वेद समुद्रे गच्छन्त्या नावश्च पदं वेद स शिल्पविद्यासिद्धिं कर्त्तुं शक्नोति नेतरः ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः—यः विद्वान् मनुष्यः **समुद्रियः** समुद्रेऽन्तरिक्षे जलमये वा भवः **मनुष्योऽन्तरिक्षेण** आकाशमार्गेण **पतताम्** गच्छताम् **वीनां** विमानानां, सर्वलोकानां, पक्षिणां वा **पदं** पदनीयं=गन्तव्यमार्गं **वेद** जानाति, **समुद्रे गच्छन्त्या नावः** नौकायाः **च पदं** पदनीयं=गन्तव्यमार्गं वेद जानाति, **स शिल्पविद्यासिद्धिं कर्त्तुं शक्नोति, नेतरः** ॥ ७ ॥

भावार्थः—या ईश्वरेण वेदेष्वन्तरिक्ष-भूसमुद्रेषु गमनाय यानानां विद्या उपदिष्टाः सन्ति, ताः साधितुं यः पूर्णविद्याशिक्षाहस्तक्रियाकौशलेषु विचक्षण इच्छति, स एवैतत्कार्यकरणे समर्थो भवतीति ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (**समुद्रियः**) अन्तरिक्ष में वा जलमय समुद्र में रहने वाला विद्वान् मनुष्य—(अन्तरिक्षेण) आकाशमार्ग से (**पतताम्**) जाने वाले (**वीनाम्**) विमान, सबलोक, वा पक्षियों के (**पदम्**) गन्तव्य मार्ग को (**वेद**) जानता है, और समुद्र में चलने वाली (**नावः**) नौका के (**पदम्**) गन्तव्य मार्ग को (**वेद**) जानता है, वह शिल्पविद्या की सिद्धि कर सकता है, अन्य नहीं ॥ ७ ॥

भावार्थ—ईश्वर ने वेदों में अन्तरिक्ष, पृथिवी और समुद्र में गमन करने के लिये यानों की जिन विद्याओं का उपदेश किया है, उन्हें जो पूर्ण विद्या, शिक्षा और हस्तक्रियाकौशल में निपुण मनुष्य सिद्ध करना चाहता है, वही इस कार्य के करने में समर्थ होता है ॥ ७ ॥

भाष्यसार—**शिल्पविद्या को कौन जानता है**—जो विद्वान् मनुष्य अन्तरिक्ष में वा जलमय समुद्र में रहने वाला है तथा पूर्ण विद्या, शिक्षा और हस्तक्रियाकौशल में निपुण है, वह आकाश, पृथिवी और समुद्र मार्ग से जाने वाले विमान, नौका सब लोक और पक्षियों के गन्तव्य मार्ग को जानता है। वही शिल्पविद्या की सिद्धि कर सकता है ॥ ७ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"जो वरुण आकाश-मार्ग से जाने वाले पक्षियों के पद को जानता है और जो समुद्र में स्थित वरुण जल में चलने वाली नाव के पद (मार्ग) को जानता है, वह हमें बन्धनों से छुड़ाए।"

इस मन्त्र का देवता 'वरुण' है। यह मन्त्रोक्त विशेषताओं को देखकर जाना जा सकता है कि ये किस के लिए प्रयुक्त हैं? यह सायणाचार्य को ज्ञात न हो सका। इसीलिए उन्होंने वरुण को समुद्र में स्थित मानकर 'बन्धन से छुड़ाने वाला' मन्त्रार्थ किया है। यथार्थ में भूमि, समुद्र तथा अन्तरिक्ष तीन

---

(१) अन्तरिक्षेण पतताम् आकाशमार्गेण गच्छतां वीनां पक्षिणां पदं यः वरुणः वेद। तथा **समुद्रियः** समुद्रेऽवस्थितः वरुणः नावः जले गच्छन्त्याः पदं वेद जानाति सोऽस्मान् बन्धनान्मोचयतु ॥ (**सायणः**)

स्थानों पर चलने वाले यान होते हैं। मन्त्र में समुद्र और अन्तरिक्ष में चलने वाले यानों का वर्णन किया है। जो विद्वान् शिल्पी इन दोनों प्रकार के यानों को चलाने की विद्या को जान लेता है, वही शिल्प-विद्या की सिद्धि कर सकता है। और हमें नानाविध ऐश्वर्य के साधन देकर सुख दे सकता है। महर्षि-दयानन्द ने इस प्रकरण को समझकर ही 'वरुण' का अर्थ विद्वान्-शिल्पी किया है।

परन्तु आचार्य सायण की बुद्धि में तो गर्त्त में गिरे शुनःशेप ऋषि के कल्पित आख्यान ने घर कर रखा था। उस पूर्वाग्रह के कारण वे सत्यार्थ कैसे करते? उन्होंने वरुण को जल का देवता मानकर ही वरुण को समुद्र में स्थित लिख दिया है। यदि सायण को यही अभिमत है कि वरुण जलीय देवता ही है, तो जिन मन्त्रों में वरुण की जो-जो विशेषताएँ बताई गई हैं, उनकी संगति कोई भी विद्वान् सायण के अनुसार भी नहीं लगा सकता। समुद्र में स्थित वरुण यज्ञ की हवि को लेने, उरुचक्षसम्=बहुतों का द्रष्टा, वरुण के मन को स्तुतियों से बांधनादि सायण-भाष्य की ही अनेक बातें ऐसी हैं, जिनकी संगति जलीय-देवता वरुण से नहीं हो सकती। अतः सायण की समस्त व्याख्या ही प्रकरण-विरुद्ध होने से असंगत और अप्रामाणिक है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि स्वयं व्याख्यात पदार्थ के विरुद्ध होते हुए भी भ्रान्त कल्पनाओं का परित्याग सायण ने नहीं किया। आचार्य-सायण को 'समुद्रियः' पद की व्याख्या (समुद्रेऽन्तस्थितः) में महाभ्रान्ति रही है अथवा उन्होंने लौकिक अर्थ के आश्रय से अर्थ करने के कारण मन्त्रार्थ को नहीं समझा। सायण ने 'समुद्र' की व्याख्या रूढ़ अर्थ को लेकर जलमय समुद्र और 'वीनाम्' की व्याख्या 'पक्षिणाम्' ही कर दी है। वैदिक प्रक्रिया में यौगिक प्रक्रिया से अर्थ करना चाहिए, परन्तु सायण ने इसको नहीं अपनाया। इससे क्या हानि हुई? इस पर देखिए—मन्त्र में अन्तरिक्ष में चलने वाले विमानादि तथा समुद्र में चलने वाले नावादि यानों को जानने के लिए कहा गया है। किन्तु जानने वाले के लिए केवल 'समुद्रियः' पद पठित है। लोकाश्रय से किए गए अर्थानुसार जलमय समुद्र-स्थित आकाश के मार्गों को कैसे जान सकेगा? निरुक्त में इस समस्या का समाधान करते हुए लिखा है कि समुद्र शब्द वेद के निघण्टु कोष में अन्तरिक्ष नामों में पठित है। आचार्य यास्क लिखते हैं—'तत्र समुद्र इत्येतत् पार्थिवेन समुद्रेण सन्दिह्यते।" (निरु० २। ११) अर्थात् अन्तरिक्ष वाचक समुद्र का पार्थिव वाचक समुद्र के साथ सन्देह होता है। महर्षि दयानन्द ने निरुक्तादि शास्त्रों के आधार पर ही "समुद्रियः=समुद्रेऽन्तरिक्षे जलमये वा" किया है। और 'वीनाम्' का अर्थ विज्ञान, लोक तथा पक्षी किया है। यह आर्ष व्याख्याओं की रीति है। अनार्ष ग्रन्थों के आश्रय से पढ़ने वाला सायण इस तथ्य को कैसे समझ सकता था? जलमय समुद्र तथा अन्तरिक्ष को जानने वाला ही समुद्र तथा अन्तरिक्ष में चलने वाले यानों को जान सकता है॥ ७॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **वरुणः (विद्वान्)** देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनः स किं जानातीत्युपदिश्यते॥

फिर वह विद्वान् क्या जानता है, यह उपदेश किया जाता है॥

वेद॑ मा॒सो धृ॒तव्र॑तो॒ द्वाद॑श प्र॒जाव॑तः। वेदा॒ य उ॑प॒जाय॑ते॥ ८॥

वेद। मा॒सः। धृ॒तऽव्र॑तः। द्वाद॑श। प्र॒जाऽव॑तः। वेद। यः। उ॒प॒ऽजाय॑ते॥ ८॥

पदार्थः—(वेद) जानाति (मासः) चैत्रादीन् (धृतव्रतः) धृतं व्रतं=सत्यं बलं येन सः (द्वादश) मासान् (प्रजावतः) बह्व्यः प्रजा=उत्पन्ना विद्यन्ते येषु मासेषु तान्। अत्र **भूमार्थे मतुप्**। (वेद) जनाति।

अत्रापि **द्व्यचोतस्तिङ** इति दीर्घः । (यः) विद्वान् मनुष्यः (**उपजायते**) यत्किंचिदुत्पद्यते तत्सर्वं त्रयोदशो मासो वा ॥ ८ ॥

प्रमाणार्थ—(प्रजावतः) यहां बहुत अर्थ में 'मतुप्' प्रत्यय है । (**वेदा**) यहां 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (अ० ६ । ३ । १३४) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—'वेदा' ॥ ८ ॥

अन्वयः—यो धृतव्रतो मनुष्यः प्रजावतो द्वादशमासान् वेद तथा योऽत्र त्रयोदश मास उप जायते तमपि वेद स सर्वकालावयवान् विदित्वोपकारी भवति ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः—**यः** विद्वान् मनुष्यः **धृतव्रतः** धृतं व्रतं=सत्यं बलं येन सः **मनुष्यः प्रजावतः** बह्व्यः प्रजा उत्पन्ना विद्यन्ते येषु मासेषु तान् **द्वादश [मासः] मासान्** चैत्रादीन् **वेद** जानाति, **तथा यः** विद्वान् मनुष्यः **अत्र त्रयोदशमासः उपजायते** यत्किञ्चिदुत्पद्यते तत्सर्वं, त्रयोदशो मासो वा **तमपि वेद** जानाति, **स सर्वकालावयवान् विदित्वोपकारी भवति** ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (**धृतव्रतः**) व्रत=सत्य बल को धारण करने वाला विद्वान् मनुष्य है, वह—(**प्रजावतः**) जिनमें बहुत प्रजा उत्पन्न होती हैं उन (**द्वादश**) बारह [मासः] चैत्र आदि महीनों को (**वेद**) जानता है तथा (**यः**) जो विद्वान् मनुष्य यहां तेरहवां महीना (**उपजायते**) अधिक मास के रूप में उत्पन्न होता है उसको और जो कुछ उत्पन्न होता है उस सब को (**वेद**) जानता है, वह सब काल-अवयवों को जानकर उपकार करने वाला होता है ॥ ८ ॥

भावार्थः— यथा सर्वज्ञत्वात् परमेश्वरः सर्वाधिष्ठानं कालचक्रं विजानाति; तथा मनुष्यैर्लोकानां कालस्य च महिमानं विदित्वा नैव कदाचिदस्यैकः कणः क्षणोऽपि व्यर्थो नेय इति ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे सर्वज्ञ होने से परमेश्वर सब के अधिष्ठान कालचक्र को जानता है, वैसे सब मनुष्य सब लोकों और काल की महिमा को जानकर कभी लोकों के एक कण और काल के एक क्षण को भी व्यर्थ न जाने दें ॥ ८ ॥

भाष्यसार—**विद्वान् क्या जानता है ?**—सत्य बल को धारण करने वाला विद्वान्-मनुष्य चैत्र आदि बारह महीनों को जानता है, जिन बारह महीनों में बहुत प्रजा उत्पन्न होती है। विद्वान् मनुष्य जो तेरहवां महीना अधिक मास के रूप में उत्पन्न होता है उसे भी जानता है। वह सब काल-अवयवों को जानकर मनुष्यों के लिये उपकारी होता है ॥ ८ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"कर्म विशेष को करने वाला वरुण पैदा होने वाली प्रजा से युक्त चैत्रादि बारह मासों को जानता है और संवत्सर के समीप जो तेरहवां अधिक मास होता है, उसको भी वरुण जानता है।"

इस सायण-कृत व्याख्या में मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय 'वरुण' की कोई व्याख्या नहीं की है। काल के मासादि भेदों तथा तेरहवें मास को ज्योतिर्विद्याविद् ही जान सकते हैं। अतः महर्षिकृत 'वरुणः=विद्वान्' ही व्याख्या प्रकरण-संगत है। ज्योतिष् आदि विद्याओं को प्रत्येक मनुष्य नहीं जान सकता। जो धृतव्रतः=सत्याचरणादि व्रतों को धारण करने से जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, वह

१—धृतव्रतः स्वीकृतकर्मविशेषो यथोक्तमहिमोपेतो वरुणः प्रजावतः तदा तदोत्पद्यमानप्रजायुक्तान् द्वादश मासः चैत्रादीन् फाल्गुनान्तान् वेद जानाति । यः त्रयोदशोऽधिकमासः उपजायते संवत्सरसमीपे स्वयमेवोत्पद्यते तमपि वेद ॥ (सायणः)

ही विज्ञान को प्राप्त कर सकता है। ऐसा 'वरुण' यहाँ विद्वान् से भिन्न दूसरा कोई देव नहीं हो सकता ॥ ८ ॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **वरुणः (विद्वान्)** देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

पुनः स किं किं जानातीत्युपदिश्यते ॥

फिर वह विद्वान् क्या क्या जानता है यह उपदेश किया जाता है ॥

वेद वातस्य वर्त्तनिमुरोर्ऋष्वस्य बृहतः। वेदा ये अध्यासते ॥ ९ ॥

वेद। वातस्य। वर्त्तनिम्। उरोः। बृहतः। वेद। ये। अधिऽआसते ॥ ९ ॥

पदार्थः—(**वेद**) जानाति (**वातस्य**) वायोः (**वर्त्तनिम्**) वर्त्तन्ते यस्मिंस्तं मार्गम् (**उरोः**) बहुगुणयुक्तस्य (**ऋष्वस्य**) सर्वत्रागमनशीलस्य। अत्र **'ऋषी गतौ' अस्माद्बाहुलकादौणादिको वन् प्रत्ययः** (**बृहतः**) महतो=महाबलविशिष्टस्य (**वेद**) जानाति (**ये**) पदार्थाः (**अध्यासते**) तिष्ठन्ति ते ॥ ९ ॥

प्रमाणार्थ—(**ऋष्वस्य**) यहां 'ऋषी गतौ' इस धातु से बहुल करके औणादिक 'वन्' प्रत्यय है (ऋष्+वन्+सु=ऋष्वः) ॥ ९ ॥

अन्वयः—यो मनुष्य ऋष्वस्योरोर्बृहतो वातस्य वर्त्तनिं वेद जानीयात् येऽत्र पदार्था अध्यासते तेषां च वर्त्तनिं वेद स खलु भूखगोलगुणविज्जायते ॥ ९ ॥

सपदार्थान्वयः— यो मनुष्य ऋष्वस्य सर्वत्र गमनशीलस्य **उरोः** बहुगुणयुक्तस्य **बृहतः** महतो=महाबलविशिष्टस्य **वातस्य** वायोः **वर्त्तनिं** वर्त्तन्ते यस्मिँस्तं मार्गं **वेद** जानाति, **ये** पदार्थाः **अत्र पदार्था अध्यासते** तिष्ठन्ति ते **तेषां च वर्त्तनिं** वर्त्तते यस्मिँस्तं मार्गं **वेद** जानाति **स खलु भूखगोलगुणविज्जायते ॥ ९ ॥**

भावार्थः—यो मनुष्योऽग्न्यादीनां पदार्थानां मध्ये परिमाणतो गुणतश्च महान् सर्वाधारो वायुर्वर्त्तते, तस्य कारणमुत्पत्तिं गमनागमनयोर्मार्गं, ये तत्र स्थूलसूक्ष्माः पदार्था वर्त्तन्ते तानपि यथार्थतया विदित्वैतेभ्य उपकारं गृहीत्वा ग्राहयित्वा कृतकृत्यो भवेत्, स इह गण्यो विद्वान् भवतीति वेद्यम् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—जो मनुष्य—(**ऋष्वस्य**) सर्वत्र गतिशील (**उरोः**) बहुत गुणों से युक्त (**बृहतः**) महान् बल वाले (**वातस्य**) वायु के (**वर्त्तनिम्**) मार्ग को (**वेद**) जानता है, और (**ये**) जो पदार्थ इस वायु में अर्थात् इसके आधार पर (**अध्यासते**) स्थित हैं, उनके भी (**वर्त्तनिम्**) मार्ग को (**वेद**) जानता है, वह निश्चय ही भूगोल और खगोल के गुणों का ज्ञाता हो जाता है ॥ ९ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य—अग्नि आदि पदार्थों में परिमाण और गुणों से महान्, सबका आधार वायु है; उसके कारण=उत्पत्ति को, जाने-आने के मार्ग को और जो उसमें स्थूल-सूक्ष्म पदार्थ हैं उन्हें भी यथार्थ रूप में जानकर, उनसे उपकार ग्रहण करके तथा कराके कृतकृत्य होता है, वह यहां गणनीय विद्वान् होता है, ऐसा जानो ॥ ९ ॥

भाष्यसार—**विद्वान् क्या क्या जानता है**—वायु सर्वत्र गतिशील है। वह बहुत गुणों से युक्त है अर्थात् अग्नि आदि पदार्थों में परिमाण और गुण से महान् है। वह सब का आधार है। वह महान् बल से युक्त है। जो विद्वान् मनुष्य इस वायु के जाने-आने के मार्ग को तथा उसमें विद्यमान

स्थूल-सूक्ष्म पदार्थों को यथार्थ रूप में जान लेता है वह उनसे स्वयं उपकार ग्रहण करता है और अन्यों को भी उपकार ग्रहण कराता है। वह भूगोल और खगोल के गुणों का ज्ञाता हो जाता है। वह यहां एक गणनीय विद्वान् होता है ॥ ९ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"वरुण देव विस्तृत, दर्शनीय तथा अधिक गुण वाले वायु के मार्ग को जानता है और जो देव ऊपर स्थित हैं, उन्हें भी वरुण जानता है।"

इस सायण-कृत व्याख्या में भी मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय 'वरुण' की व्याख्या न होने से मन्त्रार्थ अस्पष्ट है। और मन्त्र में वात=वायु के विशेषण रूप में 'ऋष्वस्य' पद पठित है। जिसकी आचार्य सायण ने 'दर्शनीयस्य' अर्थ करके विज्ञान-विरुद्ध व्याख्या की है। यह तो सर्वजन प्रत्यक्ष है कि वायु नेत्रों का विषय न होने से देखने योग्य नहीं है। दर्शनशास्त्रों के अनुसार वायु में शब्द तथा स्पर्श दो गुण माने हैं। वायु अग्नि से सूक्ष्म होने से वायु में रूप गुण ही नहीं है, फिर वह दर्शन का विषय कैसे हो सकता है? महर्षि दयानन्द ने इस पद की व्याकरण का प्रमाण देकर 'ऋषि गतौ' धातु से 'सर्वत्र गमनशील' व्याख्या की है। महर्षि की व्याख्या वैज्ञानिक होने से सत्य है।

सायण-भाष्य का एक दोष यह है कि 'ये अध्यासते' पदों की व्याख्या सायण ने यह की है कि 'ये देवा अध्यासते उपरि तिष्ठन्ति तानपि वेद जानाति=अर्थात् जो देव ऊपर स्थित हैं उनको भी वरुण जानता है।" इस व्याख्या में प्रथम तो मन्त्र में अपठित 'देवाः' पद को स्वयं जोड़ा गया है। महर्षि ने 'देवाः' पद को विना लगाए ही बहुत सुसंगत व्याख्या की है। और देवता ऊपर स्थित हैं, यह भी एक पौराणिक मिथ्या कल्पना ही है। देवता, पितर, ऋषि आदि मनुष्यों के ही भेद हैं। वे जहां-जहां भी मानव सृष्टि है, वहाँ-वहाँ हैं। देवों का कोई स्थान-विशेष अथवा स्वर्गलोक आदि मानना सायण की मिथ्या कल्पना ही है ॥ ९ ॥ ●

आजीगर्तिः शुनःशेप ऋषिः। **वरुणः** (**विद्वान्**) देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

य एतं जानाति स किं प्राप्नोतीत्युपदिश्यते ॥

जो मनुष्य इस वायु को जानता है वह किसको प्राप्त करता है, यह उपदेश किया जाता है ॥

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा। साम्राज्याय सुक्रतुः ॥ १० ॥

नि। ससाद। धृतऽव्रतः। वरुणः। पस्त्यासु। आ। साम्ऽराज्याय। सुऽक्रतुः ॥ १० ॥

पदार्थः—(**नि**) नित्यार्थे (**ससाद**) तिष्ठति। अत्र लडर्थे लिट्। **सदेः परस्य लिटि। अ० ८। ३। ११८।** अनेन परसकारस्य मूर्द्धन्यादेशनिषेधः। (**धृतव्रतः**) सत्याचारशीलः (**वरुणः**) उत्तमो विद्वान् (**पस्त्यासु**) पस्त्येभ्यो=गृहेभ्यो हितास्तासु प्रजासु। **पस्त्यमिति गृहनामसु पठितम्।** निघं० ३। ४। (**आ**) समन्तात् (**साम्राज्याय**) यद्राष्ट्रं सर्वत्र भूगोले सम्यक् राजते=प्रकाशते तस्य भावाय (**सुक्रतुः**) शोभनाः क्रतवः=कर्माणि प्रज्ञा वा यस्य सः ॥ १० ॥

प्रमाणार्थ—(**ससाद**) तिष्ठति। यहां 'लट्' लकार के अर्थ में 'लिट्' लकार है। सदेः

---

१. उरोः विस्तीर्णस्य ऋष्वस्य दर्शनीयस्य बृहतः गुणैरधिकस्य वातस्य वायोः **वर्त्तनिं** मार्गं **वेद वरुणो** जानाति। ये देवाः अध्यासते उपरि तिष्ठन्ति तानपि वेद जानाति ॥ (सायणः)

परस्य लिटि (अ० ८ । ३ । ११८) इस सूत्र से पर-सकार को मूर्धन्य आदेश का निषेध है। (पस्त्यासु) 'पस्त्यम्' यह पद निघण्टु (३ । ४) में गृह-नामों में पढ़ा गया है ॥ १० ॥

अन्वयः—यथा यो धृतव्रतः सुक्रतुर्वरुणो विद्वान् मनुष्यः पस्त्यासु प्रजासु साम्राज्यायानिषसाद तथाऽस्माभिरपि भवितव्यम् ॥ १० ॥

सपदार्थान्वयः—यथा यो धृतव्रतः सत्याचारशीलः सुक्रतुः शोभनाः क्रतवः=कर्माणि प्रज्ञा वा यस्य सः वरुणः उत्तमो विद्वान् मनुष्यः पस्त्यासु पस्त्येभ्यः=गृहेभ्यो हिताऽस्तासु प्रजासु साम्राज्याय यद् राष्ट्रं सर्वत्र भूगोले सम्यग् राजते =प्रकाशते तस्य भावाय आनिषसाद समन्तान्नित्यं तिष्ठति, तथाऽस्माभिरपि भवितव्यम् ॥ १० ॥

भाषार्थ—जैसे जो (धृतव्रतः) सत्याचरण वाला (सुक्रतुः) उत्तम क्रतु=कर्म वा प्रज्ञा वाला (वरुणः) श्रेष्ठ विद्वान् मनुष्य है, वह (पस्त्यासु) घरों के लिये हितकारी अर्थात् प्रजा में (साम्राज्याय) साम्राज्य अर्थात् जो राष्ट्र भूगोल में सर्वत्र प्रकाशित होता है, उसको (आ+निषसाद) सब ओर नित्य प्राप्त होता है, वैसे हम भी हों ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः। यथा परमेश्वरः सर्वासां प्रजानां सम्राड् वर्त्तते, तथा य ईश्वराज्ञायां वर्त्तमानो विद्वान् धार्मिकः शरीरबुद्धिबलसंयुक्तो भवति, स एव साम्राज्यं कर्तुमर्हतीति ॥ १० ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। जैसे परमेश्वर सब प्रजा का सम्राट् है, वैसे जो ईश्वर की आज्ञा में रहने वाला धार्मिक विद्वान् शरीरबल और बुद्धिबल से संयुक्त होता है, वही साम्राज्य कर सकता है ॥ १० ॥

भाष्यसार—**वायु का ज्ञाता विद्वान्**—सत्याचरण वाला, उत्तम कर्म वा प्रज्ञा से युक्त श्रेष्ठ विद्वान् प्रजा में साम्राज्य को प्राप्त करता है। जैसे ईश्वर सब प्रजा का सम्राट् है वैसे ईश्वर की आज्ञा में रहने वाला धार्मिक विद्वान् शरीर और बुद्धि-बल से सम्पन्न होकर ही साम्राज्य का संचालन कर सकता है ॥ १० ॥

अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है, अतः वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि मन्त्रोक्त विद्वान् के तुल्य हम भी साम्राज्य को प्राप्त करें ॥ १० ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"कर्म विशेष को स्वीकार करने वाला वरुण देवी-प्रजाओं में आकर बैठ गया है। किस लिए ? प्रजा के साम्राज्य की सिद्धि के लिए अच्छे कार्य करने वाला।"

इस सायण-कृत व्याख्या में मन्त्र के देवता की व्याख्या न होने से मन्त्रार्थ प्रकरणानुकूल नहीं है। 'वरुण' के लिए मन्त्र में जो विशेषण पढ़े हैं, उनके अनुसार वरुण धृतव्रतः=सत्याचरणादि श्रेष्ठ कर्म करने वाला तथा सुक्रतुः=उत्तम कर्म या प्रज्ञा वाला है। ये अर्थ विद्वान् पुरुष में ही संगत होते हैं, किसी जल के कल्पित वरुणदेव में नहीं। और मन्त्र में कहा है कि वह वरुण पस्त्यासु=प्रजा में आकर साम्राज्य के लिए आकर बैठ जाता है अर्थात् प्राप्त होता है। यह भी विद्वान् शिल्पी का ही कार्य है। शिल्पी द्वारा निर्मित यानादि से साम्राज्यादि की सिद्धि होती है। साम्राज्य-प्राप्ति के लिए सुक्रतुः=अच्छी प्रज्ञा की परमावश्यकता रहती है। महर्षि ने 'क्रतु' का प्रज्ञा अर्थ निरुक्त के अनुकूल किया है। सायण ने इस गाम्भीर्य को न समझकर इसका अर्थ 'शोभनकर्मा' मात्र ही किया है।

---

१. धृतवतः पूर्वोक्तः वरुणः पस्त्यासु दैवीषु प्रजासु आनिषसाद आगत्य निषण्णवान्। किमर्थम् ? प्रजानां साम्राज्यसिध्यर्थं सुक्रतुः शोभनकर्मा ॥ (सायणः)

सायण की व्याख्या में यह भी दोष है कि उन्होंने लौकिक व्याकरण के नियमों के अनुसार ही व्याख्या की है। और वैदिक नियमों की उपेक्षा की है। वेद शाश्वत ईश्वरीय ज्ञान है। उसमें सार्वभौमिक तथा शाश्वत नियमों का ही प्रतिपादन है। इस रहस्य को सायण ने नहीं समझा। इसलिए 'निषसाद' का अर्थ भूतकाल में 'निषाणवान्' कर दिया है। क्या विद्वान् शिल्पीजन अब वर्त्तमान में अथवा भविष्यत् काल में प्रजा में साम्राज्यसिध्यर्थ प्राप्त होंगे नहीं ? क्या ऐसे ही अधकचरे अर्थों से वेदों में अनित्य इतिहास की भ्रान्ति नहीं होती ? देखिए—व्याकरण के लौकिक नियम से वैदिक विशेष-नियम। यद्यपि लुङादि लकार लोक में भूतकाल में ही प्रयुक्त होते हैं, परन्तु वेद में 'छन्दसि लुङ्लङ्लिट्:' (अ० ३।४।६) सूत्र के अनुसार लिट् आदि लकार सामान्य काल में भी होते हैं। प्रस्तुत 'निषसाद' प्रयोग लिट् लकार का होता हुआ भी सामान्य काल में ही है। जिसको महर्षि ने समझकर 'नित्यं तिष्ठति' अर्थ किया है। यही ऋषिकृत और मनुष्यकृत व्याख्याओं में महान् अन्तर है ॥ १० ॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **वरुणः** (विद्वान्) देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

पुनः स एवार्थ उपदिश्यते ॥

विद्वान्-विषय का फिर उपदेश किया जाता है ॥

अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वाँ अभि पश्यति। कृतानि या च कर्त्वा ॥ ११ ॥

अतः। विश्वानि। अद्भुता। चिकित्वान्। अभि। पश्यति। कृतानि। या। च। कर्त्वा ॥११॥

पदार्थः—(**अतः**) पूर्वोक्तात्कारणात् (**विश्वानि**) सर्वाणि (**अद्भुता**) आश्चर्यरूपाणि। अत्र सर्वत्र **शेश्छन्दसि** इति लोपः। (**चिकित्वान्**) केतयति=जानातीति चिकित्वान्। अत्र **'कित ज्ञाने'** अस्माद्वेदोक्ताद्धातोः क्वसुः प्रत्ययः। **चिकित्वान् चेतनावान्।** निरु० २। ११। (**अभि**) सर्वतः (**पश्यति**) प्रेक्षते (**कृतानि**) अनुष्ठितानि (**या**) यानि (**च**) समुच्चये (**कर्त्वा**) कर्त्तव्यानि। अत्र **कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वन** इति त्वन् प्रत्ययः ॥ ११ ॥

प्रमाणार्थ—(**अद्भुता**) यहां सर्वत्र [या/कर्त्वा] 'शेश्छन्दसि बहुलम्' (अ० ६। १। ६८) इस सूत्र से 'शि' का लोप है। (**चिकित्वान्**) यहां 'कित ज्ञाने' इस वेदोक्त धातु से 'क्वसु' प्रत्यय है। निरुक्त (२। ११) के अनुसार 'चिकित्वान्' का अर्थ चेतनावान् है। (**कर्त्वा**) यहां 'कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः' (अ० ३। ४। १४) इस सूत्र से 'कृ' धातु से त्वन् प्रत्यय है (कृ+त्वन्। कर्+त्व+शि=कर्त्वा) ॥ ११ ॥

अन्वयः—यतो यश्चिकित्वान् वरुणो धार्मिकोऽखिलविद्यो न्यायकारी मनुष्यो या यानि विश्वानि सर्वाणि कृतानि यानि च कर्त्वा—कर्त्तव्यानि [अद्भुतः] अद्भुतानि कर्माण्यभिपश्यत्यतः स न्यायाधीशो भवितुं योग्यो जायते ॥ ११ ॥

सपदार्थान्वयः—**यतो यश्चिकित्वान्** केतयति=जानातीति चिकित्वान् **वरुणो धार्मिकोऽखिलविद्यो न्यायकारी मनुष्यो या**=यानि **विश्वानि**=**सर्वाणि कृतानि** अनुष्ठितानि **यानि च कर्त्वा**=**कर्त्तव्यानि अद्भुता**=**अद्भुतानि** आश्चर्यरूपाणि **कर्म्माणि अभिपश्यति** सर्वतः प्रेक्षते **अतः** पूर्वोक्तात्

भाषार्थ—जो जिससे (**चिकित्वान्**) भूतपूर्व विद्वानों के कर्मों का ज्ञाता (**वरुणः**) धार्मिक, अखिल विद्या वाला, न्यायकारी विद्वान् मनुष्य—(**या**) जिन (**विश्वानि**) सब (**कृतानि**) किये हुये कर्मों को, और जो (**कर्त्वा**) कर्त्तव्य हैं, उन (**अद्भुता**) आश्चर्यरूप कर्मों को (**अभिपश्यति**)

कारणात् स न्यायाधीशो भवितुं योग्यो जायते ॥

सब ओर से देखता है, (अतः) इस कारण से वह न्यायाधीश बनने के योग्य होता है ॥ ११ ॥

भावार्थः—यथेश्वरः सर्वत्राऽभिव्याप्तः सर्वशक्तिमान् सन् सृष्टिरचनादीन्याश्चर्यरूपाणि कृत्वा वस्तूनि विधाय जीवानां त्रिकालस्थानि कर्म्माणि च विदित्वैतेभ्यस्तत्तत्कर्माश्रितं फलं दातुमर्हति, एवं यो विद्वान् मनुष्यो भूतपूर्वाणां विदुषां कर्माणि विदित्वाऽनुष्ठातव्यानि कर्माण्येव कर्त्तुमुद्युङ्क्ते, स एव सर्वाभिद्रष्टा सन् सर्वोपकारकाण्यत्युत्तमानि कर्म्माणि कृत्वा सर्वेषां न्यायं कर्त्तुं शक्नोतीति ॥ ११ ॥

भावार्थ—जैसे ईश्वर सर्वत्र व्याप्त तथा सर्वशक्तिमान् होता हुआ सृष्टि-रचना आदि आश्चर्य रूप कर्मों को करके, वस्तुओं को बनाकर और जीवों के तीनों कालों के कर्मों को जानकर इन्हें उस-उस कर्म के अनुसार फल दे सकता है; वैसे जो विद्वान् मनुष्य भूतपूर्व विद्वानों के कर्मों को जानकर, कर्त्तव्य कर्मों को ही करने के लिये उद्यत होता है, वही सबका द्रष्टा बनकर, सबके उपकारक अत्युत्तम कर्म करके, सबका न्याय कर सकता है ॥ ११ ॥

भाष्यसार—**न्यायाधीश विद्वान्**—भूतपूर्व विद्वानों के कर्मों का ज्ञाता धार्मिक, अखिल विद्या से भूषित, न्यायकारी विद्वान् किये हुये और अद्भुत कर्त्तव्य कर्मों को सब ओर से देखता, अर्थात् भली-भांति जानता है, इसलिये वह न्यायाधीश बनने के योग्य होता है ॥ ११ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायणभाष्य[1] इस प्रकार है—"प्रज्ञावान् मनुष्य इस वरुण से सब अद्भुतों को सब ओर से देखता है। वरुण ने जो भी आश्चर्य पहले किए हैं अथवा जो करेगा, उन सबको प्रज्ञावान् देखता है।"

आचार्य सायण ने इस मन्त्र का तो बहुत ही अद्भुत अर्थ किया है। 'चिकित्वान्' का अर्थ 'प्रज्ञावान्' करने से सायण के शास्त्रीय ज्ञान का भी दिवालियापन का बोध होता है। इस पद में 'कित ज्ञाने' धातु लिट् के स्थान में 'क्वसु' प्रत्यय है। जिसके अनुसार 'परोक्ष कार्यों को जानने वाला' अर्थ होना चाहिए। सायण ने इसका 'प्रज्ञावान्' अर्थ करके 'लिट्' के प्रयोग अन्तर्निहित अर्थ को बिल्कुल ही नहीं समझा। मन्त्र में न्यायाधीश का वर्णन है, वह ऐसा योग्य होना चाहिए, जो मनुष्यों के परोक्ष कार्यों को भी समझने में समर्थ हो। मन्त्र में भी पुनः यही वर्णन किया है कि चिकित्वान्=परोक्ष कार्यों के जानने वाले न्यायाधीश को ऐसा होना चाहिए, जो मनुष्यों के किए हुए और कर्त्तव्य कार्यों को अच्छी प्रकार जान सके।

सायण के भाष्य में पदों के समन्वय में भी विपर्यास होने से मन्त्रार्थ की गम्भीरता प्रायः लुप्त हो गई है। सायण के अनुसार यदि वरुण की कृपा से प्रज्ञावान् मनुष्य अद्भुत कार्यों को देखता (जानता) है, तो उससे क्या लाभ होगा? यह कुछ भी ज्ञान नहीं होता। महर्षि ने समस्त पदों का समन्वय बहुत ही योग्यता से किया है, जिससे मन्त्रार्थ अपने में सर्वाङ्गपूर्ण बन गया है। यही मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषि तथा साधारण पण्डित के भाष्यों में अन्तर है ॥ ११ ॥ ●

---

१. अतः अस्मात् वरुणात् विश्वानि अद्भुता सर्वाण्याश्चर्याणि चिकित्वान् प्रज्ञावान् अभिपश्यति सर्वतोऽवलोकयति या कृतानि चान्ताश्चर्याणि पूर्वं वरुणेन संपादितानि। चकारात् अन्यानि यान्याश्चर्याणि कर्त्वा इतः परं कर्त्तव्यानि तानि सर्वाण्यभिपश्यतीति पूर्वत्रान्वयः ॥ (सायणः)

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **वरुणः** (विद्वान्) देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनरपि स एवार्थ उपदिश्यते॥

विद्वान्-विषय का फिर उपदेश किया जाता है॥

स नो विश्वाहा सुक्रतुरादित्यः सुपथा करत्। प्र ण आयूंषि तारिषत्॥ १२॥

सः। नः। विश्वाहा। सुऽक्रतुः। आदित्यः। सुऽपथा। करत्। प्र। नः। आयूंषि। तारिषत्॥१२॥

पदार्थः—(सः) वक्ष्यमाणः (नः) अस्मान् (**विश्वाहा**) विश्वानि चाहानि च तेषु। अत्र सुपां सुलुग् इति सप्तम्या बहुवचनस्याकारादेशः (**सुक्रतुः**) शोभनानि प्रज्ञानानि कर्माणि वा यस्य सः (**आदित्यः**) विनाशरहितः परमेश्वरो जीवः कारणरूपेण प्राणो वा (**सुपथा**) शोभनश्चासौ पन्थाश्च सुपथस्तेन (**करत्**) कुर्यात्। लेट् प्रयोगोऽयम्। (प्र) प्रकृष्टार्थे क्रियायोगे (नः) अस्माकम् (**आयूंषि**) जीवनानि (**तारिषत्**) सन्तारयेत्। अत्रान्तर्गतोण्यर्थः॥ १२॥

प्रमाणार्थ—(**विश्वाहा**) यहां 'सुपां सुलुक्०' (अ० ७। १। ३९) इस सूत्र से सप्तमी के बहुवचन को आकार आदेश है। (**करत्**) यह 'लेट्' लकार का प्रयोग है। (**तारिषत्**) यहां णिच् प्रत्यय का अर्थ अन्तर्गत है।

अन्वयः—यथादित्यः परमेश्वरः प्राणः सूर्यो वा विश्वाहा सर्वेषु दिनेषु नोऽस्मान् सुपथा करत् नोऽस्माकमायूंषि प्रतारिषत् तथा [सः] सुक्रतुरादित्यो न्यायकारी मनुष्यो विश्वाहेषु नः सुपथा करत् नोऽस्माकमायूंषि प्रतारिषत् सन्तारयेत्॥ १२॥

सपदार्थान्वयः—**यथा सुक्रतुः** शोभनानि प्रज्ञानानि कर्माणि वा यस्य सः **आदित्यः** विनाशरहितः परमेश्वरो जीवः कारणरूपेण प्राणः **सूर्यो वा विश्वाहा** विश्वानि चाहानि च तेषु **सर्वेषु दिनेषु नः=अस्मान् सुपथा** शोभनश्चासौ पन्थाश्च सुपथस्तेन **करत्** कुर्य्यात्, **नः=अस्माकमायूंषि** जीवनानि **प्रतारिषत्** प्रकृष्टं सन्तारयेत्, **तथा सुक्रतुरादित्यो न्यायकारी मनुष्यो विश्वाहेषु नः सुपथा** शोभनश्चासौ पन्थाश्च सुपथस्तेन **करत्** कुर्यात्, **नोऽस्माकमायूंषि प्रतारिषत्=सन्तारयेत्॥**

भावार्थः—अत्र श्लेषवाचकलुप्तोपमालङ्कारौ।

ये मनुष्या ब्रह्मचर्येण जितेन्द्रियत्वादिनाऽऽयुर्वर्द्धयित्वा धर्ममार्गे विचरन्ति, तान् जगदीश्वरोऽनुगृह्यानन्दयुक्तान् करोति। यथाऽयं प्राणः सूर्यो वा स्वबलतेजोभ्यामुच्चावचानि स्थलानि प्रकाश्य प्राणिनः सुखयित्वा सर्वानहोरात्रादीन् कालविभागान् विभजतः, तथैव स्वात्मशरीरसेनाबलेन धर्म्याणि कनिष्ठमध्यमोत्तमानि कर्माणि प्रचार्य्य

भाषार्थ—जैसे (**सुक्रतुः**) उत्तम ज्ञान वा कर्मों वाला, (**आदित्यः**) विनाशरहित परमेश्वर, जीव, कारण रूप प्राण वा सूर्य (**विश्वाहा**) सब दिन (**नः**) हमें (**सुपथा**) उत्तम मार्ग से (**करत्**) चलाता है, (**नः**) हमारे (**आयूंषि**) जीवनों को (**प्रतारिषत्**) उत्तम रीति से पार करता है; वैसे (**सुक्रतुः**) उत्तम ज्ञान वा कर्मों वाला (**आदित्यः**) न्यायकारी मनुष्य सब दिन (**नः**) हमें (**सुपथा**) उत्तम मार्ग से (**करत्**) चलावे, (**नः**) हमारे (**आयूंषि**) जीवनों को (**प्रतारिषत्**) उत्तम रीति से पार करे॥ १२॥

भावार्थ—इस मन्त्र में श्लेष और वाचकलुप्तोपमा अलंकार हैं॥

जो मनुष्य ब्रह्मचर्य के द्वारा जितेन्द्रियता आदि से आयु को बढ़ाकर धर्म-मार्ग में विचरण करते हैं, उन्हें जगदीश्वर अनुगृहीत करके आनन्द से युक्त करता है। जैसे यह प्राण वा सूर्य अपने बल वा तेज से ऊंचे-नीचे स्थलों को प्रकाशित करके, प्राणियों को सुखी कर सब दिन-रात आदि काल-विभागों को विभक्त करते हैं, वैसे ही अपने आत्मा, शरीर

अधर्म्याणि निवर्त्योत्तमनीचजनसमूहौ सदा विभजेत्। और सेना के बल से धर्मयुक्त निकृष्ट, मध्यम, उत्तम कर्मों का प्रचार करके, अधर्मयुक्त कर्मों का निवारण कर, उत्तम और नीच मनुष्यों के समूह का सदा विभाग किया करे ॥ १२ ॥

भाष्यसार—न्यायकारी विद्वान्—जैसे उत्तम ज्ञान वा कर्म वाला परमेश्वर, जीव, प्राण वा सूर्य सब दिन हमें उत्तम मार्ग से चलाता है, और हमारे जीवनों को पार करता है, वैसे न्यायकारी विद्वान् मनुष्य सब दिन हमें उत्तम मार्ग से चलावे और हमारे जीवनों को पार करे ॥ १२ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में श्लेष अलंकार से आदित्य पद से परमेश्वर, जीव, प्राण, सूर्य और विद्वान् आदि अनेक अर्थों का ग्रहण होता है। यहां उपमावाचक 'इव' आदि पद के लुप्त होने से वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि ईश्वर के तुल्य न्यायकारी विद्वान् हमें सब दिन उत्तम मार्ग से चलावें और हमारे जीवनों को पार करे ॥ १२ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"अच्छी प्रज्ञा वाला आदित्य वरुण हमें सब दिन सन्मार्गयुक्त करे। और हमारी आयु को बढ़ाए।"

इस मन्त्र में 'वरुण' का विशेषण है—आदित्य। जिसकी सायण-भाष्य में कोई व्याख्या नहीं है। जिससे वरुण का ज्ञान नहीं हो सकता। महर्षि ने यौगिक प्रक्रिया से इसका अर्थ—'विनाश रहित परशेश्वर, जीव, कारण रूप से प्राण या सूर्य' किया है। यह सायण-भाष्य की अपूर्णता ही है, जो पदों को व्याख्या के विना ही छोड़ दिया है। और यदि आदित्य का अर्थ लोकानुसार सूर्य किया जाए, तो सायण के अनुसार जल के देवता वरुण के साथ उसका क्या सम्बन्ध हो सकता है? और मन्त्र में प्रार्थना है कि वह वरुण हमें सन्मार्ग पर चलाए और हमारी आयु को बढ़ाए। ये कार्य किसके हैं? और मन्त्र में आयु-वृद्धि के कारण का भी निर्देश स्पष्ट किया है। मनुस्मृति में लिखा है कि 'आचाराल्लभते ह्यायुः' अर्थात् सदाचरण तथा ब्रह्मचर्यादि नियमों के पालन से मनुष्यों की आयु बढ़ती है। मन्त्र में भी प्रथम सन्मार्ग पर चलने का कथन किया है तत्पश्चात् आयुवृद्धि का कथन है।

महर्षि दयानन्द ने मन्त्र के देवता 'वरुण' के परमेश्वर, जीवादि अर्थ किए हैं। परमेश्वर आदित्य=अविनाशी है और वह जीवों का कल्याण करने के लिए ही अपने वेद-ज्ञान के उपदेश से सन्मार्ग का दर्शन करता है और अच्छी प्रेरणा भी अपने उपासक को देता है। उसके उपदेशानुसार चलने से जीवों की आयु बढ़ती है। वैसे ही आदित्य वरुण=विद्वान् पुरुष भी होते हैं। इन आदित्य-पुरुषों के विषय में महर्षि ने सत्यार्थ-प्रकाश में छान्दोग्योपनिषद् का प्रमाण देकर स्पष्ट किया है, ब्रह्मचारी तीन प्रकार के होते हैं—कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम। उनके क्रमशः वसु, रुद्र तथा आदित्य नाम हैं। आदित्यों के विषय में महर्षि लिखते हैं—"उत्तम ब्रह्मचर्य ४८ वर्ष पर्यन्त का तीसरे प्रकार का होता है। जैसे—४८ अक्षर की जगती (छन्द) वैसे जो ४८ वर्ष पर्यन्त यथावत् ब्रह्मचर्य करता है, उसके प्राण अनुकूल होकर सकल विद्याओं का ग्रहण करते हैं।.....अखण्डित ब्रह्मचर्य सेवन से तीसरे उत्तम ब्रह्मचर्य का सेवन करके पूर्ण अर्थात् चार सौ वर्ष पर्यन्त आयु को बढ़ावें।" (सत्यार्थ० तृतीय समु०)

ऐसे आदित्य-विद्वान् मनुष्यों को सन्मार्ग का उपदेश करके आयु की वृद्धि कराते हैं। इनसे भिन्न कल्पित जलीय देवता की मन्त्रार्थ के साथ कोई संगति नहीं है। महर्षि ने 'आदित्य की व्याख्या में

---

१. सुक्रतुः शोभनप्रज्ञः स आदित्यः वरुणः विश्वाहा सर्वेष्वहःसु नः अस्मान् सुपथा शोभन-मार्गेण सहितान् करत् करोतु। किं च नः अस्माकम् आयूंषि प्रतारिषत् प्रवर्धयतु॥ (सायणः)

'प्राण तथा सूर्य' भी अर्थ किए हैं। इनसे भी मनुष्यों की आयु बढ़ती है। प्राणायाम की विधि से प्राण शरीर को पुष्ट तथा नीरोग करता है और सूर्य रोगोत्पादक कीटाणुओं तथा अशुद्धि का नाश करके हमारे शरीरों की सुरक्षा करता तथा हमारी आयु बढ़ाने का कारण है। और मन्त्र में कहा है "विश्वाहा" अर्थात् सब दिन वरुण उपर्युक्त सन्मार्ग-दर्शन तथा आयु-वृद्धि का कार्य करता है। सायण का कल्पित देव वरुण को तो कभी किसी ने ये कार्य करते देखा नहीं, अतः मन्त्रार्थ के साथ भी विरोध होने से सायण-व्याख्या मिथ्या है॥ १२॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **वरुणः (विद्वान्)** देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते॥

फिर वह विद्वान् कैसा है, यह उपदेश किया जाता है॥

बिभ्रद्द्रापिं हिरण्ययं वरुणो वस्त निर्णिजम्। परि स्पशो निषेदिरे॥ १३॥

बिभ्रत्। द्रापिम्। हिरण्ययम्। वरुणः। वस्त। निःऽनिजम्। परि। स्पशः। नि। सेदिरे॥१३॥

पदार्थः—(**बिभ्रत्**) धारयन् (**द्रापिम्**) कवचं निद्रां वा अत्र 'द्रै स्वप्ने' अस्माद् **इञ्वपादिभ्य** इतीञ् (**हिरण्ययम्**) ज्योतिर्मयम्। **ऋत्व्यवास्त्व्य०** अ० ६। ४। १७५। अनेनायं निपातितः 'ज्योतिर्वै हिरण्यम्' इति पूर्ववत्प्रमाणं विज्ञेयम्। (**वरुणः**) विविधपाशैः शत्रूणां बन्धकः (**वस्त**) वस्ते=आच्छादयति। अत्र वर्तमाने लङडभावश्च। (**निर्णिजम्**) शुद्धम् (**परि**) सर्वतोभावे (**स्पशः**) स्पर्शवन्तः पदार्थाः (**नि**) नितराम् (**सेदिरे**) सीदन्ति। अत्र **लडर्थे लिट्**॥ १३॥

प्रमाणार्थ—(**द्रापिम्**) यहां 'द्रै स्वप्ने' इस धातु से 'इञ् वपादिभ्यः' (अ० ३। ३। १०८) इस वार्तिक से 'इञ्' प्रत्यय है। (**हिरण्ययम्**) यह पद 'ऋत्व्यवास्त्व्य०' (अ० ६। ४। १७५) इस सूत्र से निपातित है। 'ज्योतिर्वै हिरण्यम्' (श० ६। ७। १। २) इस शतपथ ब्राह्मण के वचनानुसार 'हिरण्य' पद ज्योति का वाचक है। (**वस्त**) यह वर्तमान काल में 'लङ्' लकार और 'अट्' आगम का अभाव है (**सेदिरे**) यहाँ 'लट्' के अर्थ में लिट् लकार है।

अन्वयः—यथाऽस्मिन्वरुणे सूर्य्ये वा स्पशः स्पर्शवन्तः सर्वे पदार्था निषेदिरे एतौ निर्णिजं हिरण्ययं ज्योतिर्मयं द्रापिं बिभ्रत एतान्सर्वान्पदार्थान् सर्वतोऽभिव्याप्याच्छादयतस्तथा विद्यान्यायप्रकाशे सर्वान् [स्पर्शः] स्पर्शवन्तः पदार्थान् निषाद्य निर्णिजं हिरण्ययं ज्योतिर्मयं द्रापिं बिभ्रत्सन् वरुणो विद्वान् परिवस्त वस्ते सर्वान् शत्रून् स्वतेजसाऽऽच्छादयेत्॥ १३॥

सपदार्थान्वयः—यथाऽस्मिन् वरुणे=वायौ सूर्ये वा स्पशः=स्पर्शवन्तः सर्वे पदार्था निषेदिरे नितरां सीदन्ति एतौ निर्णिजं शुद्धं हिरण्ययं ज्योतिर्मयं द्रापिं कवचं निद्रां वा [बिभ्रत्] बिभ्रत, एतान् सर्वान् पदार्थान् परि=सर्वतोऽभिव्याप्य वस्त=आच्छादयतः, तथा विद्यान्यायप्रकाशे सर्वान् स्पर्शवतः पदार्थान् निष्पाद्य निर्णिजं शुद्धं हिरण्ययं ज्योतिर्मयं द्रापिं कवचं निद्रां वा बिभ्रत् धारयन् सन् वरुणः विविधपाशैः शत्रूणां बन्धकः विद्वान्

भाषार्थ—जैसे इस (**वरुणे**) वायु वा सूर्य में (**स्पशः**) स्पर्श वाले सब पदार्थ (**निषेदिरे**) स्थित होते हैं, ये दोनों (**निर्णिजम्**) शुद्ध (**हिरण्ययम्**) ज्योतिर्मय (**द्रापिम्**) कवच वा निद्रा को [**बिभ्रत्**] धारण करते हैं, इन सब पदार्थों को (**परि**) सब ओर से व्याप्त करके (**वस्तः**) आच्छादित करते हैं,—वैसे विद्या और न्याय के प्रकाश में सब स्पर्श वाले पदार्थों को सिद्ध करके, (**निर्णिजम्**) शुद्ध (**हिरण्ययम्**) ज्योतिर्मय (**द्रापिम्**) कवच वा

परिवस्त=परिवस्ते सर्वान् शत्रून् स्वतेजसाऽऽच्छादयेत् ॥ १३ ॥

निद्रा को (**बिभ्रत्**) धारण करता हुआ (**वरुणः**) विविध पाश=बन्धनों से शत्रुओं को बाँधने वाला विद्वान् (**परिवस्त**) सब शत्रुओं को अपने तेज से आच्छादित करे ॥ १३ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः ।

यथा वायुर्बलकारित्वात् सर्वमग्न्यादिकं मूर्त्तामूर्त्तं वस्तु धृत्वाऽऽकाशे गमनागमने कुर्वन् गमयति, यथा सूर्यलोको प्रकाशस्वरूपत्वाद्रात्र्यन्धकारं निवार्य्य स्वतेजसा प्रकाशते, तथैव सर्वे मनुष्याः सुशिक्षा बलेन सर्वान् मनुष्यान् धृत्वा धर्मे गमनागमने कृत्वाऽन्येषामपि धर्मे गमनागमने कारयेरन् ॥ १३ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में श्लेष अलंकार है ।

जैसे वायु बलकारी होने से सब अग्नि आदि मूर्त्त-अमूर्त्त वस्तुओं को धारण करके आकाश में गमन-आगमन करता हुआ उन्हें देशान्तर में पहुँचाता है, जैसे सूर्यलोक प्रकाशस्वरूप होने से रात्रि के अन्धकार का निवारण करके अपने तेज से प्रकाश करता है, वैसे ही सब मनुष्य सुशिक्षा के बल से सब मनुष्यों को धारण करके स्वयं धर्म में गमन-आगमन कर अन्यों को भी धर्म में गमन-आगमन करावें ॥ १३ ॥

भाष्यसार—**न्यायकारी विद्वान्**—जैसे वायु और सूर्य में स्पर्शवान् सब पदार्थ स्थित होते हैं ये प्रकाशरूप शुद्ध ज्योतिर्मय कवच को धारण करते हैं अर्थात् वायु बलकारी होने से सब अग्नि आदि मूर्त्त-अमूर्त्त वस्तुओं को धारण करता है तथा आकाश में गति करता हुआ उन्हें देशान्तर में पहुँचाता है। सूर्य भी प्रकाशस्वरूप होने से रात्रि के अन्धकार का निवारण करके अपने तेज से प्रकाश करता है—वैसे विविध पाशों से शत्रुओं को बांधने वाला न्यायकारी विद्वान् विद्या और न्याय के बल से सब स्पर्शवान् पदार्थों को सिद्ध करके धर्म रूप शुद्ध ज्योतिर्मय कवच को धारण करता हुआ अपने तेज से सब शत्रुओं को आच्छादित करे। स्वयं धर्म-मार्ग में चलता हुआ अन्यों को भी धर्म-पथ पर चलावे ॥

अलंकार—यहां श्लेष अलंकार से 'वरुण' पद से वायु, सूर्य और विद्वान् अर्थ का ग्रहण होता है ॥ १३ ॥ ●

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"वरुण सुनहरी कवच को धारण करता हुआ पुष्ट अपने शरीर को ढकता है। और सुनहरी कवच को छूने वाली किरणें चारों तरफ स्थित हैं।"

इस मन्त्र की सायण-कृत व्याख्या बहुत ही अद्भुत है। सायणाचार्य ने मन्त्र के रहस्य को बिना समझे ही व्याख्या करने का दुस्साहस मात्र किया है। जिस वरुण को इस सूक्त के पिछले मन्त्रों में सायण ने स्वयं ऐसा माना है कि वह समुद्र में स्थित है, मनुष्यों की आयु बढ़ाता है, जो प्रजाओं के साम्राज्य का हेतु है, जो वायु के मार्गों को जानता है, जो यज्ञिय हवि को व्याप्त करता है, जो सब का द्रष्टा है, इत्यादि गुण-विशिष्ट वरुण कौन है? यह सायण ने कहीं व्याख्या नहीं की है। और इस मन्त्र की व्याख्या में वरुण को सायण ने सुनहरी कवच धारण किए हुए तथा शरीरधारी माना है। इन सब वरुण-सम्बन्धी विशेषताओं का सामञ्जस्य कौन कर सकता है? वस्तुतः मन्त्रार्थद्रष्टाऋषित्व-बुद्धि के बिना केवल पाण्डित्य मात्र से वेदार्थ कदापि स्पष्ट नहीं होता। सायण ने वेदार्थ करने में यह अनधिकार चेष्टा ही की है।

---

१. हिरण्ययं सुवर्णमयं द्रापिं कवचं बिभ्रत् धारयन् वरुणः निर्णिजं पुष्टं स्वशरीरं वस्त आच्छादयति। स्पशः हिरण्यस्पर्शिनो रश्मयः परिनिषेदिरे सर्वतो निषण्णाः ॥ (सायणः)

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है, जिसे सायण भ्रान्तिवश नहीं समझ सके। मन्त्र के देवता 'वरुण' के सूर्य, वायु तथा विद्वान् अर्थ हैं। और 'हिरण्ययम्' का अर्थ ज्योतिर्मय है। महर्षि ने इस अर्थ की पुष्टि में 'ज्योतिर्वै हिरण्यम्' (शत०) का प्रमाण देकर अपने अर्थ की पुष्टि की है। जैसे सूर्य ज्योतिर्मय कवच को धारण करके सब पदार्थों को व्याप्त करता है, वैसे ही वरुण=शत्रुओं को बांधने वाला विद्वान् (राजा) कवच धारण करके अपने तेज से शत्रुओं को आच्छादित करे। यह महर्षि-कृत व्याख्या कैसी सुसंगत तथा सामञ्जस्यपूर्ण है; जिसमें किसी प्रकार की भ्रान्ति नहीं रहती। मन्त्रार्थ में सायण की भ्रान्ति का कारण अनार्ष ग्रन्थों को पढ़ने से पौराणिक शरीरधारी देवताओं की कल्पना तथा प्राचीन वैदिक शास्त्रीय मन्त्रार्थ व्याख्या शैली का परित्याग करना है। सायण ने लौकिक रूढ अर्थों का आश्रय करके ही समस्त मन्त्रार्थ असंगत किया है, जिससे वेदों का गौरव कम ही नहीं, प्रत्युत वेदों के सम्बन्ध में अनेक मिथ्या शरीरधारी देवतावाद सम्बन्धी भ्रान्तियाँ भी पैदा हुई हैं।

आचार्य सायण ने मन्त्रार्थ में वैदिक व्याकरण को भी नहीं समझा है। वेद में लिट् लकार सामान्य काल में भी प्रयुक्त होता है। सूर्य की किरणें चारों तरफ अब भी व्याप्त हैं, पहले भी थीं और भविष्य में भी रहेंगी। किन्तु सायण ने 'परिनिषेदिरे=निषण्णाः' अर्थ करके भूतकाल का प्रदर्शन भूल से ही किया है। 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (अ० ३ । ४ । ६) सूत्र की आर्ष व्याख्या को समझा ही नहीं है, अन्यथा सायण ऐसी भूल कैसे करते ? ॥ १३ ॥

आजीगर्तिः शुनःशेप ऋषिः । वरुणः (परमेश्वरो वा विद्वान्) देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

फिर वह वरुण कैसा है, यह उपदेश किया जाता है ॥

न यं दिप्सन्ति दिप्सवो न द्रुह्वाणो जनानाम् । न देवमभिमातयः ॥ १४ ॥

न । यम् । दिप्सन्ति । दिप्सवः । न । द्रुह्वाणः । जनानाम् । न । देवम् । अभिऽमातयः ॥ १४ ॥

पदार्थः—(न) निषेधे (यम्) वरुणं=परमेश्वरं विद्वांसं वा (दिप्सन्ति) विरोद्धुमिच्छन्ति। अत्रोभयत्र **वर्णव्यत्ययेन** धकारस्य दकारः। (दिप्सवः) मिथ्याभिमानव्यवहारमिच्छवः शत्रवः (न) प्रतिषेधे (द्रुह्वाणः) द्रोहकर्त्तारः (जनानाम्) विदुषां धार्मिकाणां मनुष्यादीनां प्राणिनाम् (न) निवारणे (देवम्) दिव्यगुणम् (अभिमातयः) अभिमानिनः। **मा माने** इत्यस्य रूपम् ॥ १४ ॥

प्रमाणार्थ—(दिप्सन्ति/दिप्सवः) यहां दोनों स्थान पर वर्ण-व्यत्यय से धकार के स्थान में दकार आदेश है। (अभिमातयः) यह 'मा' माने इस धातु का रूप है ॥ १४ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यूयं जनानां दिप्सवो यं न दिप्सन्ति द्रुह्वाणो यं न द्रुह्यन्त्यभिमातयो यं नाभिमन्यन्ते तं परमेश्वरं देवमुपास्यं कार्य्यहेतुं विद्वांसं वा सर्वे जानीत ॥ १४ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! यूयं **जनानां** विदुषां धार्मिकाणां मनुष्यादीनां प्राणिनां **दिप्सवः** मिथ्याभिमानव्यवहारमिच्छवः शत्रवः **यं** वरुणं=परमेश्वरं विद्वांसं वा [**देवं**] दिव्यगुणं **न दिप्सन्ति** विरोद्धुमिच्छन्ति, **द्रुह्वाणः** द्रोहकर्त्तारः

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! तुम—(**जनानाम्**) विद्वान् धार्मिक मनुष्य आदि प्राणियों के (**दिप्सवः**) मिथ्या अभिमान एवं मिथ्या व्यवहार को चाहने वाले शत्रु (**यम्**) जिस [**देवम्**] दिव्य गुणों वाले परमेश्वर वा विद्वान् का (**न**) नहीं (**दिप्सन्ति**)

यं न द्रुह्यन्ति, अभिमातयः अभिमानिनः **यं न अभिमन्यन्ते, तं परमेश्वरं देवं** दिव्यगुणम् **उपास्यं संगमनीयं विद्वांसं वा सर्वे जानीत ॥ १४ ॥**

विरोध करना चाहते हैं, (**द्रुह्वाणः**) द्रोह करने वाले जिससे न द्रोह करते हैं, (**अभिमातयः**) अभिमानी जिससे न अभिमान करते हैं; उस (**देवम्**) दिव्य गुणों से युक्त परमेश्वर वा संगति करने योग्य विद्वान् को सब जानो ॥ १४ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः। ये हिंसकाः परद्रोहयुक्ता अभिमानसहिता जना वर्त्तन्ते, ते विद्याहीनत्वात् परमेश्वरस्य विदुषां वा गुणान् ज्ञात्वा नैवोपकर्तुमर्हन्ति। तस्मात् सर्वैरेतेषां गुणकर्मस्वभावैः सह सदा भवितव्यम् ॥ १४ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में श्लेष अलंकार है। जो हिंसक, परद्रोह से युक्त, अभिमानी मनुष्य होते हैं, वे विद्याहीन होने से परमेश्वर के वा विद्वानों के गुणों को जानकर उनसे उपकार ग्रहण नहीं कर सकते। इसलिये सब मनुष्य परमेश्वर और विद्वानों के गुण, कर्म, स्वभाव से युक्त सदा रहें ॥ १४ ॥

भाष्यसार—परमेश्वर वा विद्वान्—विद्वान् धार्मिक मनुष्य आदि प्राणियों के शत्रु जो मिथ्या अभिमान एवं मिथ्याव्यवहार को चाहने वाले हैं, वे परमेश्वर वा विद्वान् का विरोध नहीं कर सकते। द्रोह करने वाले उनसे द्रोह नहीं कर सकते। अभिमानी उनके सामने अभिमान नहीं कर सकते। और जो विद्याहीन होने से ऐसा करते हैं वे उनके गुणों को जानकर उनसे उपकार ग्रहण नहीं कर सकते। इसलिये सब मनुष्य परमेश्वर और विद्वान् को जानें अर्थात् इनके गुण, कर्म, स्वभाव से सदा युक्त रहें ॥ १४ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में श्लेष अलंकार से 'देव' शब्द से परमेश्वर और विद्वान् दोनों अर्थों का ग्रहण होता है ॥ १४ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हिंसा करने की इच्छा करने वाले शत्रु-जन जिस वरुण की डरकर हिंसा करने की इच्छा को छोड़ देते हैं। मनुष्यों से द्रोह करने वाले भी जिस वरुण के प्रति द्रोह नहीं करते। पापी मनुष्य उस वरुण देव को छूते नहीं हैं।"

सायणाचार्य ने 'वरुण' की व्याख्या न करके समस्त मन्त्रार्थ को अस्पष्ट तथा प्रकरण हीन ही रक्खा है। इसी सूक्त के सप्तम मन्त्र में जिस वरुण को सायण ने समुद्र-स्थित माना है, उस वरुण को कौन मारने या द्रोह करने की इच्छा करेगा? और 'दिप्सवः' पद में दम्भु दम्भे' धातु है, जिसका अर्थ अभिमान करना है। अतः सायण ने यह स्वयं कल्पित अर्थ किया है। महर्षि ने यहाँ 'वरुण' के परमेश्वर और विद्वान् दो अर्थ किए हैं। जिनकी मन्त्रार्थ के साथ पूर्णतः संगति होती है। परमेश्वर और विद्वान् पुरुष के साथ मिथ्याभिमानी तथा द्रोह करने वाले मनुष्य भी उनके दिव्यगुणों से अभिभूत होने के कारण न तो विरोध ही करते हैं और नहीं अभिमानयुक्त व्यवहार ही करते हैं।

मन्त्र में 'दिप्सवः' तथा 'द्रुह्वाणः' दो पद हैं। धात्वर्थ के अनुसार (दम्भु दम्भे तथा द्रुह जिघांसायाम्) इनका अर्थ अभिमान करने की इच्छा करने वाले और मारने की इच्छा करने वाले है। सायण ने 'दिप्सवः' का अर्थ धात्वर्थ से भिन्न किया है। यदि अनेकार्थक धातु मानकर सायण के इस अर्थ को

---

१. दिप्सवः हिंसितुमिच्छन्तो वैरिणः यं वरुणं न दिप्सन्ति भीताः सन्तो हिंसितुमिच्छां परित्यजन्ति। जनानां प्राणिनां द्रुह्वाणः द्रोग्धारोऽपि यं वरुणं प्रति न द्रुह्यन्ति। अभिमातयः पाप्मानः देवं तं वरुणं न स्पृशन्ति ॥ (सायणः)

मान भी लिया जाए तो 'द्रुह्वाणः' के अर्थ से इसमें क्या भेद होगा? दोनों का एक ही अर्थ होने से एक पद निरर्थक ही हो जायेगा। अतः आचार्य सायण की यह पदार्थ-व्याख्या की भूल है।

मन्त्र में जो अभिमान या विरोध न करने की बातें कहीं हैं, उनका कारण भी स्पष्ट करने के लिये मन्त्र में वरुण का विशेषण 'देवम्' पद पठित है। जिसकी सायण-भाष्य में कोई व्याख्या ही नहीं है। महर्षि ने इसका 'दिव्यगुणम्' अर्थ करके स्पष्ट किया है कि परमेश्वर अथवा विद्वान् पुरुष के गुणों के प्रभाववश ही दुर्जन-व्यक्ति उनके साथ द्रोहादि नहीं करपाते। इस प्रकार मन्त्र की गम्भीरता को सायण ने भ्रान्तिवश नहीं समझा॥ १४॥ ●

आजीगर्तिः शुनःशेप ऋषिः। **वरुणः** (**ईश्वरो विद्वान् वायुश्च**) देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते॥

फिर वह वरुण कैसा है, यह उपदेश किया जाता है॥

उत यो मानुषेष्वा यशश्चक्रे असाम्या। अस्माकमुदरेष्वा॥ १५॥

उत। यः। मऽनुषेषु। आ। यशः। चक्रे। असामि। आ। अस्माकम्। उदरेषु। आ॥ १५॥

पदार्थः—(उत) अपि (यः) जगदीश्वरो वायुर्वा (**मानुषेषु**) नृव्यक्तिषु (**आ**) अभितः (**यशः**) कीर्त्तिमन्नं वा। **यश इत्यन्ननामसु पठितम्।** निघं० २। ७। (**चक्रे**) कृतवान् (**असामि**) समस्तम् (**आ**) समन्तात् (**अस्माकम्**) मनुष्यादिप्राणिनाम् (**उदरेषु**) अन्तर्देशेषु (**आ**) अभितोऽर्थे॥ १५॥

प्रमाणार्थ—(**यशः**) यह पद निघण्टु (२। ७) में अन्न-नामों में पढ़ा गया है॥ १५॥

अन्वयः—योऽस्माकमुदरेषूतापि बहिरसामि यश आचक्रे यो मानुषेषु जीवेषूतापि जडेषु पदार्थेष्वाकीर्त्तिं प्रकाशितवानस्ति स वरुणो जगदीश्वरो विद्वान्वा सकलैर्मानवैः कुतो नोपासनीयो जायेत॥ १५॥

सपदार्थान्वयः— **यः** जगदीश्वरो विद्वान् वायुर्वा **अस्माकं** मनुष्यादिप्राणिनां **उदरेषु** अन्तर्देशेषु **उत**=अपि **बहिरसामि** समस्तं **यशः** कीर्त्तिमन्नं वा **आचक्रे** समन्तात् कृतवान्, **यो मानुषेषु** नृव्यक्तिषु **जीवेषूत**=अपि **जडेषु पदार्थेष्वा** अभितः **कीर्त्तिं प्रकाशितवानस्ति, स वरुणो**=**जगदीश्वरो विद्वान् वा सकलैर्मानवैः कुतो नोपासनीयः सेवनीयश्च जायेत?॥ १५॥**

भाषार्थ—(**यः**) जिस जगदीश्वर, विद्वान् वा वायु ने (**अस्माकम्**) हम मनुष्य आदि प्राणियों के (**उदरेषु**) अन्दर (**उत**) और बाहर (**असामि**) पूर्ण (**यशः**) कीर्त्ति वा अन्न को (**आचक्रे**) सब ओर उत्पन्न किया है; जिसने (**मानुषेषु**) मनुष्य आदि जीवों (**उत**) और जड़ पदार्थों में (**आ**) सब ओर कीर्ति को प्रकाशित किया है, वह वरुण अर्थात् जगदीश्वर वा विद्वान् सब मनुष्यों का उपासनीय और सेवनीय क्यों न हो?॥ १५॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः। येन सृष्टिकर्त्राऽन्तर्यामिणा जगदीश्वरेण परोपकाराय जीवानां तत्तत्कर्मफलभोगाय समस्तं जगत् प्रतिकल्पं विरच्यते, यस्य सृष्टौ बाह्याभ्यन्तरस्थो वायुः सर्वचेष्टाहेतुरस्ति, विद्वांसो विद्याप्रकाशका अविद्याहन्तारश्च विद्याप्रकाशायाऽविद्यानाशाय च

भावार्थ—इस मन्त्र में श्लेष अलंकार है। जो सृष्टिकर्त्ता, अन्तर्यामी जगदीश्वर परोपकार के लिये अर्थात् जीवों के अपने-अपने कर्म-फल के भोग के लिये समस्त जगत् को प्रत्येक कल्प में बनाता है; जिसकी सृष्टि में बाह्य और आभ्यन्तरिक वायु सब चेष्टाओं का हेतु है, विद्या के प्रकाशक

प्रयतन्ते, तदिदं धन्यवादार्हं कर्म तस्य परमेश्वरस्यैवाऽखिलैर्मनुष्यैर्विज्ञेयम् ॥ १५ ॥

औम अविद्या के घातक विद्वान् विद्या का प्रकाश औ अविद्या के नाश के लिये प्रयत्न करते हैं, यह सब धन्यवाद के कर्म उस परमेश्वर के ही हैं, ऐसा सब मनुष्यों को जानना चाहिये ॥ १५ ॥

भाष्यसार—ईश्वर, विद्वान् और वायु कैसा है—ईश्वर, और विद्वान् मनुष्य आदि प्राणियों के अन्दर और बाहर विद्यमान पूर्ण यश और अन्न को उत्पन्न करते हैं। ईश्वर परोपकार अर्थात् अपने-अपने कर्म-फल के भोग के लिये समस्त जगत् की प्रत्येक कल्प में रचना करता हैं। इस जगत् में सब चेष्टाओं का हेतु वायु है। ईश्वर ने सब जीवों और जड़-पदार्थों में अपनी कीर्ति को प्रकाशित किया है। विद्वान् लोग विद्या के प्रकाश और अविद्या के नाश के लिये प्रयत्न करते हैं। इसलिये परमेश्वर सब मनुष्यों का उपासनीय है, विद्वान् और वायु सेवनीय हैं ॥ १५ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में श्लेष अलंकार से वरुण शब्द से ईश्वर, विद्वान् और वायु अर्थ का ग्रहण होता है ॥ १५ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण भाष्य[1] इस प्रकार है—"और जिस वरुण ने मनुष्यों में अन्न को सब ओर से (उत्पन्न) किया। जिस वरुण ने करते हुए भी न्यून नहीं किया। और विशेष रूप से हमारे पेटों में सब ओर से किया।"

इस मन्त्र में कहा है कि वरुण यशः=अन्न को हमारे उदर=अन्दर और बाहर अन्नादि पदार्थों को कर्म-फल भोग के लिये उत्पन्न करता है, यह वरुण कौन है ? क्या समुद्र स्थित जल का कल्पित देव यह कार्य करता है ? यह सायण ने देवता की व्याख्या न करके अपनी भ्रान्ति को ही प्रकट किया है। महर्षि ने यहां 'वरुण' का अर्थ अन्तर्यामी परमेश्वर, वायु, तथा विद्वान् तीन अर्थ किये हैं। इन तीनों अर्थों की मन्त्रार्थ के साथ संगति है। कर्म-फल भोग के लिये परमेश्वर ही अन्नादि पदार्थों को उत्पन्न करके; वायु शरीर के बाहर तथा भीतर यशः=अन्नादि पदार्थों के परिपक्व करने तथा विद्वान् वैद्य औषधादि से नीरोगता उत्पन्न करके सर्वतः कीर्ति को उत्पन्न करता है। अतः इन तीनों का मनुष्यों को सदा सेवन करना चाहिए और परमेश्वर की उपासना करनी चाहिए।

मन्त्र में 'यत्' शब्द का प्रयोग है। 'यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः अर्थात् 'यत्' तथा 'तत्' शब्दों का नित्य सम्बन्ध होता है। अतः जो वरुण यशः=अन्न करता है, वह उपासनीय वा सेवनीय है, इस अर्थ में तो पूर्णतः संगति होती है। किन्तु सायण ने भ्रान्तिवश यत्तद् शब्दों के सम्बन्ध को भी नहीं समझा है।

सायण-भाष्य में वैदिक शब्दों के लौकिक अर्थ करके वेदार्थ का उपहास ही किया है। इस मन्त्र में 'उदरेषु' पद का अर्थ शरीरावयव (पेट) करना सायण की भूल है। महर्षि ने इसका अर्थ उदर के समान 'अन्तर्देश' किया है। वरुण=परमेश्वर अथवा वायु अन्नों को अपने-अपने पौधों पर अन्दर ही अन्दर पुष्ट करता है। केवल शरीरावयव विशेष अर्थ करके सायण मन्त्रार्थ की सूक्ष्मता को समझने में असमर्थ ही रहे हैं ॥ १५ ॥

इति प्रथमाष्टके द्वितीयाध्यायेऽष्टादशो वर्गः ॥

यह प्रथम अष्टक के दूसरे अध्याय में अठारहवां वर्ग समाप्त हुआ ॥ ●

---

१. उत अपि च यः वरुणः मानुषेषु यशः अन्नम् आचक्रे सर्वतः कृतवान् स वरुणः कुर्वन्नपि आ सर्वतः असामि सम्पूर्णं चक्रे न तु न्यूनं कृतवान्। विशेषतः=अस्माकम् उदरेषु आ सर्वतः चक्रे ॥ (सायणः)

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **वरुणः (जीवः)** देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते॥

फिर वह वरुण कैसा है, यह उपदेश किया जाता है॥

परा मे यन्ति धीतयो गावो न गव्यूतीरनु। इच्छन्तीरुरुचक्षसम्॥ १६॥

परा। मे। यन्ति। धीतयः। गावः। न। गव्यूतीः। अनु। इच्छन्तीः। उरुऽचक्षसम्॥ १६॥

पदार्थः—(परा) प्रकृष्टार्थे (मे) मम (यन्ति) प्राप्नुवन्ति (धीतयः) दधात्यर्थान् याभिः कर्मवृत्तिभिस्ताः (गावः) पशुजातयः (न) इव (गव्यूतीः) गवां यूतयः=स्थानानि। वा० **गोर्यूतौ छन्दस्युपसंख्यानम्**। अ० ६। १। ७९। (अनु) अनुगमार्थे (इच्छन्तीः) इच्छन्त्यः। अत्र **सुपां सुलग् इति** पूर्वसवर्णः (उरुचक्षसम्) उरुषु=बहुषु चक्षो=विज्ञानं प्रकाशनं वा यस्य तं कर्मकर्त्तारं जीवं माम्॥ १६॥

प्रमाणार्थ—(गव्यूतीः) यहां 'गोर्यूतौ छन्दस्युपसंख्यानम्' (अ० ६। १। ७९) इस सूत्र से वान्त आदेश है। (इच्छन्तीः) यहां 'वा च्छन्दसि' (अ० ६। १। १०२) इस सूत्र से पूर्वसवर्ण दीर्घ आदेश है॥ १६॥

अन्वयः—यथा गव्यूतीरन्विच्छन्त्यो गावो न इव मे—ममेमा धीतयः उरुचक्षसं मां परायन्ति तथा सर्वान्कर्त्तॄन्प्रति स्वानि स्वानि कर्माणि प्राप्नुवन्त्येवेति विज्ञेयम्॥ १६॥

सपदार्थान्वयः—यथा गव्यूतीः गवां यूतयः=स्थानानि **अनु** अनुगम्य **इच्छन्तीः=इच्छन्त्यो गावः** पशुजातयः **न=इव मे ममेमा धीतयः** दधात्यर्थान् याभिः कर्मवृत्तिभिस्ताः **उरुचक्षसम्** उरुषु=बहुषु **चक्षो**=विज्ञानं, प्रकाशनं वा यस्य तं कर्मकर्त्तारं जीवं **मां परायन्ति** प्रकृष्टं प्राप्नुवन्ति, **तथा सर्वान् कर्त्तॄन् प्रति स्वानि स्वानि कर्माणि प्राप्नुवन्त्येवेति विज्ञेयम्**॥ १६॥

भाषार्थ—(गव्यूतीः) अपने स्थानों के (अनु, इच्छन्तीः) अनुगमन की इच्छा करती हुई (गावः) पशुजातियों के (न) समान (मे) मेरी (धीतयः) कर्मवृत्तियां (उरुचक्षसम्) कर्म करने वाले मुझ जीव को (परायन्ति) उत्तम रीति से प्राप्त होती हैं, वैसे सब कर्त्ताओं को अपने-अपने कर्म प्राप्त होते हैं, ऐसा जानो॥ १६॥

भावार्थः— अत्रोपमालङ्कारः। मनुष्यैरेवं निश्चेतव्यं—यथा गावः स्वस्ववेगानुसारेण धावन्त्योऽभीष्टं स्थानं गत्वा परिश्रान्ता भवन्ति, तथैव मनुष्याः स्वस्वबुद्धिबलानुसारेण परमेश्वरस्य सूर्यादेर्वा गुणानन्विष्य यथाबुद्धि विदित्वा परिश्रान्ता भवन्ति। नैव कस्यापि जनस्य बुद्धिशरीरवेगोऽपरिमितो भवितुमर्हति। यथा पक्षिणः स्वस्वबलानुसारेणाकाशं गच्छन्तो नैतस्यान्तं कश्चिदपि प्राप्नोति, तथैव कश्चिदपि मनुष्यो विद्याविषयस्यान्तं गन्तुं नार्हति॥ १६॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमा अलंकार है॥ मनुष्यों को ऐसा निश्चय करना चाहिये—जैसे गौ आदि पशु अपने-अपने वेग के अनुसार दौड़ते हुये अभीष्ट स्थान पर जाकर थक जाते हैं, वैसे ही मनुष्य अपने-अपने बुद्धि-बल के अनुसार परमेश्वर वा सूर्य आदि के गुणों को ढूंढकर, उन्हें यथाबुद्धि जानकर थक जाते हैं। किसी भी मनुष्य की बुद्धि और शरीर का वेग अपरिमित नहीं हो सकता है। जैसे पक्षी अपने-अपने बल के अनुसार आकाश में जाते हैं, किन्तु इसका अन्त कोई भी नहीं पाता है, वैसे ही कोई भी मनुष्य विद्याविषय का अन्त नहीं पा सकता है॥ १६॥

भाष्यसार—जीव कैसा है—जैसे गौ आदि पशु अपने-अपने स्थानों के अनुगमन की इच्छा करते हैं, वैसे ही कर्मवृत्तियां कर्म करने वाले जीव को प्राप्त होती हैं अर्थात् सब कर्त्ता-जीव अपने-अपने कर्मों को प्राप्त करते हैं ॥ १६ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'न' पद है, अतः उपमा अलंकार है। उपमा यह है कि जैसे गौ आदि पशु अपने अभीष्ट स्थानों को प्राप्त करते हैं वैसे जीव अपने कर्मों को पाप्त करते हैं ॥ १६ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"बहुतों से देखने योग्य वरुण को इच्छा करती हुई मुझे शुनःशेप की बुद्धियाँ निवृत्तिरहित हो रही हैं। जैसे गाएँ गोशाला में लक्ष्य करके जाती हैं।"

सायण की व्याख्या को देखकर प्रतीत होता है कि सायण मनस्वी भी नहीं थे। अन्यथा वरुण-सूक्त के मन्त्रों में वर्णित वरुण की विशेषताओं पर अवश्य विचार करते। एक साधारण मनुष्य भी ऐसी परस्पर विरोधी बातें नहीं लिख सकता, जैसा आचार्य-सायण वेदार्थ में लिख गए हैं। इस मन्त्र की व्याख्या में सायण ने वरुण को 'सब से देखने योग्य' लिखा है। जो कि प्रत्यक्ष विरुद्ध होने से कोई भी नहीं मान सकता। समुद्र में स्थित वरुण देव प्रथम तो सब का द्रष्टा ही नहीं हो सकता। और ऐसे कल्पित देव को किसी ने आजतक तो देखा ही नहीं है। सम्भव है कि सायण को ऐसी बातें स्वप्न-जाल में ही दिखाई दी होंगी।

और मन्त्र में 'शुनःशेप' पद न होते हुए भी उसकी मन्त्रार्थ के साथ संगति करना कैसे उचित हो सकता है ? यह सायण की पूर्व निर्धारित कल्पना का फल है। और यदि 'शुनःशेप' की ही इस सूक्त में प्रार्थनाएँ हैं, तो प्रत्येक मन्त्र के साथ इसकी संगति सायणाचार्य ने क्यों नहीं लगाई ? और सायणाचार्य की यह भी अवैदिक मिथ्या कल्पना है कि मन्त्रों के जो ऋषि हैं, उनका मन्त्रों में वर्णन है। वेद अपौरुषेय होने से ईश्वरीय ज्ञान है, उसमें लौकिक व्यक्ति विशेषों की कल्पना करना वेदों को पौरुषेय सिद्ध करना है। जिसे स्वयं सायण भी नहीं मानते। अतः 'शुनःशेप' का मन्त्रार्थ के साथ सम्बन्ध जोड़ना सायण की परस्पर विरोधी कल्पना ही है।

सायण की व्याख्या में 'उरुचक्षसम्=बहुभिर्द्रष्टव्यम्' अर्थ की कोई संगति नहीं है। सब का द्रष्टा एकमात्र परमात्मा ही है। यदि वरुण का अर्थ यहाँ परमात्मा किया जाए, तो मन्त्र के दूसरे 'इच्छन्तीः, धीतयः' पदों से कोई संगति नहीं लगती। क्योंकि परमेश्वर की बुद्धि आदि साधनों की आवश्यकता ही नहीं और इच्छा अप्राप्त पदार्थ की होती है। परमेश्वर के लिए कोई वस्तु अप्राप्त भी नहीं है। अतः समस्त मन्त्रार्थ पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि मन्त्र में जीवात्मा का वर्णन किया है। जिसको महर्षि ने ही दूरदर्शिता से समझा है और क्योंकि कोई भी जीवात्मा सब का द्रष्टा नहीं हो सकता, इसलिए महर्षि ने व्याकरण के अनुसार 'दर्शन' से भिन्न 'प्रकाशन' अर्थ किया है। विद्वान् जीवात्मा का विज्ञान बहुतों पर प्रकाशित होता है। 'धीतयः=कर्मवृत्तयः' इस अर्थ से मन्त्रार्थ और भी स्पष्ट हो गया है। जैसे गाएँ गोशाला को प्राप्त होती हैं, वैसे ही कर्मवृत्तियाँ जीवों को प्राप्त होती हैं। क्योंकि जीवों को कर्मों के अनुसार ही फल-भोगना होता है ॥ १६ ॥ ●

---

१. उरुचक्षसं बहुभिर्द्रष्टव्यं वरुणम् इच्छन्तीः मे धीतयः शुनःशेपस्य बुद्धयः परायन्ति पराङ्मुखा निवृत्तिरहिता गच्छन्ति। तत्र दृष्टान्तः। गावो न यथा गावः गव्यूतीरनु गोष्ठानि अनुलक्ष्य गच्छन्ति तद्वत् ॥ (सायणः)

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः । **वरुणः** (विद्वान्) देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

मनुष्यैर्यथायोग्या विद्या कथं प्राप्तव्या इत्युपदिश्यते ॥

मनुष्यों को यथायोग्य विद्या कैसे प्राप्त करनी चाहिए यह उपदेश किया जाता है ॥

सं नु वोचावहै पुनर्यतो मे मध्वाभृतम् । होतेव क्षदसे प्रियम् ॥ १७ ॥

सम् । नु । वोचावै । पुनः । यतः । मे । मधु । आभृतम् । होताऽइव । क्षदसे । प्रियम् ॥१७॥

पदार्थः—(सम्) सम्यगर्थे (**नु**) अनुपृष्टे । निरु० १ । ४ । (**वोचावहै**) परस्परमुपदिशेव । लेट्प्रयोगोऽयम् । (**पुनः**) पश्चाद्भावे (**यतः**) हेत्वर्थे (**मे**) मम (**मधु**) मधुरगुणविशिष्टं विज्ञानम् (**आभृतम्**) विद्वद्भिर्यत्समन्ताद्ध्रियते=धार्यते तत् (**होतेव**) यज्ञसंपादकवत् (**क्षदसे**) अविद्यारोगान्धकारविनाशकाय बलाय (**प्रियम्**) यत् प्रीणाति तत् ॥ १७ ॥

प्रमाणार्थ—(**नु**) यह पद निरुक्त (१ । ४) के अनुसार अनुपृष्ट=फिर पूछना अर्थ में प्रयुक्त होता है । (**वोचावहै**) यह लेट् लकार का प्रयोग है ॥ १७ ॥

अन्वयः—यत आवामुपदेश्योपदेष्टारौ होतेव नु क्षदस आभृतं यजमानप्रियं मधु—मधुरगुण-विशिष्टं विज्ञानं संवोचावहै यतो मे—मम तव च [पुनः] विद्यावृद्धिर्भवेत् ॥ १७ ॥

सपदार्थान्वयः—यतः हेत्वर्थे **आवामुपदेश्योपदेष्टारौ होतेव** यज्ञसम्पादकवत् **नु** अनुपृष्टे **क्षदसे** अविद्यारोगान्धकारविनाशकाय बलाय **आभृतं** विद्वद्भिर्यत् समन्ताद् ध्रियते धार्यते तत् **यजमानस्य प्रियं** यत् प्रीणाति तत् **मधु** मधुरगुण-विशिष्टं **विज्ञानं संवोचावहै** सम्यक् परस्परमुपदिशेव **यतो मे=मम तव च पुनः** पश्चाद् **विद्यावृद्धिर्भवेत् ॥ १७ ॥**

भाषार्थ—(**यतः**) क्योंकि हम शिष्य और अध्यापक दोनों (**होतेव**) यजमान के तुल्य (**नु**) परस्पर मिलकर (**क्षदसे**) अविद्या रूप रोग से उत्पन्न अन्धकार के विनाशक बल की प्राप्ति के लिए (**आभृतम्**) विद्वानों के द्वारा सब ओर से धारण करने योग्य, यजमान के (**प्रियम्**) प्रिय (**मधु**) मधुर गुण से युक्त विज्ञान का (**संवोचावहै**) उत्तम रीति से परस्पर उपदेश करें, जिससे (**मे**) मेरी और तेरी (**पुनः**) फिर, विद्यावृद्धि हो ॥ १७ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः ।

यथा होतृयजमानौ प्रीत्या परस्परं मिलित्वा हवनादिकं कर्म प्रपूर्त्तः, तथैवाध्यापकाध्येतारौ समागम्य सर्वा विद्याः प्रकाशयेताम् । एवं समस्तैर्मनुष्यैः—अस्माकं विद्यावृद्धिर्भूत्वा वयं सुखानि प्राप्नुयाम, इति नित्यं प्रयतितव्यम् ॥ १७ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमा अलंकार है ।

जैसे होता और यजमान प्रीति पूर्वक परस्पर मिलकर हवन आदि कर्म को पूरा करते हैं, वैसे ही अध्यापक और अध्येता=शिष्य मिलकर सब विद्याओं को प्रकाशित करें । इस प्रकार सब मनुष्यों को नित्य प्रयत्न करना चाहिये कि जिससे हमारी विद्यावृद्धि होकर हम सब सुखों को प्राप्त करें ॥ १७ ॥

भाष्यसार—**मनुष्य यथायोग्य विद्या को कैसे प्राप्त करें**—जैसे होता और यजमान प्रीति से परस्पर मिलकर हवन आदि कर्म को पूरा करते हैं, वैसे शिष्य और अध्यापक दोनों मिलकर अविद्या रूप रोग से उत्पन्न अन्धकार के विनाशक बल को प्राप्त करने के लिये सब विद्याओं को प्रकाशित करें । विद्वानों के द्वारा धारण करने योग्य विज्ञान का परस्पर उपदेश करें । जिससे विद्यावृद्धि हो और मनुष्य सब सुखों को प्राप्त करें ॥ १७ ॥ ●

अलंकार—इस मन्त्र में 'इव' पद उपमा-वाचक है, अतः उपमा अलंकार है। उपमा यह है कि होता और यजमान के तुल्य परस्पर मिलकर शिष्य और अध्यापक मिलकर सब विद्याओं को प्रकाशित करें ॥ १७ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"जिस कारण से मेरे जीवन के लिए 'अञ्जःसव' नामक कर्म में मधुर हवि तैयार की गई है, इस कारण से होम करने वाले की तरह तुम भी प्रिय हवि को खाते हो। फिर हवि स्वीकार करने के पश्चात् तृप्त हुए तुम और मैं मिलकर अवश्य प्रिय-वार्त्ता करें"

इस सायण-कृत व्याख्या से स्पष्ट है कि वरुणदेव यज्ञ में तैयार की गई हवि को खाता है और तृप्त होकर प्रिय बातचीत भी करता है। इस सूक्त के २०वें मन्त्र में जो वरुण का द्युलोक तथा पृथिवी-लोक में व्याप्त होकर विराजमान होना सायण ने माना है। क्या ऐसा व्याप्त देव हवि खाने के लिए यज्ञ-प्रदेश में आ सकता है? और जो शरीरधारी एकदेशी है, क्या वह सर्वत्र व्याप्त हो सकता है? और १५ वें मन्त्र में सायण भी वरुण को अन्नादिका उत्पादक मानते हैं, क्या वह सब को अन्न देने वाला यज्ञ की हवि के बिना तृप्त नहीं होता? १८ वें मन्त्र में सायण ने वरुण को सबसे देखने योग्य बताया है। फिर वह अब क्यों नहीं दिखाई देगा? १२ वें मन्त्र में वरुण को आयु बढ़ाने वाला सायण मानते हैं। ऐसी परस्पर-विरोधी बातों की व्याख्या करके उनको पुराणों में अन्धविश्वास मानने वाले ही अज्ञानवश मान सकते हैं। विचार-शील विद्यानुरागी व्यक्ति ऐसी बातों पर कैसे विश्वास करेंगे?

आचार्य-सायण ने मन्त्र के रहस्य को न समझकर मन्त्र के पदों की भी अन्यथा व्याख्या की है। मन्त्र में 'हवि' के लिए कोई शब्द नहीं है। 'आभृतम्' पद का हवि तैयार करना अर्थ भी मनमाना किया है। इस पद में आङ् पूर्वक धारण-पोषणार्थ 'भृञ्' अथवा 'हृञ्' धातु है। उसका तैयार करना अर्थ स्वयं कल्पित किया है। 'अञ्जःसवाख्यकर्मणि' इस के लिए मन्त्र में कोई पद है ही नहीं। कहाँ तो सायण 'शुनःशेप' की प्रार्थना में इन मन्त्रों को लगा रहे थे, जो कि सायण के अनुसार रस्सी से बन्धा पड़ा था, फिर अब यज्ञ में हवि किसने तैयार की जिससे वरुण की तृप्ति हुई। यह सब परस्पर विरुद्ध प्रमत्तवत् ही व्याख्या है। 'क्षदसे क्रिया का 'अश्नासि'=खाता है' अर्थ तो पता नहीं, सायण ने कहाँ से लिया है? व्याकरण निरुक्तादि में इसका खाना अर्थ कहीं नहीं किया। 'क्षद्' धातु उणादिकोष में 'संवृत्ति' अर्थ में तो (सौत्रधातु) प्रयुक्त हुई है। इसी प्रकार 'संवोचावहै' प्रयोग में लोडर्थ में लुङ्लकार का मानना भी सायण की विद्वत्ता नहीं है। महर्षि ने इसको 'लेट्' का प्रयोग माना है। मन्त्र में 'यतः' पठित है, जो एक कारण का निर्देश कर रहा है, जिसको सायण ने समझा ही नहीं है। महर्षि की व्याख्या से वह स्पष्ट है।

महर्षि ने मन्त्रव्याख्या में मन्त्र से भिन्न पदों का आश्रय किए विना ही बहुत सुसंगत व्याख्या की है। 'संवोचावहै' क्रिया में द्विवचन का प्रयोग है, अतः गुरु-शिष्य का ज्ञान-वृद्धि के लिए संवाद करना तो ठीक है। किन्तु कल्पित वरुण के साथ बातचीत कदापि सम्भव नहीं है। मन्त्र में गुरु-शिष्य के संवाद का प्रयोजन भी 'क्षदसे=अज्ञान-विनाशक बल-प्राप्ति मन्त्र में कही है। जिसको न समझकर सायण ने क्रिया मानकर व्याख्या की है। गुरु-शिष्य के संवाद का अन्य फल बताते हुए मन्त्र में कहा है—आभृतम् प्रियं मधु=विद्वानों को प्रिय तथा धारण करने योग्य माधुर्य युक्त विज्ञान। मन्त्र में 'होता-इव' उपमा

---

१. यतः यस्मात् कारणात् मे मज्जीवनार्थं मधुरं हविः आभृतम् अञ्जःसवाख्ये कर्मणि सम्पादितम् अतः कारणात् होतेव होम कर्त्तेव त्वमपि प्रियं हविः क्षदसे अश्नासि पुनःहविः स्वीकारादूर्ध्वं तृप्तस्त्वं जीवन्नहं च नु अवश्यं सं वोचावहै संभूय प्रियवार्त्तां करवावहै ॥ (सायणः)

दी है। यदि मन्त्र में यज्ञिय हवि का वर्णन होता तो होता=हवन करने वाला अपनी ही उपमा कैसे देता ? अतः स्पष्ट है कि मन्त्र में यज्ञ का वर्णन ही नहीं है। मन्त्र में उपमा से यह स्पष्ट किया है कि जैसे होता- यजमानादि परस्पर मिलकर यज्ञिय-कर्मों का विस्तार करते हैं, उसी प्रकार गुरु-शिष्य विद्या की वृद्धि संवाद से किया करें। इस यथार्थ तथा महत्त्वपूर्ण मन्त्र के रहस्य को सायणाचार्य ने समझा ही नहीं है ॥ १७ ॥

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः । **वरुणः** (विद्वान्) देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनस्ते किं किं कुर्युरित्युपदिश्यते ॥

फिर भी वे क्या क्या करें, यह उपदेश किया जाता है ॥

दर्शन्न विश्वदर्शतं दर्शं रथमधि क्षमि । एता जुषत मे गिरः ॥ १८ ॥

दर्शम् । नु । विश्वऽदर्शतम् । दर्शम् । रथम् । अधि । क्षमि । एताः । जुषत । मे । गिरः ॥१८॥

पदार्थः—(दर्शम्) पुनः पुनर्द्रष्टुम् (नु) अनुपृष्टे (विश्वदर्शतम्) सर्वैर्विद्वद्भिर्द्रष्टव्यं जगदीश्वरम् (दर्शम्) पुनः पुनः संप्रेक्षितुम् (रथम्) रमणीयं विमानादियानम् (अधि) उपरिभावे (क्षमि) क्षाम्यन्ति=सहन्ते जना यस्मिन् व्यवहारे तस्मिन् स्थित्वा । अत्र **कृतो बहुलम्** इत्यधिकरणे क्विप् । वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति इति **अनुनासिकस्य क्विब् झलोः** इति दीर्घो न भवति (एताः) वेदविद्यासुशिक्षासंस्कृताः (जुषत) सेवध्वम् (मे) मम (गिरः) वाणीः ॥ १८ ॥

प्रमाणार्थ—(क्षमि) यहां 'कृतो बहुलम्' (अ० ३ । ३ । ११३) इस वार्त्तिक सूत्र से अधिकरण कारक में 'क्विप्' प्रत्यय है (क्षम्+क्विप्+सु=क्षम्+ङि=क्षमि) । और 'वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति' (अ० १ । ४ । ९) इस परिभाषा से 'अनुनासिकस्य क्विब्झलोः' (अ० ६ । ४ । १५) इस सूत्र से प्राप्त दीर्घत्व नहीं होता है ॥ १८ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यूयमधि क्षमि स्थित्वा विश्वदर्शतं वरुणं परेशं दर्शं रथं नु दर्शं मे ममैता गिरो वाणीर्जुषत नित्यं सेवध्वम् ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! यूयम् **अधि उपरि क्षमि** क्षाम्यन्ति=सहन्ते जना यस्मिन् व्यवहारे तस्मिन् **स्थित्वा विश्वदर्शतं** सर्वैर्विद्वद्भिर्द्रष्टव्यं जगदीश्वरं **वरुणं**=परेशं **दर्शं** पुनः पुनर्द्रष्टुं **रथं** रमणीयं विमानादियानं **नु दर्शं** पुनः पुनः सम्प्रेक्षितुं **मे**=ममैताः वेदविद्यासुशिक्षासंस्कृताः **गिरः**=वाणीर्जुषत=नित्यं सेवध्वम् ॥ १८ ॥

भावार्थः— यस्मात् क्षमादिगुणसहितैर्मनुष्यैः प्रश्नोत्तरव्यवहारेणानुष्ठानेन विनेश्वरं शिल्पविद्यासिद्धानि यानानि च वेदितुं न शक्यानि, तत्र ये गुणास्तेऽपि च; अस्मादेतेषां विज्ञानाय सर्वदा प्रयतितव्यम् ॥ १८ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! तुम—(अधि) ऊंचे (क्षमि) क्षमा-व्यवहार में स्थित होकर (विश्वदर्शतम्) सब विद्वानों के द्वारा देखने योग्य (वरुणम्) जगदीश्वर को (दर्शम्) बार-बार देखने के लिये तथा (रथम्) रमणीय विमान आदि यान को (नु, दर्शम्) बार-बार देखने के लिये (मे) मेरी (एताः) वेद की विद्या और सुशिक्षा से पवित्र हुई (गिरः) वाणियों का (जुषत) नित्य सेवन करो ॥ १८ ॥

भावार्थ—जिससे क्षमा आदि गुणों से युक्त मनुष्य—प्रश्न-उत्तर व्यवहार के अनुष्ठान के विना ईश्वर और शिल्पविद्या से सिद्ध हुये यानों को नहीं जानसकते और उनमें जो गुण हैं उन्हें भी । अतः इनके विज्ञान के लिये सदा प्रयत्न करें ॥

भाष्यसार—**मनुष्य क्या क्या करें**—मनुष्य उच्चकोटि के क्षमा-व्यवहार में स्थित होकर, सब विद्वानों के द्वारा दर्शनीय जगदीश्वर के दर्शन करें। रमणीय विमान आदि यानों का सम्प्रेक्षण करें। इस उद्देश्य के लिये वेद की विद्या और सुशिक्षा से पवित्र वाणियों का नित्य सेवन करें॥ १८॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"सब से देखने योग्य हमारे पर अनुग्रह करने के लिए यह प्रकट हुए वरुण को मैंने निश्चय से देखा। पृथिवी पर वरुणसम्बन्धी रथ को अधिकता से देखा है। इन उक्त मेरी स्तुतियों को वरुण ने सेवन किया।"

आचार्य-सायण ने वरुण को यहाँ सबसे देखने योग्य मानकर अर्थ किया है कि वरुण हमारे पर कृपा करने के लिए प्रकट होता है। यह कैसी विचित्र कल्पना है? सब की आयु=जीवन को बढ़ाने वाला सर्वद्रष्टा तथा सर्वत्र व्यापक वरुण=परमेश्वर का शरीर धारण करके प्रकट होना कैसे सम्भव है? जिसको वेद-मन्त्रों में स्पष्ट रूप से 'स पर्यगाच्छुक्रम् अकायम्०' (यजु०) शरीर रहित कहा है, जिसकी व्याख्या में स्वामी शंकराचार्य ने भी स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरों से रहित बताया है। वह परमेश्वर शरीररूप में कैसे प्रकट हो सकता है? महर्षि ने इसका अर्थ 'विद्वान् पुरुषों से दर्शनीय=जानने योग्य' किया है। यह अर्थ ठीक भी है। क्योंकि यदि वरुण=परमेश्वर सब से दर्शनीय हो, तो इसमें प्रत्यक्ष विरोध है।

आचार्य-सायण ने मन्त्रार्थ में वरुण-सम्बन्धी रथ को देखने की बात लिखकर तो आश्चर्य ही पैदा कर दिया है। यथार्थ में सायण ने लौकिक रूढ़ अर्थों का आश्रय करके 'क्षमि=पृथिवी पर' 'रथम्=रथ' अर्थ करने के कारण मन्त्रार्थ को नहीं समझा है। मन्त्र में दो बार 'दर्शम्' पद पठित है, जिससे स्पष्ट है कि दो वस्तुओं को जानने के लिए मन्त्र में उपदेश किया है। एक वरुण=परमेश्वर को, दूसरा रथम्=रमण के साधन विमानादियानों को। सायण ने इस णमुल् प्रत्ययान्त 'दर्शम्' पद की व्याख्या लुङ् लकार मानकर की है। यहाँ सायण ने व्याकरण-स्वरसम्बन्धी ज्ञान में भी भूल की है। इसी प्रकार मन्त्र में 'जुषत' क्रिया लोट् लकार की है, उसका भी व्याख्यान लुङ् लकार में करके जहाँ व्याकरण की उपेक्षा की है, वहाँ मन्त्र की अपनी कल्पित-कथा के आग्रह के कारण मिथ्या व्याख्या की है।

सायण-भाष्य में 'क्षमि=पृथिवी पर' अर्थ भी संगत नहीं है। रथ=विमानादियान बनाने तथा वरुण=परमेश्वर को जानने के लिए जहाँ वेद-ज्ञान को जानना परमावश्यक है, वहाँ विद्वानों का परस्पर सहनशील व्यवहार भी परमावश्यक है। विद्वान् परस्पर मिलकर सहनशीलता के कारण ही ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं। इस तथ्य को मन्त्र के 'क्षमि' पद में सहनार्थक धातु से स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार परमेश्वर ने मनुष्यों को अपनी वेद-विद्या को जानने का स्पष्ट उपदेश किया है। जिसको न समझकर सायण ने 'शुनःशेप की वाणियों को वरुण ने सेवन किया' व्याख्या की है। इस सायण की व्याख्या से वेद-ज्ञान परमेश्वर का कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। पाश्चात्य विद्वानों की वेदों के सम्बन्ध में भ्रान्ति का कारण यही सायण-भाष्य ही है। यद्यपि सायण भी वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं, पुनरपि ऐसी परस्पर विरोधी व्याख्या सायण ने क्यों की? इसका कारण स्पष्ट है कि उनका पूर्वाग्रह ही उनको सत्यार्थ करने से वञ्चित करता रहा॥ १८॥ ●

---

१. विश्वदर्शतं सर्वैर्दर्शनीयम् अस्मदनुग्रहार्थमत्राविर्भूतं वरुणं दर्शं नु अहं दृष्टवान् खलु। क्षमि क्षमायां भूमौ रथं वरुणसम्बन्धिनम् अधि दर्शम् आधिक्येन दृष्टवानस्मि। एताः उच्यमानाः मे गिरः मदीयाः स्तुतीः जुषत वरुण सेवितवान्॥ (सायणः)

आजीगर्तिः शुनःशेप ऋषिः । वरुणः (ईश्वरो विद्वाँश्च) देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

फिर वह वरुण कैसा है, यह उपदेश किया जाता है ॥

इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृळयत्वा। मवस्युराचके ॥ १९ ॥

इमम् । मे । वरुण । श्रुधि । हवम् । अद्य । च । मृळय । त्वाम् । अवस्युः । आ । चके ॥ १९ ॥

पदार्थः—(**इमम्**) प्रत्यक्षमनुष्ठितम् (**मे**) मम (**वरुण**) सर्वोत्कृष्ट जगदीश्वर विद्वन्वा (**श्रुधी**) शृणु । अत्र **बहुलं छन्दसि** इति श्नोर्लुक् **श्रुशृणुपृकृवृभ्य०** इति हेर्द्धिर्यादेशो **अन्येषामपि** इति दीर्घश्च । (**हवम्**) आदातुमर्हं स्तुतिसमूहम् (**अद्य**) अस्मिन् दिने (**च**) समुच्चये (**मृळय**) सुखय (**त्वाम्**) विद्वांसम् (**अवस्युः**) आत्मनो रक्षणं विज्ञानं चेच्छुः (**आ**) समन्तात् (**चके**) प्रशंसामि ॥ १९ ॥

प्रमाणार्थ—(**श्रुधि**) यहां 'बहुलं छन्दसि' (अ० २ । ४ । ७३) इस सूत्र से 'श्नु' प्रत्यय का लुक् तथा 'श्रुशृणुपृकृवृभ्य०' (६ । ४ । १०२) इस सूत्र से 'हि' के स्थान में 'धि' आदेश है, अन्येषामपि दृश्यते' (अ० ६ । ३ । १३६) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—श्रुधी ॥

अन्वयः—हे वरुण विद्वन्नद्यावस्युरहं त्वामाचके प्रशंसामि त्वं मे मम [इमं] हवं श्रुधि शृणु मां च मृळय ॥ १९ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **वरुण** सर्वोत्कृष्ट जगदीश्वर विद्वन् वा ! **अद्य** अस्मिन् दिने **अवस्युः** आत्मनो रक्षणं विज्ञानं चेच्छुः **अहं त्वां** विद्वांसम् **आचके** समन्तात् प्रशंसामि । **त्वं मे**=**ममेमं** प्रत्यक्षमनुष्ठितं **हवम्** आदातुमर्हं स्तुतिसमूहं **श्रुधि** शृणु, **मां च मृळय** सुखय ॥ १९ ॥

भावार्थः—यथेश्वरः खलूपासकैः सत्यप्रेम्णा प्रयुक्तां स्तुतिं सर्वज्ञतया यथावच्छ्रुत्वा तदनुकूलतया स्तावकेभ्यः सुखं प्रयच्छति, तथैव विद्वद्भिरपि भवितव्यम् ॥ १९ ॥

भाषार्थ—हे (**वरुण**) सब से उत्तम जगदीश्वर वा विद्वान् ! (**अद्य**) आज (**अवस्युः**) अपनी रक्षा और विज्ञान का इच्छुक मैं—(**त्वाम्**) आपकी (**आचके**) सब ओर से प्रशंसा करता हूँ । आप (**मे**) मेरे (**इमम्**) इस (**हवम्**) ग्रहण करने योग्य स्तुतिसमूह को (**श्रुधि**) सुनो, (**च**) और मुझे (**मृळय**) सुखी करो ॥ १९ ॥

भावार्थ—जैसे ईश्वर निश्चय ही उपासक लोगों के द्वारा सच्चे प्रेम से की हुई स्तुति को अपनी सर्वज्ञता से यथावत् सुनकर उसके अनुसार स्तावक जनों को सुख प्रदान करता है, वैसे ही विद्वान् लोग भी होवें ॥ १९ ॥

भाष्यसार—**ईश्वर और विद्वान् कैसा है**—जगदीश्वर सब से उत्तम है । विद्वान् मानव-समाज में सर्वोत्तम होता है । इसलिए दोनों वरुण हैं । अपनी रक्षा और विज्ञान का इच्छुक पुरुष जगदीश्वर और विद्वान् की स्तुति करता है । ईश्वर और विद्वान् सच्चे प्रेम से की हुई स्तुति को सुनते हैं और अपने स्तोता को सुख प्रदान करते हैं ॥ १९ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे वरुण ! मेरी इस पुकार को सुनिए

---

१. हे वरुण ! मे मदीयम् इमं हवं आह्वानं श्रुधि शृणु । किं च अद्य अस्मिन् दिने मृळय अस्मान् सुखय । अवस्युः रक्षणेच्छुः अहं त्वां वरुणम् आभिमुख्येन चके शब्दयामि स्तौमीत्यर्थः ॥ (सायणः)

और आज हमें सुख प्रदान करो। रक्षा की इच्छा वाला मैं तुझ वरुण को लक्ष्य करके स्तुति कर रहा हूँ।"

इस मन्त्र की सायण की व्याख्या में वरुण के आह्वान की बात कही है यह उनकी कल्पना ही है। जो वरुण इस सूक्त के २०वें मन्त्र के अनुसार सर्वत्र विराजमान है, उसका बुलाना कदापि सम्भव नहीं हो सकता। जो एकदेशी है, उसको ही दूसरे स्थान पर बुलाना सम्भव है। व्यापक वरुण तो सर्वत्र विद्यमान है, उसको कैसे बुलाया जा सकता है? महर्षि ने 'हवम्' पद का 'ग्रहण करने योग्य स्तुति समूह' किया है, जो कि व्याकरण-सम्मत है। 'हु दानादनयोः' आदाने च' इस धात्वर्थ के अनुसार 'हवम्' पद आदानार्थ-क्रिया से भी बनता है।

महर्षि ने मन्त्र के देवता 'वरुण' के 'ईश्वर और विद्वान्' दो अर्थ किए हैं। सायण ने 'वरुण' की कोई व्याख्या नहीं की है। जिससे पाठक असमञ्जस में ही रहता है कि वरुण कौन है? मन्त्र में रक्षा करने तथा सुखी करने की प्रार्थना की गई है। और यह कार्य मुख्य रूप से परमेश्वर और गौणरूप से विद्वान् पुरुष भी करते हैं, अतः महर्षि की व्याख्या सुसंगत है॥ १९॥ ●

आजीर्गर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **वरुणः (ईश्वरः)** देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते॥

फिर वह परमात्मा कैसा है, यह उपदेश किया जाता है॥

त्वं विश्वस्य मेधिर दिवश्च ग्मश्च राजसि। स यामनि प्रति श्रुधि॥ २०॥

त्वम्। विश्वस्य। मेधिर। दिवः। च। ग्मः। च। राजसि। सः। यामनि। प्रति। श्रुधि॥२०॥

पदार्थः—(त्वम्) यो वरुणो जगदीश्वरः (**विश्वस्य**) सर्वस्य जगतो मध्ये (**मेधिर**) मेधाविन् (**दिवः**) प्रकाशसहितस्य सूर्य्यादेः (**च**) अन्येषां लोकलोकान्तराणां समुच्चये (**ग्मः**) पृथिव्यादेः। **ग्मेति पृथिवीनामसु पठितम्।** निघं० १। १। (**च**) अनुकर्षणे (**राजसि**) प्रकाशसे [**सः**] (**यामनि**) यान्ति=गच्छन्ति यस्मिन् कालावयवे प्रहरे तस्मिन् (**प्रति**) प्रतीतार्थे (**श्रुधि**) शृणु। अत्र **बहुलं छन्दसि** इति श्नोर्लुक्। **श्रुशृणुपृकृ०** इति हेर्धिश्च॥ २०॥

प्रमाणार्थ—(**ग्मः**) 'ग्मा' यह पद निघण्टु (१। १) में पृथिवी-नामों में पढ़ा गया है। (**श्रुधि**) यहां 'बहुलं छन्दसि' (अ० २। ४। ७३) इस सूत्र से 'श्नु' प्रत्यय का लुक् है 'श्रुशृणुपृकृ०' (अ० ६। ४। १०२) इस सूत्र से 'हि' के स्थान में 'धि' आदेश है॥ २०॥

अन्वयः—हे मेधिर वरुण त्वं यथा यो जगदीश्वरो दिवश्च ग्मश्च विश्वस्य यामनि राजति सोऽस्माकं स्तुतिं प्रतिशृणोति तथैतन्मध्ये राजसि राजेः स्तुतिं प्रतिश्रुधि शृणु॥ २०॥

सपदार्थान्वयः— हे **मेधिरः** मेधाविन् **वरुण**! **त्वं यथा यो जगदीश्वरो दिवः** प्रकाशसहितस्य सूर्यादेः **च** अन्येषां लोकलोकान्तराणां **ग्मः** पृथिव्यादेः **च विश्वस्य** सर्वस्य जगतो मध्ये **यामनि** यान्ति=गच्छन्ति यस्मिन् कालावयवे प्रहरे तस्मिन् **राजति** प्रकाशते **सोऽस्माकं**

भाषार्थ—हे (**मेधिर**) मेधावी (**वरुण**) विद्वन्! (**त्वम्**) आप—जैसे जगदीश्वर (**दिवः**) प्रकाशमान सूर्य आदि तथा (**च**) अन्य लोक-लोकान्तर (च) और (**ग्मः**) पृथिवी आदि (**विश्वस्य**) सब जगत् के मध्य में (**यामनि**) कालावयव रूप प्रहर में (**राजते**) प्रकाशित हो रहा है,

स्तुतिं प्रतिशृणोति, तथैतन्मध्ये राजसि=राजेः प्रकाशसे; स्तुतिं प्रतिश्रुधि प्रतीतं शृणु ॥ २० ॥

वह हमारी स्तुति को (प्रतिशृणोति) सुनता है,—वैसे इस संसार के मध्य में (राजसि) प्रकाशित हो और हमारी स्तुति को (प्रतिश्रुधि) प्रेम से सुनो ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । यथेश्वरेण सर्वस्य जगतो द्विधा भेदः कृतोऽस्ति—एकः प्रकाशसहितः सूर्यादिर्द्वितीयः प्रकाशरहितः पृथिव्यादिश्च, यस्तयोरुत्पत्तिविनाशनिमित्तः कालोऽस्ति, तत्राभिव्याप्तः स सर्वेषां प्राणिनां संकल्पोत्पन्ना अपि वार्त्ताः शृणोति, तस्मान्नैव केनापि कदाचिदधर्मानुष्ठानकल्पना कर्त्तव्यास्ति, तथैव सकलैर्मानवैर्विज्ञायानुचरितव्यमिति ॥ २० ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमा अलंकार है । जैसे ईश्वर ने सब जगत् के दो भेद किये हैं—एक प्रकाशमान सूर्य आदि और दूसरा प्रकाश रहित पृथिवी आदि, जो उन दोनों की उत्पत्ति और विनाश का निमित्त काल है, उसमें अभिव्याप्त हुआ वह ईश्वर सब प्राणियों की संकल्प में उत्पन्न हुई बातों को भी सुनता है, इसलिये कोई भी कभी अधर्माचरण की कल्पना न करे। इस प्रकार से सब मनुष्य समझकर आचरण करें ॥ २ ॥

भाष्यसार—**ईश्वर कैसा है**—जगदीश्वर प्रकाशमान सूर्य आदि और प्रकाशरहित पृथिवी आदि सब जगत् के मध्य में विद्यमान कालावयव रूप प्रहर में प्रकाशित हो रहा है अर्थात् उक्त दोनों प्रकार के जगत् के उत्पत्ति और विनाश का निमित्त जो काल है वह उसमें भी अभिव्याप्त है । इसलिये वह प्राणियों की संकल्प में उत्पन्न बातों को भी जानता है । इसलिये कोई अधर्माचरण की कल्पना भी न करे ।

यह जगदीश्वर जैसे हमारी स्तुति को सुनता है, वैसे एक मेधावी विद्वान् इस संसार में प्रकाशित हो और हमारी स्तुति को प्रेम से सुने ॥ २० ॥

अलङ्कार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है, अतः वाचकलुप्तोपमा अलंकार है । उपमा यह है कि मेधावी विद्वान् ईश्वर के तुल्य उपासकों की स्तुति का प्रेमपूर्वक श्रवण करे ॥ २० ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे मेधाविन् वरुण ! तुम द्युलोक और पृथिवीलोक के बीच में प्रकाशित हो रहे हो । वैसे तुम हमारे निर्वाह के लिए प्रतिज्ञा करो । और 'रक्षा करूँगा' ऐसा प्रत्युत्तर दो ।"

इस मन्त्र में सायण ने वरुण को द्युलोक व पृथिवी लोक के मध्य प्रकाशित माना है और १८वें मन्त्र में वरुण को सब से दर्शनीय तथा भूमि पर वरुण के रथ को देखने की बात सायण ने लिखी है । क्या इन दोनों बातों में कुछ सामञ्जस्य है ? जो समस्त विश्व में विराजमान है, उसका आह्वान करना, उसको तथा उसके रथ को देखना कैसे सम्भव है ? और यदि सम्भव है, तो अब क्यों नहीं वरुण व उसका रथ दिखाई देता ? अतः स्पष्ट है कि सायण को मन्त्रार्थ समझ में ही नहीं आया और शब्दार्थ का अनुसरण करके प्रमत्तों की भांति मन्त्र-व्याख्या करगए । उन्होंने यह नहीं सोचा कि इन व्याख्याओं में परस्पर संगति भी है या नहीं ।

---

१. हे मेधिर ! मेधाविन् वरुण ! त्वं दिवञ्च द्युलोकस्यापि गमश्च भूलोकस्यापि एवमात्मकस्य विश्वस्य सर्वस्य जगतो मध्ये राजसि दीप्यसे । स तादृशः त्वं यामनि क्षेमप्रापणे अस्मदीये प्रतिश्रुधि प्रतिश्रवणम् आज्ञापनं कुरु । रक्षिष्यामि इति प्रत्युत्तरं देहीत्यर्थः ॥ (सायणः)

और १७वें व १८वें मन्त्र में सायण ने वरुण को हवि खाने वाला तथा देखने योग्य वर्णन किया है। क्या वरुण शरीरधारी तथा शरीर-पोषण के लिए भोगों को ग्रहण करता है? ऐसा एकदेशी वरुण समस्त विश्व में कैसे व्यापक हो सकता है? और यदि व्यापक है, तो वह शरीरधारी होकर कदापि प्रकट नहीं हो सकता है। ऐसी परस्पर विरोधी बातों से सायण-भाष्य भरा पड़ा है। सायण-भाष्य में 'यामनि=क्षेमप्रापणे' अर्थ भी ठीक नहीं किया है। 'यामन्' शब्द का 'कालावयव प्रहर' यह महर्षि-व्याख्या ही संगत होती है। वरुण=परमेश्वर सब कालों में सर्वत्र विराजमान रहता है। परमेश्वर क्षेम-प्रापण=मनुष्यों के निर्वाह के लिए रक्षा करने का वचन देता है, यह भी सायण की व्याख्या तुच्छ है। वरुण जीवों की स्तुति का उत्तर देवे, यह कथन भी सत्य नहीं है। द्युलोकादि में व्यापक वरुण शरीरादि अवयवों से रहित होने से मनुष्यादि की भांति उत्तर नहीं दे सकता।

इस मन्त्र की व्याख्या महर्षि की द्रष्टव्य है। उसमें सायण-भाष्य के दोषों का लेशमात्र भी समावेश नहीं है। महर्षि की व्याख्या बहुत ही सुसंगत है॥ २०॥

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **वरुणः** (ईश्वरः) देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते॥

फिर वह परमेश्वर कैसा है, यह उपदेश किया जाता है॥

उदुत्तमं मुमुग्धि नो वि पाशं मध्यमं चृत। अवाधमानि जीवसे॥ २१॥

उत्। उत्ऽतमम्। मुमुग्धि। नः। वि। पाशम्। मध्यमम्। चृत। अव। अधमानि। जीवसे॥२१॥

पदार्थः—(उत्) उत्कृष्टार्थे क्रियायोगे वा (उत्तमम्) उत्कृष्टम् (मुमुग्धि) मोचय। अत्र बहुलं छन्दसि इति श्लुः। (नः) अस्माकम् (वि) विविधार्थे (पाशम्) बन्धनम् (मध्यमम्) उत्कृष्टानुत्कृष्टयोरन्तर्भवम् (चृत) नाशय। अत्रान्तर्गतोण्यर्थः। (अव) क्रियायोगे (अधमानि) निकृष्टानि बन्धनानि (जीवसे) चिरञ्जीवितुम्। अत्र तुमर्थेसे० इत्यसेन्प्रत्ययः॥ २१॥

प्रमाणार्थ—(मुमुग्धि) यहां 'बहुलं छन्दसि' (अ० २। ४। ७६) इस सूत्र से 'शप्' को 'श्लु' है। (चृत) यहां 'णिच्' प्रत्यय का अर्थ अन्तर्गत है। (जीवसे) यहां 'तुमर्थे से०' (अ०३। ४। ९) इस सूत्र से 'असेन्' प्रत्यय है।

अन्वयः—हे वरुणाविद्यान्धकारविदारकेश्वर त्वं करुणया नोऽस्माकं जीवस उत्तमं मध्यमं पाशमुन्मुमुग्ध्यधमानि बन्धनानि च व्यवचृत॥ २१॥

सपदार्थान्वयः—हे वरुण=अविद्यान्धकारविदारकेश्वर! त्वं करुणया नः=अस्माकं जीवसे चिरञ्जीवितुम् उत्तमम् उत्कृष्टं मध्यमम् उत्कृष्टानुत्कृष्टयोरन्तर्भावं पाशं बन्धनम् उन्मुमुग्धि उत्कृष्टं मोचय, अधमानि निकृष्टानि बन्धनानि च व्यवचृत विविधं विनाशय॥ २१॥

भाषार्थ—हे (वरुण) अविद्या अन्धकार के विदारक ईश्वर! आप—करुणा करके (नः) हमारे (जीवसे) चिरजीवन के लिये (उत्तमम्) उत्तम (मध्यमम्) उत्तम और निकृष्ट के मध्य में वर्तमान (पाशम्) बन्धन को (उन्मुमुग्धि) उत्तम रीति से मुक्त करो, और (अधमानि) निकृष्ट बन्धनों को (व्यवचृत) विविध प्रकार से नष्ट करो॥ २१॥

भावार्थः—यथा धार्मिकाः परोपकारिणो विद्वांसो भूत्वेश्वरं प्रार्थयन्ते तेषां जगदीश्वरः सर्वाणि दुःखबन्धनादीनि निवार्य्यैतान् सुखयति तथास्माभिः कथं नानुचरणीयानि ।। २१ ।।

भावार्थ—जैसे ये धार्मिक परोपकारी विद्वान् होकर ईश्वर की प्रार्थना करते हैं, जगदीश्वर उनके दुःख-बन्धन आदि का निवारण करके इन्हें सुखी करता है, वैसे हम उनका अनुकरण क्यों न करें ।। २१ ।।

भाष्यसार—परमेश्वर कैसा है—ईश्वर अविद्या अन्धकार का विदारक है। वह हमारे चिर जीवन के लिये उत्तम, और मध्यम बन्धन को मुक्त करता है, वह निकृष्ट बन्धनों को नष्ट करता है ।।

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे वरुण ! हमारे सिर के बन्धन को खींचकर छुड़ावो। हमारे पेट के बन्धन को पृथक् करके नष्ट करो। जीवन के लिए मेरे पैरों के बन्धनों को खींचकर नष्ट करो।"

इस सायण-कृत मन्त्र-व्याख्या से स्पष्ट है कि वरुण की स्तुति करने पर वरुण मनुष्यों के शिर, उदर तथा पैरों के बन्धनों को खींचकर छुड़ाता है। इसी सूक्त के २०वें मन्त्र में जो वरुण को द्युलोकादि समस्त जगत् में विराजमान कहा है, वह मनुष्यों को कैसे बन्धनों से छुड़ाता है ? और यह वरुण कौन है ? यह आचार्य सायण बिलकुल भी नहीं समझ सके। यदि सायण की व्याख्या को सत्य मान लिया जाए, तो आजकल वरुण यह कार्य क्यों नहीं करता ? कारागारादि में रस्सी अथवा अन्य बन्धनों से बन्धे व्यक्तियों की प्रार्थना पर वरुण क्यों कृपा नहीं करता ? क्या अब उसमें दयाभाव समाप्त हो गया है ? अथवा वरुण-देव ने अब अपना कार्य करना छोड़ दिया है ? अथवा वरुण मृत्यु को प्राप्त हो गया, जो अब किसी की स्तुति को सुनता ही नहीं। और इस प्रकार के लौकिक बन्धनों को तो दूसरे मनुष्य भी खोल सकते हैं, फिर मनुष्य और वरुण-देव में क्या अन्तर रहा ?

यथार्थ में सायण ने मन्त्र की गम्भीरता को बिना समझे ही शिर आदि अवयवों की कल्पना की है। मन्त्र में उत्तम, मध्यम तथा अधम पाशों से मुक्ति की प्रार्थना है, शरीर के अवयवों के नाम नहीं हैं। ये तीन प्रकार के बन्धन क्या हैं ? जिनसे जीव सन्तप्त होकर वरुण से प्रार्थना करता है। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने दर्शन-शास्त्रों में इस पर बहुत ही गम्भीरता से विचार किया है। शास्त्रों में दुःख को ही परम बन्धन माना है। सांख्यदर्शन में तो मोक्ष की परिभाषा करते हुए लिखा है—

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ।। (सां० १ । १)

अर्थात् अध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक दुःखों से निवृत्ति होना ही पुरुष का चरम लक्ष्य=मोक्ष है। महर्षि ने सम्पूर्ण मन्त्र के रहस्य को समझकर ही यहाँ वरुण की व्याख्या में लिखा है—'अविद्यान्धकार विदारक'। अविद्या का बन्धन ही सब दुःखों का कारण है। और अविद्या की निवृत्ति परमात्मा की उपासनादि के बिना कदापि सम्भव नहीं है। और चिर-जीवन के लिए भी यह परमावश्यक है कि दुःखों से पृथक् रहना। दुःखसन्तप्त मनुष्य का जीवन कम हो जाता है। अतः महर्षि ने मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय 'वरुण देवता' का 'ईश्वर' अर्थ किया है। जिसकी संगति सम्पूर्ण मन्त्र से ठीक लगती है। सायण के कल्पित देव की मन्त्रार्थ के साथ संगति न होने से सायण की व्याख्या मिथ्या है ।।२१।।

पूर्वापरसंगतिमाह—चतुर्विंशसूक्तोक्तानां प्राजापत्यादीनामर्थानां मध्यस्थस्य वरुणार्थस्योक्तत्वाच्चातीतसूक्तार्थेनास्य पंचविंशसूक्तार्थस्य सङ्गतिरस्तीति बोध्यम् ।।

---

१. नः अस्माकम् उत्तमं शिरोगतं पाशम् उत् मुमुग्धि उत्कृष्य मोचय। मध्यमम् उदरगतं पाशं विचृत वियुज्य नाशय। जीवसे जीवितुम् अधमानि मदीयान् पादगतान् पाशान् अवचृत अवकृष्य नाशय ।। (सायणः)

पूर्वापर-संगति—चौबीसवें सूक्त में प्रतिपादित प्राजापत्य आदि अर्थों के मध्यस्थ 'वरुण' के अर्थ के कथन से पूर्व सूक्त-अर्थ के साथ इस पच्चीसवें सूक्त के अर्थ की संगति है, यह जानो ॥

इति प्रथमस्य द्वितीय एकोनविंशो वर्गः, पंचविंशं सूक्तं च समाप्तम् ॥
यह प्रथम मण्डल के द्वितीय अष्टक में उन्नीसवां वर्ग, तथा पच्चीसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥ ●

अथ षड्विंशं सूक्तम् ॥

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः । **अग्निः (होता यजमानश्च)** देवता । आर्ची उष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

तत्रादिमे मन्त्रे होतृयजमानगुणा उपदिश्यन्ते ॥

अब छब्बीसवें सूक्त का आरम्भ है । इसके प्रथम मन्त्र में होता और यजमान के गुणों का उपदेश किया जाता है ॥

वसिष्वा हि मियेध्य वस्त्राण्यूर्जां पते । सेमं नो अध्वरं यज ॥ १ ॥
वसिष्व । हि । मियेध्य । वस्त्राणि । ऊर्जाम् । पते । सः । इमम् । नः । अध्वरम् । यज ॥ १ ॥

पदार्थः—(**वसिष्व**) धर । अत्र **छन्दस्युभयथा** [अ० ३ । ४ । ११७] इत्यार्द्धधातुकत्वमाश्रित्य लोटचपि वलादिलक्षण इट् । (**हि**) खलु (**मियेध्य**) मिनोति प्रक्षिपत्यन्तरिक्षं प्रत्यग्निद्वारा पदार्थांस्तत्संबुद्धौ । अत्र 'डुमिञ् धातो' रौणादिको बाहुलकात्केध्यच् प्रत्ययः । (**वस्त्राणि**) कार्पासौर्णकौशेयकादीनि (**ऊर्जाम्**) बलपराक्रमान्नानाम् (**पते**) पालयितः (**सः**) होता यजमानो वा (**इमम्**) प्रत्यक्षमनुष्ठीयमानम् (**नः**) अस्माकम् (**अध्वरम्**) त्रिविधं यज्ञम् (**यज**) संगच्छस्व ॥ १ ॥

अन्वयः—हे ऊर्जां पते मियेध्य होतर्यजमान वा त्वमेतानि वस्त्राणि वसिष्व हि नोऽस्माकमध्वरं यज संगमय ॥ १ ॥

प्रमाणार्थ—(**वसिष्व**)यहां 'छन्दस्युभयथा' (अ० ३ । ४ । ११७)इस सूत्र से आर्धधातुक का आश्रय करके लोट् लकार में भी वलादिलक्षण इट् आगम है । (**मियेध्य**) यहां 'डुमिञ् प्रक्षेपणे' इस धातु से बहुल करके औणादिक 'केध्यच्' प्रत्यय है । (मि+केध्यच्=मियङ्+एध्य+सु=मियेध्यः) ॥ १ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **ऊर्जां** बलपराक्रमान्नानां **पते** पालयितः **मियेध्य** मिनोति=प्रक्षिपत्यन्तरिक्षं प्रत्यग्निद्वारा पदार्थान् तत्सम्बुद्धौ **होतर्यजमान वा** ! **त्वमेतानि वस्त्राणि** कार्पासौर्णकौशेयकादीनि **वसिष्व** धर । **सः** होता यजमानो वा **हि** खलु **नः=अस्माकमिमं** प्रत्यक्षमनुष्ठीयमानम् **अध्वरं** त्रिविधं यज्ञं **यज=संगमय** संगच्छस्व ॥ १ ॥

भाषार्थ—हे (**ऊर्जाम्**) बल, पराक्रम और अन्न के (**पते**) पालक, (**मियेध्य**) अग्नि के द्वारा अन्तरिक्ष में पदार्थों का प्रक्षेप करने वाले होता वा यजमान ! आप—इन (**वस्त्राणि**) कपास, ऊन और रेशम के वस्त्रों को (**वसिष्व**) धारण करो । (**सः**) सो आप होता वा यजमान (**ह**) निश्चय से (**नः**) हमारे (**इमम्**) इस (**अध्वरम्**) तीन प्रकार के यज्ञ में (**यज**) सम्मिलत होओ ॥ १ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः ।

भावार्थ—इस मन्त्र में श्लेष अलंकार है ॥

यजमानो बहून् हस्तक्रियाप्रत्यक्षान् विदुषो वरित्वैतान् सत्कृत्यानेकानि कार्याणि संसेध्य सुखं प्राप्नुयात् प्रापयेच्च । नहि कश्चित् खलूत्तमपुरुष-संप्रयोगेण विना किञ्चिदपि व्यवहारपरमार्थकृत्यं साद्धुं शक्नोति ॥ १ ॥

यजमान—हस्तक्रिया को प्रत्यक्ष करने वाले बहुत विद्वानों का वरण करके, इनका सत्कार कर, अनेक कार्यों को सिद्ध करके सुख को प्राप्त करे और करावे । कोई व्यक्ति उत्तम पुरुषों के संग के विना किसी भी व्यवहार और परमार्थ के कार्य को सिद्ध नहीं कर सकता है ॥ १ ॥

भाष्यसार—**होता और यजमान के गुण**—होता और यजमान बल, पराक्रम और अन्न के पालक होते हैं । वे अग्नि के द्वारा अन्तरिक्ष में पदार्थों का प्रक्षेप करने वाले होते हैं अर्थात् यज्ञ करते हैं । वे कपास, ऊन और रेशम के वस्त्रों को धारण करते हैं । वे देवपूजा, संगतिकरण और दान रूप तीन प्रकार के यज्ञ में निमन्त्रण पर सम्मिलित होते हैं ॥ १ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में श्लेष अलंकार से 'मियेध्य' पद से होता और यजमान अर्थ का ग्रहण होता है ॥ १ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—'वरुण से अग्नि की स्तुति की प्रेरणा प्राप्त करके शुनःशेप ने इन अगले दो सूक्तों से अग्नि की स्तुति की । हे यज्ञ के योग्य, अन्नों के पालक अग्ने ! आच्छादक तेजों से ढको अर्थात् तेज से प्रज्वलित हो । क्योंकि तुम प्रज्वलित हो, इसलिए वैसे तुम हमारे इस यज्ञ को सिद्ध करो ।"

इस मन्त्र की अनुभूमिका में सायण ने पूर्वाग्रहवश ही यह लिखा है, कि वरुण से प्रेरित होकर शुनःशेप ने अग्नि की स्तुति की । मन्त्रों में कहीं भी ऐसा वर्णन नहीं है । मन्त्र का देवता 'अग्नि' है । यद्यपि सायण ने इसकी व्याख्या नहीं की है । मन्त्र में वर्णित विषय को देखकर स्पष्ट होता है कि यहाँ 'अग्नि' से भौतिकाग्नि का ग्रहण सम्भव नहीं है । मन्त्र में वस्त्रों को धारण करने और यज्ञ करने की बात का वर्णन है । मन्त्र में अग्नि के दो विशेषण हैं—१ ऊर्जां पते=अन्न बलादि का पालक तथा २ मियेध्य=अग्नि में हवन करके अन्तरिक्ष में पदार्थों को पहुँचाने वाला । भौतिक अग्नि का वस्त्रादि धारण करना कैसे सम्भव है और भौतिक अग्नि जड़ होने से स्वयं कैसे यज्ञ करेगा ? सायण ने मन्त्र के रहस्य को बिल्कुल भी नहीं समझा है । जड़ भौतिकाग्नि हमारी प्रार्थना को सुनेगा और तदनुसार कार्य करेगा, यह नितान्त कल्पना मात्र है । ऐसी मिथ्या व्याख्याओं को पढ़कर ही पाश्चात्य विद्वान् यह आक्षेप करते हैं कि प्राचीन आर्य लोग जड़-देवों की उपासना करते थे ।

महर्षि ने यहाँ 'अग्नि' का अर्थ 'होता और यजमान' किया है । और यह अर्थ शास्त्र-सम्मत है । निरुक्त में 'अग्नि' पद के निर्वचन करते हुए लिखा है—"अग्निः कस्मात् ? अग्रणीर्भवति । अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते ।" (निरु० ७ । १४) अर्थात् जो आगे ले जाए अथवा यज्ञादि श्रेष्ठ कार्यों में सब से आगे हों, उन विद्वान्, राजा, होता, सेनापति आदि को भी 'अग्नि' कहते हैं । मन्त्र में 'अग्नि' के ऊर्जांपति=अन्न का पालक और मियेध्य=पदार्थों को यज्ञ के द्वारा अन्तरिक्ष में पहुँचाने वाला विशेषण भी होता व यजमान के लिए ही संगत हैं । क्योंकि वे ही यज्ञ के द्वारा उत्तमोत्तम पदार्थों को अन्तरिक्ष में पहुँचाकर वायु व

---

१. वरुणेन अग्निस्तुतौ प्रेरितः शुनःशेपः एतदादिसूक्तद्वयेन अग्निमस्तौत् । हे मियेध्य मेधस्य यज्ञस्य योग्य ! ऊर्जांपते अन्नानां पालकाग्ने ! वस्त्राणि आच्छादकानि तेजांसि वसिष्व आच्छादय । प्रज्वलितस्तेजसा भवेत्यर्थः । हि यस्मात् प्रज्वलितस्तस्मात् सः तादृशस्त्वं नः अस्मदीयम् इमम् अध्वरं यज निष्पादय ॥ (सायणः)

जल की शुद्धि द्वारा कीटाणुओं और वर्षा के अवरोधक तत्त्वों को नष्ट करके अन्न-बलादि का पालन करते हैं। सायण ने न तो इस यज्ञिय-विद्या को ही समझा और न मन्त्रस्थ पदार्थों को। 'मियेध्य' पद का 'डुमिञ् प्रक्षेपणे' धात्वर्थ का परित्याग करके 'यज्ञ के योग्य' अर्थ कल्पना के आश्रय से ही किया है। यज्ञ में वस्त्र-धारण करना तथा हमारे यज्ञों का सम्पादन करना होता व यजमान के कार्य हैं, न कि भौतिकाग्नि के। महर्षि ने समस्त मन्त्रार्थ की संगति बहुत ही वैज्ञानिक तथा शास्त्रीय आधार पर की है॥ १॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **अग्निः** (**यजमानः**) देवता। निचृद्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते॥

फिर वह यजमान कैसा है, यह उपदेश किया जाता है॥

नि नो होता वरेण्यः सदा यविष्ठ मन्मभिः। अग्ने दिवित्मता वचः॥ २॥

नि। नः। होता। वरेण्यः। सदा। यविष्ठ। मन्मऽभिः। अग्ने। दिवित्मता। वचः॥ २॥

पदार्थः—(**नि**) नितराम् (**नः**) अस्माकम् (**होता**) सुखदाता (**वरेण्यः**) वरितुमर्हः। **वृञ एण्यः**। उ० ३। ९६। अनेनैण्यप्रत्ययः। (**सदा**) सर्वस्मिन्काले (**यविष्ठ**) अतिशयेन बलवान् यजमान। (**मन्मभिः**) मन्यन्ते जानन्ति जना यैः पुरुषार्थैस्तैः। अत्र **कृतो बहुलम्** इति वार्त्तिकेन। **अन्येभ्योपि दृश्यन्ते**। अ० ३। २। ७५। अनेन करणे मनिन् प्रत्ययः। (**अग्ने**) विज्ञानादिप्रसिद्धस्वरूप। (**दिवित्मता**) दिवं प्रकाशमिन्धते यैः प्रशस्तैः स्वगुणैस्तद्वता। अत्र दिव्शब्दोपपदादिन्धधातोः **कृतो बहुलम्** इति करणकारके क्विप् ततः प्रशंसायां मतुप्। (**वचः**) उच्यते यत् तत्॥ २॥

प्रमाणार्थ—(**वरेण्यः**) यहां 'वृञ एण्यः' (३। ९६) इस उणादिसूत्र से 'वृञ्' धातु से एण्य प्रत्यय है (वृञ्+एण्य। वर्+एण्य+सु=वरेण्यः)। (**मन्मभिः**) यहां 'कृतो बहुलम्' (अ० ३। ३। ११३) इस वार्त्तिक से 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (अ० ३। २। ७५) इस सूत्र से करण कारक में 'मनिन्' प्रत्यय है। (**दिवित्मता**) यहां 'दिव्' शब्द उपपद वाले 'इन्ध्' धातु से 'कृतो बहुलम्' (अ० ३। १। ११३) इस वार्त्तिक से करण कारक में 'क्विप्' प्रत्यय है, और उससे प्रशंसा अर्थ में 'मतुप्' प्रत्यय है। (दिव्+इन्ध्+क्विप्। दिव्+इध्+सु=दिवित्+मतुप्+सु=दिवित्मान्। दिवित्मत्+टा=दिवित्मता)॥ २॥

अन्वयः—हे यविष्ठाग्ने यजमान यो मन्मभिः सह वर्तमानो वरेण्यो होता नोऽस्माकं दिवित्मता वचः सङ्गमयति स त्वया सदा संगन्तव्यः॥ २॥

सपदार्थान्वयः—हे **यविष्ठ** अतिशयेन बलवन् **अग्ने** विज्ञानादिप्रसिद्धस्वरूप **यजमान**! **यो मन्मभिः** मन्यन्ते जानन्ति जना यैः पुरुषार्थैस्तैः **सह वर्त्तमानो वरेण्यः** वरितुमर्हः **होता** सुखदाता **नः**=**अस्माकं दिवित्मता** दिवं=प्रकाशमिन्धते यैः प्रशस्तैः स्वगुणैस्तद्वता **वचः** उच्यते यत् तत् **नियज**=**नितरां संगमयति, स त्वया सदा** सर्वस्मिन् काले **संगन्तव्यः**॥ २॥

भावार्थः—अत्र पूर्वस्मान्मन्त्रात् 'यज' इत्यस्यानुवृत्तिः॥ मनुष्यैः सज्जनसाहित्येन सकल-

भाषार्थ—हे (**यविष्ठ**) अत्यन्त बलवान् (**अग्ने**) विज्ञानादि प्रसिद्ध स्वरूप वाले यजमान! जो (**मन्मभिः**) विविध पुरुषार्थ से युक्त (**वरेण्यः**) वरण करने योग्य (**होता**) सुख का दाता पुरुष है, वह (**दिवित्मता**) प्रकाश को दीप्त करने वाले अपने प्रशस्त गुणों से (**नः**) हमारी (**वचः**) वाणी को (**नियज**) सर्वथा मिलाता है, उसका तू (**सदा**) सदा संग कर॥ २॥

भावार्थ—यहां पूर्व मन्त्र से 'यज' इस पद की अनुवृत्ति है। मनुष्य सज्जनों के संग से सकल

कामनासिद्धिः कार्या। नैतेन विना कश्चित् सुखी भवितुमर्हतीति ॥ २ ॥

कामनाओं की सिद्धि करें। इसके विना कोई सुखी नहीं हो सकता है ॥ २ ॥

भाष्यसार—**यजमान कैसा है**—यजमान अत्यन्त बलवान् और विज्ञानादि प्रसिद्ध स्वरूप वाला होता है। जो विविध पुरुषार्थ से युक्त, वरण करने योग्य, सुख का दाता पुरुष होता है, वह ज्ञान प्रकाश को दीप्त करने वाले अपने प्रशस्त गुणों से हमारी वाणी को मिलाता है, अर्थात् उन गुणों से संयुक्त करता है। उक्त यजमान ऐसे विद्वान् पुरुष का संग करता है। इससे वह सकल कामनाओं की सिद्धि करता है। विद्वान् के संग के विना कोई भी सुखी नहीं हो सकता है ॥ २ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे सदा अतिशय जवान अग्नि! तुम वरण करने योग्य हो। हमारे हवन को सिद्ध करने वाले होकर दीप्ति वाले वचनों से स्तुति किए जाते हुए बैठिए। तुम कैसे हो! ज्ञापक तेजों से युक्त हो।"

उपर्युक्त सायण-भाष्य में निम्नलिखित असंगतियाँ तथा अवैज्ञानिक बातें हैं—

(१) सायण के भाष्य से स्पष्ट है कि वे 'अग्नि' पद से भौतिक अग्नि को ही मानकर व्याख्या कर रहे हैं। परन्तु मन्त्रपठित अग्नि के विशेषणों तथा कार्यों से विरुद्ध होने से उनकी व्याख्या मिथ्या ही है।

(२) 'अग्नि' के लिए मन्त्र में 'होता' तथा 'यविष्ठ' पद पठित हैं। जिनका सायण ने क्रमशः 'होमनिष्पादक तथा अतिशय से जवान' अर्थ किया है। भौतिक अग्नि में ये दोनों विशेषताएँ नहीं हैं। यह जड़ अग्नि स्वयं हवन क्रिया का कर्त्ता नहीं हो सकता। हवन का कर्त्ता चेतनयजमानादि ही हो सकते हैं। और भौतिकाग्नि को 'सदा जवान' कहना भी पदार्थ-विद्या से अनभिज्ञता को प्रकट करना है कोई भी भौतिक पदार्थ सदा युवावस्था में नहीं रह सकता। भौतिकाग्नि को तो हम साक्षात् देखते हैं। कि वह शान्त भी हो जाता है। अग्नि के प्रज्वलित करने के साधन काष्ठादि के अभाव में अग्नि शान्त हो जाता है। फिर वह सदा जवान कैसे? निरुक्त में 'युवा' पद का अर्थ किया है—'युवा-प्रयौति कर्माणि' (निरु० ४। १९) और धातुपाठ में 'यु मिश्रणेऽमिश्रणे च' (अदा०) धातु पठित है। जिनके अनुसार युवा वह है जो अपने सामर्थ्य से मिश्रण तथा अमिश्रण करना जानता हो। यह कार्य-चेतन यजमानादि से भिन्न भौतिकाग्नि कदापि नहीं कर सकता। यजमान व होता ही यज्ञ में हवन करने योग्य पदार्थों का यथायोग्य मिश्रण करके यज्ञादि श्रेष्ठ कार्यों को करते हैं।

(३) सायण के भाष्य में यह भी दोष है कि उन्होंने 'सदा' पद को 'यविष्ठ' के साथ रखा है। महर्षि ने इसको क्रिया के साथ रखकर यह स्पष्ट किया है कि यज्ञादि श्रेष्ठ कार्यों को सदा करना चाहिए, उनमें कभी अनध्याय नहीं करना चाहिए। 'यविष्ठ' के साथ 'सदा' पद की सायण के पदार्थानुसार कोई संगति भी नहीं है।

(४) सायण-भाष्य के इस अर्थ से तो किसे आश्चर्य न होगा कि अग्नि दीप्तियुक्त वचनों से स्तुति किया जाता हुआ बैठता है। यद्यपि मन्त्र में 'निषीद' क्रिया पठित नहीं है, पुनरपि सायण ने इसे जोड़कर कैसा अनर्थ किया है। क्या भौतिकाग्नि हमारे वचनों से प्रदीप्त हो सकता है? क्या यह अग्नि स्तुति से हमारे वचनानुसार बैठ सकता है? यह सृष्टि-क्रम को न जानने से प्रमत्त-प्रलाप मात्र ही कहना

---

१. सदा यविष्ठ सर्वदा युवतम हे अग्ने वरेण्यः वरणीयस्त्वं नः अस्माकं होता होमनिष्पादको भूत्वा दिवित्मता दीप्तिमता वचः वचसा स्तूयमानः सन् निषीद इति शेषः। कीदृशस्त्वम्। मन्मभिः ज्ञापकैः तेजोभिर्युक्त इति शेषः॥ (सायणः)

चाहिए महर्षि के भाष्य में पहले मन्त्र से 'यज' क्रिया की अनुवृत्ति करके कैसा सुसंगत अर्थ किया है ? यह पठनीय ही है।

(५) मन्त्र में एक पद है—'मन्मभिः'। जिसका अर्थ सायण-भाष्य में 'ज्ञापकैः=बताने वालों से' किया है। इस पद की भी संगति यजमानादि के साथ ही होती है। वह ज्ञान-प्रकाश से दूसरों को सन्मार्ग बताता है। वह दूसरों को यज्ञादि पुरुषार्थ करके श्रेष्ठ मार्ग को दिखाता है। भौतिकाग्नि में यह गुण कदापि नहीं हो सकता।

(६) इस मन्त्र के 'यविष्ठ' पद की व्याख्या में स्कन्दस्वामी लिखते हैं—"अग्निर्हि जीर्णोऽपीन्धनं प्राप्य पुनस्तरुणो भवति।" अर्थात् अग्नि इन्धन को प्राप्त होकर फिर जवान हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि भौतिक अग्नि सदा जवान नहीं हो सकता। सायण ने यहाँ धात्वर्थ की उपेक्षा करके रूढ़ अर्थ करके यह दोष किया है। इस प्रकार सायण-कृत व्याख्या समस्त ही असंगत है॥ २॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **अग्निः** (**यजमानः**) देवता। प्रतिष्ठागायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते॥

फिर वह यजमान कैसा है, यह उपदेश किया जाता है॥

आ हि ष्मा सूनवे पितापिर्यजत्यापये। सखा सख्ये वरेण्यः॥ ३॥

आ। हि। स्म। सूनवे। पिता। आपिः। यजति। आपये। सखा। सख्ये। वरेण्यः॥ ३॥

पदार्थः—(**आ**) अभितः (**हि**) निश्चये (**स्म**) स्पष्टार्थे। अत्र "**निपातस्य च**" इति दीर्घः। (**सूनवे**) अपत्याय (**पिता**) पालकः (**आपिः**) सुखप्रापकः। अत्र 'आप्लृ व्याप्तौ' अस्मात्। **इणजादिभ्यः**। अ० ३। ३। १०८ इति [वार्तिकेन] इण् प्रत्ययः। (**यजति**) संगच्छते (**आपये**) सद्गुणव्यापिने (**सखा**) सुहृत् (**सख्ये**) सुहृदे (**वरेण्यः**) सर्वत उत्कृष्टतमः॥ ३॥

प्रमाणार्थ—(**स्म**) यहां 'निपातस्य च' (अ० ६। ३। १३५) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—स्मा। (**आपिः**) यहां 'आप्लृ व्याप्तौ' इस धातु से 'इणजादिभ्यः' (अ० ३। ३। १०८) इस वार्त्तिक सूत्र से 'इण्' प्रत्यय है (आप्+इण्+सु=आपिः)॥ ३॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा पिता सूनवे सखा सख्य आपिरापय आयजति तथैवान्योऽन्यं संप्रीत्या कार्याणि संसाध्य हि ष्म सर्वोपकाराय यूयं संगच्छध्वम्॥ ३॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः! यथा **वरेण्यः** सर्वत उत्कृष्टतमः **पिता** पालकः **सूनवे** अपत्याय, **सखा** सुहृत् **सख्ये** सुहृदे, **आपिः** सुखप्रापकः **आपये** सद्गुणव्यापिने, **आयजति** अभितः संगच्छते, **यथैवान्योऽन्यं संप्रीत्या कार्याणि संसाध्य हि** निश्चयेन **स्म सर्वोपकाराय यूयं संगच्छध्वम्**॥ ३॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो! जैसे (**वरेण्यः**) सब से उत्तम (**पिता**) पालन करने वाला पिता (**सूनवे**) अपने सन्तान के लिये, (**सखा**) मित्र (**सख्ये**) मित्र के लिये, (**आपिः**) सुख प्राप्त कराने वाला विद्वान् (**आपये**) श्रेष्ठ गुणों में व्यापक विद्यार्थी के लिये (**आयजति**) सब ओर से संगत=अनुकूल होता है, वैसे ही परस्पर उत्तम प्रीति से कार्यों को सिद्ध करके (**हि**) निश्चय से (**स्म**) स्पष्ट सब के उपकार के लिये संघटित होओ॥ ३॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथा सन्तानसुखसम्पादकः कृपायमाणः पिता, मित्राणां सुखप्रदः सखा, विद्यार्थिने विद्याप्रदो विद्वाननुकूलो वर्त्तते; तथैव सर्वे मनुष्याः सर्वोपकाराय सततं प्रयतेरन्नितीश्वरोपदेशः ॥ ३ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। जैसे सन्तान के लिये सुखों का संपादन करने वाला कृपालु पिता, मित्रों को सुख प्रदान करने वाला सखा, विद्यार्थी के लिये विद्या प्रदान करने वाला विद्वान् अनुकूल व्यवहार करता है; वैसे ही सब मनुष्य सब के उपकार के लिये निरन्तर प्रयत्न करें यह ईश्वर का उपदेश है ॥ ३ ॥

भाष्यसार—**यजमान आदि कैसे हों**—जैसे पिता अपने सन्तान के लिये, मित्र अपने मित्र के लिये, विद्वान् विद्यार्थी के लिये सर्वथा अनुकूल रहता है, वैसे ही यजमान आदि सब मनुष्य परस्पर प्रीति से कार्यों को सिद्ध करें और स्पष्ट रूप में सब के उपकार के लिये संघटित होवें ॥ ३ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है, अतः वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि जैसे पिता अपने सन्तान के लिये अनुकूल रहता है वैसे सब मनुष्य परस्पर अनुकूल रहें। परस्पर प्रीति से सब कार्यों को सिद्ध करें ॥ ३ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अग्नि ! तुम वरण करने योग्य हो। तुम पितृस्थानीय होकर पुत्रस्थानीय मुझे सर्वथा अभीष्ट दो। जैसे एक बन्धु दूसरे बन्धु को और प्रिय मित्र अपने मित्र को सर्वथा देता है।"

इस मन्त्र में 'अग्नि' को वैसे ही अभीष्ट (सुख) प्रदान करने के लिए कहा गया है, जैसे पिता पुत्र का, विद्वान्-गुरु शिष्य का, तथा मित्र अपने मित्र का अभीष्ट सम्पादन करता है। भौतिक अग्नि अचेतन है, उसमें यह ज्ञान कहाँ है कि क्या अभीष्ट है और क्या अभीष्ट नहीं है। और मन्त्र में जो पिता-पुत्र, मित्र तथा अध्यापक-शिष्य की उपमाएँ दी हैं, उनके साथ भौतिकाग्नि की क्या समानता ? अतः सायण की व्याख्या असंगत है। महर्षि ने यहाँ स्पष्ट रूप से 'अग्नि' का अर्थ 'यजमान' किया है। यह अर्थ मन्त्र-पठित 'आयजति' क्रिया से भी संगत है। जड़ अग्नि के साथ पिता पुत्र, बन्धु, मित्रादि का सम्बन्ध कदापि सम्भव भी नहीं है ॥ ३ ॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **अग्निः** (यजमानः) देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

पुनस्ते कथं वर्त्तेरन्नित्युपदिश्यते ॥

फिर वे मनुष्य कैसे वर्ताव करें, यह उपदेश किया जाता है ॥

आ नो बर्हीरिशादसो वरुणो मित्रो अर्यमा । सीदन्तु मनुषो यथा ॥ ४ ॥

आ । नः । बर्हिः । रिशादसः । वरुणः । मित्रः । अर्यमा । सीदन्तु । मनुषः । यथा ॥ ४ ॥

पदार्थः—(आ) समन्तात् (नः) अस्माकं (बर्हिः) सर्वसुखप्रापकमासनम्। **बर्हिरिति पदनामसु पठितम्।** निघं० ५ । २। (रिशादसः) रिशानां हिंसकानां रोगाणां वाऽदस उपक्षयितारः

१. हे अग्ने वरेण्यः वरणीयः पिता पितृस्थानीयः त्वं सूनवे पुत्रस्थानीयाय मह्यम् अभीष्टं देहीति शेषः। हि ष्म इति निपातद्वयं सर्वथेत्यमुमर्थमाचष्टे। अभीष्टदाने दृष्टान्तद्वयमुच्यते। यथा आपिः बन्धुः आपये बन्धवे आयजति हि स्म। सर्वथा ददातीति शेषः। सखा प्रियः सख्ये प्रियाय अभीष्टं सर्वथा ददाति तथा त्वमपि देहि॥ (सायणः)

(**वरुणः**) सकलविद्यासु वरः (**मित्रः**) सर्वसुहृत् (**अर्यमा**) न्यायाधीशः (**सीदन्तु**) समासताम् (**मनुषः**) मन्यन्ते जानन्ति ये सभ्या मर्त्यास्ते। अत्र **मनधातोर्बाहुलकादौणादिक उसिः प्रत्ययः**। (**यथा**) येन प्रकारेण ॥ ४ ॥

प्रज्ञाणार्थ—(**बर्हिः**) 'बर्हिः' यह पद निघण्टु (५। २) में पद-नामों में पढ़ा गया है। पद का अर्थ ज्ञान, गमन और प्राप्ति है। अतः यहां सब सुखों का प्रापक अर्थ का ग्रहण होता है। (**मनुषः**) यहां 'मन' धातु से औणादिक 'उसि' प्रत्यय है (मन्+उस्=मनुः। मनुष्+जस्=मनुषः) ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा रिशादसो दुष्टहिंसकाः सभ्या वरुणोमित्रोऽर्यमा मनुषो नो बर्हिः सीदन्ति तथा भवन्तोऽपि सीदन्तु ॥ ४ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! यथा येन प्रकारेण **रिशादसः** रिशानां=हिंसकानां रोगाणां वा दस=उपक्षयितारः **दुष्टहिंसका सभ्या वरुणः** सकलविद्यासु वरः **मित्रः** सर्वसुहृत् **अर्यमा** न्यायाधीशः **मनुषः** मन्यन्ते=जानन्ति ये सभ्या मर्त्यास्ते **नः** अस्माकं **बर्हिः** सर्वसुखप्रापकमासनं **सीदन्ति, तथा भवन्तोऽपि [आ] सीदन्तु** समन्तात् समासताम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! (**यथा**) जिस प्रकार से (**रिशादसः**) हिंसक दुष्ट जनों वा रोगों के विनाशक सभ्य लोग, (**वरुणः**) सब विद्याओं में कुशल (**मित्रः**) सबका मित्र (**अर्यमा**) न्यायाधीश और (**मनुषः**) विचारशील सभ्य जन (**नः**) हमारे (**बर्हिः**) सब सुखों के प्रापक आसन पर (**सीदन्ति**) बैठते हैं, वैसे आप भी (**आसीदन्तु**) बैठिये ॥ ४ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः। यथा सभ्यतया सभाचतुराः सभायां वर्त्तेरन् तथा सर्वैर्मनुष्यैः सदा वर्त्तितव्यमिति ॥ ४ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमा अलंकार है। जैसे सभ्यता से सभाचतुर लोग सभा में वर्ताव करते हैं, वैसे सब मनुष्य सदा वर्ताव करें ॥ ४ ॥

भाष्यसार—मनुष्य कैसे वर्ताव करें—जैसे दुष्टजनों वा रोगों के विनाशक सभ्य लोग, सब विद्याओं में कुशल तथा सबके मित्र न्यायाधीश और विचारशील सभ्य जन हमारे आसन पर बैठते हैं, वैसे ही सब मनुष्य आसन पर बैठें अर्थात् जैसे सभाचतुर न्यायाधीश सभा में सभ्यता से व्यवहार करते हैं, वैसे ही सब मनुष्य सदा व्यवहार करें ॥ ४ ॥

अलङ्कार—इस मन्त्र में 'यथा' पद उपमा-वाचक है अतः उपमा अलंकार है। उपमा यह है कि जैसे सभाचतुर लोग सभा में वर्ताव करते हैं, वैसे ही सब मनुष्य वर्ताव करें ॥ ४ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अग्ने ! वरुणादि देव तुम्हारे बन्धु हैं। तेरे से प्रेरणा प्राप्त करके हिंसकों का भक्षण करते हुए हमारे यज्ञ में बैठें या प्राप्त हों। जैसे प्रजापति के यज्ञ में बैठते हैं।"

भौतिक अग्नि का प्रेरणा करना तथा इसके वरुणादि बन्धु कहना, दोनों ही बातें सायण की सृष्टिक्रम से विरुद्ध हैं। ये वरुणादि देव कौन हैं ? मन्त्र के देवता 'अग्नि' का क्या अर्थ है ? इन दोनों बातों को भ्रान्तिवश सायण ने नहीं समझा। मन्त्र में वरुणादि देवों का विशेषण है—'रिशादसः'। जिसका सायण ने भी यह अर्थ किया है—हिंसा करने वालों का भक्षण अर्थात् विनाश करने वाले। और ये हमारे बर्हिः=यज्ञ में बैठते हैं अथवा प्राप्त होते हैं। इन दोनों वरुणादि की विशेषताओं से स्पष्ट

---

१. हे अग्ने ! वरुणादयो देवाः त्वद्बन्धवः त्वया प्रेरिताः रिशादसः हिंसकानदन्तः नः अस्मदीयं बर्हिः यज्ञम् आसीदन्तु तत्र दृष्टान्तः। यथा मनुषः प्रजापतेर्यज्ञमासीदन्ति तद्वत् ॥ (सायणः)

है कि वे कोई अलौकिक कल्पित देव नहीं हैं। और नहीं किसी ने ऐसे देवों को हिंसकों को मारते हुए कभी देखा है और नहीं यज्ञ में बैठे हुए। महर्षि ने वरुणादि देवों के विद्वान्, न्यायाधीश, तथा सभ्यजन आदि अर्थ किए हैं। यही न्यायालयादि स्थानों में बैठकर हिंसकों को दण्ड देते हैं और हमें नानाविध सुख प्रदान करते हैं। अतः महर्षि कृत इस मन्त्रार्थ की समस्त मन्त्रार्थ के साथ पूर्ण रूप से संगति है।

आचार्य-सायण ने 'बर्हिः' का अर्थ 'यज्ञ' करके इस पद का बहुत ही संकुचित अर्थ किया है। निरुक्त में इस पद की व्याख्या में लिखा है—''बर्हिः परिबर्हणात्।'' (निरुक्त ८। ६) अर्थात् इस पद में वृद्ध्यर्थक 'बृह' धातु है। सुखों की वृद्धि तभी हो सकती है, जब हिंसक दुष्टों को दण्ड तथा रोगाणु आदि का नाश हो। अतः इसके 'न्यायालयादि के उच्चपद' भी अर्थ हैं। जिसको सायण ने नहीं समझा। न्यायालयादि के बिना हिंसकों का अदन=विनाश कभी सम्भव नहीं है।

महर्षि के वरुण, अर्यमादि पदों के अर्थ शास्त्रसम्मत भी हैं। न्यायाधीश अथवा सभाध्यक्षादि में कैसे गुण होने चाहिए? इसके लिए भगवान् मनु ने बहुत ही स्पष्ट लिखा है—

यस्मादेवं सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा॥ (मनु० ७। ५)

अर्थात् राजा या सभाध्यक्ष वरुणादि देवों के अंशों से निर्मित है। इसलिए वह सबको अपने प्रभाव से दबा लेता है। इससे स्पष्ट है कि राजा में कौन-कौन गुण होने चाहिए? उनका निर्देश (मनु० ७। ४) श्लोक में इन्द्र, यम, वरुणादि शब्दों से निर्देश किया गया है। ये ही गुणविशिष्ट पुरुष न्यायाचरण से दुष्टों की हिंसा और सज्जनों की रक्षा करते हैं। सायण के कल्पित-देव दुष्टों के हिंसन में कदापि समर्थ नहीं हैं॥ ४॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **अग्निः** (यजमानः) देवता। विराड्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनः स कथं वर्त्तेत, इत्युपदिश्यते॥

फिर वह होता वा यजमान कैसे वर्ताव करे, यह उपदेश किया जाता है॥

पूर्व्यं होतरस्य नो मन्दस्व सख्यस्य च। इमा उषु श्रुधी गिरः॥ ५॥

पूर्व्यं। होतः। अस्य। नः। मन्दस्व। सख्यस्य। च। इमाः। ऊम् इति। सु। श्रुधि। गिरः॥५॥

पदार्थः—(**पूर्व्य**) पूर्वैर्विद्वद्भिः कृतो मित्रः। अत्र **पूर्वैः कृतमिनियौ च॥** अ० ४। ४। १३४। अनेन पूर्वशब्दाद्यः प्रत्ययः। (**होतः**) यज्ञसंपादक (**अस्य**) वक्ष्यमाणस्य (**नः**) अस्माकम् (**मन्दस्व**) मोदस्व (**सख्यस्य**) सखीनां कर्मणः (**च**) पुत्रादीनां समुच्चये (**इमाः**) प्रत्यक्षमनुष्ठीयमानाः (**उ**) वितर्के (**सु**) शोभनार्थे (**श्रुधि**) श्रृणु श्रावय वा। अत्रैकपक्षेऽन्तरगतोऽर्थो **बहुलं छन्दसि इति** श्नोर्लुक् **श्रुशृणुपृकृवृभ्यः इति हेर्ध्यादेशश्च।** (**गिरः**) वेदविद्यासंस्कृता वाचः॥ ५॥

प्रमाणार्थ—(**पूर्व्य**) यहां 'पूर्वैः कृतमिनियौ 'च'' (अ० ४। ४। १३४) इस सूत्र से 'पूर्व' शब्द से 'य' प्रत्यय है (पूर्व+य+सु=पूर्व्यः) (**श्रुधि**) यहां एक पक्ष में 'णिच्' प्रत्यय का अर्थ अन्तर्गत है और 'बहुलं छन्दसि' (अ० २। ४। ७३) इस सूत्र से 'श्नु' प्रत्यय का लुक् और 'श्रुशृणुपृकृवृभ्यः' (अ० ६। ४। १०२) इस सूत्र से 'हि' के स्थान में 'धि' आदेश है॥ ५॥

अन्वयः—हे पूर्व्य होतर्यजमान वा त्वं नोऽस्माकमस्य सख्यस्य मन्दस्व कामयस्व उ—इति वितर्के नोऽस्माकमिमा वेदविद्या संस्कृता गिरः सुश्रुधि सुष्ठु शृणु श्रावय वा॥ ५॥

सपदार्थान्वयः—हे **पूर्व्य** पूर्वैर्विद्वद्भिः कृतो मित्रस्तत्सम्बुद्धौ **होतः** यज्ञसम्पादक **यजमान वा** ! **त्वं नः**=अस्माकमस्य वक्ष्यमाणस्य **सख्यस्य** सखीनां कर्मणः **च** पुत्रादीनां **मन्दस्व**=कामयस्व मोदस्व **उ** इति वितर्के **नः**=अस्माकमिमाः प्रत्यक्षमनुष्ठीयमानाः **वेदविद्यासंस्कृता गिरः** वाचः **सुश्रुधि**=सुष्ठु शृणु श्रावय वा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—हे (**पूर्व्य**) पूर्व विद्वानों के मित्र (**होतः**) होता वा यजमान ! आप—(**नः**) हमारे (**अस्य**) इस (**सख्यस्य**) मित्र-कर्म की (**च**) और पुत्र आदि की (**मन्दस्व**) कामना करो, उनसे प्रसन्न होओ और (**उ**) विचार पूर्वक (**नः**) हमारी (**इमा**) इन वेदविद्या से पवित्र (**गिरः**) वाणियों को (**सुश्रुधि**) उत्तम रीति से सुनो वा सुनाओ ॥५॥

भावार्थः—मनुष्यैः सर्वेषु मनुष्येषु मैत्रीं कृत्वा सुशिक्षाविद्ये श्रुत्वा विद्वद्भिर्भवितव्यम् ॥ ५॥

भावार्थ—मनुष्य—सब मनुष्यों में मैत्री करके सुशिक्षा और विद्या को सुनकर विद्वान् बनें।

भाष्यसार—**होता वा यजमान कैसा वर्ताव करे**—पूर्व विद्वानों का मित्र होता वा यजमान हमारे मित्र-कर्म की और पुत्रादि की कामना करे तथा उनसे प्रसन्न होवे। वेदविद्या से पवित्र हुई हमारी वाणियों को उत्तम रीति से सुने तथा सुनावे ॥ ५ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे हमारे से पहले उत्पन्न होम-निष्पादक अग्निदेव ! हमारे प्रारम्भ किए इस यज्ञ और हमारे पर अनुग्रह की सिद्धि के लिए तुम प्रसन्न होओ और हमारी स्तुतिरूप वाणियों को सुनिए।"

आचार्य सायण के भाष्य की परस्पर विरोधी बातें देखिए—इस मन्त्र की व्याख्या में अग्नि को उत्पन्न हुआ माना है, और इसी सूक्त के ६ वें मन्त्र में अमृत-मरणरहित अग्नि लिखा है। जो वस्तु उत्पन्न होती है वह मरणरहित कदापि नहीं हो सकती। 'यद् दृष्टं तन्नष्टम्'—इस नियम को समझाते हुए ही श्रीमद्भगवद्गीता में सत्य कहा है—

जातस्य हि ध्रुवं मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ॥ (गीता)

अर्थात् जो उत्पन्न हुआ है, उसकी मृत्यु=विनाश अवश्य होता है, और जो मृत्यु को प्राप्त हुआ है, उसका जन्म अवश्य होता है। इसलिए अग्नि को उत्पन्न तथा मरण-रहित कहना परस्पर विरुद्ध होने से मिथ्या है। इसी प्रकार अग्नि को सायण ने हवन करने वाला, हमारे पर कृपा करने वाला, प्रसन्न होने वाला तथा हमारी स्तुतियों को सुनने वाला माना है। ये गुण भौतिक अचेतन अग्नि के कदापि सम्भव नहीं हैं। अचेतन तथा चेतन के गुणों को न जानने से सायण ने भ्रान्तिपूर्ण भाष्य किया है। और मन्त्र के देवता की व्याख्या न करने से मन्त्रों की व्याख्या प्रकरण-विरुद्ध की है।

महर्षि-दयानन्द ने इस मन्त्र के देवता 'अग्नि' का अर्थ 'यजमान' किया है। विद्वान् यजमान के साथ मन्त्र के समस्त पदों की संगति होने से मन्त्रार्थ में कहीं विरोध नहीं रहता। महर्षि ने अपने पदार्थ में प्रमाण पूर्वक व्याख्या की है। 'पूर्व्य' पद में 'पूर्वैः कृतम्०' (अ० ४। ४। १३४) सूत्र से 'यः' प्रत्यय है। जिसके अनुसार अग्नि=यजमान अपने से पूर्व विद्वानों द्वारा किए हुए कर्मों का सम्यगनुष्ठान करने से मित्र होना चाहिए और सख्य=विद्वानों के सम्पर्क से होने वाले यज्ञादि कर्म की कामना करने वाला और वैदिक स्तुतियों को उत्तमरीति से यजमान स्वयं सुने तथा दूसरों को सुनाए। इस प्रकार आचार्य-सायण के भाष्य में जहाँ असंगत तथा काल्पनिक व्याख्या है, वहाँ सृष्टि-नियमों से भी विरोध है ॥ ५ ॥ ●

---

१. हे पूर्व्य अस्मादेः पूर्वमुत्पन्न होतः होमनिष्पादकाग्ने ! नः अस्मदीयस्य अस्य प्रवर्त्तमानस्य यज्ञस्य सख्यस्य च अस्मदनुग्रहस्य च सिध्यर्थं मंदस्व त्वं हृष्टो भव। इमाः अस्माभिः प्रयुज्यमानाः गिरः उ षु स्तुतिरूपा वाचोऽपि श्रुधि शृणु ॥ (सायणः)

आजीगर्तिः शुनःशेप ऋषिः । **अग्निः** (होता) देवता । निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनर्होत्रादिभिरस्माभिः किं कर्त्तव्यमित्युपदिश्यते ॥

फिर होता आदि हम लोग क्या करें, यह उपदेश किया जाता है ॥

यच्चिद्धि शश्वता तना देवंदेवं यजामहे । त्वे इद्धूयते हविः ॥ ६ ॥

यत् । चित् । हि । शश्वता । तना । देवम्ऽदेवम् । यजामहे । त्वे इति । इत् । हूयते । हविः ॥६॥

पदार्थः—(यत्) वक्ष्यमाणम् (चित्) अपि (हि) खलु (शश्वता) अनादिना कारणेन (तना) विस्तृतेन (देवंदेवम्) विद्वांसं विद्वांसं पृथिव्यादिं दिव्यगुणं पदार्थं पदार्थं वा । अत्र वचनव्यत्ययो वीप्सा च । (यजामहे) संगच्छामहे (त्वे) तस्मिन् (इत्) एव (हूयते) प्रक्षिप्यते (हविः) होतव्यं द्रव्यम् ॥ ६ ॥

प्रमाणार्थ—(देवंदेवम्) यहां वीप्सा=व्याप्ति अर्थ में द्विर्वचन है ॥

अन्वयः—हे नरो यथा वयं शश्वता तना कारणेनेदेव सहितमुत्पन्नं यं देवंदेवं चिदपि यजामहे संगच्छामहे त्वे हि खलु हविर्हूयते तथा यूयमपि जुहोत ॥ ६ ॥

सपदार्थान्वयः—हे नरः ! यथा वयं **शश्वता** अनादिना कारणेन **तना** विस्तृतेन **कारणेनेद्=एव सहितमुत्पन्नं यत्=यं** वक्ष्यमाणं **देवंदेवं** विद्वांसं विद्वांसं, पृथिव्यादिदिव्यगुणं पदार्थं पदार्थं वा **चित्=अपि यजामहे** संगच्छामहे **त्वे** तस्मिन् **हि=खलु हविः** होतव्यं द्रव्यं **हूयते** प्रक्षिप्यते, **तथा यूयमपि जुहोत** ॥ ६ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । मनुष्यैर्विद्वत्संगं कृत्वा अस्मिन् जगति यावन्तो दृश्यादृश्याः पदार्थाः सन्ति, ते सर्वेऽनादिना विस्तृतेन कारणेनोत्पद्यन्त इति बोध्यम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे हम लोग—(शश्वता) अनादि (तना) विस्तृत कारण से (इत्) ही युक्त उत्पन्न (यत्) जिस (देवंदेवम्) प्रत्येक विद्वान् वा पृथिवी आदि दिव्य गुणों से युक्त प्रत्येक पदार्थ का (चित्) भी (यजामहे) संग करते हैं, (त्वे) उसमें (हि) ही (हविः) होम करने योग्य द्रव्य (हूयते) डाला जाता है, —वैसे तुम भी होम करो ।

भावार्थ— इस मन्त्र में वाचकप्तोपमा अलंकार है । मनुष्यों को चाहिये कि वे—विद्वानों का संग करके, इस जगत् में जितने दृश्य-अदृश्य पदार्थ हैं, वे सब अनादि विस्तृत कारण से उत्पन्न होते हैं—ऐसा जानें ॥ ६ ॥

भाष्यसार—**होता आदि हमलोग क्या करें**—अनादि विस्तृत कारण से युक्त उत्पन्न हुये प्रत्येक विद्वान् का तथा दिव्यगुण से युक्त पृथिवी आदि प्रत्येक पदार्थ का हम संग करें । होम करने योग्य द्रव्यों का अग्नि में होम करें ॥ ६ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक इव आदि पद लुप्त है, अतः वाचकलुप्तोपमा अलंकार है । उपमा यह है कि जैसे होता आदि हम लोग विद्वानों तथा पृथिवी आदि दिव्य पदार्थों का संग करते हैं, वैसे सब मनुष्य करें ॥ ६ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अग्ने ! यद्यपि हम नित्य हवि से

---

१. हे अग्ने ! यच्चिद्धि यद्यपि शश्वता शाश्वतेन नित्येन तना विस्तृतेन हविषा देवं देवम् अन्यमन्यं वरुणेन्द्रादिरूपं नानाविधं देवताविशेषं यजामहे तथापि तत् हविः सर्वं त्वे इत् त्वय्येव हूयते । अतो देवतान्तरविषयो यागोऽपि त्वदीयैव सेवेत्यर्थः ॥ (सायणः)

वरुण, इन्द्रादि भिन्न-भिन्न देवताओं का हवन करते है; फिर भी वह सब हवि तुझ में ही हवन की जाती है। अतः दूसरे देवताओं का याग भी तेरा ही है।"

सायण-भाष्य के अनुसार अग्नि, वरुण, इन्द्रादि भिन्न-भिन्न देवता हैं, और उनके निमित्त हवन अग्नि में ही किया जाता है। ये देवता कौन हैं? यह यद्यपि सायण ने अपने भाष्य में स्पष्ट नहीं किया है, किन्तु सायणकृत मन्त्रों की व्याख्या से स्पष्ट है कि ये सभी देवता यज्ञ में हवि खाने आते हैं। प्रथम तो सायण ने इन देवताओं को यथार्थ रूप में समझा ही नहीं है। और यदि सायण के अनुसार वरुणादि देव रथारूढ़ होकर यज्ञ-प्रदेश में आते हैं, तो उनकी हवि अग्नि को ही क्यों दी जा रही है? जिसके निमित्त यज्ञ किया जाए, उसे ही देनी चाहिए। क्या इन देवों में भी कनिष्ठ-ज्येष्ठ भाव है? यथार्थ में मन्त्र में वरुणादि शब्द नहीं हैं। सायण ने 'देवं देवम्' पद के देव शब्द को ही नहीं समझा। उसे तो सर्वत्र 'देव' शब्द आते ही अपने काल्पनिक देवों की स्मृति आजाती थी, चाहे मन्त्र में उनकी संगति लगती हो या नहीं। और सायण ने 'हवि' को शाश्वत (नित्य) तथा विस्तृत माना है। 'हवि' विस्तृत तो हो सकती है, किन्तु नित्य कदापि नहीं हो सकती। नित्य की परिभाषा करते हुए शास्त्रकार लिखते हैं—

सदकारणवन्नित्यम् ॥ (वैशेषिक अ० ४। आ० १। सू० १)

जिसका कोई कारण न हो और वह सत्तावाला हो, उसे नित्य कहते हैं। जिस हवि को यजमान यज्ञ में तैयार करता है, वह कृत्रिम होने से नित्य कदापि नहीं हो सकती है। महर्षि ने 'यजामहे' क्रिया का धात्वर्थ के अनुसार 'संगतिकरण' अर्थ किया है। हम जिन दृश्य अथवा अदृश्य पदार्थों से संग करते हैं, वे सब शाश्वत=अनादि तथा विस्तृत कारण से उत्पन्न होते हैं। उन पृथिवी आदि अचेतन देवों को विद्वानों के संग से जानकर पदार्थ-विद्या को बढ़ाएँ। और उसके अनुसार ही ऋतु-अनुसार यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करें। ऐसे सुसंगत अर्थ को न समझकर काल्पनिक देवों के आश्रय से सायणकृत समस्त व्याख्या असंगत है ॥ ६ ॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **अग्निः** (मनुष्यः) देवता। विराड्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनरस्माभिः परस्परं कथं वर्त्तितव्यमित्युपदिश्यते ॥

फिर हम परस्पर कैसे वर्त्ताव करें, यह उपदेश किया जाता है ॥

प्रियो नो अस्तु विश्पतिर्होता मन्द्रो वरेण्यः। प्रियाः स्वग्नयो वयम् ॥ ७ ॥

प्रियः। नः। अस्तु। विश्पतिः। होता। मन्द्रः। वरेण्यः। प्रियाः। सुऽअग्नयः। वयम् ॥ ७ ॥

पदार्थः—(**प्रियः**) प्रीतिविषयः (**नः**) अस्माकम् (**अस्तु**) भवतु (**विश्पतिः**) विशां प्रजानां पालकः सभावती राजा। **अत्र वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति इति नियमात् व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयज०** [अ० ८। २। ३६] इति षत्वं न भवति (**होता**) यज्ञसंपादकः (**मन्द्रः**) स्तोतुमर्हो धार्मिकः। **अत्र स्फायितंचिवंचि० उ० २। १३।** इति रक्प्रत्ययः। (**वरेण्यः**) स्वीकर्तुं योग्यः (**प्रियाः**) राज्ञः प्रीतिविषयाः। (**स्वग्नयः**) शोभनः सुखकारकोऽग्निः संपादितो यैस्ते (**वयम्**) प्रजास्था मनुष्याः ॥ ७ ॥

प्रमाणार्थ—(**विश्पतिः**) यहां 'वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति (महा० १। ४। ९) इस नियम से 'व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयज०' (अ० ८। २। ३६) इस सूत्र से प्राप्त 'विश्' को षत्व नहीं होता है। (**मन्द्रः**) यहां 'स्फायितञ्चिवञ्चि०' (उ० २। १३) इस उणादिसूत्र से 'मदि' धातु से 'रक्' प्रत्यय है ॥

अन्वयः—हे मानवा यथा स्वग्नयो वयं राजप्रियाः स्मो यथा होता मन्द्रो वरेण्यो विश्पतिर्नः प्रियोऽस्ति तथाऽन्योपि प्रियोऽस्तु ॥ ७ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मानवाः ! **यथा स्वग्नयः** शोभनः सुखकारकोऽग्निः सम्पादितो यैस्ते **वयं** प्रजास्था मनुष्याः **प्रियाः** राज्ञः प्रीतिविषयाः **राजप्रियाः स्मो, यथा होता** यज्ञसम्पादकः **मन्द्रः** स्तोतुमर्हो धार्मिकः **वरेण्यः** स्वीकर्त्तुं योग्यः **विश्पतिः** विशां=प्रजानां पालकः सभापती राजा **नः** अस्माकं **प्रियः** प्रीतिविषयः **अस्ति, तथाऽन्योऽपि प्रियोऽस्तु भवतु** ॥ ७ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे (**स्वग्नयः**) उत्तम सुखकारक अग्नि का सम्पादन करने वाले (**वयम्**) हम प्रजाजन (**प्रियाः**) राजा के प्रिय हैं, जैसे (**होता**) यज्ञ का सम्पादक, (**मन्द्रः**) स्तुति के योग्य धार्मिक, (**वरेण्यः**) स्वीकार करने योग्य (**विश्पतिः**) प्रजा का पालक अर्थात् सभापति राजा (**नः**) हमारा (**प्रियः**) प्रिय है, वैसे अन्य मनुष्य भी प्रिय (**अस्तु**) हो ॥ ७ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। **यथा वयं सर्वैः** सह सौहार्देन वर्त्तामहे, अस्माभिश्च सह सर्वे वर्त्तेरन्, तथा यूयमपि वर्त्तध्वम् ॥ ७ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमा अलंकार है ॥ जैसे हम लोग सबके साथ सौहार्द=मित्रभाव से वर्त्ताव करते हैं, और हमारे साथ सब मित्रता से वर्त्ताव करते हैं, वैसे तुम भी वर्त्ताव करो ॥ ७ ॥

भाष्यसार—हम परस्पर कैसे वर्त्ताव करें—उत्तम प्रजानन सुखकारक अग्नि का सम्पादन करने वाले हम जैसे राजा के प्रिय हैं और जैसे सभापति राजा हमारा प्रिय है वैसे अन्य मनुष्य भी हमारे प्रिय हों अर्थात् हमलोग सबके साथ और सब लोग हमारे साथ मित्रता से वर्त्ताव करें ॥ ७ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक इव आदि पद लुप्त है, अतः वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि जैसे हम लोग राजा के प्रिय हैं तथा राजा हमें प्रिय है, वैसे हमें अन्य मनुष्य भी प्रिय होवें ॥ ७ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"प्रजा का पालक, हवन करने वाला, प्रसन्न होने वाला और वरण करने योग्य अग्नि हमारा प्रिय हो, और हम सब अच्छी अग्नि से युक्त होते हुए तुम्हारे प्रिय होवें।"

इस मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय 'अग्नि' कौन है ? यह सायणाचार्य ने भ्रान्तिवश नहीं समझा है। क्या यह हवनीय भौतिक अग्नि हवन क्रिया का कर्त्ता हो सकता है ? क्या यह अचेतन अग्नि प्रसन्नता अथवा रुष्ट भाव को प्राप्त हो सकता है ? क्या यह अग्नि प्रजा का पालन तथा प्रजा को प्रिय=तृप्त करने वाला हो सकता है ? इत्यादि समस्त मन्त्रोक्त बातों पर विचार करने से स्पष्ट है कि मन्त्र में भौतिक अग्नि का वर्णन न होकर राजा तथा प्रजा के धर्मों का वर्णन किया गया है। 'अग्निः कस्मात् ? अग्रणीर्भवति' (निरुक्त०) अर्थात् जो आगे ले जाए उस नैतृत्वगुणयुक्त व्यक्ति को यहाँ 'अग्नि' कहा है। यही अग्नि=राजा विशां पतिः=प्रजा का पालन करके प्रजा का प्रिय बनता है और प्रजा राजा के नियमों में चलकर राजा को प्रिय होती है। यह राजा ही होता=यज्ञादि (संगतिकरण के) श्रेष्ठ कार्यों को करने वाला न्यायादि श्रेष्ठ गुणों के कारण वरेण्य=वरण करने योग्य तथा मन्द्रः=(मदि स्तुति-मोदादिषु) (भ्वा०) धात्वर्थ के अनुसार स्तुति के योग्य होता है। प्रजा भी तभी सुखी रह सकती है, जब वे स्वग्नयः=अच्छे अग्नि=राजा का चयन करती है। इस प्रकार के उत्तम संगति-पूर्ण मन्त्रार्थ को न समझकर सायणाचार्य ने मिथ्या व्याख्या ही की है ॥ ७ ॥ ●

---

१. विश्पतिः विशां प्रजानां पालकः होता होमनिष्पादकः मन्द्रः हृष्टः वरेण्यः वरणीयोऽग्निः नः अस्माकं प्रियः अस्तु। वयम् अपि स्वग्नयः शोभनाग्नियुक्ताः सन्तः तव प्रियाः भूयास्मेति शेषः ॥ (सायणः)

आजीगर्तिः शुनःशेप ऋषिः। **अग्निः** (मनुष्यः) देवता। आर्ची उष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः॥

पुनस्ते कथं वर्त्तेरन्नित्युपदिश्यते॥

फिर वे मनुष्य कैसे वर्त्ताव करें, यह उपदेश किया जाता है॥

स्वग्नयो हि वार्यं देवासो दधिरे च नः। स्वग्नयो मनामहे॥ ८॥

सुऽअग्नयः। हि। वार्यम्। देवासः। दधिरे। च। नः। सुऽअग्नयः। मनामहे॥ ८॥

पदार्थः—(**स्वग्नयः**) शोभनोऽग्निर्येषां ते मनुष्याः पृथिव्यादयो वा (**हि**) खलु (**वार्यम्**) वरितुमर्हं पदार्थसमूहम् (**देवासः**) दिव्यगुणयुक्ता विद्वांसः। अत्र **आज्जसेरसुक्** अ० ७। १। ५० इत्यसुगागमः। (**दधिरे**) हितवन्तः (**च**) समुच्चये (**नः**) अस्मभ्यम् (**स्वग्नयः**) ये शोभनानुष्ठानतेजोयुक्ताः (**मनामहे**) विजानीयाम। अत्र **विकरणव्यत्ययेन शप्**॥ ८॥

प्रमाणार्थ—(**देवासः**) यहां 'आज्जसेरसुक्' (अ० ७। १। ५०) इस सूत्र से 'जस्' को 'असुक्' आगम है। (**मनामहे**) यहां विकरण-व्यत्यय से 'शप्' विकरण है॥ ८॥

अन्वयः—यथा स्वग्नयो देवासः पृथिव्यादयो वा नोऽस्मभ्यं वार्यं दधिरे हितवन्तस्तथा वयमपि स्वग्नयो भूत्वैतेभ्यो विद्यासमूहं मनामहे विजानीयाम॥ ८॥

सपदार्थान्वयः—यथा **स्वग्नयः** शोभनोऽग्निर्येषां ते मनुष्याः पृथिव्यादयो वा **देवासः** दिव्यगुणयुक्ता विद्वांसः **पृथिव्यादयो वा नः**=अस्मभ्यं **हि** खलु **वार्यं** वरितुमर्हं पदार्थसमूहं **दधिरे**=हितवन्तः, **तथा च** समुच्चये **वयमपि स्वग्नयः** ये शोभनानुष्ठानतेजोयुक्ताः **भूत्वैतेभ्यो विद्यासमूहं मनामहे**=विजानीयाम॥ ८॥

भावार्थः—अत्र लुप्तोपमालङ्कारः। मनुष्यैरस्मिन् जगति यावन्तः पदार्था ईश्वरेणोत्पादितास्तेषां विज्ञानाय विद्यां सम्पाद्य कार्यसिद्धिः कार्येति॥ ८॥

भाषार्थ—जैसे (**स्वग्नयः**) उत्तम अग्नि वाले मनुष्य वा पृथिवी आदि, (**देवासः**) दिव्य गुणों से युक्त विद्वान् वा पृथिवी आदि (**नः**) हमारे लिये (**हि**) निश्चय से (**वार्यम्**) वरण करने योग्य पदार्थसमूह को (**दधिरे**) धारण किये हुये हैं, वैसे हम लोग (**च**) भी (**स्वग्नयः**) उत्तम अनुष्ठान-तेज से युक्त होकर इनसे विद्यासमूह को (**मनामहे**) जानें॥ ८॥

भावार्थ—इस मन्त्र में लुप्तोपमा अलंकार है। मनुष्यों को चाहिये कि वे—इस जगत् में जितने पदार्थ ईश्वर ने उत्पन्न किये हैं, उनके विज्ञान के लिये विद्या का सम्पादन करके कार्यों की सिद्धि करें॥ ८॥

भाष्यसार—मनुष्य कैसे वर्त्ताव करें—उत्तम अग्नि वाले मनुष्य वा पृथिवी आदि पदार्थ तथा दिव्य गुणों से युक्त विद्वान् पृथिवी आदि पदार्थ जैसे हमारे लिये वरण करने योग्य पदार्थसमूह को धारण किये हुये हैं, वैसे हम लोग भी उत्तम अग्नि वाले होकर विविध विद्याओं को जानें। इस जगत् में जितने पदार्थ ईश्वर ने उत्पन्न किये हैं उनके विज्ञान के लिये विद्या का सम्पादन करें और उससे कार्यसिद्धि करें॥ ८॥

अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है, अतः लुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि हम लोग जैसे दिव्यगुणों से युक्त विद्वान् वा पृथिवी आदि जैसे वरण करने योग्य पदार्थसमूह को धारण करते हैं, वैसे हम लोग भी विद्यासमूह को जानें॥ ८॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"क्योंकि उत्तम अग्नि से युक्त प्रकाशमान ऋत्विजों ने हमारी वरण करने योग्य हवि को धारण किया है, इसलिए हम उत्तम अग्नि से युक्त होकर तुम्हारे से याचना करते हैं।"

इस सायण के मन्त्र-भाष्य से यह स्पष्ट हो रहा है कि ऋत्विक् आदि देव हवि को धारण करते रहे हैं, इसलिए हम उनसे याचना करते हैं। अर्थात् इन देवों को हम हवि देते हैं, इसलिये ये हमारी कामनाओं की पूर्ति करते हैं। यथार्थ में ऐसी बात नहीं है। देव और मनुष्य में प्रमुख अन्तर यही है कि देव बिना किसी स्वार्थ के कार्य करते हैं और मनुष्य स्वार्थवश कार्य करता है। अतः सायण ने यहाँ इस रहस्य को नहीं समझकर ही व्याख्या की है। यद्यपि आचार्य सायण 'देव' शब्द से स्वर्गस्थ काल्पनिक देवों की मान्यता को ही अपने भाष्य में प्रायः मानते हैं, परन्तु यहाँ भूल से कैसे 'देवासः' का अर्थ ऋत्विक् कर दिया? अस्तु यह तो वे ही जाने, परन्तु क्या वे अब शुनःशेप के आख्यान को भूल गये? उसके पास ऋत्विक् कहां से आगए? यदि मन्त्रों में शुनःशेप के आख्यान का सम्बन्ध होता, तो शुनःशेप जिन मन्त्रों का ऋषि है, उन सब में वह आख्यान क्यों नहीं? अतः आख्यान परक व्याख्या सायण की काल्पनिक ही है।

इस मन्त्र में 'दधिरे' तथा 'मनामहे' दो क्रियायें पठित हैं। लौकिक व्याकरण के अनुसार एक भूतकाल (लिट्) तथा दूसरी वर्त्तमान काल की है। जिन्होंने हवि को धारण किया था, वे याचना करने वालों के समय हैं नहीं, तो याचना किससे की जा रही है? यथार्थ में सायण-भाष्य में 'मनामहे' क्रिया में 'मन ज्ञाने' धातु मानकर भी उसका याचनार्थ में भाष्य ठीक नहीं किया। महर्षि ने धात्वर्थ के अनुसार ही व्याख्या करके लिखा है कि जिन देव=विद्वानों ने पदार्थ-विद्या को जान लिया है, हम उनसे उस विद्या को जानें। मन्त्र में धारणार्थक 'दधिरे' क्रिया का भाव भी यही है कि जिन देवों ने विद्या को अपने व्यवहार में लाकर यथार्थ ज्ञान प्राप्त करलिया है, उन पूर्ण विद्वानों से हम भी पदार्थविद्या को सीखें। यहाँ मन्त्र में 'स्वग्नयः' पद में बहुव्रीहि समास है। अर्थात् जिन्होंने उत्तम अग्नि=प्रकाशक-विद्या को जान लिया है, वे 'स्वग्नयः' देव कहलाते हैं। यदि यहां अग्नि से भौतिक-अग्नि अर्थ माना जाता है, तो बिल्कुल असम्भव अर्थ ही हो जायेगा। क्योंकि भौतिक अग्नि को कैसे कौन धारण कर सकता है? सायण ने मन्त्र के 'वार्यम्' पद का 'हविः' अर्थ भी असंगत तथा काल्पनिक किया है। उपर्युक्त मन्त्रार्थ-विवेचन से स्पष्ट है कि विद्वानों का यहाँ कथन होने से यहां 'वरणीय-विद्या' अर्थ ही करना चाहिए। विद्वानों से हवि की याचना करना निरर्थक है, उनसे तो विद्या ही सीखी जा सकती है। अतः सायण की व्याख्या काल्पनिक तथा असंगत है॥ ८॥

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **अग्निः** (जगदीश्वरः) देवता। आर्ची उष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः॥

पुनः स किमर्थं याचनीयः, मनुष्यैश्च परस्परं कथं वर्त्तितव्यमित्युपदिश्यते॥

फिर उस जगदीश्वर से किसलिये प्रार्थना करें, और मनुष्य परस्पर कैसे वर्ताव करें, यह उपदेश किया जाता है॥

अथा न उभयेषाममृत मर्त्यानाम्। मिथः सन्तु प्रशस्तयः॥ ९॥

अथ। नः। उभयेषाम्। अमृत। मर्त्यानाम्। मिथः। सन्तु। प्रशस्तयः॥ ९॥

---

१. स्वग्नयः शोभनाग्नियुक्ताः देवासः दीप्यमाना ऋत्विजः नः अस्मदीयं वार्यं वरणीयं हविः हि यस्मात् दधिरे धृतवन्तः तस्माद् वयं स्वग्नयः शोभनाग्नियुक्ताः सन्तः मनामहे त्वां याचामहे।(सायणः)

पदार्थः—(**अथ**) अनन्तरे (**नः**) अस्माकम् (**उभयेषाम्**) पण्डितापण्डितानाम् (**अमृत**) अविनाशिस्वरूपेश्वर (**मर्त्यानाम्**) मनुष्याणाम् (**मिथः**) अन्योन्यार्थे (**सन्तु**) भवन्तु (**प्रशस्तयः**) उत्तमगुणकर्मग्रहणे प्रशंसाः ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे अमृत जगदीश्वर भवत्कृपया यथोत्तमगुणकर्मग्रहणेनाथ नोऽस्माकमुभयेषां मर्त्यानां मिथः प्रशस्तयः सन्तु तथा सर्वेषां भवन्त्विति प्रार्थयामः ॥ ९ ॥

सपदार्थान्वयः—हे अमृत अविनाशिस्वरूप जगदीश्वर ! भवत्कृपया यथोत्तमगुणकर्मग्रहणेनाथ अनन्तरं नः=अस्माकमुभयेषां पण्डितापण्डितानां मर्त्यानां मनुष्याणां मिथः अन्योऽन्यं प्रशस्तयः उत्तमगुणकर्मग्रहणे प्रशंसाः सन्तु भवन्तु तथा सर्वेषां भवन्त्विति प्रार्थयामः ॥ ९ ॥

भाषार्थ—हे (**अमृत**) अविनाशी स्वरूप जगदीश्वर ! आपकी कृपा से जैसे उत्तम गुण, कर्म के ग्रहण करने से (**अथ**) और (**नः**) हम (**उभयेषाम्**) दोनों पण्डित और मूर्ख (**मर्त्यानाम्**) मनुष्यों की (**मिथः**) परस्पर (**प्रशस्तयः**) उत्तम गुण, कर्म के ग्रहण करने में प्रशंसा (**सन्तु**) हों वैसी सबकी होवें; हम ऐसी प्रार्थना करते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थः—यावन्मनुष्या रागद्वेषौ विहाय परस्परोपकाराय विद्याशिक्षापुरुषार्थैः प्रशस्तानि कर्माणि न कुर्वन्ति, नैव तावत्ते सुखानि सम्पत्तुं शक्नुवन्ति। अथेत्यनन्तरं सर्वैर्मनुष्यैः परमेश्वराज्ञायां वर्त्तित्वा सर्वहितं नित्यं साधनीयमिति ॥९॥

भावार्थ—जब तक मनुष्य राग-द्वेष को छोड़कर परस्पर उपकार के लिये विद्या, शिक्षा और पुरुषार्थ से प्रशस्त=उत्तम कर्म नहीं करते हैं; तब तक वे सुखों को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इस लिये सब मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा में रहकर सब का हित नित्य सिद्ध करें ॥ ९ ॥

भाष्यसार—जगदीश्वर से किसलिये प्रार्थना करें—अमृत अर्थात् अविनाशी स्वरूप वाले जगदीश्वर से इसलिये प्रार्थना करें कि उसकी कृपा से पण्डित और मूर्ख दोनों मनुष्यों की परस्पर उत्तम गुण, कर्म के ग्रहण करने से प्रशंसा होती है।

मनुष्य परस्पर कैसे वर्ताव करें—सब मनुष्य राग-द्वेष को छोड़कर परस्पर उपकार के लिये विद्या, शिक्षा और पुरुषार्थ से प्रशस्त कर्मों का अनुष्ठान करें तथा सब सुखों को प्राप्त करें। सब मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा में रहकर सब का हित नित्य सिद्ध करें ॥ ९ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे मरण-रहित अग्निदेव ! कर्मों के अनुष्ठान करने के बाद हम मनुष्यों तथा हमारे स्वामी आप की परस्पर प्रशंसापरक बातें हों। यजमान की प्रशंसा यह है कि अच्छी प्रकार कर्मानुष्ठान किया गया है और अच्छी प्रकार ग्रहण करने से अग्नि की प्रशंसा है।"

इस मन्त्र का देवता 'अग्नि' है। उसका यहां क्या अर्थ है, यह सायण आदि आचार्यों ने नहीं समझा। मन्त्र में अग्नि का विशेषण है—'अमृत'। जिसका सायणादि सभी आचार्य 'मरण-रहित' अर्थ करते हैं। इन लोगों ने पदार्थ-विद्या को विना समझे ही असंगत व्याख्याएँ की हैं। यह भौतिकाग्नि तो उत्पत्ति तथा विनाश धर्म वाला है, यह मरण=विनाश रहित कैसे हो सकता है ? आचार्य-सायण इसी सूक्त के पञ्चम मन्त्र में अग्नि को उत्पन्न हुआ मान रहे हैं। जो उत्पन्न होता है, वह नष्ट भी

१. हे अग्ने अमृत मरणरहिताग्ने अथ कर्मानुष्ठानानन्तरं मर्त्यानां मनुष्याणां नः अस्माकम् अस्मत्स्वामिनस्तव च उभयेषां मिथः परस्परं प्रशस्तयः प्रशंसारूपा वाचः सन्तु। सम्यगनुष्ठितमिति यजमानविषया प्रशंसा सम्यगनुगृहीतमित्यग्निविषया ॥ (सायणः)

अवश्य होता है, इस सृष्टि के नियम को न समझकर तथा मन्त्रार्थ की संगति को न जानकर ही सायणादि ने मन्त्रव्याख्या की है। इसी मन्त्र में सायण-भाष्य में लिखा है कि अग्नि तथा हमारी परस्पर प्रशंसात्मक बातें भी हों। क्या कोई अचेतन अग्नि आदि से बातें कर सकता है? यह कैसी सृष्टि-नियम से विपरीत बात लिखकर वेदार्थ के साथ सायण ने उपहास ही किया है। पाश्चात्य विद्वान् जो ऐसी मिथ्या व्याख्याओं को पढ़कर वेदों पर आक्षेप करते हैं, वे ठीक ही करते हैं। क्या अग्नि आदि जड़ देवों से बातें करना, एक दूसरे की प्रशंसा करना कदापि सम्भव है? और अग्नि को अपना स्वामी मानकर भी सायण ने मन्त्र के रहस्य को नहीं समझा। क्योंकि अमरकोषादि अनार्ष पुस्तकों में सायण ने यही पढ़ा था कि अग्नि एक भौतिक देव है, इसीलिये सर्वत्र निरुक्तादि शास्त्रों की मान्यताओं की उपेक्षा करके मिथ्या तथा काल्पनिक अर्थ सायण ने किये हैं।

महर्षि ने यहां 'अग्नि' का अर्थ 'जगदीश्वर' किया है। तदेवाग्निस्तदादित्यः०, (यजु० २३।२४) इत्यादि वैदिक प्रमाणों से परमात्मा का नाम भी अग्नि है। उसी को मन्त्र में अमृत=अविनाशी कहा है। उसी की कृपा से वेदादि का ज्ञान मानव को मिला। उसी की कृपा से मानव विद्योन्नति करता है। मन्त्र में पढ़ने-पढ़ाने वाले मनुष्यों की श्रेष्ठ ज्ञान-प्रदान तथा ग्रहण करने से प्रशंसा का वर्णन है, न कि अग्नि-देव से प्रशंसात्मक बातें करना। महर्षि कृत मन्त्रव्याख्या में किसी प्रकार की कल्पना तथा असंगत बातों का वर्णन नहीं है ॥ ९ ॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **अग्निः** (विद्वान्) देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनस्ते कथं वर्त्तेरन्नित्युपदिश्यते ॥

फिर वे मनुष्य कैसे वर्ताव करें, यह उपदेश किया जाता है॥

विश्वेभिरग्ने अग्निभिरिमं यज्ञमिदं वचः। चनो धाः सहसो यहो ॥ १० ॥

विश्वेभिः। अग्ने। अग्निऽभिः। इमम्। यज्ञम्। इदम्। वचः। चनः। धाः।। सहसः। यहो इति ॥१०॥

पदार्थः—(**विश्वेभिः**) सर्वैः। अत्र **बहुलं छन्दसि** इति भिस ऐसादेशाभावः। (**अग्ने**) विद्या-सुशिक्षायुक्त विद्वन् (**अग्निभिः**) विद्युत्सूर्यप्रसिद्धैः कार्यरूपैस्त्रिभिः (**इमम्**) प्रत्यक्षाप्रत्यक्षम् (**यज्ञम्**) संगन्तव्यम् (**इदम्**) अस्माभिः प्रयुक्तम् (**वचः**) विद्यायुक्तं स्तुतिसंपादकं वचनम् (**चनः**) भक्ष्यभोज्यलेह्य-चूष्याख्यमन्नम्। अत्र **चायतेरन्ने ह्रस्वश्च**। उ० ४। २०७। अनेनासुन् प्रत्ययो नुडागमश्च। (**धाः**) हितवान्। अत्राडभावश्च। (**सहसः**) सहते सहा वायुस्तस्य बलस्वरूपस्य (**यहो**) क्रियाकौशलयुक्तस्यापत्यं तत्संबुद्धौ। **यहुरित्यपत्यनामसु पठितम्**। निघं० २। २॥ १०॥

प्रमाणार्थ—(**विश्वेभिः**) यहां 'बहुलं छन्दसि' (अ० ७। १। १०) इस सूत्र से 'भिस्' के स्थान में 'ऐस्' आदेश का अभाव है। (**चनः**) यहां 'चायतेरन्ने ह्रस्वश्च' (उ० ४। २००) इस उणादिसूत्र से 'असुन्' प्रत्यय और 'नुट्' का आगम है। (**धाः**) यहां 'अट्' आगम का अभाव है। (**यहो**) 'यहु' यह पद निघण्टु (२। २) में अपत्य-नामों में पढ़ा गया है॥ १०॥

अन्वयः—हे अग्ने यहो त्वं यथा दयालुर्विद्वान् सर्वसुखार्थं सहसो बलाद्विश्वेभिरग्निभिरिमं यज्ञमिदं वचश्चनश्च धा हितवांस्तथा त्वमपि सततं धेहि॥ १०॥

सपदार्थान्वयः—हे **अग्ने** विद्या-सुशिक्षायुक्तविद्वन्! **यहो** क्रियाकौशलयुक्तस्यापत्यं युवत **तत्सम्बुद्धौ यथा दयालुर्विद्वान् सर्वसुखार्थं सहसः** विद्वान्! जैसे दयालु विद्वान् ने सबके सुख के लिये

भाषार्थ—हे (**अग्ने**) विद्या और सुशिक्षा से (**यहो**) क्रियाकौशल से युक्त पुरुष की सन्तान

सहते सहा वायुस्तस्य बलस्वरूपस्य बलाद् विश्वेभिः सर्वैः अग्निभिः विद्युत्सूर्यप्रसिद्धैः कार्यरूपैस्त्रिभिः इमं प्रत्यक्षाप्रत्यक्षं यज्ञं संगन्तव्यम् इदं अस्माभिः प्रयुक्तं वचः विद्यायुक्तं स्तुतिसम्पादकं वचनं चनः भक्ष्यभोज्यलेह्यचूष्याख्यमन्नं च धाः=हितवान्, तथा त्वमपि सततं धेहि ॥ १० ॥

(सहसः) बलस्वरूप वायु के बल से (विश्वेभिः) सब (अग्निभिः) विद्युत्, सूर्य और प्रसिद्ध अग्नि इन कार्य रूप तीन अग्नियों से (इमम्) इस प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष (यज्ञम्) संगति के योग्य यज्ञ को, (इदम्) हमसे प्रयुक्त इस (वचः) विद्या से युक्त स्तुति के सम्पादक वचन को और (चनः) भक्ष्य, भोज्य, लेह्य तथा चूष्य नामक अन्न को (धाः) धारण किया है; वैसे तू भी निरन्तर धारण कर ॥ १० ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः। मनुष्यैरेवं स्वसन्तानानि नित्यं योज्यानि यः कारणरूपोऽग्निर्नित्योऽस्ति, तस्मादीश्वररचनया विद्युदादिरूपाणि कार्याणि जायन्ते। पुनस्तेभ्यो जाठरादिरूपाण्यनेकानि च, तान् सर्वानग्नीन् कारणरूप एव धरति। यावन्त्यग्निकार्याणि सन्ति तावन्ति वायुनिमित्तेनैव जायन्ते। तावेव च सर्वं जगत् तत्रस्थानि वस्तूनि च धरतः। नैवाग्निवायुभ्यां विना कदाचित् कस्यापि वस्तुनो धारणं संभवतीति ॥ १० ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। मनुष्य इस प्रकार से अपने सन्तानों को नित्य समाहित करें—जो कारणरूप अग्नि नित्य है, उससे ईश्वर की रचना से विद्युत् आदि रूप कार्य उत्पन्न होते हैं और फिर उनसे जाठरादि अनेक रूप। उन सब अग्नियों को कारणरूप अग्नि ही धारण करता है। जितने अग्नि-कार्य हैं वे वायु के निमित्त से ही उत्पन्न होते हैं। अग्नि और वायु दोनों ही सब जगत् को और तत्रस्थ वस्तुओं को धारण करते हैं। अग्नि और वायु के विना कभी किसी भी वस्तु का धारण होना सम्भव नहीं है ।१०।

भाष्यसार—**मनुष्य कैसे वर्त्ताव करें**—जैसे दयालु विद्वान् सबके सुख के लिये वायु के बल से तथा विद्युत्, सूर्य और प्रसिद्ध अग्नि रूप तीनों अग्नियों से इस यज्ञ, वचन और अन्न को धारण करता है, वैसे क्रियाकौशल से युक्त पुरुष की सन्तान, विद्या और सुशिक्षा से युक्त विद्वान् मनुष्य उक्त यज्ञ, वचन और अन्न को धारण करे।

मनुष्य नित्य अपने सन्तानों को यह शिक्षा करें कि यह कारणरूप अग्नि नित्य है। उसी से ईश्वर की रचना से विद्युत् आदि रूप अग्नियां उत्पन्न होते हैं, और फिर उन्हीं से जाठरादि रूप अग्नियां बनती हैं। जितने भी अग्नि-कार्य हैं वे वायु के निमित्त से ही उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार अग्नि और वायु दोनों ही सब जगत् को धारण करते हैं ॥ १० ॥

अलङ्कार—इस मन्त्र में 'उपमा-वाचक' इव आदि पद लुप्त है, अतः वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि एक दयालु विद्वान् के तुल्य सब मनुष्य यज्ञ, वचन और अन्न को धारण करें ॥१० ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे बल के पुत्र अग्निदेव ! तुम सभी आहवनीयादि अग्नियों से युक्त हो। तुम हमारे इस यज्ञ तथा स्तुति-वचनों का सेवन करते हुये हमारे लिए अन्न को धारण करो।"

---

१. सहसः बलस्य यहो पुत्र हे देवतारूप अग्ने ! विश्वेभिः अग्निभिः सर्वैराहवनीयादिभिर्युक्तस्त्वम् इमम् अस्मदीयं यज्ञम् इदम् अस्मदीयं वचः स्तोत्रं च सेवमानः चनः अन्नं धाः अस्मभ्यं धेहि ॥ (सायणः)

इस मन्त्र के देवता 'अग्नि' को भी सायणाचार्य ने नहीं समझा है। क्या यह भौतिक अग्नि हमारी प्रार्थनानुरूप कार्य कर सकता है? क्या यह हमारे यज्ञ तथा वचनों का सेवन कर सकता है? क्या यह अग्नि हमारे लिये अन्नादि पदार्थों को धारण करता है? जड़-पदार्थों को पूजते-पूजते इन पौराणिक सायणादि भाष्यकारों की भी बुद्धि जड़ ही हो गई। अन्यथा यदि थोड़ा भी विवेक व ज्ञान होता, तो ऐसी असम्भव बातें नहीं लिखते। महर्षि ने यहां 'अग्नि' का अर्थ विद्वान् किया है। वह विद्युदादि अग्नियों को जानकर शिल्प-यज्ञों का सेवन करता है और हमारी प्रार्थनानुसार हमें भी भोग्य अन्नादि पदार्थों को प्राप्त कराता है। सायणाचार्य ने सर्वत्र 'यज्ञ' शब्द से द्रव्यमय यज्ञ तथा 'अग्नि' से सर्वत्र भौतिकाग्नि अर्थ करके बहुत ही अनर्थ किया है। उन्होंने वैदिक यौगिक-प्रक्रिया तथा शास्त्रीय व्याख्याओं पर लेश-मात्र भी ध्यान नहीं दिया। अन्यथा इस प्रकार की साधारण भूलें करके सायण वेदार्थ को दूषित न करते॥

इस मन्त्रार्थ-व्याख्या में लुङ्लकार की 'धाः' क्रिया का सायण ने 'धेहि' अर्थ पता नहीं किस मूढ में कर दिया है। या तो उन्हें कोई आख्यान स्मरण नहीं आया है, अथवा अपनी शैली को ही भुला दिया है। शाश्वत-ज्ञान वेद मन्त्रों में वर्णित लुङादि लकारों की क्रियाओं के भूतकालिक अर्थ करके आचार्य सायण ने वेदों में अनित्येतिहास को जन्म दिया है। यह बहुत ही निन्दनीय बात है। जबकि इनके विशेष वैदिक नियम पाणिनीय व्याकरण में लिखे हुये हैं। उनको भी सायण ने भ्रान्तिवश नहीं जाना॥ १०॥

पूर्वापरसंगतिमाह—पूर्वसूक्तोक्तेन वरुणार्थेनात्रोक्तस्याग्नेरनुषङ्गित्वात् पूर्वसूक्तार्थेनास्य षड्-विंशसूक्तार्थस्य संगतिरस्तीति बोध्यम्॥

पूर्वापर-संगति—पूर्व सूक्त में कहे 'वरुण' अर्थ के इस सूक्त में प्रतिपादित 'अग्नि' के अनुषङ्गी =सहायक होने से पूर्व सूक्त के अर्थ के साथ इस छब्बीसवें सूक्त के अर्थ की संगति है, ऐसा जानो॥

इति प्रथमाष्टके द्वितीयाध्याय एकविंशो वर्गः॥
प्रथममण्डले षष्ठेऽनुवाके षड्विंशं सूक्तं च समाप्तम्॥

यह प्रथम अष्टक के दूसरे अध्याय में इक्कीसवां वर्ग तथा प्रथम मण्डल के छठे अनुवाक में छब्बीसवां सूक्त समाप्त हुआ॥ ●

अथ सप्तविंशं सूक्तम्

आजीगर्तिः शुनःशेप ऋषिः। **अग्निः** (विद्वान् भौतिकोऽग्निश्च) देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

तत्रादिमेनाग्निरुपदिश्यते॥

अब सत्ताईसवें सूक्त का आरम्भ है। उसके पहले मन्त्र में अग्नि-विषय का उपदेश किया जाता है॥

अश्वं न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निं नमोभिः। सम्राजन्तमध्वराणाम्॥ १॥

अश्वम्। न। त्वा। वारऽवन्तम्। वन्दध्यै। अग्निम्। नमःऽभि। सम्ऽराजन्तम्। अध्व-राणाम्॥ १॥

पदार्थः—(**अश्वम्**) वेगवन्तं वाजिनम् (**न**) इव (**त्वा**) त्वां तं वा (**वारवन्तम्**) बालवन्तम् (**वन्दध्यै**) वन्दितुम् । **अत्र तुमर्थेसेसे०** । इति कध्यै प्रत्ययः । (**अग्निम्**) विद्वांसं वा भौतिकम् (**नमोभिः**) नमस्कारैरन्नादिभिः सह (**सम्राजन्तम्**) सम्यक् प्रकाशमानम् (**अध्वराणाम्**) राज्यपालनाग्निहोत्रादि-शिल्पान्तानां यज्ञानां मध्ये (**अश्वं**) मार्गे व्यापिनम् (**न**) इव (**त्वा**) त्वाम् (**वारवन्तम्**) एतद्यास्कमुनिरेवं व्याचष्टे । **अश्वमिव त्वा बालवन्तं वाला दंशवारणार्था भवन्ति दंश दशतेः** । निरु० १ । २० ॥ १ ॥

प्रमाणार्थ—(**वन्दध्यै**) यहां 'तुमर्थे सेसेन०' (अ० ३ । ४ । ९) इस सूत्र से 'वदि' धातु से 'कध्यै' प्रत्यय है (वन्द्+कध्यै+सु=वन्दध्यै) ॥

अन्वयः—वयं नमोभिर्वारवन्तमश्वं न—इवाध्वराणां सम्राजन्तं त्वामग्निं वन्दध्यै—वन्दितुं प्रवृत्ताः सेवामहे ॥ १ ॥

[विद्वान्]

सपदार्थान्वयः—**वयं नमोभिः** नमस्कारैः सह **वारवन्तं** बालवन्तम् **अश्वं** मार्गे व्यापिनं वेगवन्तं वाजिनं **न=इवाध्वराणां** राज्यपालनाग्निहोत्रादिशिल्पान्तानां यज्ञानां मध्ये **सम्राजन्तं** सम्यक् प्रकाशमानम् **त्वा=त्वामग्निं** विद्वांसं **वन्दध्यै** वन्दितुं **प्रवृत्ताः सेवामहे** ॥ १ ॥

[विद्वान्]

भाषार्थ—हमलोग (**नमोभिः**) विविध सत्कार से—(**वारवन्तम्**) उत्तम बालों वाले, (**अश्वम्**) मार्ग में व्यापक वेगवान् घोड़े के (**न**) समान (**अध्वराणाम्**) राज्यपालन, अग्निहोत्र से लेकर शिल्प पर्यन्त यज्ञों के मध्य में (**सम्राजन्तम्**) प्रकाशमान (**त्वा**) तुझ (**अग्निम्**) विद्वान् की (**वन्दध्यै**) वन्दना के लिए प्रवृत्त होकर सेवा करते हैं ॥ १ ॥

[भौतिकोऽग्निः]

वयं नमोभिः=अन्नादिभिर्वारवन्तं बालवन्तम् **अश्वं** मार्गे व्यापिनं वेगवन्तं वाजिनं **न=इवाध्वराणां** राज्यपालनाग्निहोत्रादिशिल्पान्तानां यज्ञानां मध्ये **सम्राजन्तं** सम्यक् प्रकाशमानं **त्वा=तमग्निं=भौतिकं वन्दध्यै=यज्ञसिद्धिकामनायै प्रवृत्ताः सेवामहे** ॥ १ ॥

[भौतिक-अग्नि]

हम लोग (**नमोभिः**) अन्न आदि से—(**वारवन्तम्**) बालों वाले (**अश्वम्**) मार्ग में व्यापक वेगवान् घोड़े के समान (**अध्वराणाम्**) राज्यपालन, अग्निहोत्र से लेकर शिल्प पर्यन्त यज्ञों के मध्य में (**सम्राजन्तम्**) प्रकाशमान (**त्वा**) उस (**अग्निम्**) भौतिक अग्नि की (**वन्दध्यै**) यज्ञसिद्धि की कामना के लिये प्रवृत्त हुये, सेवा करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषोपमालङ्कारौ ॥ यथा विपश्चित् स्वविद्यादिगुणैः स्वराज्ये राजते, तथैव परमेश्वरः सर्वज्ञत्वादिभिर्गुणैः सर्वत्र प्रकाशते चेति ॥ १ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में श्लेष और उपमा अलंकार है ॥ जैसे विद्वान् अपने विद्यादि गुणों से अपने राज्य में प्रकाशित होता है, वैसे ही परमेश्वर सर्वज्ञता आदि गुणों से सर्वत्र प्रकाशमान है ॥ १ ॥

भाष्यसार—१. **अग्नि (विद्वान्) विषयक उपदेश**—जैसे उत्तम बालों वाला, वेगवान् घोड़ा सर्वत्र प्रसिद्ध होता है वैसे राज्यपालन तथा अग्निहोत्र से लेकर शिल्पपर्यन्त यज्ञों में प्रकाशमान विद्वान् की वन्दना के लिए मनुष्य प्रवृत्त हों, और नमस्कार आदि विविध सत्कार से उसकी सेवा करें ॥ १ ॥

२. **भौतिक-अग्नि-विषयक उपदेश**—जैसे उत्तम बालों वाला, वेगवान् घोड़ा सर्वत्र प्रसिद्ध होता है, वैसे राज्यपालन तथा अग्निहोत्र से लेकर शिल्प पर्यन्त यज्ञों में प्रकाशमान भौतिक अग्नि की वन्दना

अर्थात् यज्ञसिद्धि की कामना के लिये मनुष्य प्रवृत्त हों, विविध अन्न आदि पदार्थों से भौतिक अग्नि की सेवा करें, उत्तम हव्य द्रव्यों का उसमें होम करें ॥ १ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में श्लेष अलंकार से 'अग्नि' शब्द से विद्वान् और भौतिक अग्नि अर्थ का ग्रहण होता है। उपमा यह है कि जैसे उत्तम बालों वाला तथा वेगवान् घोड़ा सर्वत्र प्रसिद्ध होता है वैसे विद्वान् और भौतिक-अग्नि सर्वत्र प्रकाशमान होता है ॥ १ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"यज्ञों के स्वामी तुझ अग्नि की वन्दना के लिए हम स्तुतियों से प्रवृत्त हुए हैं। जैसे घोड़ा बालों से मच्छर-मक्खी आदि को दूर करता है, वैसे तुम भी ज्वालाओं से हमारे विरोधियों को दूर करते हो।"

इस मन्त्र का देवता 'अग्नि' है। अग्नि को मन्त्र में 'यज्ञों का प्रकाश' कहा है। अथवा निर्धारण में षष्ठी विभक्ति मानकर 'यज्ञों में प्रकाशमान' अर्थ भी है। इसके अनुसार 'अग्नि' का अर्थ भौतिकाग्नि तथा 'विद्वान्' होता है। भौतिकाग्नि अग्निहोत्रादि यज्ञों का प्रकाशक तथा विद्वान् विद्यादि गुणों से यज्ञादि श्रेष्ठ-कार्यों में प्रकाशमान होता है। इस सुसंगत अर्थ को न समझकर और यौगिक-प्रक्रिया का परित्याग करके सायणादि भाष्यकारों ने अग्नि को 'यज्ञों का स्वामी' माना है। सायण ने यद्यपि 'अग्नि' की कोई व्याख्या नहीं की है, किन्तु उनकी व्याख्या से स्पष्ट है कि वे भौतिकाग्नि का ही यहाँ ग्रहण कर रहे हैं। यह अचेतन अग्नि 'यज्ञों का स्वामी' कदापि नहीं हो सकता। क्योंकि स्व-स्वामी सम्बन्ध चेतनों का ही सम्भव है, अचेतनों का नहीं।

सायण-भाष्य में इस भौतिक अग्नि की 'स्तुति-वचनों से वन्दना करना' लिखकर तो जड़ देवी-देवताओं की पूजा का स्पष्ट निर्देश किया है। यह उनके अज्ञान तथा वेदादिशास्त्रों को न समझने का ही प्रमाण है। वेदादि शास्त्रों में जड़ देवी-देवताओं की पूजा का कहीं भी उल्लेख नहीं है। आचार्य-यास्क ने निरुक्त में इस भ्रान्ति का निराकरण करते हुए स्पष्ट लिखा है—

"महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।" (निरु० ७।४) अर्थात् सर्वत्र व्याप्त परमात्मा ही वेदों में अनेक नामों से पूजित किया गया है। वह एक परमात्मदेव ही सर्वविध ऐश्वर्यों का स्वामी है और दूसरे सब देव एक परमात्मा के सामर्थ्यैक-देश में प्रकाशित हैं। अतः वे कदापि उपासनीय नहीं हैं। जड़ भौतिकाग्नि की स्तुति-वचनों से वन्दना करना निरर्थक ही नहीं, प्रत्युत महामूर्खता है। क्योंकि उसमें यह ज्ञान ही नहीं है कि कौन मुझ से क्या कह रहा है। किसी भी शास्त्र में जड़-देवों के ज्ञानादि गुण नहीं माने हैं। अतः यह अग्नि हमारे विरोधियों को अपनी ज्वालाओं से कदापि नहीं भगा सकता। यह सायण की पौराणिक मिथ्या धारणा ही है भौतिक अग्नि में यह ज्ञान कहाँ है कि कौन विरोधी है और कौन अविरोधी ? यदि इसकी स्तुति करने वाला अग्नि को हाथादि से छूता है, तो क्या अग्नि अपने धर्म के प्रतिकूल उसके हाथादि को नहीं जलाता ? अतः ऐसी व्याख्याएँ प्रत्यक्ष के विरुद्ध तथा पदार्थ-विद्या को न जानने से मिथ्या ही हैं। महर्षि दयानन्द ने भौतिकाग्नि-परक व्याख्या में 'नमोभिः' का अर्थ स्तुति नहीं किया है। उन्होंने निघण्टु के प्रमाणानुसार 'अन्नादिभिः' किया है। भौतिकाग्नि में विशिष्ट पौष्टिक अन्नादि की हवि देने से हमें सुखों की प्राप्ति होती है। मन्त्र में

---

१. अध्वराणां यज्ञानां सम्राजन्तं सम्राट्स्वरूपं स्वामिनम्, अग्निं त्वां नमोभिः स्तुतिभिः वन्दध्यै वन्दितुं प्रवृत्ता इति शेषः। अत्र दृष्टान्तः। वारवन्तं वालयुक्तम् अश्वं न अश्वमिव। अश्वो यथा वालैर्बाधकान् मशकमक्षिकादीन् परिहरति तथा त्वमपि ज्वालाभिरस्मद् विरोधिनः परिहरसीत्यर्थः ॥(सायणः)

'वन्दध्यै' पद पठित है। जिसका धात्वर्थ के अनुसार (वदि अभिवादन-स्तुत्योः) स्तुति अर्थ है। भौतिक अग्नि के गुणों को जानकर उससे लाभ लेना ही स्तुति है। ऐसे सुसंगत तथा प्रामाणिक अर्थ को सायणादि ने अज्ञान एवं मिथ्याग्रहवश नहीं जाना।

मन्त्र में 'वारवन्तम् अश्वं न' उत्तम बालों वाले तथा मार्ग को व्याप्त करने वाले वेगवान् घोड़े से अग्नि की उपमा दी है। जिससे उपमान-उपमेय भाव का स्पष्टीकरण होता है। उत्तम घोड़े की पहचान यह है कि वह उत्तम गति वाला तथा अतिशय बालों वाला हो। मन्त्र में अतिशय अर्थ में मतुप् प्रत्यय है। इन गुणों से युक्त घोड़े की सब कामना करते हैं, ऐसे ही अग्नि के गुणों को भी जानकर विद्वान् शिल्पी मनुष्य कामनाओं की पूर्ति करते हैं। सायण ने पूंछ के बालों की भांति अग्नि अपनी ज्वालाओं से विरोधियों को दूर करे, ऐसा लिखकर उपमा के गाम्भीर्य को भी नहीं समझा है। स्कन्दस्वामी ने तो "अश्वोपमानाभिप्रायः पर्येष्यः=अश्व की उपमा का अभिप्राय क्या है ? यह खोजना चाहिए" लिखकर उपमा को छोड़ ही दिया है॥ १॥ ●

आजीगर्तिः शुनःशेप ऋषिः। **अग्निः** (अपत्यम्) देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

अथापत्यगुणा उपदिश्यन्ते॥

अब सन्तान के गुणों का उपदेश किया जाता है॥

स घा नः सूनुः शवसा पृथुप्रगामा सुशेवः। मीढ्वां अस्माकं बभूयात्॥ २॥

सः। घ। नः। सूनुः। शवसा। पृथुप्रगामा। सुऽशेवः। मीढ्वान्। अस्माकम्। बभूयात्॥२॥

पदार्थः—(सः) वक्ष्यमाणः (घ) एव। **अत्र ऋचितुनुघमक्षु०।** अ० ६। ३। १३३। अनेन दीर्घः। (नः) अस्माकम् (सूनुः) कार्यकारी सन्तानः। **सूनुरित्यपत्यनामसु पठितम्।** निघं०। २। २। (शवसा) बलादिगुणेन सह (पृथुप्रगामा) पृथुभिः विस्तृतैर्यानैः प्रकृष्टो गामो गमनं यस्य सः (**अत्र सुपां सुलुगिति**) विभक्तेराकारादेशः। (सुशेवः) शोभनं शेवं सुखं यस्मात् सः। **शेवमिति सुखनामसु पठितम्।** निघ० ३। ६। अत्र **इण्शीभ्यां वन्** उ० १। १५०। अनेन शीङ्धातोर्वन् प्रत्ययः। (मीढ्वान्) वृष्टिद्वारा सेचकः। अत्र **दाश्वान् साह्वान्०।** अ० ६। १। १२। इति निपातनाद्द्वित्वं न। (अस्माकम्) पुरुषार्थिनां सुक्रियया (बभूयात्) भवेत्। **अत्र वाच्छन्दसि सर्वे विधयो भवन्तीति नियमात्** लिटः स्थाने लिङ् तद्वत् कार्यं च। अत्र सायणाचार्य्येण लिटः स्थाने लिङित्युच्चार्य्य तिङां तिङो भवन्तीत्यशुद्धं व्याख्यातम्॥ २॥

प्रमाणार्थ—(घ) यहां 'ऋचि तुनुघमक्षु०' (अ० ६। ३। १३२) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—'घा'। (सूनुः) यह पद निघण्टु (२। २) में अपत्य-नामों में पढ़ा गया है। (पृथुप्रगामा) यहां 'सुपां सुलुक्०' (अ० ७। १। ३९) इस सूत्र से विभक्ति के स्थान में आकार आदेश है। (सुशेवः) 'शेवम्' यह पद निघण्टु (३। ६) में सुख-नामों में पढ़ा है। यहां 'इण्शीभ्यां वन्' (उ० १। १५२) इस सूत्र से 'शीङ्' धातु से 'वन्' प्रत्यय है (शीङ्+वन्। शे+व+सु=शेवम्)। (मीढ्वान्) यहां 'दाश्वान् साह्वान्०' (अ० ६। १। १२) इस सूत्र से निपातन होने से द्वित्व नहीं होता। (बभूयात्) यहां 'वाच्छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति' (अ० १। ४। ९) इस महाभाष्य के नियम से लिट् के स्थान में लिङ् और 'लिट्' के तुल्य कार्य होता है। यहां सायणाचार्य ने 'लिट्' के स्थान में लिङ् है ऐसा उच्चारण करके 'तिङां तिङो भवन्ति' (वा० ७। १। ३९) तिङों के स्थान में तिङ् होते हैं' इस प्रकार अशुद्ध व्याख्या की है॥

अन्वयः—यः सूनुः सुपुत्रः शवसा पृथुप्रगामा मीढ्वानस्ति स नोऽस्माकं पुरुषार्थिनां घ एव कार्य्यकारी बभूयात् भवेत्॥ २॥

सपदार्थान्वयः—योऽस्माकं पुरुषार्थिनां सुक्रियया **सूनुः**=**सुपुत्रः** कार्यकारी सन्तानः **शवसा** बलादिगुणेन सह **सुशेवः** शोभनं शेवः=सुखं यस्मात् सः **पृथुप्रगामा** पृथुभिर्विस्तृतैर्यानैः प्रकृष्टो ग्रामो=गमनं यस्य सः **मीढ्वान्** वृष्टिद्वारा सेचकः **अस्ति**, सः वक्ष्यमाणः **नः**=**अस्माकं पुरुषार्थिनां घ**=**एक कार्य्यकारी बभूयात्**=**भवेत्** ॥ २ ॥

भाषार्थ—जो (**अस्माकम्**) हम पुरुषार्थीजनों का उत्तम क्रिया से (**सूनुः**) कार्य करने वाला सुपुत्र है वह (**शवसा**) बल आदि गुणों से युक्त (**सुशेवः**) उत्तम सुख का हेतु (**पृथुप्रगामा**) पृथु=विस्तृत यानों से श्रेष्ठ गमन करने वाला (**मीढ्वान्**) वर्षा के द्वारा सींचने वाला है, (**सः**) वह (**नः**) हम पुरुषार्थीजनों का (**घ**) ही कार्यकर्त्ता (**बभूयात्**) हो ॥ २ ॥

भावार्थः—यथा विद्यासुशिक्षया धार्मिका विद्वांसः पुत्रा अनेकान्यनुकूलानि कर्माणि संसेव्य पित्रादीनां सुखानि नित्यं संपादयन्ति, तथैव बहुगुणयुक्तोऽयमग्निर्विद्यानुकूलरीत्या संप्रयोजितः सन्नस्माकं सर्वाणि सुखानि साधयति ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे विद्या और सुशिक्षा से धार्मिक विद्वान् पुत्र अनेक अनुकूल कर्मों का सेवन करके, पिता आदिक के सुखों को नित्य सिद्ध करते हैं, वैसे ही बहुत गुणों से युक्त यह अग्नि विद्या के अनुकूल रीति से संप्रयोग किया हुआ हमारे सब सुखों को सिद्धक रता है ॥

भाष्यसार—सन्तान के गुण—हमारा सुपुत्र बल आदि गुणों से युक्त हो। वह उत्तम सुख का हेतु हो। वह विशाल यानों से देश-देशान्तर में श्रेष्ठ गमन करने वाला हो। वह हम पुरुषार्थीजनों का कार्यकर्त्ता हो। विद्या और सुशिक्षा से युक्त होकर धार्मिक विद्वान् पुत्र अनेक अनुकूल कर्म करें और माता-पिता आदि के सुखों को नित्य सिद्ध करें ॥ २ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"वह ही अग्नि हमारे लिए उत्तम सुखों को देने वाला हो। वह अग्नि कैसा है ? बल का पुत्र है, प्रकृष्ट गति वाला है और हमारी कामनाओं की वृष्टि करने वाला है।"

मन्त्र में 'अग्नि' की निम्न-विशेषताएँ बताई हैं—सुशेवः=उत्तम सुखों को देने वाला, पृथुप्रगामा=विस्तृत यानों से गमन करने वाला और मीढ्वान्=कामनाओं की वृष्टि करके सींचने वाला है। मन्त्र में अग्नि को 'सूनुः=पुत्र' भी कहा है। सायणाचार्य ने 'सूनुः' के साथ 'शवसा' पद को जोड़कर अग्नि को बल का पुत्र लिखा है। प्रथम तो विभक्ति के अनुसार यह अर्थ नहीं बनता, क्योंकि 'शवसा' पद में तृतीया विभक्ति है। और यदि विभक्ति-व्यत्यय मानकर यह अर्थ किया गया है, तो भी अग्नि को बल का पुत्र' कहना उचित नहीं है। यद्यपि वेद-मन्त्रों में कार्य-कारण भाव में भी पिता-पुत्रवत् वर्णन मिलता है। अग्नि की उत्पत्ति वायु से होती है। यदि वायु को बल का प्रतीक मानकर अग्नि को बल का पुत्र कहा जाए, तो भी इस मन्त्र में संगत नहीं होता। क्योंकि अग्नि जड़ होने से हमारी कामनाओं की पूर्ति स्वयं नहीं कर सकता। इस मन्त्र में 'सूनुः' पद के साथ 'सुशेवः' पद पढ़ा गया है। वेद में ये दोनों शब्द सन्तान वाचक हैं। देखिए—

नहि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ ॥ (ऋ० ७। ४। ८) अर्थात् दूसरे को सन्तान को कभी भी अपनी नहीं मानना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि यहां 'सुशेवः' पद सन्तान का वाचक है। यहां

---

१. सः घ स एवाग्निः नः अस्माकं सुशेवः सुसुखो भवत्विति शेषः। कोदृशः। शवसा बलस्य सूनुः पुत्रः पृथुप्रगामा पृथुप्रगमनः किञ्च अस्माकं मीढ्वान् कामानां वर्षिता बभूयात् भवतु ॥ (सायणः)

एक ही मन्त्र में दो पदों के समानार्थक होने पर एक विशेषण होकर विशेषता का बोध कराता है। इस प्रकार मन्त्रोक्त समस्त पदों की संगति 'अपत्य=सन्तान' में तो हो जाती है, किन्तु भौतिकाग्नि परक नहीं है। सन्तान उत्तम हो तो वह सुशेवः=उत्तम सुख देती है, वह पुरुषार्थी होकर शिल्पविद्या को सीखकर विस्तृत यानों से गमन भी करती है, और मीढ्वान्=आज्ञाकारी पुत्र माता-पितादि के लिए सुखों की वृष्टि करके उन्हें सदा स्नेहाद्र रखता है। महर्षि-दयानन्द ने मन्त्र के समस्त पदों पर सुविचार करके मन्त्र के देवता अग्नि का "अपत्यम्=सन्तान" अर्थ किया है। आचार्य-सायण ने केवल शाब्दिक अर्थ तो किया है किन्तु प्रकरण न बनाकर असंगत व्याख्या की है। अचेतनाग्नि को कामनाओं की वृष्टि करने वाला कहकर तो उन्होंने पदार्थ-विद्या से बिल्कुल ही अनभिज्ञता प्रकट की है॥ २॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **अग्निः (ईश्वरो विद्वान् वा)** देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते॥

फिर वह ईश्वर वा विद्वान् कैसा है, यह उपदेश किया जाता है॥

स नो दूराच्चासाच्च नि मर्त्यादघायोः। पाहि सदमिद्विश्वायुः॥ ३॥

सः। नः। दूरात्। च। आसात्। च। नि। मर्त्यात्। अघऽयोः। पाहि। सदम्। इत्। विश्वऽआयुः॥ ३॥

पदार्थः—(सः) जगदीश्वरो विद्वान् वा (नः) अस्मानस्माकं वा (**दूरात्**) विप्रकृष्टात् (**च**) समुच्चये (**आसात्**) समीपात् (**च**) पुनरर्थे (**नि**) नितराम् (**मर्त्यात्**) मनुष्यात् (**अघायोः**) आत्मनोऽघमिच्छतः शत्रोः (**पाहि**) रक्ष (**सदम्**) सीदन्ति सुखानि यस्मिंस्तं शिल्पव्यवहारं देहादिकं वा (**इत्**) एव (**विश्वायुः**) विश्वं संपूर्णमायुर्यस्मात् सः॥ ३॥

अन्वयः—स विश्वायुरघायोः शत्रोर्मर्त्यादूदूरादासाच्च नोऽस्मानस्माकं सदं च निपाहि सततं रक्षति॥ ३॥

सपदार्थान्वयः—**सः** जगदीश्वरो विद्वान् वा **विश्वायुः** विश्वं=सम्पूर्णमायुर्यस्मात् सः **अघायोः** आत्मनोऽघमिच्छतः शत्रोः **मर्त्यात्** मनुष्यात् **दूरात्** विप्रकृष्टात् **आसात्** समीपात् **च** समुच्चये **नः** अस्मान् **सदं** सीदन्ति सुखानि यस्मिंस्तं शिल्पव्यवहारं देहादिकं वा **च** पुनरर्थे **निपाहि=सततं रक्षति**॥ ३॥

भाषार्थ—(सः) वह जगदीश्वर वा विद्वान् (**विश्वायुः**) विश्व=सम्पूर्ण आयु का हेतु (**अघायोः**) पाप के इच्छुक=शत्रु (**मर्त्यात्**) मनुष्य से (**दूरात्**) दूर (**च**) और (**आसात्**) पास से, (नः) हमारी (**च**) और (**सदम्**) सुख के स्थान शिल्पव्यवहार वा देह आदि की (**निपाहि**) निरन्तर रक्षा करता है॥ ३॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः। मनुष्यैरुपासित ईश्वरः संसेवितो विद्वान् वा युद्धे शत्रूणां सकाशाद् रक्षको रक्षाहेतुर्भूत्वा शरीरादिकं विमानादिकं च संरक्ष्यास्मभ्यं सर्वमायुः सम्पादयति॥ ३॥

भावार्थ—इस मन्त्र में श्लेष अलंकार है। मनुष्य के द्वारा उपासना किया हुआ ईश्वर वा उत्तम रीति से सेवा किया हुआ विद्वान् युद्ध में शत्रुओं से रक्षा करने वाला एवं रक्षा का हेतु होकर, शरीर आदि और विमान आदि की रक्षा करके हमारे लिये सम्पूर्ण आयु को सिद्ध करता है॥ ३॥

भाष्यसार—**ईश्वर वा विद्वान् कैसा है**—जगदीश्वर वा विद्वान् हमारी सम्पूर्ण आयु का

हेतु है। वह युद्ध में शत्रुओं से हमारे शरीर आदि और विमान आदि यानों की रक्षा करता है, इस प्रकार हमारी सम्पूर्ण आयु को सिद्ध करता है। अतः सब मनुष्य ईश्वर की उपासना और विद्वानों की सेवा करें ॥ ३ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अग्नि ! तुम व्याप्त गति वाले दूर अथवा निकट देश में भी पाप करने की इच्छा वाले शत्रु-जनों से हमारा सदा ही पालन=रक्षा करो।"

इस मन्त्र में 'अग्नि' देवता के विषय में यह कहा गया है कि यह अग्नि विश्वायुः=सम्पूर्ण आयु का हेतु है और दूर अथवा समीपस्थ अघायोः=पाप अथवा अनिष्ट करने की इच्छा वाले वैरी जनों से रक्षा करता है। हम मनुष्यों की आयु का हेतु कौन है ? हमें पापी तथा दुर्जनों से कौन बचाता है ? इन मन्त्रोक्त बातों पर विचार करने से स्पष्ट है कि यह भौतिकाग्नि, जो स्वयं अचेतन एवं ज्ञानरहित है, उसमें तो ये विशेषताएँ कदापि सम्भव नहीं है। आयु मनुष्यों के कर्म का फल होता है और यह कर्म-फल परमेश्वर से भिन्न कोई भी नहीं दे सकता। अथवा "आचाराल्लभते ह्यायुः" इस मनु के प्रमाण के अनुसार सदाचार से आयु की प्राप्ति होती है। और इस सदाचार की शिक्षा वेदों का विद्वान् करता है, अतः वह भी आयु का निमित्त है। इसी प्रकार पाप करने की इच्छा वाले मनुष्यों से हमारी कौन रक्षा करता है ? पाप की उत्पत्ति सर्वप्रथम मन में होती है और मन के पापों का दूरीकरण परमेश्वर की उपासना से ही हो सकता है, क्योंकि परमात्मा मनीषी=हमारे मनों का भी स्वामी है। अथवा योगाङ्गों की शिक्षा से परमेश्वर की सच्ची उपासना सिखाने वाला योगी पूर्ण विद्वान् भी पाप-वासनाओं को दग्ध कराने की विधि बताकर हमें पापों से बचा सकता है। किन्तु अचेतन भौतिकाग्नि में यह सामर्थ्य कदापि नहीं है कि वह हमें पापों या शत्रुओं से बचा सके। अतः उससे प्रार्थना करना ही निरर्थक है। महर्षि दयानन्द ने यहाँ 'अग्नि' देवता के 'ईश्वर और विद्वान्' दोनों अर्थ करके मन्त्रार्थ की पूर्णतः प्रकरण-संगत व्याख्या की है। आचार्य-सायण ने मन्त्रार्थ के रहस्य को न समझकर असंगत व्याख्या की है। सायणाचार्य की भांति स्कन्द-स्वामी और वेंकटमाधवादि पौराणिक भाष्यकारों ने भी यहां यज्ञियाग्नि से प्रार्थना करके सायण की भांति ही भूल की है ॥ ३ ॥ ●

आजीगर्तिः शुनःशेप ऋषिः। **अग्निः (ईश्वरः) देवता**। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

अथाग्निशब्देनेश्वर उपदिश्यते ॥

अब अग्नि शब्द से ईश्वर का उपदेश किया जाता है ॥

इ॒मम्॑ ऊ षु त्वम॒स्माकं॑ स॒निं गा॑यत्रं॒ नव्या॑ꣳसम्। अग्ने॑ दे॒वेषु॒ प्र वो॑चः ॥ ४ ॥

इ॒मम्। ऊ॒म् इति॑। सु। त्वम्। अ॒स्माक॑म्। स॒निम्। गा॒य॒त्र॒म्। नव्या॑ꣳसम्। अग्ने॑। दे॒वेषु॑। प्र। वो॒चः॒ ॥ ४ ॥

पदार्थः—(**इमम्**) वक्ष्यमाणम् (**ऊ**) वितर्के अत्र **निपातस्य च** इति दीर्घः। (**सु**) शोभने (**त्वम्**) सर्वमङ्गलप्रदातेश्वरः (**अस्माकम्**) मनुष्याणाम् (**सनिम्**) सनन्ति संभजन्ति सुखानि यस्मिन् व्यवहारे तम्। अत्र 'सन' धातोः। **खनिकष्यज्यसिवसिवनिसनि०**। उ० ४। १४५। अनेनाऽधिकरण इः

१. हे अग्ने ! विश्वायुः व्याप्तगमनः सः त्वं दूराच्च दूरेऽपि आसाच्च आसन्नदेशेऽपि अघायोः अघं पापमनिष्टं कर्त्तुमिच्छतः मर्त्यात् मनुष्यात् वैरिणः नः अस्मान् सदमित् सर्वदैव निपाहि नितरां पालय ॥ (सायणः)

प्रत्ययः। (गायत्रम्) गायत्रीप्रगाथा येषु चतुर्षु वेदेषु तं वेदचतुष्टयम् (नव्यांसम्) अतिशयेन नवो नवीनो बोधो यस्मात्तम्। अत्र छान्दसो वर्णलोपो वा इत्यनेनेकारलोपश्च। (अग्ने) अनन्तविद्यामय जगदीश्वर (देवेषु) सृष्ट्यादौ पुण्यात्मसु जातेष्वग्निवाय्वादित्याङ्गिरस्सु मनुष्येषु (प्र) प्रकृष्टार्थे क्रियायोगे (वोचः) प्रोक्तवान्। अत्र 'वच' धातोर्वर्त्तमाने लुङडभावश्च ॥ ४ ॥

प्रमाणार्थ—(ऊ) यहां 'निपातस्य च' (अ० ६। ३। १३५) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—'ऊ'। (सनिम्) यहां 'सन' धातु से 'खनि.....सनि०' (उ० ४। १४०) इस उणादि सूत्र से अधिकरण कारक में 'इ' प्रत्यय है (सन्+इ=सनि+अम्=सनिम्)। (नव्यांसम्) यहां 'छान्दसो वर्णलोपो वा' (महा० ८। २। २५) इस वचन से ईकार का लोप है—नवीयांसम्'॥

अन्वयः—हे अग्ने त्वं यथा देवेषु नव्यांसं गायत्रं सुसनिं प्रवोचस्तथेममु—इतिवितर्केऽस्माकमात्मसु प्रवग्धि ॥ ४ ॥

सपदार्थान्वयः— हे अग्ने अनन्तविद्यामयजगदीश्वर ! त्वं सर्वमङ्गलप्रदातेश्वरः **यथा देवेषु** सृष्ट्यादौ पुण्यात्मसु जातेष्वग्निवाय्वादित्याङ्गिरस्सु मनुष्येषु **नव्यांसं** अतिशयेन नवो=नवीनो बोधो यस्मात् तं **गायत्रं** गायत्रीप्रगाथा येषु चतुर्षु वेदेषु तं वेदचतुष्टयं **सुसनिं** शोभनं सनन्ति=संभजन्ति सुखानि यस्मिन् व्यवहारे तं **प्रवोचः** प्रकृष्टं प्रोक्तवान्, **तथेमं** वक्ष्यमाणम् **उ इति वितर्केऽस्माकं** मनुष्याणाम् **आत्मसु प्रवग्धि** ॥ ४ ॥

भाषार्थ—हे (अग्ने) अनन्त विद्यामय जगदीश्वर ! (त्वम्) सब मङ्गल प्रदान करने वाले आप ने जैसे (देवेषु) सृष्टि के आदि में उत्पन्न पुण्यात्मा अग्नि, वायु, आदित्य अङ्गिरा मनुष्यों में (नव्यांसम्) अत्यन्त नवीन बोध के हेतु (गायत्रम्) गायत्री आदि छन्दों से युक्त चार वेद तथा (सुसनिम्) उत्तम सुखों को जिस व्यवहार में सेवन करते हैं उसका (प्रवोचः) प्रवचन किया है, वैसे (इमम्) इस ज्ञान का (उ) विचारपूर्वक (अस्माकम्) हम मनुष्यों की आत्मा में उपदेश करो ॥४॥

भावार्थः—हे जगदीश्वर ! भवान् यथाऽग्न्यादीनां महर्षीणां धार्मिकाणां विदुषामात्मसु सत्यं बोधं प्रकाश्य परमं सुखं दत्तवान्, तथैवास्माकमात्मसु तादृशमेव प्रकाशय। यतो वयं विद्वांसो भूत्वा श्रेष्ठानि धर्म्मकार्य्याणि सदैव कुर्य्यामिति ॥ ४ ॥

भावार्थ—हे जगदीश्वर ! आपने जैसे अग्नि आदि महर्षि धार्मिक विद्वानों की आत्मा में सत्य बोध को प्रकाशित करके परम सुख दिया है, वैसे ही हमारी आत्माओं में बोध प्रकाशित कर। जिससे हम लोग विद्वान् होकर श्रेष्ठ धर्म-कार्यों को सदैव करें ॥ ४ ॥

भाष्यसार—**अग्नि (ईश्वर) से प्रार्थना**—अग्नि अर्थात् हे अनन्त विद्यामय जगदीश्वर ! आप सकल मङ्गल प्रदान करने वाले हो। आपने ही सृष्टि के आदि में उत्पन्न पुण्यात्मा अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा मनुष्यों के हृदय में गायत्री आदि छन्दों से युक्त चार वेद रूप अत्यन्त नवीन ज्ञान प्रकाशित किया है। जिस व्यवहार में उत्तम सुखों का सेवन होता है उसका भी आप ही प्रवचन करते हो। सो आप इस वेदज्ञान का विचारपूर्वक हमारी आत्मा में उपदेश करो। जिससे हम लोग विद्वान् होकर श्रेष्ठ धर्म-कार्यों को सदा करते रहें ॥ ४ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अग्नि ! तुम हमारे से सम्बद्ध इस सम्मुख अनुष्ठान किए हुए हवि-दान को तथा नवीनतम स्तुति रूप वचनों को भी देवों के आगे बताना।"

---

१. हे अग्ने ! त्वम् अस्माकम् अस्मत् सम्बन्धिनम् इमम् षु पुरोदेशे अनुष्ठीयमानमपि सनिं हविर्दानं नव्यांसं नवतरं गायत्रं स्तुतिरूपं वचोऽपि देवेषु देवानामग्रे प्रवोचः प्रब्रूहि ॥ (सायणः)

इस मन्त्रार्थ में आचार्य-सायण लिखते हैं कि यह अग्नि हवन में डाली हवि और हमारे स्तुति-वचनों को देवों के आगे बताता है। यह सायण की कैसी अनर्गल मिथ्या-धारणा है। क्या यह अग्नि (अचेतन) चेतन प्राणियों के तुल्य व्यवहार कर सकती है? क्या यह हमारे वचनों को सुनकर देवों के सम्मुख कहने में समर्थ है? और वे देव कहां रहते हैं, जिनके सम्मुख स्तुति-वचनों को कहेगी? जिस अग्नि को सायण-भाष्य (ऋ० १ । २७ । ६) में तुरन्त फल देने वाला माना है, उसे यजमान के स्तुति-वचनों को देवों के आगे कहने से क्या लाभ? यजमान को तो सायणानुसार अग्नि ने ही कर्मों का फल दे दिया, पुनः दूसरे देवों का क्या कार्य शेष रह जाता है? इत्यादि प्रश्नों का सायण-भाष्य से कोई समाधान नहीं मिलता। यथार्थ में सायण-कृत समस्त व्याख्या पुराणों की कल्पित-धारणाओं के आश्रय से की गई है। ऐसी असंभव मान्यताओं का वर्णन करके आचार्य-सायण ने वेदों के गौरव को कलंकित ही किया है।

महर्षि-दयानन्द ने यहां 'अग्नि' का अर्थ 'जगदीश्वर' किया है। वह ही अग्रे=सृष्टि के आदि में देवेषु=अग्नि आदि देवों को गायत्रम्=वेद-ज्ञान का उपदेश करता है। और सुसनिम्=समस्त व्यावहारिक ज्ञान को वेद-द्वारा बताता है। इस महर्षि-कृत व्याख्या में कहीं भी कोई असंगति नहीं है। अतः सायण-कृत व्याख्या असंगत तथा सृष्टि-क्रम से विरुद्ध होने से सर्वथा अमान्य है ॥ ४ ॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **अग्निः** (विद्वान्) देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनर्मनुष्यान् प्रति विदुषा कथं वर्त्तितव्यमित्युपदिश्यते ॥

फिर मनुष्यों के प्रति विद्वान् कैसे वर्त्ताव करें, यह उपदेश किया जाता है ॥

आ नो भज परमेष्वा वाजेषु मध्यमेषु । शिक्षा वस्वो अन्तमस्य ॥ ५ ॥

आ । नः । भज । परमेषु । आ । वाजेषु । मध्यमेषु । शिक्ष । वस्वः । अन्तमस्य ॥ ५ ॥

पदार्थः—(**आ**) समन्तात् (**नः**) अस्मान् (**भज**) सेवस्व (**परमेषु**) उत्कृष्टेषु (**आ**) अभ्यर्थे (**वाजेषु**) सुखप्राप्तिमयेषु युद्धेषूत्तमेष्वन्नादिषु वा (**मध्यमेषु**) मध्यमसुखविशिष्टेषु (**शिक्ष**) सर्वा विद्या उपदिशेः। अत्र **द्व्यचोतस्तिङ** इति दीर्घः। (**वस्वः**) सुखपूर्वकं वसन्ति यैस्तानि वसूनि द्रव्याणि (**अन्तमस्य**) सर्वेषां दुःखानामन्तं मिमीते येन युद्धेन तस्य मध्ये ॥ ५ ॥

प्रमाणार्थ—(**शिक्ष**) यहां 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (अ० ६ । ३ । १३४) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—'शिक्षा' ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे विद्वंस्त्वं परमेषु मध्यमेषु वाजेषु वान्तमस्य मध्ये नोऽस्मान् सर्वा विद्या आशिक्षैवं नोऽस्मान् वस्वो वसून्याभज समन्तात्सेवस्व ॥ ५ ॥

सपदार्थान्वयः—हे विद्वन्! त्वं **परमेषु** उत्कृष्टेषु **मध्यमेषु** मध्यमसुखविशिष्टेषु **वाजेषु** सुखप्राप्तिमयेषु युद्धेषूत्तमेष्वन्नादिषु वा **अन्तमस्य** सर्वेषां दुःखानामन्तं मिमीते येन युद्धेन तस्य मध्ये **नः=अस्मान् सर्वा विद्या आशिक्ष** समन्तादुपदिशेः **एवं नः=अस्मान् वस्वः** सुखपूर्वकं वसन्ति यैस्तानि

भाषार्थ—हे विद्वन्! आप—(**परमेषु**) उत्तम (**मध्यमेषु**) मध्यम (**वाजेषु**) सुख प्राप्ति वाले युद्धों में वा उत्तम अन्न आदि में तथा (**अन्तमस्य**) सब दुःखों का अन्त करने वाले युद्ध के मध्य में (**नः**) हमें सब विद्याओं का (**आशिक्ष**) सब ओर से उपदेश कर, एवं (**नः**) हम लोगों को (**वस्वः**)

वसूनि=द्रव्याणि **आभज=समन्तात् सेवस्व** ॥ ५ ॥

भावार्थः—एवं यैर्धार्मिकैः पुरुषार्थिभिर्मनुष्यैः सेवितः सन् विद्वान् सर्वा विद्याः प्राप्य तान् सुखिनः कुर्यात् । यस्मिन् जगत्युत्तममध्यमनिकृष्टभेदेन त्रिविधा भोगा लोका मनुष्याश्च सन्ति, एतेषु यथाबुद्धि जनेभ्यो विद्यां दद्यात् ॥ ५ ॥

सुखपूर्वक वास के हेतु द्रव्यों का (**आभज**) सब ओर से सेवन कराओ ॥ ५ ॥

भावार्थ—इस प्रकार से धार्मिक पुरुषार्थी मनुष्यों के द्वारा सेवन किया हुआ विद्वान् सब विद्याओं को प्राप्त करके उन्हें सुखी बनावे । जिस जगत् में उत्तम, मध्यम और निकृष्ट भेद से तीन प्रकार के भोग, लोक और मनुष्य हैं, इनके विषय में यथामति लोगों को विद्या देता रहे ॥

भाष्यसार—**मनुष्यों के प्रति विद्वान् का वर्त्ताव**—विद्वान् उत्तम, मध्यम सुखों की प्राप्ति कराने वाले तथा सब दुःखों का अन्त करने वाले युद्ध में मनुष्यों को विद्याओं का उपदेश करे । सुखपूर्वक वास के हेतु जो द्रव्य हैं, उनका सेवन करावे । इस जगत् में उत्तम, मध्यम और निकृष्ट भेद से तीन प्रकार के भोग, लोक और मनुष्य हैं । विद्वान् इनके विषय में यथामति मनुष्यों को विद्या प्रदान करे ॥ ५ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अग्नि ! उत्कृष्ट द्युलोकस्थ तथा मध्यम अन्तरिक्षलोकस्थ अन्नों को हमें सब ओर से प्राप्त कराइए । और निकटवर्ती भूलोक से सम्बद्ध वसुओं को प्रदान करो ।"

इस मन्त्र का प्रतिपाद्यविषय 'अग्नि' देवता है । यह 'अग्नि' क्या है ? इस की स्पष्ट व्याख्या के बिना मन्त्रार्थ कदापि स्पष्ट नहीं हो सकता । सायण-भाष्य के अनुसार यह अग्नि द्युलोक व अन्तरिक्षलोक के अन्नों को प्राप्त कराता है । भूलोक के अन्नों से तो "सब मनुष्य परिचित हैं, किन्तु द्युलोक तथा अन्तरिक्षलोक के अन्नों को आचार्य-सायण ने ही देखा होगा, जो उन्होंने यह प्रत्यक्ष विरुद्ध व्याख्या की है । यथार्थ में मन्त्र में 'लोक' शब्द तो पठित नहीं है । मन्त्र में 'परम' तथा 'मध्यम' शब्द 'वाजेषु' पद के विशेषण ही हैं । जिसके अनुसार यही अर्थ हो सकता है—उत्कृष्ट और मध्यम वाज=अन्न । इस अर्थ में कोई भी असंगति नहीं है । अन्न सात्विकादि भेद से उत्तम-मध्यमादि होते हैं । और उनकी प्राप्ति या सेवन कराने की विद्या कौन दे सकता है ? इस भौतिकाग्नि में तो वह सामर्थ्य कहां है ? अतः महर्षि दयानन्द ने यहां अग्निः=विद्वान् अर्थ करके मन्त्रार्थ की बहुत सुन्दर संगति लगाई है । विद्वान् वैद्य ही यह बोध करा सकता है कि कौन-सा अन्न उत्तम, मध्यम एवं अधम है, अथवा सतोगुणी, रजोगुणी, तमोगुणी है । और मन्त्र में 'शिक्ष' क्रिया पठित है । उसका सायण-भाष्य में 'देहि=दो' अर्थ किया है । यह देने अथवा सिखाने की प्रार्थना भी विद्वान् से ही हो सकती है । जड़-अग्नि से प्रार्थना करना अथवा मांगना निरर्थक होने से मिथ्या ही है ॥ ५ ॥ ●

आजीगर्तिः शुनःशेप ऋषिः । **अग्निः** (विद्वान्) देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

फिर वह विद्वान् कैसा है, यह उपदेश किया जाता है ॥

---

१. हे अग्ने ! परमेषु उत्कृष्टेषु द्युलोकवर्त्तिषु वाजेषु अन्नेषु नः अस्मान् आ भज सर्वतः प्रापय । मध्यमेषु अन्तरिक्षलोकवर्तिषु वाजेषु आभज । अन्तमस्य अन्तिकतमस्य भूलोकस्य सम्बन्धीनि वस्वः वसूनि शिक्ष देहि ॥ (सायणः)

विभक्तासि चित्रभानो सिन्धोरूर्मा उपाक आ। सद्यो दाशुषे क्षरसि॥ ६॥

विऽभक्ता। असि। चित्रभानो इति चित्रऽभानो। सिन्धोः। ऊर्मौ। उपाके। आ। सद्यः। दाशुषे। क्षरसि॥ ६॥

पदार्थः—(**विभक्ता**) विविधानां पदार्थानां संभागकर्त्ता (**असि**) वर्त्तसे (**चित्रभानो**) यथा **चित्रा** अद्भुता भानवो विज्ञानादिदीप्तयो यस्य विदुषस्तत्संबुद्धौ तथा (**सिन्धोः**) समुद्रस्य (**ऊर्मौ**) तरङ्गइव (**उपाके**) समीपे (**आ**) सर्वतः (**सद्यः**) शीघ्रम् (**दाशुषे**) विद्याग्रहणाऽनुष्ठानं कृतवते मनुष्याय (**क्षरसि**) वर्षसि॥ ६॥

अन्वयः—यथा हे चित्रभानो विविधविद्यायुक्त विद्वँस्त्वं सिन्धोरूर्मौ जलकणविभागइव सर्वेषां पदार्थानां विद्यानां विभक्तासि दाशुष उपाके सत्योपदेशेन बोधान् सद्य आक्षरसि समन्ताद्वर्षसि तथा त्वं भाग्यशाली विद्वानस्माभिः सत्कर्त्तव्योऽसि॥ ६॥

सपदार्थान्वयः—यथा हे **चित्रभानो**=**विविध विद्यायुक्त विद्वन्** यथा **चित्रा**=अद्भुता **भानवो**=विज्ञानादिदीप्तयो यस्य विदुषस्तत्सम्बुद्धौ! **त्वं सिन्धोः** समुद्रस्य **ऊर्मौ**=**जलकणविभाग इव तरङ्ग इव सर्वेषां पदार्थानां विद्यानां विभक्ता** विविधानां पदार्थानां संभागकर्त्ता **असि** वर्त्तसे, **दाशुषे** विद्याग्रहणानुष्ठानं कृतवते मनुष्याय **उपाके** समीपे **सत्योपदेशेन बोधान् सद्यः** शीघ्रं **आक्षरसि समन्नात्** सर्वतो वर्षसि **तथा त्वं भाग्यशाली विद्वानस्माभिः सत्कर्त्तव्योऽसि**॥ ६॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथा समुद्रस्य जलकणाः पृथक् भूत्वाऽऽकाशं प्राप्यैकीभूत्वा अभिवर्षन्ति, यथा विद्वान् विद्याभिः सर्वान् पदार्थान् विभज्यैतान् पुनः पुनर्मनुष्यात्मसु प्रकाशयेत् तथाऽस्माभिः कथं नानुष्ठातव्यम्?॥ ६॥

भाषार्थ—जैसे हे (**चित्रभानो**) अद्भुत विज्ञानादि दीप्तियों वाले अर्थात् विविध विद्या से युक्त विद्वन्! आप—(**सिन्धोः**) समुद्र की (**ऊर्मौ**) तरंगों के तुल्य सब पदार्थों की विद्याओं के (**विभक्ता**) बांटने वाले (**असि**) हो, (**दाशुषे**) विद्या के ग्रहण और अनुष्ठान करने वाले मनुष्य के लिये (**उपाके**) पास में सत्य-उपदेश से बोधों की (**सद्यः**) शीघ्र (**आक्षरसि**) सब ओर से वर्षा करते हो, इससे आप भाग्यशाली विद्वान् हमारे सत्कार करने योग्य हो॥ ६॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमा अलंकार है॥ जैसे समुद्र के जल-कण पृथक् होकर आकाश में पहुँच एक होकर बरसते हैं, जैसे विद्वान् विद्याओं से सब पदार्थों को विभक्त करके, बार-बार मनुष्यों की आत्माओं में प्रकाशित करता है, वैसे हम लोग भी क्यों न करें॥ ६॥

भाष्यसार—**विद्वान् कैसा है**—अद्भुत विज्ञानादि दीप्तियों वाला अर्थात् विविध विद्या से युक्त विद्वान्—समुद्र की तरंगों के तुल्य सब पदार्थों की विद्याओं को बांटने वाला होता है। जैसे समुद्र के जल-कण पृथक् होकर आकाश में पहुँच, इकट्ठे होकर बरसते हैं, वैसे विद्वान् विद्याओं के द्वारा सब पदार्थों को विभक्त करके इन्हें बार-बार मनुष्यों की आत्मा में प्रकाशित करता है। वह विद्या के ग्रहण करने और तदनुसार आचरण करने वाले मनुष्य के लिये ज्ञान की वर्षा करता है। ऐसा सौभाग्यशाली विद्वान् हमारे सत्कार योग्य होता है॥ ६॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे विचित्र रश्मियों से युक्त अग्नि! तुम

---

१. हे चित्रभानो विचित्ररश्मियुक्त अग्ने! विभक्ता विशिष्टस्य धनस्य प्रापयिता असि। तत्र दृष्टान्त उच्यते। आकार उपमार्थः। यथा सिन्धोः नद्यः उपाके समीपे ऊर्मौ ऊर्मितरङ्गोपलक्षितं कुल्यादिप्रवाहं विभजन्ति तद्वत्। दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय सद्यः तदानीमेव क्षरसि कर्मफलभूतां वृष्टिं करोषि॥ (सायणः)

विशिष्ट धनों को प्राप्त कराते हो। जैसे नदी के समीप नहरादि रूप में प्रवाह को विभक्त कर देते हैं, वैसे हवि देने वाले यजमान के लिए उसी समय कर्मों के फलस्वरूप वृष्टि को करते हो।"

इस मन्त्र में 'अग्नि' देवता की दो विशेषताएँ बताई गई हैं—(१) विभक्ता=अग्नि विभाग करने वाला है। (२) दाशुषे=विद्यादि का दान देने वाले के लिए आक्षरसि=सब ओर से सुखों की वर्षा करता है। आचार्य-सायण ने इनका अर्थ किया है—यह अग्नि विशिष्ट धन को प्राप्त कराता है और हवि देने वाले यजमान के लिए उसी समय कर्म-फलों की वृष्टि करता है। क्या ये दोनों बातें अचेतनाग्नि से सम्भव हैं? अचेतन भौतिकाग्नि को कर्म-फल देने वाला मानकर तो सायण ने महाभ्रान्ति को सूचित किया है। भौतिकाग्नि का धर्म है—जलाना अथवा प्रकाश करना। उसे यह बोध भी कहां कि हवि कौन दे रहा है और कौन नहीं दे रहा है? यदि हवि देने वाला यजमान भी भूल से अग्नि का स्पर्श करता है, तो क्या अग्नि उसे क्षमा कर देती है? महर्षि-दयानन्द ने 'अग्नि' का अर्थ 'विद्वान्' किया है। वह ही विविध-विज्ञान युक्त होने से चित्रभानु है, वह पदार्थ-विद्या का बोध कराने से पदार्थों का विभाग भी कराता है और वह विद्यार्थियों के लिए ज्ञान-वृष्टि करता है। ऐसे विद्या-विभूषित विद्वान् का मनुष्यों को सत्कार करना चाहिए॥ ६॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **अग्निः** (ईश्वरः) देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते॥

फिर वह ईश्वर कैसा है, यह उपदेश किया जाता है॥

यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यं जुनाः। स यन्ता शश्वतीरिषः॥ ७॥

यम्। अग्ने। पृत्सु। मर्त्यम्। अवाः। वाजेषु। यम्। जुनाः। सः। यन्ता। शश्वतीः इषः॥ ७॥

पदार्थः—(यम्) धार्मिकं शूरवीरम् (अग्ने) स्वबलतेजसा प्रकाशमान (पृत्सु) पृतनासु। पदादिषु मांस्पृत्स्नूनामुपसंख्यानम्। अ० ६। १। ६३। इति वार्त्तिकेन पृतनाशब्दस्य पृदादेशः। (मर्त्यम्) मनुष्यम् (अवाः) रक्षेः। अयं लेट्प्रयोगः। (वाजेषु) संग्रामेषु (यम्) योद्धारम् (जुनाः) प्रेरयेः। अयं "जुन गतौ" इत्यस्य लेट्प्रयोगः। (सः) मनुष्यः (यन्ता) शत्रूणां निग्रहीता (शश्वतीः) अनादिस्वरूपाः (इषः) इष्यन्ते यास्ताः प्रजाः। अत्र कृतो बहुलम् इति कर्मणि क्विप्॥ ७॥

प्रमाणार्थ—(पृत्सु) यहां 'पदादिषु मांस्पृत्स्नूनामुपसंख्यानम्' (अ० ६। १। ६१) इस वार्त्तिक सूत्र से 'पृतना' शब्द के स्थान में 'पृत्' आदेश है। (अवाः) यह लेट्-लकार का प्रयोग है (जुनाः) यह 'जुन गतौ' इस धातु का 'लेट्' लकार का प्रयोग है। (इषः) यहां 'कृतो बहुलम्' (अ० ३। ३। ११३) इस वार्त्तिक सूत्र से कर्म-कारक में 'क्विप्' प्रत्यय है॥ ७॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर त्वं यं मर्त्यं पृत्स्ववा रक्षेर्यं च वाजेषु जुनाः प्रेरयेर्य इमाः शश्वतीः प्रजाः सततमवरक्षेरस्मात्कारणात्स भवानस्माकं सदा यन्ता भवत्विति वयं प्रतिजानीमः॥ ७॥

सपदार्थान्वयः—हे अग्ने स्वबल-तेजसा प्रकाशमान **जगदीश्वर! त्वं यं**, धार्मिकं शूरवीरं **मर्त्यं** मनुष्यं **पृत्सु** पृतनासु **अवाः**=रक्षेः, **यं** योद्धारं **च वाजेषु** संग्रामेषु **जुनाः** प्रेरयेः, **य इमाः**

भाषार्थ—हे (अग्ने) अपने बल और तेज से प्रकाशमान जगदीश्वर! आप—(यम्) जिस धार्मिक शूरवीर (मर्त्यम्) मनुष्य की (पृत्सु) सेनाओं में (अवाः) रक्षा करते हो, और (यम्) जिस योद्धा

शश्वतीः अनादिस्वरूपाः **इषः** इष्यन्ते यास्ताः प्रजाः **सततमवरक्षेः. अस्मात् कारणात् स भवानस्माकं सदा यन्ता** शत्रूणां निग्रहीता **भवत्विति प्रतिजानीमः** ॥ ७ ॥

को (**वाजेषु**) संग्रामों में (**जुनाः**) प्रेरित करते हो, जो आप इस (**शश्वतीः**) अनादि स्वरूप वाली (**इषः**) कमनीय प्रजा की निरन्तर रक्षा करते हो, इस कारण से (**सः**) आप हमारे सदा (**यन्ता**) शत्रुओं को वश में करने वाले होओ, इस प्रकार हम प्रतिज्ञा करते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थः—यथाऽयं जगदीश्वर एवानादिकालाद् वर्त्तमानायाः प्रजाया रक्षारचनाव्यवस्थाकारकोऽस्ति, तथा यो मनुष्य एतं सर्वव्यापिनं सर्वतोऽभिरक्षकं परमेश्वरमुपास्यैवं विदधाति, तस्य नैव कदाचित् पीडापराजयौ भवत इति ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे यह जगदीश्वर ही अनादि काल से वर्त्तमान प्रजा की रक्षा, रचना और व्यवस्था करने वाला है, वैसे जो मनुष्य इस सर्वव्यापक, सब ओर से रक्षक परमेश्वर की उपासना करके इस प्रकार आचरण करता है, उसको कभी पीड़ा और पराजय नहीं होते हैं ॥ ७ ॥

भाष्यसार—ईश्वर कैसा है— ईश्वर अपने बल और तेज से प्रकाशमान है। वह धार्मिक शूरवीर मनुष्य की सेनाओं में रक्षा करता है। वह योद्धा को संग्रामों में प्रेरित करता है। वह अनादि प्रजा की सदा रक्षा करता है। वह हमारे शत्रुओं को वश में करने वाला है। तात्पर्य यह है कि ईश्वर ही अनादि काल से वर्त्तमान प्रजा का रक्षक, रचक और व्यवस्थापक है। जो ईश्वर की उपासना करता है उसको पीड़ा और पराजय कभी प्राप्त नहीं होते ॥ ७ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अग्नि ! संग्रामों में जिस यजमान की तुम रक्षा करते हो और संग्रामों में जिस पुरुष को प्रेरणा देते हो, वह यजमान नित्य अन्नों को नियन्त्रित करने में समर्थ हो जाता है।"

इस मन्त्र की व्याख्या में सायण और दयानन्द दोनों भाष्यकारों ने यह लिखा है कि अग्नि संग्रामों में रक्षा करता है और संग्रामों में प्रेरणा देता है। ऐसा अग्नि कौन हो सकता है ? यह सायणाचार्य ने नहीं समझा। क्या यह भौतिकाग्नि युद्ध में रक्षा अथवा प्रेरणा कर सकता है ? अचेतनाग्नि को अपना रक्षक तथा प्रेरक वही मान सकता है, जो दर्शनों में प्रतिपादित पदार्थ-विद्या से अनभिज्ञ हो। कोई भी अचेतन पदार्थ ऐसे धर्मवाला नहीं है, जो चेतनों की स्वयं रक्षा अथवा प्रेरणा कर सके। सायण-भाष्य में 'शश्वतीरिषः' की व्याख्या भी असंगत है। यद्यपि 'इषः' का अर्थ अन्न भी है किन्तु वे सदा रहने वाले नहीं हो सकते। मन्त्र-पठित 'शश्वतीः' विशेषण को न समझकर सायण ने भूल की है। महर्षि-दयानन्द ने यहाँ 'शाश्वत-प्रजा' अर्थ किया है। वेद में जीवरूप प्रजा के लिए अन्यत्र भी 'शाश्वती' शब्द पढ़ा है। जैसे—प्रर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ (यजु० ४०। ८) अर्थात् परमात्मा ने अपनी शाश्वत जीवरूप प्रजा के लिए वेदार्थ का बोध कराया। परमेश्वर की जीवरूप प्रजा सदा रहने वाली है। परमेश्वर युद्धादि के समय उनकी रक्षा तथा प्रेरणा भी करता है। और वह ही यन्ता=शत्रुओं या दुष्ट-पुरुषों का दण्डादि देकर नियन्त्रण भी करता है। अतः मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय 'अग्नि' देवता का 'परमेश्वर' अर्थ किया है, जिसकी यहाँ पूर्णतः संगति होती है और सायण-कृत व्याख्या असंगत है ॥ ७ ॥ ●

---

१. हे अग्ने ! पृत्सु संग्रामेषु यं मर्त्यं यजमानम् अवाः अवसि रक्षसि। यं पुरुषं वाजेषु संग्रामेषु जुनाः प्रेरयसि। सः नरो यजमानः शश्वतीरिषः नित्यान्यन्नानि यन्ता नियन्तुं समर्थो भवति ॥ (सायणः)

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः । **अग्निः** (विद्वान् सेनाध्यक्षः) देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

फिर वह विद्वान् कैसा है, यह उपदेश किया जाता है ॥

नकिरस्य सहन्त्य पर्येता कयस्य चित् । वाजो अस्ति श्रवाय्यः ॥ ८ ॥

नकिः । अस्य । सहन्त्य । परिऽएता । कयस्य । चित् । वाजः । अस्ति । श्रवाय्यः ॥ ८ ॥

पदार्थः—(**नकिः**) धर्ममर्यादा या नाक्रमिता । **नकिरिति सर्वसमानीयेषु पठितम् । निघं० ३ । १२ ।** अनेन क्रमणनिषेधार्थो गृह्यते (**अस्य**) सेनाध्यक्षस्य (**सहन्त्य**) सहनशील विद्वन् (**पर्येता**) सर्वतोऽनुग्रहीता (**कयस्य**) चिकेति जानाति योद्धुं शत्रून्पराजेतुं यः स कयस्तस्य । अत्र सायणाचार्येण यकारोपजनश्छान्दस इति भ्रमादेवोक्तम् । (**चित्**) एव (**वाजः**) संग्रामः (**अस्ति**) भवति (**श्रवाय्यः**) श्रोतुमर्हः । अत्र **श्रुदक्षिस्पृहि० ।** उ० ३ । ९४ । अनेनाय्य-प्रत्ययः ॥ ८ ॥

प्रमाणार्थ—(**नकिः**) यह पद निघण्टु (३ । १२) में सब पदों के समाम्नाय में पढ़ा गया है, इसलिये क्रमण के निषेध अर्थ का यहां ग्रहण होता है । (**कयस्य**) यहां सायणाचार्य जो यकार का उपजन छान्दस=वैदिक बतलाया है सो भ्रम से ही कहा है । (**श्रवाय्यः**) यहां 'श्रुदक्षिस्पृहि०' (उ० ३ । ९६) इस उणादिसूत्र से 'श्रु' धातु से 'आय्य' प्रत्यय है ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे सहन्त्य सहनशील विद्वन्नकिः पर्येता त्वं यस्यास्य कयस्य धर्मात्मनो वीरस्य श्रवाय्यो वाजोऽस्ति तस्मै सर्वमभीष्टं पदार्थं दद्या इति नियोज्यते भवानस्माभिः ॥ ८ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **सहन्त्य**=सहनशील विद्वन् ! **नकिः** धर्ममर्यादाया नाक्रमिता **पर्येता** सर्वतोऽनुग्रहीता **त्वं यस्यास्य** सेनाध्यक्षस्य **कयस्य** चिकेति=जानाति योद्धुं शत्रून् पराजेतुं यः स कयस्तस्य **धर्मात्मनो वीरस्य श्रवाय्यः** श्रोतुमर्हः **वाजः** संग्रामः **अस्ति** भवति, **तस्मै चित्** एव **सर्वमभीष्टं पदार्थं दद्याः, इति नियोज्यते भवानस्माभिः ॥ ८ ॥**

आषार्थ—हे (**सहन्त्य**) सहनशील विद्वन् ! (**नकिः**) धर्ममर्यादा का अतिक्रमण न करने वाले (**पर्येता**) सब ओर से अनुग्रह करने वाले आप—जिस (**अस्य**) इस सेनाध्यक्ष (**कयस्य**) युद्ध करना जानने वाले एवं शत्रुओं को पराजित करने वाले धार्मिक वीर पुरुष का जो (**श्रवाय्यः**) सुनने योग्य (**वाजः**) संग्राम (**अस्ति**) है, उसको (**चित्**) ही सब अभीष्ट पदार्थ दीजिये, इस कार्य के लिये हम आपको नियुक्त करते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थः—यथा नैव कश्चिद् विद्वानप्यनन्तशुभगुणस्याप्रमेयस्याक्रमितव्यस्य परमेश्वरस्य क्रमणं परिमाणं कर्त्तुमर्हति, यस्य सर्वं विज्ञानं निर्भ्रान्तमस्ति, तथैव येनैवं प्रवृत्त्यते स एव सर्वैर्मनुष्यै राजकार्याधिपतिः स्थापनीयः ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे कोई विद्वान् अनन्त शुभ गुणों वाले, परिमाण रहित, जिसका अतिक्रमण नहीं किया जा सकता उस परमेश्वर का उल्लंघन एवं परिमाण नहीं कर सकता है, जिसका सब विज्ञान निर्भ्रान्त है; वैसे ही जो उक्त प्रकार से प्रवृत्त होता है उसे ही सब मनुष्य राजकार्यों का अधिपति बनावें ॥ ८ ॥

भाष्यसार—विद्वान् कैसा है—विद्वान् सहनशील, धर्ममर्यादा का अतिक्रमण न करने वाला और सब से अनुग्रह करने वाला होता है । वह युद्ध के ज्ञाता एवं शत्रुओं को पराजित करने वाले धार्मिक

वीर सेनाध्यक्ष का जो सुनने योग्य संग्राम होता है, उसको ही सब अभीष्ट पदार्थ प्रदान करता है। उक्त सेनाध्यक्ष की सहायता में हम आपको नियुक्त करते हैं ॥ ८ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे शत्रुओं का अभिभव (तिरस्कार) करने वाले अग्नि ! तुम्हारे भक्त यजमान का कोई आक्रमण करने वाला नहीं है और आप इस यजमान का सुनने योग्य (प्रसिद्ध) विशेष बल है ॥"

सायण ने इस मन्त्र में अग्नि को सहन्त्य=शत्रुओं का अभिभव करने वाले, और अग्नि के भक्त यजमान पर कोई आक्रमण नहीं कर सकता है, ऐसा मन्त्रार्थ में लिखा है। क्या ये दोनों बातें सृष्टि-क्रम के विरुद्ध नहीं हैं ? क्या जड़ अग्नि में ऐसा विवेक है कि वह शत्रुओं का अभिभव=तिरस्कार और मित्र-जनों का सत्कार कर सकता है ? और इस अग्नि के भक्त पर कोई आक्रमण ही न कर सके, यह बात भी मिथ्या है। मन्त्र में यह भी कहा है कि कयस्य श्रवाय्यः वाजः अस्ति=युद्ध की विद्या को जानने वाले का वाजः=संग्राम वा बल सुनने योग्य है। इस रहस्य को सायणाचार्य ने नहीं समझकर 'कयस्य' पद की अशुद्ध व्याख्या की है। महर्षि-दयानन्द ने यहाँ अग्नि=विद्वान् (सेनाध्यक्ष) व्याख्या करके सम्पूर्ण मन्त्रार्थ पर गम्भीरता से विचार कर व्याख्या की है। जो सेनाध्यक्ष नकिः=धर्ममर्यादा का उल्लंघन नहीं करता, और सहन्त्य=शत्रुओं का अभिभव करने में समर्थ है, उसका संग्राम अथवा बल श्रवण करने योग्य होता है ॥ ८ ॥ ●

आजीगर्तिः शुनःशेप ऋषिः । **अग्निः** (सेनाध्यक्षः) देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

फिर वह सेनाध्यक्ष कैसा है, यह उपदेश किया जाता है ॥

स वाजं विश्वचर्षणिरर्वद्भिरस्तु तरुता । विप्रेभिरस्तु सनिता ॥ ९ ॥

सः । वाजम् । विश्वऽचर्षणिः । अर्वत्ऽभिः । अस्तु । तरुता । विप्रेभिः । अस्तु । सनिता ॥ ९ ॥

पदार्थः—(सः) सेनाध्यक्षः (**वाजम्**) संग्रामम् (**विश्वचर्षणिः**) विश्वे सर्वे चर्षणयो मनुष्या रक्ष्या यस्य सः । **अत्र कृषेरादेश्च चः** । उ० २।१०० अनेनानिः प्रत्यय आदेश्चकारादेशश्च । (**अर्वद्भिः**) सेना-स्थैरश्वादिभिः सेनाङ्गैः । **अर्वा इत्यश्वनामसु पठितम्** । निघं० १।१४। (**अस्तु**) भवतु (**तरुता**) तर्त्ता तारयिता पारंगमयिता । **ग्रसितस्कभितस्तभि०** । अ० ७।२।३४। अनेनायं निपातितः । (**विप्रेभिः**) मेधाविभिः सह । **अत्र बहुलं छन्दसि** इति भिस ऐस् न । (**अस्तु**) भवतु (**सनिता**) ज्ञानस्य सुखस्य विभक्ता ॥ ९ ॥

प्रमाणार्थ—(**विश्वचर्षणिः**) यहां 'कृषेरादेश्च चः' (उ० २।१००) इस उणादिसूत्र से 'कृष' धातु से 'अनि' प्रत्यय और धातु के आदि में 'च' आदेश है। (**अर्वद्भिः**) 'अर्वा' यह पद निघण्टु (१।१४) में अश्व-नामों में पढ़ा है। (**तरुता**) यह 'ग्रसितस्कभित०' (अ० ७।२।३४) इस सूत्र से निपातित है। (**विप्रेभिः**) यहां 'बहुलं छन्दसि' (अ० ७।१।१०) इस सूत्र से 'भिस् के स्थान में ऐस् आदेश नहीं है ॥ ९ ॥

अन्वयः—यो विश्वचर्षणिस्तरुता सेनाध्यक्षोऽस्माकं सेनायां विप्रेभिर्नरैरर्वद्भिरश्वादिभिः सहितः सन्नो [**वाजं**] विजयप्रदः शत्रूणां पराजयकृदस्तु भवेत्स एवास्माकं मध्ये सेनापतिरस्तु ॥ ९ ॥

---

१. हे सहन्त्य शत्रूणामभिभवनशीलाग्ने ! अस्य त्वद्भक्तस्य यजमानस्य कयस्य चित् कस्यापि पर्येता नकिः आक्रमिता नास्ति । किञ्च अस्य यजमानस्य श्रवाय्यः श्रवणीयः वाजः अस्ति बलविशेषोऽस्ति ॥ (सायणः)

पदार्थान्वयः—यो **विश्वचर्षणिः** विश्वे=सर्वे चर्षणयो=मनुष्या रक्ष्या यस्य सः **वाजं** संग्रामं **तरुता** तर्त्ता=तारयिता पारंगमयिता **सनिता** ज्ञानस्य सुखस्य विभक्ता **सेनाध्यक्षोऽस्माकं सेनायां विप्रेभिः** मेधाविभिः **नरंरर्वद्भिः** सेनास्थैरश्वादिभिः सेनाङ्गैः **सहितः सन्नो विजयप्रदः शत्रूणां पराजयकृदस्तु** भवतु, **सः** सेनाध्यक्षः **एवास्माकं मध्ये सेनापतिरस्तु** भवतु ॥ ६ ॥

भावार्थः—मनुष्यान् यः सर्वदुःखेभ्यः पारं गमयिता, युद्धे विजयप्रापको युद्धकुशलो धार्मिको विद्वान् भवेत्, स एव नः सेनास्वामी भवतु ॥ ६ ॥

भाषार्थ—जो (**विश्वचर्षणिः**) सब मनुष्यों की रक्षा करने वाला, (**वाजम्**) संग्राम को (**तरुता**) पार ले जाने वाला, (**सनिता**) ज्ञान एवं सुख को बांटने वाला हो, जो हमारी सेना में (**विप्रेभिः**) मेधावी नरों और (**अर्वद्भिः**) सेना के घोड़े आदि सेनाङ्गों सहित हमें विजय प्रदान करने वाला तथा शत्रुओं का पराजय करने वाला (**अस्तु**) हो। (**सः**) वह सेनाध्यक्ष ही हमारे मध्य में सेनापति (**अस्तु**) हो ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्यों को सब दुःखों से पार ले जाने वाला, युद्ध में विजय प्राप्त कराने वाला, युद्ध में कुशल धार्मिक विद्वान् हो, वही हमारा सेनापति हो ॥ ६ ॥

भाष्यसार—**सेनाध्यक्ष कैसा हो**—सेनाध्यक्ष सब मनुष्यों की रक्षा करने वाला, संग्राम को पार ले जाने वाला और ज्ञान एवं सुख को बांटने वाला हो। वह हमारी सेना में मेधावी नरों और घोड़े आदि सेनाङ्गों सहित हमें विजय प्रदान करने वाला हो। शत्रुओं का पराजय करने वाला हो। ऐसा पुरुष ही हमारे मध्य में सेनापति बने ॥ ६ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"सब मनुष्यों से प्राप्त वह अग्नि घोड़ों से संग्राम को पार कराने वाला है। मेधावी ऋत्विजों के सहित प्रसन्न अग्नि फल को देने वाला हो।"

इस मन्त्र के पदार्थ में सायण और दयानन्द दोनों भाष्यकारों ने यह लिखा है कि यह अग्नि विश्वचर्षणिः=सब मनुष्यों से प्राप्त अथवा सब मनुष्य अग्नि के लिए रक्षणीय हैं, अर्वद्भिः=घोड़ों के द्वारा वाजम्=संग्राम को पार करने वाला है, विप्रेभिः=मेधासम्पन्न (युद्ध में प्रशिक्षित) व्यक्तियों के सहित है और सनिता=फलों का दाता (सायण) ज्ञान व सुख का विभाग करने वाला (दयानन्द) है। क्या ये विशेषताएँ भौतिक अचेतनाग्नि से संगत होती हैं? क्या किसी ने इस अचेतन अग्नि को घोड़ों के द्वारा संग्राम को जीतते हुए देखा है? क्या इसमें यह ज्ञान है कि फलों का अथवा सुखों का विभाग कर सके? ऐसे असंभव अर्थों को पौराणिक-भाष्यकार ही कल्पना-यान पर आरूढ होकर लिख सकते हैं और आँख के अन्धे मतिमन्द लोग ही स्वीकार कर सकते हैं, महर्षि-दयानन्द ने यहां समस्त मन्त्रार्थ पर सुविचार करके 'अग्निः=सेनाध्यक्षः' अर्थ किया है। जिसमें किसी भी प्रकार की असंगति अथवा विरोध नहीं आता है। वैदिक कोष में 'विप्र' का परिगणन मेधावि-नामों में किया है। प्रकरणानुसार यहाँ इसका अर्थ 'युद्ध-विद्या में प्रशिक्षित' ही उचित है, किन्तु सायण ने इसका अर्थ 'ऋत्विक्=द्रव्यमय यज्ञ करने वाला' करके बहुत ही असंगत व्याख्या की है। उन्होंने लेशमात्र भी यह विचार नहीं किया कि घोड़ों से संग्राम को जीतने के प्रकरण में किस अर्थ की संगति हो सकती है? अतः सायण-कृत मन्त्रार्थ असंगत तथा प्रकरण विरुद्ध है ॥ ६ ॥ ●

१. विश्वचर्षणिः सर्वैर्मनुष्यैरुपेतः सः अग्निः अर्वद्भिः अश्वैः वाजं संग्रामं तरुता तारयिता अस्तु। विप्रेभिः मेधाविभिः ऋत्विग्भिः सहितः तुष्टोऽग्निः सनिता फलस्य दाता अस्तु ॥ (सायणः)

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः । **अग्निः** (सेनापतिः) देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

फिर वह सेनापति कैसा है, यह उपदेश किया जाता है ॥

जराबोध तद्विविड्ढि विशेविशे यज्ञियाय । स्तोमं रुद्राय दृशीकम् ॥ १० ॥

जराःबोध । तत् । विविड्ढि । विशेऽविशे । यज्ञियाय । स्तोमम् । रुद्राय । दृशीकम् ॥ १० ॥

पदार्थः—(**जराबोध**) जरया गुणस्तुत्या बोधो यस्य सैन्यनायकस्य तत्संबुद्धौ (**तत्**) तस्मात् (**विविड्ढि**) व्याप्नुहि। **अत्र वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति** इति नियमात् । **निजां० त्रयाणां गु० । अ० ७ । ४ । ७५ ।** अनेनाभ्यासस्य गुणनिषेधः । (**विशेविशे**) प्रजायै प्रजायै (**यज्ञियाय**) यज्ञकर्महेतीति यज्ञियो योद्धा तस्मै । **अत्र तत्कर्महेतीत्युपसंख्यानम् ।** अ० ५ । १ । ७१ । अनेन [**वर्तिकेन**] यज्ञशब्दाद् घः प्रत्ययः (**स्तोमम्**) स्तुतिसमूहम् (**रुद्राय**) रोदकाय (**दृशीकम्**) द्रष्टुमर्हम् । अत्र बाहुलकादौणादिक ईकन् प्रत्ययः किच्च । यास्कमुनिरिमं मन्त्रमेवं समाचष्टे । **जरा स्तुतिं जरतेः स्तुतिकर्मणस्तां बोधय तया बोधयितरिति वा तद्विविड्ढि तत्कुरु मनुष्यस्य मनुष्यस्य वा यज्ञियाय स्तोमं रुद्राय दर्शनीयम् ।** निरु० १०।८ ॥ १० ॥

प्रमाणार्थ—(**विविड्ढि**) यहां 'वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति' (अ० १ । ४ । ९) इस परिभाषा से 'निजां त्रयाणां गुणः श्लौ' (अ० ७ । ४ । ७५) इस सूत्र से विधीयमान अभ्यास को गुण का निषेध होता है । (**यज्ञियाय**) यहां 'तत्कर्महेतीत्युपसंख्यानम्' (अ० ५ । १ । ७१) इस वार्त्तिक सूत्र से यज्ञ शब्द से 'घ' प्रत्यय है (यज्ञ+घ । यज्ञ+इय्+सु=यज्ञियः) । (**दृशीकम्**) यहां 'ईश' धातु से बहुल करके औणादिक 'ईकन्' प्रत्यय है (दृश्+ईकन् । दृशीक+अम्=दृशीकम्) ॥ १० ॥

अन्वयः—हे जराबोध सेनाधिपते त्वं यस्माद्विशेविशे यज्ञियाय रुद्राय दृशीकं स्तोमं विविड्ढि तत्तस्मान्मानार्होऽसि ॥ १० ॥

सपदार्थान्वयः—**हे जराबोध** जरया =गुणस्तुत्या बोधो यस्य सैन्यनायकस्य तत्सम्बुद्धौ **सेनाधिपते ! त्वं यस्माद् विशेविशे** प्रजायै प्रजायै **यज्ञियाय** यज्ञकर्महेतीति यज्ञियो योद्धा तस्मै **रुद्राय रोदकाय दृशीकं** द्रष्टुमर्हं **स्तोमं** स्तुतिसमूहं **विविड्ढि** व्याप्नुहि, **तत्तस्मान्मानार्होऽसि** ॥ १० ॥

भावार्थः—अत्र पूर्णोपमालङ्कारः । नैव धनुर्वेदविदो गुणश्रवणेन विनाऽस्य बोधः संभवति । यः प्रजासुखाय तीक्ष्णस्वभावान् शत्रुबलहृद्भृत्यान् सुशिक्ष्य रक्षति, स एव प्रजापालो भवितुमर्हति ॥१०॥

भाषार्थ—हे (**जराबोध**) जरा=गुणों की स्तुति से जिसका बोध होता है, ऐसे सेनाधिपते ! आप—जिससे (**विशेविशे**) प्रजामात्र के लिये, (**यज्ञियाय**) यज्ञ-कर्म के योग्य; (**रुद्राय**) दुष्टों को रुलाने वाले योद्धा के लिये (**दृशीकम्**) दर्शनीय (**स्तोमम्**) स्तुति-समूह को (**विविड्ढि**) प्राप्त करते हो, इस (**तत्**) इसलिये हमारे माननीय हो ॥ १० ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में पूर्णोपमा अलंकार है ॥ धनुर्वेद अर्थात् युद्धविद्या के ज्ञाता के गुण-श्रवण के बिना इसका बोध संभव नहीं है । जो प्रजा के सुख के लिये तीक्ष्ण स्वभाव वाले, शत्रुओं के बल का हरण करने वाले भृत्यों को सुशिक्षित करके उनकी रक्षा करता है, वही प्रजा का पालक हो सकता है ॥ १० ॥

भाष्यसार—**सेनापति कैसा हो**—गुणों की स्तुति से जिसका सबको बोध होता है, ऐसा सेनापति प्रजामात्र के लिये, शुभ कर्म करने वाले तथा दुष्टों को रुलाने वाले योद्धा के लिये उत्तम स्तुति को प्राप्त करे। सब प्रजाजन और योद्धा लोग उसकी स्तुति करें। वह प्रजा के सुख के लिये तीक्ष्ण स्वभाव वाले, शत्रु-बल को हरण करने वाले भृत्यों को सुशिक्षित करके उनकी रक्षा करे। प्रजा का पालन करे। सब का माननीय हो ॥ १० ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे स्तुति से जानने योग्य देवयजन-अग्नि। यजमानरूप प्रजा पर अनुग्रह के लिए यज्ञ-सम्बन्धी कर्म की सिद्धि के लिए प्रवेश करो। यजमान भी क्रूर स्वभाव वाले तुझ अग्नि की स्तुति करे।"

इस मन्त्र में अग्नि के लिए 'जराबोध' पद आया है। जिसका अर्थ सायण तथा दयानन्द दोनों भाष्यकारों ने यही किया है कि जो गुण-स्तुति से जाना जाता है। और ऐसे रुद्राय=दुष्टों को रुलाने वाले अग्नि की स्तुति करनी चाहिए। यह अग्नि कौन है ? यह आचार्य-सायण नहीं समझ सके। उनके मन में तो 'अग्नि' पद से केवल भौतिकाग्नि का ही अर्थ अमरकोषादि अनार्ष कोषों को घोटने से भरा हुआ है। उन्होंने पदों के विशेषण-विशेष्य भाव को भी समझने का प्रयास नहीं किया। 'रुद्र' पद का अर्थ आचार्य-यास्क ने इस प्रकार किया है—

रुद्रो रौतीति सतः, रोरूयमाणो द्रवतीति वा, रोदयतेर्वा ॥ (निरु० १० । ६) अर्थात् जो शत्रुजनों को युद्ध के लिए आह्वान करता है, अथवा शत्रुओं का आह्वान करता हुआ आगे बढ़ता है अथवा तीव्र-प्रहार से शत्रुओं को रुलाता है। सायण-भाष्य में भी 'रुद्र' का अर्थ क्रूराग्नि किया है। इस अचेतन अग्नि में यह ज्ञान कहां कि किसके प्रति क्रूर और किसके प्रति दयाद्र हो। और यह शब्द करता हुआ कैसे आगे बढ़ सकता है। निरुक्त में अग्नि के निर्वचनों में अग्नि को 'अग्रणीः' लिखा है। अर्थात् जो आगे ले जाए। इस अर्थ को ध्यान में रखकर ही महर्षि दयानन्द ने यहां अग्नि का अर्थ 'सेनापति' किया है। इसका गुणों की स्तुति से बोध होता है। यह सेनापति ही विशेविशे=प्रजामात्र के हित के लिए शत्रुओं का विनाश करके अपने गुणों से विविड्ढि=व्याप्त करता है। सायण ने यहां 'विष्लृ व्याप्तौ' धात्वर्थ को छोड़कर 'प्रविश' अर्थ भी बहुत ही संकुचित कर दिया है। मन्त्र में यहां 'यज्ञियाय' पद भी पठित है, जिसका अर्थ सायण ने 'यज्ञ-सम्बन्धी कर्मानुष्ठान के लिए' किया है। 'यज्ञ' शब्द का धात्वर्थ के अनुसार 'संगतिकरण' अर्थ भी है। सेनापति अपनी सेना को एकजुट करके शत्रु पर विजय प्राप्त करता है। अतः इस पद का केवल द्रव्यमय-यज्ञ अर्थ करना यहां संगत नहीं होता।

स्कन्द-स्वामी ने इस मन्त्र के अर्थ में लिखा है—"स्तुति किया हुआ अग्नि देवता शुनःशेप ऋषि से कहने लगा कि रुद्र की स्तुति करो इत्यादि।" यह भी एक मिथ्या-धारणा है। मन्त्रों में अनित्य-व्यक्तियों का इतिहास कैसे सम्भव है ? वेद परमेश्वर का शाश्वत ज्ञान है। और सृष्टि के प्रारम्भ में ही परमात्मा से ऋषियों को मिला, पुनः इसमें अर्वाचीन ऋषिओं का इतिवृत्त दिखाना परस्पर-विरुद्ध और मिथ्या व्याख्या करना है। और अचेतन अग्नि का ऋषि से बात-चीत करना इत्यादि सृष्टि-क्रम से विरुद्ध बातों का मानना वेदार्थ से बिलकुल ही अनभिज्ञता प्रकट करना है॥ १० ॥

इति प्रथमाष्टके द्वितीयाध्याये त्रयोविंशो वर्गः ॥ ●

---

१. हे जराबोध जरया स्तुत्या बोधमानाग्ने ! विशे विशे तत्तद्यजमानरूप-प्रजानुग्रहार्थं यज्ञियाय यज्ञसम्बन्ध्यनुष्ठानसिध्यर्थं तत् देवयजनविविड्ढि प्रविश। यजमानोऽपि रुद्राय क्रूरायाग्नये तुभ्यं दशीकं दर्शनीयं समीचीनं स्तोमं स्तोत्रं करोतीति शेषः॥ (सायणः)

आजीगर्तिः शुनःशेप ऋषिः । **अग्निः** (भौतिकोऽग्निः) देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनर्भौतिकगुणा उपदिश्यन्ते ॥

फिर भौतिक अग्नि के गुणों का उपदेश किया जाता है ॥

स नो महां अनिमानो धूमकेतुः पुरुश्चन्द्रः । धिये वाजाय हिन्वतु ॥ ११ ॥

सः । नः । महान् । अनिऽमानः । धूमऽकेतुः । पुरुऽचन्द्रः । धिये । वाजाय । हिन्वतु ॥ ११ ॥

पदार्थः—(**सः**) भौतिकोऽग्निः (**नः**) अस्मान् (**महान्**) महागुणविशिष्टः (**अनिमानः**) अविद्यमानं निमानं परिमाणं यस्य सः (**धूमकेतुः**) धूमः केतुर्ध्वजावद्यस्य सः (**पुरुश्चन्दः**) पुरूणां बहूनां चन्द्र आह्लादकः । अत्र **ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे** । अ० ६ । १ । १५१ । अनेन सुडागमः । (**धिये**) कर्मणे (**वाजाय**) वेगाय (**हिन्वतु**) प्रीणयतु । अत्र लडर्थे **लोडन्तर्गतो ण्यर्थः** ॥ ११ ॥

प्रमाणार्थ—(**पुरुश्चन्द्रः**) यहाँ 'ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे' (अ० ६।१।१४६) इस सूत्र से 'चन्द्र' पद को 'सुट्' का आगम है । (**हिन्वतु**) यहां 'लट्' लकार के अर्थ में 'लोट्' लकार और णिच्' प्रत्यय का अर्थ अन्तर्गत है ॥ ११ ॥

अन्वयः—मनुष्यैर्यतोऽयं धूमकेतुः पुरुश्चन्द्रोऽनिमानो महानग्निरस्ति स धिये वाजाय नोऽस्मान् हिन्वतु प्रीणयेत्तस्मादेतस्य साधनं कार्यम् ॥ ११ ॥

सपदार्थान्वयः—**मनुष्यैर्यतोऽयं धूमकेतुः** धूमः केतुर्ध्वजावद् यस्य सः **पुरुश्चन्द्रः** पुरूणां=बहूनां **चन्द्र**=आह्लादकः **अनिमानः** अविद्यमानं **निमानं**=परिमाणं यस्य सः **महान्** महागुणविशिष्टः **अग्निरस्ति, सः** भौतिकोऽग्निः **धिये** कर्मणे **वाजाय** वेगाय **नः**=**अस्मान् हिन्वतु**=**प्रीणयति,**—**तस्मादेतस्य साधनं कार्यम्** ॥ ११ ॥

भाषार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि वे—जिससे यह (**धूमकेतुः**) धूम जिसकी केतु=ध्वजा के तुल्य है, (**पुरुश्चन्द्रः**) जो बहुत प्राणियों को आह्लादित करने वाला है (**अनिमानः**) जो परिमाण से रहित है, (**महान्**) जो महान् गुणों से युक्त भौतिक अग्नि है (**सः**) वह (**धिये**) कर्म तथा (**वाजाय**) वेग की प्राप्ति के लिये (**नः**) हमें (**हिवन्तु**) तृप्त करता है,—इसलिये इसको सिद्ध करें ॥ ११ ॥

भावार्थः— यः सर्वथोत्कृष्टः केनापि परिच्छेत्तुमनर्हः सर्वाधारः सर्वानन्दप्रदः विज्ञानघनो जगदीश्वरोऽस्ति, येन महागुणयुक्तोयमग्निर्निर्मितः, स एव शुभे कर्मणि शुद्धे विज्ञानेऽस्मान् प्रेरयत्विति ॥ ११ ॥

भावार्थ—जो सर्वथा उत्कृष्ट, किसी से भी परिमाण करने के अयोग्य, सब का आधार, सब आनन्द प्रदान करने वाला, विज्ञानघन जगदीश्वर है, जिसने महान् गुणों से युक्त यह भौतिक अग्नि बनाया है, वही शुभ कर्म और शुद्ध विज्ञान में हमें प्रेरित करे ॥ ११ ॥

भा० पदार्थः—प्रनिमानः=परिच्छेत्तुमनर्हः । पुरुश्चन्द्रः=सर्वानन्दप्रदः । वाजाय=शुद्धविज्ञानाय ॥

भाष्यसार—**भौतिक अग्नि के गुण**—भौतिक अग्नि का धूम उसकी ध्वजा के तुल्य है । वह सब प्राणियों को आह्लादित=आनन्दित करने वाला है । वह परिमाण से रहित है । वह महान्

गुणों से युक्त है। वह कर्म और वेग की प्राप्ति के लिये हमें तृप्त करता है। इसलिये मनुष्यों को चाहिये कि वे भौतिक अग्नि को सिद्ध करें।

अग्नि अर्थात् जगदीश्वर सर्वथा उत्कृष्ट है। उसका परिमाण कोई नहीं कर सकता है। वह सबका आधार, सब आनन्द प्रदान करने वाला और विज्ञान से परिपूर्ण है। उसने ही यह महान् गुणों से युक्त भौतिक अग्नि को बनाया है। वही शुभ कर्म और शुद्ध विज्ञान में हमें प्रेरित करता है॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"वह अग्नि हमें कर्म तथा अन्न के लिये तृप्त करे। वह अग्नि कैसा है? वह गुणों में अधिक, अपरिच्छिन्न, धूम से जानने योग्य तथा बहुत दीप्ति वाला है।"

इस मन्त्र के अग्नि के लिए 'धूमकेतुः' पद से स्पष्ट है कि यहाँ भौतिकाग्नि का वर्णन है। क्योंकि अग्नि का ज्ञान धूम से होता है। धूम को देखकर अल्पज्ञ मनुष्य भी अग्नि का ज्ञान कर लेता है। परन्तु यह अचेतन अग्नि ज्ञान-रहित होने से हमें कैसे तृप्त कर सकता है। मन्त्र में 'हिन्वतु' क्रिया है। जिसका अर्थ सायण और दयानन्द दोनों ने ही तृप्त करना लिखा है। लोट् लकार का प्रयोग विध्यादि अर्थों में होता है। अग्नि (जड़) का विध्यादि अर्थों से क्या सम्बन्ध हो सकता है? इस रहस्य को तथा शास्त्रीय-शैली को सायणाचार्य ने नहीं समझा। अग्नि से विधि कदापि सम्भव नहीं है। महर्षि ने यहाँ व्यत्यय से लट् तथा अन्तर्निहित णिजर्थ मानकर अर्थ किया है। जिससे पूर्वोक्त दोष का परिहार हो जाता है। शिल्पी विद्वान् इस भौतिकाग्नि से विविध यानादि की रचनाओं से भोग्य-सामग्री प्राप्त कराकर तृप्ति कराते हैं। शिल्पविद्या के आश्रय से ही यह अग्नि वाजाय=यानादि में वेग की प्राप्ति तथा आह्लाद को प्राप्त कराता है, स्वयं नहीं॥ ११॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **अग्निः** (ईश्वरः) देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते॥

फिर वह ईश्वर कैसा है, यह उपदेश किया जाता है॥

स रेवाँ इव विश्पतिर्दैव्यः केतुः शृणोतु नः। उक्थैरग्निर्बृहद्भानुः॥ १२॥

सः। रेवान्इव। विश्पतिः। दैव्यः। केतुः। शृणोतु। नः। उक्थैः। अग्निः। बृहद्भानुः॥१२॥

पदार्थः—(सः) श्रीमान् (रेवान्इव) महाधनाढ्य इव। अत्र रैशब्दान्मतुप्। **रयेर्मतौ बहुलम्।** अ० ६। १। ३७। इति वार्त्तिकेन संप्रसारणं **छन्दसीरः** [अ० ८। २। १५] इति वत्वम्। (**विश्पतिः**) विशां प्रजानां पतिः पालनहेतुः। अत्र वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्तीति **व्रश्चभ्रस्जसृज०।** अ० ८। २। ३६। अनेन षकारादेशो न। (**दैव्यः**) देवेषु कुशलः। अत्र **देवाद्यञञौ।** अ० ४। १। ८५। अनेन [वार्तिकेन] प्राग्दीव्यतीयकुशलेऽर्थे देवशब्दाद्यञ् प्रत्ययः (**केतुः**) रोगदूरकरणे हेतुः (**शृणोतु**) श्रावयतु वा। अत्र पक्षेऽन्तर्गतोण्यर्थः। (**नः**) अस्मभ्यम् (**उक्थैः**) वेदस्तोत्रैः सुखप्रापकः (**बृहद्भानुः**) बृहन्तो भानवः प्रकाशा यस्य सः॥ १२॥

---

१. सः अग्निः नः अस्मान् धिये कर्मणे वाजाय अन्नाय च हिन्वतु प्रीणयतु। कीदृशः। महान् गुणाधिकः अनिमानः निमानवर्जितः अपरिच्छिन्न इत्यर्थः। धूमकेतुः धूमेन ज्ञाप्यमानः पुरुश्चन्द्रः बहुदीप्तिः॥ (सायणः)

प्रमाणार्थ—(**रेवान्**) यहां 'रयि' शब्द से 'मतुप्' प्रत्यय है, और 'रयेर्मतौ बहुलम्' (अ०-६। १। ३७) इस वार्त्तिक से सम्प्रसारण और 'छन्दसीरः' (अ० ८। २। १५) इस सूत्र से 'मतुप्' को वत्व होता है। (**विश्पतिः**) यहां 'वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति (अ० १। ४। ९) इस परिभाषा से 'व्रश्चभ्रस्जसृज०' (अ० ८। २। ३६) इस सूत्र से प्राप्त 'विश्' को षकार आदेश नहीं होता। (**दैव्यः**) यहां 'देवाद्यञौ' (अ० ४। १। ८५) इस वार्त्तिक सूत्र से प्राग्दीव्यतीय कुशल अर्थ में 'देव' शब्द से 'यञ्' प्रत्यय है। (**शृणोतुः**) यहां पक्षान्तर में 'णिच्' प्रत्यय का अर्थ अन्तर्गत है॥ १२॥

अन्वयः—हे विद्वँस्त्वं यो दैव्यः केतुर्विश्पतिर्बृहद्भानूरेवान् इवाग्निरस्ति तमुक्थैः शृणोतु नोऽस्मभ्यं श्रावयतु॥ १२॥

सपदार्थान्वयः—हे विद्वन्! भवान् **यो दैव्यः** देवेषु कुशलः **केतुः** रोगदूरकरणे हेतुः **विश्पतिः** विशां=प्रजानां पतिः=पालनहेतुः **बृहद्भानुः** बृहन्तो भानवः=प्रकाशा यस्य सः **रेवान्** महाधनाढ्य **इवाग्निः** सुखप्रापकः **अस्ति, तमुक्थैः** वेदस्तोत्रैः **शृणोतु** श्रावयतु वा, **नः**=**अस्मभ्यं श्रावयतु**॥ १२॥

भावार्थः—अत्र पूर्णोपमालङ्कारः। यथा पूर्णधनो विद्वान् मनुष्यो धनभोगैः सर्वान् मनुष्यान् सुखयति, सर्वेषां वार्त्ताः प्रीत्या शृणोति, तथैव जगदीश्वरोऽपि प्रीत्या संपादितां स्तुतिं श्रुत्वा तान् सदैव सुखयतीति॥ १२॥

भाषार्थ—हे विद्वन्! आप जो (**दैव्यः**) विद्वानों में कुशल, (**केतुः**) रोगों के दूर करने में कारण, (**विश्पतिः**) प्रजा के पालन का हेतु (**बृहद्भानुः**) बड़े प्रकाशों वाला, (**रेवान्**) महान् धनाढ्य के (**इव**) तुल्य (**अग्निः**) सुखों को प्राप्त कराने वाला ईश्वर है, उसका (**उक्थैः**) वेद-स्तोत्रों से (**शृणोतु**) सुनो तथा (**नः**) हमें सुनाओ॥ १२॥

भावार्थ—इस मन्त्र में पूर्णोपमा अलंकार है। जैसे पूर्ण धनवान् विद्वान्-मनुष्य धनजन्य भोगों से सब मनुष्यों को सुख देता है, सबकी बातों को प्रीतिपूर्वक सुनता है, वैसे ही जगदीश्वर भी प्रीतिपूर्वक की हुई स्तुति को सुनकर उन्हें सदैव सुख देता है॥ १२॥

भाष्यसार—**ईश्वर कैसा है**—ईश्वर सब विद्वानों में कुशल है। रोगों को दूर करने वाला है। प्रजा का पालक है। सूर्य आदि बड़े प्रकाशों वाला है। महान् धनाढ्य के तुल्य सुखों को प्राप्त कराने वाला है। ईश्वर प्रीतिपूर्वक की हुई स्तुति को सुनकर स्तोता को सदा सुख देता है॥ १२॥

अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' पद है। अतः पूर्णोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि ईश्वर पूर्ण धनाढ्य विद्वान् के तुल्य सब मनुष्यों को सुख देता है॥ १२॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"वह अग्नि स्तोत्रों से युक्त हमें सुने। जैसे लोक में धनसम्पन्न राजा वन्दना करने वालों के स्तोत्र (स्तुति) सुनता है। वह अग्नि कैसा है? वह अग्नि प्रजा का पालक देवों से सम्बन्ध रखने वाला, दूत की भांति ज्ञापक=बताने वाला तथा बढ़ी हुई किरणों वाला है।"

इस मन्त्रार्थ में सायणाचार्य की असंगति देखिए कि मन्त्र का देवता 'अग्नि' है। उसकी सायण ने कोई व्याख्या नहीं की है। यह अग्नि कौन है? यह ज्ञान मन्त्रार्थ पर विचार करने से स्वतः ही हो

---

१. सः अग्निः उक्थैः स्तोत्रैर्युक्तान् नः अस्मान् शृणोतु। तत्र दृष्टान्तः। रेवानिव। यथा लोके धनवान् राजा वन्दिनां स्तोत्रं शृणोति तद्वत्। कीदृशः। विश्पतिः प्रजापालकः दैव्यः देवानां सम्बन्धी केतुः दूतवत् ज्ञापकः बृहद्भानुः प्रौढरश्मिः॥ (सायणः)

जाता है। मन्त्र में अग्नि के लिए कहा है कि वह विश्पतिः=प्रजा का पालक, दैव्यः=देवों में कुशल अथवा देवों में विद्यमान, बृहद्भानु=महान् प्रकाशयुक्त तथा केतुः=ज्ञापक अथवा रोगों का निवारक है। और वह हमारे स्तुति-वचनों को सुनता है। ये समस्त विशेषताएँ इस भौतिकाग्नि में तो कदापि सम्भव नहीं हैं। कोई भी जड़-वस्तु श्रवणादि क्रिया करने में समर्थ नहीं है। महर्षि-दयानन्द ने मन्त्रोक्त विशेषताओं पर विशेष विचार करके 'अग्नि' का अर्थ यहां 'जगदीश्वर' किया है। उसी में पूर्वोक्त समस्त विशेषाओं की संगति है वही हमारी प्रार्थनाओं एवं स्तुति-वचनों को सुनकर सुख प्रदान करता है। महर्षि की यह मान्यता वेदानुकूल है। वेदादि में स्पष्ट लिखा है—

(क) इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः०। (ऋ० १। १६४। ४६)

अर्थात् परमात्मा के इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि आदि नाम हैं।

(ख) तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः॥ (यजु० ३२। १)

अर्थात् वह प्रजापति परमेश्वर ही अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमादि नामों वाला है।

(ग) एतमग्निं वदन्त्येके मनुमन्ये प्रजापतिम्॥ (मनु० १२। १२३)

अर्थात् उस परमेश्वर को ही अग्नि, मनु, प्रजापति आदि नामों से कहा जाता है॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेपः ऋषिः। **विश्वेदेवाः** (विद्वांसः) देवताः। त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

अथ सर्वेषां सत्कारः कर्त्तव्य इत्युपदिश्यते॥

अब सबका सत्कार करना चाहिये, यह उपदेश किया जाता है॥

नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यो नमो युवभ्यो नम आशिनेभ्यः।
यजाम देवान् यदि शक्नवाम मा ज्यायसः शसमा वृक्षि देवाः॥ १३॥

नमः। महद्भ्यः। नमः। अर्भकेभ्यः। नमः। युवभ्यः। नमः। आशिनेभ्यः। यजाम। देवान्। यदि। शक्नवाम। मा। ज्यायसः। शंसम्। आ। वृक्षि। देवाः॥ १३॥

पदार्थः—(**नमः**) सत्करणमन्नं वा। **नम इत्यन्ननामसु पठितम्**। निघं० २। ७। (**महद्भ्यः**) पूर्णविद्यायुक्तेभ्यो विद्वद्भ्यः (**नमः**) प्रीणनाय (**अर्भकेभ्यः**) अल्पगुणेभ्यो विद्यार्थिभ्यः (**नमः**) सत्काराय (**युवभ्यः**) युवावस्थया बलिष्ठेभ्यो विद्वद्भ्यः (**नमः**) सेवायै (**आशिनेभ्यः**) सकलविद्याव्यापकेभ्यः स्थविरेभ्यः (**यजाम**) दद्याम (**देवान्**) विदुषः (**यदि**) सामर्थ्यानुकूलविचारे (**शक्नवाम**) समर्था भवेम (**मा**) निषेधार्थे (**ज्यायसः**) विद्याशुभगुणैर्ज्येष्ठान् (**शंसम्**) शंसति येन तं स्तुतिसमूहम् (**आ**) समन्तात् (**वृक्षि**) वर्जयेयम्। अत्र '**वृजी वर्जन**' इत्यस्माल्लिङर्थे लुङ् **छन्दस्युभयथा** इति सार्वधातुकाश्रयणादिण् न। वृजीत्यस्य सिद्धे सति सायणाचार्य्येण ओव्रश्चू इत्यस्य व्यत्ययं मत्वा प्रमादादेवोक्तमिति (**देवाः**) देवयन्ति प्रकाशयन्ति विद्यास्तत्संबोधने॥ १३॥

प्रमाणार्थ—(**नमः**) यह पद निघण्टु (२। ७) में अन्न-नामों में पढ़ा है। (**वृक्षि**) यहां 'वृजी वर्जने' इस धातु से 'लिङ्' के अर्थ में 'लुङ्' लकार है और 'छन्दस्युभयथा' (अ० ३। ४। ११७) इस सूत्र से सार्वधातुक के आश्रय से 'इट्' आगम नहीं है। यह पद 'वृजी' धातु से सिद्ध है, सायणाचार्य ने 'ओव्रश्चू' इस धातु का व्यत्यय मानकर जो रूप सिद्ध किया है, सो प्रमादवश ही किया है॥

अन्वयः—हे देवा विद्वांसो वयं महद्भ्योऽन्नं यजाम दद्यामैवमर्भकेभ्यो नमो युवभ्यो नम-

आशिनेभ्यश्च नमो ददन्तो वयं यदि शक्नवाम ज्यायसो देवानायजाम समन्ताद्विद्यादानं कुर्यामेवं प्रतिजनोऽहमेतेषां शंसम्मावृक्षि—कदाचिन्मा वर्जयेयम् ॥ १३ ॥

सपदार्थान्वयः—हे देवाः देवयन्ति=प्रकाशयन्ति विद्यास्तत्सम्बोधने **विद्वांसः** ! **वयं महद्भ्यः** पूर्णविद्यायुक्तेभ्यो विद्वद्भ्यः **नमः=अन्नं** सत्करणं वा **यजाम=दद्याम, एवमर्भकेभ्यः** अल्पगुणेभ्यो विद्यार्थिभ्यः **नमः** प्रीणनं, **युवभ्यः** युवावस्थया बलिष्ठेभ्यो विद्वद्भ्यः **नमः** सत्करणम्, **आशिनेभ्यः** सकलविद्याव्यापकेभ्यः स्थविरेभ्यः **च नमः** सेवा **ददन्तो वयं यदि** सामर्थ्यानुकूलविचारेण **शक्नवाम** समर्था भवेम, **ज्यायसः** विद्याशुभगुणैर्ज्येष्ठान् **देवान्** विदुषः **आयजाम=समन्ताद् विद्यादानं कुर्याम, एवं प्रतिजनोऽहमेतेषां शंसं** शंसन्ति येन तं स्तुतिसमूहं **मा न वृक्षि=कदाचिद् वर्जयेयम्** ॥ १३ ॥

भाषार्थ—हे (**देवाः**) विद्याओं को प्रकाशित करने वाले विद्वानो ! हम—(**महद्भ्यः**) महान् अर्थात् पूर्ण विद्या से युक्त विद्वानों को (**नमः**) अन्न वा सत्कार (**यजाम**) देते हैं; इसी प्रकार (**अर्भकेभ्यः**) अल्प गुणों वाले विद्यार्थियों को (**नमः**) प्रेम, (**युवभ्यः**) युवावस्था से बलिष्ठ विद्वानों को (**नमः**) सत्कार और (**आशिनेभ्यः**) सकल विद्याओं में व्यापक वृद्ध विद्वानों को (**नमः**) सेवा देते हुए हम (**यदि**) सामर्थ्य के अनुकूल विचार से (**शक्नवाम**) समर्थ होवें, तो (**ज्यायसः**) विद्यादि शुभ गुणों से बड़े (**देवान्**) विद्वानों को (**आयजाम**) सब ओर से विद्यादान करें, इस प्रकार प्रत्येक जन इन विद्वानों के (**शंसम्**) स्तुतिसमूह को (**मा, वृक्षि**) कभी न छोड़े, अर्थात् सदा स्तुति किया करें ॥ १३ ॥

भावार्थः— अत्र 'मनुष्यैर्निरभिमानत्वं प्राप्यान्नादिभिः सर्वे सत्कर्त्तव्याः' इतीश्वर उपदिशति । यावत् स्वसामर्थ्यं तावत् विदुषां संगसत्कारौ नित्यं कर्त्तव्यौ । नैव कदाचित्तेषां निन्दा कर्त्तव्येति ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में ईश्वर यह उपदेश करता है कि मनुष्य निरभिमानी होकर अन्न आदि से सबका सत्कार करें । जितना अपना सामर्थ्य हो उतना विद्वानों का संग और सत्कार नित्य करें । उनकी निन्दा कभी न करें ॥ १३ ॥

भाष्यसार—**सबका सत्कार करना चाहिए**—हम महान् अर्थात् पूर्ण विद्या से युक्त विद्वानों को अन्न दें तथा उनका सत्कार करें । अल्प गुणों वाले विद्यार्थियों से प्रेम करें । युवक विद्वानों का सत्कार करें । वृद्ध विद्वानों की सेवा करें । यदि हम समर्थ हो सकें तो विद्यादि शुभ गुणों से श्रेष्ठ विद्वानों को विद्यादान करें । इस प्रकार से प्रत्येक मनुष्य उक्त विद्वानों की स्तुति का परित्याग न करें अपितु सदा स्तुति किया करें । मनुष्य निरभिमान होकर सबका सत्कार किया करें । अपने सामर्थ्य के अनुसार विद्वानों का संग और सत्कार नित्य करें । विद्वानों की निन्दा कभी न करें ॥ १३ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"अग्नि से प्रेरणा पाकर शुनःशेप ने सब देवों की इस ऋचा से स्तुति की । गुणों में अधिक, गुणों में न्यून, जवान और बूढ़े, इन चार प्रकार के शरीरधारी देवों को नमस्कार हो । यदि हम धनादि से सम्पन्न हों तो उस समय इन देवों का भजन करें । हे देवो ! सबसे बड़े या प्रशंसनीय विशेष देवता के विस्तृत स्तोत्र का मैं छेदन न करूँ ।"

अचेतन अग्नि, जिसको आचार्य-सायण ने इस सूक्त के ११वें मन्त्र में धूमकेतुः=धूम से जानने

---

१. अग्निना प्रेरितः शुनःशेपो विश्वान् देवान् अनया तुष्टाव । महान्तो गुणैरधिकाः । अर्भका गुणैर्न्यूनाः युवानः तरुणाः । आशिनः वयसा व्याप्ता वृद्धाः । यथोक्तचतुर्विधदेहयुक्तेभ्यो देवेभ्यो नमोऽस्तु । यदि शक्नवाम कथंचित् धनादिसंपत्त्या शक्ताश्चेत् तदानीं देवान् यजाम । हे देवाः । ज्यायसः ज्येष्ठस्य देवताविशेषस्य आ सर्वतः प्रसृतं शंसं स्तोत्रं मा वृक्षि अहं विच्छिनं मा कार्षम् ॥ (सायणः)

योग्य कहकर स्पष्ट किया है, वह कैसे किसको प्रेरणा दे सकती है ? भौतिक-अग्नि का प्रेरणा देना, अपने स्तोत्रों का सुनना, तृप्त होना अथवा कर्म-फल का दाता कहना (९वें मन्त्र में) इत्यादि जड़-अग्नि से सम्बद्ध बातें सृष्टि-क्रम से विरुद्ध होने से मिथ्या ही हैं। मन्त्र में छोटे, बड़े, जवान तथा वृद्ध देवों के यजन =सत्कार के लिए उपदेश है। ये देव कौन हैं ? इस रहस्य को सायणाचार्य ने भ्रान्तिवश नहीं समझा है। एक तरफ सायण की देवों के सम्बन्ध में यह मान्यता है कि ये देव अमृत=अमरणधर्मा हैं, स्वर्गलोक में रहते हैं और शरीरधारी हैं। और दूसरी तरफ इस मन्त्रार्थ में छोटे, बड़े, युवा तथा बूढ़े माने हैं। क्या यह परस्पर विरोध नहीं है ? महर्षि-दयानन्द ने मन्त्र के देवता 'विश्वेदेवाः' पद का 'विद्वांसः' (विद्वान्) अर्थ करके मन्त्रार्थ को स्पष्ट किया है। विद्वान् आयु में छोटे, बड़े, युवा एवं वृद्ध हो सकते हैं। उनका सत्कार अवश्य यथाशक्ति करना चाहिए। सायण के कल्पित देहधारी देवों की यहां कोई संगति नहीं है।

और इस मन्त्र से इस मान्यता का भी स्पष्ट खण्डन हो जाता है कि 'नमः' पद का प्रयोग अपने से बड़ों के लिए ही होता है। मन्त्र में छोटे, बड़े सभी के लिए 'नमः' पद का प्रयोग है। छोटों के प्रति 'नमः' पद का क्या अर्थ है ? इसका स्पष्टीकरण महर्षि दयानन्द ने (निघं० २।७) का प्रमाण देकर 'नमः' के अन्नादि अर्थ किए हैं। जिससे स्पष्ट है कि छोटों के प्रति 'नमः' बोलते समय आशीर्वादात्मक (भोग्य पदार्थों की प्राप्ति) अर्थ भी हो जाता है। सायण ने यहां 'नमः' पद का कोई अर्थ नहीं किया। अथवा यदि सर्व प्रसिद्ध सत्कार रूप अर्थ को मानकर सायण ने इसकी व्याख्या नहीं की हो, तो भी मन्त्र में चार बार पढ़े 'नमः' पद का एक ही अर्थ सर्वत्र संगत नहीं होता। महर्षि ने इसके भिन्न-भिन्न अर्थों का प्रकाश करके मन्त्र के रहस्य को ही स्पष्ट नहीं किया प्रत्युत व्यावहारिक-ज्ञान भी दिया है। हमें बड़ों के प्रति नमः=सत्कार छोटों के प्रति नमः=प्रेम, अथवा अन्नादि से तृप्ति और वृद्धावस्था को प्राप्त विद्वानों का सत्कार और सेवा करनी चाहिए।

आचार्य-सायण ने यहां व्याकरण से भी अनभिज्ञता प्रकट की है। 'बृक्षि' प्रयोग 'बृजी वर्जने' धातु से सिद्ध तथा उसके अर्थ की संगति होने पर भी 'ओव्रश्चू छेदने' धातु मानकर व्यत्यय से रूप सिद्ध करना क्लिष्ट-कल्पना ही है ॥ १३ ॥

पूर्वापरसंगतिमाह—पूर्वेणाग्न्यर्थप्रतिपादनस्य बोद्धारो विद्वांस एव भवन्तीत्यस्मिन् सूक्ते प्रतिपादनात् षड्विंशसूक्तार्थेन सहास्य सप्तविंशसूक्तार्थस्य संगतिरस्तीति बोध्यम् ॥

पूर्वापर-संगति—पूर्व सूक्त में अग्नि अर्थ का प्रतिपादन है, विद्वान् ही उसके जानने वाले होते हैं, इस विषय का इस सूक्त में प्रतिपादन करने से छब्बीसवें सूक्त के अर्थ के साथ इस सत्ताईसवें सूक्त के अर्थ की संगति है, ऐसा जानो ॥

इति प्रथमाष्टके द्वितीयाध्याये चतुर्विंशो वर्गः, प्रथममण्डले षष्ठोऽनुवाके सप्तविंशं सूक्तं च समाप्तम् ॥

यह प्रथम अष्टक के दूसरे अध्याय में चौबीसवां वर्ग और प्रथम मण्डल के छठे अनुवाक में सत्ताईसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥ ●

॥ अथ अष्टाविंशं सूक्तम् ॥

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः । **इन्द्रयज्ञस्तोमाः** (यज्ञकर्त्ता । यज्ञः, सोमश्च) देवताः । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

कर्मानुष्ठात्रा जीवेन यद्यत् कर्त्तव्यं तत्तदुपदिश्यते ॥

अब अट्ठाईसवें सूक्त का आरम्भ है । उसके पहले मन्त्र में यज्ञकर्म करने वाले जीव को जो जो करना चाहिए उसका उपदेश किया जाता है ॥

यत्र ग्रावा पृथुबुध्न ऊर्ध्वो भवति सोतवे । उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुलः ॥ १ ॥

यत्र । ग्रावा । पृथुऽबुध्नः । ऊर्ध्वः । भवति । सोतवे । उलूखलऽसुतानाम् । अव । इत् । ऊम् इति । इन्द्र । जल्गुलः ॥ १ ॥

पदार्थः—(यत्र) यस्मिन्यज्ञव्यवहारे (ग्रावा) पाषाणः (पृथुबुध्नः) पृथुमहद्बुध्नं मूलं यस्य सः (ऊर्ध्वः) पृथिव्याः सकाशात्किंचिदुन्नतः (भवति) (सोतवे) यवाद्योषधीनां सारं निष्पादयितुं । अत्र **तुमर्थे सेसेनसे०** इति सुञ्-धातोस्तवेन् प्रत्ययः । (उलूखलसुतानाम्) उलूखलेन सुता निष्पादिताः पदार्थास्तेषाम् (अव) रक्ष (इत्) एव (उ) वितर्के (इन्द्र) ऐश्वर्यप्राप्तये तत्कर्मानुष्ठातर्मनुष्य (जल्गुलः) अतिशयेन गृणीहि । अत्र गृशब्द इत्यस्माद्यङ्लुगन्ताल्लेट् । **बहुलं छन्दसि** इत्युपधाया उत्वं च ॥ १ ॥

प्रमाणार्थ—(सोतवे) यहां 'तुमर्थे सेसेनसे०' (अ० ३ । ४ । ९) इस सूत्र से 'सुञ्' धातु से 'तवेन्' प्रत्यय है (सु+तवेन् । सो+तवे+सु=सोतवे) । (जल्गुलः) यहां 'गृ शब्दे' इस धातु से यङ्लुगन्त से 'लेट्' लकार है, और 'बहुलं छन्दसि' (अ० ७ । १ । १०३) इस सूत्र से धातु की उपधा को उकार आदेश है ॥ १ ॥

अन्वयः— हे इन्द्र यज्ञकर्मानुष्ठातर्मनुष्य त्वं यत्र पृथुबुध्न ऊर्ध्वो ग्रावा धान्यानि सोतवे अभिषोतुं भवति तत्रोलूखलसुतानां पदार्थानां ग्रहणं कृत्वा तान् सदाऽव उ इति वितर्के तमुलूखलं युक्त्या धान्यसिद्धये जल्गुलः पुनः पुनः शब्दय ॥ १ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **इन्द्र**=यज्ञकर्मानुष्ठातर्मनुष्य ऐश्वर्य-प्राप्तये तत्कर्मानुष्ठातर्मनुष्य ! **त्वं यत्र** यस्मिन् यज्ञव्यवहारे **पृथुबुध्नः** पृथु महद् बुध्नं=मूलं यस्य सः **ऊर्ध्वः** पृथिव्याः सकाशात् किञ्चिदुन्नतः **ग्रावा** पाषाणः **धान्यानि सोतवे**=अभिषोतुं यवाद्योषधीनां सारं निष्पादयितुं **भवति, तत्रोलूखलसुतानां** उलूखलेन सुता=निष्पादिताः पदार्थास्तेषां ग्रहणं कृत्वा तान् सदाऽव रक्ष । **उ इति वितर्के, तमुलूखलं युक्त्या धान्यसिद्धये जल्गुलः**=पुनः पुनः शब्दय अतिशयेन गृणीहि ॥ १ ॥

भाषार्थ—हे (**इन्द्र**) ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये यज्ञ कर्म करने वाले मनुष्य ! तू—(**यत्र**) जिस यज्ञ-व्यवहार में (**पृथुबुध्नः**) जिसका मूलभाग बड़ा है तथा जो (**ऊर्ध्वः**) पृथिवी से कुछ ऊँचा रहने वाला (**ग्रावा**) पत्थर=ऊखल (**सोतवे**) यव=जौ आदि ओषधियों के सार को सिद्ध करने के लिये होता है, उस यज्ञ-व्यवहार में (**उलूखलसुतानाम्**) ऊखल से सिद्ध किये हुये पदार्थों का ग्रहण करके उनकी सदा (**अव**) रक्षा कर। (**उ**) युक्तिपूर्वक उस ऊखल को धान्यसिद्धि के लिये (**जल्गुलः**) बार-बार बजा अर्थात् उसमें धान्य को कूट ॥ १ ॥

भावार्थः—ईश्वर उपदिशति—हे मनुष्याः !

भावार्थ—ईश्वर उपदेश करता है—हे

यूयं यवाद्योषधीनामसारत्यागा सारग्रहणाय स्थूलं पाषाणं यथायोग्यंमध्यगर्त्तं कृत्वा निवेशयत। स च भूमितलात् किञ्चिदूर्ध्वं स्थापनीयः, येन धान्यसारनिस्सारणं यथावत् स्यात्। तत्र यवादिकं स्थापयित्वा मुसलेन हत्वा शब्दयतेति॥ १॥

मनुष्यो! तुम—यव=जौ आदि ओषधियों के असार =तुष आदि के त्याग के लिये और सार को ग्रहण करने के लिये एक स्थूल पाषाण के मध्य में यथायोग्य गड्ढा करके अर्थात् ऊखल बनाकर भूमि में गाड़ो। और उसे भूमितल से कुछ ऊँचा रखो जिससे धान्यसार यथावत् निकल सके। उस ऊखल में यव=जौ आदि धान्य रखकर मूसल से चोट लगा कर उसे बजाओ॥ १॥

भाष्यसार—यज्ञकर्त्ता जीव का कर्त्तव्य—ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये यज्ञकर्म करने वाला मनुष्य यज्ञ-व्यवहार में ऊखल से सिद्ध किये हुये पदार्थों को ग्रहण करके उनकी सदा रक्षा करे। ऊखल मूलभाग में बड़ा हो और पृथिवी से कुछ ऊँचा रहे। वह पत्थर का ऊखल यव=जौ आदि ओषधियों के सार को सिद्ध करने के लिये होता है। यज्ञकर्त्ता मनुष्य उस ऊखल को युक्ति से धान्य-सिद्धि के लिये बार-बार बजाये अर्थात् उसमें धान्य कूटे॥ १॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे इन्द्र! जिस रस निचोड़ने के कर्म में सोम-सम्पादन के लिए नीचे से मोटा पत्थर उन्नत होता है, उस कर्म में ओखली से कूटकर निकाले हुए रस को अपना समझकर ही भक्षण करो।"

इस अट्ठाईसवें सूक्त का मन्त्रार्थद्रष्टा शुनःशेप ऋषि है। आचार्य सायण ने इस सूक्त से पहले तथा बाद के सूक्त के मन्त्रार्थ के साथ शुनःशेप का सम्बन्ध जोड़ा है अर्थात् पाशबद्ध शुनःशेप ने इन्द्रादि देवों की बन्धन से छूटने के लिए स्तुति की। यद्यपि प्राचीन आर्ष शास्त्रों का मन्त्रों के प्रारम्भ में लिखे ऋषियों के विषय में यही मत है कि ये ऐतिहासिक व्यक्ति हुए हैं और मन्त्रार्थ के द्रष्टा होने से स्मरणार्थ मन्त्रों के प्रारम्भ में इनका उल्लेख किया गया है। महर्षि-दयानन्द ने भी इसी मान्यता को माना है। उन्होंने अपने समस्त वेदभाष्य में किसी भी मन्त्रार्थ के साथ ऋषि-नामों की संगति नहीं लगाई है। सायण-भाष्य में इस शास्त्रीय परम्परा का तो उल्लंघन किया ही है, किन्तु साथ ही अपनी मान्यता का भी निर्वाह वे इस सूक्त के किसी मन्त्र में नहीं कर सके हैं। यह उनकी मिथ्या मान्यता की असफलता ही है।

और इस मन्त्र का देवता इन्द्र है, यह सबने स्वीकार किया है। महर्षि दयानन्द ने 'इन्द्र यज्ञ सोमाः' देवता माने हैं। 'इन्द्र' देवता का यहां क्या अर्थ है, सायण-भाष्य में इसका स्पष्टीकरण नहीं किया है। परन्तु मन्त्र में जो वर्णन किया गया है, उसके अनुसार सायणाभिमत कल्पित स्वर्ग का राजा इन्द्र यहां पर कथमपि संगत नहीं होता। मन्त्र में कहा है कि पत्थर धान्यादि कूटने के लिए पृथुबुध्नः=मूलभाग जिसका बड़ा हो और वह पत्थर ऊर्ध्वः=पृथिवी से ऊँचा होना चाहिए। और उसमें उलूखल से कूटकर निकाले हुए रस को अथवा सिद्ध किए धान्यादि को इन्द्र भक्षण या पान करता है। इस सायण के किए अर्थ के अनुसार भी इन्द्र कल्पित देव कदापि नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसे कल्पित देव की शास्त्र-विरुद्ध तथा प्रत्यक्ष-विरुद्ध होने से कोई सत्ता ही नहीं है। और नहीं उनका ऐसे धान्यादि का भक्षण करना ही

---

१. हे इन्द्र! यत्र यस्मिन् अञ्जःसवे क्रमणि सोतवे अभिषवार्थं ग्रावा पाषाणः पृथुबुध्नः स्थूलमूलः ऊर्ध्वः उन्नतः भवति तस्मिन् कर्मणि उलूखल सुतानाम् उलूखलेनाभिषुतानां रसम् अवेत् स्वकीयत्वेनावगत्यैव जल्गुलः भक्षय। (सायणः)

सम्भव है। महर्षि-दयानन्द ने यहां इन्द्र शब्द का ऐश्वर्य की प्राप्ति का इच्छुक यज्ञ-कर्म करने वाला मनुष्य अर्थ किया है। जिसकी यहां पूर्णतः संगति है।

आचार्य-सायण ने मन्त्र-पठित क्रियाओं को तथा उनकी गम्भीरता को भी नहीं समझा है। मन्त्र में अव=रक्षाकर तथा जल्गुलः=बार बार शब्द कर या उपदेश कर, ये दो क्रियाएँ पठित हैं। जिनको न समझकर सायणभाष्य में 'अव' को उपसर्ग मानकर अर्थ किया है। किन्तु उसका अर्थ 'अवगत्यैव' करके सायण ने व्याकरणादि से बहुत ही अनभिज्ञता प्रकट की है। यहां यदि 'अव' को उपसर्ग माना जाए तो उसका सायणकृत-अर्थ कदापि नहीं हो सकता। हां! 'अव' धातु का यह अर्थ हो सकता है। इसी प्रकार 'जल्गुलः' क्रिया को सायण ने स्वयं 'गल अदने' धातु से यङ्लुगन्त रूप माना है। जिसके अनुसार 'पौनः-पुन्येन भक्षय=बार-बार भक्षण करो' अर्थ होना चाहिए। यथार्थ में 'बार-बार क्रिया उलूखल से कूटने में होती है। धान्यादि के कूटने के लिए उलूखल को बार-बार उठाकर चोट मारनी होती है। जिससे कूटने की ध्वनि होती है। और धान्यादि के कूटने में दक्ष व्यक्ति विशेष विधि से कूटकर धान्य की रक्षा करता है। अतः महर्षि ने जल्गुलः=बार-बार शब्द कर और अव=रक्षाकर अर्थ करके बहुत ही सुन्दर संगति लगाई है। आचार्य सायण ने 'गु शब्दे' धातु से बिना क्लिष्ट कल्पना के रूपसिद्धि होने पर भी 'गल अदने' धातु से पृषोदरादि से रूप बनाया है, जो क्लिष्ट कल्पना ही है॥ १॥ ●

आजीगर्तिः शुनःशेप ऋषिः। **इन्द्रयज्ञसोमाः** (ऐश्वर्यवान् मनुष्यः, यज्ञः सोमश्च) देवताः। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

पुनस्ते कीदृशा इत्युपदिश्यते॥

फिर वे यज्ञकर्त्ता जीव कैसे हों, यह उपदेश किया जाता है॥

यत्र द्वाविव जघनाधिषवण्या कृता। उलूखलसुतानामवेदिन्द्रजल्गुलः॥ २॥

यत्र। द्वौऽइव। जघना। अधिऽसवन्या। कृता। उलूखलऽसुतानाम्। अव। इत। ऊम् इति। इन्द्र। जल्गुलः॥ २॥

पदार्थः—(यत्र) यस्मिन् व्यवहारे (द्वाविव) उभे तया (जघना) ऊरुणी। जघनं जंघन्यतेः। निरु० ९। २०। अत्र हन्तेः शरीरावयवे द्वे च। उ० ५। ३२। अनेनाच् प्रत्ययो द्वित्वं सुपां सुलुग् इति त्रिषु विभक्तेराकारादेशश्च (अधिषवण्या) अधिगतं सुन्वन्ति याभ्यां ते अधिषवणी तयोर्भवे। अत्र भवे छन्दसि [अ० ४। ४। ११०] इति यत् (कृता) कृते (उलूखलसुतानाम्) उलूखलेन शोभिता-नाम् (अव) प्राप्नुहि (इत्) एव (ऊ) वितर्के (इन्द्र) अन्तःकरणबहिष्करणशरीरादिसाधनैश्वर्यवन् मनुष्य (जल्गुलः) अतिशयेन शब्दय। सिद्धिः पूर्ववत्॥ २॥

प्रमाणार्थ—(जघना) निरुक्त (९।२०) के अनुसार जघन पद 'जङ्घन्यति' से सिद्ध होता है क्योंकि इन्हें बहुत ताडित किया जाता है। यहां 'हन्तेः शरीरावयवे द्वे च' (उ० ५। ३२) इस उणादि सूत्र से 'हन्' धातु से 'अच्' प्रत्यय और धातु को द्वित्व है और 'सुपां सुलुक्०' (अ० ७। १। ३९) इस सूत्र से जघना, अधिषवण्या, कृता इन तीनों पदों में विभक्ति के स्थान में आकार आदेश है। (अधिषवण्या) यहां 'भवे छन्दसि' (अ० ४। ४। ११०) इस सूत्र से 'यत्' प्रत्यय है॥

अन्वयः—हे इन्द्र विद्वंस्त्वं यत्र द्वे जङ्घे इव अधिषवण्ये फलके कृते भवतस्ते सम्यक् कृत्वोलूखलसुतानां पदार्थानां सकाशात् सारमव प्राप्नुहि उ वितर्के इत् तदेव जल्गुलः पुनः पुनः शब्दय॥

सपदार्थान्वयः—हे इन्द्र अन्तःकरण-बहिष्करणशरीरादिसाधनैश्वर्यवन् मनुष्य विद्वन्! त्वं यत्र यस्मिन् व्यवहारे द्वौ=द्वे उभे जघना=जङ्घे उरुणी इव यथा अधिषवण्या=अधिषवण्ये=फलके अधिगतं सुन्वन्ति याभ्यां ते अधिषवणी, तयोर्भवे कृता=कृते भवतः, ते सम्यक् कृत्वोलूखल-सुतानाम् उलूखलेन शोधितानां पदार्थानां सकाशात सारमव प्राप्नुहि। उ=वितर्के, इत्=तदेव जल्गुलः=पुनः पुनः शब्दय अतिशयेन शब्दय ॥ २ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः। मनुष्यैर्यथा द्वाभ्यामुरुभ्यां गमनादिका क्रिया निष्पाद्यन्ते, तथैव पाषाणस्याऽध एका स्थूला शिला स्थापनार्था द्वितीया हस्तेनोपरि पेषणार्था कार्या। एताभ्या-मोषधीनां पेषणं कृत्वा यथावद् भक्षणादिसंसाध्य भक्षणीयमिदमपि मुसलोलूखलवद् द्वितीयं साधनं रचनीयमिति ॥ २ ॥

भाषार्थ—हे (इन्द्र) अन्तःकरण और बहिष्करण रूप शरीर आदि साधनों से ऐश्वर्यवान् विद्वान्! तू—(यत्र) जिस व्यवहार में (द्वौ) दो (जघना) जंघाओं के (इव) समान विस्तृत, (अधि-षवण्ये) प्राप्त पदार्थ का सवन करने वाले फलक=पाट (कृता) बने हुये होते हैं, उन्हें ठीक करके (उलूखलसुतानाम्) ऊखल से शुद्ध किये हुये पदार्थों से सार को (अव) प्राप्त कर। और (उ) युक्ति-पूर्वक (इत्) उस ऊखल को ही (जल्गुलः) बार-बार बजा, अर्थात् उसमें धान्य कूट ॥ २ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमा अलंकार है। मनुष्यों को चाहिये कि वे—जैसे दोनों जंघाओं से गमन आदि क्रियायें सिद्ध होती हैं, वैसे ही पत्थर की एक स्थूल शिला नीचे स्थापन के लिये बनावें और दूसरी ऊपर हाथ से पीसने के लिये बनावें। इन दोनों शिलाओं से ओषधियों को पीसकर यथा-वत् भोजन आदि उत्तम रीति से सिद्ध करके खावें। इस मूसल और ऊखल के तुल्य दूसरा साधन चक्की बनावें ॥ २ ॥

भाष्यसार—यज्ञकर्त्ता जीव कैसे हों—अन्तःकरण और बाह्यकरण रूप शरीर आदि साधनों से ऐश्वर्यवान् विद्वान् मनुष्य यज्ञ-व्यवहार में पदार्थों के सवन के लिये पत्थर के दो फलक=पाट बनावें। जो पाट जंघाओं के तुल्य विस्तृत हों। उन फलकों को बनाकर ऊखल से शुद्ध किये हुये पदार्थों से सार को प्राप्त करें। उस ऊखल को बार-बार बजावें अर्थात् उसमें धान्य कूटें।

तात्पर्य यह है कि जैसे दो जंघाओं से गमन आदि क्रिया सिद्ध होती हैं वैसे पत्थर के दो पाटों से पीसना आदि क्रिया को सिद्ध करें। पत्थर की एक मोटी शिला नीचे रखें और दूसरी हाथ से पीसने के लिये ऊपर रखें। इनसे यव=जौ आदि को पीसकर भोजन बनावें मूसल ऊखल के तुल्य दूसरा साधन चक्की बनावें ॥ २ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में 'इव' पद उपमावाचक है अतः उपमा अलंकार है। उपमा यह है कि विद्वान् मनुष्य दो जंघाओं के तुल्य विस्तृत पत्थर से दो फलकों=पाटों का निर्माण करें ॥ २ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"जिस सोमाभिषवन कर्म में सवन-कर्म करने वाले दोनों फलक=पाट जघन=जंघाओं की भांति विस्तृत होते हैं। हे इन्द्र! तुम उस उलूखल से निकाले रस को अपना जानकर ही भक्षण करो।"

इस मन्त्र का भी देवता 'इन्द्र' है। उस प्रतिपाद्य देवता की सायण ने कोई व्याख्या न करके मन्त्र की असंगत व्याख्या ही की है। मन्त्र में धान्यादि के पीसने के दूसरे उपाय पत्थर के दो फलकों=

---

१. यत्र यस्मिन् कर्मणि अधिषवण्या उभे अधिषवणफलके द्वाविव जघना द्वौ जघनप्रदेशाविव कृता विस्तीर्णे कृते सम्पादिते। अन्यत् पूर्ववत् ॥ (सायणः)

पाटों से बनी चक्की का वर्णन किया है। इसीलिए मन्त्र में द्विवचन का प्रयोग किया है। मन्त्र में 'उलूखलसुतानाम्' पद भी है। उसकी संगति महर्षि ने उपमा मानकर की है। अर्थात् मूसल तथा ऊखल की भांति चक्की से धान्यादि को पीसकर मनुष्य प्रयोग करें। सायण-भाष्य में यह संगति बिल्कुल भी नहीं है। सायण ने 'पूर्ववत्' लिखकर ही अर्थ छोड़ दिया है। चक्की के पाटों के साथ 'उलूखल' का क्या सम्बन्ध है ? यह सायण ने नहीं समझा। 'अधिषवण्या' पद में सायणाचार्य को 'षुञ् अभिषवे' (निचोडने अर्थ वाली) क्रिया का ही ध्यान रहा है। क्या कभी चक्की से भी कोई रस निचोड़ा जाता है ? यह व्यावहारिक सामान्य ज्ञान भी न होने से वेदार्थ को सायण ने नहीं समझा। 'षु' धातु के प्रसव-ऐश्वर्यादि दूसरे अर्थों पर यदि सायण ध्यान देते तो ऐसी भूल से बच सकते थे।

इस मन्त्र की व्याख्या में स्कन्द-स्वामी ने बहुत अश्लील व्याख्या की है। उन्होंने लिखा है—"जैसे मैथुनकाल में स्त्री और पुरुष के जघनप्रदेश सम्पर्क करते हैं, वैसे सोम के अभिषवण काल में दो ग्रावा (पत्थर) परस्पर सम्पर्क करते हैं।" महर्षि दयानन्द की व्याख्या में ऐसा अश्लील अर्थ नहीं है। महर्षि ने यहाँ लिखा है कि जैसे दो जंघाएँ गमनादि क्रिया को सिद्ध करती हैं, वैसे ही चक्की के दो पाट धान्यादि को पीसकर सिद्ध करते हैं। महर्षि के अर्थ में उपमा की साम्यता भी है। गति के समय मनुष्य को दोनों जंघाओं की आवश्यकता होती है, अन्यथा गति का सन्तुलन नहीं बन सकता, वैसे ही चक्की के दोनों फलकों के बिना पीसना नहीं हो सकता।

महर्षि ने मन्त्र के देवता 'इन्द्र' का मन्त्रार्थ की संगति के अनुसार 'ऐश्वर्यवान् मनुष्य' अर्थ किया वह धान्यादि को कूटकर अथवा पीसकर धान्यादि उत्तम पदार्थों को प्राप्त कर सकता है। सायण का स्वर्गस्थ शरीरधारी कल्पित इन्द्र देव से ऐसी आशा करना निरर्थक है। महर्षि की व्याख्या में समस्त मन्त्र की पूर्णतः संगति है, सायण की व्याख्या में नहीं है ॥ २ ॥ ●

आजीगर्तिः शुनःशेप ऋषिः। **इन्द्रयज्ञसोमाः** (ऐश्वर्यवान् मनुष्यः, यज्ञः सोमश्च) देवताः। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

अथेयं विद्या कथं ग्राह्येत्युपदिश्यते ॥

अब यह विद्या कैसे ग्रहण करनी चाहिये, यह उपदेश किया जाता है ॥

यत्र नार्यपच्यवमुपच्यवं च शिक्षते। उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुलः ॥ ३ ॥

पदार्थः—(यत्र) यस्मिन्कर्मणि (नारी) नरस्य पत्नी गृहमध्ये (अपच्यवम्) त्यागम् (उपच्यवम्) प्रापणम्। च्युङ्गतावित्यस्य प्रयोगौ (च) तत् क्रियाकरणशिक्षादेः समुच्चये (शिक्षते) ग्राहयति (उलूखलसुतानाम्) उलूखलेनोत्तादितानाम् (अव) जानीहि (इत्) एवं (उ) जिज्ञासने (इन्द्र) इन्द्रियाधिष्ठातर्जीव (जल्गुलः) शृणूपदिश च। सिद्धिः पूर्ववत् ॥ ३ ॥

प्रमाणार्थ—(अपच्यवम्/उपच्यवम्) ये दोनों प्रयोग 'च्युङ् गतौ' धातु के हैं। (जल्गुलः) इस पद की सिद्धि पूर्ववत् है ॥ ३ ॥

अन्वयः—हे इन्द्र त्वं यत्र नारीकर्मकारोम्रा उलूखलसुतानामपच्यवमुपच्यवं च शिक्षते तद्विद्यामुपादत्ते तत्र तदेतत्सर्वमुइदेवजल्गुलः शृण्वेत्रा उपदिश च ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः—हे **इन्द्र** इन्द्रियाधिष्ठातर्जीव ! **त्वं यत्र** यस्मिन् कर्मणि **नारी** नरस्य पत्नी गृहमध्ये **कर्मकारीभ्य उलूखलसुतानाम्** उलूखलेनोत्पादितानाम् **अपच्यवं** त्यागम् **उपच्यवं** प्रापणं **च** तत् क्रियाकरणशिक्षादेः समुच्चये **शिक्षते**=**तद्विद्यामुपादत्ते** गृह्णाति, **तत्र तदेतत् सर्वमु** जिज्ञासने **इत्**=**एवाव** जानीहि, **जल्गुलः**=**शृणु एता उपदिश च** ॥ ३ ॥

भाषार्थ—हे (**इन्द्र**) इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव ! तू—(**यत्र**) जिस कर्म में (**नारी**) पत्नी घर में कार्यकर्त्ताओं से (**उलूखलसुतानाम्**) ऊखल से सिद्ध किये हुये पदार्थों के (**अपच्यवम्**) त्याग, (**उपच्यवम्**) प्राप्ति (**च**) और कार्य करने की शिक्षा आदि को (**शिक्षते**) सीखती है, उस कर्म में इस सब कार्य को (**उ**) जिज्ञासा पूर्वक (**इत्**) ही (**अव**) जान, (**जल्गुलः**) सुन और इन विद्याओं का उपदेश कर ॥ ३ ॥

भावार्थः—उलूखलादिविद्याया भोजनादिसाधिकाया गृहसम्बन्धिकार्यकारित्वादेषा स्त्रीभिर्नित्यं ग्राह्याऽन्याभ्यो ग्राहयितव्या च। यत्र पाकक्रिया साध्यते तत्रैतानि स्थापनीयानि। नैतैर्विना कुट्टनपेषणादिक्रियाः सिध्यन्तीति ॥ ३ ॥

भावार्थ—भोजन आदि की साधक ऊखल आदि विद्या के गृह-सम्बन्धी कार्यों को सिद्ध करने वाली होने से इसे स्त्रियां नित्य ग्रहण करें तथा अन्य स्त्रियों को भी ग्रहण करावें। जहां पाक-क्रिया सिद्ध की जाती है वहां इन ऊखल आदि को स्थापित करें। इन ऊखल और चक्की आदि के विना कूटना पीसना आदि क्रियायें सिद्ध नहीं हो सकती हैं ॥३॥

भाष्यसार—**उलूखल आदि विद्या को कैसे ग्रहण करें**—जिस गृह-सम्बन्धी कर्म में पत्नी घर में कार्यकर्त्ताओं से ऊखल से सिद्ध किये हुये पदार्थों के तुष आदि का त्याग और सार अंश की प्राप्ति तथा अन्य कार्य करना सीखती है उस गृह-सम्बन्धी कर्म में इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव सब कार्य को जिज्ञासापूर्वक जाने, सुने और इस विद्या का उपदेश करे।

यह उलूखल आदि विद्या भोजन आदि को साधक है तथा गृह-सम्बन्धी कार्यों को सिद्ध करने वाली है। स्त्रियां इस विद्या को नित्य ग्रहण करें और करावें। जहां पाक-क्रिया होती है वहां उलूखल आदि को स्थापित करें। इनके बिना कूटना-पीसना आदि क्रियायें नहीं हो सकतीं ॥ ३ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य इस प्रकार है—"जिस सोमरस सम्पादन कर्म में पत्नी घर से बाहर जाने और फिर घर को प्राप्ति का अभ्यास करती है। हे इन्द्र ! तुम उस रस को अपना जानकर ही भक्षण करो।"[1]

इस मन्त्र के अर्थ को सायणाचार्य ने बिलकुल भी नहीं समझा है। मन्त्र में कहा है कि नारी=पत्नी उलूखलसुतानाम्=उलूखल से सिद्ध किए धान्यादि के छिलके अथवा सारहीन भाग का अपच्यवम्=परित्याग और सारयुक्त भाग को उपच्यवम्=प्राप्त करे। इस कूटने और शूर्प (छाज) से छड़ने की विद्या का गृहपत्नी अवश्य शिक्षते=सीखती है। इस विद्या के आश्रय से पत्नी विभिन्न पाक-क्रियाओं को सिद्ध किया करे। परन्तु सायण-भाष्य में किए पत्नी का घर से बाहर जाना और फिर घर आने वाले अर्थ की यहां कोई संगति नहीं है। मूसल-ओखली अथवा चक्की के द्वारा धान्यादि परिशोधन-प्रकरण में सायण-व्याख्या प्रकरणविरुद्ध और निरर्थक ही है। सायण के अनुसार यज्ञ-प्रदेश में रस-अभिषवन प्रकरण से भी इसकी कोई संगति नहीं है। मन्त्र में 'शिक्षते=विद्या ग्रहण करती है, क्रिया का पाठ है, घर से [illegible]

१. यत्र यस्मिन् कर्मणि नारी पत्नी अपच्यवं शालायाः निर्गमनम् उपच्यवं च शालाप्राप्तिं च शिक्षते अभ्यासं करोति। अन्यत्पूर्ववत् ॥ (सायणः)

जाना और फिर वापिस आना यह तो कोई विद्वान नहीं है। महर्षि-दयानन्द की मन्त्र-व्याख्या बहुत ही प्रकरणानुकूल तथा सुसंगत है। मन्त्र-पठित 'अपच्यवम और उपच्यवम्' पदों में च्युङ् गतौ' धातु और अप=पृथग्भाव, उप=सामीप्य से प्राप्त करना, ये दो उपसर्ग हैं। जिनके अर्थ की महर्षि की व्याख्या से पूर्णतः संगति है। सायण की मन्त्र के प्रतिपाद्य-विषय 'इन्द्र' देवता के विषय में तो महाभ्रान्ति है कि स्वर्गस्थ इन्द्र-देवता रस का भक्षण करता है। महर्षि ने इसका इन्द्र=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव या ऐश्वर्यवान् मनुष्य अर्थ किया है। जिसमें कोई मिथ्या कल्पना नहीं की गई है।

इस मन्त्र की व्याख्या में स्कन्दस्वामी तथा वेंकट-माधव ने तो बहुत ही अश्लील व्याख्या की है। उन्होंने लिखा है कि जैसे नारी-मैथुन काल में अपनी जघन=जंघा पर पुरुष का अपगमन और उपगमन करती है, वैसे सोम के अभिषवण काल में एक ग्रावा-पत्थर दूसरे ग्रावा को उक्त क्रिया प्रदान करता है। वेंकटमाधव का कथन है—कि अभिषवण में प्रवृत्त ग्रावा को देखकर स्त्री भर्त्ता में प्रवेशन और निर्गमन कौशल को सीखती है। इससे स्पष्ट है—इन लोगों के अन्तःकरण कैसे मलीन व कलुषित थे, जिन्होंने मन्त्र में अविद्यमान अश्लील अर्थ की व्याख्या अपने भावों के अनुसार की है ॥ ३ ॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **इन्द्रश्चन्द्रमाश्च** (विद्वान् यज्ञः, सोमश्च) देवताः। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

एतत्सम्बन्ध्यन्यदपि साधनमुपदिश्यते ॥

गृह-सम्बन्धी कार्य के अन्य साधनों का भी उपदेश किया जाता है॥

यत्र मन्थां विबध्नते रश्मीन्यमितवाइव। उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुलः ॥ ४ ॥

यत्र। मन्थाम्। विऽबध्नते। रश्मीन्। यमितवैऽइव। उलूखलऽसुतानाम्। अव। इत्। उम् इति। इन्द्र। जल्गुलः ॥ ४ ॥

पदार्थः—(यत्र) यस्मिन् क्रियासाध्ये व्यवहारे (मन्थाम्) घृतादिनिरसारणं मन्थानम। **अत्र छान्दसो वर्णलोपो वा** इति नकारलोपः (विबध्नते) विशिष्टतया बध्नन्ति। **अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदम्।** (रश्मीन्) रज्जूः (यमितवाइव) निग्रहीतुमर्हइव। अत्र यमधातोरत्वै-प्रत्ययः। **वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति** इति इडागमः। (उलूखलसुतानाम्) उलूखलेन संपादितानाम प्राप्तिम्। उलूखलशब्दार्थं यास्कमुनि-रेवं समाचष्टे। **उलूखलमुरुकरं वोर्ध्वकरं वोर्ध्वदरवं वोरमे कुर्वित्यब्रवीत् तदुलूखलमभवत् उरुकरं वैतदुलूखलमित्याचक्षते** । निरु० ९। २०। (अव) इच्छ (इत्) निश्चये (उ) वितर्के (इन्द्र) रसाभिसिचन् जीव (जल्गुलः) शब्दय। सिद्धिः पूर्ववत् ॥ ४ ॥

प्रमाणार्थ—(मन्थाम) यहां 'छान्दसो वर्णलोपो वा' (अ० ८। २। २५) इस महाभाष्य-वचन से नकार का लोप है—'मन्थानम्'। (विबध्नते) यहां व्यत्यय से आत्मनेपद है (यमितवा) यहां 'यम' धातु से 'तवै' प्रत्यय है और 'वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति' (अ० ४। १। ९) इस परिभाषा से 'इट्' आगम है। (उलूखलसुतानाम्) उलूखल शब्द का अर्थ यास्कमुनि ने ऐसे बतलाया है—उलूखलम्=उरुकरम्, बहुत कार्य करने वाला, ऊर्ध्वखं वा=ऊपर को छेद वाला, ऊर्क्करं वा=अन्न को सिद्ध करने वाला है। इसलिये उलूखल कहलाता है। प्रजापति ने कहा—'उरु में कुरु' बहुत मेरे लिये

करो। तब उलूखल बन गया। यह उलूखल=उरूकर है। बहुत कार्य करने वाला है। इसलिये इसे उलूखल कहते हैं (निरुक्त ६। २०)॥

अन्वयः—हे इन्द्र सुखाभिलाषिन्विद्वन्स्त्वं रश्मीन् यमितवै सूर्यो वा सारथिरिव यत्र मन्थां विबध्नते तत्रोलूखलसुतानां प्राप्तिमवेच्छ। एतामिदुविद्यां युक्तया जल्गुलः शब्दयोपदिश॥ ४॥

पदार्थान्वयः—हे इन्द्र=सुखाभिलाषिन् विद्वन् रसाभिसिञ्चन् जीव! त्वं रश्मीन् रज्जूः यमितवै निग्रहीतुमर्हः सूर्यो वा सारथिरिव यत्र यस्मिन् क्रियासाध्ये व्यवहारे मन्थां घृतादिनिस्सारणं मन्थानं विबध्नते विशिष्टं बध्नन्ति, तत्रोलूखलसुतानां उलूखलेन संपादितानां प्राप्तिमव=इच्छ। एतामित् निश्चये उ वितर्के विद्यां युक्तया जल्गुलः=शब्दयोपदिश॥ ४॥

भाषार्थ— हे (इन्द्र) सुखाभिलाषी विद्वान् तथा रसका सेचन करने वाले जीव! तू—(रश्मीन्) किरणों वा रस्सियों को (यमितवै) ग्रहण करने वाले सूर्य वा सारथि के तुल्य (यत्र) जिस क्रिया-साध्य व्यवहार में (मन्थाम्) घृतादि निकालने के साधन मन्थनी को (विबध्नते) विशेष रूप से बांधते हैं, उस व्यवहार में (उलूखलसुतानाम्) ऊखल से सिद्ध किये हुये पदार्थों की प्राप्ति की (अव) इच्छा कर। इस विद्या का (इत्) ही (उ) युक्तिपूर्वक (जल्गुलः) उपदेश कर॥ ४॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः। ईश्वर उपदिशति—हे विद्वांसः! यथा सूर्यो रश्मिभिर्भूमिमाकर्षणेन बध्नाति, यथा सारथी रज्जुभिरश्वान् नियच्छति, तथैव मन्थन-बन्धन-चालनविद्यया दुग्धादिभ्य ओषधिभ्यश्च नवनीतादिसारान् युक्तया निष्पादयतेति॥ ४॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमा अलङ्कार है॥ ईश्वर उपदेश करता है—हे विद्वानो! जैसे सूर्य किरणों से भूमि को आकर्षण के द्वारा बांधता है और जैसे सारथि रस्सियों से घोड़ों को वश में करता है, वैसे ही मन्थन, बन्धन और चालन की विद्या से दुग्ध आदि और ओषधियों से नवनीत=मक्खन आदि सारों को युक्तिपूर्वक सिद्ध करो।

भाष्यसार—गृह-सम्बन्धी कार्य के साधन—जैसे सूर्य अपनी किरणों से भूमि को आकर्षण के द्वारा बांधता है, जैसे सारथि लगाम से घोड़ों को नियन्त्रित करता है, वैसा सुखाभिलाषी विद्वान् मन्था=रई को रस्सी से बांधे। वह ऊखल से सिद्ध किये हुये भक्ष्य-पदार्थों की प्राप्ति की कामना करे। इस विद्या का युक्ति से उपदेश करे॥ ४॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"जिस कर्म में मन्थन=विलोडन कर्म के साधन मथनी को वैसे बान्धते हैं, जैसे घोड़ों पर नियन्त्रण के लिए प्रग्रह=लगाम बान्धते हैं। हे इन्द्र! तुम उस रस को अपना समझकर ही भक्षण करो।"

इस मन्त्र में पूर्वोक्त मूसल-ओखली तथा पत्थर की चक्की से भिन्न मन्थन (बिलोना) क्रिया से सिद्ध मक्खन तथा अन्य ओषधि-सारों को ग्रहण करने का उपदेश किया है। मन्थन-क्रिया में रस्सी से मन्थन-दण्ड उसी तरह नियन्त्रित रहना चाहिए, जैसे रश्मी (लगाम) से घोड़ों तथा सूर्यकिरणों से भूमि को नियन्त्रित रक्खा जाता है। अन्यथा मन्थन-क्रिया नहीं हो सकती। मन्त्र के पूर्वार्द्ध के साथ उत्तरार्द्ध की सायण-भाष्य में कोई संगति नहीं है। महर्षि ने बहुत ही सूझ-बूझ के साथ मन्त्र के पूर्वार्द्ध को उत्तरार्द्ध में पठित 'अव=इच्छाकर' क्रिया से सम्बन्ध किया है। जिसको सायण ने न समझकर उपसर्ग-

१. यत्र यस्मिन् कर्मणि मन्थाम् आशिरमन्थनहेतुं मन्थानं विबध्नन्ति। तत्र दृष्टान्तः। अश्व बन्धनार्थान् प्रग्रहान् यमितवा इव नियन्तुमिव। अन्यत् पूर्ववत्॥ (सायणः)

परक व्याख्या की है। यदि 'अव' उपसर्ग हो, तो उसका क्या अर्थ होगा ? यह सायण ने बिल्कुल भी विचार नहीं किया। यदि सायण के लिखे 'पूर्ववत्' के अनुसार 'अवगत्य' अर्थ है, तो यह अर्थ उपसर्ग का कदापि नहीं हो सकता है, यह अर्थ 'अव' धातु का ही हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सायण को मन्त्रार्थ में भ्रान्ति ही रही है। महर्षि ने यहाँ प्रकरणानुकूल 'अव=इच्छा कर' अर्थ किया है। और मन्त्र के देवता 'इन्द्र' का सुखाभिलाषी विद्वान् अर्थ किया है। किन्तु सायण ने भ्रान्ति व पूर्वाग्रहवश कल्पितदेव को ही मानकर भक्षण क्रिया मानी है। जबकि 'जल्गुलः' क्रिया का 'उपदेश कर' अर्थ सर्वथा उपयुक्त है। इस क्रिया के भक्षण अर्थ में सायण ने बहुत ही क्लिष्ट-कल्पना ही की है। और इस पद को यङ्लुगन्त मानकर यङ्लुगन्त के अर्थ को भी सायण ने नहीं दिखाया है, जो उनका प्रमाद ही कहना चाहिए ॥ ४ ॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **इन्द्रयज्ञस्तोमाः** (विद्वान्, यज्ञः, सोमश्च) देवताः। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

तेनोलूखलेन किं कर्त्तव्यमित्युपदिश्यते ॥

उस ऊखल से क्या करना चाहिये, यह उपदेश किया जाता है ॥

यच्चिद्धि त्वं गृहेगृह उलूखलक युज्यसे । इह द्युमत्तमं वद जयतामिव दुन्दुभिः ॥ ५ ॥

यत् । चित् । हि । त्वं । गृहेगृहे । उलूखलक । युज्यसे । इह । द्युमत्ऽतमम् । वद । जयताम् इव । दुन्दुभिः ॥ ५ ॥

पदार्थः—(**यत्**) यस्मात् (**चित्**) चार्थे (**हि**) प्रसिद्धौ (**गृहेगृहे**) प्रतिगृहम्। वीप्सायां द्वित्वं (**ऊलूखलक**) उलूखलं कायति शब्दयति यस्तत्संबुद्धौ विद्वन् (**युज्यसे**) समादधासि (**इह**) अस्मिन्संसारे गृहे स्थाने वा (**द्युमत्तमम्**) प्रशस्तः प्रकाशो विद्यते यस्मिन् स शब्दो द्युमान् अतिशयेन द्युमान् द्युमत्तमस्तम्। अत्र प्रशंसार्थे मतुप्। (**वद**) वादय वा। अत्र **पक्षेऽन्तर्गतो ण्यर्थः**। (**जयतामिव**) विजयकरणशीलानां वीराणामिव (**दुन्दुभिः**) वादित्रविशेषैः ॥ ५ ॥

प्रमाणार्थ—(**गृहेगृहे**) यहां वीप्सा=व्याप्ति अर्थ में द्वित्व है। (**द्युमत्तमम्**) यहां प्रशंसा अर्थ में 'मतुप्' प्रत्यय है। (**वद**) वादय वा। यहां पक्ष में 'णिच्' प्रत्यय का अर्थ अन्तर्गत है ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे उलूखलक विद्वँस्त्वं यद्धि गृहेगृहे युज्यसे तद्विद्यां समादधासि स त्वमिह जयतां दुन्दुभिरिव द्युमत्तममुलूखलं वादयैतद्विद्यां (चित्) वदोपदिश ॥ ५ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **उलूखलक** उलूखलं कायति=शब्दयति यस्तत्सम्बुद्धौ **विद्वन्** ! **त्वं यत् यस्मात् हि** प्रसिद्धौ **गृहेगृहे** प्रतिगृहं **युज्यसे**=तद्विद्यां **समादधासि**, स **त्वमिह** अस्मिन् संसारे गृहे स्थाने वा **जयतां** विजयकरणशीलानां वीराणां **दुन्दुभिः** वादित्रविशेषैः **इव द्युमत्तमं** प्रशस्तः प्रकाशो विद्यते यस्मिन् स शब्दो द्युमान्, अतिशयेन द्युमान् **द्युमत्तमस्तम् ऊलूखलं वादय। एतद्विद्यां चित् च वद**=उपदिश ॥ ५ ॥

भाषार्थ—हे (**उलूखलक**) ऊखल को बजाने वाले विद्वान् ! तू—(**यत्**) जिससे (**हि**) निश्चय ही (**गृहे गृहे**) प्रत्येक घर में (**युज्यसे**) ऊखल-विद्या को युक्त करता है, सो तू (**इह**) इस संसार, घर वा स्थान में (**जयताम्**) विजय करने वाले वीरों के (**दुन्दुभिः**) नगारों के (**इव**) समान (**द्युमत्तमम्**) अत्यन्त प्रशस्त प्रकाश वाले शब्द से युक्त ऊखल को बजा। (**चित्**) और इस विद्या का (**वद**) उपदेश कर ॥ ५ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः। सर्वेषु गृहेषूलूखलक्रिया योजनीया भवति। यथा शत्रूणां विजेतारः सेनास्थाः शूरा दुन्दुभिं वादयित्वा युध्यन्ते, तथैव रससम्पादकेन मनुष्येणोलूखले यवाद्योषधीर्योजयित्वा मुसलेन हत्वा तुषादिकं निवार्य सारांशः संग्राह्य इति ॥ ५ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमा अलंकार है। सब घरों में उलूखल-क्रिया स्थापित करनी होती है। जैसे शत्रुओं के विजेता सैनिक शूरवीर नगारे को बजाकर युद्ध करते हैं, वैसे ही रसों का सम्पादक मनुष्य ऊखल में यव=जौ आदि ओषधियों को रखकर, मूसल से चोट लगाकर, तुष आदि को हटाकर सार अंश को ग्रहण करे ॥ ५ ॥

भाष्यसार—**ऊखल से क्या करें**—ऊखल-विषयक विद्या का ज्ञाता विद्वान् प्रत्येक घर में ऊखलक्रिया को युक्त करे। जैसे युद्ध में विजय प्राप्त करने वाले वीरों के दुन्दुभि का शब्द सुनाया देता है वैसे प्रत्येक घर में ऊखल का उत्तम शब्द सुनाई दे। मनुष्य ऊखल एवं मूसल से यव आदि ओषधियों को कूटकर सार ग्रहण करें। विद्वान् इस विद्या का उपदेश करे ॥ ५ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे ऊलूखल ! यद्यपि कूटने के लिए तुम्हारा प्रयोग प्रत्येक घर में होता है, फिर भी इस वैदिक कर्म में तीव्र मूसल प्रहार से बहुत ध्वनि वाला शब्द करो। जैसे विजयी राजा (नगारों से) विजयध्वनि करता है।"

इस सायण-कृत व्याख्या से स्पष्ट है कि अचेतन ऊलूखल को सम्बोधित करके उससे शब्द करने की प्रार्थना की गई है। यह सायणाचार्य की महाभ्रान्ति तथा शास्त्रों से अनभिज्ञता ही है। ऐसी व्याख्याओं को पढ़कर ही पाश्चात्य विद्वानों ने यह आक्षेप किया है कि प्राचीन आर्य-लोग जड़-पदार्थों की पूजा करते थे। यद्यपि मन्त्रपठित सम्बोधन तथा मध्यम-पुरुष के प्रयोग को देखकर लौकिक संस्कृत के अनुसार सायणकृत व्याख्या सत्य प्रतीत होती है, किन्तु वेद के अध्येताओं को यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि लौकिक तथा वैदिक संस्कृत में बहुत से नियमों में विभिन्नता भी है। लोक में मध्यम-पुरुष का प्रयोग 'युष्मद्' के साथ होता है। सायण ने भी लोकानुसार ही अर्थ कर दिया है। किन्तु मध्यम-पुरुष के विषय में वैदिक नियम दूसरा भी है। देखिए—

अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगाः।.....
अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगाः॥ (निरु० ७।२)

अर्थात् प्रत्यक्ष अर्थ के कहने वालों में मध्यमपुरुष तथा अध्यात्म अर्थ के कहने वाले मन्त्रों में उत्तमपुरुष का प्रयोग होता है। इस निरुक्त के प्रमाण के अनुसार जड़ पदार्थ भी प्रत्यक्ष हों तो वहाँ मध्यमपुरुष का प्रयोग वेद-मन्त्रों में हुआ है। जड़-पदार्थों को सिद्ध करके केवल उनसे उपकार लेना ही ईश्वर ने जनाया है, उनकी पूजा नहीं। यास्काचार्य ने इसी बात का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि—

अपि ह्यदेवता देवतावत् स्तूयन्ते, यथाश्वप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि ॥ (निरु०७।४) अर्थात् अश्व, ओषधि आदि तथा उलूखलमूसलादि आठ द्वन्द्व देवता नहीं हैं, किन्तु देवता की तरह मन्त्रों में स्तुति की गई हैं। इससे स्पष्ट है कि उलूखलादि की पूजा मन्त्रों में नहीं है। सायणाचार्य ने इन वैदिक नियमों को न समझकर अथवा समझते हुए भी पूर्वाग्रहवश पौराणिक भावनाओं को पुष्ट करने के लिए उपेक्षा करके मन्त्रों की व्याख्या की है। उन्होंने यह भी नहीं विचारा कि ये उलूखलादि जड़ पदार्थ क्या हमारी

---

१. हे ऊलूखलक ! यच्चिद्धि यद्यपि त्वमवघातार्थं गृहे गृहे युज्यसे तथापि इह वैदिके कर्मणि तीव्रमूसलप्रहारेण द्युमत्तमम् अतिशयेन दीप्तं प्रभूतध्वनियुक्तं शब्दं वद। तत्र दृष्टान्तः। जयतामिव दुन्दुभिः। यथा युद्धे जयं प्राप्नुवतां राज्ञां दुन्दुभिः महान्तं ध्वनिं करोति तद्वत् ॥ (सायणः)

प्रार्थनानुरूप कार्य कर सकते हैं ? फिर 'भैंस के आगे बीन बजाने' की भांति इनसे क्यों प्रार्थना की जाए।

महर्षि-दयानन्द ने समस्त मन्त्रार्थ पर विचार करके 'उलूखलक' का अर्थ ऊखल को चलाने वाला विद्वान् अर्थ किया है। जो कि व्याकरण के अनुसार भी ठीक है। मन्त्र में 'द्युमत्तमं वद' पद हैं, जिनका अर्थ 'अतिशय पकाशयुक्त बोलो' होता है। इस पर भी सायण ने विचार नहीं किया कि यह दीप्तियुक्त ध्वनि क्या है ? क्या किसी ने ऐसी ध्वनि सुनी है ? महर्षि ने इसका अर्थ 'प्रकाशयुक्त विद्या' किया है। विद्वान् पुरुष इस विद्या को वद=दूसरों को उपदेश किया करे। इस महर्षि की व्याख्या में कितना सामञ्जस्य तथा संगति है, यह पठनीय है। परन्तु सायण की व्याख्या से भ्रान्तियों को जन्म मिलता है ॥ ५ ॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **इन्द्रयज्ञसोमाः** (विद्वान्, यज्ञः, सोमश्च) देवताः। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तत्किमर्थं ग्राह्यमित्युपदिश्यते ॥

फिर उस ऊखल को किसलिये ग्रहण करना चाहिये, यह उपदेश किया जाता है ॥

उत स्म ते वनस्पते वातो विवात्यग्रमित्। अथो इन्द्राय पातवे सुनु सोममुलूखल ॥ ६ ॥

उत। स्म। ते। वनस्पते। वातः। वि। वाति। अग्रम्। इत्। अथो इति। इन्द्राय। पातवे। सुनु। सोमम्। उलूखल ॥ ६ ॥

पदार्थः—(उत) अपि (स्म) अतीतार्थे क्रियायोगे (ते) तस्य (वनस्पते) वृक्षादेः (वातः) वायुः (वि) विविधार्थे क्रियायोगे (वाति) गच्छति (अग्रम्) उपरिभागम् (इत्) एव (अथो) अनन्तरे (इन्द्राय) जीवाय (पातवे) पातुं पानं कर्त्तुम्। अत्र **तुमर्थेसेसेनसे०** इति तवेन्प्रत्ययः। (सुनु) (सोमम्) सर्वौषधं सारम् (उलूखल) उलूखलेन बहुकार्यकरेण साधनेन। अत्र **सुपां सुलुग्** इति तृतीयैकवचनस्य लुक् ॥ ६ ॥

प्रमाणार्थ—(पातवे) यहां 'तुमर्थे सेसेनसे०' (अ० ३ । ४ । ९) इस सूत्र से 'पा' धातु से 'तवेन्' प्रत्यय है। (पा+तवेन्। पातवे+सु=पातवे)। (ऊलूखल) यहां तृतीया विभक्ति के एकवचन का लुक् है ॥

अन्वयः—हे विद्वन् यथा वात इत्तस्यास्य वनस्पतेरग्रमुत विवाति स्माथो इत्यनन्तरमिन्द्राय जीवाय सोमं पातवे—पातुं सुनोति निष्पादयति तथोलूखलेन यवाद्योषधिसमुदायं सुनु ॥ ६ ॥

सपदार्थान्वयः—हे विद्वन्! **यथा वातः** वायुः **इत्** एव **ते**=तस्यास्य **वनस्पते**=वनस्पतेः वृक्षादेः **अग्रम्** उपरिभागम् उत अपि **विवाति** विविधं गच्छति **स्म, अथो** इत्यनन्तरमिन्द्राय जीवाय **सोमं** सर्वौषधं सारं **पातवे**=पातुं पानं कर्त्तुं **सुनोति**=निष्पादयति, **तथोलूखल**=उलूखलेन बहुकार्यकरेण साधनेन **यवाद्योषधिसमुदायं सुनु** सेधय ॥ ६ ॥

भाषार्थ—हे विद्वन्! जैसे—(वातः) वायु (इत्) ही (ते) उस इस (वनस्पते) वृक्षादि वनस्पति के (अग्रम्) अग्रभाग को (उत) भी (विवाति, स्म) चलाता है (अथो) और तत्पश्चात् (इन्द्राय) जीव के लिए (सोमम्) सार रूप सब औषधों के (पातवे) पान के लिये (सुनोति) सिद्ध करता है; वैसे—(उलूखल) बहुत कार्य करने के

साधन ऊखल से यव=जौ आदि ओषधि-गण को (सुनु) सिद्ध कर ॥ ६ ॥

भावार्थः— अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥ यदा पवनेन सर्वे वनस्पत्योषध्यादयो वर्ध्यन्ते, तदैव प्राणिनस्तेषां पुष्टानामुलूखले स्थापनं कृत्वा सारं गृहीत्वा भुञ्जते रसमपि पिबन्ति । नैतेन विना कस्यचित् पदार्थस्य वृद्धिपुष्टी संभवतः ॥ ६ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमा अलंकार है ॥ जब पवन सब वनस्पति और ओषधि आदि को बढ़ाता है तभी प्राणी उन पुष्ट हुये पदार्थों को ऊखल में रखकर, उनका सार ग्रहण करके खाते हैं तथा रस भी पीते हैं । इस पवन के बिना किसी पदार्थ की वृद्धि और पुष्टि सम्भव नहीं है ॥

भाष्यसार—**ऊखल को किसलिये ग्रहण करें**—जैसे वायु वृक्ष आदि के उपरि भाग को विविध गति देता है, और वह जीव के लिये सोम अर्थात् ओषधिसार को निष्पन्न करता है, वैसे विद्वान् ऊखल से यव=जौ आदि ओषधियों को सिद्ध करे ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"और हे उलूखल रूप वृक्ष ! तुम्हारे आगे वायु चल रही थी । जल्दी में किए मुसलों के प्रहारों से वायु निश्चय से अधिक चलती है । इसके बाद हे उलूखल ! इन्द्र के उपकार के लिए पीने के लिए सोमरस का अभिषवन करो ।"

इस सूक्त के पञ्चम-मन्त्र की भांति ही सायणाचार्य ने जड़ उलूखल से इन्द्र के उपकार के लिए सोम-रस निचोड़ने की प्रार्थना की है । यह उनकी महाभ्रान्ति ही है । इस विषय में पञ्चम मन्त्र की समीक्षा देखनी चाहिए । और मन्त्रोक्त 'वनस्पते' का उलूखलरूप 'वृक्ष' अर्थ भी मिथ्या है । क्या उलूखल के आगे वायु चलती है, अन्यत्र नहीं ? यथार्थ में सायण ने उपमान-उपमेय भाव को ही नहीं समझा है । महर्षि ने इस रहस्य को समझकर लिखा है कि जैसे वायु वृक्ष के अग्र-भाग आदि को हिलाता हुआ उन्हें पुष्ट करता है और जीवों के लिए सोम=ओषधिसार को सिद्ध करता है, वैसे ही इन्द्र=विद्वान् भी ऊखलादि से धान्यादि के सार को सिद्ध करें ।

सायण-व्याख्या के अनुसार मुसल प्रहारों से जो वायु चलती है, उससे सोम-रस सिद्ध होने का कोई कार्य-कारण भाव सम्बन्ध भी नहीं है । और जिस इन्द्र को सायण ने स्वर्ग का राजा माना है, क्या उसे स्वर्ग में सोम-रस नहीं मिलता । यदि नहीं मिलता, तो ऐसे स्वर्ग से तो यही लोक अच्छा है, जहां सभी पदार्थ उपलब्ध हो जाते हैं । और देवता दूसरों का उपकार करते हैं, ऐसा तो सर्वत्र लिखा मिलता है किन्तु देवता का उपकार सोमरस पिलाने से हो, ऐसे अकिञ्चन देवों का क्या देवत्व है । वे तो सायण के अनुसार भिखारी के तुल्य हैं और परवश हैं । अतः सायण की व्याख्या काल्पनिक होने से सत्य नहीं है ॥ ६ ॥ ●

आजीगर्तिः शुनःशेप ऋषिः । **इन्द्रयज्ञसोमाः (विद्वान्, यज्ञः, सोमश्च)** देवताः । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनर्मुसलोलूखले कीदृशे इत्युपदिश्यते ॥

फिर मूसल और ऊखल कैसे हों, यह उपदेश किया जाता है ॥

---

१. उत अपि च हे वनस्पते उलूखलरूप वृक्ष ! ते अग्रमित् तव पुरत एव वातो विवाति स्म । त्वरोपेतमुसलप्रहारैर्वायुविशेषेण प्रसरति खलु ! अथो अनन्तरं हे उलूखल ! इन्द्राय इन्द्रोपकारार्थं पातवे पातुं सोमं सुनु सोमाभिषवं कुरु ॥ (सायणः)

आयजी वाजसातमा ता हि उच्चा विजर्भृतः । हरीइवान्धांसि बप्सता ॥ ७ ॥

आयजीइत्यायजी । वाजसातमा । ता । हि । उच्चा । विऽजर्भृतः । हरीइवेति हरीऽइव । अंधांसि । बप्सता ॥ ७ ॥

पदार्थः—(आयजी) समन्ताद्यज्यन्ते संगम्यन्ते पदार्था याभ्यां तौ स्त्रीपुरुषौ । **अत्र बाहुलकादौणादिकः करणकारके इः प्रत्ययः ।** (**वाजसातमा**) वाजान् युद्धसमूहान् सनन्ति संभज्य विजयन्ते याभ्यां तावतिशयितौ । अत्र सर्वत्र **सुपां सुलुग्** इत्याकारादेशः । (**ता**) तौ (**हि**) खलु (**उच्चा**) उत्कृष्टानि कार्याणि । **अत्र शेश्छन्दसि** इति शेर्लोपः । विजभृंतः विविधं धरतः (**हरीइव**) यथाऽश्वौ तथा (**अंधांसि**) अन्नानि । **अन्ध इत्यन्ननामसु पठितम् ।** निघं० २ । ७ । (**बप्सता**) बप्सन्तौ । **अत्र भस भर्त्सनदीप्त्योरित्यस्माल्लटः शत्रादेशः । घसिभसोर्हलि च ।** प्र० ६ । ४ । १०० । अनेनोपधालोपः सुगममन्यत् । **भसधातोर्भर्त्सन इत्यर्थो नवीनो भक्षण इति प्राचीनोऽर्थः ॥ ७ ॥**

प्रमाणार्थ—(**आयजी**) यहां बहुल करके करण-कारक में औणादिक 'इः' प्रत्यय है (यज+इ+सु=यजिः । यजि+औ=यजी) । (**वाजसातमा/ता/बप्सता**) यहां सर्वत्र 'सुपां सुलुक्०' (अ० ७ । १ । ३९) इस सूत्र से औ के स्थान में आकार आदेश है । (**उच्चा**) यहां 'शेश्छन्दसि बहुलम्' (अ० ६ । १ । ६८) इस सूत्र से 'शि' का लुक् है । (**अन्धांसि**) 'अन्धः' पद निघण्टु (२ । ७) में अन्न-नामों में पढ़ा है । (**बप्सता**) यहां 'भस भर्त्सनदीप्त्योः' इस धातु से 'लट्' के स्थान में 'शतृ' आदेश है, और 'घसिभसोर्हलि च' (अ० ६ । ४ । १००) इस सूत्र से उपधा का लोप है, शेष सिद्धि सुगम है । 'भस' धातु का भर्त्सन=धमकाना अर्थ नवीन है और भक्षण=खाना अर्थ प्राचीन है ॥ ७ ॥

अन्वयः—यावायजी वाजसातमौ स्तस्तौ स्त्रीपुरुषावधांसि बप्सन्तौ भक्षयन्तौ हरीइव मुसलोलूखलादिभ्य उच्चा—उत्कृष्टानि कार्याणि विजभृंतः ॥ ७ ॥

सपदार्थान्वयः—**यावायजी** समन्ताद् याज्यन्ते=संगम्यन्ते पदार्था याभ्यां तौ स्त्रीपुरुषौ **वाजसातमा=वाजसातमौ** वाजान्=युद्धसमूहान् सनन्ति=संभज्य विजयन्ते याभ्यां तावतिशयितौ **स्तः, ता=तौ स्त्रीपुरुषौ हि** खलु **अन्धांसि** अन्नानि **बप्सता=बप्सतौ=भक्षयन्तौ हरी इव** यथाऽश्वौ तथा **मुसलोलूखलादिभ्य उच्चा=उत्कृष्टानि कार्याणि विजभृंतः** विविधं धरतः ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः । यथा भक्षणकर्त्तारावश्वौ यानादीनि वहतः, तथैव मुसलोलूखले बहूनि विभागकरणादीनि कार्याणि प्रापयत इति ॥

भाषार्थ—जो (**आयजी**) सब ओर पदार्थों से संगम करने वाले, (**वाजसातमौ**) युद्धों को अच्छे प्रकार से जीतने वाले होते हैं, (**ता**) वे दोनों स्त्री-पुरुष (**हि**) निश्चय से (**अन्धांसि**) अन्नों को (**बप्सता**) खाते हुए (**हरी इव**) दोनों घोड़ों के समान मुसल और ऊखल आदि से (**उच्चा**) उत्कृष्ट कार्यों को (**विजभृंतः**) विविध प्रकार से धारण करते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमा अलंकार है । जैसे खाने वाले दो घोड़े यान आदि को वहन करते हैं, वैसे ही मूसल और ऊखल बहुत विभाग करना आदि कार्यों को प्राप्त कराते हैं ॥ ७ ॥

भाष्यसार—**मूसल और ऊखल कैसे हों**—पदार्थों के साथ सङ्गत होने वाले, युद्धों को जीतने वाले स्त्री-पुरुष—अन्नों का भक्षण करने वाले घोड़े के समान अर्थात् जैसे वे यान आदि का परिवहन करते हैं, वैसे वे मूसल और ऊखल से विविध कार्यों को सिद्ध करें ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"यज्ञ के साधन और अतिशय अन्न को देने वाले जो उलूखल-मुसल हैं, वे निश्चय से जैसे ऊँची ध्वनि होती है, वैसे विशेष रूप से बार-बार विहार करते हैं। इसमें यह दृष्टान्त है—जैसे चने आदि अन्नों को खाते हुए इन्द्र के घोड़े विहार करते हैं।"

इस मन्त्र के देवता हैं—'इन्द्रयज्ञसोमाः=विद्वान्, यज्ञ और सोम'। परन्तु सायणाचार्य ने 'उलूखल-मुसलौ' को देवता माना है। मन्त्र में द्विवचन के प्रयोग को देखकर सम्भव है सायण को यह भ्रान्ति हुई है। मन्त्र में 'आयजी' तथा 'वाजसातमा' दो पद पठित हैं। जिसकी व्याख्या सायण क्रम से यह करते हैं—'यज्ञ के साधन' तथा 'अतिशय अन्न को देने वाले'। उलूखल तथा मूसल को यज्ञ का साधन तो कहा जा सकता है, किन्तु अतिशय अन्न को देने वाला कहना नितान्त मिथ्या कल्पना है। और उपमा में कहा गया है—अन्न खाने वाले घोड़ों की तरह। और उपमेय में 'अन्न देने वाले' अर्थ की सङ्गति कैसे हो सकती है। एक खाने वाला और दूसरा देने वाला, इनमें उपमान-उपमेय भाव क्या हुआ? हां! यदि सायण 'वन षण सम्भक्तौ' क्रिया मानकर अर्थ करते, तब तो कुछ सङ्गति लग भी जाती। क्योंकि उलूखल-मुसल धान्यों से निस्सार भाग को पृथक् करते हैं।

सायण-भाष्य में 'विजर्भृतः' पद का भी सङ्गत अर्थ नहीं किया गया। ये अचेतन उलूखल तथा मूसल स्वयं कैसे विहार कर सकेंगे? विहार करनादि क्रियाएँ कर्त्ता के विना नहीं हो सकतीं। इसलिए महर्षि दयानन्द ने विद्वान् स्त्री-पुरुष अर्थ करके मन्त्रार्थ को बहुत ही सुसंगत बनाया है। स्त्री-पुरुष ही धान्यादि के संस्कार के लिए उलूखल-मुसलादि की क्रियाओं का व्यवहार अथवा धारण करते हैं। और मन्त्र में केवल 'हरी इव' पदों से घोड़ों की उपमा दी गई है। परन्तु सायण-भाष्य में उनका सम्बन्ध इन्द्र के घोड़ों से कर दिया है। क्या स्वर्गस्थ कल्पित इन्द्र के घोड़ों को किसी ने देखा है? जो अन्नादि खाते हैं और इन्द्र को इधर-उधर ले जाते हैं। यह सायणाचार्य की पौराणिक कल्पना ही है॥ ७॥ ●

आजीगर्तिः शुनःशेप ऋषिः। **इन्द्रयज्ञसोमाः** (विद्वान्,यज्ञः, सोमश्च) देवताः। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनस्ते कथंभूते कार्ये इत्युपदिश्यते॥

फिर वे मूसल और ऊखल कैसे बनावें, यह उपदेश किया जाता है॥

ता नो अद्य वनस्पती ऋष्वावृष्वेभिः सोतृभिः। इन्द्राय मधुमत्सुतम्॥ ८॥

ता। नः। अद्य। वनस्पती इति। ऋष्वौ। ऋष्वेभिः। सोतृऽभिः। इन्द्राय। मधुऽमत्। सुतम्॥ ८॥

पदार्थः—(ता) तौ मुसलोलूखलाख्यौ। अत्र सुपां सुलुग् इत्याकारादेशः। (नः) अस्माकम् (अद्य) अस्मिन् दिने (वनस्पती) काष्ठमयौ (ऋष्वौ) महान्तौ। ऋष्व इति महन्नामसु पठितम्। निघं०

---

१. ये उलूखलमुसले आयजी सर्वतो यज्ञसाधने वाजसातमा अतिशयेन अन्नप्रदे ता हि ते खलु उच्चा प्रौढध्वनिर्यथा भवति तथा विजर्भृतः विशेषेण पुनः पुनर्विहारं कुरुतः तत्र दृष्टान्तः। अन्धांसि अन्नानि चणकादीनि खाद्यानि बप्सता भक्षयन्तौ हरी इव इन्द्रस्याश्वानिव॥ (सायणः)

३ । ३ (**ऋष्वेभिः**) महद्भिर्विद्वद्भिः । **बहुलं छन्दसि** इति भिस ऐस् न । (**सोतृभिः**) अभिषवकरणकुशलैः (**इन्द्राय**) ऐश्वर्यप्रापकाय व्यवहाराय (**मधुमत्**) मधवो मधुरादयः प्रशस्ता गुणा विद्यन्ते यस्मिन् तत् । अत्र प्रशंसार्थे मतुप् (**सुतम्**) संपादितं वस्तु ॥

प्रमाणार्थ— (**ता**) यहां 'सुपां सुलुक्' (अ० ७ । १ । ३९) इस सूत्र से 'औ' के स्थान में आकार आदेश है । (**ऋष्वौ**) महान्तौ । 'ऋष्व' यह पद निघण्टु (३ । ३) में महान् नामों में पढ़ा है । (**ऋष्वेभिः**) यहाँ 'बहुलं छन्दसि' (अ० ७ । १ । १०) इस सूत्र से 'भिस्' के स्थान में 'ऐस्' आदेश नहीं है । (**मधुमत्**) यहां प्रशंसा अर्थ में 'मतुप्' प्रत्यय है ॥

अन्वयः—यौ सोतृभिर्ऋष्वेभिऋष्वौ वनस्पती संपादितौ स्तो यौ नोस्माकमिन्द्रायाद्य मधुमद्वस्तु सुतं संपादनहेतूभवतस्तौ सर्वैः संपादनीयौ ॥ ८ ॥

सपदार्थान्वयः—**यौ सोतृभिः** अभिषवकरणकुशलैः **ऋष्वेभिः** महद्भिर्विद्वद्भिः **ऋष्वौ** महान्तौ **वनस्पती** काष्ठमयौ **संपादितौ स्तः, यौ नः**=**अस्माकमिन्द्राय** ऐश्वर्यप्रापकाय व्यवहाराय **अद्य** अस्मिन् दिने **मधुमत्** मधवो=मधुरादयः प्रशस्ता गुणा विद्यन्ते यस्मिन् तत् **वस्तु सुतं**=**सम्पादनहेतू भवतः, ता**=**तौ** मुसलोलूखलाख्यौ **सर्वैः सम्पादनीयौ** ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(**सोतृभिः**) रस निकालने में कुशल (**ऋष्वेभिः**) महान् विद्वानों ने जो (**ऋष्वौ**) महान् (**वनस्पती**) काठ के बने ऊखल-मूसल बनाये हैं, जो (**नः**) हमारे (**इन्द्राय**) ऐश्वर्य के प्रापक व्यवहार के लिये (**अद्य**) आज (**मधुमत्**) मधुर आदि प्रशस्त गुण वाली वस्तु को (**सुतम्**) सिद्ध करने के हेतु होते हैं, (**ता**) उन मूसल और ऊखल को सब सिद्ध करें ॥ ८ ॥

भावार्थः—यथा पाषाणस्य मुसलोलूखलानि भवन्ति, तथैव काष्ठायःपित्तलरजतसुवर्णादीनामपि क्रियन्ते । तैः श्रेष्ठैरौषधाभिषवादीन् साधयेयुरिति ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे पत्थर के मूसल और ऊखल होते हैं, वैसे ही काठ, लोहा, पीतल, चांदी और सोने आदि के भी बनाये जाते हैं । उन साधनों से औषधि रूप अभिषव (रस) आदिको सिद्ध करें ॥ ८ ॥

भाष्यसार—**मूसल और ऊखल कैसे बनावें**—विद्वान् काष्ठ के ऊखल और मूसल बनावें । वे ऐश्वर्य-प्रापक व्यवहार के लिये मधुर आदि प्रशस्त गुण वाली वस्तु को सिद्ध करने के हेतु हों । ये ऊखल और मूसल पत्थर, काष्ठ, लोहा, पित्तल, चान्दी और सुवर्ण आदि धातुओं के बन सकते हैं ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"इस कर्म में हे उलूखल-मुसल रूप वनस्पतियो ! तुम दोनों रस निचोड़ने (अभिषवन) में हेतु तथा दर्शनीयों के साथ दर्शनीय होकर इन्द्र के लिए माधुर्ययुक्त हमारे सोमद्रव्य का अभिषवन करो ।"

इस मन्त्र के देवता "इन्द्रयज्ञसोमाः=विद्वान्, यज्ञ और सोम" हैं । परन्तु सायणाचार्य ने इसका देवता 'उलूखल-मुसलौ' माना है । और इन अचेतन उलूखल-मुसल से ही इन्द्र के लिए सोम-रस निचोड़ने की प्रार्थना सायण-भाष्य में की गई है । क्या ये जड़ ऊखल-मुसल हमारी प्रार्थना के अनुरूप

---

१. **अद्य** अस्मिन् कर्मणि हे वनस्पती उलूखलमुसलरूपौ तौ युवाम् ऋष्वेभिः दर्शनीयैः सोतृभिः **अभिषवहेतुभिः** सह ऋष्वौ दर्शनीयौ भूत्वा इन्द्राय इन्द्रार्थं मधुमत् माधुर्योपेतं सोमद्रव्यं नः अस्मदीयं सुतं **अभिषुणतम्** ॥ (सायणः)

कार्य कर सकेंगे ? यह सायणाचार्य की महती भ्रान्ति है। प्रार्थना चेतनात्माओं से ही करनी चाहिए, जड़ से नहीं।

सायणाचार्य ने देवता की अनभिज्ञता के साथ पदों के अर्थों को भी नहीं समझा है। मन्त्र में 'सोतृभिः' पद में स्वर के अनुसार कर्त्ता में तृच् प्रत्यय है। जिसके अनुसार 'अभिषव=रस निकालने वाले' व्यक्ति अर्थ होना चाहिए। किन्तु सायण-भाष्य में इसकी व्याख्या 'अभिषव करने में हेतु' अर्थ किया है। क्या 'तृच्' प्रत्यय हेत्वर्थ में होता है ? और 'सोतृभिः' का विशेष्य है—'ऋष्वेभिः'। जिसकी व्याख्या सायण-भाष्य में 'दर्शनीय' की गई है। सायण-कृत यह व्याख्या प्रकरणसंगत नहीं है। महर्षि दयानन्द ने निघण्टु (३।३) का प्रमाण देकर 'महद्भिः (विद्वद्भिः) अर्थ किया है। जिससे स्पष्ट है कि सोमरस निकालने वाला जहाँ रस निकालने की कला को जानता हो, वहां उसके गुण-दोष तथा प्रयोग-विधि का ज्ञाता भी होना चाहिए। सायणभाष्य में यह व्याख्या भी मिथ्या है कि 'ऋष्वौ' उलूखलमुसल दर्शनीय होकर इन्द्र के लिए रस सम्पादन करें। क्या उलूखल-मुसल अदर्शनीय अवस्था में भी होते हैं ? जो उन्हें दर्शनीय होने के लिए कहा गया है। और 'इन्द्र' कौन है ? इसकी यहां सायण ने कोई व्याख्या ही नहीं की है। जिस 'इन्द्र' पद के विभिन्न अर्थ होते हैं, उसका यहां क्या अर्थ है, यह तो अवश्य लिखना ही चाहिए था। यदि सायण को यहां भी स्वर्गस्थ कल्पित इन्द्र-देव ही अभीष्ट है तो उनकी मान्यता शास्त्र-विरुद्ध तथा प्रत्यक्ष विरुद्ध होने से भ्रान्तिपूर्ण है। महर्षि-दयानन्द ने यहां 'इन्द्र' का यौगिक अर्थ किया है, जिसकी अर्थ के साथ पूर्णतः संगति है। क्योंकि मधुरादि प्रशस्त गुणयुक्त, रोग-विनाशक तथा स्वास्थ्यवर्धक सोम-रस के सेवन से ऐश्वर्य की प्राप्ति और वृद्धि होती है॥ ८॥

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **इन्द्रयज्ञसोमाः** (विद्वान्, यज्ञः, सोमश्च) देवताः। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनस्ताभ्यां किं-किं साधनीयमित्युपदिश्यते॥

फिर उस ऊखल और मूसल से क्या-क्या सिद्ध करें, यह उपदेश किया जाता है॥

उच्छिष्टं चम्वोर्भर सोमं पवित्र आ सृज। नि धेहि गोरधि त्वचि॥ ९॥

उत्। शिष्टम्। चम्वोः। भर। सोमम्। पवित्रे। आ। सृज। नि। धेहि। गोः। अधि। त्वचि॥ ९॥

पदार्थः—(**उत्**) उत्कृष्टार्थे क्रियायोगे (**शिष्टम्**) शिष्यते यस्तम् (**चम्वोः**) पदातिहस्त्यश्वादिरूढयोः सेनयोरिव (**भर**) धर (**सोमम्**) सर्वरोगनाशकबलपुष्टिबुद्धिवर्द्धकमुत्तमौषध्यभिषवम् (**पवित्रे**) शुद्धेसेविते (**आ**) समन्तात् (**सृज**) निष्पादय (**नि**) नितराम् (**धेहि**) संस्थापय (**गोः**) पृथिव्याः। **गौरिति पृथिवीनामसु पठितम्।** निघं० १।१। (**अधि**) उपरि (**त्वचि**) पृष्ठे॥ ९॥

प्रमाणार्थ—(**गोः**) पृथिव्याः। 'गौ' यह पद निघण्टु (१।१) में पृथिवी-नामों में पढ़ा गया है॥ ९॥

अन्वयः—हे विद्वँस्त्वँ चम्वोरिव शिष्टं सोममुद्भर तेनोभे सेने पवित्रे आसृज गोः पृथिव्या अधि त्वचि ते निधेहि नितरां सँस्थापय॥ ९॥

सपदार्थान्वयः—हे विद्वन्! त्वं **भाषार्थ**—हे विद्वन्! तू—(**चम्वोः**) **चम्वोः** पदातिहस्त्यश्वादिरूढयोः सेनयोः **इव शिष्टं** पैदल और हाथी, घोड़े आदि पर आरूढ़ हुई दो

शिष्यते यस्तं **सोमं** सर्वरोगनाशकबलपुष्टिबुद्धिवर्द्धकमुत्तमौषध्याभिषवम् **उद्भर** उत्कृष्टं धर। **तेनोभे सेने पवित्रे** शुद्धे सेविते **आसृज** समन्तान्निष्पादय। **गोः=पृथिव्याः अधि** उपरि **त्वचि** पृष्ठे **ते निधेहि** नितरां संस्थापय॥ ९॥

प्रकार की सेनाओं के तुल्य (**शिष्टम्**) विशेष (**सोमम्**) सब रोगों के नाशक; बल, पुष्टि और बुद्धि को बढ़ाने वाले उत्तम ओषधि रूप रस को (**उद्भर**) उत्तम रीति से धारण कर। और उससे दोनों प्रकार की सेनाओं को (**पवित्रे**) शुद्ध (**आसृज**) सब ओर से बना। (**गोः**) पृथिवी की (**अधि, त्वचि**) पीठ के ऊपर उन्हें (**निधेहि**) सर्वथा संस्थापित कर॥ ९॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। राजपुरुषादिभिर्द्विविधे सेने संपादनीये— एका यानारूढा, द्वितीया पदातिरूपा। तदर्थमुत्तमा रसाः शस्त्रादिसामग्रचश्च संपादनीयाः। सुशिक्षयौषधादिदानेन च शुद्धबले सर्वरोगरहिते संगृह्य पृथिव्या उपरि चक्रवर्त्तिराज्यं नित्यं सेवनीयमिति॥ ९॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमा अलङ्कार है॥ राजपुरुष आदि दो प्रकार की सेनायें बनावें—एक यानों पर आरूढ़ होने वाली और दूसरी पैदल। उसके लिये उत्तम रस और शस्त्र आदि सामग्री तैयार करें। सुशिक्षा और औषध आदि के दान से उन्हें शुद्ध बलवाली और सब रोगों से रहित बनाकर पृथिवी पर चक्रवर्त्ती राज्य का नित्य सेवन करें॥ ९॥

भाष्यसार—ऊखल और मूसल से क्या-क्या सिद्ध करें—भाष्य में प्रतिपादित दो प्रकार की सेनाओं के तुल्य विशिष्ट गुणों से युक्त सोम को विद्वान् लोग ऊखल और मूसल से सिद्ध करें और उसे उत्तम रीति से धारण करें। उक्त दोनों प्रकार की सेना को सोम से शुद्ध एवं पवित्र करें और उन्हें पृथिवी पर स्थापित करें॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य इस प्रकार है[1]—"हे ऋत्विग् विशेष! अथवा हरिश्चन्द्र! भक्षण के योग्य बनाने वाले अधिषवण के फलकों (पत्थर के पाटों) से बचे सोम को गाड़ी के ऊपर हरण कर। निचोड़े हुए सोम को दशापवित्र में लाकर फैंक दो। फैंकने पर शेष बचे सोमरस को बैल के चर्म-पात्र (चमड़े) में रक्खो।"

इस मन्त्र के देवता 'इन्द्रयज्ञसोमाः=विद्वान्, यज्ञ और सोम' हैं। परन्तु आचार्य सायण ने इसके देवता को समझा ही नहीं है और यह लिख दिया है—'हरिश्चन्द्राधिषवणचर्मसोमानामन्यतमो देवता' अर्थात् इसका देवता हरिश्चन्द्र, अधिषवण, चर्म, या सोम में से कोई है। देवता मन्त्र का प्रतिपाद्यविषय होता है, उसी से संगत मन्त्र की व्याख्या की जाती है। परन्तु जिन्हें देवता का ही निश्चय न हो, उसकी व्याख्या कैसे प्रकरणानुकूल हो सकती है। महर्षि दयानन्द ने ऐसी अनिश्चयात्मक स्थिति नहीं रक्खी है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि इस मन्त्र के तीन देवता हैं।

इस मन्त्र में 'उद्भर, आसृज, निधेहि' तीन क्रियाएँ हैं। और तीनों का कर्म 'सोमम्' है। तथा 'सोमम्' का विशेषण है—'शिष्टम्'। सायण ने मन्त्र के गाम्भीर्य को न समझकर बहुत ही मन्त्र में

---

१. हे ऋत्विग्विशेष! हरिश्चन्द्र देवतापक्षे हे हरिश्चन्द्र इति वा चम्वोः सोमस्य भक्षत्वसंपादकयोः अधिषवणफलकयोः शिष्टम् अभिषवराहित्येन अवशिष्टं सोमम् उत भर शकटस्योपरि हर। सोमम् अभिषुतं सोमं पवित्रे दशापवित्रे आसृज आनीय प्रक्षिप। प्रक्षेपे सति अविशष्टं सोमं गोः त्वचि आनड्वहे चर्मणि अधि निधेहि अध्यारोप्य स्थापय॥ (सायणः)

अपठित शब्दों को जोड़कर काल्पनिक अर्थ किया है। प्रथम 'शिष्टं सोमम्' का अर्थ निचोड़ने के बाद बचा हुआ निस्सार पदार्थ अर्थ किया है और उसको फेंकने के लिए 'शकटस्य=गाड़ी के ऊपर' आदि शब्दों को जोड़ा है। और बाद में 'शिष्टं सोमम्' का अर्थ 'सारभूत सोमरस' अर्थ किया है, जिसे बैल के चर्मपात्र में रखने को लिखा है। यहाँ सायण मन्त्रार्थ करने में भ्रान्त ही रहे हैं। महर्षि के भाष्य में ऐसी भ्रान्ति नहीं है। महर्षि ने निचोड़ने के बाद शिष्ट=विशेष सारभूत सोम का ही ग्रहण किया है।

मन्त्र में पठित 'गोरधि त्वचि' पदों का भी सायण ने लोकरूढ अर्थ लेकर 'बैल के चर्मपात्र में' अर्थ किया है। जिससे पाश्चात्य विद्वानों को यह भ्रान्ति हुई है कि प्राचीन आर्य-लोग भी गायादि को मारकर उनके चमड़े के पात्र बनाकर प्रयोग करते थे। जो सोमरस अत्यधिक पवित्र माना जाता है और जिसे देवताओं के लिए तैयार किया जाता है, उसे बैल के चर्म के पात्र में रखना तो बहुत ही अपवित्र कर्म है। और वैदिक संस्कृति से विरुद्ध है। और आचार्य सायण की भ्रान्ति को देखिए कि जो कूड़ा-कर्कट (निचोड़ने के बाद) था उसे तो लिखा है कि पवित्र-पात्र में फेंक देवे और सोमरस को चर्मपात्र में रखे। यह उनकी वैदिक कोषों से अनभिज्ञता तथा अनार्ष-ग्रन्थों के पढ़ने से उत्पन्न अव्युत्पन्न-मति का ही द्योतक है। वेद में 'गो' शब्द के विभिन्न अर्थ हैं। महर्षि दयानन्द ने यहाँ निघण्टु के आधार पर पृथिवी अर्थ किया है। अर्थात् विद्वान् पुरुष का यह कर्त्तव्य है कि वह सोमादि रोगनाशक तथा स्वास्थ्य-वर्धक ओषधियों को जानकर इस विद्या को पृथिवी पर रहने वाले मनुष्यों को सिखाए। यही इन पदों का संगत सत्यार्थ है। उसी औषध-विद्या को विद्वान् वैद्य उद्भर=धारण करता है।

सायण ने 'चम्वोः' पद का भी रहस्य नहीं समझा है। उन्होंने इसको अधिषवण-फलकों (चक्की के पाटों) का विशेषण माना है। यह उनका महाभ्रम है। जो पद मन्त्र में है ही नहीं, उसकी विशेषता को मन्त्रोक्त-पद कैसे बतायेगा ? और 'चमूः' का अर्थ सायणाचार्य ने यह किया है—'चम्यते भक्ष्यतेऽत्र'। अर्थात् जहाँ खाया जाए उसे 'चमूः' कहते हैं। इस अर्थ के अनुसार भी सायण का विशेषण-विशेष्य भाव असंगत है। क्या कोई अधिषवण फलकों पर बैठकर खाता है ? महर्षि-दयानन्द ने इसका 'पैदल और यानारूढ़ सेना' अर्थ किया है। पृथिवी पर निष्कण्टक राज्य करने के लिए दोनों प्रकार की सेना होनी चाहिए और उसे सोमरसादि उत्तमोषध-रसों से नीरोग तथा पुष्ट करना चाहिए : और सायण-भाष्य में जो मन्त्र का 'हरिश्चन्द्र' देवता माना है। उसके साथ मन्त्रार्थ की कोई संगति न होने से यह मन्त्र का देवता नहीं हो सकता। स्वयं सायण इसकी संगति दिखाने में सर्वथा असमर्थ रहे हैं ॥ ९ ॥

पूर्वापरसङ्गतिमाह—सप्तविंशेन सूक्तेनाग्निर्विद्वांसश्चोक्तास्तैर्मुसलोलूखलादीनि साधनानि गृहीत्वौषध्यादिभ्यो जगत्स्थपदार्थेभ्यो बहुविधा उत्तमाः पदार्थाः संपादनीया इत्यस्मिन्सूक्ते प्रतिपादनात् सप्तविंशसूक्तोक्तार्थेन सहास्याष्टाविंशसूक्तार्थस्य संगतिरस्तीति बोध्यम् ॥ ९ ॥

पूर्वापर-संगति—सत्ताईसवें सूक्त से अग्नि और विद्वान् जिस-जिस गुण को कहे हैं, वे मूसल और ऊखरी आदि साधनों को ग्रहण कर ओषध्यादि पदार्थों से संसार के पदार्थों से अनेक प्रकार के उत्तम-उत्तम पदार्थ उत्पन्न करें। इस अर्थ का इस सूक्त में संपादन करने से सत्ताईसवें सूक्त के कहे हुए अर्थ के साथ अट्ठाईसवें सूक्त की सङ्गति है यह जानना चाहिये ॥ ९ ॥

इति प्रथमाष्टके द्वितीयाध्याये षड्विंशो वर्गः प्रथममण्डले षष्ठेऽनुवाकेऽष्टाविंशं सूक्तं च समाप्तम् ॥

यह प्रथम अष्टक में दूसरे अध्याय में छब्बीसवां वर्ग वा प्रथम मण्डल में छठे अनुवाक में अट्ठाईसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥ ●

॥ अथ एकोनत्रिंशत्तमं सूक्तम् ॥

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः । **इन्द्रः** (न्यायाधीशः) देवता । पङ्क्तश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

अथेन्द्रशब्देन न्यायाधीशगुणा उपदिश्यन्ते ॥

अब उनतीसवें सूक्त का प्रारम्भ है । उसके पहिले मन्त्र में इन्द्र शब्द से न्यायाधीश के गुणों का उपदेश किया जाता है ॥

यच्चिद्धि सत्य सोमपा अनाशस्ता इव स्मसि ।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥ १ ॥

यत् । चित् । हि । सत्य । सोमऽपाः । अनाशस्ताःऽइव । स्मसि । आ । तु । नः । इन्द्र । शंसय । गोषु । अश्वेषु । शुभ्रिषु । सहस्रेषु । तुविऽमघ ॥ १ ॥

पदार्थः—(**यत्**) येषु (**चित्**) अपि (**हि**) खलु (**सत्य**) अविनाशिस्वरूप सत्सु साधो (**सोमपाः**) सोमानुत्पन्नान् सर्वान् पदार्थान् पाति=रक्षति तत्संबुद्धौ (**अनाशस्ताइव**) अप्रशस्तगुणसामर्थ्याइव (**स्मसि**) भवामः । **इदन्तोमसि** इति इदागमः । (**आ**) समन्तात् (**तु**) पुनरर्थे । **ऋचितुनु०** इति दीर्घः । (**नः**) अस्मान् (**इन्द्र**) प्रशस्तैश्वर्यप्राप्त (**शंसय**) प्रशस्तान् कुरु (**गोषु**) पश्विन्द्रियपृथिवीषु (**अश्वेषु**) वेगाग्निहयेषु (**शुभ्रिषु**) शोभनसुखप्रदेषु (**सहस्रेषु**) असंख्यातेषु (**तुविमघ**) तुवि=बहुविधं मघं=पूज्यतमं धनं विद्यते यस्य तत्संबुद्धौ **अन्येषामपि दृश्यत** इति पूर्वपदस्य दीर्घः ॥

प्रमाणार्थ—(**स्मसि**) यहां 'इदन्तोमसि' (अ० ७ । १ । ४६) इस सूत्र से 'इत्' का आगम है । (**तु**) 'ऋचि तुनु०' (अ० ६ । ३ । १३३) इस सूत्र से सांहिता में दीर्घ है—तू । (**तुविमघ**) यहां 'अन्येषामपि दृश्यते' (अ० ६ । ३ । १३७) इस सूत्र से सांहिता में पूर्व-पद को दीर्घ है—**तुवीमघ** ॥ १ ॥

अन्वयः—हे सोमपास्तुविमघ सत्येन्द्रन्यायाधीशत्वमनाशस्ताइव वयं यच्चित् स्मसि तु (नः) तानस्माँश्च सहस्रेषु शुभ्रिषु गोष्वश्वेषु हि खल्वाशंसय ॥ १ ॥

सपदार्थान्वयः— हे **सोमपाः** सोमान्=उत्पन्नान् सर्वान् पदार्थान् पाति=रक्षति तत्सम्बुद्धौ **तुविमघ** तुवि=बहुविधं मघं=पूज्यतमं धनं विद्यते यस्य तत्सम्बुद्धौ **सत्य** अविनाशिस्वरूप, सत्सु साधो **इन्द्र**=न्यायाधीश प्रशस्तैश्वर्यप्राप्त ! **त्वमनाशस्ता इव** अप्रशस्तगुणसामर्थ्या इव **वयं यच्चित्** येष्वपि **स्मसि** भवामः; **तु** पुनः **नः**=तान् **अस्मान् च** पुनः **सहस्रेषु** असंख्यातेषु **शुभ्रिषु** शोभनसुखप्रदेषु **गोषु** पश्विन्द्रियपृथिवीषु **अश्वेषु** वेगाग्निहयेषु **हि**=खलु **आ**+**शंसय** समन्तात् प्रशस्तान् कुरु ॥ १ ॥

भाषार्थ—हे (**सोमपाः**) उत्पन्न हुये सब पदार्थों के रक्षक (**तुविमघ**) बहुत प्रकार के पूज्यतम धन वाले (**सत्य**) अविनाशी स्वरूप, सज्जनों में श्रेष्ठ (**इन्द्र**) प्रशस्त ऐश्वर्य को प्राप्त न्यायाधीश ! आप (**अनाशस्ता इव**) अप्रशस्त गुण सामर्थ्य वालों के तुल्य हम लोग (**यच्चित्**) जिन गुणों में भी (**स्मसि**) वर्तमान हैं, (**तु**) पुनरपि हमें (**सहस्रेषु**) असंख्य (**शुभ्रिषु**) उत्तम सुखदायक (**गोषु**) पशु, इन्द्रिय, पृथिवी और (**अश्वेषु**) वेग, अग्नि तथा घोड़ों में (**खलु**) निश्चय से (**आ**+**शंसय**) प्रशस्त करो ॥ १ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः। यथाऽऽलस्येनाश्रेष्ठा मनुष्या भवन्ति तद्वद्वयमपि यदि कदाचिदलसा भवेम तानस्मान् प्रशस्तपुरुषार्थगुणान् संपादयतु यतो वयं पृथिव्यादिराज्यं बहूनुत्तमान् हस्त्यश्वगवादिपशून् प्राप्य पालित्वा वर्द्धित्वा तेभ्य उपकारेण प्रशस्ता भवेमेति ॥ १ ॥

भावार्थ—यहां उपमा अलंकार है। जैसे आलस्य से मनुष्य अश्रेष्ठ होते हैं, वैसे यदि हम लोग भी कभी, प्रमादी होवें तो उन हमको श्रेष्ठ पुरुषार्थ गुण से युक्त करे, जिससे हम पृथिवी आदि राज्य बहुत उत्तम हाथी, घोड़े और गौ आदि पशुओं को प्राप्त कर उनका पालन कर और बढ़ाकर उनसे उपकार ग्रहण करके प्रशंसनीय होवें ॥ १ ॥

भाष्यसार—न्यायाधीश के गुण—न्यायाधीश उत्पन्न हुये सब पदार्थों का रक्षक हो। वह बहुत प्रकार के पूज्यतम धनवाला हो। वह अविनाशी स्वरूपवाला अर्थात् सच्चा और सज्जनों में श्रेष्ठ तथा प्रशस्त ऐश्वर्य को प्राप्त हो। वह अप्रशस्त गुण सामर्थ्य वाले हम लोगों को असंख्य उत्तम सुखदायक पशु, इन्द्रिय, पृथिवी, वेग, अग्नि और घोड़ों में प्रशस्त करे। वह हमारे आलस्य को दूर करके हमें पुरुषार्थी बनावे। जिससे हम पृथिवी आदि के राज्य तथा उत्तम गौ आदि पशुओं की प्राप्ति, पालन और वृद्धि करें। उनसे उपकार ग्रहण करके प्रशस्त बनें ॥ १ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"समस्त देवों से प्रेरणा पाकर शुनःशेप ऋषि ने इन २२ मन्त्रों से इन्द्र की स्तुति की। हे सोम के रक्षक अथवा सोमरस पीने वाले, सत्यवक्ता इन्द्र ! यद्यपि हम प्रशंसा के योग्य नहीं हैं, फिर भी हे बहुत धनवाले इन्द्र ! तुम हमें हजारों प्रशस्त गाय व घोड़ों में सर्वथा प्रशस्त करो। अर्थात् हमारे दोषों पर ध्यान न देकर गायादि प्रदान करो।"

आचार्य-सायण की यह महाभ्रान्ति है कि इस सूक्त में शुनःशेप ऋषि ने देवों की प्रेरणा से इन्द्र की स्तुति की है। इस सूक्त के समस्त मन्त्रों में गाय तथा घोड़ों के लिए (सायण के अर्थानुसार) प्रार्थना की है। यूप से बंधा ऋषि गायादि की प्राप्ति की प्रार्थना क्यों करे ? उसे तो बन्धन से मुक्ति चाहिए थी। और इन मन्त्रों का ऋषि 'शुनःशेप' है। वह मन्त्रार्थद्रष्टा है, मन्त्र-रचयिता नहीं। वेद परमेश्वर का ज्ञान है। उसमें व्यक्ति-विशेषों की प्रार्थनाओं का कदापि सम्भव नहीं है। इस सूक्त में सर्वत्र बहुवचन-परक ही प्रार्थनाएँ हैं। अतः मन्त्रार्थ के साथ शुनःशेप ऋषि का सम्बन्ध बताना महाभ्रान्ति का द्योतक है।

इस सूक्त का देवता 'इन्द्र' है। वह मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। वह कौन है, यह भी सायण-भाष्य में अस्पष्ट है। निरुक्त में इन्द्र-देव के कर्मों का वर्णन करते हुए लिखा है—"अथास्य कर्म—रसानुप्रदानं, वृत्रवधः, या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्।" (निरुक्त ७। १०) अर्थात् वृष्टिरस का देना, मेघ या शत्रुरूप वृत्र का वध करना और जो कोई भी बलकर्म है, वह सब इन्द्र का कर्म है। मन्त्र में इन्द्र की ये विशेषताएँ कही हैं—वह इन्द्र सोमपा=उत्पन्न सब पदार्थों की रक्षा करता है, तुविमघ=बहुत प्रकार के प्रशस्त धनों वाला है, सत्य=सत्यवक्ता अथवा सज्जनों में श्रेष्ठ है, और वह उत्तम सुखदायक असंख्य गाय, घोड़े आदि पशुओं एवं अन्य पदार्थों में हमें प्रशस्त करता है।

---

१. विश्वैर्देवैः प्रेरितः शुनःशेपः एतदादिभिः द्वाविंशतिसंख्याकाभिः ऋग्भिः इन्द्रं तुष्टाव। हे सोमपाः सोमस्य पातः सत्य सत्यवादिन् इन्द्र ! यच्चिद्धि यद्यपि वयम् अनाशस्ता इव स्मसि अप्रशस्ता इव भवामः। तथापि हे तुवीमघ बहुधन इन्द्र त्वं गोषु अश्वेषु शुभ्रिषु शोभनेषु सहस्रेषु सहस्रसंख्याकेषु च निमित्तभूतेषु नः अस्मान् आ शंसय सर्वतः प्रशस्तान् कुरु। अस्मद्दोषमनपेक्ष्य गवादीन् प्रयच्छेत्यर्थः ॥

(सायणः)

महर्षि-दयानन्द ने मन्त्रोक्त सभी विशेषताओं पर ध्यान रखकर 'इन्द्र' का अर्थ 'न्यायाधीश' किया है। क्योंकि वह निष्पक्ष न्याय करके दुष्टों (वृत्रों) का वध तथा सज्जनों की रक्षा करता है, वह सत्यवक्ता होता है और विवादास्पद भूमि आदि पदार्थों का निर्णय करके हमें प्रशस्त करता है। परन्तु सायण-कृत समस्त व्याख्या काल्पनिक एवं प्रकरणविरुद्ध है। प्रथम तो देवता का अर्थ ही नहीं किया। और सायणाभिमत स्वर्ग के राजा इन्द्र में मन्त्रोक्त विशेषताएँ कदापि संगत नहीं होतीं। और नहीं वह हमें गाय, घोड़े आदि पशुओं को देता है। सायण-भाष्य में 'गो' तथा 'अश्व' शब्दों के रूढ़ मात्र अर्थ करके अनर्थ किया गया है। वेदार्थ में इनका यौगिक अर्थ ही लेना चाहिए। महर्षि के भाष्य में इनके यौगिक अर्थ दिखाए गए हैं। न्यायाधीश सत्यवक्ता होता है, और दुष्टों को दण्डित करके मनुष्यों के पशुओं, भूमि तथा अन्य पदार्थों की रक्षा करता है। उसी के न्याय से धनादि की रक्षा होती है। यही मनुष्यों का इन्द्र= न्यायाधीश के आश्रय से प्रशस्त होना है ॥ १ ॥ ●

आजीगर्तिः शुनःशेप ऋषिः। **इन्द्रः** (न्यायाधीशः) देवता। पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः ॥

पुनः स ऐश्वर्ययुक्तः कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

फिर वह ऐश्वर्ययुक्त न्यायाधीश कैसा है, यह उपदेश किया जाता है ॥

शिप्रिन् वाजानां पते शचीवस्तव दंसना।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥ २ ॥

शिप्रिन्। वाजानाम्। पते। शचीवः। तव। दंसना। आ। तु। नः। इन्द्र। शंसय। गोषु। अश्वेषु। शुभ्रिषु। सहस्रेषु। तुवीमघ ॥ २ ॥

पदार्थः—(**शिप्रिन्**) शिप्रे=प्राप्तुमर्हे प्रशस्ते व्यावहारिकपारमार्थिके सुखे विद्येते यस्य सभापतेस्तत्संबुद्धौ। **अत्र प्रशंसार्थ इनिः। शिप्रे इति पदनामसु पठितम् ॥** निघं० ४। १। (**वाजानाम्**) संग्रामाणां मध्ये (**पते**) पालक (**शचीवः**) शचीबहुविधं कर्म बह्वी **प्रज्ञा वा** विद्यते यस्य तत्संबुद्धौ। **शचीति प्रज्ञा-नामसु पठितम्।** निघं० ३। ९। **कर्मनामसु च** निघं० २। १। **अत्र छन्दसीरः** [अ० ८। २। १५] इति मतुपो मस्य वः। **मतुवसोरु०।** अ० ८। ३। १। इति रुत्वं च। (**तव**) न्यायाधीशस्य (**दंसना**) दंसयति=भाषयत्यनया क्रियया सा। **ण्यासश्रंथोयुच्।** अ० ३। ३। १०७। अनेन दंसिभाषार्थ-इत्यस्माद्युच् प्रत्ययः। (**आ**) अभ्यर्थे क्रियायोगे (**तु**) पुनरर्थे। पूर्ववद्दीर्घः (**नः**) अस्मांस्त्वदाज्ञायां वर्त्तमानान् विदुषः (**इन्द्र**) सर्वराज्यैश्वर्यधारक (**शंसय**) प्रकृष्टगुणवतः कुरु (**गोषु**) सत्यभाषणशास्त्र-शिक्षासहितेषु वागादीन्द्रियेषु। **गौरिति वाङ्नामसु पठितम्।** निघं० १। ११। (**अश्वेषु**) वेगादिगुणवत्सु **अग्न्यादिषु** (**शुभ्रिषु**) शोभनेषु विमानादियानेषु तत् साधकतमेषु वा (**सहस्रेषु**) बहुषु (**तुविमघ**) बहुविधं मघं=पूज्यं विद्याधनं यस्य तत्सम्बुद्धौ। **मघमिति धननामसु पठितम्।** निघं० २। १०। **मघमिति धननामधेयम्। मंहतेर्दानकर्मणः।** निरु० १। ७। **अन्येषामपि दृश्यत इति दीर्घः ॥ २ ॥**

प्रमाणार्थ—यहां प्रशंसा अर्थ में 'इनि' प्रत्यय है। 'शिप्र' यह पद निघण्टु (४।१) में पद-नामों में पढ़ा है। पद के ज्ञान, गमन और प्राप्ति ये तीन अर्थ हैं; अतः यहां प्राप्ति अर्थ का ग्रहण किया है। (**शचीवः**) 'शचीः' यह पद निघण्टु (३। ९) में प्रज्ञा-नामों में पढ़ा है, तथा निघण्टु (२। १) में कर्म-नामों में पढ़ा है, और यहाँ 'छन्दसीरः' (अ० ८। २। १५) इस सूत्र से वेद में 'मतुप्' प्रत्यय के 'म' को 'व' आदेश है तथा 'मतुवसोरुः' (अ० ८। ३। १) इस सूत्र से मत्वन्त को 'रु' आदेश है। (**दंसना**)

यहां न्यासश्रन्थो 'युच्' (अ० ३ । ३ । १०७) इस सूत्र से भाषार्थक 'दंसि' धातु से 'युच्' प्रत्यय है । 'गोषु' 'गौः' यह पद निघण्टु (१ । ११) में वाक्-नामों में पढ़ा है—वाक्=वाणी । (**तुविमघ**) मघ यह पद निघण्टु (२ । १०) में धन-नामों में पढ़ा है । निरुक्त (१ । ६) के अनुसार 'मघ' पद धनवाची है और दान अर्थ वाली 'मंह' धातु से इसकी सिद्धि होती है । यहां 'अन्येषामपि दृश्यते' (अ० ६ । ३ । १३७) इस सूत्र से संहिता में पूर्वपद को दीर्घ है—तुवीमघ ॥ २ ॥

अन्वयः—हे शिप्रिन् शचीवो वाजानां पते तुवीमघेन्द्र न्यायाधीश या तव दंसनास्ति तया [तु] सहस्रेषु शुभ्रिषु गोष्वश्वेषु नोऽस्मानाशंसय—प्रकृष्टगुणवतः संपादय ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः—हे **शिप्रिन्** शिप्रे=प्राप्तुमर्हे प्रशस्ते व्यावहारिकपारमार्थिके सुखे विद्येते यस्य सभापतेस्तत्सम्बुद्धौ **शचीवः** शची=बहुविधं कर्म, बह्वी प्रज्ञा वा विद्यते यस्य तत्सम्बुद्धौ **वाजानां** संग्रामाणां **मध्ये पते** पालक **तुवीमघ** बहुविधं मघं=पूज्यं विद्याधनं यस्य तत्सम्बुद्धौ **इन्द्र** ! सर्वराज्यैश्वर्यधारक **न्यायाधीश** ! **या तव** न्यायाधीशस्य **दंसना** दंसयति=भाषयत्यनया क्रियया सा **अस्ति;** तु=पुनः **तया सहस्रेषु** बहुषु **शुभ्रिषु** शोभनेषु विमानादियानेषु तत्साधकतमेषु वा **गोषु** सत्यभाषणशास्त्रशिक्षासहितेषु वागादीन्द्रियेषु **अश्वेषु** वेगादिगुणवत्सु अग्न्यादिषु **नः=अस्मान्** त्वदाज्ञायां प्रवर्त्तमानान् विदुषः **आशंसय=प्रकृष्टगुणवतः संपादय** ॥ २ ॥

भावार्थः— मनुष्यैरित्थं जगदीश्वरः प्रार्थनीयः । हे भगवन् त्वया कृपया यथा न्यायाधीशत्वमुत्तमं राज्यादिकं च सम्पाद्यते तथास्मान्पृथिवीराज्यवतः सत्यभाषणयुक्तान् ब्रह्मशिल्पविद्यादिसिद्धिकारकान् बुद्धिमतो नित्यं संपायदेति ॥ २ ॥

भाषार्थ—हे (**शिप्रिन्**) प्राप्त करने योग्य प्रशस्त व्यावहारिक और पारमार्थिक सुख वाले (**शचीवः**) बहुत प्रकार के कर्म और प्रज्ञा वाले, (**वाजानाम्**) संग्रामों के मध्य में (**पते**) पालक, (**तुवीमघ**) बहुत प्रकार के पूज्य विद्या-धन वाले (**इन्द्र**) सब राज्य के ऐश्वर्य को धारण करने वाले न्यायाधीश ! जो (**तव**) आपकी (**दंसना**) भाषण-क्रिया है, उससे (**तु**) फिर (**सहस्रेषु**) बहुत (**शुभ्रिषु**) उत्तम विमान आदि यानों में या उनके साधनों में, (**गोषु**) सत्यभाषण, शास्त्रशिक्षा से युक्त वाणी आदि इन्द्रियों में (**अश्वेषु**) वेग आदि गुणों से युक्त अग्नि आदि में (**नः**) तेरी आज्ञा में वर्तमान हम विद्वानों को (**आशंसय**) उत्तम गुणों वाला करो ॥ २ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य जगदीश्वर से इस प्रकार प्रार्थना करें हे भगवन् ! तुझ द्वारा कृपा करके जैसे न्यायाधीशता, उत्तम विद्या और राज्य का सम्पादन होता है, वैसे हमको पृथिवी के राज्य वाले, सत्यभाषणयुक्त, ब्रह्मविद्या और शिल्पविद्या आदि की सिद्धि करने वाले, और बुद्धिमान् नित्य करें ॥ २ ॥

भाष्यसार—न्यायाधीश कैसा हो—न्यायाधीश प्राप्त करने योग्य प्रशस्त व्यावहारिक और पारमार्थिक सुखवाला, बहुत प्रकार के कर्म और प्रज्ञा वाला, संग्रामों के मध्य में रक्षा करने वाला बहुत प्रकार के पूज्य विद्याधन से युक्त, और सब राज्य के ऐश्वर्य को धारण करनेवाला हो । वह अपने भाषण (उपदेश) से विमान आदि या तत्सम्बन्धी साधन में सत्यभाषण, शास्त्रशिक्षा से युक्त वाणी आदि इन्द्रियों में और वेग आदि गुणों से युक्त अग्नि आदि की विद्या में हम विद्वानों को प्रशस्त बनावे ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायणभाष्य[1] इस प्रकार है—"हे शक्तिसम्पन्न, अच्छी ठोडी या

---

१. हे शचीवः शक्तिमन् शिप्रिन् शोभनहनूयुक्त वाजानां पते अन्नानां पालक तव दंसना कर्मविशेषोऽनुग्रहरूपः सर्वदा वर्तते । अन्यत् पूर्ववत् ॥ (सायणः)

नासिकावाले और अन्नों के पालक इन्द्र ! तुम्हारा अनुग्रहरूप जो कर्म है, वह सदा रहे। शेष पूर्ववत्।"

इस मन्त्र की व्याख्या तो सायण ने बहुत ही विचित्र की है। मन्त्र के गाम्भीर्य को न समझकर मिथ्या व्याख्या की है। मन्त्र का देवता 'इन्द्र' है और उसके लिए मन्त्र में कहा है कि वह शचीवः= उत्तम कर्मों वाला तथा प्रशस्त प्रज्ञा वाला है, शिप्रिन्=प्रशस्त सुखों को प्राप्त कराने वाला है और वाजानां पते=संग्रामादि में रक्षा करता है। इन्द्र की इन विशेषताओं को ध्यान में रखकर महर्षि दयानन्द ने 'इन्द्र' का अर्थ 'न्यायाधीश' किया है। यह अर्थ मन्त्रार्थ के साथ पूर्णतः संगत है। महर्षि ने अपने अर्थों की पुष्टि में प्रमाण भी दिए हैं, जिससे उनके अर्थों की पुष्टि हो रही है। परन्तु सायण-भाष्य की त्रुटियाँ देखिए कि उन्होंने देवता की व्याख्या ही छोड़ दी है और इन्द्र को शक्तिवाला, अन्नों का रक्षक तथा उत्तम ठोड़ी वाला बताया है। जिसके हनू=ठोडी आदि शरीरावयव हैं, यह इन्द्र कौन है ? यह सत्य है कि 'शिप्रे' पद के 'हनू व नासिका' अर्थ भी होते हैं। किन्तु प्रकरण-विरुद्ध अर्थ करना किसी भी भाष्यकार को योग्य नहीं है। यथार्थ में सायण ने पौराणिक-धारणाओं के आधार पर इन्द्र को स्वर्गस्थ तथा शरीरधारी अन्यत्र भी वर्णन किया है। यह उनकी महाभ्रान्ति है। ऐसे शरीरधारी इन्द्रादि देवों की कल्पना मिथ्या तथा असंगत है। इन्द्र को सायण-भाष्य में भी वाजानां पतिः=अन्नों का पालक माना है। इस अर्थ को ध्यान में रखकर सायण ने यह भी विचार नहीं किया कि स्वर्गस्थ इन्द्र अन्नों की कैसे रक्षा करता है ? क्या वह इन्द्र अब रक्षा नहीं करता ? यदि करता है तो अब शरीरधारी होकर भी दिखाई क्यों नहीं देता ? अतः सायण का कल्पित-इन्द्र प्रत्यक्षविरुद्ध होने से भी मिथ्या ही है।

मन्त्र में 'दंसना' शब्द है, जिसका सायण ने 'कर्मविशेषोऽनुग्रहरूपः' अर्थ किया है। कल्पित इन्द्र का अनुग्रह तो कभी किसी पर होता देखा नहीं गया। और इसका मन्त्र के उत्तरार्द्ध से भी कोई सम्बन्ध होना चाहिए। महर्षि ने इसका अर्थ न्यायाधीश की 'भाषण-क्रिया' किया है। जिसके द्वारा सत्य-न्याय को प्राप्त होकर मनुष्य पारमार्थिक तथा व्यावहारिक सुखों के साधनरूप पदार्थों की प्राप्ति में प्रशस्त रहते हैं। यह मन्त्र में उत्तरार्ध के साथ संगति है। किन्तु सायण-भाष्य में इस रहस्य को न समझकर संगति लगाई ही नहीं। महर्षि दयानन्द ने मन्त्र के उत्तरार्ध की पूर्वार्ध के साथ संगति ही नहीं लगाई है किन्तु पूर्वार्ध के अनुसार उत्तरार्ध के पदों के पृथक्-पृथक् मन्त्रों में दूसरे अर्थों को भी दिखाया है। जो मन्त्रार्थ से सुसंगत हैं। सायण-भाष्य की भांति स्कन्द-स्वामी तथा वेंकटमाधव ने भी इन्द्र को हनूमान्=ठोडी वाला या नासिका वाला मानकर कल्पित देव माना है। उनका यह अर्थ भी अप्राकरणिक तथा कल्पित होने से माननीय नहीं है ॥ २ ॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **इन्द्रः** (विद्वान्) देवता। पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः ॥

पुनः सः किं कुर्य्यादित्युपदिश्यते ॥

फिर वह विद्वान् क्या करे यह उपदेश किया जाता है ॥

निष्वापया मिथूदृशा सस्तामबुध्यमाने ।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥ ३ ॥

नि । स्वापय । मिथुऽदृशा । सस्ताम् । अबुध्यमाने इति । आ । तु । नः । इन्द्र । शंसय । गोषु । अश्वेषु । शुभ्रिषु । सहस्रेषु । तुवीमघ ॥ ३ ॥

पदार्थः—(नि) नितरां क्रियायोगे (स्वापय) निवारय। अत्र अन्तर्गतो णिजन्येषामपीति

दीर्घश्च (**मिथुदृशा**) मिथूविषयासक्तिप्रमादौ हिंसनं च दर्शयतस्तौ। अत्र **मिथृमेथृ मेधाहिंसनयोरित्यस्मादौणादिकः कुः प्रत्ययस्तदुपपदाद्दृशः कर्त्तरिक्विप् सुपांसुलुग् इत्याकारादेशोऽन्येषामपि दृश्यत** इति दीर्घश्च। (**सस्ताम्**) शयाताम् (**अबुध्यमाने**) बोधनिवारके शरीरमनसी आलस्ये कर्मणि (**आ**) आदरार्थे (**तु**) पश्चादर्थे। पूर्ववद्दीर्घः। (**नः**) अस्मान् (**इन्द्र**) अविद्यानिद्रादोषनिवारकविद्वन् (**शंसय**) प्रकृष्टज्ञानवतः कुरु (**गोषु**) पृथिव्यादिषु (**अश्वेषु**) व्याप्तिशीलेष्वग्न्यादिषु (**शुभ्रिषु**) शुभ्राः=प्रशस्ता गुणा विद्यन्ते येषु तेषु (**सहस्रेषु**) अनेकेषु (**तुविमघ**) तुविबहुविधं धनमस्ति यस्य तत्संबुद्धौ। **अन्येषामपि दृश्यत** इति पूर्वपदस्य दीर्घः॥ ३॥

प्रमाणार्थ—(**स्वापय**) यहां 'णिच्' प्रत्यय अन्तर्भूत है। और 'अन्येषामपि०' (अ० ६। ३। १३७) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—स्वापया। (**मिथुदृशा**) यहां 'मिथृमेथृ मेधाहिंसनयोः' (भ्वा०) इस धातु से औणादिक 'कुः' प्रत्यय करके 'मिथु' शब्द सिद्ध होता है। 'मिथु' उपपद वाली 'दृश्' धातु से कर्त्ता में 'क्विप्' प्रत्यय है, 'सुपां सुलुक्०' (अ० ७। १। ३९) इस सूत्र से 'औ' विभक्ति के स्थान में आकार आदेश, और 'अन्येषामपि दृश्यते' (अ० ६।३।१३७) इस सूत्र से पूर्वपद को संहिता में दीर्घ है—मिथूदृशा। (तुविमघ) यहाँ 'अन्येषामपि दृश्यते' (अ० ६। ३। १३७) इस सूत्र से संहिता में पूर्वपद को दीर्घ है—तुवीमघ॥ ३॥

अन्वयः—हे तुविमघेन्द्र विद्वन् ये मिथूदृशावबुध्यमाने शरीरमनसी आलस्ये वर्त्तमाने सस्तां शयातां पुरुषार्थनाशं प्रापयतस्ते त्वं निष्वापय निवारय [तु]=पुनः सहस्रेष शुभ्रिषु गोष्वश्वेषु नोस्मानाशंसय॥ ३॥

सपदार्थान्वयः—हे **तुविमघ** तुवि=बहुविधं धनमस्ति यस्य तत्सम्बुद्धौ **इन्द्र**=विद्वन् अविद्यानिद्रादोषनिवारकविद्वन्! **ये मिथूदृशा** मिथू विषयासक्तिप्रमादौ हिंसनं च दर्शयतस्तौ **अबुध्यमाने**=शरीरमनसी आलस्ये कर्मणि **सस्तां**=शयातां **पुरुषार्थनाशं प्रापयतस्ते त्वं निष्वापय**=निवारय **[तु]**=पुनः **सहस्रेषु** अनेकेषु **शुभ्रिषु** शुभ्रा=प्रशस्ता गुणा विद्यन्ते येषु तेषु **गोषु** पृथिव्यादिषु **अश्वेषु** व्याप्तिशीलेषु अग्न्यादिषु **नः**=अस्मान् **आ शंसय** आदरेण प्रकृष्टज्ञानवतः कुरु॥ ३॥

भाषार्थ—हे (**तुविमघ**) बहुत प्रकार के धन वाले (**इन्द्र**) अविद्या, निद्रा दोष-निवारक विद्वन्! जो (**मिथूदृशा**) विषयासक्ति, प्रमाद और हिंसा को दिखाने वाले (**अबुध्यमाने**) बोधनिवारक आलस्य कर्म में वर्त्तमान शरीर और मन (**सस्ताम्**) शयन करते हैं, पुरुषार्थ का नाश करते हैं, उनका आप (**निष्वापय**) निवारण करो, [तु] और (**सहस्रेषु**) अनेक (**शुभ्रिषु**) प्रशस्त गुणवाले (**गोषु**) पृथिवी आदि तथा (**अश्वेषु**) व्याप्तिशील अग्नि आदि विषयों में (**नः**) हमें (**आ+शंसय**) आदर पूर्वक उत्तम ज्ञानवान् बनाओ॥ ३॥

भावार्थः— मनुष्यैः शरीरात्मनोरालस्ये दूरतस्त्यक्त्वा सत्कर्मसु नित्यं प्रयत्नोऽनुसंधेय इति॥ ३॥

भावार्थ—सब मनुष्य शरीर और आत्मा के आलस्य को दूर भगाकर शुभ कर्मों में नित्य प्रयत्न करें॥ ३॥

भाष्यसार—**विद्वान् क्या करे**—विद्वान् बहुत प्रकार के धन वाला, और अविद्या, तथा निद्रा (आलस्य) दोषों का निवारण करने वाला हो। वह विषयासक्ति, प्रमाद औद हिंसा को दिखाने वाले, बोध का निवारण करने वाले, आलस्य में वर्त्तमान जो शरीर और मन हैं, जो पुरुषार्थ का नाश करते हैं उनका निवारण करे अर्थात् शरीर और मन से आलस्य को दूर करे। वह नाना प्रशस्त गुणों वाले पृथिवी आदि और अग्नि आदि विषयों में हमें ज्ञानवान् बनावे॥ ३॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"परस्पर मिली हुई और दिखाई देने वाली यम की दूतियों को अच्छी प्रकार सुला दो। और वे यम-दूतियाँ हमारे मारने को न जानती हुई निद्रा को प्राप्त करें।"

यहां सायण-भाष्य में यमराज की दूतियों को सुलाकर मरने से बचने की प्रार्थना दिखाई है। ये यम-दूतियां कौन हैं? यमराज कौन है और वह कहां रहता है? और क्या मृत्यु से बचा जा सकता है? इत्यादि अनेक प्रश्न सायण-भाष्य से पैदा होते हैं। यम-दूतियां सो जाएँ और हमारी मृत्यु से रक्षा हो जाए, यह बहुत ही मिथ्या तथा भ्रान्त-धारणा है। पौराणिक व्यक्ति ही ऐसी बातों पर विवेक शून्य होने से विश्वास कर सकते हैं, दूसरे नहीं। इन्द्र यम-दूतियों को बहकाकर सुलादेवे और यमराज को पता लगे तो क्या वह इन्द्र पर क्रोध न करता होगा? फिर तो मनुष्यों की भांति इन्द्रादि देव भी युद्ध करके दुःखी होते होंगे? फिर मनुष्यलोक तथा स्वर्ग-लोक में क्या अन्तर रहा?

यथार्थ में सायण ने मन्त्रार्थ को समझा ही नहीं। महर्षि ने यौगिक प्रक्रिया को अपनाकर बहुत ही सुसंगत अर्थ किया है, जिससे कोई भ्रान्ति पैदा ही नहीं होती। यहां 'इन्द्र' का 'विद्वान्' अर्थ ही अभिप्रेत है, वह ही मनुष्यों को उपदेशादि देकर शरीर तथा मन के विषयासक्ति, प्रमाद और हिंसा, जो ज्ञान को रोकने वाले हैं, ऐसे दोषों को दूर करता है। यही मिथूदृशौ=विषयासक्ति आदि का शयन करना है। इस विद्वानों की पुरुषार्थ की शिक्षा से मनुष्य लौकिक सुखों के साधनों तथा पारमार्थिक सुख की प्राप्ति कर प्रशस्त होता है। इस अर्थ में मन्त्र के पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध की पूर्णतः संगति है। परन्तु सायण-भाष्य के पूर्वार्ध में यम-दूतियों का शयन करना और उत्तरार्ध में गायादि के देने में कोई भी सम्बन्ध नहीं है। सायण के 'मिथूदृशौ=यम-दूतियाँ' अर्थ में केवल मन्त्रार्थविरोध, प्रत्यक्ष विरोध ही नहीं, प्रत्युत किसी भी प्रामाणिक शास्त्र के प्रमाण न होने से शास्त्र-विरोध भी है। अतः सायण-कृत व्याख्या काल्पनिक ही है।

यहाँ स्कन्द-स्वामी तथा वेंकट-माधव भी सायण की भांति ही भ्रान्त रहे हैं। स्कन्द-स्वामी लिखते हैं—"मरणासन्न व्यक्ति विकृत रूपवाले प्रेत-पिचाशों के मिथुनों को देखता है। ऐसे प्रेत पिशाचों को सुलाने के लिए शुनःशेप इन्द्र से प्रार्थना करता है।" प्रेत नाम है, जो यहां से चला गया और पिशाच कहते हैं राक्षस को, जो कच्चा मांसादि भी खा जाता हो। क्या ऐसे यमराज के दूत हो सकते हैं? महर्षि-दयानन्द की इस विषय में बहुत ही स्पष्ट मान्यता है—

"जब उस शरीर का दाह हो चुका, तब उसका नाम भूत होता है अर्थात् वह अमुकनामा पुरुष था।.....ऐसा ब्रह्मा से लेके आजपर्यन्त के विद्वानों का सिद्धान्त है। परन्तु जिसको शंका, कुसंग, कुसंस्कार होता है, उसको भय और शंकारूप भूत, प्रेत, शाकिनी, डाकिनी आदि अनेक भ्रमजाल दुःख-दायक होते हैं। देखो! जब कोई प्राणी मरता है, तब उसका जीव पाप-पुण्य के वश होकर परमेश्वर की व्यवस्था से सुख-दुःख के फल भोगने के अर्थ जन्मान्तर धारण करता है। क्या इस अविनाशी परमेश्वर की व्यवस्था को कोई भी नाश कर सकता है? अज्ञानी लोग वैद्यक-शास्त्र वा पदार्थविद्या के पढ़ने, सुनने और विचार से रहित होकर सन्निपातज्वरादि शारीरिक और उन्मादादि मानस-रोगों का नाम भूत-प्रेतादि धरते हैं।" (सत्यार्थ० द्वितीयसमु०) ॥ ३ ॥

---

१. मिथूदृशा परस्परं संगतत्वेन दृश्यमाने यमदूत्यौ निष्वापय नितरां सुप्ते कुरु। ते च अस्मान् मारयितुम् अबुध्यमाने सत्यौ सस्तां निद्रां प्राप्नुताम् अन्यत् पूर्ववत्॥ (सायणः)

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **इन्द्रः** (सेनापतिः) देवता। पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

मनुष्यैः कीदृशान् वीरान् संगृह्य शत्रवो निवारणीया इत्युपदिश्यते॥

मनुष्य कैसे वीरों का संग्रह करके शत्रुओं का निवारण करें, यह उपदेश किया जाता है॥

ससन्तु त्या अरातयो बोधन्तु शूर रातयः।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ॥ ४॥

ससन्तु। त्याः। अरातयः। बोधन्तु। शूर। रातयः। आ। तु। नः। इन्द्र। शंसय। गोषु। अश्वेषु। शुभ्रिषु। सहस्रेषु। तुविमघ॥ ४॥

पदार्थः—(**ससन्तु**) निद्रां प्राप्नुवन्तु (**त्याः**) वक्ष्यमाणाः (**अरातयः**) अविद्यमानारातिर्दानं येषां शत्रूणां ते (**बोधन्तु**) जानन्तु (**शूर**) शृणाति=हिनस्ति शत्रुबलान्याक्रमति। अत्र **शॄ हिंसायामि**त्यस्माद्बाहुलकाड्डूरन्प्रत्ययः। (**रातयः**) दातारः (**आ**) समन्तात् (**तु**) पुनरर्थे। **ऋचितुनु०**। इति दीर्घः। (**नः**) अस्मान् (**इन्द्र**) उत्कृष्टैश्वर्य्यसभाध्यक्ष सेनापते (**शंसय**) शत्रूणां विजयेन प्रशंसायुक्तान् कुरु (**गोषु**) सूर्य्यादिषु (**अश्वेषु**) (**शुभ्रिषु**) (**सहस्रेषु**) उक्तार्थेषु (**तुवीमघ**) अस्यार्थसाधुत्वे पूर्ववत्॥ ४॥

प्रमाणार्थ—यहां 'शॄ हिंसायाम्' इस धातु से बहुल करके औणादिक 'डूरन्' प्रत्यय है। (**तु**) यहां 'ऋचितुनु० (अ० ६। ३। १३३) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—तू॥ ४॥

अन्वयः—हे तुवीमघ शूर सेनापते तवारातयः ससन्तु ये रातयश्च ते सर्वे बोधन्तु तु-पुनः हे इन्द्र वीरपुरुष त्वं सहस्रेषु शुभ्रिषु गोष्वश्वेषु नोऽस्मानाशंसय॥ ४॥

सपदार्थान्वयः—हे **तुविमघ** बहुविधं धनमस्ति यस्य तत्सम्बुद्धौ **शूरा सेनापते** शृणाति=हिनस्ति शत्रुबलान्याक्रमति। **तवारातयः** अविद्यमानारातिर्दानं येषां शत्रूणां ते **ससन्तु** निद्रां प्राप्नुवन्तु; **ये रातयः** दातारः **च ते सर्वे बोधन्तु** जानन्तु। **तु=पुनः—हे इन्द्र!=वीरपुरुष** उत्कृष्टैश्वर्यसभाध्यक्ष सेनापते! **त्वं सहस्रेषु** उक्तार्थेषु **शुभ्रिषु गोषु** सूर्य्यादिषु **अश्वेषु नः=अस्मान् आ+शंसय** समन्तात् शत्रूणां विजयेन प्रशंसायुक्तान् कुरु॥ ४॥

भाषार्थ—हे (**तुविमघ**) बहुत धनवाले (**शूर**) शत्रु सेना पर आक्रमण करने वाले सेनापते! आपके (**अरातय**) दानरहित शत्रु (**ससन्तु**) निद्रा को प्राप्त हों और जो (**रातयः**) दाता हैं, वे सब (**बोधन्तु**) जागरित रहें, (**तु**) और हे (**इन्द्र**) वीर, उत्कृष्ट ऐश्वर्यवाले सभाध्यक्ष, सेनापते! आप (**सहस्रेषु**) बहुत (**शुभ्रिषु**) पृथिवी आदि (**गोषु**) सूर्य आदि और (**अश्वेषु**) अग्नि आदि में (**नः**) हमें (**आ शंसय**) सब ओर से शत्रु विजय से प्रशंसायुक्त कर॥ ४॥

भावार्थः—अस्माभिः स्वसेनासु शूरा मनुष्या रक्षित्वा हर्षणीया येषां भयाद्दुष्टाः शत्रवः शयीरन् कदाचिन्मा जाग्रतु येन वयं निष्कण्टकं चक्रवर्त्तिराज्यं नित्यं सेवेमहीति॥ ४॥

भावार्थ—हम अपनी सेनाओं में शूर मनुष्यों को रखकर हर्षित करें, जिनके भय से दुष्ट-शत्रु सोजायें कभी न जागें, जिससे हम निष्कंटक चक्रवर्ती राज्य का नित्य सेवन करें॥ ४॥

भाष्यसार—**मनुष्य कैसे वीरों का संग्रह करके शत्रुओं का निवारण करें**—जो बहुत धनवाला, शत्रुसेना पर आक्रमण करने वाला वीर सेनापति है, उसके शत्रु निद्रा को प्राप्त होते हैं, समाप्त हो जाते हैं और जो दाता उसके मित्र हैं वे जागते हैं सदा सावधान रहते हैं। उत्कृष्ट ऐश्वर्यवाले सभाध्यक्ष,

सेनापति वीर-पुरुष के नाना पृथिवी, सूर्य, अग्नि आदि विषयों में कुशल होकर मनुष्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके प्रशंसित हों ॥ ४ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हमें न दिखाई देने वाले परोक्ष और जो अदानशील शत्रु हैं, वे निद्रा को प्राप्त करें। हे शौर्ययुक्त इन्द्र ! दान-शील बन्धु हमें जानें। शेष पूर्ववत्।"

इस मन्त्र में अदान शील=स्वार्थी शत्रुओं को सुलाने और दानशील=परोपकारी व्यक्तियों को जगाने की प्रार्थना की गई है। इस कर्म में सहायता करनेवाला 'इन्द्र' कौन है। और मन्त्र में इन्द्र का विशेषण है—"शूर=शत्रु बल का नाश करने वाला शौर्ययुक्त"। इस अर्थ की संगति किसके साथ होती है ? और मन्त्र के उत्तरार्ध के साथ पूर्वार्ध के इस अर्थ की क्या संगति है ? इत्यादि समस्त आशंकाओं का उत्तर सायण-भाष्य में नहीं मिलता है। महर्षि ने इन सब प्रश्नों पर विचार करके 'इन्द्रः=सेनापतिः' अर्थ किया है। क्योंकि यह शूरवीर होकर स्वार्थी तथा शत्रुओं का विनाश करता है और श्रेष्ठ परोपकारी पुरुषों की रक्षा करके सावधान रखता है। जिससे शत्रुविजय और सुख के साधनों की प्राप्ति से मनुष्य प्रशस्त होते हैं।

आचार्य-सायण ने 'अरातयः' के साथ 'अदृश्यमानाः' विशेषण मन्त्र से भिन्न छोड़कर ऐसे कल्पित अर्थ की ओर ध्यान आकृष्ट किया है, जो सायण के कल्पित देवों की भांति कल्पित शत्रु भी हैं। और यह कैसी अनर्गल कल्पना है कि इन्द्र को हनू आदि शरीरावयवों वाला और शत्रुओं को अदृश्य माना गया है। क्या शरीर-धारी इन्द्र अदृश्य शत्रुओं का विनाश कर सकता है ? ऐसे अदृश्य शत्रु एकदेशी इन्द्र के वश में कैसे आ सकते हैं ? अतः सायण अपनी कल्पनाओं की भी संगति लगाने में असमर्थ रहे हैं ॥ ४ ॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **इन्द्रः (न्यायाधीशः)** देवता। पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

पुनः स वीरः कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

फिर वह वीर कैसा है यह उपदेश किया जाता है ॥

समिन्द्र गर्दभं मृण नुवन्तं पापयामुया।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥ ५ ॥

सम्। इन्द्र। गर्दभम्। मृण। नुवन्तम्। पापया। अमुया। आ। तु। नः। इन्द्र। शंसय। गोषु। अश्वेषु। शुभ्रिषु। सहस्रेषु। तुविऽमघ ॥ ५ ॥

पदार्थः—(सम्) सम्यगर्थे (इन्द्र) सेनाध्यक्ष (गर्दभम्) गर्दभस्य स्वभावयुक्तमिव (मृण) हिंस। अत्रान्तर्गतोण्यर्थः। (नुवन्तम्) स्तुवन्तम् (पापया) अधर्मरूपया (अमुया) प्रत्यक्षया वाचा (आ) समन्तात् (तु) पुनरर्थे। पूर्वपदीर्घः। (नः) अस्मान् धर्मकारिणः (इन्द्र) न्यायाधीश (शंसय) सत्याननपराधान् संपादय (गोषु) स्वकीयेषु पृथिव्यादिपदार्थेषु (अश्वेषु) हस्त्यश्वादिषु पशुषु (शुभ्रिषु) शुद्धभावेन धर्मव्यवहारेण गृहीतेषु (सहस्रेषु) बहुषु (तुवीमघ) तुवि=बहुविधं विद्याधर्मधनं यस्य तत्संबुद्धौ। **अत्र अन्येषामपि दृश्यत इति दीर्घः ॥ ५ ॥**

---

१. त्याः अस्माभिरदृश्यमानाः परोक्षास्ताः अरातयः अदानशीलाः शत्रवः ससन्तु निद्रां कुर्वन्तु। हे शूर शौर्ययुक्तेन्द्र रातयः दानशीलाः बन्धवः बोधन्तु अस्मान् बुध्यन्ताम्। अन्यत् पूर्ववत्॥ (सायणः)

प्रमाणार्थ—(मृण) यहां 'णिच्' प्रत्यय का अर्थ अन्तर्भूत है। (तु) यहां 'ऋचि तुनु०' (अ० ६। ३। १३३) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—तू। (तुविमघ) यहां 'अन्येषामपि दृश्यते' (अ० ६। ३। १३७) इस सूत्र से पूर्व-पद को संहिता में दीर्घ है—तुवीमघ ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे इन्द्र त्वं गर्दभं तत् स्वभावमिवामुया पापया मिथ्याभाषणान्वितया भाषयाऽस्मान्नुवन्तं कपटेन स्तुवन्तं शत्रुं सम्मृण हे तुविमघेन्द्र सभाध्यक्षन्यायाधीश त्वं स्वकीयेषु सहस्रेषु शुभ्रिषु गोष्वश्वेषु नोस्मानाशंसय प्राप्तन्यायान् कुरु ॥ ५ ॥

सपदार्थान्वयः—हे इन्द्र न्यायाधीश ! त्वं गर्दभं तत् स्वभावमिव गर्दभस्य स्वभावयुक्तमिव अमुया पापया=मिथ्याभाषणान्वितया भाषया अधर्मरूपया अस्मान् नुवन्तं=कपटेन स्तुवन्तं शत्रुं संमृण सम्यक् हिंस।

हे तुवीमघ तुवि=बहुविधं विद्याधर्मधनं यस्य तत्सम्बुद्धौ इन्द्र !=सभाध्यक्षन्यायाधीश ! त्वं स्वकीयेषु सहस्रेषु बहुषु शुभ्रिषु शुद्धभावेन धर्मव्यवहारेण गृहीतेषु गोषु स्वकीयेषु पृथिव्यादिपदार्थेषु अश्वेषु हस्त्यश्वादिषु पशुषु नः=अस्मान् [तु] पुनः आशंसय=प्राप्तन्यायान् कुरु सत्याननपराधान् संपादय ॥ ५ ॥

भाषार्थ—हे (इन्द्र) न्यायाधीश ! आप—(गर्दभम्) गधे के स्वभाव के समान स्वभाव वाले तथा (अमुया) इस (पापया) पापरूप मिथ्याभाषण से युक्त वाणी से हमारी (नुवन्तम्) कपट से स्तुति करने वाले शत्रु का (संमृण) हनन करो ॥

हे (तुवीमघ) बहुत प्रकार की विद्या और धर्म रूप धन वाले (इन्द्र) सभाध्यक्ष एवं न्यायाधीश ! आप अपने (सहस्रेषु) बहुत (शुभ्रिषु) शुद्ध भावना एवं धर्म-व्यवहार से ग्रहण किये हुए (गोषु) पृथिवी आदि पदार्थों में तथा (अश्वेषु) हाथी, घोड़े आदि पशुओं में (नः) हमें [तु] तो (आशंसय) न्याय को प्राप्त करो, सच्चे अर्थात् अपराध रहित करो।

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यः सभाध्यक्षो न्यायासने स्थित्वा यथा गर्दभतुल्यस्वभावं मूर्खं व्यभिचारिणं पुरुषं कुत्सितं शब्दमुच्चरन्तं तथाऽन्यायमिथ्याभाषणरूपेण साक्ष्येण तिरस्कुर्वन्तं यथायोग्यं दण्डयेत् ये च सत्यवादिनो धार्मिकास्तेषां सत्कारं च कुर्यात्, यैरन्यायेन परपदार्था गृह्यन्ते तान् दण्डयित्वा ये यस्य पदार्थास्तान् तेभ्यो दापयेत्, एषां सनातनं न्यायाधीशानां धर्मं सदैव समाश्रयेत्तं वयं सततं सत्कुर्याम ॥ ५ ॥

भावार्थ—यहां वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। जो सभाध्यक्ष न्याय-आसन पर बैठकर, गर्दभ के तुल्य स्वभाव वाले, मूर्ख, व्यभिचारी, गन्दे शब्द उच्चारण करने वाले, तथा अन्याय और मिथ्याभाषण रूप साक्ष्य (गवाही) से तिरस्कार करने वाले पुरुष को यथायोग्य दण्ड देवे, और जो सत्यवादी, धार्मिक हैं, उनका सत्कार करे। जो अन्याय से दूसरों के पदार्थ ग्रहण करते हैं, उनको दण्ड देकर, जिसके जो पदार्थ हैं, उनको उन्हें दिलावे, इस न्यायाधीशों के सनातन धर्म का सदा पालन करें, उसका हम सदा सत्कार करें ॥ ५ ॥

भाष्यसार—**वीर कैसा हो**—वीर न्यायाधीश गधे के तुल्य स्वभाव वाले अर्थात् मूर्ख, व्यभिचारी और कुत्सित शब्द उच्चारण करने वाले और पापरूप मिथ्याभाषण से युक्त वाणी से हमारी कपट से स्तुति करने वाले शत्रु का हनन करे अर्थात् उसे यथायोग्य दण्ड देवे। बहुत प्रकार की विद्या और धर्मरूप धन वाला वीर सभाध्यक्ष एवं न्यायाधीश धर्मव्यवहार से ग्रहण किये हुए पृथिवी आदि पदार्थ तथा हाथी, घोड़े आदि पशुओं के विषय में हमें न्याय प्रदान करे। जो अन्याय से पर-पदार्थों का ग्रहण करते हैं, उन्हें दण्ड दे और जो जिसके पदार्थ हैं, उन्हें उनको दिलावे ॥ ५ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे इन्द्र ! हमसे सुनी जाने वाली इस निन्दारूप वाणी से स्तुति करते हुए गर्दभ के समान कठोर शब्द करने वाले शत्रु को मारो। शेष पूर्ववत् ॥"

इस मन्त्र में इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि आप ऐसे दुष्ट-पुरुषों का हनन=न्याय व्यवस्था से दण्डित करो, जो गधे के तुल्य मूर्ख, व्यभिचारी और गन्दे शब्दों का उच्चारण करते हैं। और जो पापरूपवाणी=अन्याय-मिथ्याभाषण-छल-कपटयुक्त वाणी से स्तुति=प्रशंसा (स्वार्थमय खुशामद) करते हैं, ऐसे कपटी मनुष्यों को भी दण्डित करो। ऐसी हमारी प्रार्थनाओं को कौन इन्द्र सुनकर पूर्ण कर सकता है ? और मन्त्र के उत्तरार्ध में इन्द्र के विषय में कहा है कि वह तुवीमघ=प्रशस्तविद्या तथा धर्मरूप धनों वाला है तथा वह शुभ्रिष=शुद्ध-भावना एवं धर्मव्यवहार से युक्त गोषु=पृथिवी आदि पदार्थों तक अश्वेषु=घोड़े आदि पशुओं के सम्बन्ध में हमें न्यायव्यवस्था से प्रशस्त करे।

आचार्य-सायण ने इस मन्त्रोक्त इन्द्र की विशेषताओं पर कुछ भी विचार न करके शत्रु को मारने की ही व्याख्या की है। परन्तु शत्रु भी कैसा ? जो गधे के समान हो और पापयुक्त वाणी से स्तुति कर रहा हो। इस सायण की व्याख्या से भी स्पष्ट है कि ये शत्रु दुष्ट-पुरुष ही हैं। उनको दण्डित तभी किया जा सकता है, जब उनके कर्मों को अच्छी प्रकार जान लिया जाए। इसीलिए इन्द्र को मन्त्र में तुवीमघ=विद्या तथा धर्म=न्याय से सम्पन्न होना चाहिए। जो जानता ही नहीं कि किसने क्या दोष किया है, वह दण्ड-व्यवस्था को नहीं चला सकता है। ऐसा इन्द्र स्वर्गस्थ एकदेशी सायण का कल्पित शरीरधारी देव कदापि नहीं हो सकता है। क्योंकि प्रथम तो ऐसा कोई देव ही नहीं है और जो कल्पना की गई है, उसके अनुसार भी वह एकदेशी अल्पज्ञ इन्द्र दूर स्थित होने से हमारे शत्रुओं को विना जाने कैसे दण्डित कर सकता है ? वह तो स्वयं परवश है, यजमान के आह्वान पर आकर सोमरस से तृप्त होता है, अन्यथा भूखा ही मरता होगा ? ऐसे अकिंचन इन्द्र से शत्रु-हनन की आशा ही निरर्थक है। महर्षि दयानन्द ने यहाँ इन्द्र का अर्थ न्यायाधीश किया है, जो मनुष्यों के पापयुक्त कर्मों को जानकर दण्डित करता है। इसके साथ सम्पूर्ण मन्त्र की संगति पूर्णरूपेण हो जाती है। अतः सायण की व्याख्या असंगत तथा काल्पनिक है। इस मन्त्र की व्याख्या में स्कन्दस्वामी ने लिखा है कि—"हे इन्द्र ! शब्द करने वाले गधे को मारो, क्योंकि विकृत-स्वर करने वाला गधा अनिष्ट का सूचक है।" यह स्कन्दस्वामी की व्याख्या असंगत तथा गधे आदि पशुओं के शब्दों को पापमूलक अथवा अनिष्ट-सूचक मानना अविद्या-मूलक है। और जिस वेद में बार-बार उपयोगी पशुओं की रक्षा का आदेश हो, उसमें भारवाहक गधे को मारने की आज्ञा कैसे हो सकती है ? ॥ ५ ॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। इन्द्रः (विद्वान्) देवता। पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः ॥

इदानीमशुद्धवायोर्निवारणमुपदिश्यते ॥

अब अशुद्ध वायु के निवारण का उपदेश किया जाता है ॥

---

१. हे इन्द्र ! अमुया अनया अस्माभिः श्रूयमाणया पापया निन्दारूपया वाचा नुवन्तं स्तुवन्तम् अपकीर्तिं प्रकटयन्तमित्यर्थः। तादृशं गर्दभसमानवैरिणं संमृण सम्यक् मारय। यथा गर्दभः श्रोतुमशक्यं परुषं शब्दं करोति तथा शत्रुरपि। अन्यत् पूर्ववत् ॥ (सायणः)

पतांति कुण्डृणाच्या दूरं वातो वनादधि ।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥ ६ ॥

पतांति । कुण्डृणाच्या । दूरम् । वातः । वनात् । अधि । आ । तु । नः । इन्द्र । शंसय । गोषु । अश्वेषु । शुभ्रिषु । सहस्रेषु । तुविऽमघ ॥ ६ ॥

पदार्थः—(पतांति) गच्छेत् (**कुण्डृणाच्या**) यया कुटिलां गतिमञ्चति=प्राप्नोति तया (**दूरम्**) विप्रकृष्टदेशम् (**वातः**) वायुः (**वनात्**) वन्यते=सेव्यते तद्वनं जगत् तस्मात्किरणेभ्यो वा । **वनमिति-रश्मिनामसु पठितम् । निघं० १ । ५ ।** (**अधि**) उपरिभावे (**आ**) समन्तात् (**तु**) पुनरर्थे पूर्ववद्दीर्घः । (**नः**) अस्मान् (**इन्द्र**) परमविद्वन् (**शंसय**) (**गोषु**) पृथिवीन्द्रियकिरणचतुष्पात्सु (**अश्वेषु**) वेगादिगुणेषु (**शुभ्रिषु**) शुद्धेषु व्यवहारेषु (**सहस्रेषु**) बहुषु (**तुविमघ**) तुवि=बहुविधं धनं साध्यते येन तत्संबुद्धौ **अत्र पूर्ववद्दीर्घः** ॥ ६ ॥

प्रमाणार्थ—(**वनात्**) 'वनम्' यह पद निघण्टु (१।५) में रश्मि-नामों में पढ़ा है। रश्मि= किरण। (**तुविमघ**) यहां 'अन्येषामपि दृश्यते (६ । ३ । १३७) इस सूत्र से पूर्व-पद को संहिता में दीर्घ है—तुवीमघ ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे तुविमघेन्द्र त्वं यथा वातः कुण्डृणाच्यागत्यावनाज्जगतः किरणेभ्यो वाधि-पताति उपर्यधोगच्छेत् तथानुतिष्ठ सहस्रेषु गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु नोऽस्मानाशंसय ॥ ६ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **तुविमघ** तुवि=बहुविधं धनं साध्यते येन तत्सम्बुद्धौ **इन्द्रः** परम-विद्वन् ! **त्वं यथा वातः** वायुः **कुण्डृणाच्या** यया कुटिलां गतिमञ्चति=प्राप्नोति तया **गत्या वनात् जगतः किरणेभ्यो वा** [**दूरम्**] विप्रकृष्टदेशम् **अधिपताति=उपर्यधो गच्छेत् तथानुतिष्ठ; सहस्रेषु** बहुषु **गोषु** पृथिवीन्द्रियकिरणचतुष्पात्सु **अश्वेषु** वेगादिगुणेषु **शुभ्रिषु** शुद्धेषु व्यवहारेषु **नः=अस्मान्** [**तु**] पुनः **आशंसय** समन्तात् संपादय ॥ ६ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । मनुष्यैरेवं वेदितव्यं योऽयं वायुः स एव सर्वतोऽभिगच्छन्नग्न्यादिभ्योऽधिकः कुटिलगतिर्बह्वैश्वर्य-प्राप्तिहेतुः पशुवृक्षादीनां चेष्टावृद्धिभञ्जनकारकः सर्वस्य व्यवहारस्य च हेतुरस्तीति बोध्यम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—हे (**तुविमघ**) बहुत प्रकार के धन को सिद्ध करनेवाले (**इन्द्र**) परम विद्वन् ! आप—जैसे (**वातः**) वायु (**कुण्डृणाच्या**) कुटिल गति से (**वनात्**) जगत् या किरणों से (**दूरम्**) दूर (**अधिपताति**) चला जाये वैसा करो, और (**सहस्रेषु**) बहुत (**गोषु**) पृथिवी, इन्द्रिय, किरण और चतुष्पाद प्राणियों में (**अश्वेषु**) वेग आदि गुणों में तथा (**शुभ्रिषु**) शुद्ध व्यवहारों में (**नः**) हमें [**तु**] तो (**आशंसय**) सब ओर से प्रशस्त करो ॥ ६ ॥

भावार्थ—यहाँ वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। सब मनुष्य ऐसा जानें कि जो यह वायु है, वही सब ओर जाता हुआ, अग्नि आदि से अधिक कुटिल गति वाला, बहुत से ऐश्वर्यों की प्राप्ति का हेतु; पशु, वृक्ष आदि की चेष्टा, वृद्धि और भञ्जन (तोड़ना) करने वाला और सबके व्यवहार का हेतु है ॥ ६ ॥

भाष्यसार—**अशुद्ध वायु का निवारण**—बहुत प्रकार के धन को सिद्ध करने वाला परम विद्वान् जिस प्रकार से अशुद्ध वायु कुटिल गति से इस जगत् से तथा सूर्य किरणों से दूर चला जाये वैसा प्रयत्न करे और वह विद्वान् हमें पृथिवी, इन्द्रिय, किरण, चतुष्पाद-पशु, वेग आदि गुण तथा शुद्ध व्यवहार के विषय में प्रशस्त बनावे ॥ ६ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण- भाष्य[1] इस प्रकार है—"हमारे से प्रतिकूल चलने वाला वायु कुटिलगति से हमें छोड़कर जंगल से भी दूर देश में गिरे या गति करे। शेष पूर्ववत् ॥"

इस सायणकृत व्याख्या में दो बातें कहीं हैं—(१) प्रतिकूल चलने वाला वायु दूर देश में गति करे और हमें इन्द्र गाय व घोड़ों को प्रदान करे। इन दोनों बातों में परस्पर कोई भी संगति नहीं है। और प्रतिकूल चलने वाला वायु कैसा होता है ? वायु के विना जीवों का जीवन नहीं है और वायु किसी न किसी दिशा में ही सदा गति करता है। वह किन्हीं के लिए अनुकूल होता है, तो दूसरों के लिए प्रतिकूल होता है। और उसे दूर करने की बात सर्वथा असम्भव है। ऐसी बातों का वर्णन ईश्वरोक्त वेद में कदापि नहीं हो सकता है।

महर्षि-दयानन्द ने मन्त्रार्थ की बहुत ही सुन्दर संगति लगाई है। महर्षि ने निघण्टु के प्रमाण के अनुसार 'वनम्' का अर्थ रश्मि=किरण किया है। अथवा धात्वर्थ के अनुसार (वन षण सम्भक्तौ) सेवन करने योग्य जगत् अर्थ किया है। किरणों के द्वारा अशुद्ध वायु अधिपताति=ऊपर चला जाता है। अथवा यज्ञादि करने से अशुद्ध वायु को दूर किया जाता है। ऐसा इन्द्र=विद्वान् लोग सदा यत्न करें। यह ही वायु का दूरीकरण है। और वायु-शुद्धि के द्वारा गोषु=पृथिवीस्थ वृक्षादि, इन्द्रिय, और गायादि पशुओं में अश्वेषु=वेगादिगुणों की प्राप्ति में तथा शुभ्रिषु=शुद्ध व्यवहारों में इन्द्र=विद्वान् जन हमें प्रशंसित करते हैं। इस मन्त्र-व्याख्या में किसी प्रकार की भी असंगति नहीं है। किन्तु सायणादि अनृषि-लोगों ने मन्त्रार्थ की गम्भीरता को न समझकर असंगत ही अर्थ करके वेदार्थ के महत्त्व को दूषित किया है।

इस मन्त्र की व्याख्या में स्कन्दस्वामी ने 'कुण्डृणाच्या' पद का अर्थ गृहगोधिका=छिपकली किया है और उसका दर्शन करना अनिष्ट-सूचक माना है। और वेंकट-माधव ने इस पद का अर्थ कोई पक्षी माना है। ये दोनों अर्थ असंगत तथा अविद्यामूलक हैं। क्योंकि किसी भी प्राणी के दर्शन से इष्ट या अनिष्ट मानना भ्रान्त-धारणा है। और छिपकली तो प्रत्येक घर में होती है। उसके दर्शन से तो बचना भी सम्भव नहीं है ॥ ६ ॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **इन्द्रः (सेनाध्यक्षः)** देवता। पङ्क्तश्छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

पुनः स किं कुर्य्यादित्युपदिश्यते ॥

फिर वह सेनाध्यक्ष क्या करे यह उपदेश किया जाता है ॥

सर्वं परिक्रोशं जहि जम्भया कृकदाश्वम्।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥ ७ ॥

सर्वम्। परिऽक्रोशम्। जहि। जम्भय। कृकदाश्वम्। आ। तु। नः। इन्द्र। शंसय। गोषु। अश्वेषु। शुभ्रिषु। सहस्रेषु। तुविऽमघ ॥ ७ ॥

पदार्थः—(**सर्वम्**) समस्तम् (**परिक्रोशम**) परितः=सर्वतः क्रोशन्ति=रुदन्ति यस्मिन्दुःखसमूहे तम् (**जहि**) हिन्धि (**जम्भय**) विनाशय=अदर्शनं प्रापय। **अन्येषामपि दृश्यत** इति दीर्घः। (**कृकदाश्वम्**) कृकं=हिंसनं दाशति=ददाति तं शत्रुम्। **अत्र दाशधातोर्बाहुलकादौणादिक**

१. वातः अस्मत् प्रतिकूलो वायुः कुण्डृणाच्या कुटिलगत्या स त्वस्मान् परित्यज्य वनादधि अरण्यादप्यधिकं दूरं देशं पताति पततु। अन्यत् पूर्ववत् ॥ (सायणः)

उप्प्रत्ययरतोऽमिपूर्व इत्यत्र **वा छन्दसि** इत्यनुवृत्तौ पूर्वसवर्णविकल्पेन यणादेशः। (**आ**) समन्तात् (**तु**) पुनरर्थे। पूर्ववद्दीर्घः। (**नः**) अस्माकमस्मान् वा (**इन्द्र**) सर्वशत्रुनिवारकसेनाध्यक्ष (**शंसय**) सुखिनः संपादय (**गोषु**) पृथिव्याराज्यव्यवहारेषु (**अश्वेषु**) हस्त्यश्वसेनाङ्गेषु (**शुभ्रिषु**) शुद्धेषु धर्म्येषु व्यवहारेषु (**सहस्रेषु**) बहुषु (**तुविमघ**) अधिकं मघं=बलाख्यं धनं यस्य तत्संबुद्धौ। अत्रापि पूर्ववद्दीर्घः ॥ ७ ॥

प्रमाणार्थ—(**जम्भय**) यहां 'अन्येषामपि दृश्यते (अ० ६। ३। १३७) इस सूत्र से संहिता में, दीर्घ है—जम्भया ॥ (**कृकदाश्वम्**) यहां 'दाश' धातु से बहुल करके औणादिक 'उण' प्रत्यय है, फिर दाशु शब्द में 'अमि पूर्वः' (अ० ६। १। १०७) इस सूत्र में 'वा छन्दसि' (अ० ६। १। १०६) इस सूत्र की अनुवृत्ति होने से पूर्वसवर्ण को विकल्प से यणादेश है ॥ ७ ॥

अन्वयः—हे तुवीमघेन्द्रसेनाध्यक्षस्त्वं यो नोऽस्माकं सहस्रेषु शुभ्रिषु गोष्वश्वेषु सर्वं परिक्रोशं जहि कृकदाश्वं च जम्भयानेन तु पुनर्नोऽस्मानाशंसय ॥ ७ ॥

सपदार्थान्वयः— हे **तुविमघ** अधिकं मघं=बलाख्यं धनं यस्य तत्सम्बुद्धौ **इन्द्र**!= **सेनाध्यक्ष** सर्वशत्रुनिवारक! **त्वं यो नः**=**अस्माकं सहस्रेषु** बहुषु **शुभ्रिषु** शुद्धेषु धर्म्येषु व्यवहारेषु **गोषु** पृथिव्याराज्यव्यवहारेषु **अश्वेषु** हस्त्यश्वसेनाङ्गेषु **सर्वं परिक्रोशं** परितः=सर्वतः क्रोशन्ति=रुदन्ति यस्मिन् दुःखसमूहे तं **जहि** हिन्धि **कृकदाश्वं** कृकं=हिंसनं दाशति=ददाति तं शत्रुं **च जम्भय** विनाशय=अदर्शनं प्रापय, **अनेन तु**=**पुनः नः**=**अस्मान् आ**+**शंसय** समन्तात् सुखिनः संपादय ॥ ७ ॥

आर्याभिविनय—हे (**तुविमघ**) अधिक बल रूप धनवाले (**इन्द्र**) सब शत्रुओं के निवारक सेनाध्यक्ष-आप—हमारे (**सहस्रेषु**) बहुत (**शुभ्रिषु**) शुद्ध धर्मयुक्त व्यवहारो में तथा (**गोषु**) पृथिवी के राज्य-व्यवहारों में तथा (**अश्वेषु**) हाथी, घोड़े रूप सेना के अङ्गों में (**सर्वम्**) सब (**परिक्रोशम्**) दुःखसमूह को (**जहि**) नष्ट करो, और (**कृकदाश्वम्**) हिंसा प्रदान करने वाले शत्रु का (**जम्भय**) विनाश करो, (**तु**) और इससे (**नः**) हमें (**आशंसय**) सब ओर से सुखी करो ॥ ७ ॥

भावार्थः— मनुष्यैरित्थं जगदीश्वरः प्रार्थनीयः हे परमात्मन् भवान् येऽस्मासु दुष्ट-व्यवहाराश्शत्रवः सन्ति तान् सर्वान् निवार्य्यास्मभ्यं सकलैश्वर्य्यं ददात्विति ॥ ७ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य जगदीश्वर से इस प्रकार प्रार्थना करें—हे परमात्मन्! आप जो हमारे दुष्ट व्यवहार और शत्रु हैं, उन सबको दूर करके हमें ऐश्वर्य प्रदान करें ॥ ७ ॥

आर्याभिविनयसार—**सेनाध्यक्ष क्या करे**—अधिक बल रूप धनवाला तथा सब शत्रुओं का निवारण करने वाला सेनाध्यक्ष हमारे धर्मयुक्त व्यवहार, पृथिवी के राज्यव्यवहार, और हाथी, घोड़े आदि सेना के अङ्गों में विद्यमान सब दुःख-समूह को नष्ट करे। वह शत्रु का विनाश करे और हमें सब ओर से सुखी करे ॥ ७ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायणभाष्य[1] इस प्रकार है—"हे इन्द्र! हमारे विषय में आक्रोश करने वाले सब पुरुषों को मार दो। और हमारे विषय में हिंसा करने वाले शत्रु का नाश करो। शेष पूर्ववत् ॥"

इस मन्त्र का देवता 'इन्द्र' है। सायण-भाष्य में इसकी कोई व्याख्या न होने से मन्त्रार्थ असंगत ही है। महर्षि ने समस्त मन्त्र पर विचार करके इन्द्र देवता का अर्थ 'सेनाध्यक्ष' किया है। इसकी संगति

---

१. परिक्रोशम् अस्मद्विषये सर्वतः आक्रोशकर्त्तारं सर्वं पुरुषं जहि मारय। कृकदाश्वम् अस्मद्-विषये हिंसाप्रदं शत्रुं जम्भय मारय। अन्यत् पूर्ववत् ॥ (सायणः)

पूरे मन्त्रार्थ के साथ है। मन्त्र में कहा है कि हे इन्द्र ! तुम हमारे सर्वं परिक्रोशम्=सब दुःखों का तथा कृकदाश्वम्=हिंसा करने वाले शत्रुओं का नाश करो। कौन दुःख देता है और कौन हिंसा कर रहा है ? इसके ज्ञान के बिना दुःख देने वाले तथा हिंसा करने वाले का नाश कैसे सम्भव है ? अतः इस कार्य को सर्वत्रव्यापक परमेश्वर कर सकता है अथवा शक्ति-सम्पन्न राष्ट्राध्यक्ष या सेनाध्यक्ष सम्पन्न कर सकता है। इनसे भिन्न दूरदेशस्थ, एकदेशी तथा शरीरधारी इन्द्रादि देवों की कल्पना करना और उनके शत्रु-हननादि कार्य मानना प्रत्यक्ष तथा शास्त्रों से विरुद्ध होने से मिथ्या ही हैं।

और सायण ने 'परिक्रोशम्' पद का अर्थ भी नहीं समझा है। 'सब तरफ आक्रोश करने वाले सब पुरुष' यह सायण की व्याख्या असंगत तथा पक्षपातपूर्ण है। कोई मेरे विरुद्ध, आक्रोश=चिल्ला रहा है, तो मैं उसके विरुद्ध मनुष्यस्वभाव वश आक्रोश करूँगा, तब इन्द्र क्या सबका ही नाश कर देगा ? ऐसी प्रार्थनाएँ निरर्थक होने से कभी पूर्ण नहीं होती हैं। महर्षि ने इसका अर्थ 'दुःख' किया है। दुःख दूर करने की तथा हिंसा करने वाले शत्रु के नाश की प्रार्थनाएँ तो सत्य तथा पूर्ण होती हैं। महर्षि का 'परिक्रोशम्=दुःखम्' यह धात्वर्थ के अनुसार भी ठीक है। क्योंकि दुःखसन्तप्त मनुष्य अवश्य आक्रोश करता है। और महर्षि-कृत देवता की व्याख्या की मन्त्र के उत्तरार्ध के साथ भी पूर्णरूपेण संगति है। सेनाध्यक्ष शुभ्र=धर्मयुक्त शुद्ध व्यवहारों, गोषु=पृथिवी के राज्य-व्यवहारों तथा अश्वेषु=सेना के घोड़े आदि अंगों के सम्बन्ध में हमें प्रशस्त अथवा सुखी करता है।

आचार्य-सायण की इस सूक्त की व्याख्या में यह भी भ्रान्ति रही है कि मन्त्रों के देवता की व्याख्या न करके समस्त मन्त्रों की असंगत व्याख्या की है और देवता की व्याख्या न करके मन्त्रों के उत्तरार्ध भाग का एक ही अर्थ समस्त सूक्त में माना है। मन्त्र के उत्तरार्ध की पूर्वार्ध के साथ संगति पर भी सायण ने विचार नहीं किया। उत्तरार्ध के ऐक ही अर्थ की पूर्वार्द्ध के अर्थ के साथ संगति सायणकृत व्याख्या में भी नहीं है। यह सायणाचार्य की अज्ञानता ही है। महर्षि दयानन्द ने समस्त मन्त्रों पर सुविचार करके उत्तरार्द्ध-भाग के प्रकरणानुकूल संगति लगाकर विभिन्न अर्थ किए हैं। मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषि तथा शब्दार्थ मात्र के पण्डित के किए अर्थों में यह महान् अन्तर है।

इस मन्त्र की व्याख्या में स्कन्दस्वामी ने लिखा है—'हे इन्द्र ! आप अनिष्ट के सूचक सब गीदड़, कौवे आदि को मारो और कृकलास (गिरगट) को नष्ट करो। उसका दर्शन अनिष्ट का सूचक है।' यह व्याख्या भी सायण की भांति असंगत तथा काल्पनिक है। क्या इन्द्र जैसे स्वर्ग के राजा का (सायण के अनुसार) यही कार्य है कि वह पृथिवी पर आकर गीदड़, कौवे आदि प्राणियों की हत्या करे। और इन प्राणियों के दर्शन को अनिष्ट-सूचक मानना भी पौराणिक कल्पना ही है। इसी प्रकार वेंकट-माधव ने मन्त्रोक्त 'परिक्रोशम्' पद की व्याख्या में वृक (भेड़िया) आदि के विनाश की बात कही है। यह भी प्रकरण-विरुद्ध व्याख्या ही है। और हिंसक प्राणियों का वध करना राजधर्म है, न कि स्वर्गस्थ कल्पित देहधारी इन्द्र का। यथार्थ में ये सभी वेदों के भाष्यकार वेदार्थ के रहस्य के बोध में असमर्थ ही रहे हैं। इसलिए विज्ञान-विरुद्ध तथा शास्त्र-विरुद्ध अर्थों की इन्होंने कल्पना करके व्याख्या की है। महर्षि की व्याख्या में किसी प्रकार का भी विरोध नहीं है और उनकी व्याख्या प्रकरणानुकूल है ॥ ७ ॥

पूर्वापरसङ्गतिमाह—पूर्वेण पदार्थविद्यासाधनान्युक्तानि, तदुपादानं जगत्पदार्थाः सन्ति। ते जगदीश्वरेणोत्पादिता इत्युक्त्याऽत्र तेषां सकाशादुपकारग्रहणसमर्थाः स सभाध्यक्षाः सभ्या जना भवन्ती-त्युक्तत्वाद् अष्टाविंशसूक्तोक्तार्थेन सहास्यैकोनत्रिंशसूक्तार्थस्य सङ्गतिरस्तीति बोध्यम् ॥ ७ ॥

पूर्वापर-सङ्गति—पूर्व सूक्त में पदार्थविद्या के साधन बतलाये हैं और उनका उपादान कारण जगत् के पदार्थ हैं। वे जगदीश्वर से उत्पन्न हैं, यहां उनसे उपकार ग्रहण में समर्थ सभाध्यक्ष सहित सभ्य-

जन होते हैं ऐसा कथन होने से अट्ठाईसवें सूक्त के अर्थ के साथ उनतीसवें सूक्त के अर्थ की संगति है, ऐसा जानो ॥

इति प्रथमाष्टके द्वितीयाध्याये सप्तविंशो वर्गः प्रथममण्डले षष्ठेऽनुवाक एकोनत्रिंशत्तमं सूक्तं च समाप्तम् ॥

यह पहिले अष्टक के दूसरे अध्याय में सत्ताईसवां वर्ग और पहले मण्डल के छठे अनुवाक में उनतीसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥ ●

अथ त्रिंशत्तमं सूक्तम्

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः । **इन्द्रः** (शूरवीरः सभाध्यक्षः) देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

तत्रादिमे इन्द्रशब्देन शूरवीरगुणा उपदिश्यन्ते ॥

इसके पहिले मन्त्र में इन्द्र शब्द से शूरवीरों के गुणों का प्रकाश किया है ॥

आ व इन्द्रं क्रिविं यथा वाजयन्तः शतक्रतुम् । मंहिष्ठं सिञ्च इन्दुभिः ॥ १ ॥

आ । वः । इन्द्रम् । क्रिविम् । यथा । वाजऽयन्तः । शतऽक्रतुम् । मंहिष्ठम् । सिञ्च । इन्दुऽभिः ॥ १ ॥

पदार्थः—(आ) सर्वतः (वः) युष्माकम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्यहेतुं पावकम् (क्रिविम्) कूपम् । क्रिविरिति कूपनामसु पठितम् । निघं० ३ । २३ । (यथा) येन प्रकारेण (वाजयन्तः) जलं चालयन्तो वायवः (शतक्रतुम्) शतमसंख्याताः क्रतवः=कर्म्माणि यस्मात्तम् (मंहिष्ठम्) अतिशयेन महान्तम् (सिञ्च) (इन्दुभिः) जलैः ॥ १ ॥

प्रमाणार्थ—(क्रिविम्) 'क्रिविः' यह पद निघण्टु (३ । २३) में कूप-नामों में पढ़ा है—कूप=कूआ ॥ १ ॥

अन्वयः—हे सभाध्यक्ष यथा कृषीवलाः क्रिविं कूपं संप्राप्य तज्जलेन क्षेत्राणि सिंचन्ति यथा वाजयन्तो वायव इन्दुभिः [वः] शतक्रतुं मंहिष्ठमिन्द्रं च तथा त्वमपि प्रजाः सुखैः [आ] सिञ्च संयोजय ॥ १ ॥

सपदार्थान्वयः— हे सभाध्यक्ष ! **यथा** येन प्रकारेण **कृषीवलाः क्रिविं कूपं सम्प्राप्य तज्जलेन क्षेत्राणि सिञ्चन्ति यथा** येन प्रकारेण **वाजयन्तः=वायवः** जलंचालयन्तो वायवः **इन्दुभिः** जलैः [**वः**] युष्माकं **शतक्रतुं** शतमसंख्याताः क्रतवः=कर्म्माणि यस्मात्तं **मंहिष्ठम्** अतिशयेन महान्तम् **इन्द्रं** परमैश्वर्यहेतुं पावकं **च तथा त्वमपि प्रजाः सुखैः** [**आ**]+**सिञ्च**=**संयोजय** सिञ्च ॥

भाषार्थ—हे सभाध्यक्ष ! (यथा) जैसे किसान लोग (क्रिविम्) कूए को प्राप्त करके उसके जल से खेतों को सींचते हैं, और (यथा) जैसे (वाजयन्तः) जल को चलाने वाले वायु (इन्दुभिः) जलों से [वः] तुम्हारे (शतक्रतुम्) असंख्य कर्मों के हेतु (मंहिष्ठम्) अति महान् (इन्द्रम्) परम-ऐश्वर्य के निमित्त अग्नि को संयुक्त करते हैं, वैसे आप भी प्रजा को सुखों से ([आ]सिंच) संयुक्त करो ॥ १ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः । यथा मनुष्याः पूर्वं कूपं खनित्वा तज्जलेन स्नानपान-क्षेत्रवाटिकासिचनादिव्यवहारं कृत्वा सुखिनो भवन्ति, तथैव विद्वांसो यथावत् कलायन्त्रेष्वग्निं योजयित्वा तत्संबन्धेन जलं स्थापयित्वा चालनेन बहूनि कार्य्याणि कृत्वा सुखिनो भवन्ति ॥ १ ॥

भावार्थ—यहां उपमा अलंकार है । जैसे मनुष्य पहले कूए को खोदकर, उसके जल से स्नान, पान, खेत, वाटिका का सेचन आदि व्यवहार करके सुखी होते हैं, वैसे ही विद्वान् यथायोग्य कलायन्त्रों में अग्नि को युक्त करके, उसके सम्बन्ध से जल स्थापित कर, चलाने से बहुत कार्यों को करके, सुखी होते हैं ॥ १ ॥

भाष्यसार—**शूर-वीर के गुण**—जैसे किसान कूए को प्राप्त करके उसके जल से खेतों को सींचते हैं, उससे स्नान तथा उसका पान करते हैं और सुखी होते हैं, और जैसे वायु जलों से अग्नि को संयुक्त करते हैं, वैसे शूरवीर सभाध्यक्ष प्रजा को सुख से संयुक्त करे ॥ १ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"अन्न की इच्छावाले हम शुनःशेप नामक ऋषि हे ऋत्विजो ! तुम्हारे सम्बन्धी इस इन्द्र को सोमों से सब प्रकार से तृप्त करते हैं । वह इन्द्र कैसा है ? वह सैकड़ों कर्मों से युक्त तथा अत्यधिक बढ़ा हुआ है । जिस प्रकार कुए को जल से पूर्ण करते हैं, वैसे इन्द्र को पूर्ण करते हैं ।"

सायण-भाष्य में ऋ० १ । २४ । १३ में शुनःशेप ऋषि को यूप से बन्धा हुआ माना है । और वह वरुण, अग्नि, इन्द्र, विश्वेदेवादि देवों से प्रार्थना करने पर बन्धनमुक्त नहीं हुआ है । और यहाँ सायण ने शुनःशेप नामक ऋषि बहुत हैं, यह बहुवचन से दिखाया है और वे इन्द्र को सोमरस से तृप्त कर रहे हैं । यूपबद्ध शुनःशेप कैसे सोम लाकर कूटकर इन्द्र को सोमरस पिला सकता है ? अतः स्पष्ट है कि शुनःशेप-ऋषि इन मन्त्रों के अर्थ के द्रष्टा हैं । उनका मन्त्रार्थ के साथ सम्बन्ध जोड़ना अविवेकपूर्ण तथा अज्ञान का कार्य है । पाश्चात्य विद्वान् ऐसे असम्बद्ध अर्थों को पढ़कर ही वेदों को ईश्वरीय ज्ञान न मानकर ऋषियों की रचना मानते हैं । इन सब अनर्थों के मूल सायणादि पौराणिक भाष्यकार ही हैं ।

आचार्य-सायण ने पूर्ण-मन्त्र के अर्थ पर विचार न करने से न तो देवता के अर्थ को ही समझा है है और नहीं मन्त्रोक्त उपमा को। सायण लिखते हैं कि जैसे कुए को जल से पूर्ण करते हैं, वैसे ही इन्द्र को सींचते हैं । इससे स्पष्ट है कि इन्द्र का उदर (कुक्षि) बहुत बड़ा है और वह कूप के समान है । किन्तु उपमा का अर्थ तो संगत नहीं हो रहा है । कूप खोदकर लोग उससे जल निकालकर सिंचाई का काम करते हैं, किन्तु कूप को जल से भरने वाले हमने तो देखे नहीं, सम्भव है सायणाचार्य ने यह स्वप्न-जाल में होकर ही लिखा हो । और सायण-भाष्य में जो पदों के अर्थ किए हैं, वे परस्पर संगत तो हैं ही नहीं, साथ ही सायण ने वैदिक-कोषों की भी उपेक्षा की है । सायण के असंगत अर्थ करने में प्रमुख कारण उसकी पूर्वाग्रहयुक्त धारणा भी है । वेदों में याज्ञिक ही अर्थ हैं, इस धारणा के कारण भी सायण ने ऐसे अर्थ किए । मन्त्रपठित 'इन्दु' का अर्थ निघण्टु के अनुसार जल भी है । और 'इन्द्र' का अर्थ यहाँ विद्युदग्नि है । देखिए इन्द्र के विषय में निरुक्त का प्रमाण—

---

१. वाजयन्तः अन्नमिच्छन्तो वयं शुनःशेपाः हे ऋत्विग्यजमानाः ! वः युष्माकं सम्बन्धिनमिमम् इन्द्रम् इन्दुभिः सोमैः आ सिञ्चे सर्वतः सिञ्चामहे तर्पयामः । कीदृशम् । शतक्रतुं शतसंख्याककर्मोपेतं मंहिष्ठम् अतिशयेन प्रवृद्धम् । सेचने दृष्टान्तः । यथा येन प्रकारेण क्रिविम् अवटं जलेन पूरयन्ति तद्वत् ॥ (सायणः)

अथास्य कर्म—रसानुप्रदानं, वृत्रवधः या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत् ॥ (निरु० ७।१०)

अर्थात् वृष्टि करके जलों का देना, मेघादि वृत्रों का वध=छिन्न भिन्न करना और जो बलकर्म है, वह सब इन्द्र का कर्म है।

इस प्रमाण से स्पष्ट है कि इन्द्र का अर्थ विद्युदग्नि है। और इसका सदुपयोग करके विद्वज्जन शतक्रतुम्=असंख्य कर्मों को विद्युत् से सिद्ध करते हैं। यह सब विज्ञान ने अब प्रत्यक्ष करके दिखा रखा है। ऐसे सुसंगत तथा उपयोगी अर्थों को सायण ने बिल्कुल भी नहीं समझा। महर्षि की व्याख्या में बहुत ही उपयोगी अर्थ किया गया है। राष्ट्र को चलाने के लिए बलकृति इन्द्र=सभाध्यक्ष होता है और वह प्रजा के सुखार्थ तथा धन-धान्य से सम्पन्न करने के लिए विद्युदग्नि का प्रयोग कराकर नानाविध कर्मों को सिद्ध करता है।

आचार्य-सायण ने मन्त्र के पदों के पाठ में भी विपर्यय किया है। मन्त्र में पठित 'सिञ्च' क्रिया को 'सिञ्चे' क्रिया में बदल दिया है। जिसको वे स्वयं संगत भी नहीं कर सके हैं और वचन-व्यत्यय मानकर मन्त्रार्थ किया है। और 'मंहिष्ठम्' पद का 'अतिशय बढ़ा हुआ' अर्थ भी स्वयं दिखाए व्याकरण से विरुद्ध किया है। सायण ने यह तृजन्त से इष्ठन् प्रत्यय माना है। जिसके अनुसार 'अतिशय से वृद्धि करने वाला' अर्थ होना चाहिए। यह सायण की पदार्थ-ज्ञान में अनभिज्ञता ही है ॥ १ ॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **इन्द्रः (अग्निः)** देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

फिर वह अग्नि कैसा है, यह उपदेश किया जाता है ॥

शतं वा यः शुचीनां सहस्रं वा समाशिराम्। एदु निम्नं न रीयते ॥ २ ॥

शतम्। वा। यः। शुचीनाम्। सहस्रम्। वा। सम्ऽआशिराम्। आ। इत्। उम् इति। निम्नम्। न। रीयते ॥ २ ॥

पदार्थः—(**शतम्**) असंख्यातम् (**वा**) पक्षान्तरे (**यः**) बहुशुभगुणयुक्तो जनः (**शुचीनाम्**) शुद्धानां=पवित्रकारकाणां मध्ये। **शुचिःशोचतेर्ज्वलतिकर्म्मणः**। निरुक्त। ६। १। (**सहस्रम्**) बह्वर्थे (**वा**) पक्षान्तरे (**समाशिराम्**) सम्यगभितः श्रीयन्ते=सेव्यन्ते सद्गुणैर्ये तेषां। **अत्र श्रयतेः स्वाङ्गे शिरः किच्च।** उ० ४। २००। अनेनासुन् प्रत्ययः शिर आदेश्चासुनि। (**आ**) आधारार्थे (**इत्**) एव (**उ**) वितर्के (**निम्नम्**) अधःस्थानम् (**न**) इव (**रीयते**) विजानाति। **रीयतीति गतिकर्मसु पठितम्** निघं० २। १४॥ २॥

प्रमाणार्थ—(**शुचीनाम्**) निरुक्त (६। १) के अनुसार 'शुचि' पद ज्वलति अर्थ वाली 'शोचति' धातु से सिद्ध होता है। (**समाशिराम्**) यहां 'श्रयतेः स्वाङ्गे शिरः किच्च' (४। २००) इस उणादि सूत्र से 'असुन्' प्रत्यय है और 'असुन्' प्रत्यय के परे रहने पर 'शिर' आदेश है। (**रीयते**) यह पद निघण्टु (२। १४) में गत्यर्थक क्रियाओं में पढ़ा है, गति के अर्थ—ज्ञान, गमन और प्राप्ति हैं, यहां ज्ञान अर्थ ग्रहण किया है॥ २॥

अन्वयः—[यः] पवित्रश्चोपचितो विद्वान् [अस्ति सः] योग्निर्भौतिकोस्ति सोऽयं निम्नमधः स्थानं [न] गच्छतीव, शुचीनां शतगुणो वा समाशिरां सहस्रं वेद्वाधारभूतो दाहको वा रीयते विजानाति।

सपदार्थान्वयः—[यः] पवित्रश्चोपचितो विद्वान् [अस्ति सः], योऽग्निर्भौतिकोऽस्ति सोऽयं निम्नम्=अधः स्थानं गच्छति [न] इव, शुचीनां शुद्धानां पवित्रकारकाणां मध्ये शतम् असंख्यातं शतगुणो वा समाशिरां सम्यगभितः श्रीयन्ते=सेव्यन्ते सद्गुणैर्ये तेषां सहस्रं बहु वा इत् एव उ सवितर्कम् आधारभूतो दाहको वा [ऽस्ति-तं] रीयते=विजानाति ॥ २ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः । अयमग्निः सूर्यविद्युत्प्रसिद्धरूपेण शतशः शुद्धीः करोति पच्यमानानां पदार्थानां मध्ये वेगैस्सहस्रशः पदार्थान् पचति यथा जलमधःस्थानमभिद्रवति तथैवायमग्निरूर्ध्वमभिगच्छत्यनयोर्विपर्यासकरणेनाग्निमधःस्थापयित्वा तदुपरि जलस्य स्थापनेन द्वयोर्योगाद्वाष्पैर्वेगादयो गुणा जायन्त इति ॥ २ ॥

भाषार्थ—जो पवित्र और बलवान् विद्वान् है वह—जो यह भौतिक अग्नि है, वह (न) जैसे जल (निम्नम्) नीचे स्थान को जाता है, वैसे (शुचीनाम्) शुद्ध पवित्र करनेवाले पदार्थों में (शतम्) सौ गुणा अथवा (समाशिराम्) सद्गुणों के कारण अच्छे प्रकार सब ओर से सेवन करने योग्य पदार्थों में (सहस्रम्) हजारगुणा (इत्, उ) निश्चय से आधारभूत अग्नि है, उसे (रीयते) जानता है ॥

भावार्थ—यहाँ उपमा अलंकार है। यह अग्नि,—सूर्य, विद्युत् के और प्रसिद्ध रूप से सैकड़ों प्रकार से शुद्धि करता है, पकने वाले पदार्थों के मध्य में वेग से सहस्रों पदार्थों को पकाता है, जैसे जल नीचे को बहता है, वैसे ही यह अग्नि ऊपर को जाता है, अग्नि और जल के विपर्यास से अग्नि को नीचे रखकर और उसके ऊपर जल स्थापन से, दोनों के योग से व भाप से वेग आदि गुण उत्पन्न होते हैं ॥ २ ॥

भाष्यसार—अग्नि कैसा है—जैसे जल नीचे की ओर जाता है वैसे यह अग्नि ऊपर की ओर जाता है। अग्नि को नीचे स्थापित करें और जल को ऊपर रखें। इस प्रकार दोनों के योग से वाष्प द्वारा वेग आदि गुण उत्पन्न होते हैं। यह अग्नि शुद्ध पवित्र करने वाले पदार्थों में सौगुणा है अर्थात् यह सूर्य, विद्युत् और प्रसिद्ध अग्नि के रूप में सैंकड़ों शुद्धियां करता है। यह सद्गुणों के कारण सेवन करने योग्य पदार्थों में हजारों गुणा है अर्थात् पच्यमान पदार्थों में हजारों वेग गुणों से पदार्थों को पकाता है। यह अग्नि आधारभूत है। इसे पवित्र और बलवान् विद्वान् जानता है ॥ २ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"जो इन्द्र पके हुए द्रव्य से युक्त सैकड़ों अथवा हजारों शुद्ध सोमों को प्राप्त करने के लिए वैसे ही प्राप्त होता है, जैसे जल नीचे की ओर गति करते हैं। वह इन्द्र हमारे पर कृपा करे।"

इस मन्त्र का देवता 'इन्द्र' है। जिसको न समझकर सायण ने मन्त्र की व्याख्या पौराणिक कल्पना से पूर्ण की है। निम्नप्रदेश में जल की भांति इन्द्र सोमरस को प्राप्त करने आता है, यह सायण की इन्द्र के विषय में मिथ्या धारणा है। ऐसा शरीर-धारी इन्द्रदेवता यदि यथार्थ हो तो आजकल क्यों नहीं दिखाई देता ? क्या आजकल सभी पौराणिक पापी हो गए हैं, जिससे उन्हें यह दिखाई नहीं देता ? कोई सत्तात्मक पदार्थ हो तो दिखाई देवे। महर्षि ने इस मन्त्र का बहुत ही उपयोगी वैज्ञानिक अर्थ किया है। सूर्य, विद्युत् तथा भौतिक अग्नि ये सब अग्नि के ही विभिन्न स्वरूप हैं। ये ही असंख्य-पदार्थों को

---

१. यः इन्द्रः शुचीनां शुद्धानां सोमानां शतं वा शतसंख्याकं समूहं वा समाशिरां समीचीनत्वेन अशिराख्येन श्रपणद्रव्योणोपेतानां सोमानां सहस्रं वा सहस्रसंख्याकं समूहं वा एदु रीयते आगच्छत्येव। सोऽस्माननुगृह्णात्विति शेषः। सोमप्राप्तौ दृष्टान्तः। तिम्नं न। यथा निम्नप्रदेशम् आपः आप्नुवन्ति तद्वत् ॥ (सायणः)

शुचि=पवित्र करते हैं और अग्नि व जल के उपयोग से सैंकड़ों वेगादि गुणों के सेवन से विविध सुखके साधन जुटाए जाते हैं। मन्त्र में जल का गुण नीचे की ओर जाना बताया है। उसको अग्नि के ऊपर रखने से वाष्पादि के द्वारा विविध यानों को चलाया जा सकता है। सायण की व्याख्या में जो उपमान-उपमेय रूप दिखाया गया है, उसमें भी कोई संगति नहीं है। जल के नीचे जाने से यदि सायण का अभिप्राय यह है कि इन्द्र ऊपर स्वर्ग में रहता है और वह पृथिवी पर सोमरस लेने के लिए नीचे आता है, यह भी सायण की कल्पना मात्र ही है। न तो स्वर्ग नामक की कोई लोक-विशेष है और नहीं उसका राजा इन्द्र कोई शरीरधारी देव है। प्रत्यक्ष तथा शास्त्रों से विरुद्ध यह सायण की कल्पना है।

महर्षि-दयानन्द ने मन्त्र के भावार्थ में जो बुद्धि-चातुर्य से मन्त्र का भाव प्रकट किया है, वह तो वैज्ञानिकों को अनुकरणीय ही है। वाष्प-यानों में वेग-गुण कैसे आता है? महर्षि लिखते हैं कि जल नीचे को गति करता है और अग्नि ऊपर को। इनका विपर्यय करने से अर्थात् अग्नि को नीचे और जल को ऊपर रखने से वेगादि गुणों की उत्पत्ति होती है॥ २॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **इन्द्रः** (**अग्निः**) देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते॥

फिर वह अग्नि कैसा है यह उपदेश किया जाता है॥

सं यन्मदाय शुष्मिणं एना ह्यस्योदरे। समुद्रो न व्यचो दधे॥ ३॥

सम्। यत्। मदाय। शुष्मिणे। एना। हि। अस्य। उदरे। समुद्रः। न। व्यचः। दधे॥ ३॥

पदार्थः—(**सम्**) सम्यगर्थे (**यत्**) याः (**मदाय**) हर्षाय (**शुष्मिणे**) शुष्मं=प्रशस्तं बलं विद्यते यस्मिन् व्यवहारे तस्मै। **शुष्ममिति बलनामसु पठितम्।** निघं० २। ९। अत्र **प्रशंसार्थइनिः**। (**एना**) एनेन शतेन सहस्रेण वा। अत्र **सुपां सुलुग्** इत्याकारादेशः। (**हि**) खलु (**अस्य**) इन्द्राख्यस्याग्नेः (**उदरे**) मध्ये (**समुद्रः**) जलाधिकरणः (**न**) इव (**व्यचः**) विविधं जलादिवस्त्वञ्चन्ति ताः। अत्र **व्युपपदादंचेः क्विन्** ततो जस्। (**दधे**) धरेयम्॥ ३॥

प्रमाणार्थ—(**शुष्मिणे**) 'शुष्मम्' यह पद निघण्टु (२। ९) में बल-नामों में पढ़ा है, यहां प्रशंसा अर्थ में 'इनि' प्रत्यय है। (**एना**) यहां 'टा' तृतीया विभक्ति के स्थान पर 'सुपां सुलुक्०' (अ० ७। १। ३९) इस सूत्र से आकार आदेश है। (**व्यचः**) यहां वि उपपद वाली 'अंच्' धातु से 'क्विन्' प्रत्यय, और तत्पश्चात् 'जस्' प्रत्यय है॥ ३॥

अन्वयः—अहं हि खलु मदाय शुष्मिणे समुद्रो व्यचो नेवाऽस्येन्द्राख्यस्याग्नेरुदर एना-एनेन शतेन सहस्रेण च गुणैः सह वर्त्तमाना यत्—याः क्रियाः संति ताः संदधे॥ ३॥

सपदार्थान्वयः— अहं हि=खलु **मदाय** हर्षाय **शुष्मिणे** शुष्मं=प्रशस्तं बलं विद्यते यस्मिन् व्यवहारे तस्मै **समुद्रः** जलाधिकरणः **व्यचः** विविधं जलादिवस्त्वञ्चन्ति ताः **न=इव अस्य=इन्द्राख्यस्याग्नेः, उदरे** मध्ये **एना=एनेन शतेन सहस्रेण च गुणैः सह वर्त्तमाना यत्=याः क्रियाः**

भाषार्थ—मैं (**हि**) निश्चय से (**मदाय**) हर्ष और (**शुष्मिणे**) प्रशस्त बलवाले व्यवहार के लिये (**न**) जैसे (**समुद्रः**) समुद्र (**व्यचः**) विविध जल आदि वस्तुओं को प्राप्त करने वाला होता है, वैसे (**अस्य**) इस इन्द्र नामक अग्नि के (**उदरे**) मध्य में (**एना**) इन सैंकड़ों और हजारों गुणों सहित वर्त्त-

सन्ति, ताः संदधे सम्यग् धारेयम् ॥ ३ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः । यथा समुद्रस्योदरेऽनेकेगुणा रत्नानि सन्त्यगाधं जलं वास्ति तथैवाग्नेर्मध्येऽनेकेगुणा अनेकाः क्रिया वसन्ति । तस्मान्मनुष्यैरग्निजलयोः सकाशात् प्रयत्नेन बहुविध उपकारो ग्रहीतुं शक्य इति ॥ ३ ॥

मान (यत्) जो क्रियायें हैं, उन्हें (सन्दधे) अच्छे प्रकार धारण करूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—यहां उपमा अलंकार है । जैसे समुद्र के उदर में अनेक गुण, और रत्न हैं अथवा अगाध जल है, वैसे ही अग्नि के बीच में अनेक गुण और अनेक क्रियायें हैं । इस लिए सब मनुष्य अग्नि और जल से प्रयत्न से अनेक प्रकार के उपकार ग्रहण करने में समर्थ होवें ॥ ३ ॥

भाष्यसार—**अग्नि कैसा हो**—जैसे समुद्र विविध जल आदि वस्तुओं को प्राप्त करने वाला होता है अर्थात् जैसे उसके उदर में अनेक गुणों वाले रत्न और अगाध जल होता है वैसे इन्द्र नामक अग्नि में सैंकड़ों और हजारों गुणों से युक्त क्रियायें हैं । विद्वान् हर्ष और प्रशस्त बल से युक्त व्यवहार के लिये जल और अग्नि को धारण करे अर्थात् इनसे प्रयत्न पूर्वक बहुत प्रकार का उपकार ग्रहण करे ।

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"जो पूर्वोक्त शतसंख्या अथवा हजार संख्या वाला सोमरस बलवान् इन्द्र के मद=हर्ष के लिए इकट्ठा किया होता है, इस सोम को इन्द्र के पेट में वैसे ही व्याप्ति होती है, जैसे समुद्र में जल की व्याप्ति होती है ।"

इस सायण-कृत व्याख्या में स्वर्गस्थ इन्द्र के पेट को समुद्र के समान बताया है । ऐसा विशाल-पेट वाला इन्द्र पूर्ण शरीर में कितना बड़ा होगा ? यह स्वयं जाना जा सकता है । और उसका यज्ञादि के अवसर पर न दिखाई देना क्या आश्चर्यजनक नहीं है ? और आजकल तो सोमरस क्या होता है ? इसको भी लोग नहीं जानते, तो क्या इन्द्र अब भूखा ही स्वर्ग के किसी कोणे में मरण-व्रत किए पड़ा होगा ? धन्य है इन पौराणिक भाष्यकारों की मिथ्या कल्पना को । जिन्होंने स्वार्थवशीभूत होकर वेद-मन्त्रों को भी साथ ही घसीटने का दुस्साहस मात्र किया है ।

इस मन्त्र का महर्षि-दयानन्द-कृत अर्थ द्रष्टव्य है । महर्षि ने इस मन्त्र के देवता 'इन्द्र' का 'अग्नि' अर्थ किया है । विद्वान् शिल्पी को अग्नि के उदर=मध्य में विद्यमान सैंकड़ों गुणों को जानकर ऐसा उपकार लेना चाहिए, जिससे मदाय=हर्ष तथा शुष्मिणे=बलयुक्त व्यवहारों की सिद्धि हो सके । मन्त्र में 'शुष्मिणे' पद में चतुर्थी विभक्ति है । जिसको न समझकर सायण ने इसका सम्बन्ध 'अस्य' इस षष्ठ्यन्त पद के साथ किया है । यह उनकी भ्रान्ति ही है । और उदरादि शब्द लौकिक-भाषा में शरीर के अवयवों के लिए रूढ़ हैं, किन्तु वेद-मन्त्रों के भी रूढ़ अर्थ करना निरुक्तादि शास्त्रों के विरुद्ध तथा यहां प्रकरण-संगत भी नहीं है ॥ ३ ॥ ●

आजीगर्तिः शुनःशेप ऋषिः । **इन्द्रः** (अग्निः) देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनः स एवोपदिश्यते ॥

फिर उसी अग्नि का उपदेश किया जाता है ॥

---

१. यत् पूर्वोक्तं शतं सहस्रं वा शुष्मिणे बलवत इन्द्रस्य मदाय मदार्थं संगतं भवति । एना हि अनेनैव शतेन सहस्रेण वा अस्य इन्द्रस्य उदरे व्यचः व्याप्तिः दधे धृता भवति । तत्र दृष्टान्तः । समुद्रो न समुद्र इव । यथा समुद्रमध्ये जलं व्याप्तं तद्वत् ॥ (सायणः)

अयमु ते समतसि कपोत इव गर्भधिम् । वचस्तच्चिन्न ओहसे ॥ ४ ॥

अयम् । ऊम् इति । ते । सम् । अतासि । कपोत इव । गर्भधिम् । वचः । तत् । चित् । नः । ओहसे ॥ ४ ॥

पदार्थः—(**अयम्**) इन्द्राख्योग्निः (**उ**) वितर्के (**ते**) तव (**सम्**) सम्यगर्थे (**अतसि**) निरन्तरं गच्छति=प्रापयति । अत्र व्यत्ययः (**कपोत इव**) पारावत इव (**गर्भधिम्**) गर्भो धीयतेऽस्यां ताम् (**वचः**) वर्त्तनम् (**तत्**) तस्मै पूर्वोक्ताय बलादिगुणवर्द्धकायानन्दाय (**चित्**) पुनरर्थे (**नः**) अस्माकम् (**ओहसे**) आप्नोति ॥ ४ ॥

अन्वयः—अयमिन्द्राख्योग्निरु गर्भधिं कपोतइव नो वचः समोहसे चिन् नस्तत् अतसि ॥

सपदार्थान्वयः — अयम्=इन्द्राख्योऽग्निः उ सवितर्के **गर्भधिं** गर्भो धीयतेऽस्यां तां **कपोत इव** पारावत इव **नः** अस्माकं **वचः** वर्त्तनं **समोहसे** सम्यग् आप्नोति, **चित्** पुनः **नः** अस्माकं **तत्** तस्मै पूर्वोक्ताय बलादिगुणवर्द्धकायानन्दाय **अतसि** निरन्तरं गच्छति=प्रापयति ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(**अयम्**) यह इन्द्र नामक अग्नि (उ) निश्चय से—(**गर्भधिम्**) गर्भधारण करने वाली कबूतरी को (**कपोत इव**) जैसे कबूतर प्राप्त होता है, वैसे (**नः**) हमारे (**वचः**) वर्ताव को (**समोहसे**) प्राप्त होता है, (**चित्**) और (**नः**) हमारे (**तत्**) उस पूर्वोक्त बल आदि गुणों के वर्द्धक आनन्द को (**अतसि**) प्राप्त कराता है ॥

भावार्थः— अत्रोपमालङ्कारः । यथा कपोतो वेगेन कपोतीमनुगच्छति तथैव शिल्पविद्यया साधितोग्निरनुकूलां गतिं गच्छति, मनुष्या एनां विद्यामुपदेशश्रवणाभ्यां प्राप्तुं शक्नुवन्तीति ॥ ४ ॥

भावार्थ—यहां उपमा, अलङ्कार है । जैसे कबूतर वेग से कबूतरी के पीछे जाता है, वैसे शिल्पविद्या से सिद्ध किए हुए अग्नि अनुकूल गति को प्राप्त होता है । मनुष्य इस विद्या को उपदेश और श्रवण से प्राप्त कर सकते हैं ॥ ४ ॥

भाष्यसार—**अग्नि कैसा है**—जैसे कबूतर गर्भ-धारण करने वाली कबूतरी का वेग से अनुगमन करता है, वैसे यह इन्द्र नामक अग्नि हमारे वर्ताव (व्यवहार) को प्राप्त होता है, शिल्पविद्या के द्वारा सिद्ध किया हुआ अनुकूल गति को प्राप्त होता है और हमें बल आदि गुणों के वर्द्धक आनन्द को प्राप्त कराता है । मनुष्य इस अग्निविद्या को उपदेश और श्रवण के द्वारा प्राप्त करें ॥ ४ ॥

समीक्षा—इस मन्त्रका सायणभाष्य[1] इस प्रकार है—"हे इन्द्र ! यह दिखाई देने वाला सोम भी तुम्हारे लिए तैयार किया है, जिसको तुम लगातार भलीभांति प्राप्त करते हो । जैसे कपोत= कबूतर पक्षी गर्भधारण करने वाली कबूतरी को प्राप्त करता है, वैसे ही तुम (इन्द्र) सोम को प्राप्त करते हो । और इस कारण से हमारे वचनों को प्राप्त करते हो ।"

इस मन्त्र का देवता 'इन्द्र' है । इसका इस मन्त्र में क्या अर्थ है ? यह सायण-भाष्य में स्पष्ट नहीं किया है । अतः मन्त्रार्थ प्रकरणानुकूल नहीं है । मन्त्र में कपोत तथा कपोती की उपमा दी गई है । उस उपमा का उपमेय के साथ क्या सम्बन्ध है ? यह सायण-भाष्य से स्पष्ट नहीं है । यथार्थ में

---

१. हे इन्द्र ! अयमु अयमपि दृश्यमानः सोमः ते त्वदर्थं सम्पादितः । यं सोमं समतसि सम्यक् सातत्येन प्राप्नोषि । तत्र दृष्टान्तः । कपोत इव । यथा कपोताख्यः पक्षी गर्भधिं गर्भधारिणीं कपोतीं प्राप्नोति तद्वत् । तच्चित् तस्मादेव कारणात् नः अस्मदीयं वचः ओहसे प्राप्नोषि ॥ (सायणः)

'गर्भधिम्' पद बहुत ही रहस्यात्मक है। जो अग्निविद्या की ओर स्पष्ट संकेत कर रहा है। विद्या को प्राप्त करने के लिए आचार्य के आश्रय से रहना होता है। आचार्य शिष्य को—'तिस्रो रात्रीरुदरे बिभर्त्ति' अर्थात् त्रिविध ज्ञान को प्राप्त कराने के लिए तीन रात्रि तक उदर में रखता है। इससे गुरु-शिष्य के सम्बन्धों पर स्पष्ट प्रकाश पड़ रहा है कि उनके सम्बन्ध ऐसे होने चाहिए कि जैसे माता गर्भस्थ शिशु की रक्षा, पालन तथा वृद्धि का सदा ध्यान रखती है, वैसे ही आचार्य को शिष्य की सर्वाङ्गीण उन्नति तथा विद्योन्नति का ध्यान रखना चाहिए। इसी प्रकार इस मन्त्र में इन्द्र=अग्निविद्या के उपदेष्टा की ओर ध्यान दिलाया गया है। इस विद्या को भी उपदेश तथा श्रवण से प्राप्त करके भौतिकाग्नि के द्वारा विविध यानों में गति तथा अन्य वैज्ञानिक उपायों से ऐश्वर्य-वृद्धि की जा सकती है और आनन्द को बढ़ाया जा सकता है। मन्त्र में 'वचः' तथा 'ओहसे' पदों से स्पष्ट है कि वचः=उपदेश व श्रवण से इस विद्या को प्राप्त किया जा सकता है। महर्षि-दयानन्द ने इस मन्त्र का अर्थ बहुत ही सुस्पष्ट तथा सुसंगत किया है। सायण ने मन्त्र के रहस्य को समझा ही नहीं है। और इन्द्र के लिए सोमरस को सिद्ध करने, उसके सोमरस को पीने तथा हमारी प्रार्थना को सुनने इत्यादि प्रत्यक्षविरुद्ध मिथ्या कल्पनाओं के मिश्रण से मन्त्र का अर्थ असंगत ही किया है॥ ४॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **इन्द्रः** (सभासेनाध्यक्षः) देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

अथेन्द्रशब्देन सभासेनाध्यक्ष उपदिश्यते॥

अब इन्द्र शब्द से सभा और सेना के अध्यक्ष का उपदेश किया जाता है॥

स्तोत्रं राधानां पते गिर्वाहो वीर यस्य ते। विभूतिरस्तु सूनृता॥ ५॥

स्तोत्रम्। राधानाम्। पते। गिर्वाहः। वीर। यस्य। ते। विऽभूतिः। अस्तु। सूनृता॥ ५॥

पदार्थः—(**स्तोत्रम्**) स्तुवन्ति येन तत् (**राधानाम्**) राध्नुवन्ति=संसिध्यन्ति सुखानि पृथिव्यादिधनेषु तेषाम्। **राध इति धननामसु पठितम्।** निघं० २। १०। **अत्र हलश्च।** अ० ३। ३। १२१। इति घञ्। **अत्र सायणाचार्येण राध्नुवन्ति एभिरिति राधनानि धनानीत्यशुद्धमुक्तं घञन्तस्य नियतपुंल्लिङ्गत्वात्** (**पते**) पालयितः (**गिर्वाहः**) गीर्भिर्वेदस्थवाग्भिरुह्यते=प्राप्यते यस्तत्संबुद्धौ। अत्र कारकोपपदाद्वहधातोः **सर्वधातुभ्योऽसुन्।** उ० ४। १९६ अनेनासुन् प्रत्ययः। **वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्तीति** पूर्वपदस्य दीर्घादेशो न। (**वीर**) अजति=वेद्यं जानाति प्रक्षिपति विनाशयति सर्वाणि दुःखानि वा यस्तत्संबुद्धौ अत्र **स्फायितञ्चिवञ्चि०।** उ० २। १२। अनेनाजेरक् प्रत्ययः। (**यस्य**) स्पष्टार्थः (**ते**) तव (**विभूतिः**) विवधमैश्वर्यम् (**अस्तु**) भवतु (**सूनृता**) सुष्ठुऋतं यस्यां सा। **पृषोदरादी०।** इति दीर्घत्वं नुडागमश्च॥ ५॥

प्रमाणार्थ—(**राधानाम्**) 'राधः' यह पद निघण्टु (२। १०) में धन-नामों में पढ़ा है। यहां 'हलश्च' (अ० ३। ३। १२१) इस सूत्र से 'घञ्' प्रत्यय है। (**गिर्वाहः**) यहां कारक उपपद वाली 'वह' धातु से 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (४। १९६) इस उणादि सूत्र से 'असुन्' प्रत्यय है और 'वा छन्दसि सर्वे-विधयो भवन्ति' (महा० १। ४। ९) इस परिभाषा से पूर्वपद को दीर्घ आदेश नहीं है। (**वीर**) यहां 'स्फायितञ्चिवञ्चि०' (१। १२) इस उणादि सूत्र से 'अज्' धातु से रक् प्रत्यय है। (**सुनृता**) यहां 'पृषोदरादि०' (अ० ६। ३। १०९) इस सूत्र से दीर्घ और 'नुट्' का आगम है॥ ५॥

अन्वयः—हे गिर्वाहो वीर राधानां पते सभासेनाध्यक्ष विद्वन् यस्य ते तव सूनृता विभूतिरस्ति तस्य तव सकाशादस्माभिर्गृहीतं स्तोत्रं नोस्माकं मदाय शुष्मिणेऽस्तु॥ ५॥

सपदार्थान्वयः—हे **गिर्वाहः** गीर्भिर्वेदस्थवाग्भिरुह्यते=प्राप्यते यस्तत्सम्बुद्धौ **वीर** अजति=वेद्यं जानाति, प्रक्षिपति=विनाशयति सर्वाणि दुःखानि वा यस्तत्सम्बुद्धौ **राधानां** राध्नुवन्ति=संसिध्यन्ति सुखानि पृथिव्यादिधनेषु तेषां **पते=सभासेनाध्यक्ष विद्वन् यस्य ते=तव सूनृता** सुष्ठु ऋतं यस्यां सा **विभूतिः** विविधमैश्वर्य्यम् **अस्ति, तस्य तव सकाशादस्माभिर्गृहीतं स्तोत्रं** स्तुवन्ति येन तत् **नः=अस्माकं मदाय शुष्मिणेऽस्तु** भवतु ॥

भाषार्थ—हे (**गिर्वाहः**) वेदवाणी से प्राप्त होने योग्य, (**वीर**) जानने योग्य पदार्थों के ज्ञाता और सब दुःखों का विनाश करनेवाले, (**राधानाम्**) जिन पृथिवी आदि धनों में सब सुख सिद्ध होते हैं उनके (**पते**) पालक सभाध्यक्ष और सेनाध्यक्ष विद्वन् ! (ते) आपका (**सूनृता**) उत्तम सुख युक्त (**विभूतिः**) विविध ऐश्वर्य है, सो आपके पास से हमारे द्वारा ग्रहण किया हुआ (**स्तोत्रम्**) स्तुतिसमूह (**नः**) हमारे (**मदाय**) आनन्द और (**शुष्मिणे**) बल के लिये (**अस्तु**) हो ॥ ५ ॥

भावार्थः—अत्र पूर्वस्मान्मन्त्रात् (मदाय) (**शुष्मिणे**) (न) इति पदत्रयमनुवर्त्तते । मनुष्यैर्यः सर्वस्य स्वामी वेदोक्तगुणाधिष्ठानो विज्ञानरतः सत्यैश्वर्य्यः यथायोग्यन्यायकारी सभाध्यक्षः सेनापतिर्वा विद्वानस्ति स एवास्माभिर्न्यायाधीशो मन्तव्य इति ॥ ५ ॥

भावार्थ—यहां पूर्व मन्त्र से मदाय, शुष्मिणे, न, इन तीन पदों की अनुवृत्ति आ रही है । हम सब मनुष्य जो सबका स्वामी, वेदोक्त गुणों से परिपूर्ण, विज्ञानरत सत्य ऐश्वर्य से युक्त, यथायोग्य न्याय करने वाला, सभाध्यक्ष अथवा सेनापति विद्वान् है, उसी को न्यायाधीश मानें ॥ ५ ॥

भाष्यसार—सभा और सेना का अध्यक्ष—सभाध्यक्ष और सेनाध्यक्ष विद्वान् वेदवाणी से प्राप्त होने योग्य अर्थात् वेदोक्त गुणों का अधिष्ठान हो । वह जगत् के जानने योग्य पदार्थों का ज्ञाता अर्थात् विज्ञानरत हो । और सब दुःखों का विनाशक हो । जिन पृथिवी आदि धनों में सब सुख सिद्ध होते हैं, उनका वह पालक हो । उसके पास उत्तम सुख से युक्त विविध ऐश्वर्य हों अर्थात् वह सच्चे ऐश्वर्य वाला हो । सब मनुष्य आनन्द और बल की प्राप्ति के लिये उक्त विद्वान् की स्तुति करें और उसको न्यायाधीश मानें ॥ ५ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे धनों के पालक, स्तुतियों से प्राप्त करने योग्य तथा शूरवीर इन्द्र ! जिसकी स्तुति ऐसी होती है, उस तेरी लक्ष्मी प्रिय तथा सत्य हो ।"

इस मन्त्र का देवता भी 'इन्द्र' है । मन्त्र में इन्द्र की अनेक विशेषताओं का वर्णन किया गया है । वह इन्द्र राधानां पते=धनों का रक्षक है, गिर्वाहः=वाणियों से प्राप्त करने योग्य है और वीर=जानने योग्य को जानता है और दुःखों को नष्ट करता है अथवा इन्द्र शूरवीर है । मन्त्रोक्त ये विशेषताएँ सायणोक्त स्वर्गस्थ कल्पित इन्द्र-देवता के साथ कदापि संगत नहीं होती हैं । सायण-भाष्य में इसी सूक्त के नवम-मन्त्र में भी इन्द्र को स्वर्गस्थ बताया है और यजमान की स्तुति सुनकर यज्ञ में आता है, यह भी माना है । यह कल्पित इन्द्र न तो हमारे धनों की रक्षा ही करता है, अन्यथा चोरी अथवा डाकुओं के आने पर इन्द्र को बुलालिया करें । कम से कम पौराणिकों के घर तो सुरक्षित हो जायें ? किन्तु ऐसे इन्द्र को धनों की रक्षा करता हुआ किसी ने नहीं देखा है । और हमारी स्तुति को इन्द्र कैसे सुनता है ? हम देखते हैं कि एक घर की बात दूसरे घर में भी सुनाई नहीं देती, तब बहुत दूर स्वर्ग-नामक स्थान में रहने वाले इन्द्र के पास क्या साधन है, जो हमारी स्तुति को सुन सके ? और एक साथ विभिन्न स्थानों पर स्तुति

---

१. हे इन्द्र ! राधानां धनानां पालक ! गिर्वाहः गीर्भिरुह्यमानवीर शौर्योपेत ! यस्य ते तव स्तोत्रम् ईदृशं भवति तस्य तव विभूतिः लक्ष्मीः सूनृता प्रियसत्यरूपा अस्तु ॥ (सायणः)

करने पर इन्द्र सर्वत्र कैसे जा सकता है ? और कल्पित इन्द्र की शूर-वीरता को पौराणिक भाष्यकारों ने स्वप्न में ही देखा होगा। और ऐसे इन्द्र की स्तुति से हमारी विभूतिः=ऐश्वर्य सुरक्षित होने से कैसे सुख देनेवाला हो सकता है ?

महर्षि-दयानन्द ने मन्त्रोक्त विशेषताओं को ध्यान में रखकर इन्द्र का अर्थ 'सेनाध्यक्ष' किया है। जो वीरता के कारण दुष्ट शत्रुओं अथवा चोरादि को दण्ड देकर हमारे धनों की सूरक्षा करता है। अतः इस अर्थ की पूर्णतः संगति है। महर्षि ने कुछ पदों की अनुवृत्ति दूसरे मन्त्र से दिखाकर मन्त्रार्थ को और भी सुस्पष्ट कर दिया है ॥ ५ ॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः । **इन्द्रः (सभासेनाध्यक्षः)** देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनरयं कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

फिर यह सभाध्यक्ष और सेनापति कैसा है यह उपदेश किया जाता है ॥

ऊर्ध्वस्तिष्ठा न ऊतयेऽस्मिन्वाजे शतक्रतो । समन्येषु ब्रवावहै ॥ ६ ॥

ऊर्ध्वः । तिष्ठ । नः । ऊतये । अस्मिन् । वाजे । शतक्रतो इति शतऽक्रतो । सम् । अन्येषु । ब्रवावहै ॥ ६ ॥

पदार्थः—(ऊर्ध्वः) सर्वोपरिविराजमानः (तिष्ठ) स्थिरो भव। **अत्र द्व्यचोतस्तिङ** इति दीर्घः। (नः) अस्माकम् (ऊतये) रक्षणाद्याय (अस्मिन्) वर्त्तमाने (वाजे) युद्धे (शतक्रतो) शतानि=बहुविधानि कर्माणि वा बहुविधा प्रज्ञा यस्य तत्संबुद्धौ सभासेनाध्यक्ष (सम्) सम्यगर्थे (अन्येषु) युद्धेतरेषु साधनीयेषु कार्येषु (ब्रवावहै) परस्परमुपदेशश्रवणे नित्यं कुर्य्याविहै ॥ ६ ॥

प्रमाणार्थ—(तिष्ठ) यहां 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (अ० ६ । ३ । १३५) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—तिष्ठा ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे शतक्रतो नोस्माकमूतये ऊर्ध्वस्तिष्ठैवं सति [अस्मिन्] वाजेऽन्येषु साधनीयेषु कर्मसु त्वं प्रतिजनोहं च द्वौ द्वौ संब्रवावहै ॥ ६ ॥

सपदार्थान्वयः—हे शतक्रतो ! शतानि=बहुविधानि कर्माणि वा बहुविधा-प्रज्ञा यस्य तत्सम्बुद्धौ सभासेनाध्यक्ष ! **नः=अस्माकमूतये** रक्षणाद्याय **ऊर्ध्वः** सर्वोपरि विराजमानः **तिष्ठ** स्थिरो भव, **एवं सति [अस्मिन्]** वर्त्तमाने **वाजे** युद्धे **अन्येषु=साधनीयेषु कर्मसु** युद्धेतरेषु साधनीयेषु कार्येषु **त्वं प्रतिजनोऽहं च द्वौ द्वौ सं+ब्रवावहै** सम्यग्परस्परोपदेशश्रवणे नित्यं कुर्य्याविहै ॥ ६ ॥

भावार्थः—सत्याचारैर्ध्यानावस्थितैर्मनुष्यै-रात्मस्थानान्तर्यामिजगदीश्वरस्याज्ञया सेनाधिष्ठात्रा सभाध्यक्षेण च सत्यासत्ययोः कर्तव्याकर्तव्ययोश्च

भाषार्थ—हे **(शतक्रतो)** बहुत प्रकार के कर्म या बहुत प्रकार की प्रज्ञा वाले सभाध्यक्ष और सेनाध्यक्ष ! आप—**(नः)** हमारी **(ऊतये)** रक्षा आदि के लिये **(ऊर्ध्वः)** सर्वोपरि **(तिष्ठ)** विराजमान होओ। ऐसा होने पर **[अस्मिन्]** इस **(वाजे)** युद्ध में तथा **(अन्येषु)** युद्ध से भिन्न साधनीय कार्यों में आप और मैं दोनों **(संब्रवावहै)** मिलकर परस्पर उपदेश और श्रवण नित्य किया करें ॥ ६ ॥

भावार्थ—सत्याचरण वाले, ध्यानाव-स्थित मनुष्य—आत्मस्थित, अन्तर्यामी जग-दीश्वर की आज्ञा से, सेना के अधिष्ठाता और

सम्यङ् निश्चयः कार्यो नैतेन विना कदाचित् कस्यचिद्विजयसत्यबोधौ भवतः। ये सर्वव्यापिनं जगदीश्वरं न्यायाधीशं मत्वा धार्मिकं शूरवीरं च सेनापतिं कृत्वा शत्रुभिः सह युध्यन्ति तेषां ध्रुवो विजयो नेतरेषामिति ॥ ६ ॥

सभाध्यक्ष द्वारा सत्य-असत्य और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का अच्छे प्रकार निश्चय करें। इसके विना कभी किसी की विजय और सत्य का बोध नहीं होता। जो सर्वव्यापी जगदीश्वर को न्यायाधीश मानकर और धार्मिक, शूरवीर को सेनापति बनाकर, शत्रुओं के साथ युद्ध करते हैं, उनकी विजय निश्चित है; अन्यों की नहीं ॥ ६ ॥

भाष्यसार—**सभा और सेना का अध्यक्ष कैसा हो**—सभाध्यक्ष और सेनाध्यक्ष बहुत प्रकार के कर्म और बहुत प्रकार की बुद्धि वाला हो। वह हमारी रक्षा के लिये सर्वोपरि विराजमान हो। वे युद्धों में तथा युद्ध से भी भिन्न कार्यों में परस्पर उपदेश और श्रवण नित्य करें। वे सत्य-असत्य और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का ठीक निश्चय करें। इसके विना विजय और सत्य का बोध नहीं हो सकता ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे सैकड़ों कर्मों से युक्त इन्द्र! इस प्रवर्त्तमान युद्ध में हमारी रक्षा करने के लिए उत्सुक हो। तुम और मैं मिलकर दूसरे कार्यों में अच्छी प्रकार विचार करें।"

इस मन्त्र का भी देवता 'इन्द्र' है। इस मन्त्र में इन्द्र की विशेषता बताते हुए लिखा है कि वह शतक्रतो=बहुविध कर्मों वाला अथवा बहुत कार्य सम्पन्न करने वाली बुद्धि से युक्त है। और वाजे= संग्राम में हमारी रक्षा के लिए सर्वोपरि विराजमान रहता है। और उसके साथ मिलकर हम दूसरे कार्यों में भी विचार-विमर्श करते हैं। ये सब विशेषताएँ स्वर्ग के राजा कल्पित इन्द्र के साथ तो कदापि संगत नहीं होती हैं। न तो वह कल्पित इन्द्र युद्धों में हमारी रक्षा ही करता है और न ही उससे किसी ने बातचीत ही की है। महर्षि दयानन्द ने यहाँ भी इन्द्र का अर्थ 'सेनाध्यक्ष' ही किया है। वह बहुत शूरवीर तथा मेधासम्पन्न होना चाहिए, जिससे वह शत्रुओं के छल-कपट-युक्त समस्त व्यवहारों को जानकर उन्हें दण्डित करसके और शत्रुओं से हमारी रक्षा कर सके। ऐसे सेनाध्यक्ष से युद्धादि से भिन्न कार्यों, जैसे जलप्लावन, अग्निदाहादि के समय में भी सहायता ली जा सकती है और उससे हम बातचीत भी कर सकते हैं। अतः महर्षि की व्याख्या सुसंगत तथा यथार्थ है ॥ ६ ॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **इन्द्रः (ईश्वरसेनाध्यक्षौ)** देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

पुनरीश्वरसेनाध्यक्षौ कीदृशौ स्त इत्युपदिश्यते ॥

फिर ईश्वर और सेनाध्यक्ष कैसे हों यह उपदेश किया जाता है ॥

योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे। सखाय इन्द्रमूतये ॥ ७ ॥

योगेऽयोगे। तवःऽतरम्। वाजेऽवाजे। हवामहे। सखायः। इन्द्रम्। ऊतये ॥ ७ ॥

---

१. हे शतक्रतो शतसंख्याककर्मोपेत! अस्मिन् प्रसक्ते वाजे संग्रामे नः अस्माकम् ऊतये रक्षणाय ऊर्ध्वः उन्नतः उत्सुकः तिष्ठ भव। त्वं च अहं च मिलित्वा अन्येषु कार्यान्तरेषु संन्नवावहै सम्यक् विचारयावः ॥ (सायणः)

पदार्थः—(**योगेयोगे**) अनुपात्तस्योपात्तलक्षणो योगस्तस्मिन्प्रतियोगे (**तवस्तरम्**) तूयते=विज्ञायत इति तवाः सोतिशयितस्तम् । सायणाचार्येणात्र **विन्प्रत्ययस्य छान्दसो लोप** इति यदुक्तं तदशुद्धं प्रमाणाभावात् (**वाजे वाजे**) युद्धं युद्धं प्रति (**हवामहे**) आह्वयामहि । अत्र लेटोस्मद्बहुवचने **लेटोडाटौ** । ३ । ४ । ९४ । अनेनाडागमे कृते । **बहुलं छन्दसि** । अ० ६ । १ । ३४ । इति संप्रसारणम् । (**सखायः**) सुहृदो भूत्वा (**इन्द्रम्**) सर्वविजयप्रदं जगदीश्वरं वा दुष्टशत्रुनिवारकमात्मशरीरबलवन्तं धार्म्मिकं वीरं सेनापतिम् (**ऊतये**) रक्षणाद्याय विजयसुखप्राप्तये वा ॥ ७ ॥

प्रमाणार्थ—(**हवामहे**) यहां लेट् लकार 'अस्मद' शब्द के बहुवचन में 'लेटोऽडाटौ' (अ० ३ । ४ । ९४) इस सूत्र से अट् आगम करने पर 'बहुलं छन्दसि' (अ० ६ । १ । ३४) इस सूत्र से सम्प्रसारण है ॥ ७ ॥

अन्वयः—वयं सखायो भूत्वा स्वोतये योगे योगे वाजे वाजे तवस्तरमिन्द्रं परमात्मानं सभाध्यक्षं वा हवामहे ॥ ७ ॥

[**ईश्वरः**]

स्वपदार्थान्वयः—**वयं सखायः** सुहृदः **भूत्वा स्वोतये** रक्षणाद्याय **योगे योगे** अनुपात्तस्योपात्तलक्षणो योगस्तस्मिन्प्रतियोगे **वाजे वाजे** युद्धं युद्धं प्रति **तवस्तरं** तूयते=विज्ञायत इति तवाः सोऽतिशयितस्तम् **इन्द्रं=परमात्मानं** सर्वविजयप्रदं जगदीश्वरं **हवामहे** आह्वयामहि ॥

[**सेनाध्यक्षः**]

वयं सखायः सुहृदः **भूत्वा स्वोतये** विजयसुखप्राप्तये **योगे योगे** अनुपात्तस्योपात्तलक्षणो योगस्तस्मिन्प्रतियोगे **वाजे वाजे** युद्धं युद्धं प्रति **तवस्तरं** तूयते=विज्ञायते इति तवाः सोऽतिशयितस्तम् **इन्द्रं=सभाध्यक्षं** दुष्टशत्रुनिवारकमात्मशरीरबलवन्तं धार्मिकं वीरं सेनापतिं **हवामहे** आह्वयामहि ॥ ७ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः । मनुष्यैर्मित्रतां संपाद्य प्राप्तानां पदार्थानां रक्षणं सर्वत्र विजयश्च कार्यः । परमेश्वरः सेनापतिश्च नित्यमाश्रयणीयः नैवैतावन्मात्रेणैवैतत् सिद्धिर्भवितुमर्हति किं तर्हि विद्यापुरुषार्थाभ्यामेतस्य सिद्धिर्जायत इति ॥

[**ईश्वर**]

भाषार्थ—हम लोग (**सखायः**) मित्र होकर अपनी (**ऊतये**) रक्षा आदि के लिये (**योगे योगे**) प्रत्येक अनुपलब्ध पदार्थ की प्राप्ति में तथा (**वाजे-वाजे**) प्रत्येक युद्ध में (**तवस्तरम्**) सर्वथा जानने योग्य (**इन्द्रम्**) सब विजय प्रदान करने वाले जगदीश्वर का (**हवामहे**) आह्वान करते हैं ॥

[**सेनाध्यक्ष**]

हम लोग (**सखायः**) मित्र होकर अपने (**ऊतये**) विजय सुख की प्राप्ति के लिए (**योगेयोगे**) प्रत्येक अनुपलब्ध पदार्थ की प्राप्ति में तथा (**वाजे वाजे**) प्रत्येक युद्ध में (**तवस्तरम्**) सर्वथा जानने योग्य (**इन्द्रम्**) दुष्ट शत्रु के निवारक, आत्मा और शरीर से बलवान् धार्मिक वीर सेनापति एवं सभाध्यक्ष का (**हवामहे**) आह्वान करते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—यहां श्लेष अलंकार है । सब मनुष्य मित्रता करके, प्राप्त पदार्थों की रक्षा और सर्वत्र विजय करें, परमेश्वर और सेनापति का नित्य आश्रय करें; केवल इतना करने मात्र से ही यह सिद्धि नहीं हो सकती; अपितु विद्या और पुरुषार्थ से इसकी सिद्धि होती है ॥ ७ ॥

भाष्यसार—**ईश्वर कैसा है**—सब मनुष्य मित्र बनकर अपनी रक्षा आदि के लिए प्रत्येक अनुपलब्ध पदार्थ की प्राप्ति और प्रत्येक युद्ध में जगदीश्वर का आह्वान करें, उसका नित्य आश्रय करें । वह ईश्वर सर्वथा जानने योग्य और सब विजय-प्रदान करने वाला है ।

सेनाध्यक्ष कैसा है—सब मनुष्य परस्पर मित्र होकर विजयसुख की प्राप्ति के लिए प्रत्येक अनुपलब्ध पदार्थ की प्राप्ति और प्रत्येक युद्ध में सेनाध्यक्ष एवं सभाध्यक्ष का आह्वान करें, उसका नित्य आश्रय करें। वह सर्वथा जानने योग्य, दुष्ट शत्रु का निवारक, आत्मा और शरीर से बलवान् धार्मिक और वीर है ॥ ७ ॥

अलंकार—यहां श्लेष अलंकार से 'इन्द्र' शब्द से ईश्वर और सेनाध्यक्ष अर्थ का ग्रहण होता है।

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"उस उस कार्य के प्रारम्भ में तथा उन उन कर्मों में घात करने वाले संग्राम में अत्यधिक बलयुक्त इन्द्र को रक्षा के लिए मित्र की तरह प्रिय लगने वाले हम बुलाते हैं।"

इस मन्त्र के भाष्य में सायण तथा दयानन्द दोनों ही भाष्यकारों ने युद्धादि के समय रक्षणार्थ इन्द्र को बुलाने के लिए प्रार्थना मानी है। प्रार्थना उसी से करनी योग्य है, जो प्रार्थना की पूर्ति कर सके। स्वर्गस्थ कल्पित सायण का इन्द्र देव विशेष युद्धादि के समय कदापि रक्षा करता हुआ किसी ने भी नहीं देखा है। और नहीं वह हमारे बुलाने पर कभी पृथिवी पर आता है। मन्त्र में प्रार्थना या आह्वान करने वालों को इन्द्र का सखा=मित्र कहा है। जिस कल्पित इन्द्र-देव को किसी ने कभी देखा नहीं, उससे मित्रता कैसे सम्भव है? अतः सायण की व्याख्या कल्पना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। ऐसी मिथ्या व्याख्याओं को कौन विद्वान् मान सकता है?

महर्षि-दयानन्द ने इस मन्त्र के ईश्वरपरक तथा सेनाध्यक्ष-परक दो अर्थ श्लेषालंकार से किए हैं। लौकिक युद्धादि के समय वीर योद्धा सेनाध्यक्षादि का तथा कुत्सित विचारों एवं जन्म-जन्मान्तरों की वासनाओं के साथ संघर्ष करने के लिए ईश्वर का आश्रय करना चाहिए। मन्त्र में इन्द्र को रक्षार्थ हवामहे=आह्वान करने का उपदेश है। ईश्वर के आह्वान के विषय में किसी को भ्रान्ति न हो कि सर्वत्रव्यापक ईश्वर का आह्वान कैसे हो? एतदर्थ हमारा निवेदन है कि ईश्वर हमारे आत्मा में भी व्यापक हैं, वह हमारे से पृथक् कभी नहीं होता, किन्तु हम ईश्वर को भूल जाते हैं। जब हम दुःख या विपत्ति से सन्तप्त होते हैं, तब असमर्थ होने पर ईश्वर की सहायतार्थ प्रार्थना करते हैं। यही ईश्वर का आश्रय करना उसका आह्वान है। अथवा दानादानार्थक 'हु' धातु से इस पद को मानना चाहिए। हम ईश्वर-भक्ति का ग्रहण करते हैं। हम ईश्वर के जब सखा=समान ख्यान=ईश्वर के न्यायोचित गुणों को धारण करने से कुछ समानता प्राप्त कर लेते हैं तब ही ईश्वर के सान्निध्य की अनुभूति प्राप्त होती है। मन्त्र में इसी भाव को योग=चित्तवृत्ति निरोध शब्द से प्रकट किया है। और युद्धादि के समय में भी ईश्वर सत्यपक्ष वालों को उत्साह व शक्ति प्रदान करके अवश्य विजय दिलाता है। अतः महर्षि की व्याख्या प्रकरणानुकूल तथा सुसंगत है। और सायण की अपनी व्याख्या भी उसकी कल्पनाओं के विरुद्ध होने से कदापि मान्य नहीं हो सकती ॥ ७ ॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **इन्द्रः (सभासेनाध्यक्षः)** देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

स केन सहागच्छेदित्युपदिश्यते ॥

वह सभा और सेना का अध्यक्ष किसके साथ प्राप्त हो यह उपदेश किया जाता है ॥

---

१. योगे योगे प्रवेशे प्रवेशे तत्तत्कर्मोपक्रमे वाजे वाजे कर्मविघातिनि तस्मिंस् तस्मिन् संग्रामे तवस्तरम् अतिशयेन बलिनम् इन्द्रमूतये रक्षार्थं सखायः सखिवत् प्रिया वयं हवामहे आह्वयामहे। (सा०)

आ घा गमद्यदि श्रवत्सहस्रिणीभिरूतिभिः । वाजेभि रुप नो हवम् ॥ ८ ॥

आ । घ । गमत् । यदि । श्रवत् । सहस्रिणीभिः । ऊतिऽभिः । वाजेभिः । उप । नः । हवम् ॥ ८ ॥

पदार्थः—(आ) समन्तात् (घ) एव । **ऋचितुनुघ०** इति दीर्घः । (**गमत्**) प्राप्नुयात् । अत्र **लिङर्थे अङडभावश्च** । (**यदि**) चेत् (**श्रवत्**) शृणुयात् । अत्र श्रुधातोर्लेट् **बहुलं छन्दसि** इति श्नोर्लुक् । (**सहस्रिणीभिः**) सहस्राणि प्रशस्तानि पदार्थप्रापणानि विद्यन्ते यासु ताभिः । अत्र **प्रशंसार्थे इनिः** । (**ऊतिभिः**) रक्षणादिभिः सह (**वाजेभिः**) अन्नज्ञानयुद्धादिभिः सह । अत्र **बहुलं छन्दसि** इति भिसऐस् न । (**उप**) सामीप्ये (**नः**) अस्माकम् (**हवम्**) प्रार्थनादिकं कर्म ॥ ८ ॥

प्रमाणार्थ—(**घ**) यहां 'ऋचितुनुघ०' (अ० ६ । ३ । १३३) इस सूत्र से ऋग्वेद में दीर्घ है—घा (**गमत्**) यहां लिङ्लकार के अर्थ में 'लुङ्' लकार और 'अट्' आगम का अभाव है । (**श्रवत्**) यहां 'श्रु' धातु से लेट् लकार में 'बहुलं छन्दसि' (अ० २ । ४ । ७३) इस सूत्र से 'श्नु' विकरण प्रत्यय का लुक् है । (**सहस्रिणीभिः**) यहां प्रशंसा अर्थ में 'इनिः' प्रत्यय है । (**वाजेभिः**) यहां 'बहुलं छन्दसि' (अ० ७ । १ । १०) इस सूत्र से बहुल से भिस् को ऐस् आदेश नहीं हुआ ॥ ८ ॥

अन्वयः—यदि स इन्द्रः सभासेनाध्यक्षो नोस्माकमाहवमाह्वानं श्रवत् शृणुयात्तर्हि स घ स एव सहस्रिणीभिरूतिभिर्वाजेभिः सह नोस्माकं हवमाह्वानमुपागमदुपागच्छेत् ॥ ८ ॥

सपदार्थान्वयः—यदि चेत् **स इन्द्रः**=**सभासेनाध्यक्षो नः**=**अस्माकम् आहवम्**=**आह्वानं** समन्तात् प्रार्थनादिकं कर्म **श्रवत्**=**शृणुयात् तर्हि स घ**=**स एव सहस्रिणीभिः** सहस्राणि प्रशस्तानि पदार्थप्रापणानि विद्यन्ते यासु ताभिः **ऊतिभिः** रक्षणादिभिः सह **वाजेभिः** अन्नज्ञानयुद्धादिभिः **सह नः**=**अस्माकं हवम्**=**आह्वानम् उपागमत्**=**उपागच्छेत्** ।

भाषार्थ—(**यदि**) यदि वह (**इन्द्रः**) सभा और सेना का अध्यक्ष (**नः**) हमारे (**आहवम्**) आह्वान एवं प्रार्थना आदि को (**श्रवत्**) सुने तो (**स, घ**) वही (**सहस्रिणीभिः**) नाना प्रशस्त पदार्थों को प्राप्त कराने वाली (**ऊतिभिः**) रक्षा आदि और (**वाजेभिः**) अन्न, ज्ञान तथा युद्ध आदि के साथ (**नः**) हमारे (**हवम्**) आह्वान=पुकार को (**उपागमत्**) प्राप्त करे ॥ ८ ॥

भावार्थः—यत्र मनुष्यैः सत्यभावेन यस्य सभासेनाध्यक्षस्य सेवनं क्रियते तत्र संरक्षणाय ससेनाङ्गैरत्नादिभिस्सह तानुपतिष्ठते नैतस्य सहायेन विना कस्यचित्सत्यौ सुखविजयौ संभवत इति ।

भावार्थ—जहां मनुष्य—सत्य भाव से जिस सभाध्यक्ष और सेनाध्यक्ष की सेवा करते हैं, वहां रक्षा के लिए वह सेना के अङ्गों और रत्नादियों के साथ उनके समीप स्थित होता है । इसकी सहायता के विना किसी का सत्य सुख और विजय नहीं हो सकता ॥ ८ ॥

भाष्यसार—**सभा और सेना का अध्यक्ष किसके साथ प्राप्त हो**—सभाध्यक्ष और सेनाध्यक्ष हमारी प्रार्थना को सुने । वह नाना प्रशस्त पदार्थों को प्राप्त कराने वाली रक्षा आदि तथा अन्न, ज्ञान और युद्ध आदि के साथ हमें प्राप्त हो । हम सत्यभाव से सभा और सेना के अध्यक्ष की सेवा करें और वह हमारे संरक्षण के लिये सेना के सब अङ्ग और विविध रत्नों सहित हमें प्राप्त हो, उपस्थित हो । इसकी सहायता के विना सच्चा सुख और विजय संभव नहीं ॥ ८ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"यदि यह इन्द्र हमारी पुकार को सुन लेवे, तब वह स्वयं ही हजारों रक्षाओं से और अन्नों के साथ हमारे पास अवश्य आ जाए।"

इस सायणकृत व्याख्या में भी पूर्वमन्त्रों की भांति ही यह दोष है कि देवता-पद की सायण ने कोई व्याख्या नहीं की है। और 'स्वर्गस्थ शरीरधारी इन्द्र हमारी पुकार सुनकर रक्षा और अन्नों के साथ हमारे पास अवश्य आता है, इस सायण की व्याख्या में अनेक दोष हैं। प्रथम तो स्वर्ग-नामक कोई लोक-विशेष नहीं है। और वहां का राजा इन्द्र हमारी प्रार्थनाओं को एकदेशी होने से कभी नहीं सुन सकता। और वह इन्द्र रक्षा तथा अन्नों के साथ कभी नहीं आता। यह मान्यता प्रत्यक्ष तथा सृष्टिक्रम से विपरीत है। अन्नादि की प्राप्ति पृथिवी से हमें होती है, स्वर्ग से अन्नादि पदार्थ न तो किसी को प्राप्त हुए हैं और न होते हैं, फिर भविष्य की आशा करना कैसे सम्भव है?

महर्षि ने अपनी व्याख्या में 'इन्द्र' का अर्थ सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष किया है। इनसे हम अपनी रक्षा की प्रार्थना कर सकते हैं और ये हमारी प्रार्थना पर हमारी रक्षा भी करते हैं। इनसे सुरक्षित होकर अन्न, ज्ञान तथा युद्धादि में हम विजय प्राप्त करते हैं। महर्षि की व्याख्या में किसी प्रकार की असंगति तथा विरोध नहीं है॥ ८॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **इन्द्रः** (ईश्वरसभाध्यक्षौ) देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

अथेश्वरसभाध्यक्षयोः प्रार्थना सर्वमनुष्यैः कार्येत्युपदिश्यते॥

अब ईश्वर और सभाध्यक्ष की प्रार्थना सब मनुष्यों को करनी चाहिये यह उपदेश किया जाता है॥

अनु॑ प्र॒त्नस्यौक॑सो हुवे तु॑विप्र॒तिं नर॑म्। यं ते॒ पूर्वं॑ पि॒ता हु॒वे॥ ९॥

अनु॑। प्र॒त्नस्य॑। ओक॑सः। हु॒वे॒। तु॒वि॒ऽप्र॒तिम्। नर॑म्। यम्। ते॒। पूर्व॑म्। पि॒ता। हु॒वे॥ ९॥

पदार्थः—(**अनु**) पश्चादर्थे (**प्रत्नस्य**) सनातनस्य कारणस्य। **प्रत्नमिति पुराणनामसु पठितम्।** निघं० ३। २७। **अत्र त्नप्तनखाश्च प्रत्यया वक्तव्याः।** अ० ५। ४। ३०। अनेन प्रशब्दात्त्नप् प्रत्ययः। (**ओकसः**) सर्वनिवासार्थस्याकाशस्य (**हुवे**) स्तौमि (**तुविप्रतिम्**) तुवीनां=बहूनां पदार्थानां प्रतिमातरम्। अत्रैकदेशेन प्रतिशब्देन प्रतिमातृशब्दार्थो गृह्यते। (**नरम्**) सर्वस्य जगतो नेतारम् (**यम्**) जगदीश्वरं सभासेनाध्यक्षं वा (**ते**) तव (**पूर्वम्**) प्रथमम् (**पिता**) जनक आचार्यो वा (**हुवे**) गृह्णात्याह्वयति। अत्र **बहुलं छन्दसि** इति शपो लुगात्मनेपदं च॥ ९॥

प्रमाणार्थ—(**प्रत्नस्य**) 'प्रत्नम्' यह पद निघण्टु (३। २७) में पुराण-नामों में पढ़ा है, यहां 'त्नप्तनखाश्च प्रत्यया वक्तव्याः' (अ० ५।४।३०) इस सूत्र से 'प्र' शब्द से 'त्नप्' प्रत्यय है। (**हुवे**) यहां 'बहुलं छन्दसि' (अ० २। ४। ७३) इस सूत्र से 'शप्' विकरणप्रत्यय का लुक् और आत्मनेपद है॥

अन्वयः—हे मनुष्य ते पिता यं प्रत्नस्यौकसः सनातनस्य कारणस्य सकाशात्तुविप्रतिं बहुकार्यप्रतिमातारं नरं परमेश्वरं सभासेनाध्यक्षं वा पूर्वं [अनु]+हुवे तमेवाहमनुकूलं हुवे स्तौमि॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्य! ते तव पिता जनक आचार्यो वा **यं** जगदीश्वरं सभासेनाध्यक्षं

भाषार्थ—हे मनुष्य! (**ते**) तेरा (**पिता**) पिता या आचार्य (**यम्**) जिस जगदीश्वर या सभा

---

१. यदि श्रवत् यद्ययम् इन्द्रः नः अस्मदीयं हवम् आह्वानं शृणुयात् तदानीं स्वयमेव सहस्रिणीभिरूतिभिः बहुभिः पालनैः वाजेभिः अन्नैश्च सह उप समीपे आ घ अवश्यम् आगमत् आगच्छेत्॥ (सायणः)

वा **प्रत्नस्य** सनातनस्य कारणस्य **ओकसः** सर्वनिवासार्थस्याकाशस्य **सनातनस्य कारणस्य सकाशात्तु-विप्रतिं=बहुकार्यप्रतिमातारं नरं** सर्वस्य जगतो नेतारं **परमेश्वरं सभासेनाध्यक्षं वा पूर्वं** प्रथमम् [**अनु**+] **हुवे** गृह्णात्याह्वयति **तमेवाहमनुकलं हुवे=स्तौमि**॥

भावार्थः— ईश्वरो मनुष्यानुपदिशति। हे मनुष्या युष्माभिरेवमन्यान्प्रत्युपदेष्टव्यं योऽनादिकारणस्य सकाशादनेकविधानि कार्याण्युत्पादयति किं च यस्योपासनं पूर्वे कृतवन्तः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च तस्यैवोपासनं नित्यं कर्तव्यमिति। अत्र कञ्चित् प्रति कश्चित् पृच्छेत्त्वं कस्योपासनं करोषीति तस्मा उत्तरं दद्यात् यस्योपासनं तव पिता करोति यस्य च सर्वे विद्वांसः। यं वेदा निराकारं सर्वव्यापिनं सर्वशक्तिमन्तमजमनादिस्वरूपं जगदीश्वरं प्रतिपादयन्ति तमेवाहं नित्यमुपासे।

और सेना के अध्यक्ष का (**प्रत्नस्य**) सनातन (**ओकसः**) सबके निवास के निमित्त आकाश के कारण से (**तुविप्रतिम्**) बहुत कार्यों के ज्ञाता एवं सब जगत् के नेता परमेश्वर या सभा और सेना के अध्यक्ष का (**पूर्वम्**) प्रथम ([**अनु**] **हुवे**) आह्वान=ग्रहण करता है, उसी की मैं (**हुवे**) यथावत् स्तुति करता हूँ॥

भावार्थ—ईश्वर मनुष्यों को उपदेश देता है—हे मनुष्यो! तुम दूसरों को ऐसे उपदेश करो कि—जो अनादि कारण (प्रकृति) से अनेक प्रकार के कार्यों को उत्पन्न करता है तथा जिसकी उपासना पूर्वजों ने की है, वर्तमान में करते हैं, और भविष्य में करेंगे, उसी की उपासना नित्य करें। यहाँ यदि कोई किसी से पूछे कि तू किसकी उपासना करता है? उसको उत्तर देवे कि जिसकी उपासना तेरा पिता और सब विद्वान् करते हैं; तथा वेद जिस निराकर, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, अजन्मा और अनादिस्वरूप जगदीश्वर का प्रतिपादन करते हैं उसी की मैं नित्य उपासना करता हूँ।

भाष्यसार—ईश्वर की उपासना—मनुष्य अन्यों को इस प्रकार उपदेश करें कि हे मनुष्य! तेरा पिता या आचार्य जिस जगदीश्वर का प्रथम आह्वान करते हैं, अर्थात् जिसकी उपासना तुम्हारे पूर्वज करते रहे हैं, कर रहे हैं और करेंगे उसकी तुम नित्य उपासना करो। वह ईश्वर सनातन अर्थात् अनादि कारण प्रकृति एवं सबके निवास के निमित्त आकाशरूप कारण से अनेक प्रकार के कार्यों (पदार्थों) को उत्पन्न करता है और उनका ज्ञाता है।

सभाध्यक्ष—सब मनुष्य सब जगत् के नेता सभाध्यक्ष और सेनाध्यक्ष की अपने पूर्वजों के समान यथावत् स्तुति करें और प्रार्थना से निवास आदि अभीष्ट वस्तु प्राप्त करें॥ २९॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"प्राचीन स्वर्ग नामक स्थान से बहुत यजमानों की ओर जाने वाले इस इन्द्र पुरुष को क्रम से कर्मों में मैं बुलाता हूँ, जिसको हमारे पिता पहले कर्मों के करने के समय बुलाते थे।"

इस मन्त्र के सायण-भाष्य से तो स्पष्ट हो गया है कि उनकी पौराणिक कल्पना ही मन्त्रार्थ करने का मूल आधार है। यज्ञ में आह्वान करने पर इन्द्र स्वर्गनामक प्राचीन स्थान से यजमानों के पास आता है, यह सायण की व्याख्या मन्त्रार्थ से असंगत तथा कल्पनामय ही है। मन्त्र में स्वर्ग पद अथवा

---

१. प्रत्नस्य पुरातनस्य ओकसः स्थानस्य स्वर्गरूपस्य सकाशात् तुविप्रतिं बहून् यजमानान् प्रति गन्तारं नरं पुरुषम् इन्द्रम् अनु हुवे अनुक्रमेण कर्मसु आह्वयामि। यं ते त्वाम् इन्द्रं पिता अस्मदीयो जनकः पूर्वं पुरा स्वकीयानुष्ठानकाले हुवे आहूतवान्। तम् आह्वयामीति पूर्वत्रान्वयः॥ (सायणः)

उसका वाचक कोई भी पद पठित नहीं है। मन्त्र में 'ओकसः' पद है। जिसका व्याकरणादि के अनुसार यह अर्थ होता है—

रक्षणार्थक-अवधातोरौणादिकः कक्-प्रत्ययः।
उच समवाये धातोर्वा असुन् प्रत्ययः।
ओक इति निवासनामोच्यते। (नि० ३। ३)
गृहा वा ओकाः। (निरु० ८। २६)

इसके अनुसार जहाँ रक्षा होती है, ऐसे निवासस्थान को 'ओकः' कहते हैं। अथवा जो हमसे नित्य सम्बद्ध है। महर्षि ने यहाँ इस पद का अर्थ 'आकाश' किया है। क्योंकि वह सबके निवास का हेतु है। और सब से सम्बद्ध भी है। सायण की व्याख्या में यह दोष भी है कि प्रथम तो स्वर्ग कोई स्थान-विशेष नहीं है और फिर वह पुराना स्थान कैसे हो सकता है? क्या परमेश्वर ने स्वर्ग को प्रथम तथा उसके बाद दूसरे लोकों को बनाया? इस सायण की कल्पना में प्रत्यक्षविरोध के साथ कोई प्रमाण भी नहीं। और मन्त्रोक्त 'तुविम्' पद बहुतों का वाचक है, उसका 'यजमानों' अर्थ करना भी पूर्वाग्रहवश कल्पना ही है। महर्षि ने प्रत्नस्यौकसः=अनादिकारण प्रकृति अर्थ भी किया है। उस प्रकृति के कार्यों के प्रतिमाता=ज्ञाता परमेश्वर की सब उपासना करते हैं, उसी की उपासना करनी चाहिए। ऐसे सत्य तथा संगत अर्थ को सायण ने न समझकर कल्पनाओं के आश्रय से अर्थ किया, यह बहुत ही आश्चर्यजनक है। स्कन्दस्वामी ने 'प्रत्नस्यौकसः' का अर्थ और भी विलक्षण किया है। उनका कथन है कि यहाँ कर्म-प्रवचनीय के योग में द्वितीया विभक्ति के स्थान में षष्ठी विभक्ति है। इसका अर्थ 'पुराना निवासस्थान' है, जिसका अभिप्राय 'सोम' है। यह कितनी क्लिष्टकल्पना है और खींचातानी से किया गया अर्थ है। 'पुराना निवासस्थान' का अर्थ 'सोम' कैसे हो सकता है। ये पूर्वाग्रहवश पदों के मिथ्यार्थ नहीं तो क्या है? ॥ ६ ॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **इन्द्रः** (ईश्वरः) देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

अथोक्तस्येश्वरस्य प्रार्थनाविषय उपदिश्यते॥

अब उक्त ईश्वर की प्रार्थना-विषय का उपदेश किया जाता है॥

तं त्वा वयं विश्ववारा शास्महे पुरुहूत। सखे वसो जरितृभ्यः॥ १०॥

तं। त्वा। वयम्। विश्वऽवार। आ। शास्महे। पुरुऽहूत। सखे। वसो इति। जरितृऽभ्यः॥१०॥

पदार्थः— (तम्) पूर्वोक्तम् परमेश्वरं (त्वा) त्वाम् (वयम्) उपासनामभीप्सवः (विश्ववार) विश्वं वृणीते=संभाजयति तत्सम्बुद्धौ (आ) समन्तात् (शास्महे) इच्छामः (पुरुहूत) पुरुभिर्बहुभिराहूयते=स्तूयते यस्तत् संबुद्धौ (सखे) मित्र (वसो) वसन्ति सर्वाणि भूतानि यस्मिन् यो वा सर्वेषु भूतेषु वसति तत्संबुद्धौ (जरितृभ्यः) स्तावकेभ्यो धार्मिकेभ्यो विद्वद्भ्यो मनुष्येभ्यः॥ १०॥

अन्वयः—हे विश्ववार पुरुहूत वसो सखे जगदीश्वर पूर्वप्रतिपादित [तं] त्वां वयं जरितृभ्य आशास्महे भवद्विज्ञानप्रकाशमिच्छाम इति यावत्॥ १०॥

सपदार्थान्वयः—हे विश्ववार विश्वं वृणीते=संभाजयति तत्सम्बुद्धौ पुरुहूत पुरुभिर्बहुभियिता (पुरुहूत) बहुत जनों से स्तुति करने योग्य

भाषार्थ—हे (विश्ववार) विश्व के रच-

राहूयते=स्तूयते यस्तत् सम्बुद्धौ **वसो** वसन्ति सर्वाणि भूतानि यस्मिन् यो वा सर्वेषु भूतेषु वसति तत्सम्बुद्धौ **सखे**! मित्र **जगदीश्वर**! **[तं] पूर्वप्रतिपादितं [त्वा]**=त्वां परमेश्वरं **वयम्** उपासनामभीप्सवः **जरितृभ्यः** स्तावकेभ्यो=धार्मिकेभ्यो-विद्वद्भ्यो मनुष्येभ्यः **आशास्महे=भवद्विज्ञानप्रकाशमिच्छाम** समन्तादिच्छामः॥ १०॥

भावार्थः—मनुष्यैर्विदुषां संगमेनैवास्य सर्वरचकस्य सर्वपूज्यस्य सर्वमित्रस्य सर्वाधारस्य पूर्वमन्त्रप्रतिपादितस्य परमेश्वरस्य विज्ञानमुपासनं नित्यमेष्टव्यम्, कुतो नैव विदुषामुपदेशेन विना कस्यापि यथार्थतया विज्ञानं भवितुमर्हतीति॥ १०॥

(**वसो**) जिसमें सब भूत वास करते हैं या जो सब भूतों में वास करने वाला (**सखे**) मित्र जगदीश्वर! **[तम्]** उस पूर्वोक्त [**त्वा**] आपको (**वयम्**) उपासना के इच्छुक हम (**जरितृभ्यः**) धार्मिक विद्वान् मनुष्यों के लिये सब ओर से चाहते हैं, आपके विज्ञान-प्रकाश की कामना करते हैं॥ १०॥

भावार्थ—सब मनुष्य विद्वानों के संगम से ही इस सबके रचक, सबसे पूज्य, सबके मित्र, सर्वाधार, पूर्व मन्त्र में प्रतिपादित परमेश्वर के विज्ञान और उपासना की नित्य कामना करें, क्योंकि विद्वानों के उपदेश के विना किसी को भी यथार्थ विज्ञान नहीं हो सकता॥ १०॥

भाष्यसार—**ईश्वर-प्रार्थना**—हे विश्व के रचयिता, बहुत जनों से स्तुति करने योग्य एवं सबके पूज्य, वसु अर्थात् सब भूतों के निवास-स्थान और सब भूतों में स्वयं वास करने वाले, सबके मित्र जगदीश्वर! उपासना के इच्छुक हम लोग आपको धार्मिक विद्वान् मनुष्यों के लिये सब ओर से चाहते हैं, आपके विज्ञान और उपासना की नित्य एषणा करते हैं॥ १०॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे सबसे स्वीकार करने योग्य, बहुतों से अपने-अपने कर्मों में बुलाए जाने वाले, मित्र की भांति प्रिय और निवास के हेतु इन्द्र! हम पूर्वोक्त गुणयुक्त तुम्हारी स्तोताओं पर अनुग्रह करने के लिए प्रार्थना करते हैं।"

इस मन्त्र में इन्द्र की निम्न विशेषताएँ बताई गई हैं—

(१) विश्ववार=विश्व का रचयिता अथवा सबसे स्वीकार करने योग्य है।

(२) पुरुहूत=बहुतों से स्तुति के लिए ग्रहण किया जाता है।

(३) वसो=जिसमें सब प्राणी रहते हैं अथवा जो सब प्राणियों में रहता है। अथवा जो सबका निवास हेतु है।

(४) सखे=सब जीवों का साथी अथवा मित्रवत् प्रिय है।

ऐसे गुणयुक्त इन्द्र से मन्त्र में प्रार्थना की गई है। यद्यपि सायण ने यहां 'इन्द्र' की कोई व्याख्या नहीं की है। किन्तु नवम मन्त्र में इन्द्र को स्वर्ग से आने वाला सायण ने लिखकर अपने हृदय की मान्यता को स्पष्ट कर दिया है। मन्त्र में इन्द्र की जो विशेषाएँ कही हैं, उनकी स्वर्गस्थ इन्द्र देव-विशेष के साथ कोई संगति न होने से सायण की व्याख्या सत्य नहीं है। महर्षि ने यहाँ 'इन्द्र' का अर्थ परमेश्वर किया है। परमेश्वर के साथ मन्त्रोक्त विशेषताओं की पूर्णतः संगति है। वह परमेश्वर ही सब जीवों से स्तुति करने योग्य तथा उपासनीय है। वह ही हम सब का शाश्वत सखा मित्र है, सदा हितचिन्तक तथा प्रार्थनीय है। उसको छोड़कर उससे भिन्न कल्पित देवों की उपासना की उड़ान में मानव जीवन को निरर्थक करना है। ऐसे देवों की स्तुति से सुखों की इच्छा रखना वन्ध्यापुत्र की भांति सर्वथा असम्भव ही है॥ १०॥ ●

---

१. हे विश्ववार सर्वैर्वरणीय पुरुहूत बहुभिः स्वस्वकर्मण्याहूत सखे सखिवत् प्रिय वसो निवासहेतो इन्द्र! तं पूर्वोक्तगुणयुक्तं त्वां जरितृभ्यः स्तोतॄणामनुग्रहार्थम् आशास्महे प्रार्थयामहे॥ (सायणः)

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः । **इन्द्रः (सभासेनाध्यक्षः)** देवता । पादनिचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनः सभासेनाध्यक्षप्राप्तीच्छाकरणमुपदिश्यते ॥

फिर सभाध्यक्ष और सेनाध्यक्ष की प्राप्ति की इच्छा करने का उपदेश किया जाता है ॥

अस्माकं शिप्रिणीनां सोमपाः सोमपाव्नाम् । सखे वज्रिन्त्सखीनाम् ॥ ११ ॥

अस्माकम् । शिप्रिणीनाम् । सोमऽपाः । सोमऽपाव्नाम् । सखे । वज्रिन् । सखीनाम् ॥ ११ ॥

पदार्थः—(**अस्माकम्**) विदुषां सकाशाद् गृहीतोपदेशानाम् (**शिप्रिणीनाम्**) शिप्रे=ऐहिकपारमार्थिकव्यवहारज्ञाने विद्येते यासां ता विदुष्यः स्त्रियस्तासाम् । **शिप्रे इति पदनामसु पठितम् ।** निघं० ४ । ३ । अनेनात्र ज्ञानार्थो गृह्यते । (**सोमपाः**) सोमान्=उत्पादितान् कार्याख्यान् पदार्थान् पाति=रक्षति तत्संम्बुद्धौ (**सोमपाव्नाम्**) सोमानां पावना=रक्षकास्तेषाम् (**सखे**) सर्वसुखप्रद (**वज्रिन्**) वज्रोऽविद्यानिवारकः प्रशस्तो बोधो विद्यते यस्य तत्संबुद्धौ । **अत्र वजेर्गत्यर्थाज्ज्ञानार्थे** रक्, ततः प्रशंसायां मतुबर्थे 'इनिः' प्रत्ययः (**सखीनाम्**) सर्वमित्राणां पुरुषाणां सखीनां स्त्रीणां वा ॥ ११ ॥

प्रमाणार्थ—(**शिप्रिणीनाम्**) 'शिप्रे' यह पद निघण्टु (४ । ३) में पद-नामों में पढ़ा है। पद के अर्थ—ज्ञान, गमन और प्राप्ति हैं। यहां ज्ञान अर्थ का ग्रहण है। (**वज्रिन्**) यहां गत्यर्थक 'व्रज' धातु से ज्ञान अर्थ में, रक् प्रत्यय है, और उससे प्रशंसा में मतुप् अर्थ में इनि-प्रत्यय है। गति के अर्थ ज्ञान, गमन, और प्राप्ति हैं, अतः यहां ज्ञान अर्थ का ग्रहण है ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे सोमपा वज्रिन् सखे सोमपाव्नां सखीनामस्माकं सखीनां शिप्रिणीनां स्त्रीणां च सर्वप्रधानं त्वा त्वां वयमाशास्महे प्राप्तुमिच्छामः ॥ ११ ॥

सपदार्थान्वयः— हे **सोमपाः** सोमान्=उत्पादितान् कार्य्याख्यान् पदार्थान् पाति=रक्षति तत्सम्बुद्धौ **वज्रिन्** वज्रोऽविद्यानिवारकः, प्रशस्तो बोधो विद्यते यस्य तत्सम्बुद्धौ **सखे** ! सर्वसुखप्रद ! **सोमपाव्नां** सोमानां पावना=रक्षकास्तेषां **सखीनां** सर्वमित्राणां पुरुषाणां सखीनां स्त्रीणां वा **शिप्रिणीनां** शिप्रे=ऐहिकपारमार्थिकव्यवहारज्ञाने विद्येते यासां ता विदुष्यः स्त्रियस्तासां **स्त्रीणां च सर्वप्रधानं त्वा=त्वां वयमाशास्महे=प्राप्तुमिच्छामः ॥ ११ ॥**

भाषार्थ—हे (**सोमपाः**) उत्पन्न किये हुये कार्य पदार्थों के रक्षक (**वज्रिन्**) अविद्या के निवारक एवं प्रशस्त ज्ञानवाले (**सखे**) सब सुखों के दाता सभाध्यक्ष और सेनाध्यक्ष ! (**सोमपाव्नाम्**) उत्पन्न पदार्थों की रक्षा करने वाले (**सखीनाम्**) सबके मित्र पुरुषों और सखी स्त्रियों और (**अस्माकम्**) हमारी (**शिप्रिणीनाम्**) ऐहिक तथा पारमार्थिक व्यवहार-ज्ञान वाली स्त्रियों में सर्वप्रधान (**त्वा**) आप को हम (**आशास्महे**) प्राप्त करना चाहते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थः—पूर्वस्मान्मन्त्रात् (**त्वा**) (**वयम्**) (**आ**) (**शास्महे**) इति पदचतुष्टयाऽनुवृत्तिः । सर्वैः पुरुषैः सर्वाभिः स्त्रीभिश्च परस्परं मित्रतामासाद्य परमेश्वरोपासनाऽऽर्य्यराजविद्या धर्मसभा सर्वव्यवहारसिद्धिश्च प्रयत्नेन सदैव संपादनीया ॥

भावार्थ—पहले मन्त्र से त्वा, वयम्, आ, शास्महे इन चार पदों की अनुवृत्ति है। सब पुरुष और सब स्त्री परस्पर मित्रता करके, परमेश्वर की उपासना, आर्यराज-विद्या, धर्मसभा, और सब व्यवहारों की सिद्धि प्रयत्न से सदा सम्पादन करें ॥

भाष्यसार—**सभाध्यक्ष और सेनाध्यक्ष को प्राप्त करने की इच्छा**—सभाध्यक्ष और

सेनाध्यक्ष उत्पन्न किये हुये सब पदार्थों का रक्षक हो। वह अविद्या का निवारक, प्रशस्त ज्ञानवाला और सब सुखों का दाता हो। वह उत्पन्न पदार्थों की रक्षा करने वाले सब के मित्र पुरुषों और सखी विदुषी स्त्रियों में सर्वप्रधान हो। ऐसे सभाध्यक्ष और सेनाध्यक्ष को सब प्राप्त करने की इच्छा करें।

समीक्षा—इस मन्त्र का सायणभाष्य[1] इस प्रकार है—"हे सोम का पान करने वाले, मित्र की भांति प्रिय, तथा वज्र को धारण करने वाले इन्द्र! मित्र की भांति प्रिय, सोमरस पीने वाले हमारे यहां लम्बी-लम्बी दाढ़ी अथवा नाक वाले गायों के समूह तुम्हारी कृपा से हों।"

इस मन्त्र में इन्द्र के विषय में कहा है कि वह सोमपाः=उत्पन्न पदार्थों की रक्षा करता है। जिसका अर्थ सायण ने सोमरस पीने वाला करके असंगत अर्थ किया है। वह इन्द्र वज्रिन्=अविद्या-निवारक प्रशस्त ज्ञानवाला है। जिसका अर्थ सायण ने वज्र-नामक शस्त्र को धारण करने वाला किया है। वह इन्द्र सखे=मित्र की भांति सुखों का देने वाला है। इन विशेषताओं की संगति सायण के कल्पित इन्द्र के साथ तो कथमपि नहीं होती। क्योंकि न तो स्वर्ग कोई लोकविशेष है और नहीं वहाँ का कोई राजा शरीरधारी-इन्द्र है। और यदि होता तो वज्रादि धारण किए हुए तथा रथारूढ़ इन्द्र आंखों से अवश्य दिखाई देता। यथार्थ में सायण ने प्राचीन ऋषि-मुनियों की शास्त्रीय वेदार्थ शैलि का परित्याग करके अपनी कल्पनाओं का बलात् मिश्रण करने का दुस्साहस मात्र किया है। निरुक्तादि के अनुसार वैदिक नाम पद आख्यातज (यौगिक) होते हैं। अतः उनके रूढ़ अर्थ करना ही शास्त्रविरुद्ध है।

और सायण की व्याख्या का विरोध देखिए—शुनःशेप ऋषि पाशबद्ध गड्ढे में पड़ा है, वह अपने बन्धन से मुक्ति की प्रार्थना करे तो सङ्गत होता। किन्तु वह गायों की प्रार्थना क्यों करे? इस सूक्त के किसी भी मन्त्र में बन्धन से मुक्ति की प्रार्थना नहीं की गई है। सायण भी उसे दिखाने में सर्वथा ही असमर्थ रहे हैं। फिर शुनशेप की प्रार्थना मानना स्वव्याख्याविरोध तथा असङ्गत ही है।

सायण ने 'शिप्रिणीनाम्' पद की व्याख्या तो भ्रान्तिवश बहुत ही असंगत की है। सायणकृत 'गाएँ' के अर्थ में सायण ने न तो कोई प्रमाण दिया है और न प्रकरण को ही देखा है। स्वर्गस्थ इन्द्र की कृपा से गायों की याचना करना भी बहुत ही असम्बद्ध प्रलाप मात्र ही है। गाएँ तो आजकल भी हैं, किन्तु इन्द्र को गाएँ देते हुए किसी ने कदापि नहीं देखा। और वे गाएँ भी कैसी हों? जो बड़ी-बड़ी दाढ़ी वाली और बड़ी नासिका वाली। गायों की बड़ी-बड़ी दाढ़ियां सायण ने स्वप्न में ही देखी होंगी? आजकल तो गायों की दाढ़ियाँ कहीं भी नहीं होतीं। और गायों की लम्बी नासिका भी देखने में नहीं आती। स्कन्दस्वामी ने हनू और नासिका से मुक्त मनुष्यों को माना है। किन्तु हमारे इन अङ्गों को स्वर्ग का राजा इन्द्र न तो कभी बनाता और नहीं देता। ये तो ईश्वर की रचनाएँ हैं। वेंकटमाधव ने 'शिप्रा' नामक कोई सोमपान का साधन माना है। किन्तु इनकी व्याख्याएँ प्रमाणहीन तथा प्रकरण से विरुद्ध हैं। महर्षि ने निघण्टु का प्रमाण देकर इस पद की बहुत ही सुसङ्गत व्याख्या 'विदुषी-स्त्रियां' की है। हम सभाध्यक्षादि की व्यवस्था से शिक्षा का प्रबन्ध कराकर विदुषी स्त्रियों को प्राप्त कर सकते हैं, जिनसे लौकिक तथा पारमार्थिक व्यवहारों तथा सुखों की सिद्धि होती है॥ ११॥ ●

---

१. हे सोमपाः सोमस्य प्रातः सखे सखिवत् प्रिय वज्रिन् वज्रयुक्तेन्द्र! सखीनां सखिवत् प्रियाणां सोमपावनां सोमस्य पातॄणाम् अस्माकं शिप्रिणीनां दीर्घाभ्यां हनूभ्यां नासिकाभ्यां वा युक्तानां गवां समूहः त्वत्प्रसादस्त्विति शेषः॥ (सायणः)

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः । **इन्द्रः (सभाध्यक्षः)** देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथ सभाध्यक्षाय किं किमुपदेशनीयमित्युपदिश्यते ॥

अब सभाध्यक्ष के लिये क्या-क्या उपदेश करना चाहिये यह उपदेश किया जाता है ॥

तथा॒ तद॑स्तु सोमपाः सखे॑ वज्रिन् तथा॑ कृणु । यथा॑ त उ॒श्मसी॒ष्टये॑ ॥ १२ ॥

तथा॑ । तत् । अ॒स्तु । सो॒म॒पाः॒ । सखे॑ । व॒ज्रि॒न् । तथा॑ । कृ॒णु॒ । यथा॑ । ते॒ । उ॒श्मसि॑ । इ॒ष्टये॑ ॥ १२ ॥

पदार्थः—(**तथा**) तेन प्रकारेण (**तत्**) मित्राचरणम् (**अस्तु**) भवतु (**सोमपाः**) यः सोमैर्जगत्युत्पन्नैः पदार्थैः सर्वान् पाति=रक्षति तत्संबुद्धौ (**सखे**) सर्वेषां सुखदातः (**वज्रिन्**) वज्रः=सर्वदुःखनाशनो बहुविधो दृढो बोधो यस्यास्तीति तत्संबुद्धौ । अत्र **भूम्न्यर्थे इनिः** । (**तथा**) प्रकारार्थे (**कृणु**) कुरु (**यथा**) येन प्रकारेण (**ते**) तव (**उश्मसि**) कामयामहे । अत्र **इदन्तोमसि** इति मसिरादेशः । (**इष्टये**) इष्टसुखसिद्धये ॥ १२ ॥

प्रमाणार्थ—(**वज्रिन्**) यहाँ भूमा अर्थ में 'इनि' प्रत्यय है । (**उश्मसि**) यहां 'इदन्तोमसि' (अ० ७ । १ । ४६) इस सूत्र से 'मसि' आदेश है ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे सोमपा वज्रिन्सखे सभाध्यक्ष यथा वयमिष्टये ते तवाऽनुकूलं यन्मित्राचरणं कर्त्तुमुश्मसि कामयामहे कुर्म्मश्च तथा तदस्तु तथा तत् त्वमपि कृणु-कुरु ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः— हे **सोमपाः** यः सोमैर्जगत्युत्पन्नैः पदार्थैः सर्वान् पाति=रक्षति तत्सम्बुद्धौ **वज्रिन्** वज्रः=सर्वदुःखनाशनो बहुविधो दृढो बोधो यस्यास्तीति तत्सम्बुद्धौ **सखे** ! सर्वेषां सुखदातः **सभाध्यक्ष** ! **यथा** येन प्रकारेण **वयमिष्टये** इष्टसुखसिद्धये **ते=तवानुकूलं यन्मित्राचरणं कर्त्तुमुश्मसि कामयामहे कुर्म्मश्च तथा** तेन प्रकारेण **तत्** मित्राचरणम् **अस्तु** भवतु, **तथा** तेन प्रकारेण **तत्** मित्राचरणं **त्वमपि कृणु=कुरु** ॥ १२ ॥

भावार्थः—यथा सर्वेषां हितैषी सकलविद्यान्वितः सभासेनाध्यक्षः प्रजाः सततं रक्षेत् तथैव प्रजासेनास्थैरपि मनुष्यैस्तदवनं सदा संभावनीयमिति

भाषार्थ—हे (**सोमपाः**) जगत् में उत्पन्न पदार्थों से सबकी रक्षा करने वाले (**वज्रिन्**) सब दुःखों के नाशक बहुत प्रकार के दृढ़ ज्ञान वाले (**सखे**) सबके सुखदाता सभाध्यक्ष ! (**यथा**) जैसे हम (**इष्टये**) अभीष्ट सुख की सिद्धि के लिये (**ते**) आपके अनुकूल मित्राचरण करना (**उश्मसि**) चाहते हैं, और करते हैं (**तथा**) वैसा (**तत्**) वह मित्राचरण (**अस्तु**) सिद्ध हो, (**तथा**) उस प्रकार (**तत्**) उस मित्राचरण को आप भी (**कृणु**) करो ॥ १२ ॥

भावार्थ—जैसे सबका हितैषी सकल विद्यायुक्त, सभा और सेना का अध्यक्ष प्रजा की निरन्तर रक्षा करे, वैसे ही, प्रजा और सेना के मनुष्य भी उसकी रक्षा सदा करें ॥ १२ ॥

भाष्यसार—सभाध्यक्ष के लिये उपदेश—सभाध्यक्ष जगत् में उत्पन्न पदार्थों से सबकी रक्षा करने वाला हो । वह सब दुःखों के नाशक बहुत प्रकार के दृढ़ ज्ञान वाला हो जैसे मनुष्य अभीष्ट सुख की सिद्धि के लिये उसके अनुकूल मित्राचरण करना चाहते हैं, वैसे सभाध्यक्ष भी उनके प्रति मित्राचरण करे ॥ १२ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे सोमरस पीने वाले, मित्र और वज्र-

१. हे सोमपाः सखे वज्रिन् इष्टये अभिलषितार्थं ते तव अनुग्रहं यथा येन प्रकारेण उश्मसि वयं कामयामहे त्वं तथा कुरु । त्वत्प्रसादात् तत् अभीष्टं तथा अस्तु ॥ (सायणः)

धारी इन्द्र ! हम इष्टप्राप्ति के लिए तुम्हारी कृपा की जैसे कामना कर रहे हैं, आप वैसा करो अर्थात् तुम्हारी कृपा से हमारा अभीष्ट सिद्ध हो।"

इस मन्त्र में भी इन्द्र के लिए 'वज्रिन्' विशेषण पढ़ा है। जिसका अर्थ सायण ने 'वज्र' नामक शस्त्र को धारण करने वाला माना है। यह उनकी कल्पना मात्र ही है। स्वर्ग व स्वर्गस्थ देवों के राजा इन्द्र की भांति ही इन्द्र के शस्त्र वज्र की कल्पना मिथ्या ही है। 'वज्र' पद का प्राचीन शास्त्रों में अर्थ इस प्रकार किया गया है—

१. वज्रः=वर्जयतीति सतः। (नि० ३। ११)
अर्थात् जो दुःखादि से छुड़ाता है।

२. संवत्सरो हि वज्रः। श० ३। ४। ४। १५॥
वीर्यं वज्रः। श० १। ३। ५। ७॥
वाग् हि वज्रः। ऐ० ४। १॥
वज्रो वा आपः। श० १। १। १। १७॥
वज्रो वै रथः। तै० १। ३। ६। १॥

इत्यादि स्थलों पर देखने से स्पष्ट होता है कि 'वज्र' के शास्त्रों में विभिन्न अर्थ किए हैं, इन्द्र का शस्त्रविशेष नहीं। अतः अनेकार्थ 'वज्र' पद का प्रकरण-संगत ही अर्थ करना चाहिए।

और इष्ट-सुखों की प्राप्ति ईश्वर की कृपा से अथवा धार्मिक न्यायकारी सभाध्यक्ष की कृपा से होती है। स्वर्गस्थ देव-विशेष को न तो हमारे कर्मों का ही बोध है और नहीं प्रार्थनाओं का ही ज्ञान है। फिर इष्ट-सुखों की अभिलाषा करना मरुमरीचिकाओं में जलोपलब्धि की इच्छा की भांति असम्भव ही है। महर्षि की इस मन्त्र की प्रकरणानुकूल व्याख्या द्रष्टव्य है॥ १२॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **इन्द्रः (सभाध्यक्षः)** देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

तस्मिन्कि किं स्थापयित्वा सर्वैः सुखयितव्यमित्युपदिश्यते॥

उस सभाध्यक्ष में क्या-क्या स्थापित करके सब मनुष्य सुखी रहें, यह उपदेश किया जाता है॥

रेवतीर्नः सधमाद इन्द्रे सन्तु तुविवाजाः। क्षुमन्तो याभिर्मदेम॥ १३॥

रेवतीः। नः। सधऽमादे। इन्द्रे। सन्तु। तुविऽवाजाः। क्षुऽमन्तः। याभिः। मदेम॥ १३॥

पदार्थः—(**रेवतीः**) रयिः=शोभा धनं प्रशस्तं विद्यते यासु ताः प्रजाः। अत्र **प्रशंसार्थे मतुप्। रयेर्मतौ बहुलम्।** अ० ६। १। ३७। अनेन संप्रसारणम्। **छन्दसीर** इति मस्य वत्वम्। **सुपां सुलग्** इति पूर्वसवर्णादेशश्च। (**नः**) अस्माकम् (**सधमादे**) मादेनानन्देन सह वर्तमाने। अत्र **सधमादस्थयोश्छन्दसि।** अ० ६। ३। ९६। इति सहस्य सधादेशः। (**इन्द्रे**) परमैश्वर्ये (**सन्तु**) भवन्तु (**तुविवाजाः**) तुवि=बहुविधो वाजो=विद्याबोधो यासां ताः (**क्षुमन्तः**) बहुविधं क्ष्वन्नं विद्यते येषां ते। अत्र **भूम्न्यर्थे मतुप्। क्ष्वित्यन्ननामसु पठितम्।** निघं० २। ७। (**याभिः**) प्रजाभिः (**मदेम**) आनन्दं प्राप्नुयाम॥ १३॥

प्रमाणार्थ—(**रेवतीः**) यहाँ प्रशंसा अर्थ में 'मतुप्' प्रत्यय है। 'रयेर्मतौ बहुलम्' (अ० ६। १। ३७) इस सूत्र से सम्प्रसारण है; 'छन्दसीरः' (अ० ८। २। १५) इस सूत्र से 'म' को 'व' और 'सुपां सुलुक्०' (अ० ७। १। ३९) इस सूत्र से पूर्वसवर्ण आदेश है। (**सधमादे**) यहां 'सधमादस्थयो-

श्छन्दसि' (अ० ६। ३। ९६) इस सूत्र से 'सह' के स्थान पर 'सध' आदेश है। (क्षुमन्तः) यहां भूमा अर्थ में 'मतुप्' प्रत्यय है, 'क्षु' यह पद निघण्टु (२। ७) में अन्न-नामों में पढ़ा है॥ १३॥

अन्वयः—यथा क्षुमन्तो वयं याभिः प्रजाभिः सधमादे मदेम [तथा नोऽस्माकं] तुविवाजा-रेवतीः रेवत्यः प्रजा इन्द्रे परमैश्वर्ये नियुक्ताः सन्तु॥ १३॥

सपदार्थान्वयः— यथा क्षुमन्तः बहुविधं क्षन्नं विद्यते येषां ते **वयं याभिः=प्रजाभिः सधमादे** मादेनानन्देन सह वर्त्तमाने **मदेम** आनन्दं प्राप्नुयाम [**तथा नः**] अस्माकं **तुविवाजाः** तुवि=बहुविधो वाजो=विद्याबोधो यासां ताः **रेवतीः=रेवत्यः=प्रजाः** रयिः=शोभाधनं प्रशस्तं विद्यते यासु ताः प्रजाः **इन्द्रे=परमैश्वर्य्ये नियुक्ताः सन्तु** भवन्तु॥ १३॥

भाषार्थ—जैसे (**क्षुमन्तः**) बहुत प्रकार के अन्न वाले हम—(**याभिः**) जिस प्रजा के साथ (**सधमादे**) आनन्द से युक्त स्थान में (**मदेम**) आनन्द को प्राप्त करें [**तथा**] वैसे [**नः**] हमारी (**तुविवाजाः**) बहुत प्रकार के विद्या-बोधवाली (**रेवतीः**) प्रशस्त शोभा और धनवाली प्रजा (**इन्द्रे**) परम ऐश्वर्य में नियुक्त हो॥ १३॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। मनुष्यैः सभासेनाध्यक्षेषु सभासत्सु सर्वाणि राज्य-विद्याधर्मप्रचारकराणि कार्य्याणि संस्थाप्य प्रशस्तं सुखं भोज्यं भोजयितव्यं च वेदाज्ञया समान-विद्यारूपस्वभावानां युवावस्थानां स्त्रीपुरुषाणां परस्परानुमत्या स्वयंवरो विवाहो भवितुं योग्यस्ते खलु गृहकृत्ये परस्परसत्कारे नित्यं प्रयतेरन् सर्वएते परमेश्वरस्योपासने तदाज्ञायां सत्पुरुषसभाज्ञायां च सदा वर्त्तेरन् नैतद्विन्ने व्यवहारे कदाचित् केनचित्पुरुषेण कयाचित् स्त्रिया च क्षणमपि स्थातुं योग्यमस्तीति॥ १३॥

भावार्थ—यहां वाचकलुप्तोपमा अलङ्कार है। सब मनुष्य—सभाध्यक्ष और सेनाध्यक्ष सहित सभासदों में, सब राज्य, विद्या, और धर्म का प्रचार करने वाले कार्यों को स्थापित करके, उत्तम सुख का भोग करें, और भोग करावें। वेद की आज्ञा से समान विद्या, रूप, स्वभाव वाले, युवा-अवस्था के स्त्री-पुरुषों की परस्पर अनुमति से स्वयंवर विवाह होने योग्य है। वे गृह-कार्यों और परस्पर सत्कार में नित्य प्रयत्न करें। ये सब परमेश्वर की उपासना, आज्ञा और सत्पुरुषों की सभा की आज्ञा के अनुसार वर्ताव करें। इससे भिन्न व्यवहार में कभी किसी पुरुष और किसी स्त्री को क्षण भर भी रहना योग्य नहीं है॥ १३॥

भाष्यसार—सभाध्यक्ष में क्या-क्या स्थापित करके सब सुखी रहें—जैसे बहुत प्रकार के अन्न, पान करने वाले सभाध्यक्ष आदि प्रजा के साथ आनन्ददायक स्थान में आनन्द को प्राप्त करते हैं वैसे बहुत प्रकार के विद्या-बोध से युक्त, प्रशस्त शोभा और धन वाली प्रजा परम ऐश्वर्य में नियुक्त हो, उसे प्राप्त करे। वह राज्य विद्या और धर्म प्रचार के कार्यों को सभाध्यक्ष में स्थापित करे और प्रशस्त सुख का सेवन करे॥ १३॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"अन्न वाले हम जिन गायों के साथ हर्षित होवें, इन्द्र के हमारे साथ हर्षयुक्त होने पर हमारी वे गायें दूध, घृतादि धनवाली और पर्याप्त बल-सम्पन्न होवें।"

---

१. क्षुमन्तः अन्नवन्तो वयं याभिः गोभिः सह मदेम हृष्येम इन्द्रे सधमादे अस्माभिः सह हर्षयुक्ते सति नः अस्माकं ता गावः रेवतीः क्षीराज्यादिधनवत्यः तुविवाजाः प्रभूतबलाश्च सन्तु॥ (सायणः)

आचार्य-सायण के भाष्य के अनुसार इन्द्र देव-विशेष गायों को देने वाला तथा उनके दूधादि को बढाने वाला है। गायादि पशु परमेश्वर की सृष्टि है, वह ही सब का पालन-पोषण करता है। उससे भिन्न स्वर्गस्थ इन्द्र की कल्पना प्रमाणहीन तथा निराधार है। गायादि पशु तो अब भी होते हैं। क्या अब इन्द्र-देवता सोमरस न मिलने से रुष्ट हो गया है, कि जो अब दूध, घृतादि नहीं बढ़ाता। महर्षि दयानन्द ने इन्द्र का अर्थ 'सभाध्यक्ष' किया है। और 'रेवतीः' पद का अर्थ 'प्रजाः' किया है। मन्त्र में 'सधमादे मदेम=अर्थात् साथ-साथ आनन्द से रहने का कथन है। राजा के साथ प्रजा और प्रजा के साथ राजा का साथ-साथ रहना तो ठीक भी है। स्वर्ग में निवास करने वाला सायण का कल्पित इन्द्र हमारे साथ कैसे और कहाँ रह सकता है? अतः सायण की कल्पना मूल मन्त्र से विपरीत होने से मिथ्या है। जब प्रजाएँ तुविवाजाः--बहुत प्रकार के धनधान्य से समृद्ध तथा विद्यादि सद्गुणों से विभूषित होती हैं, तो राजा व प्रजा के आनन्द में उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती है। राजा (इन्द्र) का यह परम-धर्म है कि वह प्रजा के धन-धान्य की वृद्धि का ध्यान सदा रक्खे और प्रजा के साथ सुख में सुखी और दुःख में दुःखी रहे। और प्रजाएँ भी रेवतीः=प्रशस्त धनवाली हों। अधर्म अथवा चोरी आदि बुरे कर्मों से धन का अर्जन करने वाला कोई भी राज्य में न हो॥ १३॥

आजीगर्त्तिःशुनःशेप ऋषिः। **इन्द्रः** (सभाध्यक्षः) देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते॥

फिर वह सभाध्यक्ष कैसा है, यह उपदेश किया जाता है॥

आ घ त्वावान्त्मनाप्तः स्तोतृभ्यो धृष्णवियानः। ऋणोरक्षं न चक्र्योः॥ १४॥

आ। घ। त्वाऽवान्। त्मना। आप्तः। स्तोतृऽभ्यः। धृष्णो इति। इयानः। ऋणोः। अक्षम्। न। चक्र्योः॥ १४॥

पदार्थः—(**आ**) अभ्यर्थे (**घ**) एव (**त्वावान्**) त्वादृशः। अत्र **वतुप्प्रकरणे युष्मदस्मद्भ्यां छन्दसि सादृश्य उपसंख्यानम्।** अ० ५। २। ३९। इति सादृश्यार्थे वतुप्। (**त्मना**) आत्मना। **मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः।** अ० ६। ४। १४१। इत्याकारलोपः (**आप्तः**) सर्वविद्यादिसद्गुणव्याप्तः सत्योपदेष्टा (**स्तोतृभ्यः**) स्तावकेभ्यो जनेभ्यः। **गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि।** अ० २। ३। १२। इति चतुर्थी [**धृष्णो**] (**इयानः**) सर्वाभीष्टाभिज्ञाता। अत्रेङ्गतावित्यस्मात्। **छन्दसि लिट्।** अ० ३। २। १०५। इति लिट्। **लिटः कानज्वा।** अ० ३। २। १०६। इति कानच्। (**ऋणोः**) प्राप्नोसि। अत्र **लडर्थे लङ्। बहुलं छन्दसि०** इत्यडभावश्च। (**अक्षम्**) धूः (**न**) इव (**चक्र्योः**) रथाङ्गयोः। अत्र कृञ्-धातोः **आदृगमहनजनः०।** अ० ३। २। १७१ इति किप्रत्ययः॥ १४॥

प्रमाणार्थ—(**त्वावान्**) यहां 'वतुप्प्रकरणे युष्मदस्मद्भ्यां छन्दसि सादृश्य उपसंख्यानम्' (अ० ५। २। ३९) इस वार्तिक सूत्र से सादृश्य अर्थ में 'वतुप्' प्रत्यय है। (**त्मना**) यहां 'मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः' (अ० ६। ४। १४१) इस सूत्र से 'आ' का लोप है। (**स्तोतृभ्यः**) यहां गत्यर्थ कर्मणि द्वितीया चतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि' (अ० २। ३। १२) इस सूत्र से चतुर्थी विभक्ति है। (**इयानः**) यहां गति अर्थ वाली 'ईङ्' धातु से 'छन्दसि लिट्' (अ० ३। २। १०५) इस सूत्र से लिट् लकार, 'लिटः कनज्वा' (अ० ३। २। १०६) इस सूत्र से 'कानच् आदेश है। (**ऋणोः**) यहां लट् लकार के अर्थ में 'लङ्' लकार और 'बहुलं छन्दसि०' (अ० ६। ४। ७५) इस सूत्र से अट् आगम का अभाव है। (**चक्र्योः**) यहां 'कृञ्' धातु से 'आदृगमहनजनः' (अ० ३। २। १७१) इस सूत्र से 'कि' प्रत्यय है॥ १४॥

अन्वयः—हे धृष्णो अति प्रगल्भ सभाध्यक्ष त्मनाप्त इयानस्त्वावान् त्वं घ—त्वमेवासि यस्त्वं चक्रयोरक्षं न—इव स्तोतृभ्यः स्तावकेभ्य आ ऋणोः स्तावकान् आप्नोषीति यावत् ॥ १४ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **धृष्णो**=अति-प्रगल्भसभाध्यक्ष ! **त्मना** आत्मना **आप्तः** सर्वविद्यादिसद्गुणव्याप्त. सत्योपदेष्टा **इयानः** सर्वाभीष्टाभिज्ञाता **त्वावान्** त्वादृशः **त्वं घ**=त्वमेवासि, **यस्त्वं चक्रयोः** रथाङ्गयोः **अक्षं धूः न**=इव **स्तोतृभ्यः**=स्तावकेभ्यः जनेभ्यः **आ ऋणोः**=स्तावकान् **आप्नोषीति यावत् ॥ १४ ॥**

भाषार्थ—हे (**धृष्णो**) अति चतुर सभाध्यक्ष ! (**त्मना**) आत्मा से (**आप्तः**) सब विद्या आदि सद्गुणों में व्याप्त एवं सत्य के उपदेष्टा (**इयानः**) सब अभीष्ट कर्मों के ज्ञाता (**त्वावान्**) आपके सदृश आप (**घ**) ही हो आप (**चक्रयोः**) रथ के दो चक्रों की (**धूः**) धुरी के (**न**) समान (**स्तोतृभ्यः**) स्तुति करने वाले जनों को (**आ-ऋणोः**) प्राप्त होते हो ॥ १४ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः प्रतीपालङ्कारश्च । यथा चक्रयोर्धूः रथधारिका सती परिभ्रमणेनापि स्वस्मिन्नेव स्थापनी रथस्य देशान्तरप्रापिका भवति, तथैव सकलगुणकर्मस्वभावाभिव्याप्तस्त्वमेतत्सर्वंन्नियच्छसीति ॥ १४ ॥

भावार्थ—यहां उपमा अलंकार और प्रतीप अलंकार हैं । जैसे पहियों की धुरी, रथ को धारण करने वाली होकर घूमने पर भी, अपने में ही ठहरती हुई रथ को देशान्तर में प्राप्त कराने वाली होती है, वैसे ही सकल गुण, कर्म, स्वभावों से अभिव्याप्त तू सभाध्यक्ष इस सब का नियन्त्रण करता है ॥ १४ ॥

भाष्यसार—**सभाध्यक्ष कैसा हो**—अति चतुर सभाध्यक्ष आत्मा से सब विद्या आदि सद्गुणों में तथा उत्तम गुण, कर्म, स्वभाव में व्याप्त हो । वह सत्य का उपदेष्टा और सब अभीष्ट कर्मों का ज्ञाता हो वह अपने सदृश आप ही हो अर्थात् उसके तुल्य कोई न हो । जैसे रथ के चक्रों की धुरी रथ को धारण करने वाली होती है और परिभ्रमण से भी अपने स्वरूप में ही अवस्थित रहती है तथा रथ को देशान्तर में पहुँचाती है, वैसे सभाध्यक्ष अपने स्वरूप में अवस्थित रहता हुआ स्तोता जनों को प्राप्त हो और उन्हें आगे बढ़ावे, उनको उन्नत करे ॥ १४ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे धृष्टता से युक्त इन्द्र ! तेरे जैसा विशेष देवता, जो अनुग्रह करके स्वयं ही प्राप्त हो जाता है, हमारे से प्रार्थना किया जाता हुआ स्तोताओं पर अनुकम्पा करने के लिये उनके अभीष्ट को अवश्य लाकर फेंके । जैसे रथ के चक्रों में अक्ष=धुरी को फेंकते हैं ।"

इस मन्त्र में रथ के चक्रों की धुरी से उपमा दी गई है । उपमेय और उपमान में कुछ तो समानता होनी चाहिए । सायण के भाष्य में रथ-चक्रों में धुरी के फेंकने तथा इन्द्र-देवता के स्तोताओं के लिए अभीष्ट फल के फेंकने में क्या समानता है ? इसका कोई भी स्पष्ट उल्लेख नहीं है । ऐसा लगता है कि सायण ने इन्द्र की कल्पना स्वर्ग में की है, और वह ऊपर से ही स्तोता के अभीष्ट को फेंकता है ।

---

१. हे धृष्णो धाष्टर्ययुक्त इन्द्र त्वावान् त्वत्सदृशो देवताविशेषः त्मनाप्तः त्वदनुग्रहवशात् स्वयमेव आप्तः सन् इयानः अस्माभिर् याच्यमानः स्तोतृभ्यः स्तोतॄणामनुग्रहाय तदभीष्टमर्थं घ अवश्यम् आ ऋणोः आनीय प्रक्षिपतु । तत्र दृष्टान्तः । चक्रयोः रथस्य चक्रयोः अक्षं न । यथा अक्षं प्रक्षिपन्ति तद्वत् ॥ (सायणः)

इसीलिए उन्होंने गत्यर्थक 'ऋण' धातु को प्रक्षिपतु=फेंकना अर्थ किया है। किन्तु यह नहीं विचार किया कि रथ की धुरी के फेंकने से भी कोई तुल्यता है या नहीं ? और धुरी को कौन फेंकता है ?

यथार्थ में यहां फेंकना अर्थ करना असंगत तथा कल्पित अर्थ है। महर्षि ने मूल धात्वर्थ के अनुसार उपमेय-उपमान भाव को समझकर बहुत ही सुसंगत अर्थ किया है। महर्षि के अनुसार जैसे रथ के चक्र की धुरी रथ को देशान्तर में पहुँचाती हुई भी चक्र को धारण तथा नियन्त्रण में रखती है, वैसे इन्द्र=सभाध्यक्ष अतुलनीय गुण, कर्म तथा स्वभाव को प्राप्तकर प्रजा को व्यवस्थित करके नियन्त्रित करता है और प्रजा के उन्नति की ओर अनवरत प्राप्त कराता है। ऐसे शिक्षाप्रद अर्थों को न समझकर सायण ने कल्पितदेव की कल्पना की उड़ान में सारी ही व्याख्या असंगत की है।

इस मन्त्र के पदों के अर्थों में भी सायण ने कल्पना से काम लिया है। 'आप्लृ व्याप्तौ' धातु के 'आप्तः' का अर्थ 'प्राप्त हुआ' करके गत्यर्थक 'इयानः' पद का अर्थ क्या करते ? दोनों को एकार्थक समझकर 'इयानः' पद का 'याच्यमानः' अर्थ कर दिया है। स्वयं सायण ने यहाँ 'ईङ् गतौ' धातु दिखाकर भी धातु से भिन्न अर्थ किया है। ऐसे ही गत्यर्थक 'ऋण' धातु का 'फेंकना' अर्थ किया है। ये सब अर्थ भ्रान्तिवश तथा कल्पना के आग्रह से किए गए हैं। महर्षि की इन पदों की सारगर्भित व्याख्या द्रष्टव्य है। उनके अनुसार इन्द्र=सभाध्यक्ष के गुणों का वर्णन किया गया है कि सभाध्यक्ष आप्त=सत्योपदेष्टा तथा सद्गुणों से व्याप्त हो, इयानः=अभीष्ट कर्मों को जानने वाला हो, त्वावान्=वह अद्वितीय=गुणों में सर्वातिशयित हो। और धृष्णुः=वह प्रशासन के कार्यों में पूर्ण दक्ष भी हो ॥ १४ ॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः । **इन्द्रः** (सभाध्यक्षः) देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तत्सेवनात् किं फलमित्युपदिश्यते ॥

फिर उस सभाध्यक्ष की सेवन से क्या फल होता है, यह उपदेश किया जाता है ॥

आ यद्दुवः शतक्रतवा कामं जरितॄणाम् । ऋणोरक्षं न शचीभिः ॥ १५ ॥

आ । यत् । दुवः । शतक्रतो इति शतऽक्रतो । आ । कामम् । जरितॄणाम् । ऋणोः । अक्षम् । न । शचीभिः ॥ १५ ॥

पदार्थः—(**आ**) समन्तात् (**यत्**) वक्ष्यमाणम् (**दुवः**) परिचरणम् (**शतक्रतो**) शतविधप्रज्ञाकर्मयुक्त सभेश राजन् (**आ**) अभितः पूर्त्यर्थे (**कामम्**) काम्यते यस्तम् । (**जरितॄणाम्**) गुणकर्मस्तावकानाम् (**ऋणोः**) प्रापयसि । अस्यापि सिद्धिः पूर्ववत् (**अक्षम्**) अश्यन्ते=व्याप्यन्ते प्रशस्ता व्यवहारा येन तम् (**न**) इव (**शचीभिः**) कर्मभिः ॥ १५ ॥

अन्वयः—हे शतक्रतो सभापते त्वं जरितृभिः यत् तव दुवः परिचरणं तत् प्राप्य शचीभिः शकटार्हकर्मभिरक्षं न इव तेषां जरितॄणां कामं आऋणोः तदनुकूलं प्रापयसि ॥ १५ ॥

सपदार्थान्वयः— हे **शतक्रतो**=**सभापते** शतविधप्रज्ञाकर्मयुक्तसभेश राजन् ! **त्वं जरितृभिः यत्** वक्षमाणं **तव दुवः**=**परिचरणं तत् प्राप्य शचीभिः**=**शकटार्हकर्मभिरक्षम्** अश्यन्ते=व्याप्यन्ते प्रशस्ता व्यवहारा येन तं

भाषार्थ—हे (**शतक्रतो**) बहुत प्रकार की प्रज्ञा और कर्म से युक्त सभाध्यक्ष राजन् ! आप (**जरितृभिः**) स्तोता-जनों से (**यत्**) जो आपकी (**दुवः**) सेवा की जाती है उसे प्राप्त करके (**शचीभिः**) रथ के योग्य कर्मों से (**अक्षम्**) प्रशस्त

न=इव तेषां जरितॄणां गुणकर्मस्तावकानां [आ] अभितः कामं काम्यते यस्तम् आऋणोः=तदनुकूलं प्रापयसि ॥ १५ ॥

व्यवहारों को व्याप्त करने वाली धुरी के (न) समान उन (जरितॄणाम्) गुण, कर्म के स्तोता जनों की [आ] सब (कामम्) इच्छाओं को (आऋणोः) उनके अनुकूल प्राप्त कराते हो ॥ १५ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः । यथा विद्वत्सेवनं विद्यार्थिनामभीष्टं पूरयति तथा सभास्वामिनो राज्ञः सेवनं धार्मिकाणां जनानां सर्वमभीष्टं प्रापयति, तस्मात्सर्वैर्मनुष्यैः स सेवनीय इति ॥ १५ ॥

भावार्थ—यहां उपमा अलंकार है। जैसे विद्वानों की सेवा विद्यार्थियों का अभीष्ट पूर्ण करती है, वैसे सभा-स्वामी राजा की सेवा, धार्मिक मनुष्यों को सब अभीष्ट प्राप्त कराती है, इसलिए सब मनुष्य उसकी सेवा करें ॥ १५ ॥

भाष्यसार—सभाध्यक्ष की सेवा का फल—बहुत प्रकर की प्रज्ञा और कर्म वाला सभाध्यक्ष स्तोता-जनों से कीहुई सेवा को प्राप्त करे। जैसे रथ की धुरी रथ के योग्य कर्मों को प्राप्त कराती है वैसे सभाध्यक्ष राजा स्तोता-जनों की इच्छाओं को उनके अनुकूल प्राप्त करावे, उनकी आवश्यकताओं को पूरा करे।

जैसे विद्वानों की सेवा से विद्यार्थियों का अभीष्ट पूरा होता है वैसे सभाध्यक्ष की सेवा से धार्मिक-जनों का सब अभीष्ट सिद्ध होता है ॥ १५ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे सैंकड़ों कर्मों से युक्त इन्द्र ! आप जो धन स्तोताओं से प्राप्त करने योग्य है, उसको स्तोताओं पर कृपा करने के लिए आप लाकर फैंकते हो। जैसे शकट=गाड़ी के योग्य विशेष कर्मों से अक्ष=धुरी को फैंकते हैं।"

इस मन्त्र में भी रथ की धुरी से इन्द्र के कर्मों की उपमा दी गई है। सायणकृत व्याख्या में उपमेय-उपमान भाव में कोई समानता न होने से मन्त्रार्थ सारा ही अस्पष्ट है। और इन्द्र का धन लाकर स्तोताओं के लिए फैंकना अर्थ भी ईश्वरीय व्यवस्था से विरुद्ध है। यथार्थ में सायण ने अपनी कल्पना को तो ध्यान में रक्खा है, किन्तु मन्त्रों के पदार्थों तथा उनकी संगति पर कुछ भी ध्यान नहीं रखा। पूर्वमन्त्र की भांति गत्यर्थक 'ऋण' क्रिया का 'फैंकना' अर्थ भी कल्पित ही किया है। शकटोचित क्रियाओं से अक्ष धुरी को फैंकने की बात भी निरर्थक है। क्या किसी ने कभी देखी है कि शकट या रथ की धुरी कोई फैंकता है? और स्वर्गस्थ इन्द्र यदि धन की वृष्टि करता है, तो आजकल क्यों नहीं करता ! क्या उसके खजाने में दिवालियापन ही आ गया है ?

महर्षि दयानन्द ने मन्त्रार्थ की बहुत ही सुसंगत व्याख्या की है। उनके अनुसार यहां इन्द्र=सभाध्यक्ष की सेवा का फल दिखाया गया है। सभाध्यक्ष को शतक्रतो=बहुत प्रकार की प्रज्ञा तथा विविध कर्मों में कुशल होना चाहिए। उसकी दुवः=सेवा करने वाले स्तोताओं की अभिलाषाएँ पूर्ण होती हैं। जैसे रथ की धुरी रथ के योग्य कर्मों से अभीष्ट स्थान को प्राप्त कराती है वैसे ही इन्द्र-सभाध्यक्ष गुण-कर्मों के ज्ञाता जनों के अभीष्ट कार्यों को सम्पन्न कराता है। सायण-भाष्य में 'दुवः=धनम्' और 'ऋणोः=प्रक्षिपसि' अर्थ भी कल्पित किए हैं। धात्वर्थ के अनुसार क्रम से इनके अर्थ 'सेवा करना' और 'प्राप्त कराना' ही होते हैं ॥ १५ ॥ ●

---

१. हे शतक्रतो इन्द्र यद्दुवः धनं कामितार्थरूपम् आस्तांतृभिराप्तव्यमस्ति तं कामं जरितृणामनुग्रहाय आ ऋणोः आनीय प्रक्षिपसि। तत्र दृष्टान्तः। शचीभिः कर्मभिः शकटोचितव्यापारविशेषैः अक्षं न यथा अक्षं प्रक्षिपन्ति तद्वत् ॥ (सायणः)

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः । **इन्द्रः** (सभाध्यक्षः) देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनः स सभाध्यक्षः कीदृशः किं करोतीत्युपदिश्यते ॥

फिर वह सभाध्यक्ष कैसा है और क्या करता है, यह उपदेश किया जाता है ॥

शश्वदिन्द्रः पोप्रुथद्भिर्जिगाय नानदद्भिः शाश्वसद्भिर्धनानि ।
स नो हिरण्यरथं दंसनावान्त्स नः सनिता सनये स नोऽदात् ॥ १६ ॥

शश्वत् । इन्द्रः । पोप्रुथत्ऽभिः । जिगाय । नानदत्ऽभिः । शाश्वसत्ऽभिः । धनानि । सः । नः । हिरण्यऽरथम् । दंसनाऽवान् । सः । नः । सनिता । सनये । सः । नः । अदात् ॥ १६ ॥

पदार्थः—(**शश्वत्**) अनादिस्वरूपाज्जगत्कारणात् (**इन्द्रः**) सृष्टिकर्त्तेश्वरः राज्यशास्ता (**पोप्रुथद्भिः**) अतिशयेन स्थूलैरचरैः कार्यैः । अत्र **प्रोथृपर्याप्तावित्यस्माद्यङ्लुगन्ताच्छतृ-प्रत्यय उपधाया उत्वं च वर्णव्यत्ययेन** । (**जिगाय**) जयति=प्रकर्षतां प्रापयति । अत्र **लडर्थे लिट्** । (**नानदद्भिः**) अतिशयेनाव्यक्तशब्दं कुर्वद्भिर्जीवैर्विद्युदादिभिर्वा (**शाश्वसद्भिः**) अतिशयेन प्राणवद्भिश्चरैः (**धनानि**) पृथिवीसुवर्णविद्यादीनि (**सः**) उक्तार्थः (**नः**) अस्मभ्यम् (**हिरण्यरथम्**) हिरण्यानां=ज्योतिर्मयानां सूर्यादीनां लोकानां सुवर्णादीनां वा रथो देशान्तरप्रापणो यानसमूहः । अत्र रथ इति **रमु क्रीडायामित्यस्य रूपं रंहधातो रूपं वा** । (**दंसनावान्**) दंसः=कर्म आचष्टे दंसयत्यनया सा दंसना, सा बह्वी विद्यते यस्य सः । **दंस इति कर्मनामसु पठितम्** । निघं० २ । १ । अस्मात् **तत्करोति तदाचष्टे**, इति णिच् ततो **ण्यासश्रन्थो युच्** इति युच् ततो **भूम्न्यर्थे मतुप्** । (**सः**) सर्वेषां जीवानां पापपुण्यफलानां विभागदाता (**नः**) अस्माकम् (**सनिता**) विद्याकर्मोपदेशेन संभाजिता (**सनये**) सुखानां संभोगाय (**सः**) उक्तार्थः (**नः**) अस्मभ्यम् (**अदात्**) दत्तवान्, ददाति, दास्यति वा । अत्र **छन्दसि लुङ्लङ्लिटः**, इति सामान्यकाले लुङ् ॥ १६ ॥

प्रमाणार्थ—(**पोप्रुथद्भिः**) यहां प्रर्याप्त अर्थ वाली 'पोथृ' धातु से 'यङ्लुगन्त प्रक्रिया में 'शतृ' प्रत्यय और वर्ण-व्यत्यय से उपधा में 'उत्व' है । (**जिगाय**) यहां लट् लकार के अर्थ में लिट् लकार है । (**हिरण्यरथम्**) यहां रथ शब्द क्रीडा अर्थ वाली 'रमु' धातु का रूप है अथवा 'रंह' धातु का रूप है । (**दंसनावान्**) 'दंसः' यह पद निघण्टु (२ । १) में कर्म-नामों में पढ़ा है, यहां 'तत्करोति तदाचष्टे' (अ० ३ । १ । २६) इस वार्तिक सूत्र से णिच् प्रत्यय, और 'ण्यासश्रन्थो युच्' (अ० ३ । ३ । १०७) इस सूत्र से युच् प्रत्यय और भूमा अर्थ में मतुप् प्रत्यय है । (**अदात्**) यहां 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (अ० ३ । ४ । ६) इस सूत्र से सामान्य काल में लुङ् लकार है ॥ १६ ॥

अन्वयः—इन्द्रो जगदीश्वरः शश्वत्—शश्वतोऽनादेः कारणात् नानदद्भिः शाश्वसद्भिः पोप्रुथद्भिः कार्यैर्द्रव्यै [धनानि] जिगाय जयति स दंसनावानीश्वरो नोस्मभ्यं हिरण्यरथमदाद्दाति दास्यति स नोऽस्माकं सनये सुखानां सनिता सर्वाणि सुखान्यदादिव सभासेनापतिर्वर्त्तेत ॥ १६ ॥

सपदार्थान्वयः—**इन्द्रः**=जगदीश्वरः सृष्टिकर्त्तेश्वरः, राज्यशास्ता **शश्वत्**=शश्वतोऽनादेः **कारणात् नानदद्भिः** अतिशयेनाव्यक्तशब्दं कुर्वद्भिर्जीवैर्विद्युदादिभिर्वा **शाश्वसद्भिः** अतिशयेन प्राणवद्भिश्चरैः **पोप्रुथद्भिः**=कार्यैर्द्रव्यैः अतिशयेन स्थूलैश्चरैः कार्यैः [**धनानि**] पृथिवीसुवर्णादीनि **जिगाय**=जयति प्रकर्षतः प्रापयति, **सः** उक्तार्थः

भाषार्थ—(**इन्द्रः**) सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर एवं राज्य का शासन करने वाला सभाध्यक्ष (**शश्वत्**) अनादि कारण से (**नानदद्भिः**) अत्यन्त अव्यक्त शब्द करने वाले जीव या विद्युत् आदि से, (**शाश्वसद्भिः**) अत्यन्त प्राण वाले चर तथा (**पोप्रुथद्भिः**) अत्यन्त स्थूल कार्य द्रव्यों से [**धनानि**] पृथिवी, सुवर्ण आदि धनों को (**जिगाय**) जीतता है,

दंसनावान्=ईश्वरः दंसः कर्म आचष्टे, दंसत्यनया सा दंसना, सा बह्वी विद्यते यस्य सः, **नः**=**अस्मभ्यं हिरण्यरथं** हिरण्यानां=ज्योतिर्मयानां सूर्यादीनां लोकानां सुवर्णादीनां वा रथो देशान्तरप्रापणो यानसमूहः, [तम्] **अदात्**=ददाति, **दास्यति सः** सर्वेषां जीवानां पापपुण्यफलानां विभागदाता **नः**=**अस्माकं सनये**=सुखानां संभोगाय, **सुखानां सनिता** विद्याकर्मोपदेशेन संभाजिता **सर्वाणि सुखान्यदात्** दत्तवान् **इव सभासेनापतिर्वर्तेत** ॥ १६ ॥

प्राप्त करता है। (सः)वह (**दंसनावान्**) कर्मों का फल देने वाला ईश्वर (**नः**) हमारे लिये (**हिरण्यरथम्**) सूर्य आदि लोकों तथा सुवर्ण आदि पदार्थों का रथ अर्थात् देशान्तर में पहुँचाने वाले यानसमूह को (**अदात्**) देता है या देगा। (**सः**) वह सब जीवों के पाप-पुण्य फलों का विभाग करने वाला ईश्वर (**नः**) हमारे (**सनये**) सुखों के संभोग के लिए सुखों को (**सनिता**) विद्या और कर्म के उपदेश से बांटने वाला होकर सब सुख (**अदात्**) देवे, (**इव**) ऐसे सभापति और सेनापति भी वर्ताव करे ॥ १६ ॥

भावार्थः—यथा जगदीश्वरः सनातनाज्जगत्कारणाच्चराचराणि कार्याण्युत्पाद्यैतैः सर्वेभ्यो जीवेभ्यस्सर्वाणि सुखानि ददाति तथा सभासेनापतिर्न्यायाधीशाः सर्वाणि सभासेनान्यायाङ्गानि निष्पाद्य सर्वाः प्रजा निरन्तरमानन्दयेयुः यथा नैतस्माद्भिन्नः कश्चिज्जगत्स्रष्टा कर्मफलप्रदाता राज्यप्रशास्ता च भवितुमर्हति तथैव सर्वमेतदनुतिष्ठेरन् ॥

भावार्थ—जैसे जगदीश्वर सनातन जगत् के कारण से चर-अचर कार्यों को उत्पन्न करके, इनसे सब जीवों को सब सुख देता है, वैसे सभापति, सेनापति और न्यायाधीश सब सभा, सेना और न्याय के अङ्गों को सिद्ध कर, सब प्रजा को निरन्तर आनन्दयुक्त करें, जैसे इस से भिन्न कोई जगत् रचने, कर्मफल देने और राज्यशासन करने वाला नहीं हो सकता, वैसे ही उस सब का अनुष्ठान करें ॥ १६ ॥

भाष्यसार—सभाध्यक्ष कैसे हो और वह क्या करे—जैसे ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता है वैसे सभाध्यक्ष राज्य का शासन करे। जैसे ईश्वर शब्द करने वाले प्राणियों और अप्राणी रूप कार्य-द्रव्यों से युक्त पृथिवी को प्राप्त कराता है, वैसे सभाध्यक्ष शब्द करने वाले विद्युत् आदि पदार्थों तथा अन्य कार्य-द्रव्यों से सुवर्ण आदि पदार्थों को प्राप्त करे। जैसे कर्म-फलों का दाता ईश्वर हमें सूर्य आदि लोकों को प्राप्त कराता है वैसे सभाध्यक्ष यथावत् कर्म-फलों का दाता होकर सुवर्ण आदि पदार्थों को प्रदान करें, उन्हें देशान्तर में पहुँचाने वाले यान प्रदान करे। जैसे ईश्वर जीवों के पाप-पुण्य फलों का विभाग करने वाला है और विद्या तथा कर्म के उपदेश से सुख प्रदान करने वाला है, वैसा सभाध्यक्ष और सेनापति भी सुख देने वाला हो ॥ १६ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—" प्रसन्न-इन्द्र से दिए गए सोने के रथ को इस मन्त्र से ग्रहण किया। इन्द्र ने सदा ही घोड़ों से शत्रुओं के धनों को जीता था। कैसे घोड़ों से ? जो घास खाने के बाद होठों से तथा मुख से हिनहिनाने का शब्द कर रहे थे, और बार-बार अत्यधिक

(१) तुष्टेन इन्द्रेण दत्तं हिरण्यरथम् अनया प्रतिजग्राह—इन्द्रः शश्वत् सर्वदा धनानि वैरिसंबन्धीनि जिगाय जितवान् अश्वैरिति शेषः। कीदृशैः। पोप्रुथद्भिः घासभक्षणानन्तरभाविनम् ओष्ठशब्दं कुर्वद्भिः नानदद्भिः नादम् आस्यगतं हेषा शब्दं कुर्वद्भिः शाश्वसद्भिः पुनःपुनर्भृशं वा श्वसद्भिः। दंसनावान् कर्मवान् सनिता दाता स इन्द्रः नः अस्माकं सनये संभजनार्थं हिरण्यरथं सुवर्णेन निर्मितं रथम् अदात् दत्तवान् ॥ (सायणः)

श्वास ले रहे थे। कर्म करने वाले तथा दाता उस इन्द्र ने हमारे सेवन के लिए सोने से बना रथ प्रदान किया।"

इस मन्त्र का देवता=प्रतिपाद्य विषय इन्द्र है। उसको सायण ने न समझकर समस्त मन्त्र की व्याख्या ही कल्पना के आश्रय से की है। इन्द्र को सायण ने स्वर्ग का राजा, देहधारी तथा रथारूढ़ होकर यज्ञप्रदेश में आनेवाला माना है। मन्त्र में 'इन्द्र, ने धनों को जीता' का वर्णन देखकर सायण ने 'पोप्रुथद्भिः' 'नानद्भिः' तथा 'शाश्वसद्भिः' इन तीनों पदों के अर्थ 'अश्वैः' के विशेषण मानकर किए हैं। जब कि मन्त्र में सायणाभिमत 'अश्वैः' पद पठित नहीं है। क्या विशेष्य के बिना विशेषण मात्र से किसी अर्थ का प्रतिपादन हो सकता है? विशेषण तो विशेषता ही बताता है, जब विशेष्य पद ही मन्त्र में नहीं है, तो विशेषण किसके हो सकते हैं? यह सायण ने मूल मन्त्र के विरुद्ध विशेषण-विशेष्य भाव को न समझकर कल्पित व्याख्या ही की है? और सायण की कल्पना कितनी निराधार है कि मन्त्र में कहा है कि इन्द्र शश्वत्=सर्वदा धनों को जीतता है, तो आजकल इन्द्र कहीं महाघोर निद्रा में सोया पड़ा है, जो आजकल कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता है?

महर्षि दयानन्द ने 'इन्द्र' का सभाध्यक्ष और ईश्वर अर्थ किया है। ये दोनों ही दंसनावान् सनिता=कर्मों का फल देने वाले हैं। जैसे ईश्वर शश्वत्=अनादि प्रकृति, विद्युद्, कार्यद्रव्यों तथा दूसरे प्राणियों से कर्मों के फलस्वरूप धनानि=विविध ऐश्वर्यों को जिगाय=प्राप्त कराता है, वैसे सभाध्यक्ष भी जीवों को न्यायोचित व्यवस्था के द्वारा कर्मानुसार दण्डादि दिया करे और ऐश्वर्यों की रक्षा करे। महर्षि ने इन पदों के स्वतन्त्र अर्थ किए हैं। इन पदार्थों में किसी प्रकार का विरोध तथा असंगति नहीं है।

और मन्त्र में कहा है—'स नो हिरण्यरथम् अदात्'। जिसका अर्थ सायण ने लौकिक संस्कृत के आश्रय से यह किया है कि इन्द्र ने हमें सोने का रथ दिया। इस सायण की व्याख्या में निम्न-दोष हैं—

(१) 'इन्द्र ने सोने का रथ दिया' इस अर्थ से अनेक भ्रान्तियों को जन्म मिलता है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है, उसमें अनित्य व्यक्तियों तथा पदार्थों का इतिहास कैसे सम्भव है?

(२) यह सोने का रथ कब और किसको दिया? क्या इन्द्र अब ऐसे रथों को नहीं देता है?

(३) शाश्वत ज्ञान वेद में सामान्य क्रियाओं का प्रयोग है। इसमें लौकिक संस्कृत की भांति लुङादि लकार भूतकाल में नहीं होते। पाणिनि मुनि ने 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (अ० ३। ४। ६) इत्यादि सूत्रों से वैदिक नियमों का स्पष्ट उल्लेख किया है। अतः सायणाचार्य की भूतकालीन व्याख्या सर्वथा मिथ्या है।

(४) वेद में 'हिरण्य' शब्द का 'सुवर्ण' अर्थ ही नहीं है। देखिए—शास्त्रीय हिरण्य शब्द के अर्थ—

ज्योतिर्हि हिरण्यम्॥ श० ४। ३। १। २१॥

आयुर्हि हिरण्यम्॥ श० ४। ३। ४। २४॥

प्राणो वै हिरण्यम्॥ श० ७। ५। २। ८॥

इस प्रकार 'हिरण्य' शब्द के विभिन्न अर्थ हैं। इन्द्र=परमेश्वर ज्योतिर्मय सूर्यादि रथों=रमण के साधनों से जीवों को सुखप्रद पदार्थों को प्रदान करता है। परमेश्वर हमें प्राणों की शक्ति

तथा जीवन देता है। पहले भी देता था और भविष्य में भी देगा। ऐसे शाश्वत अर्थों को न समझकर सायणाचार्य ने भ्रान्तिपूर्ण तथा कल्पित मन्त्रार्थ किया है। इस मन्त्र का महर्षि का अर्थ शास्त्रानुकूल तथा सुसंगत होने से पठनीय है ॥ १६ ॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **अश्विनौ** (सभासेनाध्यक्षौ) देवते। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तौ कीदृशौ स्त इत्युपदिश्यते ॥

फिर वे सभाध्यक्ष और सेनाध्यक्ष कैसे हों, यह उपदेश किया जाता है ॥

आश्विनावश्वावत्येषा यातं शवीरया। गोमद्दस्रा हिरण्यवत् ॥ १७ ॥

आ। अश्विनौ। अश्वऽवत्या। इषा। यातम्। शवीरया। गोऽमत्। दस्रा। हिरण्यऽवत् ॥ १७ ॥

पदार्थः—(**आ**) समन्तात् (**अश्विनौ**) यथा द्यावापृथिव्यादिकद्वन्द्वं तथा विद्याक्रियाकुशलौ (**अश्ववत्या**) वेगादिगुणसहितया। **अत्र मन्त्रेसोमाश्वेन्द्रियविश्व०।** अ० ६। ३। १३१। अनेन पूर्वपदस्य दीर्घः। (**इषा**) इष्यते यया। **अत्र कृतो बहुलम्** इति करणे क्विप्। (**यातम्**) प्रापयतम् (**शवीरया**) देशान्तरप्रापिकया गत्या **शुगतावित्यस्माद्धातोर्बाहुलकादौणादिक** ईरन् प्रत्ययः। (**गोमत्**) गावः सुखप्रापिका बह्वयो विद्यन्ते यस्मिंस्तत्। **गौरिति पदनामसु पठितम्।** निघं० ५। ५। अनेन प्राप्त्यर्थो गृह्यते। अत्र भूम्न्यर्थे मतुप्। (**दस्रा**) दरिद्रचोपक्षयहेतू। **अत्र सुपां सुलुग्** इति आकारादेशः (**हिरण्यवत्**) हिरण्यं=सुवर्णादिकं बहुविधं साधने यस्य तत्। अत्र भूम्न्यर्थे मतुप् ॥ १७ ॥

प्रमाणार्थ—(**अश्ववत्या**) यहां 'मन्त्रेसोमाश्वेन्द्रियविश्व०' (अ० ६। ३। १३१) इस सूत्र से पूर्वपद में दीर्घ है, मन्त्र-विषय में अश्वावत्या। (**इषा**) यहां 'कृतो बहुलम्' (अ० ३। ३। ११३) इस वार्त्तिक सूत्र से करण-कारक में 'क्विप्' प्रत्यय है। (**शवीरया**) यहां गति अर्थ वाली 'शु' धातु से बहुल करके औणादिक 'ईरन्' प्रत्यय है। (**गोमत्**) 'गौः' यह पद निघण्टु (५। ५) में पद-नामों में पढ़ा है। पद के अर्थ—ज्ञान, गमन, और प्राप्ति हैं, यहां प्राप्ति का अर्थ ग्रहण है, और भूमा अर्थ में 'मतुप्' प्रत्यय है। (**दस्रा**) यहां 'सुपां सुलुक्०' (अ० ७। १। ३९) इस सूत्र से 'आ' के स्थान में आकार आदेश है। (**हिरण्यवत्**) यहां भूमा अर्थ में 'मतुप्' प्रत्यय है ॥ १७ ॥

अन्वयः—हे विद्याक्रियाकुशलौ विद्वांसौ शिल्पिनौ दस्रावश्विनौ सभासेनास्वामिनौ द्यावापृथिव्याविवेषाभीष्टयाऽश्ववत्या शवीरया गत्या हिरण्यवद्गोमद्यानमायातं समन्ताद्देशान्तरं प्रापयतम् ॥

सपदार्थान्वयः— हे **विद्याक्रियाकुशलौ विद्वांसौ शिल्पिनौ** [दस्रा]=दस्रौ दारिद्रचोपक्षयहेतू **अश्विनौ=सभासेनास्वामिनौ द्यावापृथिव्याविव** यथा द्यावापृथिव्यादिकं द्वन्द्वं तथा विद्याक्रियाकुशलौ! **इषा=अभीष्टया** इष्यते यया **अश्ववत्या** वेगादिगुणसहितया **शवीरया=गत्या** देशान्तरप्रापिकया गत्या **हिरण्यवत्** हिरण्यं=सुवर्णादिकं बहुविधं साधनं यस्य तत् **गोमत्** गावः=सुखप्रापिका बह्वयो विद्यन्ते

भाषार्थ—हे (**दस्रा**) दारिद्रच को नष्ट करने वाले (**अश्विनौ**) द्यावापृथिवी के द्वन्द्व के समान विद्या और क्रियारूप द्वन्द्व में कुशल शिल्पी सभाध्यक्ष और सेनाध्यक्ष विद्वानो! तुम दोनों—(**इषा**) अभीष्ट (**अश्ववत्या**) वेग आदि गुणों से युक्त (**शवीरया**) देशान्तर में पहुँचाने वाली गति से (**हिरण्यवत्**) सुवर्ण आदि बहुत प्रकार के साधनों से तथा (**गोमत्**) सुख प्राप्त कराने वाली बहुत-सी क्रियाओं से युक्त यान को (**आयातम्**)

यस्मिंस्तत् **यानमायातम्=समन्ताद् देशान्तरं प्रापयतम्** ॥ १७ ॥ सब ओर देशान्तर में पहुँचाओ ॥ १७ ॥

भावार्थः—पूर्वोक्ताभ्यामश्विभ्यां चालितं यानं शीघ्रगत्या भूमौ जलेऽन्तरिक्षे च गच्छति तस्मादेतत्सद्यः साध्यम् ॥ १७ ॥

भावार्थ—पूर्वोक्त अश्विनौ=द्यौ और पृथ्वी के गुणों से चलाया हुआ यान शीघ्र गति द्वारा भूमि, जल और अन्तरिक्ष में जाता है, इसलिए इसको शीघ्र सिद्ध करें ॥ १७ ॥

भाष्यसार—सभाध्यक्ष और सेनाध्यक्ष कैसे हों—सभाध्यक्ष और सेनाध्यक्ष दरिद्रता को नष्ट करनेवाले हों। वे विद्या और क्रिया में कुशल हों। वे अभीष्ट वेग आदि गुणों से युक्त गति से यान को देशान्तर में पहुँचावें ॥ १७ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायणभाष्य[1] इस प्रकार है—"इन्द्र से प्रेरणा पाकर शुनःशेप ऋषि ने अश्वि-देवों की स्तुति की। हे अश्विदेवो ! बहुत घोड़ों से युक्त और प्रेरणा प्राप्त अन्न के साथ तुम इस कर्म में आओ। हे अश्वि-देवो ! तुम्हारी कृपा से हमारा घर बहुत गायों तथा बहुत सोने से भरपूर हो।"

इस मन्त्र का देवता 'अश्विनौ' है। ये कौन हैं ? यह सायणभाष्य में स्पष्ट नहीं है। मन्त्र में इनका विशेषण है—दस्रौ=दरिद्रता को नष्ट करने वाले। और इन देवों से प्रार्थना की है कि ये दोनों देव गोमत्=सुखप्रापक क्रियाओं से तथा हिरण्यवत्=सुवर्णादि से युक्त देशान्तरप्रापक यानों को प्राप्त करायें। सायण के अनुसार भी गायों से तथा सोने से हमें भरपूर करें।

मन्त्रार्थ के अनुसार ऐसे कार्यों को कौन देव सम्पन्न करते हैं ? यह विचारने से स्पष्ट हो जाता है कि सायण के कल्पित अश्विदेव तो ऐसा कभी नहीं करते। यथार्थ में ऐसे कल्पित देवों की कोई सत्ता ही नहीं है। महर्षि दयानन्द ने यहाँ 'विद्वान्शिल्पी' अथवा 'सभाध्यक्ष-सेनाध्यक्ष' अर्थ किया है। ये ही अनेक प्रकार के वैज्ञानिक साधनों से तथा सुव्यवस्था से हमें सुखों से सम्पन्न करते हैं। सायण की यह भी निराधार कल्पना ही है कि ये अश्वि-देव बहुत घोड़ों के साथ तथा अन्न के साथ यहाँ आते हैं। सायण की व्याख्या में यह अनर्थ कल्पना तथा रूढ़ अर्थों के आश्रय से ही हुआ है। इनकी सङ्गति भी महर्षि की व्याख्या में ही स्पष्ट है। विद्वान् शिल्पी जो अनेक प्रकार के यानों की रचना करते हैं, वे यान ही अश्वावत्या=वेगादिगुणसहित तथा इषा शवीरया=देशान्तरप्रापक अभीष्ट गति से युक्त होते हैं। इसके विपरीत घोड़ों तथा अन्न के साथ अश्विदेवों का आना कदापि सम्भव नहीं है। केवल कल्पना के आश्रय से सायण ने असङ्गत व्याख्या की है ॥ १७ ॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **अश्विनौ (विद्वांसौ)** देवते। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तौ कीदृशावित्युपदिश्यते ॥

फिर वे विद्वान् किस प्रकार के हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

---

१. इन्द्रेण प्रेरितः शुनशेपः अश्विनौ तुष्टाव—हे अश्विनौ ! अश्वावत्या बहुभिरश्वैर्युक्तया शवीरया प्रेर्यमाणया इषा अन्नेन सह आयातम् अस्मिन् कर्मणि आगच्छतम्। हे दस्रा अश्विनौ युवयोः प्रसादात् गोमत् बहुभिर्गोभिर्युक्तं हिरण्यवत बहुना हिरण्येन युक्तम् अस्मदीयं गृहमस्त्विति शेषः ॥

(सायणः)

समानयोजनो हि वां रथो दस्रावमर्त्यः । समुद्रे अश्विनेयते ॥ १८ ॥

समानयोजनः । हि । वाम् । रथः । दस्रौ । अमर्त्यः । समुद्रे । अश्विना । ईयते ॥ १८ ॥

पदार्थः—(**समानयोजनः**) समानं=तुल्यं योजनं=संयोगकरणं यस्मिन् सः (**हि**) खलु (**वाम्**) युवयोः (**रथः**) नौकादियानम् (**दस्रौ**) गमनकर्त्तारौ (**अमर्त्यः**) अविद्यमाना आकर्षका मनुष्यादयः प्राणिनो यस्मिन् सः (**समुद्रे**) जलेन सम्पूर्णे समुद्रेऽन्तरिक्षे वा (**अश्विना**) अश्विनौ क्रियाकौशलव्यापिनौ । अत्र **सुपां सुलुग्** इत्याकारदेशः । (**ईयते**) गच्छति ॥ १८ ॥

प्रमाणार्थ—(**अश्विना**) यहां 'सुपां सुलुक्०' (अ० ७ । १ । ३९) इस सूत्र से 'औ' के स्थान में आकार आदेश है ॥ १८ ॥

अन्वयः—हे दस्रौ मार्गगमनपीडोपक्षेतारावश्विना अश्विनौ विद्वांसौ यो वां युवयोर्हि खलु समानयोजनोऽमर्त्यो रथः समुद्र ईयते यस्य वेगेनाश्वावत्या शवीरया गत्या समुद्रस्य पारावारौ गन्तुं युवां शक्नुतस्तं निष्पादयतम् ॥ १८ ॥

स्वपदार्थान्वयः—हे **दस्रौ मार्गगमनपीडोपक्षेतारावश्विना=अश्विनौ विद्वांसौ** अश्विनौ क्रियाकौशलव्यापिनौ ! **यो वां=युवयोर्हि=खलु समानयोजनः** समानं=तुल्यं योजनं=संयोगकरणं यस्मिन् सः **अमर्त्यः** अविद्यमाना आकर्षका मनुष्यादयः प्राणिनो यस्मिन् सः **रथः** नौकादियानं **समुद्रे** जलेन संपूर्णे समुद्रेऽन्तरिक्षे वा **ईयते** गच्छति, **यस्य वेगेनाश्वावत्या** वेगादिगुणसहितया **शवीरया** देशान्तरप्रापिकया **गत्या समुद्रस्य पारावारौ गन्तुं युवां शक्नुतस्तं निष्पादयतम् ॥ १८ ॥**

भाषार्थ—हे (**दस्रौ**) मार्ग चलने की पीड़ा को नष्ट करने वाले (**अश्विना**) क्रियाकौशल को व्याप्त करने वाले विद्वानो ! जो (**वाम्**) तुम्हारा (**हि**) निश्चय से (**समानयोजनः**) तुल्य योजना वाले (**अमर्त्यः**) खींचने वाले मनुष्य आदि प्राणियों से रहित (**रथः**) नौका आदि यान (**समुद्रे**) जल से पूर्ण समुद्र या अन्तरिक्ष में (**ईयते**) चलता है, जिसके वेग से एवं (**अश्वावत्या**) वेग आदि गुणों से युक्त (**शवीरया**) देशान्तर में पहुँचाने वाली गति से समुद्र के अवार, पार जा सकते हो, तुम दोनों उसे सिद्ध करो ॥ १८ ॥

भावार्थः—अत्र पूर्वस्मान्मन्त्रात् (अश्वावत्या) (शवीरया) इति द्वयोः पदयोरनुवृत्तिः । मनुष्यैर्यानि महान्त्यग्निवाष्पजलकलायन्त्रैः सम्यक् चालितानि नौकायानानि तानि निर्विघ्नतया समुद्रान्तं शीघ्रं गमयन्ति, नैवेदृशैर्विना नियतेन कालेनाभीष्टं स्थानान्तरं गन्तुं शक्यत इति ॥ १८ ॥

भावार्थ—यहां पूर्व मन्त्र से 'अश्वावत्या, शवीरया' इन दो पदों की अनुवृत्ति है । **सब मनुष्य** जो महान् अग्नि, वाष्प, जल और कलायन्त्रों से चलाये हुए नौका-यान हैं, वे निर्विघ्न समुद्र के अन्त तक शीघ्र पहुँचाते हैं, इस प्रकार के यानों के विना नियत-काल में अभीष्ट स्थानान्तर में नहीं जा सकते ॥ १८ ॥

भाष्यसार—**विद्वान् कैसे हों**—क्रियाकौशल को व्याप्त करने वाले दो विद्वान्—मार्ग चलने की पीड़ा को नष्ट करने वाले हों । वे तुल्य योजना वाले, जिसको खींचने वाले मनुष्य आदि प्राणी न हों ऐसे नौका आदि यान का निर्माण करें । जो समुद्र या अन्तरिक्ष में चले । जिसके वेग एवं गति से समुद्र के अवार, पार यातायात हो सके ॥ १८ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अश्विदेवो ! तुम दोनों का रथ एक साथ ही जोड़ा जाता है। और वह रथ नष्ट न होने वाला और अप्रतिहतगति=अबाधगतिवाला है। इसलिए वह रथ अन्तरिक्ष में गति करता है।"

सायण-भाष्य में इस मन्त्र के अर्थ में भी पूर्व मन्त्र की तरह अश्वि-देवों के रथ का वर्णन माना है। यह भी पूर्व-मन्त्र के तुल्य निराधार कल्पना ही है। सायण ने अन्तरिक्ष में चलने वाले यान को न समझकर 'रथः' का अर्थ घोड़ों से वहन होने वाला रथ ही अर्थ किया है। यह सायण की भूल है। निरुक्त शास्त्र के "रथः=रंहतेर्गतिकर्मणः स्थिरतेर्वा स्यात् विपरीतस्य रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति" (निरु० ९। ११) इस प्रमाण के अनुसार रमण के साधन को रथ कहते हैं। वे विमानादि ही अन्तरिक्ष में गति करने वाले रथ हो सकते हैं। घोड़े आदि जिनमें जुड़े हों, ऐसे रथों का अन्तरिक्ष में चलना (उड़ना) कदापि सम्भव नहीं है।

इस मन्त्र में 'रथः' पद का एक विशेषण पढ़ा है—'अमर्त्यः'। इसके अर्थ की संगति लगाने में तो सायणादि भाष्यकार असमर्थ ही रहे हैं। स्कन्दस्वामी ने इसका अर्थ 'मरण-वर्जित' किया है। जड़-रथ के मरने की बात से स्वयं भी सन्तुष्ट न होकर स्कन्दस्वामी ने व्याख्या में 'अविनाशी' अर्थ कर दिया है। किन्तु यह अर्थ भी असंगत तथा सृष्टिक्रम से विपरीत होने से सत्य नहीं है। क्योंकि सृष्टि में जो भी पदार्थ संसर्ग से बना है, उसका विनाश अवश्यंभावी है। सायण ने भी 'अविनाशी' अर्थ करके महाभूल की है। यद्यपि बाद में उसका अर्थ 'अप्रतिहतगतिः' कर दिया है, किन्तु इस अर्थ की पदार्थ के साथ कोई संगति नहीं है। महर्षि दयानन्द ने इसका पदार्थ बहुत ही वैज्ञानिक तथा युक्तियुक्त किया है कि विद्वान् शिल्पी ऐसे यानों की रचना करें जिन्हें मनुष्यादि प्राणी न खींचते हों। जैसे आजकल विमानादि यान बनाए गए हैं, वेद में भी ऐसे यानों का स्पष्ट वर्णन है। किन्तु सायण ने मन्त्रार्थ की गम्भीरता को न समझकर मिथ्या कल्पित अर्थ किया है ॥ १८ ॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **अश्विनौ** (विद्वांसौ) देवते। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनस्तौ कीदृशावित्युपदिश्यते ॥

फिर वे विद्वान् कैसे हैं, यह उपदेश किया जाता है ॥

न्य१घ्न्यस्य मूर्धनि चक्रं रथस्य येमथुः। परि द्यामन्यदीयते ॥ १९ ॥

नि। अघ्न्यस्य। मूर्धनि। चक्रम्। रथस्य। येमथुः। परि। द्याम्। अन्यत्। ईयते ॥ १९ ॥

पदार्थः—(**नि**) क्रियायोगे (**अघ्न्यस्य**) हन्तुं=विनाशयितुमनर्हस्य यानस्य (**मूर्धनि**) उत्तमाङ्गेऽग्रभागे (**चक्रम्**) एकं यन्त्रकलासमूहम् (**रथस्य**) विमानादियानस्य (**येमथुः**) देशान्तरे यच्छथः। **अत्र लडर्थे लिट्।** (**परि**) सर्वतः (**द्याम्**) दिवमुपर्य्याकाशम् (**अन्यत्**) द्वितीयं चक्रम् (**ईयते**) गमयति ॥

प्रमाणार्थ—(**येमथुः**) यहाँ लट् लकार के अर्थ में लिट् लकार है ॥

अन्वयः—हे अश्विनौ विद्याव्याप्तौ युवां यद्येकमघ्न्यस्य रथस्य मूर्द्धनि [अन्यत] अपरं

---

१. हे दस्रौ अश्विनौ वां युवयोः सम्बन्धी रथः समानयोजनः तुल्ययोजनः युवयोर्द्वयोरेकरथारूढत्वात् उभयार्थं सकृदेव युज्यते। युक्तः स रथः अमर्त्यः विनाशरहितः अप्रतिहतगतिरित्यर्थः। अतएव हे अश्विनौ हि यस्मात् समुद्रे अन्तरिक्षे ईयते गच्छति ॥ (सायणः)

द्वितीयं च चक्रमधोरचयेतां तर्ह्येते [द्यां] समुद्रमाकाशं वा [परि] नियेमथुर्नियच्छथ एताभ्यां द्वाभ्यां युक्तं यानं यथेष्टे मार्गे ईयते प्रापयति ॥ १६ ॥

सपदार्थान्वयः— हे **अश्विनौ**=विद्याव्याप्तौ ! **युवां यद्येकमघ्न्यस्य** हन्तुं विनाशयितुमनर्हस्य यानस्य **रथस्य** विमानादियानस्य **मूर्धनि** उत्तमाङ्गेऽग्रभागे [**अन्यत्**] **अपरं द्वितीयं च चक्रम्** एकं यन्त्रकलासमूहम् **अधो रचयेतां तर्ह्येते** [**परि**] सर्वतः [**द्याम्**] **समुद्रमाकाशं वा नियेमथुः**=**नियच्छथ, एताभ्यां द्वाभ्यां युक्तं यानं यथेष्टे मार्गे ईयते**=**प्रापयति** गमयति ॥ १६ ॥

भाषार्थ—हे (**अश्विनौ**) विद्या से युक्त विद्वानो ! तुम दोनों—एक (**अघ्न्यस्य**) विनष्ट न करने योग्य (**रथस्य**) विमान आदि यान के (**मूर्धनि**) अग्रभाग में तथा [**अन्यत्**] दूसरा (**चक्रम्**) यन्त्रकला-समूह नीचे बनाओ, तो तुम [**परि**] सब ओर से [**द्याम्**] समुद्र या आकाश को [**नि+येमथुः**] नियन्त्रित कर सकते हो, इन दोनों चक्रों से युक्त यान यथेष्ट मार्ग में (**ईयते**) पहुँचाता है ॥ १६ ॥

भावार्थः— शिल्पिभिः शीघ्रगमनार्थं यद्यद्यानं चिकीर्ष्यते तस्य तस्याग्रभाग एकं कलायन्त्रचक्रं सर्वकलाभ्रमणार्थं द्वितीयमपरभागे च रचनीयं तद्रचनेन जलाग्न्यादिप्रयोज्यैतेन यानेन ससंभाराः शिल्पिनो भूमिसमुद्रान्तरिक्षमार्गेण सुखेन गन्तुं शक्नुवन्तीति निश्चयः ॥ १६ ॥

भावार्थ—सब शिल्पी शीघ्र जाने के लिए जिस-जिस यान की इच्छा करें, उस-उसके अग्र-भाग में एक कलायन्त्र चक्र और सब कलायन्त्रों को घुमाने के लिए दूसरा चक्र निचले भाग में रचें, उसको रचकर जल, अग्नि आदि का प्रयोग करें, इस यान से शिल्पी सब सामग्री सहित भूमि, समुद्र और अन्तरिक्ष मार्ग से सुखपूर्वक जा सकते हैं, यह निश्चय है ॥ १६ ॥

भाष्यसार—**विद्वान् कैसे हों**—शिल्पविद्या में व्याप्त दो विद्वान् एक चक्र विमान आदि यान के अग्रभाग में और दूसरा चक्र=यन्त्रकलासमूह यान के नीचे भाग में बनावें। वे इस प्रकार के यान-निर्माण से समुद्र या आकाश को नियन्त्रित कर सकते हैं और यथेष्ट मार्ग में पहुँच सकते हैं ॥ १६ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अश्वि-देवो ! तुमने रथ के एक चक्र को नष्ट न होने वाले दृढ़ पर्वत के ऊपर नियन्त्रित किया हुआ है और दूसरा चक्र द्युलोक के चारों तरफ गति कर रहा है।"

यहाँ सायण-भाष्य में वर्णित कल्पित अश्वि-देवों के रथ का वर्णन कैसा विचित्र किया है, क्या कोई पौराणिक इसका उत्तर दे सकता है कि ऐसा कौन सा रथ है कि जिसका एक चक्र पर्वत पर है और दूसरा द्युलोक में चारों तरफ गति कर रहा है ? और अश्वि-देव कौन से चक्र पर बैठते हैं अथवा बीच में ही लटके रहते हैं ? ऐसी-ऐसी विज्ञानविरुद्ध तथा कल्पित भाष्यों से वेदों का गौरव भी क्षीण हो गया है। और पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों पर अनेक आक्षेप किए हैं। सायणाचार्य ने 'अघ्न्यस्य' पद का पर्वत्' अर्थ भी बहुत अनोखा ही किया है। मन्त्र में पर्वतवाची कोई पद नहीं है। और पर्वतों को नष्ट न होने वाला कहना भी मिथ्या है। क्योंकि जो वस्तु बनी है वह अवश्य नष्ट होती है।

---

१. हे अश्विनौ युवाम् अघ्न्यस्य हन्तुं विनाशयितुमशक्यस्य दृढस्य पर्वतस्य मूर्धनि उपरि चक्रं भवदीयरथसम्बन्ध्येकं चक्रं नियेमथुः नियमितवन्तौ। अन्यच्चक्रं परिद्यां द्युलोकस्य परितः ईयते गच्छति ॥ (सायणः)

महर्षि दयानन्द ने समस्त मन्त्र पर विचार करके 'अश्विनौ' का अर्थ 'विद्वान् शिल्पी' किया है। वे ऐसा रथ=विमान बनाएँ, जो पर्याप्त दृढ़ हो, और उसके मूर्धनि=अग्रभाग में एक चक्र=यन्त्रकला बनाएँ और एक चक्र नीचे, जिससे द्युलोकादि में सुख से आवागमन किया जा सके। इन दोनों अर्थों में कितना अन्तर है? एक अवैज्ञानिक तो दूसरा वैज्ञानिक, एक शास्त्रीय शैली के अनुसार यौगिक प्रक्रिया से, तो दूसरा कल्पना तथा रूढ़ शब्दों के आश्रय से, और एक अनृषिकृत होने से असंगत तो दूसरा मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषिकृत होने से प्रकरणानुकूल सुसंगत है।

स्कन्दस्वामी ने 'अघ्न्य' का अर्थ 'प्रजापति' या 'आदित्य' किया है। इनके अनुसार अश्विदेवों के रथ का एक चक्र प्रजापति या आदित्य के शिर पर नियमित है। यह अर्थ भी अवैज्ञानिक होने से सत्य नहीं है। यह प्रजापति या आदित्य कौन है? जिनके मूर्धा पर रथ का चक्र स्थित है। और एक चक्र पर्वत या आदित्य पर है और दूसरा द्युलोक में घूम रहा है तो रथ का स्वरूप क्या होगा? क्या ये चक्र रथ से पृथक् होकर गति कर रहे हैं, या रथ के साथ-साथ? तब तो रथ भी बहुत ही विशालकाय होगा, फिर भी वह दिखाई क्यों नहीं देता? क्या अब अश्विदेवों की लोक में सत्ता ही नहीं है? इत्यादि प्रश्नों का सायण जैसे भाष्यकारों के पास कोई उत्तर ही नहीं है। यथार्थ में ये वेदभाष्यकार स्वयं भी भ्रान्ति से पूर्ण थे। उन्हें भी कुछ समझ में नहीं आया है, अतः ऐसी अनर्गल कल्पनाओं का उल्लेख कर गए हैं ॥ १६ ॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **उषाः (प्रातःकालः)** देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

अथैतद्विद्योपयोग्युषसः काल उपदिश्यते ॥

अब इस विद्या के उपयोगी उषाकाल का उपदेश किया जाता है ॥

कस्ते उषः कधप्रिये भुजे मर्तो अमर्त्ये। कं नक्षसे विभावरि ॥ २० ॥

कः। ते। उषः। कधऽप्रिये। भुजे। मर्तः। अमर्त्ये। कम्। नक्षसे। विभावरि ॥ २० ॥

पदार्थः—(**कः**) वक्ष्यमाणः (**ते**) तव विदुषः (**उषः**) उषाः (**कधप्रिये**) कथनं=कथा प्रिया यस्यां सा। **अत्र वर्णव्यत्ययेन** थकारस्य स्थाने धकारः। (**भुजे**) भुज्यते यः स भुक् तस्मै। **अत्र कृतो बहुलम्** इति कर्मणि क्विप्। (**मर्तः**) मनुष्यः (**अमर्त्ये**) कारणप्रवाहरूपेण नाशरहिता (**कम्**) मनुष्यम् (**नक्षसे**) प्राप्नोसि (**विभावरि**) विविधं जगत् भाति=दीपयति सा विभावरी **अत्र वनोर च।** अ० ४। १। ६। अनेन ङीप् रेफादेशश्च ॥ २० ॥

प्रमाणार्थ—(**कधप्रिये**) यहां वर्णव्यत्यय से 'थकार' के स्थान पर धकार आदेश है। (**भुजे**) यहां 'कृतो बहुलम्' (अ० ३। ३। ११३) इस वार्त्तिक सूत्र से कर्मकारक में 'क्विप्' प्रत्यय है। (**विभावरि**) यहां 'वनोर च' (अ० ४। १। ६) इस सूत्र से ङीप् प्रत्यय और 'रेफ' आदेश है ॥ २० ॥

अन्वयः—हे विद्वन् येयममर्त्ये कधप्रिये विभावर्युषरुषा भुजे सुखभोगाय प्रत्यहं प्राप्नोति तां प्राप्य त्वं कं मनुष्यं न नक्षसे प्राप्नोसि को मर्तो भुजे ते तव सनीडं न प्राप्नोति ॥ २० ॥

सपदार्थान्वयः— हे विद्वन्! **येयममर्त्ये** कारणप्रवाहरूपेण नाशरहिता **कधप्रिये** कथनं=कथा प्रिया यस्यां सा **विभावरि** विविधं

भाषार्थ—हे विद्वन्! जो यह (**अमर्त्य**) कारण और प्रवाह रूप से नाशरहित, (**कधप्रिये**) कथनप्रिय (**विभावरि**) विविध जगत् को प्रकाशित

जगत् भाति=दीपयति सा विभावरी **उषः=उषाः भुजे=सुखभोगाय प्रत्यहं प्राप्नोति, तां प्राप्य त्वं कं मनुष्यं न नक्षसे=प्राप्नोषि कः** वक्ष्यमाणः **मर्त्तः** मनुष्यः **भुजे** भुज्यते यः स भुक् तस्मै **ते=तव सनीडं न प्राप्नोति ॥ २० ॥**

करने वाली (**उषः**) उषा (**भुजे**) सुखभोग के लिये प्रतिदिन प्राप्त होती है, उसे प्राप्त करके आप—(**कम्**) किस मनुष्य को नहीं (**नक्षसे**) प्राप्त होते हो, और (**कः**) कौन (**मर्त्तः**) मनुष्य (**भुजे**) सुखभोग के लिये (**ते**) तेरे समीप नहीं प्राप्त होता है ? ॥ २० ॥

भावार्थः—अत्र काक्वर्थः। को मनुष्यः कालस्य सूक्ष्मां व्यर्थगमनानर्हां गतिं वेद ? नहि सर्वो मनुष्यः पुरुषार्थारम्भस्य सुखाख्यामुषसं यथावज्जानाति तस्मात्सर्वे मनुष्याः प्रातरुत्थाय यावन्नसुषुप्स्तावदेकं क्षणमपि कालस्य व्यर्थं न नयेयुः एवं जानन्तो जनाः सर्वकालं सुखं भोक्तुं शक्नुवन्ति नेतरेऽलसाः ॥ २० ॥

भावार्थ—यहां काकु (ध्वनि) अर्थ है। कौन मनुष्य काल की सूक्ष्म और व्यर्थ खोने के अयोग्य गति को जानता है ? सब मनुष्य पुरुषार्थ करने के कालसुख नामक उषा को यथावत् नहीं जानते, इसलिए सब मनुष्य प्रातःकाल उठकर जब तक न सोवें तब तक काल का एक क्षण भी व्यर्थ न खोवें इस प्रकार जानते हुए मनुष्य सब काल में सुख भोग सकते हैं, दूसरे आलसी नहीं ॥

भाष्यसार—उषाकाल-विषयक उपदेश—उषा कारण और प्रवाह रूप से नाशरहित है, इस उषाकाल में कथा प्रिय लगती है, यह विविध जगत् को प्रकाशित करने वाली है। विद्वान् सुखभोग के लिये इसे प्रतिदिन प्राप्त करता है। वह उषाकाल को प्राप्त करके किस मनुष्य को प्राप्त नहीं होता अर्थात् सबको प्राप्त होता है। कौन मनुष्य सुखभोग के लिये तेरे समीप प्राप्त होता है अर्थात् विरल मनुष्य ही प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि काल की सूक्ष्म-गति को सब नहीं जानते। मनुष्य काल के एक क्षण को भी व्यर्थ न जाने दें ॥ २० ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायणभाष्य[1] इस प्रकार है—"अश्वि-देवों से प्रेरणा प्राप्तकर शुनःशेप ने उषा देवी की स्तुति की। हे स्तुतिप्रिय, मरणरहित 'उषा' नाम से कही जाने वाली देवते ! तेरे भोग के लिए कौन मनुष्य है ? हे विशेष प्रभाव से युक्त उषा देवि ! तेरे योग्य भोग देने में कोई भी मनुष्य समर्थ नहीं है।"

आचार्य सायण की यह महाभ्रान्ति है कि इन मन्त्रों में शुनःशेप ऋषि स्तुति कर रहा है। क्योंकि इनमें कहीं भी पाशों से मुक्त होने की प्रार्थना ही नहीं है। और सायणानुसार भी देवों का ऐश्वर्य या महिमा निरर्थक है कि जो शुनःशेप को दूसरे दूसरे देवों के पास भेज देते हैं और कोई भी उसे पाश-मुक्त नहीं करता। सायण की यह भी भ्रान्ति है कि उन्होंने अचेतन उषा को सम्बोधन करके मन्त्रार्थ किया है। क्या उषा कोई चेतनवद् देवता है, जो हमारी प्रार्थना को सुनकर तदनुसार अभीष्ट सम्पादन करती है ? निरुक्त के—

अपि ह्यदेवता देववत् स्तूयन्ते ॥ (निरु० ७। ४)

अचेतनान्यप्येवं स्तूयन्ते ॥ (निरु० ७। ७)

---

१. अश्विभ्यां प्रेरितः शुनःशेपः उषसं तुष्टाव। हे कधप्रिये स्तुतिप्रिये अमर्त्ये मरणरहिते उषः एतच्छब्दाभिधेये उषःकालाभिमानिनि देवते ! भुजे तव भोगाय मर्त्तः मनुष्यः कः विद्यते। हे विभावरि विशेषप्रभावयुक्ते उषो देवि कं पुरुषं नक्षसे प्राप्नोषि तवोचितं भोगं दातुं न कोऽपि मनुष्यः समर्थः ॥

(सायणः)

इन प्रमाणों के अनुसार मन्त्रों में अचेतन पदार्थवाची पदों में भी चेतनावत् प्रयोग हैं और अदेवताओं की भी देवतावत् स्तुति का है। उन्हें समझकर मन्त्रार्थ करना चाहिए। महर्षि दयानन्द ने यहाँ सम्बोधनान्त पदों की प्रथमान्त मानकर व्याख्या की है, जो सुसंगत है। उषा को स्तुतिप्रिय तथा मरण-रहित कहना भी भ्रान्ति है। उषाकाल में ईश्वर की स्तुति की जाती है और वह प्रवाह से अनादि है। रात-दिन के प्रवाह की तरह उषाकाल आता है और चला जाता है। उषा के भोग के लिए कौन मनुष्य समर्थ है? यह सायण-व्याख्या भी मिथ्या है। उषाकाल स्वयं कुछ भी भोग नहीं करता, प्रत्युत उषःकाल में जागने वाला मनुष्य सुखों को भोगता है। ऐसे शिक्षाप्रद मन्त्र के भाव को न समझकर सायण ने मिथ्या व्याख्या की है॥ २०॥ ●

आजीगर्त्तिः शुनःशेप ऋषिः। **उषाः** (**प्रातःकालः**) देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनः सा कीदृशी ज्ञातव्येत्युपदिश्यते॥

फिर उस उषा को कैसी जाननी चाहिये, यह उपदेश किया जाता है॥

वयं हि ते अमन्मह्यान्तादा पराकात्। अश्वे न चित्रे अरुषि॥२१॥

वयम्। हि। ते। अमन्महि आ। अन्तात्। आ। पराकात्। अश्वे। न। चित्रे। अरुषि॥२१॥

पदार्थः—(**वयम्**) कालमहिम्नो वेदितारः (**हि**) निश्चये (**ते**) तव (**अमन्महि**) विजानीयाम। **अत्र बहुलं छन्दसि** इति श्यनो लुक्। [(**आ**) (**अन्तात्**) **समीपात्**] (**आ**) मर्यादायाम् (**पराकात्**) दूरदेशात् (**अश्वे**) प्रतिक्षणं शिक्षिते तुरङ्गे (**न**) इव (**चित्रे**) आश्चर्यव्यवहारे (**अरुषि**) रक्तगुणप्रकाशयुक्ता॥ २१॥

प्रमाणार्थ—(**अमन्महि**) यहां 'बहुलं छन्दसि' (अ० २। ४। ७३) इस सूत्र से 'श्यन्' विकरण-प्रत्यय का लुक् है॥

अन्वयः—हे विद्वन् यथा वयं या चित्रेऽरुष्यद्भुतता रक्तगुणाढ्यास्ति तामन्तादाभिमुख्यात्समीपस्थाद्देशादापराकाद्दूरदेशाच्चाश्वेनामन्महि तथा त्वमपि विजानीहि॥

सपदार्थान्वयः—**हे विद्वन्! यथा वयं** कालमहिमानो वेदितारः **या चित्रे** आश्चर्यव्यवहारे **अरुषि**=**अद्भुतता रक्तगुणाढ्या** रक्तगुणप्रकाशयुक्ता **अस्ति, तामान्तात्**=**आभिमुख्यात् समीपस्थाद् देशादापराकाद्**=**दूरदेशाच्चाश्वे** प्रतिक्षणे शिक्षिते तुरङ्गे **न** इव **अमन्महि** विजानीयाम, **तथा त्वमपि विजानीहि॥**

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः। ये मनुष्या भूतभविष्यद्वर्त्तमानकालान् यथावदुपयोजितुं जानन्ति तेषां पुरुषार्थेन दूरस्थ समीपस्थानि सर्वाणि कार्याणि सिध्यन्ति, अतो नैव केनापि मनुष्येण क्षणमात्रोपि व्यर्थः कालः कदाचिन्नेय इति॥

भाषार्थ—हे विद्वन्! जैसे (**वयम्**) काल की महिमा को जानने वाले हम लोग—जो (**चित्रे**) आश्चर्ययुक्त व्यवहार में (**अरुषि**) रक्त गुण और प्रकाश से युक्त उषा है, उसको (**आ**+**अन्तात्**) समीपस्थ देश से और (**आ**+**पराकात्**) दूर देश से (**अश्वे**) प्रतिक्षण शिक्षित घोड़े पर विद्यमान पुरुष के (**न**) समान (**अमन्महि**) जानते हैं, वैसे आप भी जानो॥

भावार्थ—यहां उपमा अलंकार है। जो मनुष्य भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान काल का यथावत् उपयोग करना जानते हैं, उनके पुरुषार्थ से दूर और समीप के सब कार्य सिद्ध होते हैं; इस लिए कोई भी मनुष्य क्षण मात्र भी कभी व्यर्थ काल न खोवे॥ २१॥

भाष्यसार—उषा को कैसी जानें- काल की महिमा को जानने वाले लोग जो आश्चर्य-युक्त व्यवहार में रक्त गुण और प्रकाश से युक्त जो उषा है उसे समीप और दूर देश से आने वाले प्रतिक्षण शिक्षित घोड़े पर आरूढ़ पुरुष के समान गतिशील समझें। अर्थात् भूत, भविष्यत् वर्तमान कालों का यथावत् उपयोग करना जानें और समीप या दूर देश में स्थित सब कार्यों को सिद्ध करें ॥

अलङ्कार—इस मन्त्र में 'न' पद उपमा-वाचक है, अतः उपमा अलङ्कार है। उपमा यह है कि उषा अश्व पर आरूढ़ पुरुष के समान गतिशील है ॥ २१ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे व्यापनशील, अद्भुत, दीप्तिमती उषादेवता ! तेरे दूर या समीप के स्वरूप को हम मनुष्य नहीं जान सकते हैं।"

इस मन्त्र की व्याख्या में भी सायणाचार्य ने उषा के विशेषणों की व्याख्या सम्बोधन मानकर की है। यह उनकी भूल है। इसमें प्रथम मन्त्र में निरुक्त का प्रमाण दिया गया है कि मन्त्रों में चेतनावत् स्तुति होने पर भी ये चेतन नहीं हैं। अतः उनको सम्बोधन कैसे किया जा सकता है ? क्या ये हमारी प्रार्थना को सुनकर हमारा अभीष्ट सिद्ध कर सकते हैं ? महर्षि की व्याख्या में इस भ्रान्ति का बिलकुल ही अभाव है। उषा भी एक काल है। काल का महत्त्व जानकर प्रत्येक मनुष्य उन्नति कर सकता है। किन्तु आचार्य सायण लिखते हैं कि हम उषा को जान ही नहीं सकते। उन्होंने यह भी विचार नहीं किया कि मन्त्र में 'न' पद निषेधार्थक नहीं, उपमार्थक है। 'न' पद के विषय में सायण ने निरुक्तशास्त्र के नियम का भी उल्लंघन किया है। निरुक्त में यह स्पष्ट लिखा है कि 'न' का प्रयोग कहाँ निषेधार्थक होता है और कहाँ उपमार्थक। निरुक्तकार लिखते हैं—

पुरस्तादुपचारस्तस्य यत् प्रतिषेधति।
उपदिष्टादुपचारस्तस्य येनोपमिमिते ॥ (निरु० १। ४)

अर्थात् वेद में 'न' का प्रयोग निषेधार्थ तथा उपमार्थ दोनों में होता है। किन्तु प्रतिषेध अर्थ में प्रतिषेध्य से पूर्व आता है। जैसे—'नेन्द्रं देवममंसत।' और उपमार्थ में उपमान के पीछे 'न' का प्रयोग होता है। जैसे कि प्रस्तुत मन्त्र में 'अश्वे न' प्रयोग है। महर्षि ने इस शास्त्रीय नियम को ध्यान में रखकर उपमार्थ में ही व्याख्या की है। यह सायण की महाभ्रान्ति है ॥ २१ ॥ ●

आजीगर्त्तः शुनःशेप ऋषिः। **उषाः** (प्रातःकालः) देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

पुनः सा कीदृशीत्युपदिश्यते ॥

फिर वह उषा कैसी है, यह उपदेश किया जाता है ॥

त्वं त्येभिरा गहि वाजेभिर्दुहितर्दिवः। अस्मे रयिं नि धारय ॥ २२ ॥

त्वं। त्येभिः। आ। गहि। वाजेभिः। दुहितः। दिवः। अस्मे इति। रयिम्। नि। धारय ॥ २२ ॥

पदार्थः—(**त्वम्**) कालकृत्यवित् (**त्येभिः**) शोभनैः कालावयवैः सह। **अत्र बहुलं छन्दसि** इति भिस ऐस न। (**आ**) समन्तात् (**गहि**) प्राप्नुहि। **अत्र बहुलं छन्दसि** इति शपो लुक्। (**वाजेभिः**) अन्नादिभिः पदार्थैः। अत्रापि पूर्ववद्भिस ऐस न। (**दुहितः**) दुहिता=पुत्रीव। **दुहिता दुर्हिता दूरेहिता दोग्धेर्वा।** निरु० ३। ४। (**दिवः**) **दिवो द्योतनकर्मणामादित्यरश्मीनाम्।** निरु० १३। २५। अनेन

१. अश्वे व्यापनशीले चित्रे चायनीये अरुषि आरोचमाने उषःकालाभिमानिनि देवते तव स्वरूपम् आन्तात् समीपपर्यन्तम् आपराकात् दूरपर्यन्तं वयं मनुष्या न अमन्महि न बोद्धुं समर्थाः ॥ (सायणः)

सूर्यप्रकाशस्य दिव इति नामास्ति। (**अस्मे**) अस्मभ्यम् (**रयिम्**) विद्यासुवर्णादिधनम् (**नि**) नितरां क्रियायोगे (**धारय**) संपादय॥ २२॥

प्रमाणार्थ—यहां 'बहुलं छन्दसि' (अ० ७। ३। १०) इस सूत्र से 'भिस्' को 'ऐस' आदेश नहीं है। (**गहि**) यहां 'बहुलं छन्दसि' (अ० २। ४। ७३) इस सूत्र से 'शप्' विकरण प्रत्यय का लुक् है। (**दुहितः**) निरुक्त (३। ४) के अनुसार दुहिता पद का अर्थ—दूर ही जिसका हित है अथवा जो पिता से कुछ न कुछ पदार्थ दोहती ही रहती है। (**दिवः**) निरुक्त (१३। २५) के अनुसार द्योतन अर्थ वाली आदित्य-रश्मियां 'दिव' कहलाती हैं, इससे सूर्य-प्रकाश का 'दिवः' नाम है॥ २२॥

अन्वयः—हे कालमाहात्म्यवित् विद्वंस्त्वं या दिवो दुहितर्दुहितोषाः संसाधिता सती त्येभिः कालावयवैरस्मे अस्मान् वाजेभिरन्नादिभिश्च सहानन्दाय समन्तात्प्राप्नोति तयाऽस्मभ्यं रयिं निधारय नित्यं संपादयैवमागहि सर्वथा तद्विद्यां ज्ञापय यतो वयमपि कालं व्यर्थं न नयेम॥ २२॥

सपदार्थान्वयः—हे **कालमाहात्म्यवित् विद्वन्**! **त्वं** कालकृत्यवित् **या दिवः** सूर्यप्रकाशस्य **दुहितः=दुहितोषाः** पुत्रीव **संसाधिता सती त्येभिः=कालावयवैः** शोभनैः **अस्मे=अस्मान्** अस्मभ्यं **वाजेभिः=अन्नादिभिः** पदार्थैः **च सहानन्दाय समन्तात् प्राप्नोति तयाऽस्मभ्यं रयिं** विद्यासुवर्णादिधनं **नि+धारय=नित्यं संपादयैवमागहि=सर्वथा तद्विद्यां ज्ञापय** समन्तात्प्राप्नुहि **यतो वयमपि कालं व्यर्थं न नयेम॥ २२॥**

भाषार्थ—हे काल के माहात्म्य को जानने वाले विद्वान्! (**त्वम्**) आप—जो (**दिवः**) सूर्य की (**दुहितः**) पुत्री के समान उषा सिद्ध की हुई (**त्येभिः**) शोभन काल-अवयवों से (**अस्मे**) हमारे लिये (**वाजेभिः**) अन्न आदि पदार्थों के साथ आनन्द के लिये सब ओर से प्राप्त होती है, उससे हमारे लिये (**रयिम्**) विद्या और सुवर्ण आदि धन को (**नि+धारय**) नित्य सम्पादित करो, और (**आगहि**) सर्वथा उस विद्या का उपदेश करो तथा सब ओर से उसे प्राप्त करो, जिससे हम भी काल को व्यर्थ न खोवें॥ २२॥

भावार्थः—ये मनुष्याः कालं व्यर्थं न नयन्ति तेषां सर्वः कालः सर्वकार्यसिद्धिप्रदो भवति नेतरेषामिति॥ २२॥

भावार्थ—जो मनुष्य काल को व्यर्थ नहीं गंवाते, उनको सब काल सब कार्यों की सिद्धि देने वाला होता है; अन्यों को नहीं॥ २२॥

भाष्यसार—**उषा कैसी है**—उषा सूर्य की पुत्री के समान है। वह यथावत् सिद्ध की हुई शोभन काल-अवयवों से अन्न आदि पदार्थों के साथ आनन्द के लिये हमें प्राप्त होती है। काल की महिमा को जानने वाला विद्वान् उषा के सदुपयोग से विद्या और सुवर्ण आदि धन को सिद्ध करे। वह काल-विद्या का उपदेश करे तथा स्वयं भी उसे सब ओर से प्राप्त करे॥ २२॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायणभाष्य[1] इस प्रकार है—"हे द्युदेवता की पुत्री उषा देवी! तुम उन अन्नों के साथ यहाँ आओ। और हमारे में धन की स्थापना करो।"

द्युदेवता की पुत्री उषा अन्नों के साथ हमारे पास आए और हमें धन-सम्पन्न करे, इस सायण के भाष्य में अनेक भ्रान्तियाँ हैं। यह द्युदेवता कौन है? जिसकी उषा पुत्री है। क्या कभी उषा देवता अन्नों के साथ हमारे पास आती है और हमें धन देती है? यथार्थ में सायण ने कल्पित देवों की उड़ान

१. हे दिवः दुहितः द्युदेवतायाः पुत्रि उषो देवि! त्येभिः वाजेभिः तैरन्नैः सह त्वम् आगहि अत्रागच्छ। अस्मे अस्मासु रयिं धनं निधारय नितरां स्थापय॥ (सायणः)

में मन्त्र के गाम्भीर्य को ही नहीं समझा है। सूर्य ही द्युदेवता है। उससे उत्पन्न होने के कारण उषा पुत्री के समान है। इसके प्रतिदिन आने से अन्न फलादि की पुष्टि तथा वृद्धि होती है। यही इसका अन्नों के साथ आना है। ऐसा कभी नहीं होता कि उषा नामिका देवता अन्न की बोरी भरकर हमें देती हो। और जो मनुष्य उषाकाल में उठकर अपने कार्यों में लग जाते है, उनका सर्वविध ऐश्वर्य बढ़ जाता है और जो आलसी इस अमूल्य वेला में सोते रहते हैं, वे दरिद्र ही बने रहते हैं। यही उषा का धन-सम्पदा प्रदान करना है। महर्षि की व्याख्या सुसंगत होने से संग्राह्य है ॥ २२ ॥

पूर्वापरसङ्गतिमाह—अत्र पूर्वसूक्तोक्तविद्यानुषङ्गिणामिन्द्राश्व्युषसामर्थानां प्रतिपादनात् पूर्वसूक्तार्थेनैतत्सूक्तार्थस्य सङ्गतिरस्तीति बोध्यम् ॥ ३० ॥

पूर्वापरसङ्गति—इस सूक्त में पूर्व सूक्त के अनुषङ्गी इन्द्र, अश्विनौ और उषा अर्थों के प्रतिपादन से पूर्व सूक्त के अर्थ के साथ इस सूक्त के अर्थ की संगति है, ऐसा जानो ॥ ३० ॥

इति प्रथमाष्टके द्वितीयाध्याय एकत्रिंशो वर्गः प्रथममण्डले षष्ठोऽनुवाकस्त्रिंशं सूक्तं च समाप्तम् ॥ ३ ॥

यह पहिले अष्टक के दूसरे अध्याय में इकतीसवां वर्ग तथा पहिले मण्डल में छठा अनुवाक और तीसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥ ३० ॥ ●

अथैकत्रिंशत्तमं सूक्तम् ॥

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **अग्निः** (**ईश्वरः**) देवता। जगती छन्दः। निषादः स्वरः ॥

तत्रादिमेनेश्वर उपदिश्यते ॥

अब इकतीसवें सूक्त का प्रारम्भ है। उसके पहिले मन्त्र में ईश्वर-विषय का उपदेश किया जाता है ॥

त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा।
तव व्रते कवयो विद्मनापसोऽजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टयः ॥ १ ॥

त्वम्। अग्ने। प्रथमः। अंगिराः। ऋषिः। देवः। देवानाम्। अभवः। शिवः। सखा। तव। व्रते। कवयः। विद्मनाऽपसः। अजायन्त। मरुतः। भ्राजत्ऽऋष्टयः ॥ १ ॥

पदार्थः—(**त्वम्**) जगदीश्वरः (**अग्ने**) स्वप्रकाशविज्ञानस्वरूपेश्वर (**प्रथमः**) अनादिस्वरूपो जगतः कल्पादौ सदा वर्त्तमानः (**अङ्गिराः**) पृथिव्यादीनां ब्रह्माण्डस्य शिरआदीनां शरीरस्य रसोन्तर्यामिरूपेणावस्थितः। **आंगिरसो अंगानाꣳहि रसः**। श० १४। ३। १। २१ (**ऋषिः**) सर्वविद्याविद्वेदोपदेष्टा (**देवः**) आनन्दोत्पादकः (**देवानाम्**) विदुषाम्) (**अभवः**) भवसि। **अत्र लडर्थे लङ्**। (**शिवः**) मङ्गलमयो जीवानां मङ्गलकारी च (**सखा**) सर्वदुःखविनाशनेन सहायकारी (**तव**) जगदीश्वरस्य (**व्रते**) धर्माचारपालनाज्ञानियमे (**कवयः**) विद्वांसः (**विद्मनापसः**) वेदनं=विद्म तद्विद्यते येषु तानि विज्ञाननिमित्तानि समन्तादपांसि=कर्माणि येषां ते (**अजायन्त**) जायन्ते। **अत्र लडर्थे लङ्**। (**मरुतः**) धर्मप्राप्ता मनुष्याः। **मरुत इति पदनामसु पठितम्**। निघं० ५। ५। (**भ्राजदृष्टयः**) भ्राजत्=प्रकाशमाना विद्या **ऋष्टिर्ज्ञानं** येषां ते ॥ **१** ॥

प्रमाणार्थ—(**अङ्गिराः**) शतपथ ब्राह्मण (१४ । ३ । १ । २१) के अनुसार 'अङ्गिरस' पद का अर्थ अङ्गों का रस है। (**अभवः**) यहां लट् लकार के अर्थ में लङ् लकार है। (**अजायन्त**) यहां लट् लकार के अर्थ में लङ् लकार है। (**मरुतः**) यह पद निघण्टु (५ । ५) में पद-नामों में पढ़ा है, पद के अर्थ ज्ञान, गमन, और प्राप्ति हैं, अतः यहाँ प्राप्ति अर्थ का ग्रहण किया है ॥ १ ॥

अन्वयः—हे अग्ने यतस्त्वं प्रथमोऽङ्गिरा ऋषिर्देवानां देवः शिवः सखाऽभवो भवसि ये विद्मनापसो [मरुतः] मनुष्यास्तव व्रते वर्त्तन्ते तस्मात्तएव भ्राजद्दृष्टयः कवयोऽजायन्त जायन्ते ॥ १ ॥

सपदार्थान्वयः— हे **अग्ने** ! स्वप्रकाशविज्ञानस्वरूपेश्वर ! **यतस्त्वं प्रथमः** अनादिस्वरूपो जगतः कल्पादौ सदा वर्त्तमानः **अङ्गिराः** पृथिव्यादीनां ब्रह्माण्डस्य, शिर आदीनां शरीरस्य रसोन्तर्यामिरूपेणावस्थितः **ऋषिः** सर्वविद्याविद्वेदोपदेष्टा **देवानां** विदुषां **देवः** आनन्दोत्पादकः **शिवः** मंगलमयो जीवानां मंगलकारी **च सखा** सर्वदुःखविनाशनेन सहायकारी **अभवः=भवसि, ये विद्मनापसः** वेदनं=विद्म तद्विद्यते येषु तानि विज्ञाननिमित्तानि समन्तादपांसि=कर्माणि येषां ते [**मरुतः**]=**मनुष्या धर्मप्राप्ता मनुष्याः तव** जगदीश्वरस्य **व्रते** धर्माचारपालनाज्ञानियमे **वर्त्तन्ते तस्मात्त एव भ्राजद्दृष्टयः** भ्रजत्=प्रकाशमाना विद्या ऋष्टिर्ज्ञानं येषां ते **कवयः** विद्वांसः **अजायन्त=जायन्ते** ॥ १ ॥

भावार्थः— य ईश्वराज्ञाधर्मविद्वत्संगान् विहाय किमपि न कुर्वन्ति तेषां जगदीश्वरेण सह मित्रता भवन्ति। पुनस्तन्मत्रतया तेषामात्मसु सत्यविद्याप्रकाशो जायते। पुनस्ते विद्वांसो भूत्वोत्तमानि कर्माण्यनुष्ठाय सर्वेषां प्राणिनां सुखप्रापकत्वेन प्रसिद्धा भवन्तीति ॥ १ ॥

भाषार्थ—हे (**अग्ने**) स्वप्रकाशस्वरूप एवं विज्ञानस्वरूप ईश्वर क्योंकि आप (**प्रथमः**) अनादिस्वरूप हो, जगत् के कल्प के आदि में सदा वर्तमान हो, (**अङ्गिराः**) पृथिवी आदि ब्रह्माण्ड, शिर आदि शरीर के रस अर्थात् अन्तर्यामीरूप से अवस्थित हो, (**ऋषिः**) सब विद्याओं के ज्ञाता एवं वेद के उपदेष्टा हो, (**देवानाम्**) विद्वानों के (**देवः**) आनन्द उत्पादक (**शिवः**) मङ्गलमय और जीवों के मंगलकारी तथा (**सखा**) सब दुःखों के विनाश से सहायक (**अभवः**) हो, और जो (**विद्मनापसः**) विज्ञाननिमित्त कर्म करने वाले [**मरुतः**] धर्म को प्राप्त मनुष्य (**तव**) आपके (**व्रते**) धर्माचरण के पालन रूप आज्ञा नियम में रहते हैं, इसलिये वे ही (**भ्राजद्दृष्टयः**) प्रकाशमान विद्या और ज्ञान वाले (**कवयः**) विद्वान् (**अजायन्त**) बनते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जो ईश्वर की आज्ञा, धर्म और विद्वानों के संग को छोड़कर कुछ भी नहीं करते, उनकी परमेश्वर के साथ मित्रता होती है। फिर उस मित्रता से उनके आत्मा में सत्य विद्या का प्रकाश होता है। फिर वे विद्वान् होकर उत्तम कर्मों का अनुष्ठान करके सब प्राणियों को सुख प्राप्त कराने वाले होने से प्रसिद्ध होते हैं ॥ १ ॥

भाष्यसार—**ईश्वर विषयक उपदेश**—ईश्वर स्वप्रकाशस्वरूप, विज्ञानस्वरूप और अनादिस्वरूप है। वह जगत् के कल्प के आदि में सदा वर्तमान रहता है। वह पृथिवी आदि ब्रह्माण्ड और शिर आदि शरीर का रस है अर्थात् इनमें अन्तर्यामी रूप से अवस्थित है। वह सब विद्याओं का ज्ञाता एवं वेद का उपदेष्टा है। वह विद्वानों के आनन्द का उत्पादक है। वह स्वयं मङ्गलमय और सब जीवों का मङ्गलकारी है। वह सब दुःखों का विनाशक होने से जीव का सहायकारी है।

जो विज्ञान के निमित्त कर्म करने वाले, धर्मात्मा मनुष्य धर्माचरणरूप ईश्वर की आज्ञा में रहते हैं, वे विद्या और ज्ञान से प्रकाशमान विद्वान् बनते हैं ॥ १ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अग्निदेव ! तुम अङ्गिरसादि ऋषियों को उत्पन्न करने के कारण सब से प्रथम हो। और वैसे अङ्गिरा नामक ऋषि हुए। और स्वयं देव होकर दूसरे देवों के मित्र हो गए। तुम्हारे कर्म में मेधावी, ज्ञानी तथा दीप्यमान शस्त्र वाले मरुत्संज्ञक देव उत्पन्न हुए।"

इस मन्त्र का देवता 'अग्नि' है। सायण ने इसकी कोई व्याख्या नहीं की है। इसलिए मन्त्रार्थ अस्पष्ट है। इसी सूक्त के दूसरे मन्त्र में अग्नि को सायण ने अरणियों के मन्थन से उत्पन्न स्वीकार किया है। जिससे उन की मान्यता का स्पष्टीकरण हो जाता है कि सायण 'अग्नि' शब्द से भौतिक अग्नि का ही ग्रहण करते हैं। इस मन्त्र में जो अग्नि के विशेषण पठित हैं, उनसे स्पष्ट है कि यहाँ भौतिकाग्नि ग्रहण कदापि नहीं हो सकता। सायण के भाष्य के अनुसार भी इन विशेषणों की संगति भौतिकाग्नि के साथ कदापि नहीं हो सकती। यह भौतिकाग्नि आङ्गिरसादि ऋषियों तथा मेधावी, ज्ञानी, दीप्यमान शस्त्र वाले मरुद्देवों को कैसे उत्पन्न कर सकता है ? क्या अग्नि आदि जड़ पदार्थों में ऋषियों व देवों के उत्पन्न करने का सामर्थ्य है ? यह सायण की महाभ्रान्ति तथा सृष्टिक्रम-विरुद्ध व्याख्या है। ऋषि और देव मन्त्र के अनुसार मनुष्यों के भेद हैं। क्योंकि उन्हें मेधावी व ज्ञानी कहा है। यह भौतिकाग्नि मेधा व ज्ञान से स्वयं हीन है, अतः ज्ञानी व मेधावी देवों को कैसे उत्पन्न कर सकती है ? क्या ईश्वरीय मनुष्यादि के उत्पन्न करने की व्यवस्था को कोई अन्यथा कर सकता है ?

महर्षि-दयानन्द ने इस मन्त्र की बहुत ही सुसंगत व्याख्या की है। उन्होंने 'अग्नि' का अर्थ यहाँ 'ईश्वर' किया है। और उनका यह अर्थ वेद के अनुकूल है। वेद में 'तदेवाग्निस्तदादित्यः' (यजु०) इत्यादि मन्त्रों में स्पष्टरूप से ईश्वर को अग्नि कहा है। मन्त्र के पदों की भी ईश्वर-परक अर्थ में पूर्णतः संगति है। जैसे यह अग्नि=ईश्वर अनादि सनातन सत्ता होने से सृष्टि के प्रथम=आदि में विद्यमान था और अब भी है। वह ईश्वराग्नि अङ्गिरा=पृथिव्यादि ब्रह्माण्ड तथा शरीरादि में अन्तर्यामी होने से व्यापक है। महर्षि ने 'अङ्गिराः' पद के अर्थ निर्देश में शतपथ ब्राह्मण का प्रमाण दिया है। वह ऋषि= सब विद्याओं का ज्ञाता, देवानां=देवों (विद्वानों) का भी देवः=आनन्द देने वाला अथवा महादेव, शिवः=जीवों का कल्याणकारी और सखा=जीवों के अज्ञानादि के नाश करने में सदा सहायक होता है। उस ईश्वराग्नि के व्रत=वेदोपदिष्ट सत्याचरणादि कर्म करने से ज्ञानी व मेधावी विद्वान् बनते हैं। ये समस्त गुण ईश्वर में ही संगत होते हैं। महर्षि ने 'मरुतः' पद का अर्थ निघं० का प्रमाण देकर 'धर्म-प्राप्त मनुष्य' किया है। भौतिकाग्नि जिसे हम प्रत्यक्ष देखते हैं, उससे ऋषियों व देवों की उत्पत्ति दिखाकर सायण ने मन्त्र के रहस्य को न समझकर बहुत ही भ्रान्तिपूर्ण व्याख्या की है।

सायण के भाष्य में 'भ्राजदृष्टयः' का अर्थ भी असंगत किया है। ऐसे मरुत्संज्ञक देव सायण ने स्वप्नजाल में ग्रस्त होकर देखे होंगे, जिनके शस्त्र चमक रहे हों। इस पद में दो पद हैं—भ्राजद्, ऋष्टिः। 'ऋष्टिः' शब्द में 'ऋषी गतौ' धातु है, जिसके अनुसार 'ज्ञान' अर्थ सत्य तथा प्रकरणानुकूल है। उसका शस्त्र अर्थ करना सर्वथा असंगत ही है ॥ १ ॥ ●

---

१. हे अग्ने त्वं प्रथमः आद्यः आंगिरसानामृषीणां सवषां जनकत्वात्। तादृशः अङ्गिरो नामक ऋषिः अभवः। तथा स्वयं देवः भूत्वा देवानाम् अन्येषां शिवः शोभनः सखा अभवः। तव व्रते त्वदीये कर्मणि कवयः मेधाविनः विघ्नापसः ज्ञानेन व्याप्नुवानाः ज्ञातकर्माणो वा भ्राजदृष्टयः दीप्यमानायुधाः मरुतः मरुत्संज्ञकाः देवाः अजायन्त ॥ (सायणः)

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः । **अग्निः** (**ईश्वरः**) देवता । जगती छन्दः । निषादः स्वरः ।।

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

फिर वह ईश्वर कैसा है, यह उपदेश किया जाता है ॥

त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरस्तमः कविर्देवानां परि भूषसि व्रतम् ।
विभुर्विश्वस्मै भुवनाय मेधिरो द्विमाता शयुः कतिधा चिदायवे ॥ २ ॥

त्वम् । अग्ने । प्रथमः । अंगिरस्तमः । कविः । देवानाम् । परि । भूषसि । व्रतम् । विऽभुः । विश्वस्मै । भुवनाय । मेधिरः । द्विऽमाता । शयुः । कतिधा । चित् । आयवे ॥ २ ॥

पदार्थः—(त्वम्) सर्वस्यालङ्करिष्णुः (अग्ने) सर्वदुःखप्रणाशक सर्वशत्रुप्रदाहक वा (प्रथमः) अनादिस्वरूपः पूर्वं मान्यो वा (अङ्गिरस्तमः) अतिशयेनाङ्गिरा अङ्गिरस्तमः, जीवात्प्राणदन्यमनुष्यादत्यन्तोत्कृष्टः (कविः) सर्वज्ञः (देवानाम्) विदुषां सूर्यपृथिव्यादीनां लोकानां वा (परि) सर्वतः (भूषसि) अलङ्करोषि (व्रतम्) तत्तद्धर्म्यनियमम् (विभुः) सर्वव्यापकः सर्वसभासेनाङ्गैः शत्रुबलेषु व्यापनशीलो वा (विश्वस्मै) सर्वस्मै (भुवनाय) भवन्ति भूतानि यस्मिँस्तद्भुवनं तस्मै (मेधिरः) संगमकः (द्विमाता) द्वयोः प्रकाशाप्रकाशवतोर्लोकसमूहयोर्माता=निर्माता (शयुः) यः प्रलये सर्वाणि भूतानि शाययति सः (कतिधा) कतिभिः प्रकारैः (चित्) एव (आयवे) मनुष्याय । **आयव इति मनुष्यनामसु पठितम्** । निघं० २ । ३ ॥ २ ॥

प्रमाणार्थ—(आयवे) 'आयवः' यह पद निघण्टु (२ । ३) में मनुष्य-नामों में पढ़ा है ॥२॥

अन्वयः—हे अग्ने यतस्त्वं प्रथमः शयुर्मेधिरो द्विमाताऽङ्गिरस्तमो विभुः कविरसि तस्माच्चिदेवायवे मनुष्याय च देवानां व्रतं [कतिधा] परिभूरसि ॥ २ ॥

[ईश्वरः]

सपदार्थान्वयः—हे **अग्ने** सर्वदुःखप्रणाशक ! **यतस्त्वं** सर्वस्यालंकरिष्णुः **प्रथमः** अनादिस्वरूपः **शयुः** यः प्रलये सर्वाणि भूतानि शाययति सः **मेधिरः** संगमकः **द्विमाता** द्वयोः प्रकाशाप्रकाशवतोर्लोकसमूहयोर्माता = निर्माता **अङ्गिरस्तमः** अतिशयेनाङ्गिरा अङ्गिरस्तमः **विभुः** सर्वव्यापकः **कविः** सर्वज्ञः **असि, तस्मात् चित्=एव आयवे=मनुष्याय विश्वस्मै** सर्वस्मै **भुवनाय** भवन्ति भूतानि यस्मिंस्तद्भुवनं तस्मै **च देवानां** विदुषां सूर्यपृथिव्यादीनां लोकानां वा **व्रतं** तत्तद्धर्म्यनियमं [**कतिधा**] कतिभिः प्रकारैः **परि+भूषसि** सर्वतोऽलंकरोषि ॥ २ ॥

[ईश्वर]

भाषार्थ—हे (**अग्ने**) सब दुःखों के विनाशक ईश्वर ! जिससे (**त्वम्**) आप सबको अलंकृत करने वाले, (**प्रथमः**) अनादिस्वरूप, (**शयुः**) प्रलयकाल में सब भूतों को शयन कराने वाले (**मेधिरः**) संगम कराने वाले (**द्विमाता**) दो प्रकाश और अप्रकाश वाले लोकों के निर्माता (**अङ्गिरस्तमः**) अत्यन्त अन्तर्यामी (**विभुः**) सर्वव्यापक (**कविः**) सर्वज्ञ हो, इसलिये (**चित्**) ही (**आयवे**) मनुष्य और (**विश्वस्मै**) सब (**भुवनाय**) लोकों के लिये (**देवानाम्**) विद्वानों या पृथिवी आदि लोकों के (**व्रतम्**) उन-उन धर्मयुक्त नियमों को [**कतिधा**] कई प्रकार से (**परि+भूषसि**) सुशोभित करते हो ॥ २ ॥

[विद्वान्]

हे **अग्ने** ! सर्वशत्रुदाहक ! **यतस्त्वं** सर्वस्याऽ-

[विद्वान्]

हे (**अग्ने**) सब शत्रुओं के दाहक विद्वान् !

लङ्कुरिष्णुः **प्रथमः** पूर्वं मान्यः **शयुः** यः प्रलये सर्वाणि भूतानि शाययति सः **मेधिरः** संगमकः **द्विमाता** द्वयोः प्रकाशाप्रकाशवतोर्लोकसमूहयोर्माता=निर्माता **अङ्गिरस्तमः** अतिशयेनाऽङ्गिरा अङ्गिरस्तमः **विभुः** सर्वसभासेनाङ्गैः शत्रुबलेषु व्यापनशीलः **कविः** सर्वज्ञः **असि, तस्मात् चित्=एवाऽऽयवे=मनुष्याय विश्वस्मै** सर्वस्मै **भुवनाय** भवन्ति भूतानि यस्मिन् तद् भुवनं तस्मै **च देवानां** विदुषां व्रतं तत्तद्धर्म्यनियमं [**कतिधा**] कतिभिः प्रकारैः **परि+भूषसि** सर्वतोऽलङ्करोषि ॥

जिससे (**त्वम्**) आप सबको अलंकृत करने वाले (**प्रथमः**) पहले मान्य के योग्य (**शयुः**) प्रलय में सब भूतों को शयन कराने वाले, (**मेधिरः**) संगम कराने वाले (**द्विमाता**) दो प्रकाश और अप्रकाश वाले लोकों के निर्माता (**अङ्गिरस्तमः**) अन्तर्यामी (**विभुः**) सब सभा और सेना के अङ्गों से शत्रु-सेनाओं में व्यापक (**कविः**) सर्वज्ञ हो, इसलिये (**चित्**) ही (**आयवे**) मनुष्य तथा (**विश्वस्मै**) सब (**भुवनाय**) लोकों के लिये (**देवानाम्**) विद्वानों के (**व्रतम्**) उस-उस धर्मयुक्त नियम को [**कतिधा**] कई प्रकार से (**परि+भूषसि**) सुशोभित करते हो ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः । परमेश्वरो वेदद्वारा तदध्यापनेन विद्वांश्च मनुष्याणां विद्याधर्माख्यं व्रतं लोकानां नियमाख्यं च सुशोभयति येन सूर्य्यादिः प्रकाशवान् वायुपृथिव्यादिरप्रकाशवांश्च लोकसमूहः सृष्टिः, स सर्वव्याप्यस्ति । यैरीश्वरस्यैतत्कृतसृष्टेर्विद्या प्रकाश्यते ते विद्वांसो भवितुमर्हन्ति । नैव विभुना विद्वद्भिर्वा विना कश्चिद्यथार्थां विद्यां कारणात् कार्यरूपान् सर्वान् लोकान् स्रष्टुं, धारयितुं, विज्ञापयितुं च शक्नोतीति ॥ २ ॥

भावार्थ—यहां श्लेष अलंकार है। परमेश्वर वेद द्वारा और विद्वान् उनके अध्यापन द्वारा मनुष्यों के विद्या, धर्म रूप व्रत को और लोकों के नियम रूप व्रत को सुशोभित करता है। जिसने सूर्य आदि प्रकाशवान् और वायु, पृथिवी आदि अप्रकाशवान् लोकसमूह रचा है। वह सर्वव्यापी है। जो ईश्वर की और इसकी रची सृष्टि की विद्या को प्रकाशित करते हैं, वे विद्वान् हो सकते हैं। विभु ईश्वर और विद्वान् के विना कोई भी यथार्थ विद्या, कारण से कार्य रूप हुए सब लोकों को रचने, धारण करने और जानने में समर्थ नहीं हो सकता ॥ २ ॥

भाष्यसार—**ईश्वर कैसा है**—ईश्वर सब दुःखों का विनाशक, सबको शुभ गुणों से अलंकृत करने वाला, अनादिस्वरूप, प्रलयकाल में सब भूतों को शयन कराने वाला, और सृष्टि में सबका संगम कराने वाला प्रकाश और अप्रकाश वाले दो प्रकार के लोकों का निर्माता, अत्यन्त अन्तर्यामी, सर्वव्यापक और सर्वज्ञ है। वह मनुष्यों के लिये तथा सब लोकों के लिये आवश्यक धर्मयुक्त नियमों को सुशोभित करता है, उन्हें धारण करता है।

विद्वान् कैसा हो—विद्वान् सब शत्रुओं को दग्ध करने वाला, सबको विद्या से अलंकृत करने वाला, पहले मान के योग्य, यथासमय सब भूतों को विश्राम कराने वाला, और यथाकाल सबका संगम कराने वाला, प्रकाश और अप्रकाश वाले दो प्रकार के लोकों का यथावत् रचनात्मक विधि से उपयोग करने वाला, अन्तर्यामी अर्थात् मनुष्यों के अभिप्राय को जानने वाला, सभा और सेना के अङ्गों से शत्रु-सेनाओं में व्यापक होने वाला, सर्वज्ञ अर्थात् अपने विषय का मर्मज्ञ हो। वह मनुष्यों तथा सब लोकों के कल्याण के लिये आवश्यक धर्मयुक्त नियमों से विभूषित हो ॥ २ ॥

अलङ्कार—यहां श्लेष अलङ्कार से 'अग्नि' पद से ईश्वर और विद्वान् अर्थ का ग्रहण होता है ॥ २ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायणभाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अग्नि देव! तुम सब से प्रथम अतिशय से अङ्गिरा होकर मेधावी होते हुए देवों के कर्म को सब ओर से सजाते हो। तुम कैसे हो? तुम समस्त लोक पर अनुग्रह करने के लिए आहवनीयादि रूप में बहुत प्रकार के हो। तुम मेधासम्पन्न, दो अरणी=लकड़ियों से उत्पन्न अथवा दो लोकों के निर्माता हो। मनुष्यों के लिए कितने प्रकारों से सर्वत्र स्थित हो, यह कौन जान सकता है?"

इस मन्त्र के भाष्य में भी पूर्व मन्त्र की भांति ही सायण ने भ्रान्त व्याख्या की है। जिस अग्नि को सायण ने दो अरणियों के मन्थन से उत्पन्न तथा यज्ञादि में आहवनीयादि रूप में स्वीकार किया है, उसे ही मेधासम्पन्न तथा लोकों पर अनुग्रह करने वाला बताना महाभ्रान्ति है। भौतिकाग्नि में मेधाबुद्धि तथा अनुग्रहबुद्धि जड़ होने से कदापि सम्भव नहीं है। यथार्थ में सायण को मन्त्रोक्त 'द्विमाता' पद के समझने में भी भ्रान्ति रही है। यद्यपि भौतिक अग्नि दो अरणियों के मन्थन करने से उत्पन्न होने से 'द्विमाता' है, किन्तु मन्त्र में यह पद अन्तोदात्त होने से सायण का 'द्वौ मातरौ यस्य' यह बहुव्रीहि समास का विग्रह ही त्रुटिपूर्ण है। क्योंकि बहुव्रीहि समास में पूर्वपद का प्रकृति स्वर होता, समासान्तोदात्त नहीं। आचार्य सायण ने यहां अपने विग्रह की पुष्टि के लिए यद्यपि 'त्रिचकादित्वात्' लिखकर अन्तोदात्त-स्वर दिखाने का प्रयत्न किया है, किन्तु उनका यह प्रयास तब तो सत्य कहलाता, जब मन्त्रोक्त अग्नि के दूसरे विशेषणों से भौतिकाग्नि की संगति होती। जो अग्नि मनुष्यों के घरों में स्थित है, उसे मेधावी बताना जड़-चेतन के विवेक से शून्यता का प्रबल प्रमाण है। जिसने दर्शन-शास्त्रों में वर्णित जड़-चेतन के लक्षणों को ही नहीं जाना, उसे वेदभाष्य करने का क्या अधिकार हो सकता है?

महर्षि-दयानन्द ने यहाँ भी 'अग्नि' का अर्थ 'ईश्वर' किया है। मन्त्र के पदों की ईश्वर-परक अर्थ में पूर्णतः संगति है। जैसे ईश्वर प्रथमः=अनादिस्वरूप सृष्टि के आदि में विद्यमान, शयुः=प्रलय में सब जीवों का शयन कराने वाला, मेधिरः=(मेधृ संगमे) पञ्चभूतों से संगम कराकर सृष्टि बनाने वाला, द्विमाता=प्रकाशात्मक तथा अप्रकाशात्मक लोकों का बनाने वाला, विभुः=सर्वत्र व्यापक, अंगिरस्तमः=अतिशय से अन्तर्यामी और सूर्यादि देवों को क्रियावृत करने वाला है। सायण का भाष्य मन्त्र के विशेषणों से प्रतिकूल तथा असंगत होने से मिथ्या है॥ २॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **अग्निः** (ईश्वरः सभाध्यक्षश्च) देवता। जगती छन्दः॥ निषादः स्वरः॥

पुनस्तौ कीदृशावित्युपदिश्यते॥

वे ईश्वर और सभाध्यक्ष कैसे हैं, यह उपदेश किया जाता है॥

त्वमग्ने प्रथमो मातरिश्वन आविर्भव सुक्रतुया विवस्वते।
अरेजेतां रोदसी होतृवूर्येऽसघ्नोर्भारमयजो महो वसो॥ ३॥

१. हे अग्ने त्वं प्रथमः आद्यः अंगिरस्तमः अतिशयेन अङ्गिराः भूत्वा कविः मेधावी सन् देवानाम् अन्येषां व्रतं कर्म परिभूषसि परितः अलङ्करोषि। कीदृशस्त्वम्। विश्वस्मै भुवनाय समस्तलोकानुग्रहार्थं विभुः बहुविधः। आहवनीयाद्यनेकरूपधारीत्यर्थः। मेधिरः मेधावान् द्विमाता द्वयोः अरण्योः उत्पन्नः। यद्वा द्वयोर्लोकयोः निर्माता। आयवे मनुष्यार्थं कतिधा चित् कतिभिः प्रकारैः सर्वत्र शयुः शयानः। तत्तन्मनुष्य-गृहेऽवस्थितस्य तव प्रकारा इयन्त इति न केनापि ज्ञायते इत्यर्थः॥ (सायणः)

त्वम् । अग्ने । प्रथमः । मातरिश्वने । आविः । भव । सुक्रतुया । विवस्वते । अरेजेताम् । रोदसी इति । होतृऽवूर्ये । असघ्नोः । भारम् । अयजः । महः । वसो इति ॥ ३ ॥

पदार्थः—(त्वम्) ईश्वरः सभाध्यक्षो वा (अग्ने) विज्ञापक (प्रथमः) कारणरूपेणाऽनादिर्वा कार्य्येष्वादिमः (मातरिश्वने) यो मातर्याकाशे श्वसिति सोयं मातरिश्वा=वायुस्तत्प्रकाशाय (आविः) प्रसिद्धार्थे (भव) भावय (सुक्रतुया) शोभनः क्रतुः=प्रज्ञा कर्म वा यस्मात् तेन। अत्र सुपां सुलुग् इति याडादेशः। (विवस्वते) सूर्यलोकाय (अरेजेताम्) चलतः भ्यसते रेजतइति भयवेपनयोः। निरु० ३।२१। (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ। रोदसी इति द्यावापृथिवीनामसु पठितम्। निघं० ३। ३०। (होतृवूर्ये) होतृणां स्वीकर्त्तव्ये। अत्र वृ वरणे इत्यस्मात् बाहुलकादौणादिकः क्यथ्प्रत्ययः। उदोष्ठ्य पूर्वस्य। अ० ७।१।१०२ इत्यृकारस्योकारः। हलि च इति दीर्घश्च। (असघ्नोः) हिंस्याः (भारम्) (अयजः) संगमयसि (महः) महान्तम् (वसो) वासयति सर्वान् यस्तत्संबुद्धौ ॥ ३ ॥

प्रमाणार्थ—(सुक्रतुया) यहां 'सुपां सुलुक्०' (अ० ७। १। ३९) इस सूत्र से विभक्ति के स्थान में 'याट्' आदेश है। (अरेजेताम्) 'भ्यसते, रेजते' ये दो पद निरुक्त (३।२१) के अनुसार भय तथा कम्पन अर्थ वाले हैं। (रोदसी) यह पद निघण्टु (३। ३०) में द्यावापृथिवी-नामों में पढ़ा है। (होतृवूर्ये) यहां वरण अर्थ वाली 'वृ' धातु से बहुल करके औणादिक 'क्यथ्' प्रत्यय है, 'उदोष्ठ्य पूर्वस्य' (अ० ७। १। १०२) इस सूत्र से धातुस्थ ऋकार को उकार आदेश है, और 'हलि च' (अ० ८।२।७७) इस सूत्र से हल् परे रहने पर धातु की उपधा 'इक्'='उ' को दीर्घ है ॥ ३ ॥

अन्वयः—हे अग्ने जगदीश्वर विद्वन् वा प्रथमस्त्वं येन सुक्रतुया मातरिश्वना होतृवूर्ये रोदसी द्यावापृथिव्यावरेजेतां तस्मै मातरिश्वने विवस्वते चाविर्भवैतौ प्रकटीभावय हे वसो याभ्यां महो-भारमयजो यजसि तौ नो बोधय ॥ ३ ॥

[ईश्वरः]

सपदार्थान्वयः—हे **अग्ने=जगदीश्वर** विज्ञापक! **प्रथमः** कारणरूपेणाऽनादिः **त्वं** ईश्वरः **येन सुक्रतुया** शोभनः क्रतुः प्रज्ञा कर्म वा यस्मात् तेन **मातरिश्वना होतृवूर्ये** होतृणां स्वीकर्त्तव्ये **रोदसी=द्यावापृथिव्यौ अरेजेतां** चलतः, **तस्मै मातरिश्वने** यो मातर्याकाशे श्वसिति सोऽयं मातरिश्वा=वायुस्तत्प्रकाशाय **विवस्वते** सूर्यलोकाय **चाविर्भव=एतौ प्रकटीभावय।**

हे **वसो**! वासयति सर्वान् यस्तत्संबुद्धौ [शत्रूनसघ्नोः] हिंस्याः **याभ्यां महः** महान्तं **भार-मयजः=यजसि, तौ नो बोधय** ॥ ३ ॥

[ईश्वर]

भाषार्थ—हे (अग्ने) विज्ञापक जगदीश्वर! (प्रथमः) कारण रूप से अनादि (त्वम्) आप जिससे (सुक्रतुया) उत्तम प्रज्ञा या कर्म के हेतु वायु से (होतृवूर्ये) होताओं के स्वीकार करने योग्य (रोदसी) द्यावापृथिवी (अरेजेताम्) चलती हैं, उस (मातरिश्वने) वायु और (विवस्वते) सूर्यलोक (आविर्भव) इन दोनों को प्रकट करो।

हे (वसो) सब को बसाने वाले ईश्वर! आप शत्रुओं का (असघ्नोः) विनाश करो, और जिस वायु और अग्नि से (महः) महान् (भारम्) भार को (अयजः) देशान्तर में पहुँचाते हो, उनका हमें बोध कराओ।

[सभाध्यक्षः]

हे **अग्ने**! **विद्वन्** विज्ञापक! **प्रथमः** कार्येष्वा-

[सभाध्यक्ष]

हे (अग्ने) विज्ञापक विद्वन्! (प्रथमः) कार्यों में

दिमः त्व सभाध्यक्षः **येन सुक्रतुया** शोभनः क्रतुः=प्रज्ञा कर्म वा यस्मात् तेन **मातरिश्वना होतृवूर्ये** होतॄणां स्वीकर्त्तव्ये **रोदसी**=द्यावापृथिव्यौ **अरेजेतां** चलतः; **तस्मै मातरिश्वने** यो मातर्याकाशे श्वसिति सोऽयं मातरिश्वा=वायुस्तत्प्रकाशाय **विवस्वते** सूर्यलोकाय **चाऽऽविर्भव**=**एतौ प्रकटीभावय**।

हे वसो! वासयति सर्वान् यस्तत्सम्बुद्धौ! [**शत्रूनसघ्नोः**] हिंस्याः **याभ्यां महः** महान्तं **भारमयजः**=**यजसि, तौ नो बोधय** ॥ ३ ॥

प्रथम रहने वाले (**त्वम्**) आप सभाध्यक्ष जिससे (**सुक्रतुया**) उत्तम प्रज्ञा या कर्म के हेतु वायु से (**होतृवूर्ये**) होताओं के स्वीकार करने योग्य (**रोदसी**) द्यावापृथिवी (**अरेजेताम्**) चलती हैं, उस (**मातरिश्वने**) वायु और (**विवस्वते**) सूर्यलोक को (**आविर्भव**) प्रसिद्ध करो।

हे (**वसो**) सब के निवास के हेतु सभाध्यक्ष! आप शत्रुओं का [**असघ्नोः**] विनाश करो, और जिस वायु अग्नि से (**महः**) महान् (**भारम्**) भार को (**अयजः**) देशान्तर में पहुँचाते हो, उनका हमें बोध कराओ ॥ ३ ॥

भावार्थः—कारणरूपोग्निः स्वकारणाद्वायुनिमित्तेन सूर्याकृतिर्भूत्वा तमो हत्त्वा पृथिवीप्रकाशौ धरति स यज्ञशिल्पहेतुर्भूत्वा कलायन्त्रेषु प्रयोजितः सन् महाभारयुक्तान्यपि यानानि सद्यो गमयतीति ॥ ३ ॥

भावार्थ—कारण रूप अग्नि अपने कारण से वायु के निमित्त से सूर्य रूप होकर, अन्धकार का नाश करके, पृथ्वी और प्रकाश को धारण करता है। वह यज्ञ और शिल्पों का हेतु होकर कलायन्त्रों में प्रयुक्त किया हुआ महान् भारयुक्त यानों को शीघ्र चलाता है ॥ ३ ॥

भाष्यसार—ईश्वर कैसा है—ईश्वर सब पदार्थों का विज्ञापक है। वह सब का कारण होने से अनादि है। वह उत्तम प्रज्ञा और कर्म के हेतु वायु से द्यावापृथिवी को संचालन करता है। वह वायु और सूर्यलोक को प्रकट करता है। वह वसु अर्थात् सब को बसाने वाला है। वह धार्मिक जनों के शत्रुओं का विनाश करता है। वह वायु और अग्नि से महान् भार को देशान्तर में ले जाने की विद्या का हमें वेदोपदेश से बोध कराता है ॥

सभाध्यक्ष कैसा हो—सभाध्यक्ष सब पदार्थों का विज्ञापक अर्थात् उपदेश करने वाला हो। वह सब कार्यों में प्रथम रहने वाला हो। उत्तम प्रज्ञा और कर्म के हेतु जिस वायु से द्यावापृथिवी चलती हैं उस वायु और सूर्यलोक को प्रसिद्ध करे अर्थात् इनकी विद्या का प्रकाश करे। सभाध्यक्ष सब के निवास का हेतु होकर धार्मिक जनों के शत्रुओं का विनाश करे। वायु और अग्नि से महान् भार को देशान्तर में ले जाने की विद्या का सबको बोध करावें ॥ ३ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अग्ने! तू वायु के लिये मुख्य हो। वैसे तुम शुभ-कर्म करने की इच्छा से यजमान के लिए प्रकट होते हो। तेरी शक्ति को देखकर द्युलोक तथा पृथिवी लोक कम्पित हुए हैं। तुम ने यज्ञ-कर्म में भार को वहन किया है। हे सबके निवास के हेतु अग्ने! तुम ने पूज्य देवों का हवन किया है।"

---

१. हे अग्ने त्वं मातरिश्वने प्रथमः मुख्यो भूत्वा वर्त्तसे। तादृशस्त्वं सुक्रतुया शोभनकर्मेच्छया विवस्वते परिचरते यजमानाय आविर्भव प्रकटो भव। तव सामर्थ्यं दृष्ट्वा रोदसी द्यावापृथिव्यौ अरेजेताम् अकम्पेताम्। होतृवूर्ये होतृवरणयुक्ते कर्मणि भारं भरणम् असघ्नोः ऊढवानसि। हे वसो निवासहेतो वह्ने! महः पूज्यान् देवान् अयजः इष्टवानसि ॥ (सायणः)

इस मन्त्र का देवता 'अग्नि' है। सायण-भाष्य के अनुसार यह अग्नि भौतिकाग्नि है। क्योंकि उन्होंने इस सूक्त के दूसरे मन्त्र-भाष्य में अग्नि को अरणियों के मंथन से उत्पन्न माना है। सायण के अपने भाष्य के अनुसार इस मन्त्रार्थ की असंगतियाँ देखिए—यह भौतिकाग्नि जड़ वस्तु है, उसमें शोभन कर्म करने की इच्छा कदापि नहीं हो सकती। इच्छा तो जीवात्मा का धर्म है। और अग्नि यजमान के लिए प्रकट होती है, यह कथन भी अनुचित है। इस अग्नि को यज्ञ से अन्यत्र भी (पाकशालादि में) प्रज्वलित किया जाता है। सायण ने मन्त्र के 'विवस्वते' पद का अर्थ 'यजमानाय' मिथ्या किया है। "विवस्वते आदित्यात्" (निरु० ७। ३) प्रमाण के अनुसार 'विवस्वान्' का अर्थ 'सूर्य' होना चाहिए। और अग्नि के सामर्थ्य को देखकर द्युलोक तथा पृथिवीलोक कम्पित हो जाते हैं, यह कथन भी निराधार है। द्युलोक तथा पृथिवीलोक अचेतन वस्तुएँ हैं। उनका देखना तथा भयभीत होना कदापि संभव नहीं है। और सायण ने 'होतृवूर्ये' पद की सप्तम्यन्त मानकर व्याख्या की है। यह भी उनकी भ्रान्ति है। इसका सम्बन्ध 'रोदसी' के साथ संगत होता है। वायु के द्वारा द्युलोक व पृथिवी-लोक में रेजन=गति होती है। अथवा वायु के प्रयोग से इन लोकों में गति (गमन) की जा सकती है। मन्त्र के उत्तरार्द्ध के अन्तिम भाग का तो सायण ने अनर्थ ही कर दिया है। 'यह अग्निभार को वहन करता है' यह अर्थ सत्य नहीं है। असघ्नोः' पद में 'षघ हिंसायाम्' धातु है। उसका 'वहन' अर्थ करना क्लिष्ट कल्पना ही है। और धातुओं को अनेकार्थक मानकर भी ऐसा अर्थ यहाँ संगत नहीं है। मन्त्र में 'भारम्' का विशेषण 'महः' पद है। जिनको न समझकर सायण ने विशेषण-विशेष्य भाव को भी नहीं समझा। यह अग्नि कलायन्त्रों में प्रयुक्त होने पर महान् भार को देशान्तर में पहुँचाता है। यह वैज्ञानिक तथ्य सायण की समझ में कैसे आता? उसकी बुद्धि तो पौराणिक कल्पना से पूर्ण थी। स्कन्दस्वामी ने इस पौराणिक कल्पना को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"देवताओं में कुछ देवता अपनी-अपनी हवियों को ले जाने में समर्थ नहीं थे। क्योंकि एक-एक आहुति तीन लोक के भार से भी बढ़कर थी। जब हवि छीनने की इच्छा से असुरों ने देवों का पीछा किया, तब देवों की प्रार्थना पर अग्नि ने उनके हवि-भार का वहन किया।" इस कल्पित बात का कोई आधार नहीं है। एक-एक हवि को तीन लोकों से भी भारी बताना महागप्प है। ऐसी भारी हवियों को देवता कैसे वहन करते होंगे? और वे देवता किस के आश्रय से स्थित रहते होंगे? वे देवता तीनों लोकों के अन्दर हैं या बाहर! ऐसी असम्भव बातों को इन विद्वानों ने कैसे स्वीकार कर लिया! यह बहुत ही आश्चर्य की बात है। सायण ने भी इसी कल्पना का आश्रय लिया है अतः मन्त्रार्थ असंगत है।

महर्षि दयानन्द ने समस्त मन्त्र पर गम्भीरता से विचार करके बहुत ही संगत तथा वैज्ञानिक अर्थ किया है। महर्षि ने भौतिकाग्नि अर्थ न करके 'ईश्वर तथा सभाध्यक्ष' अर्थ करके उनसे प्रार्थना की है। क्योंकि जड़ अग्नि से प्रार्थना करना निरर्थक है। वह परमेश्वर प्रथम कारणरूप में अनादि है, वह उन वायु और सूर्य को बनाकर प्रकट करता है, जिनसे द्यलोक और पृथिवीलोक धारण और गति कर रहे हैं। वह शत्रुजनों का विनाश करता है। और ऐसे शिल्प-ज्ञान को प्राप्त कराता है, जिसके आश्रय से महान् भार को वहन करने वाले विशेष यानों को वैज्ञानिक लोग बनाने में समर्थ हो जाते हैं। महर्षि के मन्त्रार्थ में किसी भी पदार्थ में असंगति नहीं है। 'यज्' धातु का 'देशान्तर प्रापण' अर्थ भी शास्त्रसम्मत है। महर्षि ने 'रोदसी होतृवूर्ये' पदों की संगति विशेषण-विशेष्य भाव लगाकर की है और जड़-चेतन के लक्षणों को ध्यान में रखकर मिथ्या बातों का कहीं भी आश्रय नहीं किया है॥ ३॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **अग्निः** (ईश्वरः) देवता। जगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

पुनः स ईश्वरः कीदृश इत्युपदिश्यते॥

फिर वह ईश्वर कैसा है, यह उपदेश किया जाता है॥

त्वमग्ने मनवे द्यामवाशयः पुरूरवसे सुकृते सुकृत्तरः।
श्वात्रेण यत्पित्रोर्मुच्यसे पर्या त्वा पूर्वमनयन्नापरं पुनः॥ ४॥

त्वम्। अग्ने। मनवे। द्याम्। अवाशयः। पुरूरवसे। सुऽकृते। सुकृत्ऽतरः। श्वात्रेण। यत्। पित्रोः। मुच्यसे। परि। आ। त्वा। पूर्वम्। अनयन्। आ। अपरम्। पुनरिति॥ ४॥

पदार्थः—(त्वम्) सर्वप्रकाशकः (अग्ने) परमेश्वर (मनवे) मन्यते=जानाति विद्याप्रकाशेन सर्वव्यवहारं तस्मै ज्ञानवते मनुष्याय (द्याम्) सूर्य्यलोकम् (अवाशयः) प्रकाशितवान् (पुरूरवसे) पुरवो=बहवो रवा=शब्दा यस्य विदुषस्तस्मै। **पुरूरवा बहुधा रोरूयते।** निरु० १०। ४६। **पुरूरवा इतिपदनामसु पठितम्।** निघं० ५। ४। अनेन ज्ञानवान् मनुष्यो गृह्यते। अत्र पुरूपदाद्रशब्द इत्यस्मात् **पुरूरवाः।** उ० ४। २३३। इत्यसुन्प्रत्ययान्तो निपातितः। (सुकृते) यः शोभनानि कर्माणि करोति तस्मै (सुकृत्तरः) योतिशयेन शोभनानि करोतीति सः (श्वात्रेण) धनेन विज्ञानेन वा **श्वात्रमिति धननामसु पठितम्** निघं० २। १०। **पदनामसु च** निघं० ४। २। (यत्) यं यस्य वा (पित्रोः) मातुः पितुश्च सकाशात् (मुच्यसे) मुक्तो भवसि (परि) सर्वतः (आ) अभितः (त्वा) त्वां जीवम् (पूर्वम्) पूर्वकल्पे पूर्वजन्मनि वा वर्त्तमानं देहम् [अनयन्] (पुनः) पश्चादर्थे॥ ४॥

प्रमाणार्थ—(पुरूरवसे) 'पुरूरवा' पद का अर्थ निरुक्त (१०। ४६) के अनुसार बहुत शब्द करने वाला है। 'पुरूरवा' यह पद निघण्टु (५। ४) में पद-नामों में पढ़ा है, पद के अर्थ ज्ञान, गमन और प्राप्ति हैं, अतः यहां ज्ञान अर्थ का ग्रहण किया है। यहां 'पुरू' उपपद पूर्वक 'रु शब्दे' इस धातु से 'पुरूरवाः' (४। २३७) इस उणादि सूत्र से असुन् प्रत्ययान्त निपातन है। (श्वात्रेण) 'श्वात्रम्' यह पद निघण्टु (२। १०) में धन-नामों में पढ़ा है तथा निघण्टु (४। २) में पद-नामों से पढ़ा है। पद के अर्थ ज्ञान, गमन और प्राप्ति हैं, अतः यहां विज्ञान अर्थ का ग्रहण किया है॥ ४॥

अन्वयः—हे अग्ने=जगदीश्वर सुकृत्तरस्त्वं पुरूरवसे सुकृते मनवे द्यामवाशयः श्वात्रेण सह वर्त्तमानं त्वां विद्वांसः पूर्वं पुनरपरं चानयन्=प्राप्नुवन्ति। हे जीव ये त्वां श्वात्रेण सह वर्त्तमानं पूर्वमपरं च देहं विज्ञापयति यद्यतः पर्यामुच्यसे=समन्तादुदुःखान्मुक्तो भवसि यस्य च नियमेन त्वं पित्रोः सकाशान्महाकल्पान्ते पुनरागच्छसि तस्य सेवनं ज्ञानं च कुरु॥ ४॥

सपदार्थान्वयः— हे अग्ने=जगदीश्वर! सुकृत्तरः योऽतिशयेन शोभनानि करोतीति सः त्वं सर्वप्रकाशकः पुरूरवसे पुरवो=बहवो रवा=शब्दा यस्य विदुषस्तस्मै सुकृते यः शोभनानि कर्माणि करोति तस्मै मनवे मन्यते=जानाति विद्याप्रकाशेन सर्वव्यवहारं तस्मै ज्ञानवते मनुष्याय द्यां सूर्य्यलोकम् अवाशयः प्रकाशितवान्, श्वात्रेण धनेन विज्ञानेन वा सह वर्त्तमानं

भाषार्थ— हे (अग्ने) जगदीश्वर! (सुकृत्तमः) अत्यन्त उत्तम कर्म करने वाले (त्वम्) सबके प्रकाशक आपने—(पुरूरवसे) बहुत शब्द वाले विद्वान् (सुकृते) उत्तम कर्म करने वाले (मनवे) विद्याप्रकाश से सब व्यवहार को जानने वाले मनुष्य के लिये (द्याम्) सूर्यलोक को (अवाशयः) प्रकाशित किया है, (श्वात्रेण) धन या विज्ञान के साथ वर्तमान [त्वा] आपको विद्वान्

[त्वा]=त्वां विद्वांसः पूर्वं पूर्वकल्पे पुनः पश्चाद् अपरं चानयन्=प्राप्नुवन्ति।

हे जीव यः [त्वा]=त्वां श्वात्रेण धनेन विज्ञानेन वा सह वर्त्तमानं पूर्वं पूर्वजन्मनि वा अपरं च देहं विज्ञापयति, यद्=यतः परि+आ+मुच्यसे=समन्ताद् दुःखान्मुक्तो भवसि सर्वतोऽभितो मुक्तो भवसि, यस्य च नियमेन त्वं पित्रोः मातुः पितुश्च सकाशात् महाकल्पान्ते पुनः पश्चाद् आगच्छसि; तस्य सेवनं ज्ञानं च कुरु ॥ ४ ॥

भावार्थः—येन जगदीश्वरेण सूर्य्यादिकं जगद्रचितं, येन विदुषा सुशिक्षा ग्राह्यते, तस्य प्राप्तिः सुकृतैः कर्मभिर्भवति चक्रवर्त्तिराज्यादि-धनस्य चेति ॥ ४ ॥

लोग (पूर्वम्) पूर्वकल्प में (पुनः) और (अपरम्) इस कल्प में (आनयन्) प्राप्त करते हैं।

हे जीव ! जो जीव ! जो ईश्वर (श्वात्रेण) धन और विज्ञान से युक्त [त्वा] तुझे (पूर्वम्) पूर्व जन्म में और (अपरम्) इस जन्म में देह प्रदान करता है, (यत्) जिससे (परि+मुच्यसे) सब ओर से दुःख से मुक्त होता है, और जिसके नियम से तू (पित्रोः) माता-पिता के पास से महाकल्प के अन्त में (पुनः) फिर संसार में आता है, उस ईश्वर की सेवा (उपासना) और ज्ञान प्राप्त कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिस जगदीश्वर ने सूर्य आदि जगत् रचा है, तथा जिस विद्वान् से सुशिक्षा ग्रहण की जाती है, उसकी और चक्रवर्ती राज्य आदि धन की प्राप्ति अच्छे कर्मों से होती है ॥ ४ ॥

भाष्यसार—**ईश्वर कैसा है**—जगदीश्वर अत्यन्त उत्तम कर्म करने वाला और सबका प्रकाशक है। उसने बहुत शब्द वाले, उत्तम कर्म करने वाले और विद्या-प्रकाश से सब व्यवहार को जानने वाले विद्वान् मनुष्य के लिये सूर्यलोक को प्रकाशित किया है। विद्वान् लोग धन और विज्ञान से युक्त उस ईश्वर को पूर्वकल्प में और इस कल्प में प्राप्त करते हैं। वह जीव को पूर्वजन्म में और इस जन्म में देह प्रदान करता है। जिससे जीव दुःख से मुक्त होता है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है। और वह जीव महाकल्प के अन्त में ईश्वर के नियम से माता-पिता के पास से फिर संसार में आता है अर्थात् पुनर्जन्म लेता है। जीव उस ईश्वर की सेवा (उपासना) करे और उसका यथावत् ज्ञान प्राप्त करे ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायणभाष्य[1] इस प्रकार है="हे अग्ने ! तुमने मनुष्य पर अनुग्रह करने के लिए द्युलोक को शब्दयुक्त किया है अर्थात् द्युलोक पुण्य कर्मों से साध्य है, यह तुमने प्रकट किया है। सेवा करने वाले पुरूरवा नामक राजा पर अनुकम्पा करने के लिए अत्यधिक अच्छे फलवाले कार्य करने वाले हुए हो। जब अरणियों के शीघ्र मन्थन करने से तुम उत्पन्न होते हो, तब तुम्हें वेदी के पूर्वदेश में आहवनीयरूप में स्थापित करते हैं। तत्पश्चात् पश्चिम देश में गार्हपत्यरूप में स्थापित करते हैं।"

इस मन्त्रार्थ में भी सायणभाष्य में अनेक विसंगतियाँ हैं। जड़ अग्नि का मनुष्य पर अनुग्रह करना, द्युलोक को शब्दयुक्त करना, द्युलोक को पुण्य-कर्मों से साध्य मानना मनु तथा पुरूरवा नामक राजा पर जड़ अग्नि का अनुकम्पित होना और राजाओं के अनित्येतिहास को वेद में दिखानादि सायण

---

१. हे अग्ने ! त्वं मनवे मनोरनुग्रहार्थं द्यां द्युलोकम् अवाशयः शब्दितवानसि। पुण्यकर्मभिः साध्यो द्युलोक इति प्रकटितवानसि। सुकृते तव परिचरणं कुर्वते पुरूरवसे एतन्नामकस्य राज्ञोऽनुग्रहार्थं सुकृत्तरः अतिशयेन शोभनफलकार्यभूः। यत् यदा पित्रोः अरण्योः श्वात्रेण क्षिप्रप्रमथनेन परिमुच्यसे परितो मुक्तो भवसि उत्पद्यसे इत्यर्थः। तदानीं त्वा अरण्योरुत्पन्नं त्वां पूर्वं वेदेः पूर्वदेशम् आनयन् आहवनीयत्वेन स्थापितवन्तः। पुनः पश्चात् अपरं पश्चिमदेशम् आनयन् गार्हपत्यरूपेण प्रापितवन्तः ॥ (सायणः)

की महाभ्रान्तियाँ हैं। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि कोई भी जड़ देव हमारे पर अनुकम्पा भाव नहीं कर सकता, अतः जड़देवों की अनुकम्पा के लिए प्रार्थना करना निरर्थक है। और पुण्य-अपुण्य कर्मों का फल परमेश्वर सब योनियों में देता है। फिर द्युलोक को ही पुण्य कर्मों से साध्य मानना मिथ्या कल्पना ही है। और वेद ईश्वरीय शाश्वत ज्ञान है। मनु के निर्देशानुसार वेद के शब्दों को लेकर लोक में नाम रक्खे गए, न कि लोक के शब्दों के आश्रय से वेद की रचना हुई। फिर यौगिक वैदिक पदों के रूढ़ अर्थ करना क्या शास्त्रविरुद्ध तथा परस्परविरुद्ध मान्यता नहीं है ?

महर्षि दयानन्द ने यहाँ 'अग्नि-देवता' का अर्थ 'ईश्वर' किया है। इसकी संगति समस्त मन्त्र के साथ हो रही है। वह ईश्वर मनुष्य के लिए द्याम्=द्युलोक को प्रकाशित करता है। 'पुरूरवाः' के सम्बन्ध में निरुक्त का प्रमाण देकर महर्षि ने इसका अर्थ शब्दविद्या का विद्वान् अर्थ किया है। और इसको तथा 'सुकृते' पदों को 'मनवे' का विशेषण मानकर अर्थ किया है। सायण ने इन पदों के विशेषण-विशेष्यभाव को ही नहीं समझा। वह ईश्वर 'सुकृत्तरः' जीवों का शुभाशुभकर्मफल व्यवस्था के द्वारा कल्याण करने वाला है। और उस ईश्वर को ही पूर्वकल्पों तथा इस कल्प में प्राप्त करने का विद्वान् लोग प्रयत्न करते रहे हैं। उस ईश्वर की कृपा से जीव माता-पिता से मिलने वाले जन्म-जन्मान्तर के चक्र से छूटता है, अतः वह ईश्वर उपासनीय है।

आचार्य सायण ने मन्त्र के उत्तरार्द्ध को तो समझा ही नहीं है। यह भौतिकाग्नि पितृस्थानीय अरणियों से प्रकट होता है, यह तो सत्य है, किन्तु 'मुच्यसे' पद का अर्थ उत्पन्न होता है यह एक क्लिष्ट कल्पना ही है। और 'श्वात्रेण' का अर्थ 'क्षि-प्रमथनेन' काल्पनिक है। महर्षि ने (निघं० २। १०) के प्रमाण से इस पद के उस शास्त्रीय अर्थ को दिखाया है, जिसको ऋषियों ने योग-साधना से साक्षात्कार किया था। सायण के अर्थ में कोई प्रमाण नहीं है ॥ ४ ॥

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **अग्निः** (ईश्वरः) देवता। जगती छन्दः। निषादः स्वरः ॥

पुनः स उपदिश्यते ॥

फिर ईश्वर-विषय का उपदेश किया जाता है ॥

त्वमग्ने वृषभः पुष्टिवर्द्धन उद्यतस्रुचे भवसि श्रवाय्यः।
य आहुतिं परि वेदा वषट्कृतिमेकायुरग्रे विश आविवासति ॥ ५ ॥

त्वम्। अग्ने। वृषभः। पुष्टिऽवर्धनः। उद्यतऽस्रुचे। भवसि। श्रवाय्यः। यः। आऽहुतिम्। परि। वेद। वषट्कृतिम्। एकऽआयुः। अग्रे। विशः। आऽविवासति ॥ ५ ॥

पदार्थः—(**त्वम्**) (**अग्ने**) प्रज्ञेश्वर (**वृषभ**) यो वर्षति सुखानि सः (**पुष्टिवर्धनः**) पुष्टिं वर्धयतीति (**उद्यतस्रुचे**) उद्यता=उत्कृष्टतया गृहीता स्रुग् येन तस्मै यज्ञानुष्ठात्रे (**भवसि**) (**श्रवाय्यः**) श्रोतुं श्रावयितुं योग्यः। (**यः**) (**आहुतिम्**) समन्ताद्धूयन्ते=गृह्यन्ते शुभानि यया ताम् (**परि**) सर्वतः (**वेद**) जानासि। **अत्र द्व्यचोतस्तिङ** इति दीर्घः। (**वषट्कृतिम्**) वषट् क्रिया क्रियते यस्यां रीत्यां ताम् (**एकायुः**) एकं सत्यगुणस्वभावमायुर्यस्य सः (**अग्रे**) प्रथमम् (**विशः**) प्रजाः (**आविवासति**) समन्तात् परिचरति। **विवासतीति परिचरणकर्मसु पठितम्।** निघं० । ३ । ५ ॥

प्रमाणार्थ—(**वेद**) यहाँ 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (अ० ६ । ३ । १३५) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—वेदा । (**आविवासति**) यह पद निघण्टु (३ । ५) में परिचरणार्थक-क्रियाओं में पढ़ा है—परिचरण=सेवा ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे अग्ने जगदीश्वर यस्त्वमग्ने उद्यतस्रुचे श्रवाय्यो वृषभ एकायुः पुष्टिवर्धनो भवसि, यस्त्वं वषट्कृतिमाहुति [वेद]=विज्ञापयसि विशः सर्वाः प्रजाः पुष्टिवृद्ध्या तं त्वां सुखानि च पर्याविवासति ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः—**अग्ने**=जगदीश्वर ! **यस्त्वमग्रे** प्रथमं **उद्यतस्रुचे** उद्यता=उत्कृष्टतया गृहीता स्रुग् येन तस्मै यज्ञानुष्ठात्रे **श्रवाय्यः** श्रोतुं श्रावयितुं योग्यः **वृषभः** यो वर्षति सुखानि सः **एकायुः** एकं सत्यगुणस्वभावमायुर्यस्य सः **पुष्टिवर्धनः** पुष्टिं वर्धयतीति **भवसि, यस्त्वम् वषट्कृतिं** वषट्क्रिया क्रियते यस्य रीत्यां ताम् **आहुतिं** [**वेद**]=**विज्ञापयसि विशः**=**सर्वाः प्रजाः पुष्टिवृद्ध्या तं त्वां, सखानि च पर्याविवासति ॥ ५ ॥**

भाषार्थ—हे (**अग्ने**) जगदीश्वर ! जो आप—(**अग्रे**) प्रथम (**उद्यतस्रुचे**) अच्छे प्रकार से स्रुवा ग्रहण करनेवाले याजक के लिए (**श्रवाय्यः**) सुनने-सुनाने योग्य (**वृषभः**) सुखों की वर्षा करने वाले (**एकायुः**) एक सत्य गुण, स्वभाव रूप आयु वाले और (**पुष्टिवर्धनः**) पुष्टि को बढ़ाने वाले हो—जो आप (**वषट्कृतिम्**) जिसमें वषट्क्रिया की जाती है उस आहुति को [**वेद**] बतलाते हो, (**विशः**) सब प्रजा पुष्टि की वृद्धि से उस आपका और सुखों का (**परि+आविवासति**) सेवन करती है ॥ ५ ॥

भावार्थः—मनुष्यैरादौ जगत्कारणं, ब्रह्मज्ञानं, यज्ञविद्यायां च याः क्रिया, यादृशानि होतुं योग्यानि द्रव्याणि सन्ति, तानि सम्यग्विदित्वैतेषां प्रयोगविज्ञानेन, शुद्धानां वायुवृष्टिजलशोधनहेतूनां द्रव्याणामग्नौ होमे कृते सेविते चास्मिन् जगति महान्ति सुखानि वर्धन्ते, तैः सर्वा प्रजा आनन्दिता भवन्तीति वेदितव्यम् ॥ ५ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य प्रथम जगत् का कारण, ब्रह्म का ज्ञान और यज्ञविद्या में जो किया तथा जिस प्रकार के हवन करने योग्य पदार्थ हैं, उनको अच्छे प्रकार जानकर, इनके प्रयोग-विज्ञान से शुद्ध वर्षा और जल के शोधन करने वाले पदार्थों का अग्नि में हवन करने तथा सेवन करने से इस जगत् में महान् सुख बढ़ते हैं, उनसे सब प्रजा आनन्दित होती है, ऐसा जाने ॥ ५ ॥

भाष्यसार—**ईश्वर कैसा है**—जगदीश्वर प्रथम अच्छे प्रकार से स्रुवा ग्रहण करने वाले याजक के लिए सुनने-सुनाने योग्य, सुखों की वर्षा करने वाला, एक सत्य गुण स्वभाव रूप आयु वाला और पुष्टि को बढ़ाने वाला है । वही जिसमें वषट्-क्रिया की जाती है उस आहुति का उपदेश करता है । अतः सब प्रजा को उचित है कि उस ब्रह्म की उपासना करे और सब सुखों का सेवन करें ॥ ५ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अग्ने ! तुम कामनाओं की वर्षा करने वाले और यजमान के धनादि को पुष्ट तथा बढ़ाने वाले हो । और चमचा लिये यजमान पर

---

१. हे अग्ने ! त्वं वृषभः कामानां वर्षिता पुष्टिवर्धनः यजमानस्य धनादिपोषाभिवृद्धिहेतुः उद्यतस्रुचे उद्धृतया स्रुचा युक्ताय यजमानाय तदनुग्रहार्थं श्रवाय्यः मन्त्रैः श्रवणीयः भवसि । यः यजमानः वषट्कृतिं वषट्कारयुक्ताम् आहुतिं परिवेद परितो जानाति समर्पयतीत्यर्थः । एकायुः मुख्यान्नः त्वम् अग्ने प्रथमं तं यजमानं विशः तदनुकूलाः प्रजाः आविवाससि सर्वतः प्रकाशयसि ॥ (सायणः) ।

कृपा करने के लिए मन्त्रों से सुनने योग्य हो। जो यजमान वषट्कारयुक्त आहुति को सर्वथा जानता है, तुम उस यजमान की प्रजा को मुख्य अन्नवाले होकर सब ओर से प्रकाशित करते हो।"

इस मन्त्र का देवता 'अग्नि' है। इस मन्त्र में अग्नि के विषय में निम्न बातें कही गई हैं— "वृषभः=यह अग्नि सुखों की वर्षा करने वाला, एकायुः=एक आयुवाला अर्थात् सदा एकरस रहने से एक सत्य गुण स्वभाव वाला, पुष्टिवर्धनः=पुष्टि को बढ़ाने वाला, वषट्कृतिम् आहुतिं वेद=वषट् क्रिया वाली याज्ञिक क्रियाओं को जानने वाला श्रवाय्यः=सुनने योग्य और विश आविवासति=प्रजाओं का सब ओर से सेवन करता है।" इन विशेषताओं से स्पष्ट है कि यहां भौतिकाग्नि का वर्णन न होकर ईश्वराग्नि का वर्णन है। क्योंकि सुखों की वृष्टि करना, एकायु वाला होना, याज्ञिकक्रियाओं को जानना तथा प्रजाओं का सेवन करना आदि विशेषण भौतिकाग्नि के लिए संगत नहीं हैं। जड़ वस्तु में जाननादि क्रियाएँ सम्भव भी नहीं हैं।

आचार्य-सायण की व्याख्या में प्रमुख दोष यह है कि उनके किए पदार्थों की भी परस्पर संगति भौतिकाग्नि में नहीं है। यह अचेतन अग्नि ज्ञान आदि के बिना मनुष्यों की क्रियाओं को कभी नहीं जान सकता और सुखों की वर्षा भी नहीं कर सकता। प्रजाओं का सेवन करना अथवा प्रकाशित करना ईश्वर का ही कार्य है, भौतिकाग्नि का नहीं। मन्त्रोक्त 'एकायुः' पद को समझने में तो सायणादि भाष्यकारों को बहुत भ्रान्ति रही है। ईश्वर ही एक ऐसी सत्ता है, जो शाश्वत तथा निर्विकार होने से सदा एकरस रहता है, अतः वह 'एकायुः' है। ये अग्नि आदि भौतिक पदार्थ अपने कारण में लीन होनेवाले होने से नष्ट होनेवाले हैं, अतः जड़-अग्नि 'एकायुः' नहीं हो सकती। सायण को स्वयं इसकी संगति रुचिकर नहीं लगी, अतः उन्होंने इसका 'मुख्यान्नः' अर्थ कर दिया है। यह उनकी असंगत कल्पना ही है। स्कन्दस्वामी ने इसकी संगति न देखकर एक आख्यायिका ही देदी है कि 'उर्वशी के पुत्र आयु ने गन्धर्वलोक से अग्नि को लाकर प्रथम स्थापित किया अतः अग्नि का प्रथम आहर्त्ता होने से 'एकायुः' प्रसिद्ध हुआ।" वेंकटमाधव ने इस पद का अर्थ "अविच्छिन्नायुः"=जिसकी आयु कभी नष्ट न होती' किया है। ये दोनों व्याख्याएँ भी भौतिकाग्नि के लिए संगत नहीं हैं। भौतिकाग्नि का गन्धर्वलोक से प्रथम लाना एक मिथ्या धारणा है। जिस अग्नि को अरणियों के मन्थन से उत्पन्न माना है उसको गन्धर्वलोक से कैसे लाया जा सकता है? और गन्धर्वलोक कौन सा लोकविशेष है? क्या परमेश्वर ने पृथिवीलोक पर बिना अग्नि के ही पञ्चभौतिक पदार्थों की रचना की थी? गन्धर्वलोक से अग्नि की भान्ति वायु आदि कौन से लोक से आए? इत्यादि अनेक भ्रान्तियाँ एक मिथ्या-मान्यता को मानने से पैदा होती हैं। और 'अविच्छिन्नायुः' अर्थ तो ईश्वर से भिन्न किसी भी पदार्थ के लिए संगत नहीं होता। और इन पौराणिक भाष्यकारों के भाष्यों में यह भी दोष है कि इन्होंने यहां अग्नि को भौतिकाग्नि मानकर उससे प्रार्थनाएँ मानी हैं। क्या जड़ अग्नि हमारी प्रार्थनाओं को सुनने तथा तदनुकूल कार्य करने में समर्थ हो सकता है? प्राचीन आर्य लोग जड़-देवी-देवताओं की पूजा करते थे, ऐसी पाश्चात्य विद्वानों की भ्रान्तियों का कारण ये सायणादि के असंगत तथा मिथ्या भाष्य ही हैं॥ ५॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **अग्निः (सेनापतिः)** देवता। जगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

अथेश्वरोपासकः प्रजारक्षकः किं कुर्यादित्युपदिश्यते॥

अब ईश्वर का उपासक प्रजा का पालक क्या करे, यह उपदेश किया जाता है॥

त्वमग्ने वृजिनवर्त्तनिं नरं सक्मन् पिपर्षि विदथे विचर्षणे ।
यः शूरसाता परितक्म्ये धने दभ्रेभिश्चित्समृता हंसि भूयसः ॥ ६ ॥

त्वम् । अग्ने । वृजिनऽवर्त्तनिम् । नरम् । सक्मन् । पिपर्षि । विदथे । विऽचर्षणे । यः । शूरऽसाता । परिऽतक्म्ये । धने । दभ्रेभिः । चित् । सम्ऽऋता । हंसि । भूयसः ॥ ६ ॥

पदार्थः—(त्वम्) प्रजापालनेऽधिकृतः (**अग्ने**) सर्वतोभिरक्षक (**वृजिनवर्त्तनिम्**) वृजिनस्य=बलस्य वर्त्तनिर्मार्गो यस्य तम् । **अत्र सह सुपेति** समासः । **वृजिनमिति बलनामसु पठितम्** । निघं० २।९ । (**नरम्**) मनुष्यम् (**सक्मन्**) यः सचति तत्संबुद्धौ (**पिपर्षि**) पालयसि (**विदथे**) धर्म्ये युद्धे यज्ञे । **विदथइति यज्ञनामसु पठितम्** । निघं० ३ । १७ । (**विचर्षणे**) विविधपदार्थानां यथार्थद्रष्टा तत्सम्बुद्धौ (**यः**) (**शूरसाता**) शूराणां सातिः=संभजनं यस्मिन् तस्मिन् संग्रामे । **शूरसाताविति संग्रामनामसु पठितम्** । निघं० २ । १७ । **अत्र सुपां सुलुग्** इति ङेः स्थाने डादेशः । (**परितक्म्ये**) परितः=सर्वतो हर्षनिमित्ते (**धने**) सुवर्णविद्याचक्रवर्त्तिराज्यादियुक्ते द्रव्ये (**दभ्रेभिः**) अल्पैर्युद्धसाधनैः सह । **दभ्रमिति ह्रस्वनामसु पठितम्** । निघं० ३ । २ । **दभ्रमर्भकमित्यल्पस्य दभ्रं दम्नोतेः सुदम्भं भवत्यर्भकमवहृतं भवति** । निरु० ३ । २० **अत्र बहुलं छन्दसि** इति भिस ऐस् न । (**चित्**) अपि (**समृता**) सम्मक् ऋतं=सत्यं येषु तानि **अत्र** शेः**स्थाने डादेशः** । (**हंसि**) (**भूयसः**) बहून् ॥ ६ ॥

प्रमाणार्थ—(**वृजिनवर्तनिम्**) यहां 'सह सुपा' (अ० २ । १ । ४) इस सूत्र से समास है । 'वृजनम्' यह पद निघण्टु (२ । ९) में बल-नामों में पढ़ा है । (**विदथे**) 'विदथ' यह पद निघण्टु (३ । १७) में यज्ञ-नामों में पढ़ा है । (**शूरसाता**) 'शूरसातौ' यह पद निघण्टु (२ । १७) में संग्राम-नामों में पढ़ा है । यहां 'सुपां सुलुक्० (७ । १ । ३९) इस सूत्र से 'ङि' विभक्ति के स्थान में 'डा' आदेश है (**दभ्रेभिः**) 'दभ्रम्' यह पद 'निघण्टु (३ । २) में ह्रस्व-नामों में पढ़ा है, निरुक्त (३ । २०) के अनुसार 'दभ्र और अर्भक ये दोनों पद अल्पार्थक हैं, 'दभ्रम्' यहां 'दम्भु दम्भने' धातु से उणादि (२ । १३) सूत्र से 'रक्' प्रत्यय है । थोड़ी वस्तु सुदम्भ=सुभेद्य होती है, अर्भक अवहृत=न्यून परिमाण वाला होता है । यहां 'बहुलं छन्दसि' (अ० ७ । १ । १०) इस सूत्र से 'भिस्' को 'ऐस्' आदेश नहीं हुआ । (**समृता**) यहां 'शि' के स्थान पर 'सुपां सुलुक्०' (अ० ७ । १ । ३९) इस सूत्र से 'डा' आदेश है ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे सक्मन् विचर्षणेऽग्ने सेनापते यो न्यायविद्याप्रकाशमानस्त्वं विदथे शूरसातौ युद्धे दभ्रेभिरल्पै [चित्]=रपि साधनैर्वृजिनवर्तनिं नरं भूयसः शत्रूंश्च हंसि समृता-समृतानि कर्माणि पिपर्षि स त्वं नः सेनाध्यक्षो भव ॥ ६ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **सक्मन्** यः सचति तत्सम्बुद्धौ **विचर्षणे** विविधपदार्थानां यथार्थद्रष्टा तत्सम्बुद्धौ अग्ने सर्वतोऽभिरक्षक **सेनापते** ! **यो न्यायविद्यया प्रकाशमानस्त्वं विदथे** धर्म्ये युद्धे यज्ञे [**शूरसाता**] **शूरसातौ**=युद्धे शूराणां सातिः संभजनं यस्मिन् तस्मिन् संग्रामे **दभ्रेभिः**=अल्पैः [**चित्**] **अपि साधनैर्वृजिनवर्तनिं** वृजिनस्य=बलस्य वर्त्तनिर्मार्गो यस्य तं **नरं** मनुष्यं **भूयसः** बहून् **शत्रूंश्च हंसि, समृता**=

भाषार्थ—हे (**सक्मन्**) सबसे सम्बन्ध रखने वाले (**विचर्षणे**) विविध पदार्थों के यथार्थ द्रष्टा (**अग्ने**) सब ओर से रक्षक सेनापते ! जो न्यायविद्या से प्रकाशमान आप—(**विदथे**) धर्मयुक्त रूप (**शूरसातौ**) संग्राम में (**दभ्रेभिः**) थोड़े [**चित्**] भी साधनों से (**वृजिनवर्तनिम्**) बल=साहस के मार्ग में चलने वाले (**नरम्**) मनुष्य का और (**भूयसः**) बहुत शत्रुओं का (**हंसि**) हनन करते हो, और (**समृता**) उत्तम सत्ययुक्त कर्मों का (**पिपर्षि**)

समृतानि सम्यक् ऋतं=सत्यं येषु तानि **कर्माणि पिपर्षि** पालयसि, **स त्वं [परितक्म्ये]** परितः सर्वतो हर्षनिमित्ते **[धने]** सुवर्णविद्याचक्रवर्त्तिराज्ययुक्ते द्रव्ये **नः सेनाध्यक्षो भव** ॥ ६ ॥

भावार्थः—परमेश्वरस्यायं स्वभावोस्ति ये ह्यधर्मं त्यक्तुं धर्मं च सेवितुमिच्छन्ति तान् कृपया धर्मस्थान् करोति । ये च धर्म्यं युद्धं धर्मसाध्यं धनं चिकीर्षन्ति तान् रक्षित्वा तत्तत्कर्मानुसारेण तेभ्यो धनमपि प्रयच्छति । ये च दुष्टाचारिणस्तान् तत्तत्कर्मानुकूलफलदानेन ताडयति । य ईश्वराज्ञायां वर्त्तमाना धर्मात्मानोऽल्पैरपि युद्धसाधनैर्युद्धं कर्त्तुं प्रवर्तन्ते तेभ्यो विजयं ददाति नेतरेषामिति ॥ ६ ॥

पालन करते हो, सो आप—**[परितक्म्ये]** सब ओर से हर्ष के निमित्त **(धने)** सुवर्ण, विद्या और चक्रवर्ती राज्य से युक्त द्रव्य के निमित्त हमारे सेनाध्यक्ष बनो ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर का यह स्वभाव है कि जो अधर्म को छोड़, धर्म का सेवन करना चाहते हैं, उनको कृपा करके धर्म में स्थापित करता है और जो धर्मयुक्त युद्ध और धर्मसाध्य धन को प्राप्त करना चाहते हैं, उनकी रक्षा कर उनके कर्मानुसार उनको धन भी प्रदान करता है । और जो दुराचारी हैं उन्हें उनके कर्मानुकूल फल दान से ताडित करता है । जो ईश्वर की आज्ञा में रहकर धर्मात्मा युद्ध के अल्प साधनों से भी युद्ध करने में प्रवृत्त होते हैं उनको विजय देता है, अन्यों को नहीं ॥ ६ ॥

भाष्यसार—ईश्वर का उपासक सेनापति क्या करे—सेनापति सब से सम्बन्ध रखने वाला, विविध पदार्थों का यथार्थद्रष्टा तथा सब ओर से प्रजा का रक्षक हो । वह न्यायविद्या से प्रकाशमान होकर धर्मयुक्त युद्ध में अल्प साधनों से भी बलप्रयोग करने वाले मनुष्यों और बहुत से शत्रुओं का हनन करे और सत्ययुक्त कर्मों का पालन करे । वह सब ओर से हर्ष के निमित्त जो सुवर्ण, विद्या और चक्रवर्त्ती राज्य है उसे प्राप्त करे तथा प्रजा को प्राप्त करावे ॥ ६ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायणभाष्य[1] इस प्रकार है—"हे विशेष ज्ञानवाले अग्निदेव ! तुम सदाचार-रहित मनुष्य को सम्बन्ध करने योग्य कर्म में पालन करते हो अर्थात् सत्यकर्मों के अनुष्ठान से युक्त करते हो । तुम चारों तरफ से जाने योग्य धन की भांति शूरवीरों को प्रियतम, तथा शूरों से सेवन करने योग्य युद्ध में थोड़े और शूरता रहित पुरुषों से बहुत शत्रुओं को मार देते हो ।"

इस मन्त्र का देवता 'अग्नि' है । उसका इस मन्त्र में क्या अर्थ है, यह सायणभाष्य में स्पष्ट नहीं है । महर्षि दयानन्द ने यहाँ पर 'अग्नि' का अर्थ **सेनापति** किया है । मन्त्र में वर्णित विषय से भी महर्षि के अर्थ की ही पुष्टि होती है । सायण तथा दयानन्द दोनों ही भाष्यकारों ने मन्त्र के अर्थ में यह स्पष्ट माना है, कि मन्त्रोक्त अग्नि युद्ध में रक्षा करता है और अल्प साधनों से शत्रुओं को मारता है । यह अर्थ भी सेनापति के साथ ही संगत होता है । निरुक्त में भी अग्नि के निर्वचनों में स्पष्ट लिखा है—"अग्निः कस्मात् ? अग्रणीर्भवति ।" (निरु० ७ । १४) अर्थात् 'अग्नि' नाम इसलिए प्रसिद्ध है, क्योंकि यह अग्रणी=आगे ले जाने वाला है । सेना में सेनापति आगे चलकर सेना को मार्ग दिखाता है, अतः वह 'अग्नि' नाम से कहा गया है ।

---

१. हे विचर्षणे विशिष्टज्ञानयुक्त अग्ने ! त्वं बृजिनवर्त्तनिं विलुप्तमार्गं सदाचार-रहितं नरं पुरुषं सक्मन् सचनीये समवेतुं योग्ये विदथे कर्मणि पिपर्षि पालयसि पूरयसि वा । सत्कर्मानुष्ठानयुक्तं करोषीत्यर्थः । यः त्वं परितक्म्ये परितो गन्तव्ये धने धनवत् शूराणां प्रियतमे शूरसाता शूरैः संभजनीये युद्धे दभ्रेभिश्चित् अल्पैरपि शौर्यरहितैः पुरुषैः समृता सम्यक् योद्धुं प्राप्ते सति तदनुग्रहार्थं भूयसः प्रौढान् प्रतिपक्षिणः शत्रून् हंसि मारयसि ॥ (सायणः)

सायण की व्याख्या अपने पदार्थों से भी प्रतिकूल है। क्या यह भौतिकाग्नि युद्ध में हमारी रक्षा तथा शत्रुओं को मारने में समर्थ हो सकता है? जबकि सायण ने सर्वत्र ही 'अग्नि' शब्द से भौतिकाग्नि का ही ग्रहण किया है। सायण की व्याख्या पदार्थविद्या के भी विरुद्ध है। क्या जड़ अग्नि विशिष्ट ज्ञान-वाला हो सकता है? जब कि ज्ञान चेतनात्मा का गुण है, जड़ का नहीं। ऐसे जड़ देवों से प्रार्थना करने का क्या फल हो सकता है? क्या अग्नि हमारी प्रार्थना करने पर अपने धर्म को छोड़ सकता है? अतः सायण की प्रार्थनापरक व्याख्या सर्वथा ही भ्रान्त है। महर्षि ने निघण्टु के प्रमाणानुसार 'विचर्षणि' का अर्थ 'विविध पदार्थों का यथार्थ द्रष्टा' किया है। यह अर्थ भी भौतिकाग्नि में संगत नहीं है। सायणाचार्य की पदों की व्याख्या में भी अन्य भ्रान्ति देखिए—मन्त्र में कहा है कि 'त्वमग्ने बृजिन-वर्त्तनिं नरं सक्मन् पिपर्षि=हे अग्नि! तुम कुपथगामी मनुष्य की रक्षा करते हो।" इस सायण की व्याख्या को कौन स्वीकार कर सकता है। यदि अग्नि दुश्चरित्र व्यक्ति की रक्षा करता है, तब सज्जन की रक्षा कौन करेगा? इस अपनी व्याख्या से सायण को भी सन्तोष न हुआ, इसलिए आगे यह लिखना पड़ा कि यह अग्नि कुपथगामी पुरुष को सत्कर्मों के अनुष्ठान से युक्त करता है। इससे तो अच्छा रहता कि सायण शास्त्रों में ही 'बृजिन' शब्द का अर्थ देखते। यद्यपि 'बृजिन' का अर्थ पाप या दुराचार भी है, किन्तु इसका अर्थ बल भी है। महर्षि ने निघण्टु का प्रमाण देकर अपने अर्थ की पुष्टि की है। महर्षि ने अग्नि का **सेनापति** अर्थ करके सेनापति के कर्त्तव्यों का निर्देश मन्त्र में किया है। सेनापति का मुख्य कार्य है—न्याययुक्त कर्मों को रक्षा और अन्यायकारी बलवान् शत्रु को मारना या दण्ड देना। इसलिए 'पिपर्षि' क्रिया का सम्बन्ध 'सक्मना' के साथ और 'बृजिनवर्त्तनिं नरं' का सम्बन्ध 'हंसि' के साथ जोड़कर महर्षि ने मन्त्र के रहस्य को बहुत स्पष्ट किया है। किन्तु सायण ने पदों के सम्बन्ध को बिना समझे ही असंगत व्याख्या की है। स्कन्दस्वामी भी इस पद के अर्थ में सायण की भांति ही भ्रान्त हैं। उन्होंने भी 'बृजिनवर्त्तनिं कुटिल मार्गवाला' अर्थ किया है। क्या ऐसे मनुष्य की अग्नि=ईश्वर रक्षा करता है? ॥ ६ ॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप **ऋषिः**। **अग्निः** (ईश्वरः) देवता। जगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

पुनरीश्वरो जीवेभ्यः किं करोतीत्युपदिश्यते॥

फिर वह ईश्वर जीवों के लिये क्या करता है, यह उपदेश किया जाता है॥

त्वं तमग्ने अमृतत्व उत्तमे मर्त्तं दधासि श्रवसे दिवेदिवे।
यस्तातृषाण उभयाय जन्मने मयः कृणोषि प्रय आ च सूरये॥ ७॥

त्वम्। तम्। अग्ने। अमृतऽत्वे। उत्ऽतमे। मर्त्तम्। दधासि। श्रवसे। दिवेऽदिवे। यः। ततृषाणः। उभयाय। जन्मने। मयः। कृणोषि। प्रयः। आ। च। सूरये॥ ७॥

पदार्थः—(त्वम्) जगदीश्वरः (तम्) पूर्वोक्तं धर्मात्मानम् (अग्ने) मोक्षादिसुखप्रदेश्वर (अमृतत्वे) अमृतस्य=मोक्षस्य भावे (उत्तमे) सर्वथोत्कृष्टे (मर्त्तम्) मनुष्यम्। **मर्त्ता इति मनुष्यनामसु पठितम्।** निघं० २। ३। (दधासि) धरसि (श्रवसे) श्रोतुमर्हाय भवते (दिवेदिवे) प्रतिदिनम् (यः) मनुष्यः (ततृषाणः) पुनः पुनर्जन्मनि तृष्यति। **अत्र छन्दसि लिट्** इति लडर्थे लिट् **लिटः कानज्वा** इति कानच् वर्णव्यत्ययेन दीर्घत्वं च। (उभयाय) पूर्वपराय (जन्मने) शरीरधारणेन प्रसिद्धाय (मयः) सुखम्। **मय इति सुखनामसु पठितम्।** निघं० ३। ६। (कृणोषि) करोषि (प्रयः) प्रीयते=काम्यते यत्

तत्सुखम् (**आ**) समन्तात् (**च**) समुच्चये (**सूरये**) मेधाविने । **सूरिरिति मेधाविनामसु पठितम्** । निघं० ३ । १६ ॥ ७ ॥

प्रमाणार्थ—(**मर्त्तम्**) 'मर्त्ताः' यह पद निघण्टु (२ । ३) में मनुष्य-नामों में पढ़ा है । (**तातृषाणः**) यहां 'छन्दसि लिट्' (अ० ३ । २ । १०५) इस सूत्र से 'लट्' लकार के अर्थ में लिट् लकार तथा 'लिटः कानज्वा' (अ० ३ । २ । १०६) इस सूत्र से लिट् के स्थान में 'कानच्' आदेश है, तथा यहाँ वर्ण-व्यत्यय से दीर्घ है । 'मयः' यह पद निघण्टु (३ । ६) में सुख-नामों में पढ़ा है । (**सूरये**) 'सूरिः' यह पद निघण्टु (३ । १६) में मेधावी नामों में पढ़ा है ॥ ७ ॥

अन्वयः—हे अग्ने जगदीश्वर त्वं यः सूरिर्मेधावी दिवेदिवे श्रवसे सन्मोक्षमिच्छति तं मर्त्तं मनुष्यमुत्तमेऽमृतत्वे मोक्षपदे दधासि यश्च सूरिर्मेधावी मोक्षसुखमनुभूय पुनरुभयाय जन्मने तातृषाणः सँस्तस्मात्पदान्निवर्त्तते तस्मै सूरये मयः प्रयश्चाकृणोषि ॥ ७ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **अग्ने** = जगदीश्वर मोक्षादिसुखप्रदेश्वर ! **त्वं यः सूरिर्मेधावी दिवेदिवे** प्रतिदिनं **श्रवसे** श्रोतुमर्हाय भवते **सन्मोक्षमिच्छति, तं** पूर्वोक्तं धर्मात्मानं **मर्त्तं=मनुष्यम् उत्तमे** सर्वोत्कृष्टे **अमृतत्वे=मोक्षपदे दधासि** धरसि; **यश्च=सूरिर्मेधावी मोक्षसुखमनुभूय पुनरुभयाय** पूर्वपराय **जन्मने** शरीरधारणेन प्रसिद्धाय **तातृषाणः** पुनःपुनर्जन्मनि तृष्यति **संस्तस्मात्पदान्निवर्त्तते तस्मै सूरये** मेधाविने **मयः** सुखं **प्रयः** प्रीयते=काम्यते तत् तत्सुखं **चाकृणोषि** समन्तात् करोषि ॥ ७ ॥

भाषार्थ—हे (**अग्ने**) मोक्ष आदि सुख-प्रदान करने वाले जगदीश्वर ! आप—(**यः**) जो मेधावी मनुष्य (**दिवे दिवे**) प्रतिदिन (**श्रवसे**) सुनने के योग्य आपकी प्राप्ति के लिये मोक्ष को चाहता है (**तम्**) उस धर्मात्मा (**मर्त्तम्**) मनुष्य को (**उत्तमे**) सब से उत्कृष्ट (**अमृतत्वे**) मोक्ष पद में (**दधासि**) धारण करते हो; और जो मेधावी मोक्ष-सुख का अनुभव करके फिर (**उभयाय**) दोनों पूर्व और पर (**जन्मने**) जन्म के लिये (**तातृषाणः**) बार-बार तृष्णा करता हुआ उस मोक्ष पद से निवृत्त होता है, उस (**सूरये**) मेधावी के लिये (**मयः**) सुख और (**प्रयः**) प्रीति को (**आकृणोषि**) सिद्ध करते हो ॥ ७ ॥

भावार्थः—ये ज्ञानिनो धर्मात्मानो मनुष्या मोक्षप्रदं प्राप्नुवन्ति तदानीं तेषामाधार ईश्वर एवास्ति । यज्जन्मातीतं तत्प्रथमं यच्चागामि तद्द्वितीयं यद्वर्त्तते तत्तृतीयं यच्च विद्याचार्य्याभ्यां जायते तच्चतुर्थम् । एतच्चतुष्टयं मिलित्वैकं जन्म यत्र मुक्तिं प्राप्य मुक्तः पुनर्जायते तद्द्वितीयजन्मैतदुभयस्य धारणाय सर्वे जीवाः प्रवर्त्तन्त इतीयं व्यवस्थेश्वराधीनास्तीति वेद्यम् ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो ज्ञानी धर्मात्मा मनुष्य मोक्ष-पद को प्राप्त करते हैं उस समय उनका आधार ईश्वर ही है । जो जन्म बीत गया वह पहला, जो आगे है वह दूसरा, जो वर्तमान है वह तीसरा, और जो विद्या और आचार्य से होता है वह चौथा, ये चार मिलकर एक जन्म है । जहां मुक्ति को प्राप्त करके मुक्त पुरुष फिर उत्पन्न होता है वह दूसरा जन्म है इन दोनों को धारण करने के लिये सारे जीव प्रवृत्त हो रहे हैं । इस प्रकार यह व्यवस्था ईश्वर के अधीन है; ऐसा जानो ॥ ७ ॥

भाष्यसार—**ईश्वर जीवों के लिये क्या करता है**—मोक्ष आदि सुख प्रदान करने वाला जगदीश्वर—जो मेधावी मनुष्य मोक्ष को प्राप्त करना चाहता है, उस धर्मात्मा मनुष्य को सबसे उत्कृष्ट मोक्ष पद में धारण करता है अर्थात् उसे मोक्ष प्रदान करता है । और जो मेधावी मनुष्य मोक्ष-सुख का

अनुभव करके जन्म के लिये तृष्णा करता है और मोक्ष पद से निवृत्त होता है उसके लिये सुख और प्रीति को सिद्ध करता है अर्थात् उसके लिये पुनर्जन्म की व्यवस्था करता है ।। ७ ।।

समीक्षा—इस मन्त्र का सायणभाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अग्निदेव ! तुम अपने सेवन करने वाले उस मनुष्य को प्रतिदिन अन्न के लिए उत्तम=उत्कृष्ट मरणरहित पद पर धारण कराते हो, जो यजमान दो पैर वाले और चार पैर वालों के लाभ के लिए है। उस अतिशय तृष्णा से युक्त ज्ञानी यजमान के लिए सुख और अन्न को सब ओर से करते हो।"

इस मन्त्र में कहा है कि 'अग्नि उत्कृष्ट मरणरहित पद (मोक्ष) पद पर मनुष्य को धारण कराता है और तृष्णायुक्त मनुष्य को सुख करता है।' दोनों भाष्यकारों की इस एक सम्मत व्याख्या से स्पष्ट है कि यह अग्नि भौतिकाग्नि कदापि नहीं है। मोक्ष की प्राप्ति कराना तथा मनुष्यों को सुख प्रदान करना ईश्वराधीन व्यवस्था है। जीवों को कर्मानुसार सुख-दुःख की प्राप्ति कराना ईश्वर से भिन्न किसी का कार्य नहीं हो सकता। और जड़-अग्नि जो ज्ञानादि गुणों से रहित है, वह मनुष्यों को अनुग्रह करके लौकिक सुख अथवा मोक्षसुख को कदापि प्राप्त नहीं करा सकता। आचार्य सायण का यह पूर्वाग्रह मात्र ही है कि प्रत्येक मन्त्रार्थ में यजमान-परक व्याख्या करने का उनका भरसक प्रयास रहता है। जबकि मन्त्र में यजमान के लिए कोई पद नहीं है।

सायण-कृत इन पदार्थों में भी अनेक असंगतियाँ हैं। यद्यपि 'श्रवस्' पद निरुक्त में अन्नवाची भी है, किन्तु उत्तम अमृतपद=मोक्ष में अन्न के लिए धारण करना बहुत ही सायण की मोक्ष-ज्ञान की शून्यता को प्रकट करता है। मोक्ष में जब भौतिक शरीरादि का बिल्कुल अभाव होता है, यही सब शास्त्रों का एकमत मान्यता है, तब वहाँ अन्न की क्या आवश्यकता है ? अन्नादि की आवश्यकता तो भौतिक शरीर के लिए ही होती है, मोक्ष में नहीं। सायणभाष्य में 'उभयाय जन्मने' का अर्थ भी असंगत किया है। कौन मनुष्य या यजमान ऐसा होगा जो चतुष्पद (पशुयोनि) योनि में स्वयं जाना चाहता होगा ? मनुष्य से भिन्न सब दूसरी योनियाँ भोगयोनियाँ ही हैं। उनके लिए प्रार्थना करना सायण की अनभिज्ञता ही है। महर्षि की व्याख्या में इस पद की सुसंगति द्रष्टव्य है। इसी प्रकार 'प्रयः मयः' पदों का विशेषण-विशेष्यभाव भी सायण ने नहीं समझा। कमनीय सुख के लिए मन्त्र में प्रार्थना है न कि प्रयः=अन्न के लिए प्रार्थना उस वस्तु के लिए ही करनी चाहिए जो लोक में सुलभ न हो। और सुख दो ही प्रकार का होता है—लौकिक तथा मोक्ष। मोक्ष से भिन्न दूसरे लौकिक सुख की भी मन्त्र में प्रार्थना की है। अन्नादि पदार्थ तो दूसरों को भी सुलभ हैं, किन्तु सुख की प्राप्ति सूरये=ज्ञानी मेधावी मनुष्यों को ही हो सकती है। अतः सायण का पदार्थ परस्पर विरोधी तथा असंगत है।

और स्कन्दस्वामी का यह कथन भी मिथ्या है कि जो अग्नि की परिचर्या करता है, उसे वह परलोक में देवत्व को प्राप्त कराता है। अग्नि आदि जड़ पदार्थों की परिचर्या से कोई भी जीव देवत्व को प्राप्त नहीं कर सकता। यथार्थ में इन भाष्यकारों ने अग्नि से सर्वत्र भौतिकाग्नि का ही ग्रहण करके यह भ्रान्तिपूर्ण व्याख्या की है। परमेश्वर का नाम भी अग्नि है, उसकी उपासना से मनुष्य देवता बनता है, और वह भी परलोक में ही नहीं, इस लोक में भी देवत्व प्राप्त किया जा सकता है ।। ७ ।। ●

---

१. हे अग्ने ! त्वं तं मर्त्तं तथाविधं त्वत्सेविनं मनुष्यं दिवे दिवे प्रतिदिनं श्रवसे अन्नार्थम् उत्तमे अमृतत्वे उत्कृष्टमरणरहिते पदे दधासि धारयसि। यः यजमानः उभयाय जन्मने द्विविधजन्मार्थं द्विपदां चतुष्पदां च लाभायेत्यर्थः। तातृषाणः अतिशयेन तृष्णायुक्तो भवति तस्मै सूरये अभिज्ञाय यजमानाय मयः सुखं प्रयः च अन्नमपि आकृणोषि सर्वतः करोषि ।। (सायणः)

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः । **अग्निः** (ईश्वरोपासकः) देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ।।

पुनस्तदुपासकः प्रजायै कीदृश इत्युपदिश्यते ।।

फिर ईश्वर का उपासक प्रजा के लिए कैसा हो यह उपदेश किया जाता है ।।

त्वं नो अग्ने सनये धनानां यशसं कारुं कृणुहि स्तवानः ।
ऋध्याम कर्मापसा नवेन देवैर्द्यावापृथिवी प्रावतं नः ।। ८ ।।

त्वम् । नः । अग्ने । सनये । धनानाम् । यशसम् । कारुम् । कृणुहि । स्तवानः । ऋध्याम । कर्म । अपसा । नवेन । देवैः । द्यावापृथिवी इति । प्र । अवतम् । नः ।। ८ ।।

पदार्थः—(त्वम्) जगदीश्वरोपासकः (नः) अस्माकम् (अग्ने) कीर्त्युत्साहप्रापक (सनये) संविभागाय (धनानाम्) विद्यासुवर्णचक्रवर्तिराज्यप्रसिद्धानाम् (यशसम्) यशांसि=कीर्तियुक्तानि कर्माणि विद्यन्ते यस्य तम् (कारुम्) य उत्साहेनोत्तमानि कर्माणि करोति तम् (कृणुहि) कुरु । अत्र **उतश्च प्रत्ययाच्छन्दो वा वचनम्** । अ० ६ । ४ । १०६ अनेन वर्त्तिकेन हेर्लुक् [न] । (स्तवानः) यः स्तौति सः (ऋध्याम) वर्द्धेम (कर्म) क्रियमाणमीप्सितम् (अपसा) पुरुषार्थयुक्तेन कर्मणा सह । **अपइति कर्मनामसु पठितम्** । **निघं० २ । १** । (नवेन) नूतनेन **नवेति नवनामसु पठितम्** । **निघं० ३ । २८** । देवैः विद्वद्भिः सह (द्यावापृथिवी) भूमिसूर्यप्रकाशौ (प्र) प्रकृष्टार्थे (अवतम्) अवतो=रक्षतम् (नः) अस्मान् ।। ८ ।।

प्रमाणार्थ—(कृणुहि) यहां 'उतश्च प्रत्ययाच्छन्दो वावचनम्' (अ० ६ । ४ । १०६) इस वार्तिक सूत्र से 'हि' का लुक् नहीं है । (अपसा) 'अपः' यह पद निघण्टु (२ । १) में कर्म-नामों में पढ़ा है । (नवेन) 'नव' यह पद निघण्टु (३ । २८) में नव-नामों में पढ़ा है—नव=नवीन ।। ८ ।।

अन्वयः—हे अग्ने त्वं स्तवानः सन् नोस्माकं धनानां सनये संविभागाय यशसं कारुं कृणुहि संपादय यतो वयं पुरुषार्थिनो भूत्वा नवेनापसा सह कर्म कृत्वा ऋध्याम नित्यं वर्द्धेम विद्याप्राप्तये देवैः सह युवां नोऽस्मान् द्यावापृथिवी च प्रावतं नित्यं रक्षतम् ।। ८ ।।

सपदार्थान्वयः—**हे अग्ने** ! कीर्त्युत्साहप्रापकः **त्वं** जगदीश्वरोपासकः **स्तवानः** यः स्तौति सः **सन् नः**=**अस्माकं** विद्यासुवर्णचक्रवर्त्तिराज्यप्रसिद्धानां **धनानां सनये**=**संविभागाय यशसं** यशांसि कीर्त्तियुक्तानि कर्माणि विद्यन्ते यस्य तं **कारुं** य उत्साहेनोत्तमानि कर्माणि करोति तं **कृणुहि**=**संपादय, यतो वयं पुरुषार्थिनो भूत्वा नवेन** नूतनेन **अपसा** पुरुषार्थयुक्तेन कर्मणा **सह कर्म** क्रियमाणमीप्सितं **कृत्वा ऋध्याम**=**नित्यं वर्द्धेम; विद्याप्राप्तये देवैः** विद्वद्भिः **सह युवां नः**=**अस्मान् द्यावापृथिवी** भूमिसूर्य्यप्रकाशौ **च प्रावतं नित्यं रक्षतम्** ।। ८ ।।

भाषार्थ—हे (**अग्ने**) कीर्ति और उत्साह के प्रापक (**त्वम्**) जगदीश्वर के उपासक (**स्तवानः**) स्तुति करने वाले आप—(**नः**) हमारे (**धनानाम्**) विद्या, सुवर्ण और चक्रवर्ती राज्य रूप में प्रसिद्ध धनों के (**सनये**) सेवन के लिए (**यशसम्**) कीर्तियुक्त कर्म करने वाले (**कारुम्**) उत्साह से उत्तम कर्म करने वाले शिल्पी को (**कृणुहि**) बनाओ, जिससे हम पुरुषार्थी होकर (**नवेन**) नवीन (**अपसा**) पुरुषार्थ से (**कर्म**) कर्म करके (**ऋध्याम**) नित्य बढ़ें, विद्याप्राप्ति के लिये (**देवैः**) विद्वानों से—ईश्वर और उपासक तुम दोनों (**नः**) हमारी (**प्रावतम्**) नित्य रक्षा करो, (**द्यावापृथिवी**) भूमि और सूर्य का प्रकाश हमारी रक्षा करें ।। ८ ।।

भावार्थः—मनुष्यैरेतदर्थं परमात्मा प्रार्थनीयः—हे जगदीश्वर भावान् कृपयाऽस्माकं मध्ये

भावार्थ—सब मनुष्य परमात्मा की इसलिए प्रार्थना करें—हे जगदीश्वर ! आप कृपा

सर्वासामुत्तमधनप्रापिकानां शिल्पादिविद्यानां वेदितॄनुत्तमान् विदुषो निर्वर्तय, यतो वयं तैः सह नवीनं पुरुषार्थं कृत्वा पृथिवीराज्यं सर्वेभ्य उपकारांश्च गृह्णीयामेति ॥ ८ ॥

करके हमारे बीच में सब उत्तम धनों को प्राप्त करने वाली शिल्प आदि विद्याओं के जानने वाले उत्तम विद्वानों को बनाओ। जिससे हम उनके साथ नवीन पुरुषार्थ करके पृथ्वी का राज्य और सब पदार्थों से उपकार ग्रहण करें ॥ ८ ॥

भाष्यसार—ईश्वर का उपासक प्रजा के लिए कैसा हो—जगदीश्वर का उपासक कीर्ति और उत्साह का प्रापक हो। वह ईश्वर की स्तुति करने वाला हो। वह प्रजा के लिये विद्या, सुवर्ण और चक्रवर्ती राज्य रूप में प्रसिद्ध धनों का सेवन करावे। वह प्रजा के लिए यशस्वी शिल्पी जनों को तैयार करे। जिससे प्रजाजन पुरुषार्थी होकर नवीन उत्साह से कर्म करें और नित्य वृद्धि को प्राप्त हों। ईश्वर और ईश्वर का उपासक दोनों विद्या-प्राप्ति के लिए विद्वानों से प्रजा की रक्षा करें। प्रजा भूमि अर्थात् पृथिवी का राज्य और सूर्य प्रकाश आदि पदार्थों से उपकार ग्रहण करें ॥ ८ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अग्नि देव! तुम स्तुति किए जाते हुए हमारे धनों के दान के लिए यशस्वी कर्म करने वाले पुत्र को करो=प्रदान करो। तुम्हारे द्वारा दिये नवीन पुत्र से यागदानादि कर्म को बढ़ायें! हे द्युलोक और पृथिवी! तुम दोनों! दूसरे देवों के साथ हमारी प्रकृष्टता से रक्षा करो।"

इस मन्त्रभाष्य में भी सायण ने जड़ अग्नि, द्युलोक तथा पृथिवी से पुत्रादि की प्रार्थना तथा रक्षा करने के लिए याचना मानकर पूर्ववत् ही भ्रान्ति की है। ये जड़ देव न तो हमारी प्रार्थना को सुन सकते हैं और नहीं प्रार्थना के अनुरूप सिद्धि प्राप्त करा सकते हैं। मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय अग्नि देवता को भी सायण ने नहीं समझा। यह भौतिक अग्नि क्या पुत्र प्रदान कर सकती है। यह सृष्टिक्रम से विरुद्ध सायण की व्याख्या है। यथार्थ में मन्त्र में पुत्र के लिये कोई पद नहीं है। मन्त्र के पूर्वार्द्ध में 'कारुम्' और उत्तरार्द्ध में 'अतसा पद का पुत्र-परक अर्थ सायण का प्रमाणहीन तथा असंगत है। इन दोनों पदों का अर्थ महर्षि-भाष्य में द्रष्टव्य है। सायण की भ्रान्ति का कारण पदों की रूढ प्रक्रिया भी है। यदि वे वेदार्थ की प्राचीन शैली यौगिक प्रक्रिया से भाष्य करते तो उन्हें सत्यार्थ के दर्शन हो सकते थे। मन्त्र में 'अतसा कर्म' दोनों पदों को पर्यायवाची तथा विभिन्नविभक्ति वाले देखकर आचार्य सायण ने 'अपसा' का अर्थ 'पुत्र' कर दिया। महर्षि ने इनकी धात्वर्थ के आश्रय से बहुत ही सुसंगत व्याख्या की है। महर्षि ने यहाँ 'अग्नि' का अर्थ 'ईश्वरोपासकः' किया है और उसके सम्पर्क में रहकर विज्ञानादि बढ़ाकर पृथिवी आदि से उपकार ग्रहण करने का मन्त्र में उपदेश है, यह माना है ॥ ८ ॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **अग्निः** (सभाध्यक्षः) देवता। जगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

फिर वह सभाध्यक्ष कैसा है, यह उपदेश किया जाता है ॥

---

१. हे अग्ने! स्तवानः स्तूयमानः त्वं नः अस्माकं धनानां सनये दानार्थं यशसं यशोयुक्तं कारुं कर्मणां कर्त्तारं पुत्रं कृणुहि कुरु। नवेन नूतनेन अपसा प्राप्तेन त्वद्दत्तेन पुत्रेण कर्म यागदानादिरूपम् ऋध्याम वर्धयाम। हे द्यावापृथिवी उभे देवते देवैः अन्यैः सह नः अस्मान् प्रावतं प्रकर्षेण रक्षतम् ॥ (सायणः)।

त्वन्नो अग्ने पित्रोरुपस्थ आ देवो देवेष्वनवद्य जागृविः ।
तनूकृद्बोधि प्रमतिश्च कारवे त्वं कल्याण वसु विश्वमोपिषे ॥ ९ ॥

त्वम् । नः । अग्ने । पित्रोः । उपऽस्थे । आ । देवः । देवेषु । अनवद्य । जागृविः । तनूऽकृत । बोधि । प्रमतिः । च । कारवे । त्वम् । कल्याण । वसु । विश्वम् । आ । ऊपिषे ॥ ९ ॥

पदार्थः—(त्वम्) सर्वमङ्गलकारकः सभाध्यक्षः (नः) अस्मान् (अग्ने) विज्ञानस्वरूप (पित्रोः) जनकयोः (उपस्थे) उपतिष्ठन्ति यस्मिन् तस्मिन् **अत्र घञर्थे कविधानम् स्थास्नापाव्यधिहनि युध्यर्थम् ।** अ० ३ । ३ । ५८ । अनेन [**वार्त्तिकेन**] अधिकरणे कः । (**आ**) अभितः (**देवः**) सर्वस्य न्यायविनयस्य द्योतकः (**देवेषु**) विद्वत्सु अग्न्यादिषु त्रयस्त्रिंशद्दिव्यगुणेषु वा (**अनवद्य**) न विद्यतेऽवद्यं=निंद्यं कर्म्म यस्मिन् तत्संबुद्धौ **अवद्यपण्यवर्य्या० ।** अ० ३ । १ । १०१ । अनेन गर्ह्येऽवद्यशब्दो निपातितः । (**जागृविः**) यो नित्यं धर्म्ये पुरुषार्थे जागर्ति सः (**तनूकृत्**) यस्तनूषु पृथिव्यादिविस्तृतेषु लोकेषु विद्यां करोति सः (**बोधि**) बोधय । अत्र लडर्थे लङडभावोन्तर्गतो ण्यर्थश्च । (**प्रमतिः**) प्रकृष्टा मतिर्ज्ञानं यस्य सः (**च**) समुच्चये (**कारवे**) शिल्पकार्यसंपादनाय (**त्वम्**) सर्वविद्यावित् (**कल्याण**) कल्याणकारक (**वसु**) विद्याचक्रवर्त्यादिराज्यसाध्यधनम् (**विश्वम्**) सर्वम् (**आ**) समन्तात् (**ऊपिषे**) वपसि । **अत्र लडर्थे लिट् ॥**

प्रमाणार्थ—(**उपस्थे**) 'घञर्थे क विधानम्'० (अ० ३ । ३ । ५८) इस वार्तिक सूत्र से घञ् प्रत्यय के अर्थ में अधिकरण में 'क' प्रत्यय का विधान है। (**अनवद्य**) 'अवद्यपण्यवर्य्या० (अ० ३ । १ । १०१) इस सूत्र से निन्दा अर्थ में 'अवद्य' शब्द निपातन से सिद्ध है। (**ऊपिषे**) यहां लट् लकार के अर्थ में लिट् लकार है ॥ ९ ॥

अन्वयः—अनवद्याग्ने सभास्वामिन् जागृविर्देवस्तनूकृत्त्वं देवेषु पित्रोरुपस्थे नोस्मानोपिषे वपसि सर्वतः प्रादुर्भावयसि हे कल्याणप्रमतिस्त्वं कारवे मह्यं विश्वमाबोधि समन्ताद्बोधय ॥ ९ ॥

सपदार्थान्वयः—**अनवद्य** न विद्यतेऽवद्यं निंद्यं कर्म यस्मिन् तत्सम्बुद्धौ **अग्ने** ! विज्ञानस्वरूप **सभास्वामिन्** ! **जागृविः** यो नित्यं धर्मे पुरुषार्थे जागर्त्ति सः **देवः** सर्वस्य न्याय-विनयस्य द्योतकः **तनूकृत्** यस्तनूषु पृथिव्यादि-विस्तृतेषु लोकेषु विद्यां करोति सः [**च**] **त्वं** सर्वमंगलकारकः सभाध्यक्षः **देवेषु** विद्वत्सु अग्न्यादिषु त्रयस्त्रिंशद्दिव्यगुणेषु वा **पित्रोः** जनकयोः **उपस्थे** उपतिष्ठन्ति यस्मिन् तस्मिन् **नः=अस्मान् ऊपिषे=वपसि सर्वतः प्रादुर्भावयसि ।**

हे कल्याण ! कल्याणकारक ! **प्रमतिः** प्रकृष्टा मतिर्ज्ञानं यस्य सः **त्वं सर्वविद्यावित् कारवे** शिल्पकार्यसंपादनाय **मह्यं विश्वं** सर्वं (**वसु**) विद्याचक्रवर्त्यादिराज्यसाध्यधनम् **आ+बोधि= समन्तात् बोधय ॥ ९ ॥**

भाषार्थ—हे (**अनवद्य**) निन्द्य कर्म से रहित (**अग्ने**) विज्ञानस्वरूप सभाध्यक्ष ! (**जागृविः**) नित्य धर्म=पुरुषार्थ में जागरूक, (**देवः**) सब न्याय और विनय के प्रकाशक (**तनूकृत्**) पृथिवी आदि विस्तृत लोकों के विषय में विद्या रखने वाले हो तथा (**त्वम्**) आप सबका मंगल करने वाले हो, आप—(**देवेषु**) विद्वानों तैंतीस दिव्य गुणों वाले देवताओं में (**पित्रोः**) माता-पिता के (**उपस्थे**) समीपस्थ व्यवहार में (**नः**) हमें (**ऊपिषे**) प्रसिद्ध करते हो ।

हे (**कल्याण**) कल्याणकारक (**प्रमतिः**) उत्तम ज्ञानवाले (**त्वम्**) सब विद्या के ज्ञाता आप—(**कारवे**) शिल्पकार्य की सिद्धि के लिये मुझे (**विश्वम्**) सब (**वसु**) विद्या और चक्रवर्त्ती राज्य से सिद्ध होने वाले धन का (**आ+बोधि**) बोध कराओ ॥ ९ ॥

भावार्थः—पुनरित्थं जगदीश्वरः प्रार्थनीयः हे भगवन् यदा यदास्माकं जन्मदद्यास्तदा तदा विद्वत्तमानां संपर्के जन्म दद्यास्तत्रास्मान् सर्वविद्यायुक्तान् कुरु यतो वयं सर्वाणि धनानि प्राप्य सदा सुखिनो भवेमेति ॥ ६ ॥

भावार्थ—फिर इस प्रकार जगदीश्वर से प्रार्थना करें—हे भगवन्! जब-जब हमको जन्म देओ, तब-तब श्रेष्ठ विद्वानों के सम्पर्क में जन्म देओ, वहां हमको सब विद्याओं से युक्त करो जिससे हम सब धन प्राप्त करके सदा सुखी होवें ॥

भाष्यसार—सभाध्यक्ष कैसा हो—सभाध्यक्ष निन्द्य कर्म से रहित, विज्ञान स्वरूप, नित्य धर्म=पुरुषार्थ में जागरूक, सब न्याय और विनय (शिक्षा) का प्रकाशक, पृथिवी आदि विस्तृत लोकों के विषय में विद्या रखने वाला और सबका मंगल करने वाला हो। वह विद्वानों में, दिव्य गुणों से युक्त तैंतीस देवताओं में और माता-पिता के समीपस्थ व्यवहार में हमें प्रसिद्ध करे। कल्याणकारक, उत्तम ज्ञान से युक्त और सब विद्याओं का ज्ञाता सभाध्यक्ष शिल्पकार्य की सिद्धि के लिये विद्या और चक्रवर्त्ती राज्य से प्राप्त होने वाले धन का प्रजा को बोध करावे ॥ ६ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायणभाष्य[1] इस प्रकार है—"हे दोषरहित अग्निदेव! तुम सब देवों में जागरूक और माता-पिता के रूप में द्युलोक तथा पृथिवी लोक के समीप रहते हुए हमारे पुत्ररूप शरीर को बनाने वाले होकर अनुगृहीत करो। और कर्म करने वाले यजमान के लिए प्रकृष्ट बुद्धि वाले हो जाओ। हे मंगलरूपाग्ने! तुम समस्त धन को यजमान के लिए बोते हो॥"

इस मन्त्र में अग्नि की निम्नलिखित विशेषताएँ बताई गई हैं—वह अनवद्य=निन्दनीय कर्मों से रहित, जागृविः=सदा जागरूक, देवः=दिव्यगुणों का प्रकाशक, तनूकृत्=विस्तृत पृथिवी आदि की विद्या को जानने वाला, कल्याण=कल्याण करने वाला, प्रमतिः=प्रकृष्ट ज्ञान वाला, देवों और माता-पिता के समीपस्थ व्यवहारों को ऊपिषे=सब प्रकार से प्रादुर्भूत=प्रसिद्ध कराने वाला, और विश्वं वसु=चक्रवर्त्ती राज्यादि से सिद्ध होने वाले धन को प्राप्त कराने वाला है।

ये विशेषताएँ सायणाभिमत भौतिकाग्नि में कदापि संगत नहीं होतीं। यह अग्नि जड़ होने से प्रशस्त या निन्द्य कर्म करने में स्वयं असमर्थ है। इसका जागरूक होना या सोना नहीं हो सकता। यह प्रकृष्ट ज्ञान वाला कदापि नहीं हो सकता। यह ज्ञानादि गुणों से रहित होने से प्राणियों का कल्याण स्वयं नहीं कर सकता। अतः सायणकृत व्याख्या असंगत है। सायण के पदार्थ में भी अनेक दोष हैं। सायण ने तनूकृत्=पुत्ररूप शरीरकारी मानकर यहाँ अग्नि को पुत्र देने वाला माना है। और उसे ज्ञानवाला, अनुग्रह करने वाला तथा जड़ अग्नि को समस्त धनों को देने वाला लिखकर सायण ने बड़ी भूल की है। जड़ पदार्थों में ये गुण कदापि सम्भव नहीं हैं। महर्षि दयानन्द ने वहाँ अग्निः=सभाध्यक्षः अर्थ किया है, क्योंकि वह विज्ञानादि गुणों का प्रकाशक होता है। महर्षि द्वारा व्याख्यात देवतार्थ के साथ मन्त्रों के पदार्थों की कोई असंगति नहीं है। महर्षि के पदार्थ भी धात्वर्थ की प्रक्रिया से तथा प्रकरणानुकूल हैं। अतः उनकी व्याख्या मूलमन्त्र के अनुकूल तथा सायण की प्रतिकूल है ॥ ६ ॥ ●

---

१. हे अनवद्य दोषरहित अग्ने! देवेषु सर्वेषु मध्ये जागृविः जागरूकः त्वं पित्रोः मातृपितृरूपयोः द्यावापृथिव्योरुपस्थे समीपस्थाने वर्त्तमानः सन् नः अस्माकं तनूकृत् पुत्ररूपशरीरकारी भूत्वा बोधि बुध्यस्व अनुगृहाणेत्यर्थः। तथा कारवे कर्मकर्त्रे यजमानाय प्रमतिश्च अनुग्रहरूपप्रकृष्टमतियुक्तश्च भवेति शेषः। हे कल्याण मंगलरूप अग्ने! त्वं विश्वं वसु सर्वमपि धनम् ओपिषे यजमानार्थमावपसि॥ (सायणः)

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः । **अग्निः** (सभाध्यक्षः) देवता । जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

फिर वह सभाध्यक्ष कैसा है, यह उपदेश किया जाता है ॥

त्वमग्ने प्रमतिस्त्वं पितासि नस्त्वं वयस्कृत्तव जामयो वयम् ।
सन्त्वा रायः शतिनः सं सहस्रिणः सुवीरं यन्ति व्रतपामदाभ्य ॥ १० ॥

त्वम् । अग्ने । प्रऽमतिः । त्वम् । पिता । असि । नः । त्वम् । वयःऽकृत् । तव । जामयः । वयम् । सम् । त्वा । रायः । शतिनः । सम् । सहस्रिणः । सुवीरम् । यन्ति । व्रतऽपाम् । अदाभ्य ॥ १० ॥

पदार्थः—(त्वम्) सर्वस्य सुखस्य प्रादुर्भाविता (**अग्ने**) यथायोग्यरचनस्य वेदितः (**प्रमतिः**) प्रकृष्टा मतिर्मानं यस्य सः (**त्वम्**) दयालुः (**पिता**) पालकः (**असि**) (**नः**) अस्माकम् (**त्वम्**) आयुऽप्रदः (**वयस्कृत्**) यो वयोवृद्धावस्थापर्यन्तं विद्यासुखयुक्तमायुः करोति सः (**तव**) सुखजनकस्य (**जामयः**) ज्ञानवन्त्यपत्यानि । **जमतीति गतिकर्मसु पठितम् ।** निघं० २ । १४ । अत्र जमुधातोः **इणजादिभ्यः ।** अ० ३ । ३ । १०८ । अनेनेण् प्रत्ययः । **जमतेर्वास्याद्गतिकर्म्मणः ।** निरु० ३ । ६ । (**वयम्**) मनुष्याः (**सं**) एकीभावे (**त्वा**) त्वां सर्वपालकम् (**रायः**) धनानि **राय इति धनानामसु पठितम् ।** निघं० २ । १० । (**शतिनः**) शत- मसंख्याताः प्रशंसिता विद्याकर्माणि वा विद्यन्ते येषां ते । (**सम्**) सम्यगर्थे (**सहस्रिणः**) सहस्रमसंख्याताः प्रशंसिताविद्याः कर्माणि वा विद्यन्ते येषां ते । अत्र **उभयत्र प्रशंसार्थइनिः ।** (**सुवीरम्**) शोभना वीरा यस्मिन् येन वा तत् (**यन्ति**) प्राप्नुवन्ति (**व्रतपाम्**) यो व्रतं=सत्यं पाति तम् (**अदाभ्य**) दभितुं=हिंसितुं योग्यानि दाभ्यानि तान्यविद्यमानानि यस्य तत्संबुद्धौ अत्र **दभेश्चेति वक्तव्यम् ।** अ० ३ । १ । १२४ । अनेन वार्तिकेन दभ इति सौत्राद्धातोर्ण्यत् ॥ १० ॥

प्रमाणार्थ—(**जामयः**) 'जमति' यह पद (निघण्टु २ । १४) में गत्यर्थक क्रियाओं में पढ़ा है । यहां 'जमु' धातु से 'इणजादिभ्यः' (अ० ३ । ३ । १०८) इस वार्तिक सूत्र से 'इण्' प्रत्यय है । निरुक्त (३ । ६) अनुसार यह पद गत्यर्थक 'जम्' धातु से सिद्ध होता है (**रायः**) यह पद निघण्टु (२ । १०) में धन-नामों में पढ़ा है (**शतिनः, सहस्रिणः**) इन दोनों पदों में प्रशंसा अर्थ में 'इनि' प्रत्यय है, (**अदाभ्यः**) यहां 'दभेश्चेति वक्तव्यम्' (अ० ३ । १ । १२४) इस वार्तिक सूत्र से 'दभ' सौत्र धातु से 'ण्यत्' प्रत्यय है ॥

अन्वयः—हे अदाभ्याग्ने सभाध्यक्ष प्रमतिस्त्वं नोस्माकं पितापालकोसि त्वं नोस्माकं वयः कृदसि तव कृपया वयं जामयो यथा भवेम तथा कुरु यथा च शतिनः सहस्रिणो विद्वांसो मनुष्या व्रतपां सुवीरं त्वामासाद्य रायो धनानि संयन्ति तथा त्वामाश्रित्य वयमपि तानि धनानि समिमः ॥ १० ॥

सपदार्थान्वयः—हे **अदाभ्य** दभितुं=हिंसितुं योग्यानि दाभ्यानि, तान्यविद्यमानानि यस्य तत्सम्बुद्धौ **अग्ने** यथायोग्यरचनस्य वेदितः **सभाध्यक्ष ! प्रमतिः** प्रकृष्टा मतिर्मानं यस्य सः **त्वं** सर्वस्य सुखस्य प्रादुर्भाविता **नः=अस्माकं पिता=पालकः असि, त्वं** दयालुः **नः=अस्माकं वयस्कृद्** यो वयोवृद्धावस्थापर्यन्तं विद्यासुखयुक्तमायुः करोति सः **असि, तव** सुखजनकस्य **कृपया जामयः** ज्ञानवन्त्यः

भाषार्थ—हे (**अदाभ्य**) हिंसायोग्य कर्मों से रहित (**अग्ने**) यथायोग्य रचना के ज्ञाता सभाध्यक्ष ! (**प्रमतिः**) उत्तम मान वाले तथा (**त्वम्**) सब सुख को प्रकट करने वाले आप (**नः**) हमारे (**पिता**) पालक (**असि**) हो (**त्वम्**) दयालु आप (**नः**) हमारे (**वयस्कृत्**) वृद्धावस्था पर्यन्त विद्या और सुख से युक्त आयु को सिद्ध करने वाले (**असि**) हो, (**तव**) सुख के जनक आप की कृपा से (**जामयः**)

पत्यानि **यथा भवेम तथा कुरु। यथा च शतिनः** शतमसंख्याताः प्रशंसिता विद्याकर्माणि वा विद्यन्ते येषां ते **सहस्रिणः** सहस्रमसंख्याताः प्रशंसिता विद्याः कर्माणि वा विद्यन्ते येषां ते **विद्वांसो मनुष्या व्रतपां** यो व्रतं=सत्यं पाति तं **सुवीरं** शोभना वीरा यस्मिन् येन वा तं **त्वामासाद्य रायः=धनानि संयन्ति** प्राप्नुवन्ति **तथा** [त्वा] (त्वां) सर्वपालकम् **आश्रित्य वयमपि तानि धनानि समिमः ॥ १० ॥**

ज्ञानवान् सन्तान जैसे होवें वैसा करो। और जैसे (**शतिनः, सहस्रिणः**) असंख्य विद्या या कर्म वाले विद्वान् मनुष्य—(**व्रतपाम्**) व्रत=सत्य के रक्षक (**सुवीरम्**) श्रेष्ठ वीरों वाले आपको प्राप्त करके (**रायः**) धनों को (**संयन्ति**) प्राप्त करते हैं, वैसे [त्वा] सबके पालक आपका आश्रय करके हम भी उन धनों को प्राप्त करें ॥ १० ॥

भावार्थः—यथा पिता सन्तानैर्माननीयः पूजनीयश्चास्ति तथा प्रजाजनैस्सभापतीराजास्ति।

भावार्थ—जैसे पिता सन्तानों का माननीय और पूजनीय है, वैसे प्रजा जनों का सभापति राजा माननीय और पूजनीय है ॥

भाष्यसार—सभाध्यक्ष कैसा हो—सभाध्यक्ष हिंसायोग्य कर्मों से रहित, यथायोग्य रचना का ज्ञाता, उत्तम मानवाला और सब सुख को प्रकट करने वाला हो। वह प्रजा का पालक हो। वह दयालु होकर प्रजा की वृद्धावस्था पर्यन्त विद्या और सुख से युक्त आयु को सिद्ध करने वाला हो। सुख के जनक सभाध्यक्ष ऐसा प्रयत्न करे कि जिससे प्रजा की सन्तान ज्ञानवान् हो। सत्य के रक्षक और श्रेष्ठ वीरों वाले सभाध्यक्ष को प्राप्त करके प्रशंसित विद्या या कर्म वाले विद्वान् विविध धनों को प्राप्त करें। सबके पालक सभाध्यक्ष का आश्रय करके सब प्रजाजन भी नाना धन को प्राप्त करें ॥ १० ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अग्ने ! तुम हमारे पर अनुग्रह बुद्धि रखने वाले हो, तुम हमारे पिता हो और तुम आयु देनेवाले हो। हम (यज्ञादि) कर्म करने वाले तुम्हारे बन्धु हैं। हे किसी से हिंसित न होने वाले अग्निदेव ! अच्छे पुरुषों से युक्त तथा कर्मों के पालक तुम्हें सैंकड़ों और हजारों धन भलीभांति प्राप्त होते हैं।"

इस मन्त्र में अग्नि की निम्न विशेषताएँ बताई गई हैं—यह अग्नि प्रमतिः=प्रकृष्ट बुद्धि वाला है, पिता=पालन करने वाला है, वयस्कृत्=आयु प्रदान करने वाला अथवा आयु को बढ़ाने वाले साधनों से युक्त करने वाला है, अदाभ्य=हिंसारहित कर्मों से रहित, सुवीरम्=अच्छे पुरुषों से युक्त तथा व्रतपाम्=व्रतों का पालक है और हमें धनों को प्राप्त कराने वाला है। ये सभी विशेषताएँ भौतिक-अग्नि के साथ कदापि संगत नहीं हैं, अतः सायण की व्याख्या असंगत है। क्योंकि यह जड़ अग्नि प्रकृष्ट-बुद्धि वाला, आयु देने वाला, अहिंसित कर्मों वाला, अच्छे पुरुषों से युक्त और सत्यादि व्रतों का पालक कदापि नहीं हो सकता।

महर्षि-दयानन्द ने यहां 'अग्नि देवता' का अर्थ 'सभाध्यक्ष' किया है। सभाध्यक्ष कैसा होना चाहिए ? उसके साथ मन्त्रोक्त समस्त विशेषताओं की संगति होने से महर्षि की व्याख्या प्रकरण के

---

१. हे अग्ने त्वं प्रमतिः अस्मदनुग्रहरूपप्रकृष्टमतियुक्तोऽसि। तथा त्वं नः अस्माकं पिता पालकः असि। तथा त्वं वयस्कृत् आयुष्यप्रदोऽसि। वयम् अनुष्ठातारः तव जामयः बन्धवः। हे अदाभ्य केनापि अहिंसनीय अग्ने सुवीरं शोभनपुरुषयुक्तं व्रतपां कर्मणः पालकं त्वां शतिनः शतसंख्यायुक्ताः रायः धनानि संयन्ति सम्यक् प्राप्नुवन्ति। तथा सहस्रिणः सहस्रसंख्याकाः रायः संयन्ति ॥ (सायणः)

अनुकूल है। और चेतन सभाध्यक्ष से प्रार्थना करना संगत भी है। जडाग्नि से प्रार्थना या स्तुति निरर्थक होने से मिथ्या ही है।

और वेद-मन्त्रों में पठित 'शतम्' या 'सहस्रम्' पद सौ या हजार ऐसी निश्चित संख्या का बोध नहीं कराते हैं। इसीलिए निघण्टु (३। १) में 'शतम्' तथा 'सहस्रम्' शब्दों को बहुनामों में पढ़ा है। आचार्य-सायण ने निघण्टु के इस नियम का उल्लंघन करके यहां अनर्थ किया है। और धन की सीमा बान्धना भी ठीक नहीं। क्या हजार से अधिक धनों की आवश्यकता मनुष्यों को नहीं होती ?

आचार्य-सायण ने 'जामयः' का 'बन्धु' अर्थ भी असंगत किया है। भौतिकाग्नि से मनुष्यों की कैसी बन्धुता ? महर्षि ने (निघं० २। १४ का) प्रमाण देकर ज्ञानवान् (अपत्य) अर्थ किया है। इसमें कोई असंगति नहीं है। सभाध्यक्ष अथवा राजकीय व्यवस्था से शिक्षा का सुप्रबन्ध होने से अपत्यों को ज्ञानवान् करना चाहिए।

और स्कन्दस्वामी ने यहां 'पिता' शब्द का 'पितामह' अर्थ में प्रयोग माना है। उसके अनुसार अग्नि का पुत्र अङ्गिरा और अङ्गिरा का पुत्र हिरण्यस्तूप है। स्कन्दस्वामी की यह व्याख्या यौगिक-प्रक्रिया के विरुद्ध तथा भौतिकाग्नि परक अर्थ में मन्त्रार्थ की असंगति होने से मिथ्या है। उनको भ्रान्ति का करण मन्त्रों के प्रारम्भ में लिखा 'आङ्गिरसो हिरण्यस्तूपः' यह ऋषि-नाम है। मन्त्रार्थों के द्रष्टा होने से ऋषियों के नाम ऐतिहासिक हैं। उनका मन्त्रार्थ के साथ सम्बन्ध जोड़ना मिथ्या तथा शास्त्र-विरुद्ध मान्यता है। और मनुष्यों की भांति भौतिकाग्नि के भी पुत्र तथा पौत्र मानना सृष्टि-क्रम से विरुद्ध मान्यता है। और इसमें प्रत्यक्ष विरोध भी है। यह भौतिकाग्नि तो अब भी प्रत्यक्ष है, फिर इसके पुत्र तथा पौत्रादि प्रत्यक्ष क्यों नहीं ? और कार्य-कारण भाव मानकर यदि पिता-पुत्रादि शब्दों को माना जाए, तो अग्नि स्वयं प्रकृति का कार्य है, उसके अङ्गिरादि कार्य कौन से हैं ? अतः यह सब अस्पष्ट तथा कल्पित व्याख्या ही है॥ १०॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **अग्निः** (सभाध्यक्षः) देवता। जगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

पुनः स कीदृशः किं कुर्य्यादित्युपदिश्यते॥

फिर वह सभाध्यक्ष कैसा हो और क्या करे, यह उपदेश किया जाता है॥

त्वामग्ने प्रथममायुमायवे देवा अकृण्वन्नहुषस्य विश्पतिम्।
इळामकृण्वन्मनुषस्य शासनीं पितुर्यत्पुत्रो ममकस्य जायते॥ ११॥

त्वाम्। अग्ने। प्रथमम्। आयुम्। आयवे। देवाः। अकृण्वन्। नहुषस्य। विश्पतिम्। इळाम्। अकृण्वन्। मनुषस्य। शासनीम्। पितुः। यत्। पुत्रः। ममकस्य। जायते॥ ११॥

पदार्थः—(त्वाम्) प्रजापतिम् (**अग्ने**) विज्ञानान्वित (**प्रथमम्**) सर्वेष्वग्रगन्तारम् (**आयुम्**) य एति न्यायेन प्रजां तम् (**आयवे**) यथा विज्ञानाय (**देवाः**) विद्वांसः (**अकृण्वन्**) कुर्युः। अत्र लिङर्थे लङ् (**नहुषस्य**) मनुषस्य **नहुष इति मनुष्यनामसु पठितम्**। निघं० २। ३। नहुषस्येत्यत्र सायणाचार्य्येण नहुषनामकराजविशेषो गृहीतस्तदसत्। कस्यचिन्नहुषस्येदानींतनत्वाद् वेदानां सनातनत्वात्तस्य गाथात्र न संभवति, निघण्टौ नहुषस्येति मनुष्यनाम्नः प्रसिद्धेश्च। (**विश्पतिम्**) विशां=प्रजानां पतिं= पालकं सर्वोत्तमं राजानम् (**इळाम्**) वेदचतुष्टयीं वाचम्। **इळेति वाङ्नामसु पठितम्**। निघं० १। ११।

(**अकृण्वन्**) कुर्युः (**मनुषस्य**) मनुष्यस्य। अत्र **मन्धातोर्बाहुलकादुषन् प्रत्ययः**। (**शासनीम्**) शास्ति सर्वान् विद्याधर्माचरणशीलान् यया सत्यनीत्या ताम्। अत्रापि सायणाचार्य्येण मनोः पुत्री गृहीता तदप्यशुद्धमेव। (**पितुः**) जनकस्य सकाशात् (**यत्**) यथा **सुपां सुलुग्** इति तृतीयैकवचनस्य लुक्। (**पुत्रः**) यः पितृपावनशीलः (**ममकस्य**) मादृशस्य। अत्र **बाहुलकान् मन्धातोर्दमकन्प्रत्ययः**। (**जायते**) उत्पद्यते ॥

प्रमाणार्थ—(**अकृण्वन्**) यहाँ लिङ् लकार के अर्थ में लङ् लकार है (**नहुषस्य**) 'नहुषः' यह निघण्टु (२। ३) में मनुष्य-नामों में पढ़ा है। (**इळाम्**) 'इळा' पद निघण्टु (१। ११) में वाक्-नामों में पढ़ा है—वाक्=वाणी। (**मनुषस्य**) यहां 'मन्' धातु से बहुल करके 'उषन्' प्रत्यय है। (**यत्**) यहां 'सुपां सुलुक्' (अ० ७। १। ३९) इस सूत्र से तृतीयाविभक्ति के एकवचन का लुक् है। (**ममकस्य**) यहां बहुल करके 'मन्' धातु से 'दमकन्' प्रत्यय हुआ है ॥

अन्वयः—हे **अग्ने** विज्ञानान्वितसभाध्यक्ष देवा [त्वां प्रथममायुमकृण्वन्] नहुषस्यायव इमामिळामकृण्वन् विशदीमकुर्वन् मनुष्यस्य शासनीं सत्यशिक्षां चाकृण्वन्। प्रजा च यत्—यथा ममकस्य पितुः पुत्रो जायते तथा भवति ॥ ११ ॥

सपदार्थान्वयः— हे **अग्ने=विज्ञानान्वितसभाध्यक्ष**! **देवाः** विद्वांसः [**त्वां प्रजापतिं प्रथमं** सर्वेष्वग्रगन्तारम् **आयुं** य एति न्यायेन प्रजां तम् **विश्पतिम्** विशां प्रजानां पतिं पालकं सर्वोत्तमं राजानम् **अकृण्वन् कुर्युः**] **नहुषस्य मनुषस्य आयवे** यथा विज्ञानाय **इमामिळां** वेदचतुष्टयीं वाचम् **अकृण्वन्=विशदीमकुर्वन् कुर्युः**, [**मनुषस्य**]=**मनुष्यस्य शासनीं=सत्यशिक्षां चाकृण्वन् कुर्युः**। **प्रजा च यत्=यथा ममकस्य** मादृशस्य **पितुः** जनकस्य सकाशात् **पुत्रः** यः पितृपावनशीलः **जायते** उत्पद्यते **तथा भवति** ॥ ११ ॥

भाषार्थ— हे (**अग्ने**) विज्ञान से युक्त सभाध्यक्ष! (**देवाः**) विद्वान्—[**त्वाम्**] प्रजा के पालक आपको [**प्रथमम्**] सब में अग्रणी और [**आयुम्**] न्याय से प्रजा को प्राप्त होने वाला [**विश्पतिम्**] प्रजा का पालक सर्वोत्तम राजा [**अकृण्वन्**] बनावें, (**नहुषस्य**) मनुष्य के (**आयवे**) यथावत् विज्ञान के लिए इस (**इळाम्**)। चार वेद-रूप वाणी का विस्तार करें, और [**मनुषस्य**] मनुष्यको (**शासनीम्**) सत्यशिक्षा (**अकृण्वन्**) करें। और प्रजा (**यत्**) जैसे (**ममकस्य**) मेरे सदृश (**पितुः**) पिता से (**पुत्रः**) पिता को पवित्र करने वाला पुत्र (**जायते**) उत्पन्न हो, वैसी होवे। ११ ॥

भावार्थः— नैवेश्वरप्रणीतेन व्यवस्थापकेन वेदशास्त्रेण राजनीत्या च विना प्रजापालकः प्रजां पालयितुं शक्नोति, प्रजाजनश्च राज्ञोऽज्ञसंतानवद्-भवत्यतः सभापतीराजाज्ञपुत्रमिव प्रजां शिष्यात् ॥

भावार्थ—ईश्वर के रचे व्यवस्थापक वेद-शास्त्र और राजनीति के बिना, प्रजापालक प्रजा का पालन नहीं कर सकता, और प्रजाजन राजा के मूर्ख पुत्र के समान होते हैं, इसलिए सभा-पति राजा मूर्ख पुत्र के समान ही प्रजा का शासन करे ॥

भाष्यसार—**सभाध्यक्ष कैसा हो और क्या करे**—सभाध्यक्ष राजा विज्ञान से युक्त हो। विद्वान् लोग प्रजा के पालक, सब में अग्रणी, न्याय से प्रजा को प्राप्त होने वाले श्रेष्ठ पुरुष को सभाध्यक्ष राजा बनावें। और वे प्रजा के यथावत् विज्ञान के लिए चार वेदरूप वाणी का विस्तार करें, उसके

पठन-पाठन की व्यवस्था करें और मनुष्यों को सत्य-शिक्षा करें। माता-पिता को पवित्र करने वाले पुत्र जैसे उत्पन्न हों, वैसी उत्तम शिक्षा आदि का प्रबन्ध करें ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अग्निदेव ! पहले देवों ने मनुष्यरूप नहुष नामक राजा के मनुष्यरूप (पुत्र) को सेनापति किया। तथा मनु की पुत्री धर्मोपदेश करने वाली इळा को (सेनापति) किया। जब मेरे हिरण्यस्तूपसम्बन्धी का जो पिता अंगिरा नामक है, उसके पुत्ररूप में हे अग्ने ! तुम्हीं उत्पन्न होते हो ॥"

इस मन्त्र की सायणकृत व्याख्या में निम्नलिखित दोष हैं—

(१) सायणाचार्य ने मन्त्र के देवता की कहीं भी व्याख्या नहीं की है। और यहाँ भी उसी शैली को अपनाया है। नहुष नामक राजा का सेनापतिरूप में भौतिकाग्नि को बनाना कैसी मिथ्या बात है ? क्या यह जड़ अग्नि सेनापति का कार्य कर सकती है ? कोई मूर्ख मनुष्य भी इस बात को स्वीकार नहीं कर सकता। इसी प्रकार मनु की पुत्री इळा को सेनापति तथा हिरण्यस्तूप के पिता अंगिरा तथा अंगिरा के पिता अग्नि को स्वीकार करना भी मिथ्या मान्यता है।

(२) वेद ईश्वरोक्त शाश्वत ज्ञान है। उसमें नहुषादि राजाओं का इतिवृत्त मानना परस्पर विरोधी मान्यता है। एक तरफ आचार्य सायण वेदों को अपौरुषेय=ईश्वरोक्त मानता है, और दूसरी तरफ ऐतिहासिक वर्णन दिखाता है। इन दोनों मान्यताओं में दोनों सत्य कदापि नहीं हैं। क्योंकि इतिहास तो व्यतीत काल का होता है और वेद का ज्ञान सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर ने प्रदान किया। फिर अर्वाचीन काल का इतिवृत्त वेदों में कैसे सम्भव है ?

(३) वेद-मन्त्रों में लौकिक संस्कृत के अनुसार लुङादिलकारों की क्रियाओं को देखकर भूत-कालीन अर्थ करना भी व्याकरण के वैदिक नियमों से अनभिज्ञता प्रकट करना है। वैदिक नियमों में लुङादि लकारों का प्रयोग भी सामान्यकाल में होता है। यह सायण की वैदिक नियमों के सम्बन्ध में महा-भ्रान्ति रही है।

(४) आचार्य-सायण की भ्रान्ति का कारण वैदिक कोषों से अनभिज्ञता एवं उपेक्षा भी है। निघण्टु में नहुष' शब्द मनुष्यनामों में 'इळा' शब्द वाणी के नामों में पठित है। इनको भलीभाँति देखकर सायण विचार करते तो अनित्येतिहास की ओर क्यों भागते ?

(५) वैदिक पद निरुक्त के अनुसार यौगिक-प्रक्रिया से प्रकरण के अनुसार अर्थों का बोध कराते हैं। इस मन्त्र में भी 'देवाः' 'आयुम्' 'आयवे' 'पुत्रः' इत्यादि पद यौगिकार्थ का ही बोध कराते हैं। सायण-भाष्य में इन पदों के रूढ अर्थ किए हैं।

(६) महर्षि दयानन्द ने यहाँ अग्नि देवता का अर्थ 'सभाध्यक्ष' किया है। राजा और प्रजा का सम्बन्ध पिता-पुत्र की भान्ति होना चाहिए। इस बात को न समझकर सायण ने भौतिकाग्नि के भी बेटे-पोतों का वर्णन कर महाभ्रान्ति को प्रकट किया है। उन्होंने यह भी विचार नहीं किया कि मन्त्रोक्त पदों

---

१. हे अग्ने ! त्वां प्रथमं पुरा देवाः आयवे आयोः मनुष्यरूपस्य नहुषस्य एतन्नामकराजविशेषस्य आयुं मनुष्यरूपं विश्पतिं सेनापतिम् अकृण्वन् कृतवन्तः। तथा मनुषस्य मनोः इळाम् एतन्नामधेयीं पुत्रीं शासनीं धर्मोपदेशकत्रीम् अकृण्वन् कृतवन्तः। यत् यदा ममकस्य मदीयस्य हरिण्यस्तूपसम्बन्धिनः यः पिता अंगिराः तस्य पितुः पुत्रः जायते। तदानीं हे अग्ने त्वमेव पुत्ररूप आसीरिति शेषः ॥ (सायणः)

की परस्पर कोई संगति भी होनी चाहिए या नहीं ? आयु और इळा दोनों को सेनापति बनाना और जड़ाग्नि के पुत्र व पौत्र के वर्णन में परस्पर क्या संगति है ?

इन सभी दोषों से रहित तथा प्रकरणानुकूल महर्षि दयानन्द की सुसंगत व्याख्या द्रष्टव्य है ॥ ११ ॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः । **अग्निः** (सभाध्यक्षः) देवता । जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनः स एवोपदिश्यते ॥

फिर उसी सभाध्यक्ष का उपदेश किया जाता है ॥

त्वन्नो अग्ने तव देव पायुभिर्मघोनो रक्ष तन्वश्च वन्द्य ।
त्राता तोकस्य तनये गवामस्यनिमेषं रक्षमाणस्तव व्रते ॥ १२ ॥

त्वम् । नः । अग्ने । तव । देव । पायुऽभिः । मघोनः । रक्ष । तन्वः । च । वन्द्य । त्राता । तोकस्य । तनये । गवाम् । असि । अनिऽमेषम् । रक्षमाणः । तव । व्रते ॥ १२ ॥

पदार्थः—(त्वम्) सभेशः (नः) अस्माकमस्मान् वा (**अग्ने**) सर्वाभिरक्षक (**तव**) सर्वाधिपतेः (**देव**) सर्वसुखदातः (**पायुभिः**) रक्षादिव्यवहारैः (**मघोनः**) मघं=प्रशस्तं धनं विद्यते येषां तान् । अत्र **प्रशंसार्थे मतुप् । मघमिति धननामधेयम् ।** निघं० २ । १० । (**रक्ष**) पालय (**तन्वः**) शरीराणि । अत्र **सुपां सुलुग्** इति शसः स्थाने जस् । [**च**] समुच्चये (**वन्द्य**) स्तोतुमर्ह (**त्राता**) रक्षकः (**तोकस्य**) अपत्यस्य । **तोकमित्यपत्यनामसु पठितम् ।** निघं० २ । २ । (**तनये**) विद्याशरीरबलवर्धनाय प्रवर्त्तमाने पुत्रे । **तनयमित्यपत्यनामसु पठितम् ।** निघं० २ । २ । (**गवाम्**) मनआदीन्द्रियाणां चतुष्पदां वा प्रत्यक्षाप्रत्यक्षस्य संसारस्य [**असि**] भव (**अनिमेषम्**) प्रतिक्षणम् (**रक्षमाणः**) रक्षन् सन् । अत्र **व्यत्ययेन शानच्** (**तव**) प्रजेश्वरस्य (**व्रते**) सत्यपालनादिनियमे ॥ १२ ॥

प्रमाणार्थ—(**मघोनः**) यहां प्रशंसा अर्थ में 'मतुप्' प्रत्यय है । 'मघम्' यह पद निघण्टु (२ । १०) में धनवाची है । (**तन्वः**) यहां 'सुपां' सुलुक् (अ० ७ । १ । ३९) इस सूत्र से 'शस्' विभक्ति के स्थान में 'जस्' आदेश है । (**तोकस्य**) 'तोकम्' यह पद निघण्टु (२ । २) में अपत्य-नामों में पढ़ा है—अपत्य=सन्तान । (**तनये**) 'तनयम्' यह पद निघण्टु (२ । २) में अपत्यनामों में पढ़ा है । (**रक्षमाणः**) यहां व्यत्यय से 'शानच्' प्रत्यय है ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे देव वन्द्याग्ने सभेश्वर तव व्रते नीतिनियमे वर्त्तमानन् मघोनो नोस्मान् अस्माकं वा तन्वस्तनूश्च पायुभिस्त्वमनिमेषं रक्ष तथा रक्षमाणस्त्वं तव व्रते वर्त्तमानस्य तोकस्य गवामस्य संसारस्य चानिमेषं च तनये त्राता भव ॥ १२ ॥

सपदार्थान्वयः—हे देव सर्वसुखदातः **वन्द्य** स्तोतुमर्हः **अग्ने सभेश्वर** सर्वाभिरक्षक **तव** सर्वाधिपतेः **व्रते**=**नीतिनियमे वर्त्तमानान् मघोनः** मघं=प्रशस्तं धनं विद्यते येषां तान् **नः**=**अस्मान् अस्माकं वा तन्वः तनूश्च** शरीराणि **पायुभिः** रक्षादिव्यवहारैः **त्वं** सभेशः **अनिमेषं** प्रतिक्षणं **रक्ष** पालय; **तथा रक्षमाणः** रक्षन् सन्

भाषार्थ—हे (**देव**) सब सुखों के दाता (**वन्द्य**) स्तुति के योग्य (**अग्ने**) सबके रक्षक सभाध्यक्ष ! (**तव**) सबके अधिपति आपके (**व्रते**) नीतिविषयक नियम में वर्तमान (**मघोनः**) प्रशस्त धन से युक्त (**नः**) हमें तथा हमारे (**तन्वः**) शरीरों का (**पायुभिः**) रक्षा आदि व्यवहारों से (**त्वम्**) आप (**अनिमेषम्**) प्रतिक्षण (**रक्ष**) पालन

त्वं सभेशः **तव प्रजेश्वरस्य व्रते** सत्यपालनादिनियमे **वर्त्तमानस्य तोकस्य** अपत्यस्य **गवां=अस्य संसारस्य** मन आदीन्द्रियाणां चतुष्पदां वा, **प्रत्यक्षाप्रत्यक्षसंसारस्य अनिमेषं** प्रतिक्षणं च **तनये** विद्याशरीरबलवर्द्धनाय प्रवर्त्तमाने पुत्रे **त्राता** रक्षक [**असि**] भव ॥ १२ ॥

करो, और (**रक्षमाणः**) रक्षा करते हुये (**त्वम्**) आप—(**तव**) प्रजा के ईश्वर आपके (**व्रते**) सत्य-पालन आदि नियम में वर्तमान (**तोकस्य**) सन्तान और (**गवाम्**) मन आदि इन्द्रियाँ या चतुष्पाद पशु अर्थात् प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष संसार के और (**अनिमेषम्**) प्रतिक्षण (**तनये**) विद्या और शरीर बल की वृद्धि में प्रवृत्त पुत्र के (**त्राता**) रक्षक [**असि**] बनो ॥ १२ ॥

भावार्थः—सभापती राजा परमेश्वरस्य जगद्धारणपालनादिगुणैरिवोत्तमगुणैराज्यनियमप्रवृत्ताञ्जनान् सततं रक्षेत् ॥ १२ ॥

भावार्थ—सभापति राजा परमेश्वर के संसार के धारण, पालन आदि गुणों के तुल्य उत्तम गुणों से राज्य-नियमों में प्रवृत्त जनों की सदा रक्षा करे ॥ १२ ॥

भाष्यसार—**सभाध्यक्ष कैसा हो**—सभाध्यक्ष सब सुखों का दाता, स्तुति के योग्य और सबका रक्षक हो। सबके अधिपति सभाध्यक्ष के नीतिविषयक नियमों में वर्तमान, प्रशस्त धन से युक्त प्रजा की वह प्रतिक्षण रक्षा करे। प्रजा के ईश्वर सभाध्यक्ष के सत्यपालन आदि नियम में वर्तमान सन्तान की, मन आदि इन्द्रियों तथा गौ आदि पशु अर्थात् प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप संसार की भी वह प्रतिक्षण रक्षा करे। वह विद्या और शरीर बल की वृद्धि में प्रवृत्त पुत्रों का भी रक्षक बने ॥ १२ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायणभाष्य[1] इस प्रकार है—"हे वन्दनीय अग्निदेव ! तुम अपनी रक्षाओं से हम धनसम्पन्नों की रक्षा करो, हमारे पुत्रों के शरीरों की रक्षा करो और हमारे पौत्र, जो तुम्हारे कर्म में निरन्तर रक्षा करते हुए सावधान हैं, उनकी गायों की रक्षा करने वाले हो।"

इस मन्त्र में 'अग्नि' देवता के विषय में कहा गया है कि वह वन्द्य=वन्दना के योग्य है, उसके व्रत=नियमों का जो पालन करता है, उसकी वह रक्षा करता है। और वह हमारे धनों, पुत्र-पौत्रों तथा गायादि पशुओं की रक्षा प्रतिक्षण करता है। ये विशेषताएँ किस 'अग्नि' की हैं, यह सायणादि भाष्यकारों ने न समझकर भौतिकाग्नि परक ही असंगत व्याख्या की है। इन अचेतनादि को यह ज्ञान कहाँ कि किसने नियमों का पालन किया है और किसने नहीं ? यह अग्नि हमारे धनों, पुत्रों तथा पशुओं की रक्षा कदापि नहीं कर सकता। महर्षि ने यहाँ 'अग्नि' का अर्थ 'सभाध्यक्षः' किया है। उसके प्रजा के हितार्थ जो नियम हैं, उनको पालन करने वालों की वह रक्षा करता है। जो राज्य में चोर-दस्यु आदि अथवा हिंसक प्राणी होते हैं, उनसे राजा प्रजा की सतत रक्षा करता है। प्रजा के धनों, सन्तानों तथा पशुओं की रक्षा करना राजा का परम धर्म है। ऐसे सत्यार्थ को न समझकर सायणाचार्य ने मन्त्र की असंगत व्याख्या की है ॥ १२ ॥ ●

---

१. हे वन्द्य वन्दनीय अग्ने देव ! त्वं तव पायुभिः त्वदीयैः पालनैः मघोनः धनयुक्तान् नः अस्मान् रक्ष। तथा तन्वश्च तनूः पुत्रदेहानपि रक्ष। तोकस्य अस्मदीयस्य पुत्रस्य यः तनयोऽस्मत् पौत्रादिः तव व्रते त्वदीये कर्मणि अनिमेषं निरन्तरं रक्षमाणः सावधानो वर्त्तते तस्मिन् या गावः सन्ति तासां गवां त्राता रक्षकः असि ॥ (सायणः)

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **अग्निः** (**सभाध्यक्षः**) देवता। जगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

पुनरग्निगुणः सभापतिरुपदिश्यते॥

अब अग्नि गुणवाले सभाध्यक्ष का उपदेश किया जाता है॥

त्वमग्ने यज्यवे पायुरन्तरोऽनिषङ्गाय चतुरक्ष इध्यसे।
यो रातहव्योऽवृकाय धायसे कीरेश्चिन्मन्त्रं मनसा वनोषि तम्॥ १३॥

त्वम्। अग्ने। यज्यवे। पायुः। अन्तरः। अनिषङ्गाय। चतुःऽअक्षः। इध्यसे। यः। रातऽहव्यः। अवृकाय। धायसे। कीरेः। चित्। मन्त्रम्। मनसा। वनोषि। तम्॥ १३॥

पदार्थः—(**त्वम्**) सभाधिष्ठाता (**अग्ने**) योग्निरिव देदीप्यमानः (**यज्यवे**) होमादिशिल्पविद्यासाधकाय विदुषे। **अत्र यजिमनिशुन्धिदसि०** उ० ३। २०। अनेन यजधातोर्युच् प्रत्ययः। (**पायुः**) पालनहेतुः **पा रक्षणे**, इत्यस्मादुण्। (**अन्तरः**) मध्यस्थः (**अनिषङ्गाय**) अविद्यमानो नितरां संग=पक्षपातो यस्य तस्मै (**चतुरक्षः**) यः खलु चतस्रः सेना अश्नुते=व्याप्नोति स चतुरक्षः। **अक्षा अश्नुवत [एनान्] इति वा अभ्यश्नुत एभिरिति वा।** निरु० ९। ७। (**इध्यसे**) प्रदीप्यसे (**यः**) विद्वान् शुभलक्षणः (**रातहव्यः**) रातानि—दत्तानि हव्यानि येन सः (**अवृकाय**) अचोराय **वृक इति स्तेननामसु पठितम्।** निघं० ३। २४। **अत्र सृवृभूशुषि०** उ० ३। ४०। अनेन वृञ्धातोः कक् प्रत्ययः। (**धायसे**) यो दधाति सर्वाणि कर्माणि स धायास्तस्मै (**कीरेः**) किरति=विविधतया वाचा प्रेरयतीतिकीरिः=स्तोता तस्मात्। **कीरिरितिस्तोतृनामसु पठितम्।** निघं० ३। १६। अत्र कॄविक्षेप इत्यस्मात् (**कॄ[गॄ] शॄ पॄ कुटि०**) उ० ४। १४८। अनेन इप्रत्ययः स च कित् पूर्वस्य च दीर्घो बाहुलकात्। (**चित्**) इव (**मन्त्रम्**) उच्चार्य्यमाणं वेदावयवं विचारं वा (**मनसा**) अन्तःकरणेन (**वनोषि**) याचसे संभजसि वा (**तम्**) अग्निम्॥ १३॥

प्रमाणार्थ—(**यज्यवे**) यहां 'यजिमनिशुन्धिदसि०' (३। २०) इस उणादि सूत्र से यज् धातु से 'युच्' प्रत्यय है। (**पायुः**) यहां रक्षार्थक 'पा' धातु से 'उण' प्रत्यय है। (**चतुरक्षः**) निरुक्त (९। ७) के अनुसार 'अक्ष' पद अशूङ् व्याप्तौ धातु से सिद्ध होता है, पासे को 'अक्ष' इसलिए कहते हैं कि जुआरी इसे प्राप्त करते हैं, अथवा इससे दुर्गति को प्राप्त होते हैं, यहां व्याप्ति अर्थ का ग्रहण किया है। (**अवृकाय**) यह पद निघण्टु (३। २४) में स्तेन-नामों में पढ़ा है—स्तेन=चोर। यहां 'सुवृभूशुषि०' (३। ४०) इस उणादि सूत्र से 'वृञ्' धातु से 'कक्' प्रत्यय है। (**कीरेः**) 'कीरिः' यह पद निघण्टु (३। १६) में स्तोतृ-नामों में पढ़ा है। यहां विक्षेपार्थक 'कॄ' धातु से कॄगॄशॄपॄ कुटि (४। १४८) इस उणादि सूत्र से 'इ' प्रत्यय और वह कित् है, और पूर्व को बहुल करके दीर्घ है॥ १३॥

अन्वयः—हे [**अग्ने**]=सभापते मनसा [**मन्त्रं**] चिदिव रातहव्यो पायुरन्तरश्चतुरक्षोयस्त्वमनिषंगायावृकाय धायसे यज्यवे—यज्ञकर्त्रइध्यसे—दीप्यसे किंच यं वनोषि संभजसि [**तम्**] तस्य कीरेः सकाशाद्विनयमधिगम्य प्रजाः पालयेः॥ १३॥

पदार्थान्वयः— हे [**अग्ने**] सभापते योऽग्निरिवदेदीप्यमान! **मनसा** अन्तःकरणेन **मन्त्रम्** उच्चार्यमाणं वेदावयवं विचारं वा **चित्**=इव **रातहव्यः** रातानि=दत्तानि हव्यानि येन सः [**पायुः**] पालनहेतुः **अन्तरः** मध्यस्थः **चतुरक्षः**

भाषार्थ—हे [**अग्ने**] अग्नि के समान देदीप्यमान सभाध्यक्ष! (**मनसा**) अन्तःकरण से (**मन्त्रम्**) उच्चार्यमाण मन्त्र या विचार के (**चित्**) समान, (**रातहव्यः**) हव्य पदार्थों के दाता, (**पायुः**) पालन के हेतु (**अन्तरः**) मध्यस्थ (**चतुरक्षः**)

यः खलु चतस्रः सेना अश्नुते=व्याप्नोति स चतुरक्षः [यः] विद्वान् शुभलक्षणः त्वं सभाधिष्ठाता **अनिषङ्गाय** अविद्यमानो नितरां संग=पक्षपातो यस्य तस्मै **अवृकाय** अचोराय **धायसे** यो दधाति सर्वाणि कर्माणि स धायास्तस्मै **यज्यवे**=यज्ञकर्त्रे होमादिशिल्पविद्यासाधकाय विदुषे **इध्यसे**=**दीप्यसे, किं च यं वनोषि=संभजसि [तम्]**=**तस्य कीरेः** किरति=विविधतया वाचा प्रेरयतीति कीरिः=स्तोता तस्मात् **सकाशाद् विनयमधिगम्य प्रजाः पालयेः** ॥ १३ ॥

चार सेनाओं को व्याप्त करने वाले [**यः**] जो शुभ लक्षण वाले विद्वान् (**त्वम्**) आप—(**अनिषंगाय**) सर्वथा पक्षपात से रहित (**अवृकाय**) चोरी से पृथक् (**धायसे**) सब कर्मों को धारण करने वाले (**यज्यवे**) होम आदि शिल्पविद्या के साधक विद्वान् के लिये (**इध्यसे**) प्रदीप्त=तेजस्वी होते हो, और जिसकी (**वनोषि**) सेवा करते हैं, (**तम्**) उस (**कीरेः**) विविध प्रकार से वाणी से प्रेरणा करने वाले विद्वान् से विनय को प्राप्त करके प्रजा का पालन करो ॥ १३ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः। यथाध्यापकाद्विद्यार्थिनो मनसा विद्या सेवन्ते तथैव त्वमाप्तोपदेशानुसारेण राजधर्मं सेवस्व ॥ १३ ॥

भावार्थ—यहां उपमा अलङ्कार है। जैसे अध्यापक से विद्यार्थी मन से विद्या का सेवन करते हैं, वैसे ही तू—(**सभाध्यक्ष**) आप्त विद्वान् के उपदेशानुसार राजधर्म का सेवन कर ॥ १३ ॥

भाष्यसार—**अग्नि गुणवाला सभाध्यक्ष**—अग्नि के समान देदीप्यमान सभाध्यक्ष अन्तःकरण से उच्चार्यमाण मन्त्र या विचार के तुल्य हितकारी हो। वह हव्य=होम के योग्य द्रव्यों का दाता, प्रजा का पालक, मध्यस्थ=तटस्थ, हाथी, घोड़े, रथ और पैदल, इन चार सेना के अंगों को व्याप्त करने वाला और शुभ लक्षण वाला विद्वान् हो। वह पक्षपात रहित, चोरी दोष से पृथक्, सब कर्मों के धारक, होम आदि शिल्प-विद्या के साधक यजमान विद्वान् के लिये प्रकाशित हो, अर्थात् उसे सब सुख प्रदान करे। विद्वान् पुरुष की सेवा करे, उससे शिक्षा प्राप्त करके प्रजा का पालन करे ॥ १३ ॥

अलङ्कार—इस मन्त्र में 'चित्' पद उपमा-वाचक है, अतः उपमा अलङ्कार है। उपमा यह है कि सभाध्यक्ष मन्त्र और विचार के समान हितकारी हो ॥ १३ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अग्ने! तुम यजमान के पालक तथा समीपवर्त्ती होते हुए राक्षसों से रहित यज्ञ के लिये चारों दिशाओं में चार आंखों वाले होकर प्रज्वलित होते हो। जो यजमान अहिंसक तथा पोषक तुम्हारे लिए हवि प्रदान करता है, उस स्तुति करने वाले के तुम्हारे सम्बन्धी स्तोत्ररूप मन्त्र को तुम अपने चित्त से याचना करते हो।"

इस मन्त्र के 'अग्नि' देवता की यद्यपि सायण-भाष्य में कोई व्याख्या नहीं की है, किन्तु 'इध्यसे=प्रज्वलित होते हो' इस पदार्थ से स्पष्ट है कि वे यहाँ भौतिकाग्नि का ही ग्रहण कर रहे हैं। मन्त्र में वर्णित विषय पर जब हम ध्यान देते हैं, तो सायण की व्याख्या असम्बद्ध तथा जड़-चेतन के विवेक से हीन होने से मिथ्या ही है। मन्त्र के उत्तरार्द्ध में सायण ने इस अग्नि को 'अवृकाय=अहिंसकाय' कहकर अहिंसक माना है, यह अग्नि के धर्मों से विरुद्ध है। कोई भी जीवित प्राणी जब भी अग्नि का

---

१. हे अग्ने! त्वं यज्यवे यज्योः यजमानस्य पायुः पालकः अन्तरः समीपवर्ती सन् अनिषङ्गाय रक्षोभिरसंबद्धाय यज्ञाय चतुरक्षः दिक्चतुष्टयेऽपि इन्द्रियस्थानीयज्वालायुक्तः इध्यसे दीप्यसे। अवृकाय अहिंसकाय धायसे पोषकाय तुभ्यं रातहव्यः दत्तहविष्कः यः यजमानोऽस्ति कीरेश्चित् स्तोतुरेव सतः तस्य संबन्धिनं मन्त्रं त्वदीयस्तोत्ररूपं मनसा त्वदीयेन चित्तेन वनोषि याचसि ॥ (सायणः)

स्पर्श करता है, तब यह अपने धर्म को कदापि नहीं त्यागता। फिर इसे अहिंसक कहना असंगत ही है। और योगदर्शनकार ने 'अहिंसा' का अर्थ 'वैरभाव का त्याग करना' माना है। इस जड़ाग्नि में यह भी संभावना नहीं है कि वह किसी से वैरादि करे अथवा वैर न करे। और "मन्त्रं मनसा वनोषि=यह अग्नि अपने स्तोत्ररूप मन्त्र को मन से याचना करती है" यह अर्थ भी असम्बद्ध तथा सृष्टिक्रम से विरुद्ध है। मन=अन्तःकरण एक इन्द्रिय है, जिससे जीवात्मा सुख-दुःख का अनुभव करता है। यह अचेतन भौतिकाग्नि में कदापि सम्भव नहीं है। यह सायणाचार्य की दर्शन-विद्या से अनभिज्ञता की पराकाष्ठा है कि जो जड़-पदार्थों में भी मन को मानकर वेद की असम्बद्ध व्याख्याएँ की हैं।

और मन्त्रोक्त 'चतुरक्षः' पद का सायण ने 'चार आंखों वाला (अग्नि)' अर्थ किया है। स्कन्द-स्वामी ने इसका अर्थ 'चतुर्मुख' किया है। ये दोनों ही अर्थ भौतिकाग्नि के साथ संगत नहीं होते। जड़ाग्नि में आंख आदि मानना तो अनुचित है ही, किन्तु दिशाएँ दश होती हैं, अग्नि को फिर चार दिशाओं में ही पज्वलित कहना ठीक नहीं। महर्षि ने यहाँ यौगिक प्रक्रिया से 'चार प्रकार की सेनाओं को व्याप्त करने वाला अर्थ किया है, जो कि 'अग्निः=सभाध्यक्षः' अर्थ की दृष्टि से सुसंगत है। इसी प्रकार 'अनिषङ्गाय=राक्षसों से रहित यज्ञ के लिए' अर्थ भी याज्ञिक प्रक्रिया के पूर्वाग्रह वश ही है। धात्वर्थ के अनुसार इसका अर्थ 'संगरहित=पक्षपातरहित' है। और यह विशेषण है मन्त्र के 'यज्यवे' पद का। जिसको सायण ने न समझकर अन्यथा व्याख्यान किया है।

महर्षि ने मन्त्र के देवता 'अग्नि' का 'सभाध्यक्ष' अर्थ किया है। महर्षि का मन्त्रार्थ प्रकरण के अनुकूल है। उसमें सायण की भांति किसी प्रकार की असंगत नहीं है। उसके साथ 'मनसा' पद की पूर्णतः संगति है। सभाध्यक्ष का यह परम धर्म है कि वह अवृक=चोरी आदि से पृथक् धायसे=कर्मों को धारण करने वाले यज्यवे=अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त यज्ञों को करने वालों के लिए सम्यक् प्रदीप्त अर्थात् प्रकाशमान होता है और उन्हें प्रोत्साहित करता है। महर्षि ने पदों की परस्पर संगति तथा पदार्थ में प्रकरण का विशेष ध्यान रक्खा है। सायण आदि भाष्यकारों ने प्रकरण-विरुद्ध तथा असंगत व्याख्याएँ ही की हैं॥ १३॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **अग्निः (सभाध्यक्षः)** देवता। जगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

पुनः स एवोपदिश्यते॥

फिर सभाध्यक्ष विषय का उपदेश किया जाता है॥

त्वमग्न उरुशंसाय वाघते स्पार्हं यद्रेक्णः परमं वनोषि तत्।
आध्रस्य चित् प्रमतिरुच्यसे पिता प्र पाकं शास्सि प्र दिशो विदुष्टरः॥ १४॥

त्वम्। अग्ने। उरुऽशंसाय। वाघते। स्पार्हम्। यत्। रेक्णः। परमम्। वनोषि। तत्। आध्रस्य। चित्। प्रऽमतिः। उच्यसे। पिता। प्र। पाकम्। शास्सि। प्र। दिशः। विदुःतरः॥ १४॥

पदार्थः—(**त्वम्**) प्रजाप्रशासिता (**अग्ने**) विज्ञानस्वरूप (**उरुशंसाय**) उरुर्बहुविधः शंसः=स्तुतिर्यस्य तस्मै (**वाघते**) वाक् हन्यते=ज्ञायते येन तस्मै विदुष ऋत्विजे मनुष्याय। **वाघत इत्यृत्विङ्-नामसु पठितम्।** निघं० ३। १८। (**स्पार्हम्**) स्पृहा=वाञ्छा तस्या इदं स्पार्हम् (**यत्**) यस्मात् (**रेक्णः**) धनम् **रेक्ण इति धनानामसु पठितम्।** निघं० २। १०। **रिचेर्धने घिच्च।** उ० ४। २०६। अनेन रिच्-धातोर्धनेर्थेऽसुन् प्रत्ययः स च घिन्नुडागमश्च। (**परमम्**) अत्युत्तमम् (**वनोषि**) याचसे (**तत्**) धनम्

(**आध्रस्य**) समन्ताद्ध्रियमाणस्य राज्यस्य । अत्र आङ्पूर्वाद्धाञ् धातोर्बाहुलकादौणादिको रक् प्रत्यय आकारलोपश्च । (**चित्**) इव (**प्रमतिः**) प्रकृष्टा मतिर्ज्ञानं यस्य सः (**उच्यसे**) परिभाष्यसे (**पिता**) पालकः (**प्र**) प्रकृष्टार्थे (**पाकम्**) पचन्ति=परिपक्वं ज्ञानं कुर्वन्ति यस्मिन् धर्म्ये व्यवहारे तम् (**शास्सि**) उपदिशसि (**प्र**) प्रशंसायाम् (**दिशः**) ये दिशन्त्युत्सृजन्ति सदाचारं तानाप्तान् (**विदुष्टरः**) यो विविधानि दुरिष्टानि तारयति=प्लावयति सः ॥ १४ ॥

प्रमाणार्थ—(**वाघते**) वाघतः यह पद निघण्टु (३ । १८) में ऋत्विक्-नामों में पढ़ा है । (**रेक्णः**) यद पद निघण्टु (२ । १०) में धन-नामों में पढ़ा है, 'रिचेर्धने घिच्च' (२ । २०६) इस उणादि सूत्र से धनार्थक 'रिच्' धातु से असुन् प्रत्यय है, और वह घित् है, तथा नुट् का आगम है । (**आध्रस्य**) यहां 'आङ्पूर्वक 'धाञ्' धातु से बहुल करके औणादिक 'रक्' प्रत्यय और आकार का लोप है ॥ १४ ॥

अन्वयः—हे अग्ने विज्ञानयुक्त न्यायाधीश यद् यतः प्रमतिर्विदुष्टरस्त्वमुच्यसे उरुशंसाय वाघते स्पार्हं परमं रेक्णो धनं पाकं [प्रददासि] दिश उपदेशकाँश्च वनोषि धर्मेणाध्रस्य सर्वान् पिता चिदिव प्रशास्सि [तत्] तस्मात् सर्वैर्मान्यार्होसि ॥ १४ ॥

सपदार्थान्वयः—हे अग्ने! = **विज्ञानयुक्तन्यायाधीश** ! **यद्** = **यतः प्रमतिः** प्रकृष्टा मतिर्ज्ञानं यस्य सः **विदुष्टरः** यो विविधानि दुरिष्टानि तारयति=प्लावयति सः **त्वं** प्रजाप्रशासिता **उच्यसे** परिभाष्यसे **उरुशंसाय** उरुर्बहुविधः शंसः=स्तुतिर्यस्य तस्मै **वाघते** वाक् हन्यते=ज्ञायते येन तस्मै विदुष ऋत्विजे मनुष्याय **स्पार्हं** स्पृहा=वाञ्छा तस्या इदं **स्पार्हं परमम्** अत्युत्तमं **रेक्णः**=**धनं पाकं** पचन्ति=परिपक्वं ज्ञानं कुर्वन्ति यस्मिन् धर्म्ये व्यवहारे तं [**प्र+ददासि**] **दिशः**=**उपदेशकान्** ये दिशन्ति=उत्सृजन्ति सदाचारं तानाप्तान् **च वनोषि** याचसे, **धर्मेणाध्रस्य** समन्तात् ध्रियमाणस्य राज्यस्य **सर्वान् पिता** पालकः **चित्**=**इव प्रशास्सि** प्रकर्षेण उपदिशसि [**तत्**] **तस्मात्सर्वैर्मान्यार्होसि** ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः । यथा पिता स्वसन्तानस्य पालन-धनदान-धारण-शिक्षाः करोति तथैव राजा सर्वस्याः प्रजायाः पालकत्वाज्जीवेभ्यः सर्वेषां धनानां सम्यग्विभागेन तेषां कर्मानुसारात् सुखदुःखानि प्रदद्यात् ॥ १४ ॥

भाषार्थ—हे (**अग्ने**) विज्ञानयुक्त न्यायाधीश ! (**यत्**) जिससे (**प्रमतिः**) उत्कृष्ट ज्ञान वाले (**विदुष्टरः**) विविध दुःखों से पार करने वाले (**त्वम्**) आप प्रजा के प्रशासक (**उच्यसे**) कहे जाते हो; और (**उरुशंसाय**) बहुत प्रकार की स्तुति वाले (**वाघते**) विद्वान् ऋत्विक् मनुष्य के लिये (**स्पार्हम्**) वांछित (**परमम्**) अत्युत्तम (**रेक्णः**) धन तथा (**पाकम्**) धर्मयुक्त व्यवहार में परिपक्व ज्ञान [**प्र+ददासि**] देते हो, और (**दिशः**) सदाचार का उपदेश करने वाले विद्वानों की (**वनोषि**) सेवा करते हो, धर्मपूर्वक (**आध्रस्य**) धारण करने योग्य राज्य के सब जनों के (**पिता**) पिता के (**चित्**) समान (**प्रशास्सि**) सर्वथा उपदेश करते हो, [**तत्**] इसलिए सब के माननीय हो ॥ १४ ॥

भावार्थ—यहां उपमा अलंकार है । जैसे पिता अपने सन्तानों का पालन, धन-दान, धारण और शिक्षा करता है, वैसे ही राजा सब प्रजा का पालक होने से जीवों के लिए सब धनों का यथावत् विभाग करके, उनके कर्मानुसार सुख और दुःख देवे ॥ १४ ॥

भाष्यसार—**सभाध्यक्ष कैसा हो**—सभाध्यक्ष विज्ञान से युक्त न्यायाधीश, उत्कृष्ट ज्ञानवाला, विविध दुःखों से पार करने वाला और प्रजा का प्रशासक हो । वह बहुत प्रकार की स्तुति वाले, विद्वान् ऋत्विक् के लिए वाञ्छित अत्युत्तम धन प्रदान करे । वह धर्मयुक्त व्यवहार में परिपक्व ज्ञान का उपदेश करे । वह सदाचार का उपदेश करने वाले विद्वानों की सेवा करे । वह राज्य के सब

मनुष्यों को जैसे पिता अपने सन्तानों को शिक्षा करता है, वैसे शिक्षा करे। सभाध्यक्ष सबका माननीय हो ॥ १४ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में 'चित्' पद उपमा-वाचक है, अतः उपमा अलंकार है। उपमा यह है कि सभाध्यक्ष पिता के समान प्रजा को शिक्षा करे ॥ १४ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अग्निदेव ! तुम बहुतों से स्तुति के योग्य ऋत्विज के उपकार के लिए कमनीय उत्तम धन की कामना करते हो। और तुम सब ओर से धारण करने योग्य दुर्बल यजमान के भी प्रकृष्ट बुद्धियुक्त होकर पालक हो। और अत्यधिक ज्ञानवान् तुम बालक यजमान तथा प्राच्यादि दिशाओं पर शासन करते हो।"

इस मन्त्र में 'अग्नि' देवता के विषय में कहा है कि मन्त्रप्रतिपाद्य अग्नि विद्वान् ऋत्विक् के लिये कमनीय उत्तम धनों की कामना करता है। यह विदुष्टरः=अतिशय से विद्वान् है, और धारण करने योग्य प्रजा या यजमान पर तथा दिशाओं पर शासन करता है। सायण के भाष्य में वर्णित ये गुण भौतिकाग्नि में उपलब्ध नहीं होते। क्योंकि यह अग्नि अचेतन होने से कामना नहीं कर सकता। कामना=इच्छा को दर्शनकारों ने चेतनात्मा का गुण माना है। यह सायणाचार्य की दार्शनिक ज्ञान से शून्यता ही है। और अचेतनाग्नि को अतिशय विद्वान् कहना या मानना दूसरी अल्पज्ञता है। कोई भी अचेतन पदार्थ ज्ञानादि गुणवाला नहीं हो सकता। ज्ञान भी चेतनात्मा का गुण है। और तीसरी सायण की भ्रान्ति यह है कि उन्होंने इस जड़ाग्नि को यजमान और दिशाओं पर शासन करने वाला माना है। "शासु अनुशिष्टौ' धातु के अनुसार अनुशासन करना जड़ पदार्थों में सम्भव नहीं है।

महर्षि दयानन्द ने मन्त्रोक्त विशेषताओं पर विचार करके यहां 'अग्निः' का अर्थ 'सभाध्यक्षः' किया है। वह अग्नि=विज्ञानयुक्त न्यायाधीश होता है, प्रमतिः=उत्कृष्ट ज्ञान वाला होता है, विदुष्टरः=प्रजा को दुःखों से पार करता है अथवा सायणानुसार अतिशय विद्वान् होता है। वह सब से प्रशंसनीय विद्वान् ऋत्विक् आदि को धनादि से प्रोत्साहित करता है। वह आध्रस्य=धारण करने योग्य प्रजा का पिता=पालक होता है और दुर्जनों को दण्डित भी करता है। और दिशः=उपदेष्टा विद्वान् व्यक्तियों की सेवा करता है अथवा सायणानुसार दिशाओं पर शासन=अपनी सब प्रजा की देख भाल भी करता है। इस मन्त्र के अर्थ में कहीं कोई असंगति नहीं है। अतः महर्षि की व्याख्या मूल मन्त्र के अनुकूलता से प्रामाण्य और सायण की व्याख्या असंगत होने से मिथ्या है।

सायणाचार्य के पदार्थ में भी दोष है। उन्होंने अवैदिक अनार्ष अमरकोष का प्रमाण देकर 'पाकम्' पद का 'बालक' अर्थ किया है, जबकि महर्षि ने 'धर्मयुक्त व्यवहार' अर्थ किया है। व्याकरण की व्युत्पत्ति=पचन्ति परिपक्वं ज्ञानं कुर्वन्ति यस्मिन् धर्म्ये व्यवहारे तम्' के अनुसार महर्षि का अर्थ ठीक भी है। क्योंकि इस पद में 'पच्' धातु से कर्त्तुभिन्नकारक में 'घञ्' प्रत्यय हुआ है। और निरुक्त शास्त्र में भी लिखा है—

---

१. हे अग्ने ! त्वम् उरुशंसाय बहुभिः स्तोतव्याय वाघते ऋत्विजे तदुपकारार्थं स्पार्हं स्पृहणीयं परमम् उत्तमं यद्रेकणः धनमस्ति तत् धनं वनोषि अनुष्ठाता लभताम् इति कामयसे। तथा त्वम् आध्रस्य चित् सर्वतो धारणीयस्य पोषणीयस्य दुर्बलस्यापि यजमानस्यापि प्रकृष्टबुद्धियुक्तः पिता पालकः इत्यभिज्ञैः उच्यसे। तथा विदुष्टरः अतिशयेनाभिज्ञस्त्वं पाकं शिशुम् तथाविधं यजमानं प्रशास्सि प्रकर्षेण अनुशिष्टं करोषि। तथा दिशः प्राच्यादिकाः प्रशास्सि ॥ (सायणः)

पाकः पक्तव्यो भवति, विपक्वप्रज्ञः॥ (निरु० ३। १२)

इससे भी 'पाकः' का अर्थ बालक नहीं, प्रत्युत विद्वान् होता है। बालक तो अज्ञानी को कहते हैं। जिसकी बुद्धि परिपक्व होती है वह ज्ञानवान् बालक नहीं होता। इसी प्रकार 'विदुष्टरः' पद की सिद्धि 'विद्वस्' शब्द से आतिशयिक तरप् लगाकर यथा कथंचित् की है। प्रथम तो सायण का अर्थ ही असंगत है, फिर ऐसी क्लिष्ट कल्पना क्यों की जाए? और 'दिशः' पद का अर्थ धात्वर्थ के अनुसार 'उपदेष्टाजन' भी होता है। किन्तु सायण ने यहां रूढ अर्थ ही किया है और वह भी उनकी मान्यता में संगत नहीं है॥ १४॥

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **अग्निः** (सभाध्यक्षः) देवता। जगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

पुनः स किं करोतीत्युपदिश्यते॥

फिर वह सभाध्यक्ष क्या करता है, यह उपदेश किया जाता है॥

त्वमग्ने प्रयतदक्षिणं नरं वर्म्मेव स्यूतं परि पासि विश्वतः।
स्वादुक्षद्मा यो वसतौ स्योनकृज्जीवयाजं यजते सोपमा दिवः॥ १५॥

त्वम्। अग्ने। प्रयतऽदक्षिणम्। नरम्। वर्मऽइव। स्यूतम्। परि। पासि। विश्वतः। स्वादुऽक्षद्मा। यः। वसतौ। स्योनऽकृत्। जीवऽयाजम्। यजते। सः। उपऽमा। दिवः॥ १५॥

पदार्थः—(त्वम्) सर्वाभिरक्षकः (अग्ने) सत्यन्यायप्रकाशमान (**प्रयतदक्षिणम्**) प्रयताः=प्रकृष्टतया यता विद्याधर्मोपदेशाख्या दक्षिणा येन तम् (**नरम्**) विनयाभियुक्तम् मनुष्यम् (**वर्म्मेव**) यथा कवचं देहरक्षकम् (**स्यूतम्**) विविधसाधनैः कारुभिर्निष्पादितम् (**परि**) अभ्यर्थे (**पासि**) रक्षसि (**विश्वतः**) सर्वतः (**स्वादुक्षद्मा**) स्वादूनि क्षद्मानि=जलान्यन्नानि यस्य सः **क्षद्म इत्युदकनामसु पठितम्। निघं० १। १२। अन्ननामसु च।** निघं० २। ७। **इदं पदं सायणाचार्येणान्यथैव व्याख्यातं तदसङ्गतम्।** (**यः**) मनुष्यः (**वसतौ**) निवासस्थाने (**स्योनकृत्**) यः स्योनं=सुखं करोति सः (**जीवयाजम्**) जीवान् याजयति=धर्मं च संगमयति तम् (**यजते**) यो यज्ञं करोति (**सः**) धर्मात्मा परोपकारी विद्वान्। **अत्र सोचिलोपे चेत्पादपूरणम्।** अ० ६। १। १३४। अनेन सोलोपः। (**उपमा**) उपमीयतेऽनयेति दृष्टान्तः (**दिवः**) सूर्यप्रकाशस्य॥ १५॥

प्रमाणार्थ—(**स्वादुक्षद्मा**) 'क्षद्म' यह पद निघण्टु (१। १२) में उदक-नामों में पढ़ा है। उदक=जल। और निघण्टु (२। ७) में अन्न-नामों में पढ़ा है। (**सः**) यहां 'सोऽचिलोपे चेत्पादपूरणम्' (अ० ६। १। १३४) इस सूत्र से पाद की पूर्ति में 'सु' का लोप है—सोपमा॥ १५॥

अन्वयः—हे अग्ने राजधर्मराजमान त्वं वर्म्मेव यः स्वादुक्षद्मा स्योनकृत् मनुष्यो वसतौ विविधैर्यज्ञैर्यजते तं प्रयतदक्षिणं जीवयाजं स्यूतं नरं विश्वतः परि पासि स भवान् दिव उपमा भवति॥

सपदार्थान्वयः—हे **अग्ने**!=**राजधर्मराजमान सत्यन्यायप्रकाशमान**! **त्वं** सर्वाभिरक्षकः **वर्मेव** यथा कवचं देहरक्षकं **यः** मनुष्यः **स्वादुक्षद्मा** स्वादूनि क्षद्मानि=जलान्यन्नानि यस्य

भाषार्थ—हे (**अग्ने**) राजधर्म एवं सत्य और न्याय से प्रकाशमान (**त्वम्**) सबके रक्षक आप (**वर्मेव**) कवच के समान देह के रक्षक हो, (**यः**) जो (**स्वादुक्षद्मा**) स्वादु जल और अन्नवाला

सः **स्योनकृत्** यः स्योनं=सुखं करोति सः **मनुष्यो वसतौ** निवासस्थाने **विविधैर्यज्ञैर्यजते** यो यज्ञं करोति तं **प्रयतदक्षिणं** प्रयताः=प्रकृष्टतया यता विद्याधर्मोपदेशाख्या दक्षिणा येन तं जीवयाजम्=जीवान् याजयति धर्मं च संगमयति तं **स्यूतं** विविधसाधनैर्कारुभिर्निष्पादितं **नरं** विनयाभियुक्तं मनुष्यं **विश्वतः** सर्वतः **परिपासि** रक्षसि, **सः** धर्मात्मा परोपकारी विद्वान् **भवान् दिवः** सूर्य्यप्रकाशस्य **उपमा** उपमीयतेऽनयेति दृष्टान्तः **भवति** ॥ १५ ॥

(**स्योनकृत्**) सुखकारी मनुष्य (**वसतौ**) अपने निवास स्थान में विविध यज्ञों से (**यजते**) यज्ञ करता है, उस (**प्रयतदक्षिणम्**) उत्तम रीति से विद्या और धर्मोपदेश नामक दक्षिणा को प्राप्त (**जीवयाजम्**) जीवों को धर्म से संगत करने वाले (**स्यूतम्**) विविध साधनों से शिल्पी जनों के द्वारा निष्पादित के तुल्य (**नरम्**) विनय से युक्त मनुष्य की (**विश्वतः**) सब ओर से (**परिपासि**) रक्षा करते हो (**सः**) वह धर्मात्मा परोपकारी विद्वान् आप (**दिवः**) सूर्य-प्रकाश के (**उपमा**) दृष्टान्त होते हो ॥

भावार्थः— अत्रोपमालङ्कारः। सर्वेषां सुखकर्त्तारः पुरुषार्थिनो मनुष्याऽप्रयत्नेन यज्ञान् कुर्वन्ति, ते यथा सूर्यः सर्वान् प्रकाश्य सुखयति तथा भवन्ति। यथा युद्धे प्रवर्त्तमानान् वीरान् शस्त्रघातेभ्यऽकवचं रक्षति तथैव राजादयो राजसभाजना धार्मिकान्नरान् सर्वेभ्यो दुखेभ्यो रक्षेयुरिति ॥ १५ ॥

भावार्थ—यहां उपमा अलंकार है। जो सबके सुख को सिद्ध करने वाले पुरुषार्थी मनुष्य प्रयत्न से यज्ञ करते हैं, वे जैसे सूर्य सबको प्रकाशित करके सुख देता है, वैसे होते हैं। जैसे युद्ध में प्रवृत्त वीरों की शस्त्र-प्रहार से कवच रक्षा करता है, वैसे ही राजा आदि राजसभा के मनुष्य धार्मिक नरों की सब दुःखों से रक्षा करें ॥ १५ ॥

भाष्यसार—सभाध्यक्ष क्या करे—राजधर्म एवं सत्य और न्याय से प्रकाशमान सभाध्यक्ष कवच के समान धार्मिक प्रजाजनों के शरीर का रक्षक हो। जो स्वादु जल और अन्नवाला सुखकारी मनुष्य अपने घर में यज्ञ करता है उस मनुष्य की सब ओर से रक्षा करे। सभाध्यक्ष धर्मात्मा परोपकारी विद्वान् हो। जैसे सूर्य प्रकाशित होकर सबको सुख देता है, वैसे सबको सुख देवे ॥ १५ ॥

अलङ्कार—इस मन्त्र में 'इव' पद उपमा-वाचक है, अतः उपमा अलङ्कार है। उपमा यह है कि जैसे युद्ध में प्रवृत्त वीरों की शस्त्र-प्रहार से कवच रक्षा करता है, वैसे सभाध्यक्ष धार्मिक नरों की दुःखों से रक्षा करे ॥ १५ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायणभाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अग्निदेव! जिस यजमान ने ऋत्विजों को दक्षिणा दे दी है, उसका तुम सब ओर से पालन करते हो। इसमें दृष्टान्त है। जैसे युद्ध में कवच रक्षा करता है, उसी तरह। जो यजमान स्वादिष्ट अन्नवाला होकर अपने घर पर अतिथियों को सुख देता है, वह ऋत्विजादि जीवों के यजन के साथ यज्ञ को करता है। और स्वर्ग के समान सुख पाता है। जैसे स्वर्ग यज्ञादि करने वालों को सुख देता है, वैसे ही तुम ऋत्विजों को।"

---

१. हे अग्ने! त्वं प्रयतदक्षिणं येन यजमानेन ऋत्विग्भ्यो दक्षिणा दत्ता तादृशं नरं पुरुषं यजमानं विश्वतः सर्वतः परिपासि सम्यक् पालयसि। तत्र दृष्टान्तः। स्यूतं निश्छिद्रत्वेन सूचीभिः सम्यक् निष्पादितं वर्मेव यथा कवचं युद्धे पालयति तद्वत्। स्वादुक्षद्मा स्वाद्वन्नः वसतौ निवासभूते स्वगृहे स्योनकृत् अतिथीनां सुखकारी यः यजमानः जीवयाजं जीवयजनसहितं यज्ञं यद्वा जीवनिष्पाद्यं यजते अनुतिष्ठति सः यजमानः दिवः स्वर्गस्य उपमा दृष्टान्तो भवति। यथा स्वर्गोऽनुष्ठातॄन् सुखयति तथा त्वमपि ऋत्विगादीन् इत्यर्थः ॥ (सायणः)

इस समस्त जगत् का स्रष्टा, नियन्ता, पालक तथा कर्मफल की व्यवस्था करने वाला एकमात्र जगदीश्वर है। ईश्वर से भिन्न राजा अथवा सभाध्यक्ष भी श्रेष्ठ कर्म करने वालों की रक्षा तथा पालन करता है। इस मन्त्र में अग्नि के लिए कहा है कि वह यज्ञादि श्रेष्ठ कर्म करने वाले का सर्वथा पालन करता है। यह 'अग्नि' क्या है ? यह सायण ने पूर्वाग्रहवश अथवा अज्ञानवश नहीं समझा है। महर्षि दयानन्द ने इसकी व्याख्या 'सभाध्यक्ष' अर्थ से की है। इस अर्थ की पुष्टि मन्त्रोक्त उपमा से भी हो रही है। जैसे युद्धरत योद्धा की रक्षा कवचादि साधनों से होती है, वैसे ही राजा का यह परम धर्म है कि सज्जनों की रक्षा करे।

मन्त्रों के उत्तरार्ध में कहा है कि जो मनुष्य स्वादु अन्न तथा जल से सम्पन्न है और सुख देने वाले यज्ञादि श्रेष्ठतम कर्मों को अपने घर पर करता रहता है वह दिवः=सूर्य के समान प्रकाशमान और यशस्वी होता है, यहां सायण-भाष्य में यह दोष है कि वे स्वर्ग नामक लोकविशेष की भांति सुख-पाना मानते हैं। यहां स्वर्ग नामक लोकविशेष इन पौराणिक भाष्यकारों ने माना है, किन्तु यह उनकी शास्त्र-विरुद्ध कल्पना ही है। स्वर्ग व नरक कोई लोकविशेष नहीं हैं। सुखविशेष का नाम स्वर्ग तथा दुःखविशेष का नाम नरक है। और ये दोनों इस पृथिवी पर भी प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। सायण की भ्रान्ति का कारण लौकिक शब्दों के अनार्ष कोष (अमरकोषादि) भी हैं। जिनमें 'दिवः' पद को स्वर्ग-वाचक माना है। वेदार्थ में इसका अर्थ यौगिक प्रक्रिया से सूर्यादि प्रकाशमान लोक, सूर्यप्रकाश, प्रकाश, अन्तरिक्षादि होते हैं। प्रकरणानुसार उनकी संगति लगानी चाहिए। इस पद में विद्यमान धातु के क्रीडा विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति तथा गति हैं। इन अर्थों से भी इस पद की विविधार्थता का स्पष्ट बोध होता है ॥ १५ ॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **अग्निः** (विद्वान्) देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनः स एवार्थः प्रकाश्यते ॥

फिर उसी विद्वान् विषय का प्रकाश किया जाता है ॥

इमामग्ने शरणिं मीमृषो न इममध्वानं यमगाम दूरात्।
आपिः पिता प्रमतिः सोम्यानां भूमिरस्यृषिकृन्मर्त्यानाम् ॥ १६ ॥

इमाम्। अग्ने। शरणिम्। मीमृषः। नः। इमम्। अध्वानम्। यम्। अगाम। दूरात्। आपिः। पिता। प्रऽमतिः। सोम्यानाम्। भूमिः। असि। ऋषिऽकृत्। मर्त्यानाम् ॥ १६ ॥

पदार्थः—(**इमाम्**) वक्ष्यमाणाम् (**अग्ने**) सर्वंसहानुत्तम विद्वन् ! (**शरणिम्**) अविद्यादिदोषहिंसिकां विद्याम्। अत्र **भृधातोर्बाहुलकादौणादिकोऽनिः प्रत्ययः**। (**मीमृषः**) अत्यन्तं निवारयसि। अत्र **लडर्थे लुङडभावश्च**। (**नः**) अस्माकम् (**इमम्**) वक्ष्यमाणम् (**अध्वानम्**) धर्ममार्गम् (**यम्**) मार्गम् (**अगाम**) जानीयाम प्राप्नुयाम वा अत्र **इण्धातोर्लिङर्थे लुङ्**। (**दूरात्**) विप्रकृष्टात् (**आपिः**) यः प्रीत्या प्राप्नोति सः (**पिता**) पालकः (**प्रमतिः**) प्रकृष्टा मतिर्यस्य (**सोम्यानाम्**) ये सोमे साधवः सोमानर्हन्ति तेषां पदार्थानाम् (**भूमिः**) यो नित्यं भ्रमति **भ्रमेः संप्रसारणं च**। उ० ४। १२६। अनेन भ्रमुधातोरिन् प्रत्ययः संप्रसारणं च स च कित्। (**असि**) (**ऋषिकृत्**) ऋषीन्=ज्ञानवतो मन्त्रार्थद्रष्टॄन् कृपया ध्यानोपदेशाभ्याम् करोति अत्र **कृतो बहुलम्** इति करणे क्विप्। (**मर्त्यानाम्**) मनुष्याणाम् ॥ १६ ॥

प्रमाणार्थ—(**शरणिम्**) यहां 'शृ' धातु से बहुल करके औणादिक 'अनिः' प्रत्यय है।

(**मीमृषः**) यहां लट् लकार के अर्थ में लुङ् लकार और अट् आगम का अभाव है। (**अगाम**) यहां 'इण्' धातु से 'लिङ्' लकार के अर्थ में 'लुङ्' लकार है। (**भृमिः**) यहां 'भ्रमेः सम्प्रसारणञ्च' (४। १२६) इस उणादि सूत्र से 'भ्रमु' धातु से 'इन्' प्रत्यय सम्प्रसारण और वह प्रत्यय कित् है। (**ऋषिकृत्**) यहां 'कृतो बहुलम्' (अ० ३। ३। ११३) इस वार्तिक सूत्र से 'करण' अर्थ में 'क्विप्' प्रत्यय है॥ १६॥

अन्वयः—हे अग्ने विद्वंस्त्वं सोम्यानां मर्त्यानामापिः पिता प्रमतिर्भृमिर्ऋषिकृदसि न इमां शरणिम् मीमृषो वयं दूराद् (यम्) अध्वानमतीत्यागामनित्यमभिगच्छेम तं त्वं वयं च सेवेमहि॥ १६॥

सपदार्थान्वयः— हे **अग्ने**! सर्वंसहानुत्तम विद्वन्! **त्वं सोम्यानां** ये सोमे साधवः, सोमानर्हन्ति तेषां पदार्थानां **मर्त्यानां** मनुष्याणाम् **आपिः** यः प्रीत्या प्राप्नोति सः **पिता** पालकः **प्रमतिः** प्रकृष्टा मतिर्यस्य **भृमिः** यो नित्यं भ्रमति **ऋषिकृत्** ऋषीन्=ज्ञानवतो मन्त्रार्थद्रष्टॄन् कृपया ध्यानोपदेशाभ्यां करोति **असि, नः** अस्माकम् **इमां** वक्ष्यमाणां **शरणिम्** विद्यादिहिंसिकामविद्यां **मीमृषः** अत्यन्तं निवारयसि; **वयं** [**यम्**] **दूरात्** विप्रकृष्टात् **अतीत्येमम् अध्वानं** वक्ष्यमाणं धर्ममार्गम् **अगाम**=**नित्येमभिगच्छेम** जानीयाम प्राप्नुयाम वा; **तं त्वं वयं च सेवेमहि॥** १६॥

भाषार्थ—हे (**अग्ने**) सहनशील अत्युत्तम विद्वन्! आप—(**सोम्यानाम्**) सुखदायक पदार्थों तथा (**मर्त्यानाम्**) मनुष्यों को (**आपिः**) प्रीतिपूर्वक प्राप्त करने वाले, (**पिता**) पालक (**प्रमतिः**) उत्तम मति वाले (**भृमिः**) नित्य भ्रमणशील (**ऋषिकृत्**) ऋषि अर्थात् ज्ञानवान् मन्त्रार्थद्रष्टा जनों को कृपा करके ध्यान और उपदेश से उत्पन्न करने वाले हो, आप (**नः**) हमारी (**इमाम्**) इस (**शरणिम्**) विद्यादि नाशक अविद्या का (**मीमृषः**) अत्यन्त निवारण करते हो, और हम (**यम्**) जिस अधर्म मार्ग को (**दूरात्**) दूर से लांघकर (**इमम्**) इस (**अध्वानम्**) धर्ममार्ग को (**अगाम**) नित्य प्राप्त करें या जानें, उसका आप और हम सेवन करें॥

भावार्थः—यदा मनुष्याः सत्यभावेन सन्मार्गं प्राप्तुमिच्छन्ति तथा जगदीश्वरस्तेषां सत्पुरुषसङ्गाय प्रीतिजिज्ञासे जनयति ततस्ते श्रद्धालवः सन्तोऽतिदूरेऽपि वसत आप्तान् योगिनो विदुष उपसंगम्याभीष्टं बोधं प्राप्य धार्मिका जायन्ते॥ १६॥

भावार्थ—जब मनुष्य सत्यभाव से सन्मार्ग को प्राप्त करना चाहते हैं, तब जगदीश्वर उनकी सज्जन पुरुषों के सङ्ग के लिए प्रीति और जिज्ञासा को उत्पन्न करता है, फिर वे श्रद्धालु होकर बहुत दूर रहने वाले, आप्त, योगी, विद्वानों के पास जाकर अभीष्ट ज्ञान प्राप्त करके धार्मिक होते हैं॥

भाष्यसार—विद्वान् कैसा हो—सहनशील, अत्युत्तम विद्वान् सुखदायक पदार्थों तथा मनुष्यों को प्रीतिपूर्वक प्राप्त करने वाला हो। वह सब का पालक, उत्तम मतिवाला, नित्य भ्रमणशील हो। वह ध्यानयोग और उपदेश से ज्ञानवान्, मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषिजनों को उत्पन्न करने वाला हो। वह प्रजा के विद्यादि नाशक अविद्या का सर्वथा निवारण करे। जिससे प्रजाजन अधर्ममार्ग को लांघकर धर्ममार्ग को नित्य प्राप्त करें तथा उसे जानें। विद्वान् और प्रजाजन उस धर्म-मार्ग का सेवन करें॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अग्निदेव! तुम हमारे द्वारा की

---

१. हे अग्ने! त्वं नः अस्मत्संबन्धिनीम् इमाम् इदानीम् सम्पादितां शरणिं हिंसां व्रतलोपरूपां मीमृषः क्षमस्व। तथा त्वदीयसेवाम् अग्निहोत्रादिरूपां परित्यज्य दूरात् दूरदेशं यम् इममध्वानम् अगाम वयं गतवन्तः तमपि क्षमस्वेति शेषः। सोम्यानां सोमार्हाणामनुष्ठातॄणां मर्त्यानां त्वम् आप्यादिगुणयुक्तः असि। आपिः प्रापणीयः पिता पालकः प्रमतिः प्रकृष्टमननयुक्तः भ्रमिः भ्रामकः कर्मनिर्वाहक इत्यर्थः। ऋषिकृत् दर्शनकारी। अनुजिघृक्षया प्रत्यक्षो भवसीत्यर्थः॥ (सायणः)

गई व्रतलोप रूप हिंसा को क्षमा करो। और जो हम तुम्हारी सेवा अर्थात् अग्निहोत्र के मार्ग को छोड़कर दूर हो गये हैं, उसे भी क्षमा करो। सोम-प्राप्ति के योग्य यज्ञ कर्मों के करने वालों के लिए तुम आप्यादिगुणयुक्त हो। अर्थात् आपि=प्राप्त करने योग्य, पिता=पालक, प्रकृष्ट ज्ञान वाले, भ्रमिः=घुमाने वाले और दर्शन कराने वाले हो।"

इस मन्त्र में 'अग्नि' देवता के विषय में कहा है कि वह हमारी हिंसावृत्ति का निवारण करता है, भृमिः=भ्रमणशील है, प्रमतिः=प्रकृष्ट ज्ञानवाला है, आपिः=प्राप्त करने योग्य, पिता=पालक है, और मनुष्यों को ऋषिकृत्=वेदोपदेश के आश्रय से मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषिजनों को बनाने वाला है। ये गुण अचेतन भौतिकाग्नि के कदापि नहीं हैं। क्योंकि इस अग्नि में यह ज्ञान कहां कि किसने व्रतलोप किया है और कौन श्रेष्ठमार्ग से पृथक् है। ज्ञान तो चेतन का धर्म है। और बिना जाने अग्नि देवता कैसे क्षमा करेगा? तथा प्रकष्ट ज्ञान वाला कैसे हो सकता है? आचार्य सायण को 'भ्रमिः=भ्रामकः' इस अपने पदार्थ पर सन्तोष नहीं हुआ, तब आगे 'कर्मनिर्वाहकः' लिख दिया, क्या यह 'भ्रमिः' पद का अर्थ सम्भव है? स्कन्दस्वामी ने इसका अर्थ 'भ्रान्ति का कर्त्ता' लिखा है। क्या जो देव 'ऋषिकृत्' तथा 'प्रमतिः' मन्त्र में कहा है क्या वह भ्रान्ति कराने वाला हो सकता है? अतः उनकी यह व्याख्या मूल-मन्त्र से विपरीत होने से मिथ्या है।

महर्षि ने यहां 'अग्निः=विद्वान्' अर्थ किया है। उसके साथ मन्त्रोक्त सभी पदों की संगति है। वह घूम-घूम कर उपदेश व शिक्षा देने के कारण 'भ्रमिः' कहलाता है। वह अविद्यादि दोषों का निवारण करता है, वह प्रमतिः=प्रकृष्ट ज्ञानवाला है, और अधर्म से बचाकर धर्म-मार्ग पर चलाता है। सायण की व्याख्या में भौतिकाग्नि को 'प्रमतिः' 'भ्रमिः' तथा हिंसा से निवारक मानकर उपहास्यास्पद तथा सृष्टिक्रम से विरुद्ध व्याख्या की है॥ १६॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **अग्निः** (सभाध्यक्षः) देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनः स एवोपदिश्यते॥

फिर उसी सभाध्यक्ष विषय का उपदेश किया जाता है॥

मनुष्वदग्ने अङ्गिरस्वदङ्गिरो ययातिवत्सदने पूर्ववच्छुचे।
अच्छा याह्यावहा दैव्यं जनमा सादय बर्हिषि यक्षि च प्रियम्॥ १७॥

मनुष्वत्। अग्ने। अंगिरस्वत्। अंगिरः। ययातिऽवत्। सदने। पूर्वऽवत्। शुचे। अच्छ। याहि। आ। वह। दैव्यम्। जनम्। आ। सादय। बर्हिषि। यक्षि। च। प्रियम्॥ १७॥

पदार्थः—(**मनुष्वत्**) यथा मनुष्या गच्छन्ति तद्वत् (**अग्ने**) सर्वाभिगन्तः सभेश (**अङ्गिरस्वत्**) यथा शरीरे प्राणा गच्छन्त्यागच्छन्ति तद्वत् (**अङ्गिरः**) पृथिव्यादीनामङ्गानां प्राणवद्धारक (**ययातिवत्**) यथा प्रयत्नवन्तः पुरुषाः कर्माणि प्राप्नुवन्ति प्रापयन्ति च तद्वत्। अत्र **यती प्रयत्न इत्यस्मादौणादिक इन् प्रत्ययः स च बाहुलकाण्णित् सन्वच्च। इदं सायणाचार्य्येण भूतपूर्वस्य कस्य चिद्ययाते राज्ञः कथासम्बन्धे व्याख्यातं तदनजर्यम्** (**सदने**) सीदन्ति जना यस्मिंस्तस्मिन् (**पूर्ववत्**) यथा पूर्वे विद्वांसो विद्यादानार्थं गच्छन्त्यागच्छन्ति तद्वत् (**शुचे**) पवित्रकारक (**अच्छ**) श्रेष्ठार्थे (**याहि**) प्राप्नुहि (**आ**) समन्तात् (**वह**) प्रापय। अत्र **द्व्यचोतस्तिङ** इति दीर्घः। (**दैव्यम्**) देवेषु=विद्वत्सु कुशलस्तम् (**जनम्**) मनुष्यम् (**आ**)

आभिमुख्ये (सादय) अवस्थापय (**बर्हिषि**) उत्तमे मोक्षपदेऽन्तरिक्षे वा (**यक्षि**) याजय वा। अत्र **सामान्यकाले लुङडभावश्च**। (च) (**प्रियम्**) सर्वान् जनान् प्रीणन्तम् ॥ १७ ॥

प्रमाणार्थ—(**ययातिवत्**) यहां प्रयत्नार्थक 'यती' धातु से औणादिक 'इन्' प्रत्यय है। और वह बहुल करके 'णित्' है, और यहां सन्वत् कार्य 'द्वित्व' होता है। (**वहा**) यहां 'द्वयचोऽतस्तिङः' (अ० ६। ३। १३५) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है। (**यक्षि**) यहां सामान्यकाल में 'लुङ्' लकार है और 'अट्' आगम का अभाव है॥

अन्वयः—हे शुचेऽङ्गिरोऽग्ने सभापते त्वं विनयन्यायाभ्यां मनुष्वदङ्गिरस्वद्ययातिवत् पूर्ववत् प्रियं दैव्यं जनमच्छायाहि तं च विद्याधर्मं प्रति वह प्रापय बर्हिष्यासादय सदने यक्षि याजय [च] ॥

सपदार्थान्वयः—हे **शुचे** पवित्रकारक **अङ्गिरः** पृथिव्यादीनामङ्गानां प्राणवद्धारक **अग्ने**=**सभापते** सर्वाभिगन्तः सभेश ! **त्वं विनयन्यायाभ्यां मनुष्वत्** यथा मनुष्या गच्छन्ति तद्वत् **अङ्गिरस्वत्** यथा शरीरे प्राणा गच्छन्त्यागच्छन्ति तद्वत् **ययातिवत्** यथा प्रयत्नवन्तः पुरुषाः कर्माणि प्राप्नुवन्ति, प्रापयन्ति च तद्वत् **पूर्ववत्** यथा पूर्वे विद्वांसो विद्यादानार्थं गच्छन्त्यागच्छन्ति तद्वत् **प्रियं** सर्वान् जनान् प्रीणन्तं **दैव्यं** देवेषु=विद्वत्सु कुशलस्तं **जनं** मनुष्यम् **अच्छ** श्रेष्ठतया **आयाहि** प्राप्नुहि **तं च विद्याधर्मं प्रति वह**=**प्रापय बर्हिषि** उत्तमे मोक्षपदेऽन्तरिक्षे वा **आसादय** आभिमुख्येनावस्थापय **सदने** सीदन्ति जना यस्मिंस्तस्मिन् **यक्षि याजय च** ॥१७॥

भाषार्थ—हे (**शुचे**) पवित्र करने वाले (**अङ्गिरः**) पृथिवी आदि के अङ्गों को प्राण के समान धारण करने वाले (**अग्ने**) सर्वत्र प्राप्त सभाध्यक्ष ! आप—विनय और न्याय से (**मनुष्वत्**) जैसे मनुष्य जाते हैं वैसे, (**अङ्गिरस्वत्**) जैसे शरीर में प्राण आते-जाते हैं वैसे, (**ययातिवत्**) जैसे प्रयत्नशील पुरुष कर्मों को प्राप्त करते और कराते हैं वैसे, (**पूर्ववत्**) जैसे पूर्वज विद्वान् विद्यादान के लिये जाते-आते हैं वैसे—(**प्रियम्**) सब जनों के प्रिय (**दैव्यम्**) विद्वानों में कुशल (**जनम्**) मनुष्य को (**अच्छ**) अच्छे प्रकार से (**आयाहि**) प्राप्त होओ, और उसे विद्या और धर्म के प्रति (**वह**) चलाओ, और (**बर्हिषि**) उत्तम मोक्षपद या उत्तम स्थान में (**आसादय**) अवस्थित करो, और (**सदने**) घर में (**यक्षि**) सेवा और संगति करो॥

भावार्थः—यैर्मनुष्यैर्विद्यया धर्मानुष्ठानेन प्रेम्णा सेवितः सभापतिः स तानुत्तमेषु धर्म्येषु व्यवहारेषु प्रेरयति ॥ १७ ॥

भावार्थ—जिन मनुष्यों ने विद्या, धर्मानुष्ठान और प्रेम से सभापति की सेवा की है वह उनको उत्तम धर्मयुक्त कार्यों में प्रेरित करता है।

भाष्यसार—सभाध्यक्ष कैसा हो—सभाध्यक्ष पवित्र करने वाला, पृथिवी आदि के अंगों=प्रदेशों को प्राण के समान धारण करने वाला और अपने गुणों से सर्वत्र प्राप्त हो। जैसे मनुष्य गति करते हैं, जैसे प्राण शरीर में आते-जाते हैं, जैसे पुरुषार्थी मनुष्य कर्मों को प्राप्त करते हैं, जैसे पूर्वज विद्वान् विद्यादान के लिए जाते-आते हैं वैसे सभाध्यक्ष विद्वान् भी विनय और न्याय से गतिशील हो। वह सब जनों के प्रिय, विद्वानों में कुशल मनुष्य को प्राप्त करे। उसे विद्या और धर्म की ओर प्रवृत्त करे। उसे मोक्ष पद या उत्तम स्थान में रखे। घर में उसकी सेवा और संगति करे॥ १७॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे पवित्रतायुक्त, हवि लेने के लिए

---

१. हे शुचे शुद्धियुक्त अङ्गिर अङ्गनशील हविरादानाय तत्र तत्र गमनशील अग्ने ! अच्छ आभिमुख्येन सदने देवयजनदेशे याहि गच्छ। तत्र चत्वारो दृष्टान्ताः। मनुष्वत् यथा मनुः अनुष्ठानदेशे

गमनशील अग्ने ! तुम यज्ञप्रदेश में अभिमुख होकर जाओ। इसमें चार दृष्टान्त हैं। जैसे मनुष्य यज्ञदेश में जाता है, जैसे अंगिरा जाता है, जैसे ययाति नामक राजा जाता है और जैसे पूर्वज जाते हैं। जैसे मनु आदि यज्ञ में जाते हैं। और यज्ञ में जाकर देवताओं को इस कर्म में लाओ। और लाकर कुशासन पर बैठाओ। और बैठाकर उन्हें प्रिय हवि प्रदान करो।"

इस मन्त्र का देवता 'अग्नि' है। आचार्य सायण ने मन्त्रोक्त विशेषताओं के अनुसार 'अग्नि' की व्याख्या न करके मन्त्र की कल्पित व्याख्या ही की है। यहां भौतिकाग्नि का वर्णन नहीं है, क्योंकि यह जड़ाग्नि स्वयं हवि लेने के लिये इधर-उधर गति नहीं कर सकता। सायण ने 'अङ्गिर' पद की यहां असंगत व्याख्या की है। और यज्ञादि प्रदेशों में देवताओं को लाकर आसन पर बिठाना और उन्हें प्रिय हवि देना भी इस भौतिकाग्नि के कार्य नहीं हैं। मन्त्र के 'बर्हिषि' पद का लोकरूढ कुशा अर्थ करके सायण ने शास्त्रीय वेदार्थ शैलि का उल्लंघन किया है। वैदिक कोष निघण्टु में यह पद अन्तरिक्ष तथा जल-नामों में पठित है। और मन्त्रोक्त 'ययातिवत्' पद की ऐतिहासिक राजापरक व्याख्या करके जहाँ निरुक्त की यौगिक प्रक्रिया की उपेक्षा सायण ने की है, वहां ईश्वरीयज्ञान वेदों में अनित्य व्यक्तियों का इतिहास दिखाकर वेदों के सम्बन्ध में अनित्यता की भ्रांति पैदा की है। और स्वयं वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानकर यह परस्पर विरुद्ध व्याख्या की है।

महर्षि दयानन्द ने 'अग्नि' देवता का अर्थ यहां 'सभाध्यक्ष' किया है और समस्त मन्त्र की यौगिक प्रक्रिया से प्रकरणानुकूल व्याख्या की है। और अपनी व्याख्या की प्रमाणों से पुष्टि की है। जैसे 'प्राणो वै अङ्गिरः' (शत० ६ । ५ । २ । ३) के अनुसार 'अङ्गिर=प्राणवद्धारण करने वाला' और (निघं० १ । ३) के अनुसार 'बर्हिषि=अन्तरिक्षे मोक्षपदे वा' अर्थ किया है। और 'ययातिवत्=प्रयत्नशील व्यक्ति की भांति' अर्थ से अनित्येतिहास की भ्रान्ति का निराकरण किया है। क्योंकि अग्नि=सभाध्यक्ष का जब शुचि=पवित्राचरण होता है, तो वह अङ्गिर=प्रजा का धारण प्राणों की भांति करता है। वह ही दैव्यम्=विद्वान् जनों को बर्हिषि=उत्तम मोक्ष अथवा श्रेष्ठ स्थान देकर सम्मानित करता है ॥ १७ ॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **अग्निः** (विद्वान्) देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनः स कीदृशो भवेदित्याह ॥

फिर वह विद्वान् कैसा हो, यह उपदेश किया जाता है ॥

एतेनाग्ने ब्रह्मणा वावृधस्व शक्तौ वा यत्ते चकृमा विदा वा।
उत प्र णेष्यभि वस्यो अस्मान्त्सं नः सृज सुमत्या वाजवत्या ॥ १८ ॥

एतेन। अग्ने। ब्रह्मणा। वावृधस्व। शक्तौ। वा। यत्। ते। चकृम। विदा। वा। उत। प्र। नेषि। अभि। वस्यः। अस्मान्। सम्। नः। सृज। सुऽमत्या। वाजऽवत्या ॥ १८ ॥

गच्छति, अङ्गिरस्वत् यथा च अङ्गिराः गच्छति, ययातिवत् यथा ययातिर्नाम राजा गच्छति, पूर्ववत् अन्ये च पूर्वपुरुषाः यथा गच्छन्ति। यथा मन्वादयो यज्ञे गच्छन्ति तद्वत्। गत्वा च दैव्यं देवतासमूहरूपं जनम् आवह अस्मिन् कर्मणि आनय। आनीय च बर्हिषि आस्तीर्णे दर्भे आसादय तान् देवान् उपवेशय। उपवेश्य च प्रियम् अभीष्टं हविः यक्षि च देहि ॥ (सायणः)

पदार्थः—(एतेन) वक्ष्यमाणेन (**अग्ने**) पाठशालाध्यापक (**ब्रह्मणा**) वेदेन (**वावृधस्व**) भृशमेधस्वैधय वा। अत्र वृधुधातोर्लेटिमध्यमैकवचने विकरणव्यत्ययेन श्लुरुरत्वम् **अन्येषामपि दृश्यत** इति दीर्घः। (**शक्ती**) आत्मसामर्थ्येन। अत्र **सुपां सुलुग्** इति तृतीयैकवचनस्य पूर्वसवर्णादेशः। (**वा**) शरीरबलेन (**यत्**) आज्ञापालनाख्यं कर्म (**ते**) तव (**चकृम**) कुर्महे। अत्र **लडर्थे लिट्**। **अन्येषामपि दृश्यत** इति दीर्घः। (**विदा**) विदन्ति येन ज्ञानेन। अत्र **कृतो बहुलम्** इति करणे क्विप्। (**वा**) योगक्रियया (**उत**) अपि (**प्र**) प्रकृष्टार्थे (**नेषि**) नयसि। अत्र **बहुलं छन्दसि** इति शपो लुक्। (**अभि**) आभिमुख्ये (**वस्यः**) अतिशयेन धनम्। अत्र वसुशब्दादीयसुन् प्रत्ययः। **छन्दसो वर्णलोपो वा** इति ईकारलोपः (**अस्मान्**) विद्याधर्माचरणयुक्तान् विदुषो धार्मिकान् मनुष्यान् (**सम्**) एकीभावे (**नः**) अस्मभ्यम् (**सृज**) निष्पादय (**सुमत्या**) शोभना चासौ मतिर्विचारो यस्यां तया (**वाजवत्या**) वाजः=प्रशस्तमन्नं युद्धं विज्ञानं वा विद्यते यस्यां तया ॥ १८ ॥

प्रमाणार्थ—(**वावृधस्व**) यहां वर्धनार्थक 'वृधु' धातु से लेट् लकार मध्यमपुरुष के एकवचन में विकरण व्यत्यय से 'श्लु' अभ्यास के 'ऋ' को अत्व तथा 'अन्येषामपि दृश्यते' (अ० ६। ३। १३७) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है। (**शक्ती**) यहां 'सुपां सुलुक्' (अ० ७। १। १३९) इस सूत्र से तृतीया विभक्ति के एकवचन को पूर्वसवर्ण आदेश है। (**चकृम**) यहां लट् लकार के अर्थ में लिट् लकार है, 'अन्येषामपि दृश्यते' (अ० ६। ३। ३७) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—चकृमा। (**विदा**) यहां 'कृतो बहुलम्' (अ० ३। ३। ११३) इस सूत्र से करण अर्थ में क्विप् प्रत्यय है। (**नेषि**) यहां 'बहुलं छन्दसि (अ० २। ४। ७३) इस सूत्र से 'शप्' विकरण प्रत्यय का लुक् है। (**वस्यः**) यहां वसु शब्द से 'ईयसुन्' प्रत्यय है। 'छान्दसो वर्णलोपो वा' (अ० ८। २। २५) इस वार्तिक सूत्र से ईकार का लोप होता है ॥ १८ ॥

अन्वयः—हे अग्ने विद्वद्वर्य त्वं [एतेन] ब्रह्मणा वाजवत्या सुमत्या शक्ती-शक्तया [वा] नो वस्यः समभिसृज त्वमुतविदा वावृधस्व ते-तव यत् प्रियाचरणं तद्वयं चकृम त्वं चास्मान् प्रणेषि सद्बोधं प्रापयसि ॥ १८ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **अग्ने**=विद्वद्वर्य पाठशालाध्यापक ! **त्वं** (**एतेन**) वक्ष्यमाणेन **ब्रह्मणा** वेदेन **वाजवत्या** वाजः=प्रशस्तमन्नं युद्धं विज्ञानं वा विद्यते यस्यां तया **सुमत्या** शोभना चासौ मतिर्विचारो यस्यां तया **शक्ती**=**शक्त्या** आत्मसामर्थ्येन [**वा**] शरीरबलेन **नः** अस्मभ्यं **वस्यः**; अतिशयेन धनम् **समभिसृज** आभिमुख्येन निष्पादय **त्वमुत** अपि **विदा** विदन्ति येन ज्ञानेन [**वा**] योगक्रियया **वावृधस्व** भृशमेधस्वैधय वा; **ते**=**तव यत्**=**प्रियाचरणम्** आज्ञापालनाख्यं कर्म **तद्वयं चकृम** कुर्महे **त्वं च अस्मान्** विद्याधर्माचरणयुक्तान् विदुषो धार्मिकान् मनुष्यान् **प्रणेषि**=**सद्बोधं प्रापयसि** ॥ १८ ॥

भावार्थः—ये मनुष्या वेदरीत्या धर्म्यं व्यवहारं कुर्वन्ति ते ज्ञानवन्तः सुमतयो धार्मिका

भाषार्थ—हे (**अग्ने**) विद्वद्वर्य, पाठशाला के अध्यापक ! आप— (**एतेन**) इस (**ब्रह्मणा**) वेद से, (वाजवत्या) प्रशस्त अन्न, युद्ध या विज्ञान से युक्त (**सुमत्या**) उत्तम विचार वाली (**शक्ती**) आत्मशक्ति [वा] अथवा शरीर बल से (**नः**) हमारे लिये (**वस्याः**) अत्यन्त धन (**सम्-अभिसृज**) उत्तम-रीति से सिद्ध करो, (**उत**) और आप (**विदा**) ज्ञान [**वा**] अथवा योगक्रिया से (**वावृधस्व**) अत्यन्त उन्नति करो, (**तव**) आपका (**यत्**) जो आज्ञापालन रूप प्रियाचरण कर्म है उसे हम (**चकृम**) करते हैं, और आप (**अस्मान्**) विद्या, धर्माचरण से युक्त हम विद्वान् धार्मिक मनुष्यों को (**प्रणेषि**) उत्तम ज्ञान प्राप्त कराते हो ॥ १८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य वेद की रीति से धर्मयुक्त व्यवहार करते हैं, वे ज्ञानवान्, सुमतिवाले

भूत्वा यं धार्मिकमुत्तमं विपश्चितं सेवन्ते स तान् श्रेष्ठसामर्थ्यसद्विद्यायुक्तान् संपादयतीति ॥ १८ ॥

और धार्मिक होकर जिस उत्तम विद्वान् की सेवा करते हैं, वह उनको श्रेष्ठ सामर्थ्य और उत्तम विद्या से युक्त करता है॥ १८ ॥

भाष्यसार—**विद्वान् कैसा हो**—पाठशाला का अध्यापक विद्वान् वेद से तथा प्रशस्त अन्न, युद्ध या विज्ञान से युक्त, उत्तम विचार वाली आत्मशक्ति अथवा शरीर-बल से हमारे लिए धन को सिद्ध करे। वह ज्ञान अथवा योगक्रिया से वृद्धि को प्राप्त हो। हम विद्वान् का जो आज्ञापालन रूप प्रियाचरण कर्म है उसका पालन करें। और वह हमें उत्तम ज्ञान प्रदान करे ॥ १८ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अग्निदेव ! इस हमारे द्वारा प्रयुक्त स्तोत्रमन्त्र से वृद्धि को प्राप्त हो। हमने अपनी शक्ति तथा ज्ञान के अनुसार तुम्हारी स्तुति की है। और हम यज्ञादिकर्म करने वालों को अतिशय धनादि श्रेय को प्रकृष्टतया प्राप्त कराओ। और हमें पर्याप्त अन्न से और उत्तम बुद्धि से युक्त करो।"

इस मन्त्र का देवता 'अग्नि' है। उसका इस मन्त्र में क्या अर्थ है, इसका निर्णय मन्त्रान्तर्गत वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है। मन्त्र में कहा है कि अग्नि ब्रह्मणा=वेदमन्त्र या स्तोत्र तथा विदा=ज्ञान से बढ़ता है। और हमें वाजवत्या सुमत्या=प्रशस्त अन्न, विज्ञान या युद्धक्रिया से और उत्तम बुद्धि (ज्ञान) से युक्त करता है। और वस्यः=अतिशय धनों को प्राप्त कराता है। ये विशेषताएँ भौतिकाग्नि में कदापि संगत नहीं हैं। यह भौतिकाग्नि ज्ञान या वेदमन्त्रों से नहीं बढ़ता है। इसकी वृद्धि तथा शान्त करने का उपाय बताते हुए निरुक्त में लिखा है—

उदकोपशमनः शरीरदीप्तिः ॥ (निरु० ७। २३) अर्थात् यह भौतिकाग्नि जल से शान्त हो जाती है और काष्ठादि से प्रदीप्त होती है। यदि कोई व्यक्ति यज्ञादि के समय मन्त्र ही बोलता रहे और काष्ठादि अग्नि के अर्पण न करे, तो अग्नि की वृद्धि कदापि नहीं हो सकती। ऐसे सर्वजन विदित विषय को भी न जानना क्या उपहास्यास्पद बात नहीं है? और यह अचेतानाग्नि हमें उत्तम ज्ञान या बुद्धि से युक्त भी नहीं कर सकती। अतः सायण की अपनी व्याख्या के अनुसार भी भौतिकाग्निपरक व्याख्या बिल्कुल ही असंगत तथा मन्त्र के विरुद्ध है।

महर्षि दयानन्द ने यहाँ 'अग्नि' का अर्थ 'विद्वान्' किया है। विद्वान् की उन्नति वेद-ज्ञान से होती है और वह उत्तमोत्तम विद्या को सिखाकर अथवा विज्ञान के द्वारा साधन सम्पन्न करके हमें धन-धान्य से सम्पन्न करता है। अतः महर्षि की व्याख्या सुसंगत तथा मन्त्रानुकूल है। महर्षि की व्याख्या की यह भी विशेषता है कि उन्होंने मन्त्रोक्ता क्रियाओं को यथास्थान पदों के साथ सम्बद्ध किया है। मन्त्रोक्त 'ब्रह्मणा, वाजवत्या, सुमत्या, शक्ती' आदि का सम्बन्ध 'समभिसृज' क्रिया के साथ और 'विदा' का सम्बन्ध 'वावृधस्व' के साथ होने से मन्त्रार्थ बहुत ही सुसंगत तथा ज्ञान-प्रद हो गया है॥ १८ ॥

पूर्वापरसङ्गतिमाह—अत्र सूक्तइन्द्राद्यनुयोगिनः [अग्नेः] खलु प्राधान्येनेश्वरस्य गौण्या वृत्या भौतिकस्यार्थस्य प्रकाशनात् पूर्वसूक्तार्थेन सहैतस्य सङ्गतिरस्तीति बोध्यम्।

पूर्वापरसंगति—इस सूक्त में इन्द्र आदि के अनुयोगी अग्नि का प्रधान रूप से ईश्वर और

---

१. हे अग्ने ! एतेन अस्मत्प्रयुक्तेन ब्रह्मणा मन्त्रेण वावृधस्व अभिवृद्धो भव। शक्ती वा विदा वा अस्मदीयशक्त्या च अस्मदीयज्ञानेन च ते=तव यत् स्तोत्रं चक्रम वयं कृतवन्तः। एतेन ब्रह्मणा इति पूर्वत्रान्वयः। उत अपि च अस्मान् अनुष्ठातॄन् वस्यः वसुमत्तरत्वलक्षणं श्रेयः प्रणेषि प्रकर्षेण प्रापय। नः अस्मान् वाजवत्या प्रभूतान्नयुक्तया सुमत्या अनुष्ठानविषयया शोभनबुद्धया संसृज संयोजय॥ (सायणः)

गौण रूप से भौतिक अग्नि अर्थ का प्रकाश करने से पूर्व सूक्त के अर्थ के साथ इस सूक्त के अर्थ की संगति है, ऐसा जानो ॥ ३१ ॥

इति प्रथमाष्टाके द्वितीयाध्याये—पञ्चत्रिंशो वर्गः प्रथममण्डले सप्तमेऽनुवाके एकत्रिंशं सूक्तं च समाप्तम् ॥ ३१ ॥

यह प्रथम अष्टक के द्वितीय अध्याय का पैंतीसवां वर्ग तथा प्रथम मण्डल के सप्तम अनुवाक में इकत्तीसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥ ३१ ॥ ●

अथ द्वात्रिंशं सूक्तम्

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः । **इन्द्रः** (राजा) देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

तत्रादाविन्द्रशब्देन सूर्यलोकदृष्टान्तेन राजगुणा उपदिश्यन्ते ॥

अब बत्तीसवें सूक्त का प्रारम्भ है, उसके पहिले मन्त्र में इन्द्र शब्द से सूर्यलोक के दृष्टान्त से राजा के गुणों का उपदेश किया जाता है ॥

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री ।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम् ॥ १ ॥

इन्द्रस्य । नु । वीर्याणि । प्र । वोचम् । यानि । चकार । प्रथमानि । वज्री । अहन् । अहिम् । अनु । अपः । ततर्द । प्र । वक्षणाः । अभिनत् । पर्वतानाम् ॥ १ ॥

पदार्थः—(**इन्द्रस्य**) सर्वपदार्थविदारकस्य सूर्यलोकस्येव सभापते राज्ञः (**नु**) क्षिप्रम् (**वीर्याणि**) आकर्षणप्रकाशयुक्तादिवत् कर्माणि (**प्र**) प्रकृष्टार्थे (**वोचम्**) उपदिशेयम् । अत्र **लिङर्थे लुङडभावश्च** । (**यानि**) (**चकार**) कृतवान् करोति करिष्यति वा । अत्र **सामान्यकाले लिट्** । (**प्रथमानि**) प्रख्यातानि (**वज्री**) सर्वपदार्थविच्छेदककिरणवानिव शत्रूच्छेदी (**अहन्**) हन्ति । अत्र **लडर्थे लङ्** । (**अहिम्**) मेघम् । **अहिरिति मेघनामसु पठितम् । निघं० १ । १० ।** (**अनु**) पश्चादर्थे (**अपः**) जलानि (**ततर्द**) तर्दति=हिनस्ति । अत्र **लडर्थे लिट्** । [(**प्र**) प्रकृष्टार्थे] (**वक्षणाः**) वहन्ति जलानि यास्ता नद्यः (**अभिनत्**) विदारयति । अत्र **लडर्थे लङन्तर्गतो ण्यर्थश्च** । (**पर्वतानाम्**) मेघानां गिरीणां वा **पर्वत इति मेघनामसु पठितम् । निघं० १ । १० ॥ १ ॥**

प्रमाणार्थ—(**वोचम्**) यहां 'लिङ्' लकार के अर्थ में 'लुङ्' लकार और 'अट्' आगम का अभाव है । (**चकार**) यहां सामान्य काल में लिट् लकार है । (**अहन्**) यहां 'लट्' लकार के अर्थ में 'लङ्' लकार है । (**अहिम्**) 'अहि' पद निघण्टु (१ । १०) में मेघ-नामों में पढ़ा है—मेघ=बादल । (**ततर्द**) यहां 'लट्' लकार के अर्थ में 'लिट्' लकार है । (**अभिनत्**) यहां 'लट्' लकार के अर्थ में 'लङ् लकार और 'णिच्' प्रत्यय का अर्थ अन्तर्भूत है । (**पर्वतानाम्**) 'पर्वत' यह पद निघण्टु (१। १०) में मेघ-नामों में पढ़ा है, मेघ=बादल ॥ १ ॥

अन्वयः—हे विद्वांसो मनुष्या यूयं यथा यस्येन्द्रस्य=सूर्य्यस्य यानि प्रथमानि वीर्य्याणि=पराक्रमान् प्रवक्ततान्यहं नु प्रवोचं यथा स वज्रयहिमहन् तदवयवा अपोधऊर्ध्वं चकार तं प्रततर्द पर्वतानां सकाशात्प्रवक्षणा अभिनत्तथाऽहं शत्रून् हन्याम् तानऽधऊर्ध्वमनुतर्देयम दुर्गादीनां सकाशाद्युद्धायागताः सेना भिन्द्याम् ॥ १ ॥

सपदार्थान्वयः—हे विद्वांसो मनुष्याः **यूयं यथा यस्येन्द्रस्य=सूर्य्यस्य** सर्वपदार्थविदारकस्य सूर्य्यलोकस्येव सभापते राज्ञः **यानि प्रथमानि** प्रख्यातानि **वीर्य्याणि=पराक्रमान्** आकर्षणप्रकाशयुक्तादिवत् कर्माणि **प्रवक्त, तान्यहं नु** क्षिप्रं **प्रवोचं** प्रकृष्टम् उपदिशेयम् **यथास वज्री** सर्वपदार्थविच्छेदककिरणवान् **अहिं** मेघं **अहन्** हन्ति, **तदवयवा अपः** जलानि **अधऊर्ध्वमनु** पश्चात् **चकार** करोति **तं प्र+ततर्द** तर्दति=हिनस्ति, **पर्वतानां** मेघानां गिरीणां **वा सकाशात्वक्षणाः** वहन्ति जलानि यास्ता नद्यः **अभिनत्** विदारयति **तथाऽहं शत्रून् हन्याम् तानऽधऊर्ध्वमनुतर्देयं दुर्गादीनां सकाशाद्युद्धायागताः सेना भिन्द्याम् ॥ १ ॥**

भाषार्थ—हे विद्वान् मनुष्यो ! तुम—जैसे जिस (**इन्द्रस्य**) सब पदार्थों के विदारक सूर्यलोक के समान सभाध्यक्ष राजा के (**यानि**) जो (**प्रथमानि**) प्रसिद्ध (**वीर्याणि**) पराक्रम एवं आकर्षण, प्रकाशयुक्त आदि के समान कर्म बतलाते हो, उन्हें मैं (**नु**) शीघ्र (**प्रवोचम्**) सर्वथा उपदेश करूं । जैसे वह (**वज्री**) सब पदार्थों का विच्छेद सूर्य (**अहिम्**) मेघ का (**अहन्**) हनन करता है, और उसके अवयव (**अपः**) जलों को नीचे, ऊपर और (**अनु**) पीछे (**चकार**) करता है, और उसे (**प्र+ततर्द**) नष्ट करता है, (**पर्वतानाम्**) मेघों या पर्वतों से (**वक्षणाः**) नदियों को (**अभिनत्**) विदारित करता है, वैसे मैं शत्रुओं का हनन करूँ, उन्हें नीचे, ऊपर और पीछे गिराऊं, दुर्ग आदि से युद्ध के लिए आई सेनाओं का भेदन करूं ॥ १ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ईश्वरेणोत्पादितोयमग्निमयः सूर्य्यलोको यथा स्वकीयानि स्वाभाविकगुणयुक्तान्यन्नादीनि प्रकाशाकर्षणदाहछेदनवर्षोत्पत्तिनिमित्तानि कर्माण्यहर्निशं करोति तथैव प्रजापालनतत्परैराजपुरुषैरपि भवितव्यम् ॥ १ ॥

भावार्थ—यहां वाचकलुप्तोपमा अलंकार है । ईश्वर का उत्पन्न किया हुआ यह अग्निमय सूर्यलोक, जैसे अपने स्वाभाविक गुणों से युक्त अन्नादि, प्रकाश, आकर्षण, दाह, छेदन और वर्षा की उत्पत्ति के निमित्त कार्यों को दिन-रात करता है, वैसे ही प्रजापालन में तत्पर राजपुरुष भी होवें ॥ १ ॥

भाष्यसार—राजा के गुण—सभाध्यक्ष राजा सब पदार्थों के विदारक सूर्यलोक के समान शत्रुओं का विदारण करने वाला हो । उसके प्रसिद्ध पराक्रम तथा आकर्षण और प्रकाशयुक्त सूर्य के समान कर्म हों । जैसे सब पदार्थों का विच्छेदक सूर्य मेघ का हनन करता है, और मेघ-जलों को नीचे, ऊपर और पीछे डालता है और मेघ को नष्ट करता है, मेघों या पर्वतों से नदियों को विदारित करता है, वैसे राजपुरुष शत्रुओं का हनन करे, उन्हें नीचे, ऊपर और पीछे गिरावें । दुर्ग आदि से युद्ध के लिए आई हुई सेनाओं का भेदन करें ॥ १ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में उपमा वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है, अतः वाचकलुप्तोपमा अलंकार है । उपमा यह है कि जैसे सूर्य सब पदार्थों का विदारण करता है वैसे सभाध्यक्ष राजा सब शत्रुओं का विदारण करे ॥ १ ॥

अन्यत्र व्याख्यात—(**इन्द्रस्य नु०**) यहां सूर्य का नाम इन्द्र है उसके किए हुए पराक्रमों को हम लोग कहते हैं । जो कि परमैश्वर्य होने का हेतु अर्थात् बड़ा तेजधारी है, वह अपनी किरणों से वृत्र अर्थात् मेघ को मारता है । जब वह मरके पृथिवी में गिर पड़ता है, तब अपने जलरूप शरीर को सब पृथिवी में फैला देता है, फिर उससे अनेक बड़ी-बड़ी नदी परिपूर्ण होके समुद्र में जा मिलती हैं । कैसी वे नदी हैं कि पर्वत अर्थात् मेघों से उत्पन्न होके जल हो बहने के लिए होती हैं । जिस समय

इन्द्र मेघरूप वृत्रासुर को मार के आकाश से पृथिवी में गिरा देता है, तब वह पृथिवी में सो जाता है। (ऋ० भू० ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः)

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"वज्रधारी इन्द्र ने पहले जो मुख्य पराक्रम के कार्य किये हैं, उनको शीघ्र कहता हूँ। वे कौन से पराक्रम हैं ? मेघ का हनन किया। उसके जलों को भूमि पर गिराया। और पर्वतों से सम्बद्ध प्रवाहयुक्त नदियों को दो तटों के मध्य प्रवाहित किया।"

इस समस्त सूक्त का देवता 'इन्द्र' है, इस इन्द्र के विषय में सायणाचार्य की बहुत ही भ्रान्त तथा कल्पित धारणा है कि यह इन्द्र स्वर्ग में देवों का राजा है, वज्र उसका शस्त्र है और वह रथारूढ होकर सोमपानार्थ यज्ञप्रदेश में आता है, इत्यादि इन्द्रसम्बन्धी सायण की मान्यताएँ पिछले सूक्तों में प्रदर्शित की जा चुकी हैं। किन्तु ये सब बातें शास्त्रों तथा मूलमन्त्रों के विरुद्ध होने से कदापि मान्य नहीं हो सकतीं।

निरुक्त (१०।८) में इन्द्र के १५ निर्वचन किये हैं। जिनसे इन्द्र के विभिन्न कर्मों का स्पष्टीकरण होता है। और यह भी पता लगता है कि इन्द्र-शब्द सूर्य, परमेश्वर, प्राण, विद्युत्, जीवात्मा, राजा, सेनापति आदि अनेक अर्थों का प्रकरणानुसार वाचक है। 'इन्दियमिन्द्रलिङ्गम्०' (अ० ५।२।९३) सूत्र में 'इन्द्र' शब्द जीवात्मा के लिए आता है। एक ही अर्थ की सर्वत्र कदापि संगति नहीं हो सकती। प्रस्तुत-मन्त्र में इन्द्र के कार्यों की गणना करते हुए कहा है कि इन्द्र मेघ को मारता है, जलों को वर्षाता है और नदियों को प्रवाहित करता है। ये कार्य स्वर्ग में स्थित इन्द्र के कदापि नहीं हो सकते।

महर्षि दयानन्द ने 'शत्रूणां दारयिता वा' 'इरां हणातीति वा' 'इरां ददातीति वा' 'इरां दधातीति वा' 'इरां दारयते इति वा' अर्थात् शत्रुओं अथवा मेघों को छिन्न-भिन्न करने, जलों के भेदन करने, जलों के देने, जलों के धारण करने आदि इन्द्र के निर्वचनों के आश्रय से 'इन्द्र' शब्द का 'सूर्य' अर्थ किया है और सूर्य की भांति कार्य होने से राजा का वर्णन माना है। महर्षि का यह अर्थ वैज्ञानिक तथा शास्त्रों के अविरुद्ध होने से सुसंगत है।

इस 'इन्द्र=सूर्य' को वज्री क्यों कहा है ? वज्र कोई शस्त्रविशेष नहीं है। निरुक्त में लिखा है—'वज्रः कस्मात् ! वर्जयतीति सतः।' (निरु० ३।११) 'वज्र' नाम का कारण 'पृथक् करना' या 'छिन्न-भिन्न करना' है। अतः यहाँ सूर्य की किरणें ही 'वज्र' हैं, उनको इन्द=सूर्य धारण करके पदार्थों को छिन्न-भिन्न करता है। बादल को छिन्न-भिन्न करके वृष्टि कराता है। उससे नदियों की उत्पत्ति होती है। और सूर्य के प्रकाश, आकर्षण, धारण, विच्छेदनादि कर्म ही सूर्य के वीर्य=पराक्रमयुक्त कर्म हैं।

अतः आचार्य-सायण ने पौराणिक कथाओं के पूर्वाग्रहवश मन्त्र की व्याख्या असंगत तथा अवैज्ञानिक की है।

और सायण की व्याख्या में यह भी दोष है कि उन्होंने 'अपः जलानि ततर्द हिंसितवान्'=जलों

---

१. वज्री वज्रयुक्तः इन्द्रः प्रथमानि पूर्वसिद्धानि मुख्यानि वा यानि वीर्याणि पराक्रमयुक्तानि कर्माणि चकार तस्य इन्द्रस्य तानि वीर्याणि नु क्षिप्रं प्रब्रवीमि। कानि वीर्याणीति तदुच्यते। अहिं मेघम् अहन् हतवान्। तदेतदेकं वीर्यम्। अनु पश्चात् अपः जलानि ततर्द हिंसितवान् भूमौ पतितवानित्यर्थः। इदं द्वितीयं वीर्यम्। पर्वतानां सम्बन्धीः वक्षणाः प्रवहणशीलाः नदीः प्रभिनत् भिन्नवान् कूलद्वयकर्षणेन प्रवाहितवानित्यर्थः। इदं तृतीयं वीर्यम्॥ (सायणः)

को हिंसित करना लिखा है। और फिर स्वयं को असन्तोष होने पर उसका 'भूमि पर गिराना' अर्थ कर दिया। यथार्थ में हन धातु का 'हन् हिंसागत्योः' इस शास्त्रीय प्रमाण से हिंसित अर्थ से भिन्न गति अर्थ भी है। अतः मेघों को छिन्न-भिन्न करना अर्थ अधिक उपयुक्त है। क्योंकि अचेतन जलों का 'हिंसा करना' अर्थ सृष्टिक्रम से विरुद्ध होने से संगत नहीं है।

और मन्त्रोक्त 'अभिनत्' आदि क्रियाओं की सायण-भाष्य में भूतकालीन व्याख्या की है, यह भी छान्दस-नियमों से अनभिज्ञता ही है। वेद में लङ्, लिट् तथा लुङ् लकार सामान्यकाल में भी प्रयुक्त हैं। अन्यथा इन्द्र ने पहले मेघों व जलों को छिन्न-भिन्न किया और नदियों को प्रभावित किया। क्या यह कार्य आजकल नहीं होता है? क्या भविष्य में नहीं होगा? इन प्रश्नों का सायण-भाष्य से कोई उत्तर नहीं मिल सकता॥ १॥

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **इन्द्रः**=राजा (सभाध्यक्षः) देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनः स किं करोतीत्युपदिश्यते॥

फिर वह सभाध्यक्ष क्या करता है, यह उपदेश किया जाता है॥

अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमवजग्मुरापः॥ २॥

अहन्। अहिम्। पर्वते। शिश्रियाणम्। त्वष्टा। अस्मै। वज्रम्। स्वर्यम्। ततक्ष। वाश्राइव। धेनवः। स्यन्दमानाः। अञ्जः। समुद्रम्। अव। जग्मुः। आपः॥ २॥

पदार्थः—(**अहन्**) हतवान् हन्ति हनिष्यति वा (**अहिम्**) मेघमिव शत्रुम् (**पर्वते**) मेघमण्डले इव गिरौ। **पर्वत इति मेघनामसु पठितम्।** निघं० १। १०। (**शिश्रियाणम्**) विविधाश्रयम् (**त्वष्टा**) स्वकिरणैः छेदनसूक्ष्मकर्त्ता स्वतेजोभिः शत्रुविदारको वा (**अस्मै**) मेघाय दुष्टाय वा (**वज्रम्**) छेदनस्वभावं किरणसमूहं शस्त्रवृन्दं वा (**स्वर्यम्**) स्वरे=गर्जने वाचि वा साधुस्तम्। **स्वर इति वाङ्नामसु पठितम्।** निघं० १। ११। **इदं पदं सायणाचार्येण मिथ्यैव व्याख्यातम्।** (**ततक्ष**) छिनत्ति (**वाश्रा इव**) वत्स-प्राप्तिमुत्कण्ठिताः शब्दायमाना इव (**धेनवः**) गावः (**स्यन्दमानाः**) प्रस्रवन्त्यः (**अञ्जः**) व्यक्ता गमनशीला वा। **अञ्जू व्यक्तीकरण इत्यस्य प्रयोगः।** (**समुद्रम्**) जलेन पूर्णं सागरमन्तरिक्षं वा (**अव**) नीचार्थे (**जग्मुः**) गच्छन्ति (**आपः**) जलानि शत्रुप्राणा वा॥ २॥

प्रमाणार्थ—(**पर्वते**) 'पर्वतः' यह पद निघण्टु (१। १०) में मेघ-नामों में पढ़ा है। मेघ=बादल। (**स्वर्यम्**) 'स्वर' यह पद निघण्टु (१। ११) में वाक्-नामों में पढ़ा है वाक्=वाणी। (**अञ्जः**) यह प्रयोग 'व्यक्ती करणार्थक' 'अञ्जु' धातु का है॥ २॥

अन्वयः—यथाऽयं त्वष्टा=सूर्य्यलोकः पर्वते शिश्रियाणं स्वर्य्यमहिमहन् हन्ति। अस्मै मेघाय वज्रं ततक्ष तक्षति। एतेन कर्मणा वाश्रा धेनव इव स्यन्दमाना अञ्ज आपः समुद्रमवजग्मु-रवगच्छन्ति। तथैव सभाध्यक्षो राजा दुर्गमाश्रितं शत्रुं हन्यादस्मै शत्रवे वज्रं तक्षेत्तेन वाश्रा धेनव इव स्यन्दमाना अञ्ज आपः समुद्रमवगमयेत्॥ २॥

सपदार्थान्वयः—यथाऽयं त्वष्टा=

भाषार्थ—जैसे यह (त्वष्टा) अपनी

सूर्य्यलोकः स्वकिरणैः छेदनसूक्ष्मकर्ता **पर्वते** मेघमण्डले **शिश्रियाणं** विविधाश्रयं **स्वर्य्यं** स्वरे=गर्जने साधुस्तम् **अहिं** मेघम् **अहन्=हन्ति अस्मै=मेघाय वज्रं** छेदनस्वभावं किरणसमूहं **ततक्ष=तक्षति** छिनत्ति **एतेन कर्मणा वाश्रा** वत्सप्राप्तिमुत्कण्ठिताः शब्दायमाना, **धेनवः गावः इव स्यन्दमानाः** प्रस्रवन्त्यः **अञ्जः** व्यक्ता गमनशीला वा **आपः** जलानि **समुद्रं** जलेन पूर्णं सागरम् **अवजग्मुः=अवगच्छन्ति, तथैव सभाध्यक्षो राजा दुर्गमाश्रितं शत्रुं हन्यादस्मै** दुष्टाय **शत्रवे वज्रं** छेदनस्वभावं शस्त्रवृन्दं [**ततक्ष**]=तक्षेत् **तेन वाश्रा** वत्सप्राप्तिमुत्कण्ठिताः शब्दायमाना **धनेव गाव इव स्यन्दमानाः** प्रस्रवन्त्यः **अञ्जः** व्यक्ता गमनशीला वा **आपः** शत्रुप्राणाः **समुद्रं** अन्तरिक्षं **अवगमयेत् ॥ २ ॥**

किरणों से पदार्थों को छेदन एवं सूक्ष्म करने वाला सूर्य (**पर्वते**) मेघमण्डल में (**शिश्रियाणम्**) रहने वाले (**स्वर्य्यम्**) गर्जनेवाले (**अहिम्**) मेघ का (**अहन्**) हनन करता है, और (**अस्मै**) इस मेघ के लिए (**वज्रम्**) छेदन करनेवाले किरणसमूह को (**ततक्ष**) तेज करता है, इस कर्म से (**वाश्राः**) बछड़े की प्राप्ति के लिए उत्कण्ठित होकर शब्द करती हुई (**धेनवः**) गौओं के (**इव**) समान (**स्यन्दमानाः**) बहते हुये (**अञ्जः**) व्यक्त या गतिशील (**आपः**) जल (**समुद्रम्**) जल से पूर्ण सागर की ओर (**अवजग्मुः**) जाते हैं; वैसे ही सभाध्यक्ष राजा दुर्ग में रहनेवाले शत्रु का हनन करे, और (**अस्मै**) इस दुष्ट शत्रु के लिये (**वज्रम्**) छेदन करने वाले शस्त्रसमूह को (**ततक्ष**) तीक्ष्ण करे, उससे (**वाश्राः**) बछड़े की प्राप्ति के लिये उत्कण्ठित होकर शब्द करती हुई (**धेनवः**) गौओं के (**इव**) समान (**स्यन्दमानाः**) बहते हुये (**अञ्जः**) व्यक्त या गतिशील (**आपः**) शत्रु के प्राणों को (**समुद्रम्**) अन्तरिक्ष की ओर पहुँचाये ॥ २ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः। यथा सूर्यः स्वकिरणैरन्तरिक्षस्थं मेघं भूमौ निपात्य जगज्जीवयति तथा सेनेशो दुर्गपर्वताद्याश्रितम् शत्रुं पृथव्यां संपात्य प्रजाः सततं सुखयति ॥ २ ॥

भावार्थ—यहां उपमा अलङ्कार है। जैसे सूर्य अपनी किरणों से अन्तरिक्ष में रहने वाले बादल को भूमि पर गिराकर जगत् को जिलाता है, वैसे ही सेनापति दुर्ग, पर्वत आदि में रहने वाले शत्रु को पृथिवी पर गिराकर प्रजा को सदा सुख देता है ॥ २ ॥

भाष्यसार—सभाध्यक्ष क्या करता है—जैसे सूर्य मेघमण्डल में विद्यमान तथा गर्जनेवाले मेघ का हनन करता है और इस मेघ के लिये अपनी किरणों को तेज करता है, ऐसा करने से—जैसे बछड़ों की प्राप्ति के लिये उत्कण्ठित होकर शब्द करती हुई गौवें दौड़ती हैं वैसे—गति करते हुये जल समुद्र की ओर जाते हैं। इसी प्रकार सभाध्यक्ष राजा दुर्ग में रहने वाले शत्रुओं का हनन करता है। इन शत्रुओं के लिये शस्त्रों को तीक्ष्ण करता है। ऐसा करने से—जैसे बछड़ों की प्राप्ति के लिये उत्कण्ठित होकर शब्द करती हुई गौवें दौड़ती हैं वैसे—गति करते हुये शत्रुओं के प्राण अन्तरिक्ष की ओर गति करते हैं, अन्तरिक्ष में चले जाते हैं ॥ २ ॥

अलङ्कार—इस मन्त्र में 'इव' पद उपमा-वाचक है, अतः उपमा अलङ्कार है। उपमा यह है कि जैसे बछड़ों की प्राप्ति के लिये उत्कण्ठित हुई गौवें दौड़ती हैं वैसे जल समुद्र की ओर तथा शत्रुओं के प्राण अन्तरिक्ष की ओर दौड़ते हैं ॥ २ ॥

अन्यत्र व्याख्यात—फिर वही मेघ आकाश में से नीचे गिरके पर्वत अर्थात् मेघमण्डल का पुनः आश्रय लेता है जिस को सूर्य अपनी किरणों से फिर हनन करता है जैसे कोई लकड़ी को छील के सूक्ष्म

कर देता है वैसे ही वह मेघ को भी बिन्दु-बिन्दु करके पृथिवी में गिरा देता है और उसके शरीररूप जल सिमट-सिमट कर नदियों के द्वारा समुद्र को ऐसे प्राप्त होते हैं कि जैसे अपने बछड़ों को गाय दौड़ के मिलती है। (ऋ० भू० ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः)

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"इन्द्र ने पर्वत पर मेघ को मारा। इस इन्द्र के लिए विश्वकर्मा ने स्तुति के योग्य वज्र को तेज किया। उस वज्र से मेघ के छिन्न-भिन्न होने पर बहने वाले जल समुद्र को प्राप्त हुए। जैसे अपने बच्चों के प्रति हम्भा शब्द करती हुई गाएँ जाती हैं।"

आचार्य सायण के मन्त्रार्थ में निम्नलिखित त्रुटियाँ हैं—(१) मन्त्र के देवता की कोई व्याख्या न होने से मन्त्रार्थ प्रकरणानुसार नहीं है। (२) 'इन्द्र ने पर्वत पर मेघ को मारा' यह सायण की व्याख्या शास्त्र तथा सृष्टिक्रम से विरुद्ध है। मेघ पर्वत पर नहीं रहता। 'पर्वत' शब्द वैदिक निघण्टु कोष (१। १०) में मेघ-नामों में पठित है। अतः मेघ मेघमण्डल में आश्रय करता है, पर्वत पर नहीं। और उसको इन्द्र=सूर्य अपने वज्र=किरणों से छिन्न-भिन्न करता है। और वह पहले भी करता था, अब भी करता है और आगे भी करेगा। अतः सायण की व्याख्या कल्पित है। (३) 'इन्द्र के लिए त्वष्टा=विश्वकर्मा ने वज्र को तेज किया' इस सायण-व्याख्या में अनेक दोष हैं। न तो सायण ने इन्द्र (देवता) को ही समझा और त्वष्टा को समझने में उससे भी अधिक भूल की है। त्वष्टा कोई विश्वकर्मा नामक व्यक्ति नहीं है, जिसने वज्र को तेज किया हो। लौकिक संस्कृत के आश्रय से सायण की व्याख्या ठीक सी प्रतीत होती है, किन्तु वैदिक-भाषा के नियमों के विरुद्ध है। त्वष्टा की व्याख्या निरुक्त में इस प्रकार की है—

'त्वष्टा तूर्णमश्नुते इति नैरुक्ताः। त्विषेर्वा स्याद्दीप्तिकर्मणः। त्वक्षतेर्वा स्यात् करोतिकर्मणः।" (निरु० ८। १४)

अर्थात् शीघ्र व्याप्त होने वाले, दीप्ति वाले अथवा शुद्धि आदि करने वाले को त्वष्टा कहते हैं। इस व्याख्या के अनुसार 'त्वष्टा' शब्द का प्रयोग यहाँ सूर्य के लिए ही है और वह 'इन्द्र के लिये' नहीं, प्रत्युत अस्मै=मेघ के लिए वज्र=किरणों को तेज करता है। (४) सायण ने व्याख्या में जहाँ 'पर्वत' 'त्वष्टा' 'वज्र' पदों की मिथ्या व्याख्या की है, वहाँ स्वर्यम्' पद की भी असंगत व्याख्या की है। स्वर' पद (निघं० १। ११) वाङ्-नामों में पठित की है। जिसके अनुसार 'गर्जने योग्य' अर्थ बनता है और इसकी संगति 'अहिम्' (मेघ) पद के साथ करनी चाहिए। क्योंकि गर्जना मेघ का कार्य है, वज्र=किरणों का नहीं। सायण ने इसका सम्बन्ध 'वज्रम्' के साथ करके शब्दों के वाच्य-वाचक सम्बन्ध को भी नहीं समझा। और वज्र=शस्त्र की गर्जना इसलिए अनुचित है कि वज्र नामक शस्त्र (इन्द्र का) ही कोई नहीं, जिसकी गर्जना कही जा सके। (५) सायण की व्याख्या में ऐतिहासिक कथा का मिश्रण है, जो कि वेद-मन्त्रों में कथंचिदपि सम्भव नहीं है। जिन वेद-मन्त्रों को सायण भी ईश्वरोक्त[2] मानते हैं,

---

१. पर्वते शिश्रियाणम् अहिं मेघम् अहन् हतवान्। अस्मै इन्द्राय स्वर्यं सुष्ठु प्रेरणीयं यद्वा शब्दनीयं स्तुत्यं त्वष्टा विश्वकर्मा वज्रं ततक्ष तनूकृतवान्। तेन वज्रेण मेघे भिन्ने सति स्यन्दमानाः प्रस्रवणयुक्ताः आपः समुद्रम् अञ्जः सम्यग् अवजग्मुः प्राप्ताः। तत्र दृष्टान्तः। वाश्राः वत्सान् प्रति हम्भारवोपेताः धेनव इव। यथा धेनवः सहसा वत्सगृहे गच्छन्ति तद्वत्॥ (सायणः)

२. (क) यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् निर्ममे॥ (सायणः)
(ख) वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन्।
पुमर्थांश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः॥ (सायणः)

उनमें लौकिक देवताओं के शिल्पी विश्वकर्मादि व्यक्तिविशेषों का असंगत इतिवृत्त मानना कैसे उचित हो सकता है? (६) 'अहन्' आदि क्रियाओं के लौकिक संस्कृत की तरह भूतकालीन अर्थ करना भी सायण की भ्रान्ति है। क्योंकि पाणिनि मुनि ने लङ् आदि का वेद में प्रयोग सामान्यकाल में स्वीकार किया है। पुनः ऋषियों के प्रमाणों को न मानकर असंगत व्याख्या को कौन स्वीकार कर सकता है? उपर्युक्त दोषों से रहित महर्षि दयानन्द की प्रकरणबद्ध तथा उपमान-उपमेयभाव से युक्त व्याख्या द्रष्टव्य है॥ २॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **इन्द्रः (सेनापतिः)** देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुन स कीदृश इत्युपदिश्यते॥

फिर वह सेनापति कैसा है, यह उपदेश किया जाता है॥

वृषायमाणोऽवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत्सुतस्य।
आ सायकं मघवादत्त वज्रमहन्नेनं प्रथमजामहीनाम्॥ ३॥

वृषायमाणः। अवृणीत। सोमम्। त्रिऽकद्रुकेषु। अपिबत्। सुतस्य। आ। सायकम्। मघऽवा। अदत्त। वज्रम्। अहन्। एनम्। प्रथमजाम्। अहीऽनाम्॥ ३॥

पदार्थः—(**वृषायमाणः**) वृष इवाचरन् (**अवृणीत**) स्वीकरोति। अत्र **लडर्थे लङ्** (**सोमम्**) सूयत=उत्पद्यते यस्तं रसम्। (**त्रिकद्रुकेषु**) त्रय उत्पत्तिस्थितिप्रलयाख्याः कद्रवो=विविधकला येषां तेषु कार्यपदार्थेषु। अत्र **कदिधातोरौणादिकः क्रुन्प्रत्ययः**। पुनः **समासान्तः कप् च**। (**अपिबत्**) स्वप्रकाशेन पिबति। अत्र **लडर्थे लङ्** (**सुतस्य**) उत्पन्नस्य जगतो मध्ये (**आ**) क्रियायोगे (**सायकम्**) शस्त्रविशेषम् (**मघवा**) मघं=बहुविधं पूज्यं धनं यस्य सः। अत्र **भूम्न्यर्थे मतुप्**। (**अदत्त**) ददाति वा। **अत्र वर्त्तमाने लङ्**। (**वज्रम्**) किरणसमूहमिवास्त्रम् (**अहन्**) हन्ति। अत्र **वर्त्तमाने लङ्**। (**एनम्**) मेघम् (**प्रथमजाम्**) प्रथमं जायते तम्। अत्र **जनसन०** ३। २। ६७। अनेन जनधातोर्विट् प्रत्ययः। (**अहीनाम्**) मेघानाम्॥३॥

प्रमाणार्थ—(**अवृणीत**) यहां लट् लकार के अर्थ में लङ् लकार है। (**त्रिकद्रुकेषु**) यहां कदि धातु से औणादिक 'क्रुन्' प्रत्यय है और फिर समासान्त 'कप्' प्रत्यय है (**अपिबत्**) यहां लट् लकार के अर्थ में लङ् लकार है (**मघवा**) यहां 'भूमनिन्दाप्रशंसा (अ० ५। २। ९४) इस विधान से 'भूमा' अर्थ में 'मुतुप्' प्रत्यय है—भूमा=अधिक। (**अदत्त**), (**अहन्**) यहां वर्तमान काल में लङ् लकार है। (**प्रथमजाम्**) यहां 'जनसन०' (अ० ३। २। ६७) इस सूत्र मे 'जन' धातु से 'विट्' प्रत्यय है॥ ३॥

अन्वयः—यथा वृषायमाण इन्द्रः सूर्य्यलोको मेघ इव सुतस्य त्रिकद्रुकेषु सोमं रसमवृणीत स्वीकरोति अपिबत् पिबति मघवा सायकं वज्रमादत्तेवाहीनां प्रथमजामेनं मेघमहन् हन्ति। एतादृशगुणकर्मस्वभावपुरुषः सेनापत्यमर्हति॥ ३॥

सपदार्थान्वयः—**यथा वृषायमाणः** वृष इवाचरन् **इन्द्रः=सूर्य्यलोको मेघ इव सुतस्य** उत्पन्नस्य जगतो मध्ये **त्रिकद्रुकेषु** त्रय उत्पत्तिस्थितिप्रलयाख्याः कद्रवो=विविधकला येषां तेषु कार्यपदार्थेषु **सोमं=रसं** सूयत=उत्पद्यते यस्तं रसम् **अवृणीत=स्वीकरोति अपिबत्=पिबति**

भाषार्थ—जैसे (**वृषायमाणः**) वृषभ के समान आचरण करता हुआ (**इन्द्रः**) सूर्य, मेघ के समान, (**सुतस्य**) उत्पन्न हुए जगत् के मध्य में (**त्रिकद्रुकेषु**) तीन उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय नामक विविध कलाओं वाले कार्य पदार्थों में विद्यमान (**सोमम्**) रस को (**अवणीत**) स्वीकार करता है,

स्वप्रकाशेन पिबति **मघवा** मघं=बहुविधं पूज्यं धनं यस्य सः **सायकं** शस्त्रविशेषं **वज्रं** किरणसमूहमिवास्त्रम् **आदत्त** प्रददाति **इव अहीनां** मेघानां **प्रथमजां** प्रथमं जायते तम् **एनं**=मेघं, **अहन्**=हन्ति। **एतादृशगुणकर्मस्वभावपुरुषः सेनापत्यमर्हति** ॥ ३ ॥

(**अपिबत्**) अपने प्रकाश से उसका पान करता है, और (**मघवा**) बहुत प्रकार के श्रेष्ठ धन का हेतु सूर्य (**सायकम्**) शस्त्रविशेष (**वज्रम्**) किरण-समूह के रूप अस्त्र को जैसे (**आदत्त**) ग्रहण करता है, वह (**अहीनाम्**) मेघों में (**प्रथमजाम्**) प्रथम उत्पन्न इस मेघ का (**अहन्**) हनन करता है, ऐसे गुण, कर्म, स्वभाव वाला पुरुष सेनापति हो सकता है ॥ ३ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः। यथा वृषभो वीर्य्यवृद्धिं कृत्वा बलिष्ठो भूत्वा सुखी जायते तथैवायं सेनापतिः रसं पीत्वा बली भूत्वा सुखी जायेत, यथा सूर्यः स्वकिरणैर्जलमाकृष्यान्तरिक्षे स्थापयित्वा वर्षयति, तथा शत्रुबलान्याकृष्य स्वबलमुन्नीय प्रजासुखान्यभिवर्षयेत् ॥ ३ ॥

भावार्थ—यहां उपमा अलंकार है। जैसे बैल वीर्य को बढ़ा, बलवान् होकर, सुखी होता है, वैसे ही यह सेनापति रस पीकर, बलवान् होकर, सुखी होवे। जैसे सूर्य अपनी किरणों से जल खींचकर, अन्तरिक्ष में रखकर बरसाता है, वैसे शत्रु के बलों को खींचकर, अपने बल को बढ़ाकर प्रजा-सुखों की वृष्टि करे ॥ ३ ॥

भाष्यसार—**सेनापति कैसा हो**—जैसे बैल वीर्य की वृद्धि करके, बलिष्ठ होकर सुखी होता है, वैसे सूर्य जगत् में उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय वाले पदार्थों में विद्यमान रस को स्वीकार करता है, अपने प्रकाश से उसका पान करता है, और जैसे सूर्य अपने किरण-समूह रूप शस्त्र-अस्त्र को ग्रहण करता है और मेघों का हनन करता है, वैसे सेनापति रस का पान करके, बलवान् होकर सुखी होवे। शत्रुओं के बल को खैंचकर अपने बल को बढ़ाकर प्रजा के लिए सुखों की वर्षा करे ॥ ३ ॥

अलंकार=इस मन्त्र में 'वृषायमाण' पदउपमा-वाचक है, अतः उपमा अलंकार है। उपमा यह है कि वृषभ के समान आचरण करता हुआ सूर्य जैसे पदार्थों के रस का पान करता है, वैसे सेनापति पदार्थों के रस का पान करके बलवान् होवे ॥ ३ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"इन्द्र ने वृष=बैल की भांति आचरण करते हुए सोम को स्वीकार किया। 'ज्योति, गौ, आयु' इन तीन यागों में निचोड़े गये सोमरस को इन्द्र ने पिया। धनवान् इन्द्र ने बान्धने वाले वज्र को स्वीकार किया। और उस वज्र से मेघों के बीच में प्रथम उत्पन्न मेघ को मारा।"

इस मन्त्र का देवता भी 'इन्द्र' है। इन्द्र और वृत्रासुर के आलंकारिक वर्णनों को न समझकर पौराणिक भाष्यकारों ने बहुत ही काल्पनिक व्याख्याएँ की हैं। सायण के अनुसार देवों का राजा स्वर्गलोकस्थ इन्द्र यज्ञ-प्रदेश में आकर सोमरस पीता है। और वज्र नामक शस्त्र से मेघ को मारता है। उनकी यह व्याख्या शास्त्रविरुद्ध तथा सृष्टि-क्रम से विरुद्ध है। मेघ तो आजकल भी होते हैं। उनको

---

१. वृषायमाणः वृष इवाचरन् इन्द्रः सोमम् अवृणीत वृतवान्। त्रिकद्रुकेषु ज्योतिः गौः आयुः इत्येतन्नामकाः त्रयो यागा उच्यन्ते। तेषु सुतस्य अभिषुतस्य सोमस्यांशम् अपिबत् पीतवान्। माघवा धनवान् इन्द्रः सायकं बन्धकं वज्रम् आ अदत्त स्वीकृतवान्। तेन च वज्रेण अहीनां मेघानां मध्ये प्रथमजां प्रथमोत्पन्नं मेघम् अहन् हतवान्॥ (सायणः)

वज्र-शस्त्र से मारते हुए इन्द्र को किसी ने नहीं देखा। अतः रूढ अर्थों के आश्रय से यह सायणव्याख्या वैदिक यौगिक-प्रक्रिया से विरुद्ध है।

महर्षि ने मन्त्र की व्याख्या यौगिक प्रक्रिया से की है। उन्होंने 'इन्द्र' का अर्थ सूर्य किया है। और वह सुतस्य=उत्पन्न हुए संसार के कार्य पदार्थों के सोमम्=रस को पीता है, यह सब जानते हैं। और यह इन्द्र (सूर्य) धनों का हेतु है, धनवाला नहीं। वह वज्र=अपनी किरणों से मेघ को छिन्न-भिन्न करके भूमि पर वृष्टि कराता है। ऐसी वैज्ञानिक तथा शास्त्रीय व्याख्या के समक्ष सायण की कल्पित व्याख्या को कौन बुद्धिमान् स्वीकार कर सकता है?

सायणाचार्य ने अपनी याज्ञिक प्रक्रिया की प्रतिज्ञावश ही 'त्रिकद्रुकेषु' पद का अर्थ तीन प्रकार के याग किये हैं। क्या इन्द्र इन यागों में ही सोमरस का पान करता है, अन्यों में नहीं? और ये तीन याग क्या हैं और कब किये जाते हैं? यह सब सायण-भाष्य से स्पष्ट नहीं है। और जब इन्द्र इन यागों में सोमरस पीने आता है तो उसके मुखादि अवयव होने से दिखाई क्यों नहीं देता? क्या इन्द्र अब भूखा ही रहता है? इत्यादि आशंकाओं की निवृत्ति सायण-व्याख्या से नहीं होती। महर्षि ने इस पद का अर्थ 'उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश वाले जगत् के पदार्थ' अर्थ किया है, जो कि प्रकरण के अनुकूल है। इन्द्र=सूर्य इन पदार्थों के रस को पीता है। इस पद का स्कन्दस्वामी ने यह अर्थ किया है कि—"अभिप्लवके पूर्व तीन दिन, इनमें इन्द्र सोम का वरण एवं पान करता है।" यह व्याख्या भी प्रकरणविरुद्ध तथा अप्रामाणिक है॥ ३॥

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **इन्द्रः (सेनापतिः सूर्यश्च)** देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते॥

फिर वह सेनापति कैसा हो, यह उपदेश किया जाता है॥

यदिन्द्राहन्प्रथमजामहीनामान्मायिनाममिनाः प्रोत मायाः।
आत्सूर्यं जनयन्द्यामुषासं तादीत्ना शत्रुं न किलाऽविवित्से॥ ४॥

यत्। इन्द्र। अहन्। प्रथमजाम्। अहीनाम्। आत्। मायिनाम्। अमिनाः। प्र। उत। मायाः। आत्। सूर्यम्। जनयन्। द्याम्। उषसम्। तादीत्ना। शत्रुम्। न। किल। विविवित्से॥ ४॥

पदार्थः—(**यत्**) यम्। सुपां० इत्यमो लुक्। (**इन्द्र**) पदार्थविदारयितः सूर्यलोकसदृश (**अहन्**) जहि (**प्रथमजाम्**) सृष्टिकालयुगपदुत्पन्नं मेघम् (**अहीनाम्**) सर्पस्येव मेघावयवानाम् (**आत्**) अनन्तरम् (**मायिनाम्**) येषां मायानिर्माणं घनाकारं सूर्यप्रकाशाच्छादकं वा बहुविधं कर्म विद्यते तेषाम्। **अत्र भूम्न्यर्थ इनिः** (**अमिनाः**) निवारयेद्वा **मीनातेर्निगमे।** अ० ७। ३। ८१। इति ह्रस्वादेशश्च। (**प्र**) प्रकृष्टार्थे (उत) अपि (**मायाः**) अन्धकाराद्या इव (**आत्**) अद्भुते (**सूर्य्यम्**) किरणसमूहम् (**जनयन्**) प्रकटयन् सन् (**द्याम्**) प्रकाशमयं दिनम् (**उषासम्**) प्रातः समयम्। **अत्र वर्णव्यत्ययेन दीर्घत्वम्।** (**तादीत्ना**) तदानीम्। **अत्र पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्।** अ० ६। ३। १०९। अनेन **वर्णविपर्यासेनाकारस्थान ईकार ईकारस्थान आकारस्तुडागमः पूर्वस्य दीर्घश्च।** (**शत्रुम्**) वैरिणम् (**न**) इव (**किल**) निश्चयार्थे। **अत्र निपातस्य च** इति दीर्घः। (**विविवित्से**) विन्दसि **अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदम्॥ ४॥**

प्रमाणार्थ—(**यत्**) यहां 'सुपां सुलुक्०' (अ० ७। १। ३९) इस सूत्र से 'अम्' विभक्ति का लुक् है। (**मायिनाम्**) यहां भूमा अर्थ में 'इनि' प्रत्यय है। भूमा=अधिक (**अमिनाः**) 'मीनातेर्निगमे'

(अ० ७ । ३ । ८१) इस सूत्र से वेद में ह्रस्वादेश है। (**उषासम**) यहां वर्णव्यत्यय से दीर्घ है। (**तादीत्ना**) यहां 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (अ० ६ । ३ । १०९) इस सूत्र से वर्णविपर्यास से आकार के स्थान में 'ईकार' और ईकार के स्थान में आकार तथा 'तुट्' का आगम और पूर्व पद को दीर्घ है। (**किल**) यहां 'निपातस्य च' (अ० ६ । ३ । १३६) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—किला। (**विवित्से**) यहां व्यत्यय से आत्मनेपद है ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे सेनाराजँस्त्वमिन्द्रः सूर्य्योऽहीनां प्रथमजां मेघमहन् तेषां मायिनामहीनां मायादीन् प्रमिणाः तादीत्ना यद्यं सूर्यं किरणसमूहमुषसं द्यां च प्रजनयन् दिनं करोति नेव [शत्रुम्] शत्रून्विवित्से तेषां मायाहन्यास्तदानीं न्यायार्कं प्रकटयन् सत्यविद्याचाराख्यं सवितारं जनय ॥ ४ ॥

सपदार्थान्वयः— हे **सेनाराजन्** ! **त्वं** [**इन्द्र**] **इन्द्रः**=सूर्य्यः पदार्थविदारयिता सूर्यलोकसदृशः **अहीनां** सर्पस्येव मेघावयवानां **प्रथमजां**=**मेघं** सृष्टिकालयुगपदुत्पन्नं मेघम् **अहन् हन्ति** [**आत्**] **अनन्तरं तेषां मायिनां** येषां मायानिर्माणं घनाकारं सूर्यप्रकाशाच्छादकं वा बहुविधं कर्म विद्यते तेषाम् **अहीनां** सर्पस्येव मेघावयवानां **मायादीन् प्रमिणाः** प्रकृष्टतया निवारयेत् **तादीत्ना** तदानीं **यत्**=**यं** (**आत्**) **अद्भुतं सूर्य्यं**=**किरणसमूहम्, उषसं** प्रातःसमयं **द्यां** प्रकाशमयं दिनं **च प्रजनयन्** प्रकटयन् सन् **दिनं करोति न**=**इव** (**शत्रुम्**) **शत्रून्** [**किल**] निश्चयेन **विवित्से** विन्दसि [**उत**] **अपि तेषां मायाः** अन्धकाराद्या इव **हन्यास्तदानीं न्यायार्कं प्रकटयन् सत्यविद्याचाराख्यं सवितारं जनय ॥ ४ ॥**

भाषार्थ—हे सेनापते ! आप—[**इन्द्र**] जैसे पदार्थों का विदारक सूर्य के (**अहीनाम्**) सर्प के समान मेघ-अवयवों में (**प्रथमजाम्**) सृष्टिकाल में युगपत् उत्पन्न मेघ का (**अहन्**) हनन करता है, [**आत्**] और उनके (**मायिनाम्**) मायानिर्माण अर्थात् घनाकार या सूर्य-प्रकाश के आच्छादक बहुत प्रकार के कर्म वाले (**अहीनाम्**) सर्प के तुल्य मेघ-अवयवों की माया आदिक का (**प्रमिणाः**) निवारण करता है, (**तादीत्ना**) उस समय जिस (**आत्**) अद्भुत (**सूर्यम्**) किरणसमूह, (**उषसम्**) प्रातःकाल और (**द्याम्**) प्रकाशमय दिन को (**प्रजनय**) प्रकट करता हुआ दिन बनाता है—(**न**) वैसे (**शत्रुम्**) शत्रुओं को [**किल**] निश्चय से (**विवित्से**) प्राप्त कर [**उत**] और उनके (**मायाः**) अन्धकार आदि रूप माया का हनन कर, और उस समय न्यायरूप सूर्य को प्रकट करता हुआ सत्यविद्या और सत्याचरण रूप सूर्य को उत्पन्न कर ॥

भावार्थः— अत्रोपमालङ्कारः। यथा कश्चिच्छत्रोर्बलछले निवार्य तं जित्वा स्वराज्ये सुखन्यायप्रकाशौ विस्तारयति तथैव सूर्योपि मेघस्य घनाकारं प्रकाशावरणं निवार्य स्वकिरणान् विस्तार्य मेघं छित्त्वा तमो हत्वा स्वदीप्तिं प्रसिद्धीकरोति ॥ ४ ॥

भावार्थ—यहां उपमा अलङ्कार है। जैसे कोई शत्रु के बल-छल का निवारण कर, उसको जीतकर, अपने राज्य में सुख और न्याय का प्रकाश फैलाता है, वैसे ही सूर्य भी बादलों के अन्धकार रूप प्रकाश-आवरण को हटाकर, अपनी किरणों को फैलाकर, मेघ का छेदन कर, अन्धकार का नाश करके, अपनी दीप्ति को प्रसिद्ध करता है ॥

भाष्यसार—**सेनापति कैसा हो**—जैसे पदार्थों का विदारक सूर्य मेघों का हनन करता है और उनके माया-निर्माण अर्थात् घनाकार या सूर्य-प्रकाश के आच्छादक विविध कर्म वाले मेघों की माया आदि का निवारण करता है, और उस समय अद्भुत किरण-समूह, उषा वेला और दिन को प्रकट करता हुआ दिन का निर्माण करता है वैसे सेनापति शत्रुओं को प्राप्त करे उनकी अन्धकार आदि

रूप माया का हनन करे, न्याय रूप सूर्य को प्रकट करे, सत्यविद्या और सत्याचरण रूप सूर्य को उत्पन्न करे ॥ ४ ॥

अलङ्कार—इस मन्त्र में 'न' पद उपमा-वाचक है, अतः उपमा अलङ्कार है। उपमा यह है कि जैसे सूर्य मेघों का हनन करता है वैसे सेनापति शत्रुओं का हनन करे ॥ ४ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकाश है—"और हे इन्द्र ! जब तुमने प्रथमोत्पन्न मेघ को मार दिया, उसके बाद माया से युक्त राक्षसों की माया का प्रकृष्टता से नाश किया। तत्पश्चात् सूर्य, उषाकाल, और आकाश को उत्पन्न करते हुए आच्छादक मेघ को हटाने से प्रकाश करने वाले हो। उस समय आच्छादक अन्धकार के न होने से तुम घातक शत्रु को निश्चय से नहीं प्राप्त कर सके।"

सायण की इस मन्त्रव्याख्या से स्पष्ट है कि मेघ को मारने वाला 'इन्द्र' सूर्य से भिन्न कोई नहीं है। क्योंकि सूर्य ही किरणों से मेघों को छिन्न-भिन्न करता है। और यह इन्द्र मायावियों की माया को छिन्न-भिन्न करता है, यह भी सूर्य-प्रकाश को ढकने वाली मेघों की छाया ही माया है। निरुक्त (१। १६) में 'मायया प्रतिरूपया' कहकर इसे स्पष्ट किया है। इस विषय में सायण की यह भ्रान्ति है कि इन्द्र-नामक देवविशेष ने राक्षसों की माया को नष्ट किया। और मन्त्र के उत्तरार्ध में तो सायण ने बहुत ही अज्ञानता की बात लिखी है कि इन्द्र ने सूर्य, उषाकाल तथा आकाश को बनाया। वेद में स्पष्ट लिखा है कि—'सूर्याचन्द्रमसौ यथापूर्वमकल्पयत्' (ऋग्०) अर्थात् परमात्मा ने सूर्य तथा चन्द्र को पहली सृष्टि की भांति बनाया। और सायण इसके विरुद्ध लिख रहे हैं कि इन्द्र ने सूर्य को बनाया। यह उन की महाभ्रान्ति नहीं तो क्या है ? महर्षि दयानन्द ने समस्त मन्त्र का बहुत सुसंगत अर्थ किया है कि इन्द्र=सूर्य ने सूर्यम्=किरणों को उषसम्=प्रातःकाल को और द्याम्=दिन को उत्पन्न किया। और इस अर्थ की संगति इन्द्र=सूर्य के साथ है भी। किरणों तथा दिनादि की उत्पत्ति का कारण इन्द्र=सूर्य ही है।

वेद में 'न' निपात का प्रयोग निषेध तथा उपमा दोनों अर्थों में होता है। किन्तु कहाँ निषेध अर्थ में आता है और कहाँ उपमा-अर्थ में ? इसका निर्णय करते हुए यास्काचार्य लिखते हैं—

पुरस्तादुपचारस्तस्य यत्प्रतिषेधति·····
उपरिष्टादुपचारस्तस्य येनोपमिमिते ॥ (निरु० १। ४)

अर्थात् न निपात प्रतिषेध-अर्थ में प्रतिषेध्य से पूर्व तथा उपमा अर्थ में उपमान के पीछे आता है। इस नियम के अनुसार मन्त्र के 'शत्रुं न' पदों में उपमार्थ ही होना चाहिए। किन्तु सायण ने निषेधार्थक व्याख्या करके भ्रान्तिपूर्ण व्याख्या की है। और सायण की यह व्याख्या अपने पदार्थ के भी विरुद्ध है। जब शत्रु को इन्द्र ने प्राप्त ही नहीं किया, फिर मारा किसे ? अतः महर्षि दयानन्द की समस्त व्याख्या प्रकरण के अनुकूल तथा सुसंगत होने से सत्य है किन्तु सायण के मन्त्रार्थ में अनेक दोष हैं ॥ ४ ॥

---

१. उत अपि च हे इन्द्र यत् यदा अहीनां मेघानां मध्ये प्रथमजां प्रथमोत्पन्नं मेघम् अहन् हतवानसि अतः तदनन्तरं मायिनां मायोपेतानामसुराणां संबन्धिनीः मायाः प्रअमिनाः प्रकर्षेण नाशितवानसि। अनन्तरं सूर्यम् उषसम् उषःकालं द्याम् आकाशं च जनयन् उत्पादयन् आवरकमेघनिवारणेन प्रकाशयन् वर्त्तसे। तादीत्ना तदानीम् आवरकान्धकाराभावात् शत्रुं घातकं वैरिणं न विवित्से किल त्वं न लब्धवान् खलु ॥ (सायणः)

आंगिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **इन्द्रः** (सेनापतिः) देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनः स तं कीदृशं करोतीत्युपदिश्यते॥

फिर वह सूर्य्य उस मेघ को कैसा करता है, यह उपदेश किया जाता है॥

अहन्वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन।
स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णाहिः शयत उपपृक् पृथिव्याः॥ ५॥

अहन्। वृत्रम्। वृत्रऽतरम्। विऽअंसम्। इन्द्रः। वज्रेण। महता। वधेन। स्कन्धांसिऽइव। कुलिशेन। विवृक्णा। अहिः। शयते। उपऽपृक्। पृथिव्याः॥ ५॥

पदार्थः—(अहन्) हतवान् (**वृत्रम्**) मेघम्। **वृत्रो मेघ इति नैरुक्ताः** निरु० २। १६। **वृत्रं जघ्निवानपववार तद्वृत्रो वृणोतेर्वा वर्त्ततेर्वा वर्धतेर्वा। यदवृणोत्तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते। यदवर्त्तत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते। यदवर्द्धत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते** निरु० २। १७। **वृत्रो ह वा इदꣳ सर्वं वृत्वा शिश्ये। यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी स यदिदꣳ सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद्वृत्रो नाम॥ ४॥ तमिन्द्रो जघान, स हतः पूतिः सर्वतएवापोऽभि [प्र] सुस्राव सर्वत इवह्यꣳ समुद्रस्तस्मादु हैका आपो बीभत्सां चक्रिरे ता उपर्य्युपर्य्यति पुप्लुविरे॥** श० १। १। ३। ४—५। एतैर्गुणैर्युक्तत्वान्मेघस्य वृत्र इति संज्ञा। (**वृत्रतरम्**) अतिशयेनावरकम् (**व्यंसम्**) विगता अंसाः=स्कन्धवदवयवा यस्य तम् (**इन्द्रः**) विद्युत् सूर्यलोकाख्य इव सेनाधिपतिः (**वज्रेण**) छेदकेनोष्मकिरणसमूहेन (**महता**) विस्तृतेन (**वधेन**) हन्यते येन तेन (**स्कन्धांसीव**) शरीरावयवबाहुमूलादीनीव। **अत्र स्कन्देश्च स्वाङ्गे।** उ० ४। २१४। अनेनासुन्प्रत्ययो धकारादेशश्च। (**कुलिशेन**) अतिशितधारेण खड्गेन। **अत्र अन्वेषामपि दृश्यत** इति दीर्घः (**विवृक्णा**) विविधतया छिन्नानि। अत्र **ओव्रश्चू छेदन** इत्यस्मात्कर्मणि निष्ठा। **ओदितश्च** [अ० ८। २। ४५] इति नत्वम्। **निष्ठादेशः षत्वस्वरप्रत्ययेड्विधिषु सिद्धो वक्तव्यः।** अ० ८। २। ६। इति वार्तिकेन झलि षत्वे कर्त्तव्ये झल्परत्वाभावात् षत्वं न भवति। **चोःकुरिति** कुत्वं **शेश्छन्दसि** इति शेर्लोपः। (**अहिः**) मेघः (**शयते**) शेते। **अत्र बहुलं छन्दसि इति** शपो लुङ् न। (**उपपृक्**) उपसामीप्यं पृङ्क्ते=स्पृशति यः सः (**पृथिव्याः**) भूमेः॥ ५॥

प्रमाणार्थ—(**वृत्रम्**) निरुक्त (२। १६) के अनुसार 'वृत्र' का अर्थ मेघ है यह निरुक्त-आचार्यों का मत है। निरुक्त (२। १७) में लिखा है कि इन्द्र ने वृत्र को मारा अर्थात् दूर हटा दिया। 'वृत्र' पद वृञ्, वृतु और वृधु धातु से सिद्ध होता है। वृत्र आच्छादित कर लेता है इसलिए वृत्र का वृत्रत्व जाना जाता है। यह वर्तमान रहता है इसलिए वृत्र का वृत्रत्व जाना जाता है। यह बढ़ता है इसलिए वृत्र का वृत्रत्व जाना जाता है—शतपथ ब्राह्मण (१। १। ३। ४-५) में वृत्र की व्याख्या में लिखा है कि वृत्र इस सब जगत् को आच्छादित करके सो गया। जो द्यावा पृथिवी के मध्य में वर्तमान है, उस सब को वह आच्छादित करके सो गया, अर्थात् उसे आच्छादित कर लिया इसलिए वह 'वृत्र कहलाता है। उसको इन्द्र ने मार दिया, इन्द्र के द्वारा हनन किये हुए वृत्र ने सब ओर जलों को स्रावित किया, इसलिए यह सब ओर समुद्र के समान है। उस समुद्र से एक प्रकार के जल ने बीभत्सा की जो ऊपर-ऊपर ही अत्यन्त गति करता है। (**स्कन्धांसीव**) यहां 'स्कन्धेश्च स्वांगे' (४। २१४) इस उणादि सूत्र से 'असुन्' प्रत्यय और धकारादेश है। (**कुलिशेन**) यहां 'अन्येषामपि दृयते' (अ० ६। ३। १३७) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—कुलिशेना॥ (**विवृक्णा**) यहां छेदनार्थक 'ओव्रश्चू' धातु से कर्म में 'क्त' प्रत्यय है। 'ओदितश्च' (अ० ८। २। ४५) इस सूत्र से नत्व 'निष्ठादेशःषत्व स्वरप्रत्ययेड्विधिषु सिद्धो वक्तव्यः' (अ० ८। २। ६) इस वार्तिक सूत्र से 'झल्' परे रहते 'षत्व' होता है परन्तु 'झल्' परे न होने से षत्व नहीं हुआ 'चोः कुः' (अ० ८। २। ३०)

इस सूत्र से कुत्व और 'शेश्छन्दसि०' (अ० ६ । १ । ७०) इस सूत्र से 'शि' विभक्ति का लोप है। (**शयते**) यहां बहुलं छन्दसि (अ० २ । ४ । ७३) इस सूत्र से बहुल करके शप् प्रत्यय का लुक् नहीं हुआ ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे सेनापतेऽतिरथ ! त्वं यथेन्द्रो महता वज्रेण कुलिशेन विवृक्णा विच्छिन्नानि स्कन्धांसीव व्यंसं यथा स्यात्तथा वृत्रतरं वृत्रमहन् बधेन हतोऽहिर्मेघः पृथिव्या उपपृक् सन् शयते शेत इव सर्वारीन्हन्याः ॥ ५ ॥

सपदार्थान्वयः—हे सेनापतेऽतिरथ ! **त्वं यथेन्द्रः** विद्युत् सूर्यलोकाख्य **महता** विस्तृतेन **वज्रेण** छेदकेनोष्मकिरणसमूहेन **कुलिशेन** अतिशितधारेण खड्गेन **विवृक्णा=विच्छिन्नानि** विविधतया छिन्नानि **स्कन्धांसीव** शरीरावयवबाहुमूलादीनीव **व्यंसं** विगता अंसाः=स्कन्धवदवयवा यस्य तं **यथा स्यात्तथा वृत्रतरम्** अतिशयेनावरकं **वृत्रं** मेघम् **अहन्** हतवान् **बधेन** हन्यते येन तेन **हतोऽहिः=मेघः, पृथिव्याः** भूमेः **उपपृक्** उप=सामीप्यं पृङ्क्ते=स्पृशति यः सः **सन् शयते=शेते, इव सर्वारीन्हन्याः ॥ ५ ॥**

भावार्थः— अत्र वाचकलुप्तोपमोपमालङ्कारौ यथा कश्चिन्महता शितेन शस्त्रेण शत्रोः शरीरावयवान् छित्वा भूमौ निपातयति स हतः पृथिव्यां शेते तथैवायं सूर्य्यो विद्युच्च मेघावयवान् छित्वा भूमौ निपातयति स भूमौ निहतः शयान इव भासते ॥ ५ ॥

भाषार्थ—हे महारथी सेनापते ! आप—जैसे (**इन्द्रः**) विद्युत् एवं सूर्य (**महता**) विस्तृत (**वज्रेण**) छेदक, ऊष्म किरण-समूहरूप (**कुलिशेन**) अति तीक्ष्ण धार वाले खड्ग से (**वि+वृक्णा**) विविध प्रकार से छिन्न हुये (**स्कन्धांसीव**) शरीर के अवयव बाहुमूल आदि के समान (**व्यंसम्**) अवयवरहित जैसा होता है वैसे (**वृत्रतरम्**) अत्यन्त आच्छादक (**वृत्रम्**) मेघ का (**अहन्**) हनन करता है, (**बधेन**) उक्त शस्त्र से मारा हुआ (**अहिः**) मेघ (**पृथिव्याः**) भूमिका (**उपपृक्**) उपस्पर्श करने वाला होकर (**शयते**) शयन करता है—वैसे सब शत्रुओं का हनन करो ॥

भावार्थ—यहां वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। जैसे कोई बहुत तेज धार वाले शस्त्र के द्वारा शत्रु के शरीर के अवयवों को काटकर भूमि पर डालता है, और वह मरा हुआ पृथिवी पर सोता है, वैसे ही यह सूर्य और विद्युत्, बादलों के अवयवों को काटकर, भूमि पर डालते हैं, भूमि पर गिरा हुआ वह मेघ सोये हुए के समान प्रतीत होता है ॥ ५ ॥

भाष्यसार—सूर्य मेघ को कैसे करता है—सूर्य—विस्तृत, छेदक, उष्म किरणसमूह रूप तीक्ष्ण खड्ग से—जैसे शस्त्र से कन्धे कट जाते हैं वैसे—मेघ के कन्धों को काटता है, उसका हनन करता है। उक्त शस्त्र से हनन किया हुआ मेघ भूमि का उपस्पर्श करता हुआ उस पर शयन करता है। महारथी सेनापति को भी उचित है कि वह सूर्य के समान सब शत्रुओं का हनन करे ॥ ५ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद को लुप्त मानकर वाचकलुप्तोपमा अलङ्कार है। उपमा यह है कि महारथी सेनापति सूर्य के समान सब शत्रुओं का हनन करे। मन्त्र में 'इव' पद उपमा-वाचक भी है, अतः यहां उपमा अलङ्कार है। उपमा यह है कि जैसे किसी के कन्धे शस्त्र से कट जाते हैं वैसे सूर्य मेघ के कन्धों का छेदन करता है, उसके अवयवों का विनाश करता है ॥ ५ ॥

अन्यत्र व्याख्यात—जब सूर्य उस अत्यन्त गर्जित मेघ को छिन्न-भिन्न करके

पृथिवी में ऐसे गिरा देता है कि जैसे कोई किसी मनुष्य आदि के शरीर को काट-काटकर गिराता है तब वह वृत्रासुर भी पृथिवी पर गिरा हुआ मृतक के समान शयन करनेवाला हो जाता है।

(ऋ० भू० ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः)

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है— 'इस इन्द्र ने वज्र-शस्त्र से जो महान् वध (मार) प्रारम्भ किया, उससे अत्यधिक लोकों के आच्छादक अन्धकार को नष्ट किया। आच्छादन से शत्रुओं को तरने वाले वृत्र नामक राक्षस को कटी बाहु वाले पुरुष की भांति नष्ट किया। जैसे कुठार से वृक्ष के स्कन्धों को काट दिया जाता है, वैसा होने पर वृत्र पृथिवी के ऊपर कटी हुई लकड़ी की भांति गिर जाता है।"

इस मन्त्र की व्याख्या में 'इन्द्र' 'वज्र' तथा 'वृत्र' इन पदों के अर्थों को न समझने से सायण की व्याख्या भ्रान्तिपूर्ण एवं प्रकरण-विरुद्ध है। इन्द्र कोई देवताविशेष नहीं है, प्रत्युत सूर्य अथवा विद्युत् ही का नाम इन्द्र है। 'वज्र' कोई शस्त्रविशेष नहीं है, प्रत्युत किरणों का नाम ही 'वज्र' है। 'वृत्र' कोई राक्षसविशेष नहीं है, प्रत्युत मेघ ही का नाम वृत्र है, वह सूर्य के प्रकाश को ढकता है, सूर्य मेघ को नष्ट करके अन्धकार अथवा मेघों की छाया को दूर करता है। सूर्य-किरणों के द्वारा मेघों के छिन्न-भिन्न होने से जब वृष्टि द्वारा जल पृथिवी पर गिर जाता है, यही वृत्र=मेघ का तलवारादि से छिन्न अंग वाले मनुष्यादि की तरह पृथिवी पर गिरना या शयन करना है।

महर्षि दयानन्द की व्याख्या बहुत ही सुसंगत है। उसमें किसी प्रकार की भ्रान्ति नहीं है। सायण ने मन्त्रार्थ करते समय यह भी नहीं सोचा कि अन्धकार को सूर्य नष्ट करता है, इन्द्र नामक कोई सूर्य से भिन्न देव नहीं। इन्द्र वृत्रादि पदों के प्रामाणिक अर्थ इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र की समीक्षा में देखने चाहिए। जिनसे स्पष्ट है कि सायण की इन पदों को समझने में महाभ्रान्ति रही है। और 'अहन्' आदि क्रियाओं के भूतकालीन अर्थ करके सायण ने वैदिक नियमों के समझने में भूल की है। महर्षि ने अपने अर्थ की पुष्टि में निरुक्त तथा ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रमाण दिए हैं, किन्तु सायण बिना प्रमाण के ही स्वेच्छा से ही व्याख्या कर गए हैं॥ ५॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **इन्द्रः** (सूर्यलोकः) देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनस्तौ कथं युध्येते इत्युपदिश्यते॥

फिर वे मेघ और सूर्य कैसे युद्ध करते हैं इस विषय का उपदेश किया जाता है॥

अयोद्धेव दुर्मद आ हि जुह्वे महावीरं तुविबाधमृजीषम्।
नातारीदस्य समृतिं बधानां सं रुजानाः पिपिष इन्द्रशत्रुः॥ ६॥

---

१. अयम् इन्द्रः वज्रेण सम्पादितो यो महान् वधः तेन वज्रेण वृत्रतरम् अतिशयेन लोकानाम् आवरकम् अन्धकाररूपम्। यद्वा। वृत्रैः आवरणैः सर्वान् शत्रून् तरति तं वृत्रम् एतन्नामकमसुरं व्यंसं विगतांसं छिन्नबाहुः यथा भवति तथा अहन् हतवान्। अंसच्छेदे दृष्टान्तः। कुलिशेन कुठारेण विवृक्णा विशेषतश्छिन्नानि स्कन्धांसीव। यथा वृक्षस्कन्धाश्छिन्ना भवन्ति तद्वत्। तथा सति अहिः वृत्रः पृथिव्याः उपरि उपपृक् सामीप्येन संपृक्तः शयते शयनं करोति छिन्नकाष्ठवत् भूमौ पततीत्यर्थः॥ (सायणः)

अयोद्धेऽइव। दुःमदः। आ। हि। जुह्वे। महाऽवीरम्। तुविऽबाधम्। ऋजीषम्। न। अतारीत्। अस्य। सम्ऽऋतिम्। बधानाम्। सम्। रुजानाः। पिपिषे। इन्द्रऽशत्रुः॥ ६॥

पदार्थः—(**अयोद्धेव**) न योद्धा=अयोद्धा तद्वत् (**दुर्मदः**) दुष्टो मदो यस्य सः (**आ**) समन्तात् (**हि**) खलु (**जुह्वे**) आहूतवानस्ति **वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति** इत्युवङादेशो न। (**महावीरम्**) महांश्चासौ वीरश्च तमिव महाकर्षणप्रकाशादिगुणयुक्तं सूर्यलोकम् (**तुविबाधम्**) यो बहून् शत्रून् बाधते तम् (**ऋजीषम्**) उपार्जकम्। अत्र **अर्जेर्ऋज् च**। उ० ४। २९। इत्यर्जधातोरीषन् प्रत्यय ऋजादेशश्च। (**न**) निषेधार्थे (**अतारीत्**) तरत्युल्लङ्घयति वा। अत्र **वर्त्तमाने लुङ्**। (**अस्य**) सूर्यलोकस्य (**समृतिम्**) संगतिम् (**बधानाम्**) हननानाम् (**सम्**) सम्यगर्थे (**रुजानाः**) नद्यः। **रुजाना इति नदीनामसु पठितम्। निघं० १। १३।** (**पिपिषे**) पिष्टः। **व्यत्ययेनात्मनेपदं च**। (**इन्द्रशत्रुः**) इन्द्रः शत्रुर्यस्य वृत्रस्य सः॥ ६।

प्रमाणार्थ—(**जुह्वे**) यहाँ 'वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति' (महा० १। ४। ९) इस 'परिभाषा से 'उवङ्' आदेश नहीं है। (**ऋजीषम्**) यहां अर्जेर्ऋज् च (४। २९) इस उणादि सूत्र से 'अर्ज' धातु से 'ईषन्' प्रत्यय और 'ऋज' आदेश है। (**अतारीत्**) यहाँ वर्तमानकाल में लुङ् लकार है। (**रुजानाः**) यह पद निघण्टु (१। १३) में नदी-नामों में पढ़ा है। (**पिपिषे**) यहां व्यत्यय से आत्मनेपद है॥ ६॥

अन्वयः—यथा दुर्मदोऽयोद्धेवायं मेघ ऋजीषन्तु विबाधं महावीरमिन्द्रं सूर्यलोकमाजुह्वे यदा सर्वतो रुतवानिवानेन हतोयमिन्द्रशत्रुः संपिपिषे स मेघोऽस्येन्द्रस्य बधानां समृतिं नातारीत्समन्तान्नोल्लङ्घितवान् हि खल्वस्य वृत्रस्य शरीरादुत्पन्ना रुजानानद्यः पर्वतपृथिव्यादिकूलान् छिन्दन्त्यश्चलन्ति तथा सेनासु विराजमानोऽध्यक्षः शत्रुषु चेष्टेत॥ ६॥

सपदार्थान्वयः—**यथा दुर्मदः** दुष्टो मदो यस्य सः **अयोद्धेव** न योद्धा=अयोद्धा तद्वत् **अयं मेघ ऋजीषम्** उपार्जकं **तुविबाधं** यो बहून् शत्रून् बाधते तं **महावीरं** महांश्चासौ वीरश्च तमिव महाकर्षणप्रकाशादिगुणयुक्तं **इन्द्रं=सूर्यलोकं जुह्वे** समन्तात् आहूतवानस्ति **यदा सर्वतो रुतवानिवानेनहतोऽयमिन्द्रशत्रुः** इन्द्रः शत्रुर्यस्य वृत्रस्य सः **सं+पिपिषे** सम्यक् पिष्टः **स मेघोऽस्य=इन्द्रस्य** सूर्यलोकस्य **बधानां** हननानां **समृतिं** संगतिं **नातारीत्=समन्तान्नोल्लङ्घितवान्** न तरति न उल्लङ्घयति **वा हि=खलु, अस्य वृत्रस्य शरीरादुत्पन्ना रुजानाः=नद्यः पर्वतपृथिव्यादिकूलान् छिन्दन्त्यश्चलन्ति तथा सेनासु विराजमानोऽध्यक्षः शत्रुषु चेष्टेत॥ ६॥**

भाषार्थ—जैसे (**दुर्मदः**) दुष्ट मद वाला (**अयोद्धेव**) अयोद्धा=न लड़ने वाले के समान यह मेघ—(**ऋजीषम्**) पदार्थों का उपार्जन करने वाले, (**तुविबाधम्**) बहुत शत्रुओं के बाधक, (**महावीरम्**) महावीर के समान महान् आकर्षण और प्रकाश आदि गुणों से युक्त (**इन्द्रम्**) सूर्य का (**आ+जुह्वे**) आह्वान करता है, जब सब ओर शब्द करता हुआ-सा इस सूर्य के द्वारा मारा हुआ यह (**इन्द्रशत्रुः**) मेघ (**सं+पिपिषे**) अच्छे प्रकार पीस दिया जाता है, तब वह मेघ (**अस्य**) इस सूर्य के (**बाधनानाम्**) ताड़नों के (**समृतिम्**) सामर्थ्य का (**न**) नहीं (**अतारीत्**) उल्लंघन नहीं करता है, (**हि**) निश्चय से इस मेघ के शरीर से उत्पन्न (**रुजानाः**) नदियाँ पर्वत और पृथिवी आदि के कूल=किनारों को काटती हुई चलती हैं, वैसे सेनाओं में विराजमान अध्यक्ष शत्रुओं में चेष्टा करे॥ ६॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः। यथा मेघो

भावार्थ—यहां उपमा अलंकार है। जैसे

जगत्प्रकाशाय प्रवर्त्तमानस्य सूर्य्यस्य प्रकाशमकस्मादुत्थायावृत्य च तेन सह युद्धयत इव प्रवर्त्तते, परन्तु सूर्य्यस्य सामर्थ्यं नालं भवति। यदायं सूर्येण हतो भूमौ निपतति तदा तच्छरीरावयवेन जलेन नद्यः पूर्णाः भूत्वा समुद्रं गच्छन्ति, तथा राजा शत्रून् हत्वाऽस्तं नयेत् ॥ ६ ॥

मेघ जगत् के प्रकाश के लिए प्रवर्तमान सूर्य के प्रकाश को अकस्मात् उठा और रोककर, उसके साथ युद्ध करने वाले के समान प्रवृत्त होता है, परन्तु सूर्य का सामर्थ्य अधिक होता है। जब यह सूर्य के द्वारा हनन किया हुआ पृथ्वी पर गिरता है, तब उसके शरीरावयव रूप जल से नदियां पूर्ण होकर समुद्र में जाती हैं, वैसे ही राजा शत्रुओं को मारकर समाप्त करे ॥ ६ ॥

भाष्यसार—मेघ और सूर्य कैसे युद्ध करते हैं—दुष्ट मद वाला तथा अयोद्धा अर्थात् न लड़ने वाले के समान यह मेघ—पदार्थों का उपार्जन करने वाले, शत्रुओं के बाधक, महान् आकर्षण और प्रकाश आदि गुणों से युक्त सूर्य का आह्वान करता है, युद्ध के लिए ललकारता है, किन्तु जब यह मेघ सूर्य के द्वारा अच्छे प्रकार पीस दिया जाता है, तब वह सूर्य के सामर्थ्य का उल्लङ्घन नहीं कर सकता है। जब यह सूर्य के द्वारा मारा हुआ भूमि पर गिरता है तब इसके शरीर-अवयव रूप जल से नदियां बहने लगती हैं जो पर्वत और पृथिवी आदि के किनारों को तोड़ती हुई चलती हैं, और समुद्र में जाती हैं। सेनाध्यक्ष भी ऐसी चेष्टा करे, शत्रुओं को मारकर समाप्त करे ॥ ६ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में 'इव' पद उपमा वाचक है अतः उपमा अलंकार है। उपमा यह है कि मेघ एक अयोद्धा के समान है। वह सूर्य के साथ युद्ध करता है किन्तु परास्त हो जाता है। सूर्य उसको नष्ट कर देता है, वैसे सेनापति शत्रुओं का हनन करके उन्हें समाप्त करे ॥ ६ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"अभिमानी वृत्र ने न लड़ने वाले की भांति इन्द्र का आह्वान किया। वह इन्द्र गुणों से महान् बहुत बलवान्, बहुतों का बाधक, तथा शत्रुओं को छिन्न-भिन्न करने वाला था। ऐसे इन्द्र के शत्रुसम्बन्धी वधों को दुर्मद वृत्र पार नहीं कर सका। इन्द्र जिसको मारने वाला है ऐसा वृत्र इन्द्र के द्वारा मारा हुआ नदियों में गिरा और नदियों को उसने भलीभांति छिन्न-भिन्न किया।"

इस मन्त्र में इन्द्र व वृत्रासुर के युद्ध का वर्णन किया गया है। जैसे युद्ध-स्थल में दो योद्धा आह्वान करके युद्ध करते हैं, मानो वैसे ही सूर्य और मेघ का युद्ध होता है। वृत्र=मेघ की गर्जना ही मानों इन्द्र को आह्वान करना है। किन्तु वृत्र इन्द्र की अपेक्षा दुर्बल होने से इन्द्र की शक्ति का उल्लंघन नहीं कर सकता। और इन्द्र के द्वारा छिन्न-भिन्न होकर मेघ जब जलरूप होकर पृथिवी पर गिरता है, तब बाढ़ादि के रूप में नदियों के किनारों को भी तोड़ देता है।

मन्त्र के इस सत्यार्थ को न समझकर सायण ने इन्द्र तथा वृत्र दोनों को शरीरधारी मानकर व्याख्या की है। और दोनों को चेतन मानकर वर्णन किया है। यह सायण का अलंकारिक वर्णन को न

---

१. दुर्मदः दुष्टमदोपेतो दर्पयुक्तो वृत्रः अयोद्धेव योद्धृरहित इव इन्द्रम् आजुह्वे हि आहूतवान् खलु। कीदृशमिन्द्रम्। महावीरं गुणैः महान् भूत्वा शौर्योपेतं तुविबाधं बहूनां बाधकं ऋजीषं शत्रूणामपार्जकम्। अस्य ईदृशस्य इन्द्रस्य संबन्धिनो ये शत्रुवधाः सन्ति तेषां वधानां समृतिं संगमं नातारीत् पूर्वोक्तो दुर्मदः तरीतुं नाशक्नोत्। इन्द्रशत्रुः इन्द्रः शत्रुर्घातको यस्य वृत्रस्य तादृशो वृत्रः इन्द्रेण हतो नदीषु पतितः सन् रुजानाः नदीः संपिपिषे सम्यक् पिष्टवान्॥ (सायणः)

समझने में अज्ञान ही है और वृत्रासुर का इन्द्र के द्वारा मारने पर नदियों में गिरना और नदियों को तोड़ना या पीसनादि का स्पष्ट व्याख्यान नहीं कर सके हैं। महर्षि की व्याख्या निर्भ्रान्त तथा स्पष्ट है। सायण-भाष्य में काल्पनिक पौराणिक कथा का आश्रय लिया गया है, जो कि भ्रान्ति-जनक होने से मिथ्या है।

सायण ने 'अतारीत्' 'आजुह्वे' क्रियाओं के भूतकाल में अर्थ करके वैदिक व्याकरण के नियमों का उल्लंघन किया है। और सूर्य तथा मेघ का युद्ध सदा ही होता है, इस प्रत्यक्ष-ज्ञान से भी सायण-भाष्य विरुद्ध है ॥ ६ ॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **इन्द्रः (सूर्यलोकः)** देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

पुनः स कीदृशो भूत्वा भूमौ पततीत्युपदिश्यते ॥

फिर वह मेघ कैसा होकर पृथिवी पर गिरता है, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमास्य वज्रमधि सानौ जघान।
वृष्णो बध्रिः प्रतिमानं बुभूषन् पुरुत्रा वृत्रो अशयद् व्यस्तः ॥ ७ ॥

अपात्। अहस्तः। अपृतन्यत्। इन्द्रम्। आ। अस्य। वज्रम्। अधि। सानौ। जघान। वृष्णः। बध्रिः। प्रतिऽमानम्। बुभूषन्। पुरुऽत्रा। वृत्रः। अशयत्। विऽअस्तः ॥ ७ ॥

पदार्थः—(**अपात्**) अविद्यमानौ पादौ यस्य सः (**अहस्तः**) अविद्यमानौ हस्तौ यस्य सः (**अपृतन्यत्**) आत्मनः पृतनां=युद्धमिच्छतीति। **अत्र कव्यध्वरपृतनस्य०**। अ० ७। ४। ३९। इत्याकारलोपः (**इन्द्रम्**) सूर्यलोकम् (**आ**) समन्तात् (**अस्य**) वृत्रस्य (**वज्रम्**) स्वकिरणाख्यम् (**अधि**) उपरि (**सानौ**) अवयवे (**जघान**) हतवान् (**वृष्णः**) वीर्यसेक्तुः पुरुषस्य (**बध्रिः**) बध्यते स बध्रिः। निर्वीर्यो नपुंसकमिव। **अत्र बन्धघातोर्बाहुलकादौणादिकः** क्रिन् प्रत्ययः। (**प्रतिमानम्**) सादृश्यं परिमाणं वा। (**बुभूषन्**) भवितुमिच्छन् (**पुरुत्रा**) बहुषु देवेषु पतितः सन्। **अत्र देवमनुष्यपुरुष०** ५। ४। ५६। इति त्रा प्रत्ययः। (**वृत्रः**) मेघः (**अशयत्**) शयितवान्। **व्यत्ययेन** परस्मैपदम्। **बहुलं छन्दसि** इति शपो लुङ् न। (**व्यस्तः**) विविधतया प्रक्षिप्तः ॥ ७ ॥

प्रमाणार्थं—(**अपृतन्यत्**) यहां 'कव्यध्वरपृतनस्य०' (अ० ७। ४। ३९) इस सूत्र से आकार का लोप है। (**बध्रिः**) यहां 'बन्ध' धातु से बहुल करके औणादिक 'क्रिन्' प्रत्यय है। (**पुरुत्रा**) यहां 'देवमनुष्यपुरुष०' (अ० ५। ४। ४६) इस सूत्र से 'त्रा' प्रत्यय है। (**अशयत्**) यहां व्यत्यय से परस्मैपद है, 'बहुलं छन्दसि' (अ० २। ४। ७३) इस सूत्र से वेद में 'शप्' का लुक् नहीं है ॥ ७ ॥

अन्वयः—हे सर्वसेनास्वामिँस्त्वं यथा वृत्रो वृष्णः प्रतिमानं बुभूषन् बध्रिरिव यमिन्द्रं प्रत्यपृतन्यदात्मनः पृतनामिच्छँस्तस्यास्य वृत्रस्यसानावधि शिखराकारघनानामुपरीन्द्रस्सूर्य्यलोको वज्रमाजघानैतेन हतः सन्वृत्रोऽपादहस्तो व्यस्तः पुरुत्राशयद्बहुषु भूमिदेशेषु शयान इव भवति तथैवैवं भूतान् शत्रून् भित्त्वा छित्त्वा सततं विजयस्व ॥ ७ ॥

सपदार्थान्वयः—हे सर्वसेनास्वामिन्! त्वं यथा वृत्रः मेघः वृष्णः वीर्यसेक्तुः पुरुषस्य **भाषार्थ**—हे सब सेनाओं के अध्यक्ष! आप—जैसे (**वृत्रः**) मेघ (**वृष्णः**) वीर्यसेचक

प्रतिमानं सादृश्यं परिमाणं वा **बुभूषन्** भवितुमिच्छन् **बध्रिः** बध्यते स बध्रिः **इव यमिन्द्रं** सूर्यलोकं **प्रत्यपृतन्यत्=आत्मनः पृतनामिच्छन्** आत्मनः पृतनां=युद्धमिच्छतीति **तस्यास्य=वृत्रस्य सानौ अधि= शिखराकारघनानामुपरीन्द्रः = सूर्यलोको वज्रं** स्वकिरणाख्यम् **आ+जघान** समन्ताद्धतवान्, **एतेन हतः सन् वृत्रः** मेघः **अपात्** अविद्यमानौ पादौ यस्य सः **अहस्तः** अविद्यमानौ हस्तौ यस्य सः **व्यस्तः** विविधतया प्रक्षिप्तः **पुरुत्रा** बहुषु देशेषु पतितः सन् **अशयत्=बहुषु भूमिदेशेषु शयान** शयितवान् **इव भवति तथैवंभूतान् शत्रून् भित्त्वा छित्त्वा सततं विजयस्व** ॥ ७ ॥

बलवान् पुरुष के (**प्रतिमानम्**) सदृश (**बुभूषन्**) होने की इच्छा करता हुआ (**बध्रिः**) एक निर्बल के समान—जिस (**इन्द्रम्**) सूर्य के प्रति (**अपृतन्यत्**) युद्ध करने की इच्छा करता है, उस (**अस्य**) इस वृत्र=मेघ के (**सानौ**) शिखर (**अधि**) पर (**इन्द्रः**) सूर्य (**वज्रम्**) अपने किरणरूप वज्र का (**आजघान**) प्रहार करता है, इससे मरा हुआ (**वृत्रः**) मेघ (**अपात्**) पादरहित (**अहस्तः**) हस्त-रहितसा (**व्यस्तः**) इधर-उधर फेंका हुआ (**पुरुत्रा**) बहुत प्रदेशों में गिरा हुआ (**अशयत्**) बहुत भूमिप्रदेशों में शयन-सा करता है—वैसे ही इस प्रकार के शत्रुओं का छेदन-भेदन करके सदा विजय प्राप्त करो ॥ ७ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथा कश्चिन्निर्बलो बलवता सह युद्धं कर्त्तुं प्रवर्त्तेत तथैव वृत्रो मेघः सूर्येण सहयुद्धकारीव प्रवर्त्तते यथान्ते सूर्येण छिन्नोभिन्नः सन् पराजितः पृथिव्यां पतति तथैव यो धार्मिकेण राज्ञा सह योद्धुं प्रवर्त्तेत तस्यापीदृश्येव गतिः स्यात् ॥ ७ ॥

भावार्थ—यहां वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। जैसे कोई निर्बल, बलवान् के साथ युद्ध करने को प्रवृत्त होता है, वैसे वृत्र मेघ सूर्य के साथ युद्ध करने वाले के समान प्रवृत्त होता है। जैसे वह अन्त में सूर्य के द्वारा छिन्न-भिन्न होकर पराजित हुआ पृथ्वी पर गिरता है, वैसे ही जो धार्मिक राजा के साथ युद्ध में प्रवृत्त होता है, उसकी भी ऐसी ही दशा होती है ॥ ७ ॥

भाष्यसार—मेघ कैसा होकर भूमि पर गिरता है—मेघ वीर्यसेचक बलवान् पुरुष के समान होने की इच्छा करता है किन्तु वह एक निर्बल के समान है फिर भी वह सूर्य के साथ युद्ध करने की इच्छा करता है, युद्धकारी के समान प्रवृत्त होता है। सूर्य मेघ के शिखर पर अपने किरण रूप वज्र का प्रहार करता है जिससे आहत मेघ हाथ-पैर कटे हुये मनुष्य के समान हो जाता है और वह इधर-उधर फेंका हुआ बहुत से भूमिप्रदेशों में गिरता है और वहां शयन करता है। सेनाध्यक्ष सूर्य के समान शत्रुओं का छेदन-भेदन करके सदा विजय प्राप्त करे ॥ ७ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है, अतः वाचकलुप्तोपमा अलङ्कार है। उपमा यह है कि जैसे सूर्य मेघ का छेदन-भेदन करके उसे भूमि पर गिराता है, वैसे सेना-ध्यक्ष शत्रुओं को हनन करे और सदा विजय प्राप्त करे ॥ ७ ॥

अन्यत्र व्याख्यात—निघण्टु में मेघ का नाम वृत्र है। (**इन्द्रशत्रु०**) **वृत्र** का शत्रु अर्थात् निवारक सूर्य है। सूर्य का नाम त्वष्टा है उसका संतान मेघ है क्योंकि सूर्यकिरणों के द्वारा जल कण-कण होकर ऊपर को जाकर वहां मिल के मेघरूप हो जाता है तथा मेघ का वृत्र नाम इसलिए है कि (**वृत्रो वृणोतेः०**) वह स्वीकार करने योग्य और प्रकाश का आवरण करने वाला है।

(ऋ० भू० ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः)

समीक्षा—इस मन्त्र का सायणभाष्य[1] इस प्रकार है—"वज्र नामक शस्त्र से कटने से हाथ-पैरों से रहित वृत्र ने इन्द्र के साथ युद्ध करने की इच्छा की। द्वेष अधिक होने से बहुत बार बिंधे हुए वृत्र ने युद्ध करना नहीं छोड़ा। इन्द्र ने हाथ-पैरों से रहित वृत्र के पर्वत शिखर के तुल्य कन्धे पर वज्र से प्रहार किया। उस समय वृत्र की कैसी दशा थी, जैसी छिन्नेन्द्रिय पुरुष की वीर्यसेचन में समर्थ पुरुष के समान होने की इच्छा होने पर दशा होती है।"

इस मन्त्र में भी सूर्य-मेघ के युद्ध का वर्णन तथा मेघ के छिन्न-भिन्न होकर पृथिवी पर गिरने का आलङ्कारिक वर्णन किया है। इन्द्र=सूर्य और वृत्र=मेघ दोनों ही अचेतन हैं, उनमें द्वेषादि जीवात्मा के धर्मों का होना सम्भव नहीं है। सायणभाष्य में वृत्र=मेघ में द्वेषाधिक्य दिखाकर जड़-चेतन के धर्मों से अनभिज्ञता प्रकट की है। और इन्द्र अपनी किरणों से वृत्र को छिन्न-भिन्न करके जलरूप करके पृथिवी पर गिराता है। जैसे योद्धा युद्ध करता हुआ हस्त-पादादि से रहित होने पर भूमि पर गिर जाता है, वैसे ही मेघ की दशा होती है। यथार्थ में मेघ के हाथ-पैरादि अंग होते ही नहीं। उसको यथार्थ में शरीरधारी मानकर जो सायणभाष्य में उल्लेख किया है, वह भ्रान्ति मात्र ही है।

और 'वज्र' कोई शस्त्रविशेष नहीं है। इन्द्र=सूर्य की किरणें ही वज्ररूप हैं। और मन्त्रोक्त 'अपृतन्यत्' 'जघान' 'अशयत्' इन क्रियाओं में लङ्, लिटादि का प्रयोग सामान्यकाल में है। सायणभाष्य में इनका भूतकालीन अर्थ करके बड़ी भूल की है और वेदों में काल्पनिक पौराणिक कथाओं का समावेश करने का दुस्साहस मात्र किया है। महर्षि दयानन्द ने मन्त्र की सुसंगत व्याख्या की है और उपमान-उपमेय भाव को भी भलीभांति समझाया है॥ ७॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **इन्द्रः(सूर्यलोकः)** देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनस्तौ परस्परं किं कुरुत इत्युपदिश्यते॥

फिर वे (मेघ और सूर्य) दोनों परस्पर क्या करते हैं, यह उपदेश किया जाता है॥

नदं न भिन्नममुया शयानं मनो रुहाणा अति यन्त्यापः।
याश्चिद्वृत्रो महिना पर्यतिष्ठत्तासामहिः पत्सुतः शीर्बभूव॥ ८॥

नदम्। न। भिन्नम्। अमुया। शयानम्। मनः। रुहाणाः। अति। यन्ति। आपः। याः। चित्। वत्रः। महिना। परिऽअतिष्ठत्। तासाम्। अहिः। पत्सुतःऽशीः। बभूव॥ ८॥

पदार्थः—(**नदम्**) महाप्रवाहयुक्तम् (**न**) इव (**भिन्नम्**) विदीर्णतटम् (**अमुया**) पृथिव्या सह (**शयानम्**) कृतशयनम् (**मनः**) अन्तःकरणमिव (**रुहाणाः**) प्रादुर्भवन्त्यश्चलन्त्यो नद्यः (**अति**) अतिशयार्थे (**यन्ति**) गच्छन्ति (**आपः**) जलानि। **आप इत्युदकनामसु पठितम्।** निघं० १। १२। (**याः**) मेघमण्डलस्थाः

---

१. अपात् वज्रेण च्छिन्नत्वात् पादरहितः अहस्तः हस्तरहितः वृत्रः इन्द्रम् उद्दिश्य अपृतन्यत् पृतनां युद्धमैच्छत्। द्वेषाधिक्येन बहुधा विद्धोऽपि युद्धं न परित्यक्तवानित्यर्थः। अस्य हस्तपादहीनस्य वृत्रस्य सानौ पर्वतसानुसदृशे प्रौढस्कन्धे अधि उपरि वज्रम् आजघान इन्द्रः आभिमुख्येन प्रक्षिप्तवान्। अशक्तस्यापि युद्धेच्छायां दृष्टान्तः। वध्रिः छिन्नमुष्कः पुरुषः वृष्णः रेतःसेचनसमर्थस्य पुरुषान्तरस्य प्रतिमानं सादृश्यं बुभूषन् प्राप्तुमिच्छन् यथा न शक्नोति तद्वदयमिति शेषः। सः वृत्रः पुरुत्रा बहुष्ववयवेषु व्यस्तः विविधं क्षिप्तः ताडितः सन् अशयत् भूमौ पतितवान्॥ (सायणः)

(**चित्**) एव (**वृत्रः**) मेघः (**महिना**) महिम्ना । अत्र **छान्दसोवर्णलोपो वा** इति मकारलोपः । (**पर्यतिष्ठत्**) सर्वत आवृत्य स्थितः (**तासाम्**) अपां समूहः (**अहिः**) मेघः (**पत्सुतःशीः**) यः पादेष्वधःशेते सः । अत्र सप्तम्यन्तात्पादशब्दात् **इतराभ्योपि दृश्यन्ते** । अ० ५ । ३ । १४ । इति तसिल् । **वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति** इति विभक्तेर्लुक् । **शीङ्धातोः क्विप् च** । (**बभूव**) भवति । अत्र **लडर्थे लिट्** ॥ ८ ॥

प्रमाणार्थ—(**आपः**) यह पद निघण्टु (१ । १२) में उदक-नामों में पढ़ा है—उदक=जल । यहां 'छान्दसो वर्णलोपो वा' (महा० ८ । २ । २५) इस वार्त्तिक सूत्र से मकार वर्ण का लोप है । (**पत्सुतःशीः**) यहां सप्तम्यन्त पाद शब्द से 'इतरेभ्योऽपि दृश्यन्ते' (अ० ४ । ३ । १४) इस सूत्र से तसिल् प्रत्यय है, 'वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति' (महा० १ । ४ । ९) इस परिभाषा से विभक्ति का लुक् नहीं है और 'शीङ्' धातु से क्विप् प्रत्यय है । (**बभूव**) यहां 'लट्' लकार के अर्थ में लिट् लकार है ॥ ८ ॥

अन्वयः—भो महाराज त्वं यथायं वृत्रो मेघो महिना स्वमहिम्ना पर्यतिष्ठन्निरोधको भूत्वा सर्वतः स्थितोऽहिर्हतः सन् तासामपां मध्ये स्थितः पत्सुतःशीर्बभूव भवति तस्य शरीरं मनोरुहाणा याश्चिदेवान्तरिक्षस्था आपो भिन्नशयानं यन्ति गच्छन्ति नदं नेवामुया भूम्या सह वर्त्तन्ते तथैव सर्वान् शत्रून् बद्ध्वा वशं नय ॥ ८ ॥

स्वपदार्थान्वयः—भो महाराज ! त्वं **यथाऽयं वृत्रः=मेघः महिना=स्वमहिम्ना परि+अतिष्ठत्=निरोधको भूत्वा सर्वतः स्थितः** सर्वत आवृत्य स्थित **अहिः** मेघः **हतः सन् तासाम्=अपां मध्ये स्थितः पत्सुतःशीः** यः पादेष्वधः शेते सः **बभूव=भवति । तस्य शरीरं मनः** अन्तःकरणमिव **रुहाणाः** प्रादुर्भवन्त्यश्चलन्त्यो नद्यः **याः** मेघमण्डलस्थाः **चिद्=एवाऽन्तरिक्षस्था आपः** जलानि **भिन्नं** विदीर्णतटं **शयानं** कुतशयनं [**अति**] **यन्ति** अतिशयं **गच्छन्ति नदं** महाप्रवाहयुक्तं **न=इव अमुया=भूम्या** पृथिव्या **सह वर्त्तन्ते, तथैव सर्वान् शत्रून् बद्ध्वा वशं नय** ॥ ८ ॥

भाषार्थ—हे महाराज आप—जैसे यह (**वृत्रः**) मेघ (**महिना**) अपनी महिमा से (**परि+अतिष्ठत्**) निरोधक होकर सब ओर स्थित हुआ (**अहिः**) मेघ हनन किया हुआ (**तासाम्**) उन जलों के मध्य में अवस्थित होकर (**पत्सुतःशीः**) पैरों में नीचे शयन करने वाला (**बभूव**) होता है, उसके शरीर एवं (**मनः**) अन्तःकरण के समान (**रुहाणाः**) नदी रूप में चलते हुये (**याः**) जो मेघमण्डल में स्थित (**चित्**) और वही अन्तरिक्ष में विद्यमान (**आपः**) जल (**भिन्नम्**) भेदन तथा (**शयानम्**) शयन भाव को ([**अति**] **गच्छन्ति**) सर्वथा प्राप्त होते हैं । और (**नदम्**) महाप्रवाह से युक्त नद के (**न**) समान (**अमुया**) इस पृथिवी के साथ रहते हैं—वैसे सब शत्रुओं को बांधकर वश में करो ॥ ८ ॥

भावार्थः — अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ । यावज्जलं सूर्येण छेदितं वायुना सह मेघमण्डलं गच्छति तावत्सर्वं मेघ एव जायते, यदा जलाशयोऽतीव वर्द्धते तदा सघनपृतनः सन् स्वविस्तारेण सूर्यज्योतिर्निरुणद्धि, तं यदा सूर्यः स्वकिरणैश्छिनत्ति तदायमितस्ततो महानदं तडागं समुद्रं वा प्राप्य शेते, सोऽपि पृथिव्यां यत्र तत्र शयानः सन् मनुष्यादीनां पादाघ इव भवत्येवमधार्मिकोप्येधित्वा सद्यो नश्यति ॥ ८ ॥

भावार्थ—यहां उपमा और वाचकलुप्तोपमा अलंकार हैं । जितना जल सूर्य द्वारा छिन्न-भिन्न होकर वायु के साथ मेघमण्डल में जाता है, वह सब मेघ ही हो जाता है । जब जलसमूह अधिक बढ़ जाता है तब मेघ सघन और विद्युत् वाला होकर अपने विस्तार से सूर्य के प्रकाश को रोकता है, जब उसको सूर्य अपनी किरणों से तोड़ता है, तब यह इधर-उधर बड़े-बड़े नद, तालाब और समुद्र को प्राप्त होकर सोता है । और वह पृथ्वी पर इधर-

उधर मनुष्य आदि के पैरों के नीचे सोता हुआ सा प्रतीत होता है, ऐसे ही अधार्मिक मनुष्य भी बढ़कर जल्दी ही नष्ट हो जाता है ॥ ८ ॥

भाष्यसार—**मेघ और सूर्य परस्पर क्या करते हैं**—यह मेघ अपनी महिमा से निरोधक होकर सब ओर अवस्थित होता है। सूर्य के द्वारा हनन किया हुआ मेघ पैरों में नीचे शयन करनेवाला होता है। फिर जल मेघ के शरीर और अन्तःकरण के समान नदी रूप में चलते हैं। मेघमण्डल में तथा अन्तरिक्ष में विद्यमान जल सूर्य के द्वारा भेदन किये हुये पृथिवी पर शयन भाव को प्राप्त होते हैं। फिर महाप्रवाह से युक्त नद के रूप में इस पृथिवी पर चलते हैं। इस प्रकार सूर्य मेघ को अपने वश में कर लेता है। राजा भी सूर्य के समान सब शत्रुओं को बांधकर वश में करे ॥ ८ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में 'न पद उपमा-वाचक है, अतः उपमा अलंकार है। उपमा यह है कि सूर्य से भेदन किया हुआ मेघ नद के समान हो जाता है। उपमा-वाचक पद को लुप्त मानकर वाचक-लुप्तोपमा अलंकार भी है। उपमा यह है कि जैसे सूर्य मेघ को वश में करता है वैसे राजा सब शत्रुओं को वश में करे ॥ ८ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"इस पृथिवी पर पड़े हुए मृतक वृत्र को जल अतिक्रमण करके गति कर रहे हैं। जैसे वर्षाऋतु में जल नदियों के किनारों को तोड़कर अतिक्रमण करके जाते हैं। वे जल कैसे हैं? मनुष्यों के मनों को रुचिकर हैं। वृत्र ने जीवनकाल में जिन मेघस्थ जलों को रोका था, अब वह वृत्र उन जलों के पैरों के नीचे पड़ा हुआ है।"

इस मन्त्र में इन्द्र और वृत्र के युद्ध का आलंकारिक वर्णन किया गया है। जिसे सायण ने न समझकर वृत्र को असुर विशेष ही माना है। यद्यपि इस सूक्त में स्वयं सायण ने भी प्रथम चार मन्त्रों में मेघ के हनन की बात लिखी है। जहाँ मेघ के लिए 'अहि' शब्द का प्रयोग हुआ है, वहाँ सायण ने इसका मेघ ही अर्थ किया है। किन्तु जहाँ 'वृत्र' शब्द पढ़ा है, वहाँ असुर-विशेष ही मानकर व्याख्या की है। यह सायण की भ्रान्ति ही है। क्योंकि निरुक्त तथा निघण्टु में 'वृत्र' शब्द का अर्थ मेघ ही किया है। मेघ के छिन्न-भिन्न होने पर वह जलरूप होकर पृथिवी पर गिरता है। पृथिवी पर जल से भिन्न वृत्र का कोई शरीरविशेष नहीं रहता।

परन्तु सायणव्याख्या में स्पष्ट रूप से भूमि पर भी वृत्र का शरीर माना है, जिसे जल अतिक्रमण करके जाते हैं। क्या यह प्रत्यक्ष विरुद्ध नहीं है? क्या किसी ने वृष्टि होने पर वृत्र का शरीर भूमि पर पड़ा देखा है? अपनी काल्पनिक कथाओं के आवेश में प्रत्यक्ष के भी विरुद्ध लिख जाना क्या विद्वत्ता की बात कही जा सकती है? और मेघ के वृष्टि द्वारा भूमि पर गिरने पर मेघ को जलों के पैरों के नीचे की बात भी सायण की विज्ञानविरुद्ध है। वृष्टि होने पर जल से भिन्न मेघ की क्या स्थिति है? इसे सायण ने समझा ही नहीं है। यथार्थ वृष्टि होने पर जो जल पृथिवी पर तालाबादि में स्थित हो जाता है, वह पादस्थानीय कहलाता है ॥ ८ ॥ ●

---

१. अमुया अमुष्यां पृथिव्यां शयानं पतितं मृतं वृत्रम् आपः जलानि अतियन्ति अतिक्रम्य गच्छन्ति। तत्र दृष्टान्तः। भिन्नं बहुधा भिन्नकूलं नदं न सिन्धुमिव। यथा वृष्टिकाले प्रभूता आपो नद्याः कूलं भित्त्वा अतिक्रम्य गच्छन्ति तद्वत्। कीदृश्य आपः। मनो रुहाणाः नृणां चित्तमारोहन्त्यः। वृत्रः जीवनदशायां महिना स्वकीयेन महिम्ना याश्चित् या एव मेघगताः अपः पर्यतिष्ठत् परिवृत्य स्थितवान्। अहिः वृत्रो मेघः तासाम् अपां पत्सुतःशीः पादस्याधःशयानः बभूव ॥ (सायणः)

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः । **इन्द्रः** (सभाध्यक्षः) देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनः स कीदृशो भवतीत्युपदिश्यते ॥

फिर वह सभाध्यक्ष कैसा होता है, यह उपदेश किया जाता है ॥

नीचावया अभवद्वृत्र पुत्रेन्द्रो अस्या अव वधर्जभार ।
उत्तरा सूरधरः पुत्र आसीदानुः शये सहवत्सा न धेनुः ॥ ९ ॥

नीचाऽवयाः । अभवत् । वृत्रऽपुत्रा । इन्द्रः । अस्याः । अव । वधः । जभार । उत्ऽतरा । सूः । अधरः । पुत्रः । आसीत् । दानुः । शये । सहवत्सा । न । धेनुः ॥ ९ ॥

पदार्थः—(**नीचावयाः**) नीचानि वयांसि यस्य मेघस्य सः । (**अभवत्**) भवति । अत्र **वर्त्तमाने लङ्** । (**वृत्रपुत्रा**) वृत्रः पुत्र इव यस्याः सा (**इन्द्रः**) सूर्य्यः (**अस्याः**) वृत्रमातुः (**अव**) क्रियायोगे (**वधः**) वधम् । अत्र **हन्तेर्बाहुलकादौणादिकेऽसुनि बधादेशः** । (**जभार**) हरति । अत्र **वर्त्तमाने लिट्** । **हृग्रहोर्हस्य भश्छन्दसि वक्तव्यम्** इति भादेशः । (**उत्तरा**) उपरिस्थाऽन्तरिक्षाख्या (**सूः**) सूयत=उत्पादयति या सा माता । अत्र **सूङ् धातोः क्विप्** । (**अधरः**) अधस्थः (**पुत्रः**) (**आसीत्**) अस्ति । अत्र **वर्त्तमाने लङ्** । (**दानुः**) ददाति या सा । अत्र **दाभाभ्यां नुः** । उ० ३ । ३१ । इति नुः प्रत्ययः । (**शये**) शेते । अत्र **लोपस्त आत्मनेपदेषु** । अ० ७ । १ । ४१ । इति लोपः । (**सहवत्सा**) या वत्सेन सह वर्त्तमाना (**न**) इव (**धेनुः**) यथा दुग्धदात्री गौः ॥ ९ ॥

प्रमाणार्थ—(**अभवत्**) यहां वर्तमा कालन में 'लङ्' लकार है । (**बधः**) यहां 'हन्' धातु से बहुल करके औणादिक 'असुन्' प्रत्यय परे होने पर 'बध आदेश है । (**जभार**) यहां वर्तमानकाल में लिट् लकार है । "हृग्रहोर्हस्य भश्छन्दसि वक्तव्यम्' (महा० ८ । २ । ३२) इस वार्तिक सूत्र से 'ह' को 'भ' आदेश है । (**सूः**) यहाँ 'सूङ्' धातु से क्विप् प्रत्यय है । (**आसीत्**) यहाँ वर्तमान काल में 'लङ्' लकार है । (**दानुः**) यहाँ 'दाभाभ्यां नुः' (३ । ३१) इस उणादि सूत्र से 'नु' प्रत्यय है । (**शये**) यहां 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (अ० ७ । १ । ४१) इस सूत्र से तकार का लोप हुआ है—शेते ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे सभाध्यक्ष त्वं यथा **वृत्रपुत्रा** सूर्भूमिरुत्तरान्तरिक्षं वाऽभवदस्याः पुत्रस्य बधोबधमिन्द्रोऽवजभारानेनास्याः पुत्रो नीचावया अधर आसीत् । दानुः सहवत्सा धेनुः स्वपुत्रेण सह माता नेव च शये शेते तथा स्वशत्रून् पृथिव्या सह शयानान् कुरु ॥ ९ ॥

सपदार्थान्वयः— हे सभाध्यक्ष ! **त्वं यथा वृत्रपुत्रा** वृत्रः पुत्र इव यस्याः सा **सूः**=भूमिः सूयते=उत्पादयति या सा माता **उत्तरा**=अन्तरिक्षं वा उपरिस्थाऽन्तरिक्षाख्या **अभवत्** भवति । **अस्याः** वृत्रमातुः **पुत्रस्य वधः**=वधम् **इन्द्रः** सूर्यः **अव+जभार** अवहरति, **अनेनास्याः वृत्रमातुः पुत्रो नीचावयाः** नीचानि वयांसि यस्य मेघस्य सः **अधरः** अधस्थः **आसीत्** अस्ति । **दानुः** ददाति या सा **सहवत्सा** या वत्सेन सह वर्त्तमाना **धेनुः** यथा दुग्धदात्री गौः **स्वपुत्रेण सह माता**

भाषार्थ—हे सभाध्यक्ष ! आप—जैसे—(**वृत्रपुत्रा**) मेघ जिसका पुत्र तुल्य है वह (**सूः**) भूमि माता (**उत्तरा**) अथवा अन्तरिक्ष (**अभवत्**) है, (**अस्याः**) इस वृत्र=मेघ की माता के पुत्र का (**वधः**) वध (**इन्द्रः**) सूर्य (**अव+जभार**) करता है, इससे (**अस्याः**) इस वृत्र-माता का पुत्र (**नीचावयाः**) नीच=अल्प आयु वाला (**अधरः**) अन्तरिक्षमाता के नीचे स्थित (**आसीत्**) होता है । (**दानुः**) पदार्थों को देने वाली भूमि जैसे (**सहवत्सा**) बछड़े सहित (**धेनुः**) गाय हो (**न**) वैसे अपने पुत्र

न=इव च शये=शेते, तथा स्वशत्रून् पृथिव्या सह शयानान् कुरु ॥ ६ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालंकारः। वृत्रस्य द्वे मातरौ वर्त्तेते एका पृथिवी द्वितीयाऽन्तरिक्षं चैतयोर्द्वयोः सकाशादेव वृत्रस्योत्पत्तेः। यथा काचिद्गौः स्ववत्सेन सह वर्त्तते तथैव यदा जल-समूहो मेघ उपरि गच्छति तदऽन्तरिक्षाख्या माता स्वपुत्रेण सह शयानाइव दृश्यते। यदा च स वृष्टिद्वारा भूमिमागच्छति तदा भूमिस्तेन स्वपुत्रेण सह शयानेव दृश्यते। अस्य मेघस्य पितृस्थानो सूर्य्योऽस्ति तस्योत्पादकत्वात्। अस्य हि भूम्यन्तरिक्षे द्वे स्त्रियाविव वर्त्तेते यदा स जलमाकृष्य वायु-द्वारान्तरिक्षे प्रक्षिपति तदा स पुत्रो मेघो वृद्धिं प्राप्य प्रमत्त इवोन्नतो भवति सूर्यस्तमाहत्य भूमौ निपातयत्येवमयं वृत्रः कदाचिदुपरिस्थः कदाचि-दधःस्थो भवति तथैव राज्यपुरुषैः प्रजाकण्टकान् शत्रूनितस्ततः प्रक्षिप्य प्रजाः पालनीयाः ॥ ६ ॥

के साथ (शये) सोती-सी दीखती है—वैसे अपने शत्रुओं को पृथिवी के साथ शयन करने वालों के समान करो, अर्थात् उनका हनन करो ॥ ६ ॥

भावार्थ—यहां उपमा अलंकार है। मेघ की दो मातायें हैं। एक पृथ्वी और दूसरी अन्तरिक्ष, क्योंकि इन दोनों से ही मेघ की उत्पत्ति होती है, जैसे कोई गौ अपने बछड़े के साथ रहती है वैसे ही जब जल-समूह रूप मेघ ऊपर जाता है, तब अन्तरिक्ष नामक माता अपने पुत्र के साथ सोती हुई सी दीखती है, और जब वह वर्षा के द्वारा पृथिवी पर आ जाता है तब भूमि उस अपने पुत्र के साथ सोई हुई सी दीखती है। इस मेघ का पितृस्थानी सूर्य है, क्योंकि वह उसको उत्पन्न करता है। इस सूर्य की भूमि और अन्तरिक्ष दो स्त्रियों के समान हैं; जब वह जल को खींचकर वायु के द्वारा अन्तरिक्ष में फैंकता है, तब वह पुत्र मेघ बढ़कर प्रमत्त के समान उन्नत होता है, सूर्य उसको मारकर भूमि पर गिरा देता है, इस प्रकार यह मेघ कभी ऊपर होता है, कभी नीचे होता है। वैसे ही सभी राजपुरुष प्रजा के कण्टक शत्रुओं को इधर-उधर फैंककर प्रजा का पालन करें ॥ ६ ॥

भाष्यसार—**सभाध्यक्ष कैसा हो**—मेघ की दो मातायें हैं, एक भूमि और दूसरा अन्तरिक्ष। इनके पुत्र मेघ का सूर्य हनन करता है। जब जल-समूह रूप मेघ ऊपर जाता है तब अन्तरिक्ष नामक माता के नीचे अवस्थित होता है और वह अपने पुत्र के साथ सोती-सी दिखाई देती है। जब वर्षा के द्वारा मेघ भूमि पर आता है तब यह भूमि बछड़े के साथ जैसे गौ हो वैसे अपने पुत्र के साथ सोती-सी दृष्टिगोचर होती है। जैसे सूर्य मेघ का हनन करता है और उसे धराशायी बनाता है, वैसे सभाध्यक्ष राजा अपने शत्रुओं को धराशायी करे; उन्हें नष्ट करे ॥ ६ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में 'न' पद उपमा-वाचक है, अतः उपमा अलंकार है। उपमा यह है कि भूमि और अन्तरिक्ष रूप माता मेघ के साथ ऐसी दिखाई देती है जैसे बछड़े सहित गौ हो ॥ ६ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायणभाष्य[1] इस प्रकार है—"वृत्रासुर की माता वृत्र पुत्र को प्रहार

---

१. वृत्रपुत्रा वृत्रः पुत्रो यस्याः मातुः सेयं माता वृत्रपुत्रा नीचावयाः न्यग्भावं प्राप्ता हता अभवत् पुत्रं प्रहाराद् रक्षितुं पुत्रदेहस्योपरि तिरश्ची पतितवतीत्यर्थः। तदानीम् अयम् इन्द्रः अस्याः मातुः अव अधोभागे वृत्रस्योपरि वधः हननसाधनमायुधं जभार प्रहृतवान्। तदानीं सूः माता उत्तरा उपरिस्थिता पुत्रः तु अधोभागस्थितः आसीत्। सा च दानुः दानवी वृत्रमात्रा शये मृता शयनं कृतवती। दृष्टान्तः। धेनुः गौः सहवत्सा न यथा वत्ससहिता शयनं करोति तद्वत् ॥ (सायणः)

से बचाने के लिए वृत्र के ऊपर गिर गई। उस समय इस इन्द्र ने वृत्र की माता के नीचे वृत्र पर शस्त्र से प्रहार किया। उस समय माता ऊपर और पुत्र नीचे था। जैसे गाय अपने बछड़े को लेकर शयन करती है, वैसे ही राक्षसी वृत्र की माता वृत्र को लेकर शयन कर रही थी।"

इस मन्त्र में भी इन्द्र और वृत्र के युद्ध का आलंकारिक वर्णन है। जिसे सायण ने न समझकर देवों के राजा इन्द्र तथा वृत्र नामक राक्षस का युद्ध मानकर व्याख्या की है। और जो जिससे उत्पन्न हो वह उसका पुत्रवत् होता है, इसको भी न समझकर सायणभाष्य में वृत्रासुर की माता का भी वर्णन लिखा है। वृत्र का अर्थ यथार्थ में यहाँ मेघ है, उसकी माता=जन्म देने वाली कौन है? इस रहस्यमय पदार्थविद्या को सायण नहीं जानते थे, अतः काल्पनिक कथा का ही वर्णन लिख दिया। महर्षि दयानन्द ने इस विषय पर बहुत स्पष्ट करके लिखा है कि वृत्र (मेघ) की दो माताएँ हैं—भूमि और अन्तरिक्ष। इन दोनों ही से वृत्र की उत्पत्ति होती है। जब वाष्परूप में जल ऊपर जाता है, तब अन्तरिक्ष माता के साथ यह शयन करता है और जब वृष्टि द्वारा भूमि पर जलरूप में गिर जाता है, तब भूमि माता के साथ यह शयन करता है। और सूर्य वृत्र (मेघ) का उत्पादक होने से पितृस्थानीय है।

इस वृत्र तथा उसकी माता के रहस्य को न समझकर सायण ने पदों के सम्बन्ध में भी विपर्यय कर दिया है। 'नीचावयाः' पद पुल्लिग व स्त्रीलिंग में समान रूप है। उसका सम्बन्ध सायण ने वृत्रपुत्रा के साथ किया है और 'नीचे हैं हाथ जिसके' यह अर्थ किया है। यह सायण की असंगत व्याख्या है। क्योंकि जब वृत्र नामक कोई शरीरधारी राक्षस ही नहीं है, तो उसकी माता की सम्भावना ही नहीं और सायण के अपने पदार्थ की असंगति देखिए—दोनों हाथ जिसके नीचे हैं, ऐसी वृत्र की माता वृत्र को लिए शयन कर रही है। क्या यह व्यावहारिक दृष्टि से भी दोषयुक्त नहीं? कौन ऐसी माता है, जो बच्चे के नीचे दोनों हाथ करके शयन करती है? महर्षि ने इसका सम्बन्ध अधरः=नीचे स्थित वृत्र के साथ किया है क्योंकि यह वृत्र अन्तरिक्ष माता के नीचे स्थित होता है।

और मन्त्रोक्त 'दानुः' पद का अर्थ सायण ने दानवी (राक्षसी) किया है, यह भी यहाँ असंगत है। यौगिक प्रक्रिया से इसका अर्थ 'देने वाली' होता है। अन्तरिक्ष माता वृत्र को सूर्य की किरणों से आकृष्ट जलों को प्रदान कर वृत्र को बढ़ाती है। मन्त्रों के पदों के रूढ़ अर्थ करना वेदार्थ की शास्त्रीय शैली का परित्याग करना है। यदि सायण इस शैली को अपनाते, तो काल्पनिक कथाओं का समावेश कदापि नहीं कर पाते।

और मन्त्रोक्त 'अभवत्' 'अवजभार' 'आसीत्' इन क्रियाओं का भूतकालीन अर्थ करना भी वैदिक नियमों की उपेक्षा है। वेद में लङादिलकारों का सामान्यकाल में प्रयोग होता है। सायणा ने वेदार्थ करने में यह महती भूल की है कि उन्होंने लौकिक तथा वैदिक प्रयोगों के भेद को भी नहीं समझा॥ ९॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **इन्द्रः** (सभाध्यक्षः) देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनस्तस्य शरीरं कीदृशं क्व तिष्ठतीत्युपदिश्यते॥

फिर उस मेध का शरीर कैसा और कहां स्थित होता है, यह उपदेश किया जाता है॥

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्।
वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घन्तम् आशयदिन्द्रशत्रुः॥ १०॥

अतिष्ठन्तीनाम्। अनिऽवेशनानाम्। काष्ठानाम्। मध्ये। निऽहितम्। शरीरम्। वृत्रस्य। निण्यम्। वि। चरन्ति। आपः। दीर्घम्। तमः। आ। अशयत्। इन्द्रऽशत्रुः॥ १०॥

पदार्थः—(**अतिष्ठन्तीनाम्**) चलन्तीनामपाम् (**अनिवेशनानाम्**) अविद्यमानं निवेशनमेकत्रस्थानं यासां तासाम् (**काष्ठानाम्**) काश्यन्ते=प्रकाश्यन्ते यासु ता दिशः। **काष्ठा इति दिङ्नाम पठितम्।** निघं० १। ६। अत्र **हनिकुषिनी०** उ० २। २। इति क्थन् प्रत्ययः। (**मध्ये**) अन्तः (**निहितम्**) स्थापितम् (**शरीरम्**) शीर्यते=हिंस्यते यत्तत् (**वृत्रस्य**) मेघस्य (**निण्यम्**) निश्चितान्तर्हितम्। **निण्यमिति निर्णीतान्तर्हितनामसु पठितम्।** निघं० ३। २५। (**वि**) (**चरन्ति**) विविधतया गच्छन्त्यागच्छन्ति (**अपः**) जलानि (**दीर्घम्**) महान्तम् (**तमः**) अन्धकारम् (**आ**) समन्तात् (**अशयत्**) शेते। **बहुलं छन्दसि** इति शपो लुङ् न। (**इन्द्रशत्रुः**) इन्द्रः शत्रुर्यस्य स मेघः यास्कमुनिरेवमिमं मन्त्रं व्याचष्टे। **अतिष्ठन्तीनामनिविशमानानामित्यस्थावराणां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरं मेघः। शरीरं शृणातेः शम्नातेर्वा। वृत्रस्य निण्यं निर्णामं विचरन्ति विजानन्त्याप इति। दीर्घं द्राघतेस्तमस्तनोतेराशयदाशेतेरिन्द्रशत्रुरिन्द्रो शमयिता वा शातयिता वा तस्मादिन्द्रशत्रुस्तत्को वृत्रो मेघ इति नैरुक्ताः।** निरु० २। १६॥ १०॥

प्रमाणार्थ—(**काष्ठानाम्**) 'काष्ठा' यह पद निघण्टु (१। ६) में दिक्-नामों में पढ़ा है। यहां 'हनिकुषिनी० (२। २) इस उणादि सूत्र से 'क्थन्' प्रत्यय है। (**निण्यम्**) यह पद निघण्टु (३। २५) में निर्णीतान्तर्हितनामों में पढ़ा है। (**अशयत्**) यहां 'बहुलं छन्दसि' (अ० २। ४। ७३) इस सूत्र से शप् विकरण प्रत्यय का लुक् नहीं हुआ है। यास्क ने इस मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार की है—कभी न रुकने वाले, अस्थावर जलों के मध्य में मेघ का शरीर स्थित है। शरीरम्—यह पद 'शृ' अथवा 'शम्' धातु से उणादि (४। ३०) सूत्र से 'ईरन्' प्रत्यय होकर बना है। मेघ के निचले भाग में जल विचरण करते हैं। (**दीर्घम्**) यह पद द्राघृ' आयामे धातु से 'अप्' प्रत्यय होकर बना है। (**तमः**) यह पद 'तनु विस्तारे धातु से उणादि सूत्र (४। १८९) से 'असुन्' प्रत्यय होकर बना है। 'अशयत्' पद की सिद्धि 'आङ्' उपसर्ग पूर्वक 'शीङ्' स्वप्ने धातु से होती है। इन्द्रशत्रु=इन्द्र-वृत्र को शान्त करने वाला अथवा काटने वाला है। इसी से उसे इन्द्रशत्रु 'वृत्र' कहा गया है। तब वृत्र कौन है? वृत्र मेघ है। यह मत निरुक्त के आचार्यों का है॥ निरु० २। १६॥ १०॥

अन्वयः—भोः सभेश त्वया यथा यस्य मेघस्य निवेशनानामतिष्ठन्तीनामपां निण्यं शरीरं काष्ठानां दिशां मध्ये निहितमस्ति, यस्य च शरीराख्या आपो दीर्घं तमो विचरन्ति स इन्द्रशत्रुर्मेघस्तासामपां मध्ये समुदायावयविरूपेणाशयत्समन्तताच्छेते तथा प्रजायाः द्रोग्धारः ससहायाश्शत्रवो बध्वा काष्ठानां मध्ये शाययितव्याः॥ १०॥

सपदार्थान्वयः—भोः **सभेश** ! **त्वया यथा यस्य** [**वृत्रस्य**]=**मेघस्यानिवेशनानाम्** अविद्यमानं निवेशनमेकत्रस्थानं यासां तासाम् **अतिष्ठन्तीनाम्** चलन्तीनाम् **अपां निण्यं** निश्चितान्तर्हितं **शरीरं** शीर्यते=हिंस्यते यत्तत् **काष्ठानां=दिशां** काश्यन्ते=**प्रकाश्यन्ते** यासु ता दिशस्तासां **मध्ये** अन्तः **निहितं** स्थापितम् **अस्ति, यस्य च शरीराख्या आपः** जलानि **दीर्घं महान्तं तमः** अन्धकारं **वि+चरन्ति** विविधतया गच्छन्त्याऽऽगच्छन्ति, **स इन्द्रशत्रुः=मेघः** इन्द्रः शत्रु-

भाषार्थ—हे सभाध्यक्ष ! आप जैसे जिस [**वृत्रस्य**] मेघ का (**निवेशनानाम्**) एकत्र न रहने वाले (**अतिष्ठन्तीनाम्**) चलने वाले (**अपाम्**) जलों का (**निण्यम्**) निश्चित रूप से अन्तर्हित (**शरीरम्**) शरीर (**काष्ठानाम्**) दिशाओं के (**मध्ये**) मध्य में (**निहितम्**) स्थापित है, और जिसके शरीर रूप (**आपः**) जल (**दीर्घम्**) महान् (**तमः**) अन्धकार में (**वि+चरन्ति**) विचरण करते हैं, वह (**इन्द्रशत्रुः**) मेघ उन जलों के मध्य में समुदाय-अवयवी रूप से

यस्य स मेघः तासामपां मध्ये समुदायाऽवयविरूपेण आ+अशयत् समन्तात् शेते, तथा प्रजायाः द्रोग्धारः ससहायाश्शत्रवो बध्वा काष्ठानां काश्यन्ते= प्रकाश्यन्ते यासु ता दिशस्तासां **मध्ये** ऽन्तः **शाययितव्याः** ॥

(**आ, अशयत्**) सब ओर शयन करता है, वैसे प्रजा का द्रोह करनेवाले शत्रुओं को उनके सहायकों सहित बांधकर (**काष्ठानाम्**) सब दिशाओं के (**मध्ये**) मध्य में सुलाओ ॥ १० ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । सभापतेर्योग्यमस्ति यथाऽयं मेघोऽन्तरिक्षस्थास्वप्सु सूक्ष्मत्वान्न दृश्यते पुनर्यदा घनाकारो वृष्टिद्वारा जलसमुदायरूपो भवति तदा दृष्टिपथमागच्छति । परन्तु या इमा आप एकं क्षणमपि स्थितिं न लभन्ते किन्तु सर्वदैवोपर्यधोगच्छन्त्यागच्छन्ति च याश्च वृत्रस्य शरीरं वर्तन्ते ता अन्तरिक्षे स्थिता अतिसूक्ष्मा नैव दृश्यन्ते । तथा महाबलान् शत्रून् सूक्ष्मबलान् कृत्वा वशं नयेत् ॥ १० ॥

भावार्थ—यहाँ वाचकलुप्तोपमा अलंकार है । सभापति को योग्य है—जैसे यह मेघ अन्तरिक्ष में ठहरने वाले जलों में सूक्ष्मता से नहीं दीखता, फिर जब वृष्टि द्वारा जल समुदायरूप घनाकार होता है, तब दिखाई पड़ता है । परन्तु जो ये जल हैं एक क्षण भी स्थिर नहीं होते; किन्तु सदा ऊपर और नीचे आते जाते रहते हैं और जो मेघ के शरीर रूप हैं, वे अन्तरिक्ष में रहते हुए अति सूक्ष्म हैं, इस लिये नहीं दीखते, वैसे महाबलवान् शत्रु को अल्प बलवाला करके वश में करें ॥ १० ॥

भाष्यसार—**मेघ का शरीर कैसा है और कहां स्थित होता है**—एकत्र न रहनेवाले चलने वाले मेघ रूप जलों का अन्तर्हित शरीर दिशाओं के मध्य में स्थापित है । मेघ के शरीर रूप जल महान् अन्धकार में विचरण करते हैं और मेघ अवयवी रूप से उन जलों में सर्वत्र विद्यमान है । जैसे मेघ सब दिशाओं में शयन करते हैं वैसे सभाध्यक्ष अपने शत्रुओं को सब दिशाओं में सुलावे, उन्हें समाप्त करे ॥

अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है, अतः वाचकलुप्तोपमा अलंकार है । उपमा यह है कि जैसे मेघ अवयवी रूप से सब दिशाओं में शयन करता है, वैसे सभाध्यक्ष राजा अपने शत्रुओं को सब दिशाओं में शयन करावे, उन्हें समाप्त करे ॥ १० ॥

अन्यत्र व्याख्यात—(अतिष्ठन्तीनां०) वृत्र के इस जलरूप शरीर से बड़ी-बड़ी नदियाँ उत्पन्न होके अगाध समुद्र में जाकर मिलती हैं और जितना जल तालाब वा कूप आदि में रह जाता है, वह मानो पृथिवी में शयन कर रहा है । (ऋ० भू० ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः)

समीक्षा—इस मन्त्र का सायणभाष्य[1] इस प्रकार है—"वृत्रासुर के शरीर को जल विशेष रूप से अतिक्रमण करके बहते हैं । वृत्र का शरीर नामरहित है अर्थात् जल में मग्न होने से उसका नाम कोई भी नहीं जान पाता । स्थिति तथा उपवेशनरहित प्रवाहशील जलों में वृत्र का शरीर पड़ा होता है । जल में वृत्र के पड़ने पर वैसी ही दशा वृत्र की होती है, जैसे दीर्घनिद्रा को प्राप्त अर्थात् मरने वाले की दशा होती है ।"

यह सायणाचार्य की मन्त्र-व्याख्या मूल-मन्त्र से सर्वथा विपरीत होने से मिथ्या है । वृत्र मेघ

---

१. वृत्रस्य शरीरम् आपः विचरन्ति विशेषेण आक्रम्य प्रवहन्ति । कीदृशं शरीरम् । निर्ण्यं निर्नामधेयम् । अप्सुमग्नत्वेन तदीयं नाम न केनापि ज्ञायते । काष्ठानाम् अपां मध्ये निहितं निक्षिप्तम् । कीदृशानां काष्ठानाम् । अतिष्ठन्तीनां स्थितिरहितानां अनिवेशनानाम् उपवेशनरहितानां प्रवहणस्वभावत्वात् एतासां मनुष्यवन्न क्वापि स्थितिः संभवति । इन्द्रशत्रुः वृत्रः जलमध्ये शरीरे प्रक्षिप्ते सति दीर्घतमः दीर्घं निद्रात्मकं मरणं यथा भवति तथा आशयत् सर्वतः पतितवान् ॥ (सायणः)

का नाम तब तक ही रहता है, जब तक वृष्टि नहीं होती। वृष्टि होने पर 'वृत्र' नाम नहीं रहता। यह यास्क के 'वृत्र' शब्द के निर्वचन से तो स्पष्ट है ही, साथ ही यास्क की मन्त्र-व्याख्या से भी स्पष्ट है। मन्त्र में कहा है कि कहीं न रुकने वाले अन्तरिक्षस्थ अस्थावर जलों में मेघ निहित है। वर्षाकाल में जब बादल की काली घटा उठती है, उसमें जल के अधिक घने होने के कारण वह नीचे की ओर झुक जाता है, यही 'आपः वृत्रस्य निण्यं विचरन्ति=जलों का मेघ के निम्न-प्रदेश की ओर विचरना है। और तब यह 'इन्द्रशत्रुः दीर्घं तमः आशयत्'=वृत्र गाढ अन्धकार को फैलाता है।

परन्तु सायणाचार्य लिखते हैं कि (वृष्टि होने के बाद') वृत्र के शरीर को अस्थिर जल अतिक्रमण करके बहते हैं। इस व्याख्या की मन्त्र के उत्तरार्ध के साथ बिल्कुल भी संगति नहीं लगती। क्योंकि इन्द्रशत्रु=वृत्र दीर्घं तमः=गाढ अन्धकार अब नहीं फैला सकता। गहनान्धकार तो काली बादलों की घटा होने तक ही रहता है, वर्षा के बाद नहीं। और वृत्र मेघ का ही नाम है। जब इन्द्र के द्वारा मारने पर मेघस्थ जल पृथिवी पर गिर जाता है, तब जल से भिन्न वृत्र की सत्ता ही कुछ नहीं होती। पुनरपि सायण का यह लिखना कितना उपहास्यास्पद तथा वृष्टि-विज्ञान से अनभिज्ञता ही प्रकट करना है कि प्रवाहशील जल वृत्र के शरीर का अतिक्रमण करके बह रहे हैं। और सायण की व्याख्या में असंगति देखिए—मन्त्र के पूर्वार्द्ध में लिखा है कि अस्थिर जलों के मध्य वृत्र का शरीर फेंक दिया गया और उत्तरार्द्ध में लिखते हैं कि जल वृत्र के शरीर को अतिक्रमण करके जा रहे हैं, और वह शरीर नामरहित है। यहाँ वृत्र का शरीर नाम-रहित कैसे हो सकता है, जबकि सायण स्वयं 'वृत्र का शरीर' ऐसी व्याख्या कर रहे हैं। यथार्थ में 'निण्यं=निर्णामं' का यहां निम्न प्रदेश ही संगत होता है। धात्वर्थ के अनुसार यह अर्थ ठीक भी है। और यद्यपि 'काष्ठा' पद जल तथा दिशा दोनों अर्थों में आता है, पुनरपि यहाँ 'दिशा' अर्थ ही अधिक उपयुक्त है। अन्तरिक्षस्थ जल भी अस्थिर होते हैं और दिशाओं में मेघरूप में स्थित होते हैं। 'काष्ठा' पद का जल अर्थ इसलिए संगत नहीं है कि जब वत्र मेघस्थ जल से भिन्न कुछ नहीं है, तो उसका 'शरीर जलों में निहित है' यह ठीक नहीं प्रतीत होता। यदि इसका भाव यह लिया जाए कि वृत्र मेघस्थ जलमय ही है, उससे भिन्न कुछ नहीं, अतः ऐसा कहा गया है, तो सायण की अपनी मान्यता समाप्त हो जाती है कि वृत्र एक राक्षसविशेष शरीरधारी है। अतः सायण की मन्त्र-व्याख्या मूल-मन्त्र से विपरीत, शास्त्रविरुद्ध तथा असंगत होने से कदापि माननीय नहीं हो सकती। महर्षि ने 'निण्यम्' तथा 'काष्ठानाम्' पदों का जो अर्थ किया है, वह सप्रमाण किया है, उसमें कोई असंगति नहीं है॥ १०॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **इन्द्रः** (सभाध्यक्षः) देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनः सूर्यस्तं प्रति किं करोतीत्युपदिश्यते॥

फिर सूर्य उस मेघ के प्रति क्या करता है, यह उपदेश किया जाता है॥

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।
अपां बिलमपिहितं यदासीद्वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार॥ ११॥

दासपत्नीः। अहिगोपाः। अतिष्ठन्। निरुद्धाः। आपः। पणिनाऽइव। गावः। अपाम्। बिलम्। अपिहितम्। यत्। आसीत्। वृत्रम्। जघन्वान्। अप। तत्। ववार॥ ११॥

पदार्थः—(दासपत्नीः) दास=आश्रयदाता पतिर्यासां ताः। अत्र सुपां सुलुग् इति पूर्वसवर्ण-

आदेशः । (**अहिगोपाः**) अहिना=मेघेन गोपा=गुप्ता आच्छादिताः (**अतिष्ठन्**) तिष्ठन्ति । अत्र **वर्त्तमाने लङ्** । (**निरुद्धाः**) संरोधं प्रापिताः (**आपः**) जलानि (**पणिनेव**) गोपालेन वणिग्जनेनेव (**गावः**) पशवः (**अपाम्**) जलानाम् (**बिलम्**) गर्त्तम् (**अपिहितम्**) आच्छादितम् (**यत्**) पूर्वोक्तम् (**आसीत्**) अस्ति । अत्र **वर्त्तमाने लङ्** । (**वृत्रम्**) सूर्यप्रकाशावरकं मेघम् (**जघन्वान्**) हन्ति । अत्र **वर्त्तमाने लिट्** (**अप**) दूरीकरणे (**तत्**) द्वारम् (**ववार**) वृणोत्युद्घाटयति । अत्र वर्तमाने लिट्—यास्कमुनिरिमं मन्त्रमेवं व्याचष्टे दासपत्नीः, दासाधिपत्न्यः । दासो दस्यतेः, उपदासयति कर्माणि । अहिगोपा अतिष्ठन्नहिना गुप्ताः । अहिः, अयनात् एति अन्तरिक्षे । अयमपीतरोऽहिरेतस्मादेव, निह्नसित उपसर्गः, आहन्तीति । निरुद्धा आपः पणिनेव गावः । पणिर्वणिग् भवति । पणिः पणनात् । पणिक् पण्ये नेनेक्ति । अपां बिलमपि हितं यदासीत् । बिलं भरं भवति, बिभर्तेः । वृत्रं जघ्निवान् अपववार तत् ॥ निरुक्त २ । १७ ॥ ११ ॥

प्रमाणार्थ—(**दासपत्नीः**) यहाँ 'सुपां सुलुक्० (अ० ७ । १ । ३९) इस सूत्र से पूर्व सवर्ण आदेश है । (**अतिष्ठन्**) यहाँ वर्तमान काल में 'लङ्' लकार है । (**आसीत्**) यहाँ वर्तमान काल में लङ् लकार है । (**जघन्वान्**) यहाँ वर्तमान काल में लिट् लकार है । (**ववार**) यहां वर्तमानकाल में लिट् लकार है । यास्क मुनि ने इस मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार की है—आपः अर्थात् जल दासपत्नी हैं क्योंकि उनका आश्रयदाता मेघ पति=रक्षक है । मेघ कर्मों के उपदान से 'दास' कहलाता है । ये जल 'अहिगोपाः' हैं । मेघ में गुप्त हैं । मेघ को 'अहि' इसलिये कहते हैं कि यह अन्तरिक्ष में अयन=गमन करता है । साँप भी 'अहि' कहलाता है, वह वास्तव में 'आहि' है वह आहनन करता है । 'आ' उपसर्ग को ह्रस्व करने से 'अहिः' बनता है । जैसे वणिक् गौओं को बाड़े में बन्दकर देता है वैसे मेघ ने जलों को स्वयं में बन्द कर रखा है, यहाँ 'पणिः' का अर्थ वणिक् है । व्यवहार करने से वह 'पणि' कहलाता है (पण व्यवहारे स्तुतौ च) पण्य अर्थात् व्यवहार्य वस्तुओं को शुद्ध रखने से वही वणिक् कहलाता है । 'बिल' पद का अर्थ भरने वाला (भर) है वह जल से भर जाता है ॥

अन्वयः—हे सभापते यथा पणिनेव गावो दासपत्न्योऽहिगोपा येन वृत्रेण निरुद्धा आपोऽतिष्ठन् तिष्ठन्ति तासामपां यद्बिलमपिहितमासीदस्ति तं सविता जघन्वान् हन्ति हत्त्वा तज्जलगमन-द्वारमपववारापवृणोत्युद्घाटयति तथैव दुष्टाचारान् शत्रून्निरुध्य न्यायद्वारं प्रकाशितं रक्ष ॥ ११ ॥

सपदार्थान्वयः—हे सभापते ! **यथा पणिना** गोपालेन वणिग्जनेन **इव गावः** पशवः **[दासपत्नीः] दासपत्न्यः** दास=आश्रयदाता पति-र्यासां ताः **अहिगोपाः** अहिना=मेघेन गोपा=गुप्ता आच्छादिताः **येन [वृत्रं] वृत्रेण** सूर्यप्रकाशावरकेण मेघेन **निरुद्धाः** संरोधं प्रापिताः **आपः** जलानि **अतिष्ठन्=तिष्ठन्ति; तासामपां** जलानां **यत्** पूर्वोक्तं **बिलं** गर्त्तम् **अपिहितम्** आच्छादितम् **आसीत्=अस्ति तं सविता जघन्वान्=हन्ति, हत्त्वा तत्=जलगमन-द्वारम् अपववार=अपवृणोति=उद्घाटयति तथैव दुष्टाचारान् शत्रून्निरुध्य न्यायद्वारं प्रकाशितं रक्ष ॥**

भाषार्थ—हे सभाध्यक्ष ! आप जैसे (**पणिना**) गौओं के पालक वणिक् जन के द्वारा (**गावः**) गौ आदि पशु अभीष्ट स्थान पर रखे जाते हैं, वैसे (**दासपत्नीः**) आश्रयदाता मेघ जिनका पति है, वे (**अहिगोपाः**) मेघ से गुप्त=आच्छादित तथा **[वृत्रम्]** सूर्य-प्रकाश के आच्छादक मेघ से (**निरुद्धाः**) रोके हुये (**आपः**) जल (**अतिष्ठन्**) स्थित होते हैं, उन (**अपाम्**) जलों का (**यत्**) जो (**बिलम्**) गर्त्त=द्वार (**अपिहितम्**) आच्छादित (**आसीत्**) है, उसका (**सविता**) सूर्य (**जघन्वान्**) हनन करता है, और हनन करके (**तत्**) उस जल के गमन-द्वार को (**अपववार**) खोलता है,—वैसे ही दुष्टाचारी शत्रुओं को रोककर न्याय-द्वार को प्रकाशित रखो ॥

भावार्थः — अत्रोपमावाचकलुप्तोमा-

भावार्थ—यहाँ उपमा और वाचकलुप्तोपमा

अलङ्कारौ। यथा गोपालः स्वकीया गाः स्वाभीष्टे स्थाने निरुणद्धि पुनर्द्वारं चोद्घाट्य मोचयति, यथा वृत्रेण मेघेन स्वकीयमण्डलेऽपां द्वारमावृत्य ता वशं नीयन्ते, यथा सूर्यस्तं मेघं ताडयति तज्जलद्वारमपावृत्यापोविमोचयति, तथैव राजपुरुषैः शत्रून्निरुध्य सततं प्रजाः पालनीयाः ॥ ११ ॥

अलंकार हैं। जैसे गोपाल अपनी गौवों को अपने अभीष्ट स्थान में रोकता है, फिर द्वार खोलकर उनको छोड़देता है, वैसे वृत्ररूप मेघ अपने मण्डल में जलों के द्वार बन्द करके वश में कर लेता है। जैसे सूर्य इस मेघ को ताड़ित करता है, वह जल-द्वार को खोलकर जल को छोड़ देता है, वैसे ही राजपुरुष शत्रुओं को रोककर सदा प्रजा का शासन करें ॥ ११ ॥

भाष्यसार—**सूर्य मेघ के प्रति क्या करता है**—जैसे गौ आदि पशुओं का पालक वणिक् जन गौ आदि पशुओं को अपने अभीष्ट स्थान पर रोकता है, और फिर द्वार खोलकर उन्हें बन्धन से मुक्त कर देता है, वैसे—आश्रयदाता मेघ जिनका पति है वे, मेघ से आच्छादित एवं मेघ से निरुद्ध किये हुये जल उसमें अवस्थित रहते हैं। उनका द्वार आच्छादित होता है। सूर्य मेघ का ताड़न करता है और उसके जल-द्वार को खोलता है और उन्हें बन्धन से मुक्त करता है। सभाध्यक्ष राजा इसी प्रकार दुष्टाचारी शत्रुओं को रोककर, न्याय द्वार को प्रकाशित करे तथा प्रजा का सदा पालन करे ॥ ११ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में 'इव' पद उपमा-वाचक है, अतः उपमा अलंकार है। उपमा यह है कि जैसे गोपालक वणिक् जन गौ आदि पशुओं को बाड़े में रोकता और उन्हें यथा समय बन्धन से मुक्त करता है वैसे सूर्य जल को मेघ रूप बाड़े में रोकता है और यथासमय उसका ताडन करके जल-द्वार को खोल देता है। उपमा-वाचक पद को लुप्त मानकर वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि जैसे सूर्य मेघ में जल का अवरोध करता है वैसे सभाध्यक्ष राजा दुष्टाचारी शत्रुओं को कारागार में रोककर प्रजा का पालन करे ॥ ११ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"जैसे पणिनामक असुर ने गायों को चुराकर बिल में रखकर बिल के द्वार को ढककर गायों को रोक दिया था, वैसे ही विश्व के क्षय का जो हेतु वृत्र है, वह जिनका पति (स्वामी) है, तथा वृत्र ही जिनकी रक्षा करता है, ऐसे जलों के बिल को वृत्र ने रोक दिया था। इन्द्र ने वृत्र को मारा और वृत्र द्वारा किए जलों के निरोध को दूर किया।"

इस मन्त्र में 'आपः=वृष्टि जल' शब्द के दो विशेषण पठित हैं—'दासपत्नीः=दुष्काल से रक्षक' और अहिगोपाः=मेघ से छिपाया हुआ'। सायण ने भी 'दासः=वृत्र' तथा 'अहिः=वृत्रः' अर्थ किए हैं। जिनसे स्पष्ट है कि यदि सूर्य वृत्र=मेघ को छिन्न-भिन्न न करे, तो वृष्टि न होने से आच्छादक वृत्र कर्मों का क्षय कराने वाला ही हो जाए। और अहि और वृत्र दोनों पर्यायवाची हैं। 'अहिः का अर्थ सायण ने भी सर्वत्र मेघ ही किया है। इससे स्पष्ट है कि यह सूर्य व मेघ का ही आलंकारिक वर्णन है और सायण की कल्पित इन्द्र-वृत्रासुर की कथा का खण्डन हो जाता है। वृत्रासुर नामक व्यक्ति जलों का निरोध भी कैसे कर सकता है ?

मन्त्र में 'पणिनेव गावः' पदों से उपमा दी गई है। इसका अर्थ सायण ने एक ऐतिहासिक कथा

---

१. दासपत्नीः दासः विश्वोपक्षपणहेतुः वृत्रः पतिः स्वामी यासाम् अपां ताः दासपत्नीः। अत एव अहिगोपाः। अहिर्वृत्रो गोपा रक्षको यासां ताः। आपः निरुद्धाः अतिष्ठन् इति। तत्र दृष्टान्तः। पणिनेव गावः। पणिनामकोऽसुरो गा अपहृत्य बिले स्थापयित्वा बिलद्वारमाच्छाद्य यथा निरुद्धवांस्तथेत्यर्थः। अपां यत् बिलं प्रवहणद्वारम् अपिहितं वृत्रेण निरुद्धम् आसीत् तत् बिलं प्रवहणद्वारं वृत्रं जघन्वान् हतवान् इन्द्रः अप ववार अपवृतमकरोत् वृत्रकृतमपां निरोधं परिहृतवान्॥ (सायणः)

के आश्रय से किया है और 'पणि' को असुरविशेष माना है। किन्तु उनकी व्याख्या निरुक्त के विरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकती। निरुक्त में इसी मन्त्र की व्याख्या में लिखा है—

पणिर्वणिग् भवति। पणिः पणनात्॥ (निरु० २। १७)

अर्थात् 'पणि' कोई असुर नहीं है। 'पणिः' व्यापारी को कहते हैं। इस शब्द में व्यवहारार्थक 'पण्' धातु है। वणिग् व्यापारी होता है, क्योंकि वह प्रतिदिन 'पण्यं नेनेक्ति=व्यवहारार्थक वस्तुओं को शोधता है। और यहां उपमान-उपमेय भाव यही है कि जैसे वणिग् गायों को किसी बाडे या गोशाला में रोकता है, वैसे ही वृत्र जलों को रोकता है। धर्मशास्त्र में गो-पालन वणिग् का ही कर्म बताया है। और इन्द्र किरणरूप वज्र से वृत्र (मेघ) को छिन्न-भिन्न करके वृष्टि कराता है। अतः सायण-व्याख्या में 'पणि' असुर की कथा काल्पनिक ही है। स्कन्दस्वामी ने भी यहाँ 'पणिः' शब्द का 'वणिक्' अर्थ ही किया है॥ ११॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **इन्द्रः (सेनाध्यक्षः)** देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनस्तौ परस्परं किं कुरुत इत्युपदिश्यते॥

फिर वे सूर्य और मेघ दोनों परस्पर क्या करते हैं, यह उपदेश किया जाता है॥

अश्व्यो वारो अभवस्तदिन्द्र सृके यत्त्वा प्रत्यहन्देव एकः।
अजयो गा अजयः शूर सोममवासृजः सर्त्तवे सप्त सिन्धून्॥ १२॥

अश्व्यः। वारः। अभवः। तत्। इन्द्र। सृके। यत्। त्वा। प्रतिऽअहन्। देवः। एकः। अजयः। गाः। अजयः। शूर। सोमम्। अव। असृजः। सर्त्तवे। सप्त। सिंधून्॥ १२॥

पदार्थः—(**अश्व्यः**) योऽश्वेषु=वेगादिगुणेषु साधुः (**वारः**) वरीतुमर्हः (**अभवः**) भवति। अत्र सर्वत्र **वर्त्तमाने लङ् व्यत्ययश्च**। (**तत्**) तस्मात् (**इन्द्र**) शत्रुविदारक (**सृके**) वज्र इव किरणसमूहे। **सृक इति वज्रनामसु पठितम्**। निघं० २। २०। (**यत्**) यः। अत्र **सुपां०** इति सोर्लुक्। (**त्वा**) त्वां सभेशं राजानम् (**प्रत्यहन्**) प्रति हन्ति (**देवः**) दानादिगुणयुक्तः (**एकः**) असहायः (**अजयः**) जयति (**गाः**) पृथिवीः (**अजयः**) जयति (**शूर**) वीरवन्निर्भय (**सोमम्**) पदार्थरससमूहम् (**अव**) अधोऽर्थे (**असृजः**) सृजति (**सर्त्तवे**) सर्त्तुं=गन्तुम्। अत्र **तुमर्थे से०** इति तुमर्थे तवेन् प्रत्ययः। (**सप्त**) (**सिंधून्**) भूमौ महाजलाशयसमुद्रनदी-कूपतडागस्थांश्चतुरोऽन्तरिक्षे निकटमध्यदूरदेशस्थाँ स्त्रींश्चेति सप्त जलाशयान्॥ १२॥

प्रमाणार्थ—(**अभवः**) यहां वर्त्तमानकाल में लङ् लकार और व्यत्यय है (**सृके**) 'सृके' यह पद निघण्टु (२। २०) में वज्र-नामों में पढ़ा है। (**यत्**) यहां 'सुपां सुलुक्०' (अ० ७। १। ३९) इस सूत्र से 'सु' विभक्ति का लुक् है। (**सर्त्तवे**) यहाँ तुमर्थे से० (अ० ३। ४। ९) इस सूत्र से तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में 'तवेन्' प्रत्यय है॥ १२॥

अन्वयः—हे शूरसेनेशेन्द्र त्वं यथा यद् योऽश्व्यो वार एको देवो मेघः सूर्येण सह योद्धाऽभवो भवति, सृके स्वघनदलं प्रत्यहन् किरणान्प्रतिहन्ति, सूर्यस्तं मेघं जित्वा गा अजयो जयति सोममजयो जयति एवं कुर्वन् सूर्यो जलानि सर्त्तवे सर्त्तुमुपर्यधो गन्तुं सप्त सिंधूनवासृजः सृजति तथैव शत्रुषु चेष्टसे तत्तस्मात्त्वा त्वां युद्धेषु वयमधिकुर्मः॥ १२॥

सपदार्थान्वयः—हे शूर=सेनेश **भाषार्थ**—हे (शूर) वीर के समान निर्भय

वीरवन्निर्भय **इन्द्र** शत्रुविदारक ! **त्वं यथा यत्=योऽश्व्यः** यो अश्वेषु=वेगादिगुणेषु साधुः **वारः** वरीतुमर्हः **एकः** असहाय **देवः=मेघो** दानादिगुणयुक्तः **सूर्येण सह योद्धाऽभवः=भवति, सृके** वज्र इव किरणसमूहे **स्वघनदलं प्रति+अहन्=किरणान्प्रतिहन्ति, सूर्यस्तं मेघं जित्वा गाः** पृथिवीः **अजयोः=जयति; सोमं** पदार्थरससमूहम् **अजयः=जयति। एवं कुर्वन् सूर्यो जलानि सर्त्तवे=सर्त्तुं उपर्यधो गन्तुं सप्त सिन्धून्** भूमौ महाजलाशयसमुद्रनदीकूपतड़ागस्थांश्चतुरोऽन्तरिक्षे निकटमध्यदूरदेशस्थांस्त्रींश्चेति सप्त जलाशयान् **अव+असृजः=सृजित** अधः सृजति; **तथैव शत्रुषु चेष्टसे; तत्=तस्मात् त्वा=त्वां** त्वां सभेशं राजानं **युद्धेषु वयमधिकुर्मः** ॥ १२ ॥

(**इन्द्र**) शत्रुओं के विदारक सेनाध्यक्ष राजन् ! आप—जैसे (**यत्**) जो (**अश्व्यः**) वेग आदि गुणों में श्रेष्ठ (**वारः**) वरण करने योग्य (**एकः**) एक (**देवः**) दान आदि गुणों से युक्त मेघ सूर्य के साथ योद्धा (**अभवः**) होता है, वह (**सृके**) वज्र के तुल्य किरण-समूह में अपने मेघ-दल को (**प्रति+अहन्**) छोड़ता है, अर्थात् वह मेघ-दल से किरणों को रोकता है, सूर्य उस मेघ को जीतकर (**गाः**) पृथिवियों को (**अजयः**) जीतता है, और (**सोमम्**) पदार्थों के रस-समूह को (**अजयः**) जीतता है, ऐसा करता हुआ सूर्य जलों को (**सर्त्तवे**) ऊपर-नीचे जाने के लिये (**सप्त, सिन्धून्**) भूमि पर महान् जलाशय, समुद्र, नदी, कूप, तडाग चार और अन्तरिक्ष में निकट, मध्य और दूर देश में स्थित तीन इस प्रकार सात जलाशयों का (**अव+सृजः**) निर्माण करता है—वैसे ही शत्रुओं में चेष्टा करते हो, (**तत्**) इसलिये (**त्वा**) आपको युद्धों में हम अधिकृत करते हैं ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथा यदायं मेघः सूर्यस्य प्रकाशं निवारयति तदा, सूर्यः स्वकिरणैस्तं छित्वा भूमौ जलं निपातयत्यत एवायमस्य जलसमूहस्य गमनागमनाय समुद्राणां निष्पादनहेतुर्भवति, तथा प्रजापालको राजाऽरीन्निरुध्य शस्त्रैश्छित्वाऽधो नीत्वा प्रजाया धर्म्ये मार्गे गमनहेतुः स्यात् ॥ १२ ॥

भावार्थ—यहां उपमा अलंकार है। जैसे यह मेघ सूर्य के प्रकाश का निवारण करता है, तब सूर्य अपनी किरणों से उसको छिन्न-भिन्न करके भूमि पर जल को गिराता है इसलिए ही यह इस जल समूह के जाने आने के लिए समुद्रों के रचने का हेतु होता है। वैसे प्रजापालक राजा शत्रुओं को रोककर शस्त्र से काटकर, नीचे डालकर प्रजा को धर्मयुक्त मार्ग में चलाने का हेतु होवे ॥ १२ ॥

भाष्यसार—**सूर्य और मेघ परस्पर क्या करते हैं**—जो वेग आदि गुणों में श्रेष्ठ, वरण करने योग्य, एक, दान आदि गुणों से युक्त मेघ है, वह सूर्य के साथ योद्धा बनता है। वह सूर्य की किरणों के प्रति अपने मेघ-दल को छोड़ता है अर्थात् मेघ-दल से सूर्य-किरणों को रोकता है, सूर्य के प्रकाश का निवारण करता है। सूर्य उस मेघ को जीतकर भूमियों को जीतता है अर्थात् सूर्य अपनी किरणों से मेघ का छेदन करके भूमि पर जल को गिराता है। वह पदार्थों के रस-समूह को जीतता है सब पदार्थों में रस आधान करता है। सूर्य जल के गमन-आगमन के लिये सात प्रकार के समुद्रों (जलाशयों) का निर्माण करता है। इसी प्रकार सेनाध्यक्ष राजा शत्रुओं का छेदन करके प्रजा को धर्मयुक्त मार्ग में चलावे ॥ १२ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है अतः वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि जैसे सूर्य मेघ का छेदन करके पृथिवी पर जलों को समुद्र आदि विविध रूप में चलाता है वैसे सेनाध्यक्ष राजा शत्रुओं का छेदन करके प्रजा को धर्मयुक्त मार्ग में चलावे ॥ १२ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे इन्द्र ! एक अद्वितीय तथा सब शस्त्रास्त्रों में कुशल वृत्र ने जब तुम्हारे वज्र पर बदले में हमला किया, तब तुमने उसे वैसे ही सरलता से दूर कर दिया, जैसे घोड़े के (पूंछादि) के बालों से मक्खी आदि को सरलता से दूर कर दिया जाता है। और तुमने पणि द्वारा चुराई गई गायों को जीता। हे शूर इन्द्र ! तुमने सोम को जीता और गङ्गादि सात नदियों को प्रवाहित करने के लिए वृत्र द्वारा किए निरोध को दूर किया।"

इस मन्त्र की व्याख्या में भी सायण ने काल्पनिक कथा का आश्रय लिया है, जो कि मूलमन्त्र तथा सायण की अपनी व्याख्या से भी विरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकती। और यहाँ मन्त्रोक्त 'अश्व्यः, वारः' पदों का अर्थ सायण ने यह लिखा है कि 'जब वृत्र इन्द्र पर हमला करता है, तब इन्द्र अश्वसम्बन्धी बाल हो जाता है।' वेंकटमाधव ने भी यही अर्थ किया है। स्कन्दस्वामी ने इन्द्र को 'अश्व्यः=अश्व-पृष्ठ पर 'वारः=सवार' होना लिखा है। ये सभी अर्थ काल्पनिक होने से असंगत हैं। क्योंकि इन्द्र=सूर्य का और वृत्र=मेघ का नाम है, यह अनेक बार स्पष्ट किया जा चुका है। क्या यह पृथिवी से लाखों गुणा बड़ा सूर्य घोड़े का बाल हो सकता है ? अथवा सूर्य घोड़े पर सवार हो सकता है ? सूर्य के लिए कितना बड़ा घोड़ा चाहिए, यह भी कल्पना ही का विषय होगा।

महर्षि-दयानन्द ने 'अश्व्यो वारः' का सम्बन्ध मेघ के साथ किया है और यौगिक प्रकिया से इनका अर्थ 'वेगादि गुणों में श्रेष्ठ, वारः=वरण करने योग्य' किया है। इस अर्थ में कोई असंगति नहीं है। और 'अजयो गाः' 'अजयः सोमम्' इनका अर्थ भी सायण ने असंगत किया है। इन्द्र=सूर्य गायों को तथा सोम को जीतकर क्या करेगा ? यथार्थ में यहाँ गो शब्द निघण्टु के अनुसार पृथिवी का वाचक लेना चाहिए। सूर्य किरणों के द्वारा वृत्र=मेघ को छिन्न-भिन्न करके पृथिवी को जीतता है अर्थात् मेघ जो सूर्य के प्रकाश को रोककर पृथिवी पर नहीं जाने देता, सूर्य उस आवरण को हटा देता है. और सोम=निचोड़ा हुआ सोमरस विशेष नहीं, प्रत्युत सूर्य किरणों के द्वारा सभी उत्पन्न पदार्थों के रसों को ग्रहण करता है।

मन्त्र के अन्तिम चरण में कहा है कि इन्द्र 'सप्त-सिन्धून्' सात-समुद्रों का निर्माण करता है। इस से सायण की काल्पनिक कथा का स्पष्ट खण्डन हो जाता है। क्योंकि यदि इस प्रकरण को सूर्य व मेघ का वर्णन न मानकर देवराज इन्द्र और वृत्र राक्षस का युद्ध माना जाए, तो वृत्र के मरने पर समुद्रों का या नदियों का निर्माण कैसे सम्भव है ? और इस मन्त्र में सायण 'सिन्धून्' की व्याख्या 'गंगादि सात नदियाँ' की है। यद्यपि 'सिन्धु' शब्द का यौगिक प्रक्रिया से 'नदी' अर्थ भी होता है, किन्तु यहाँ 'समुद्र' या 'जलाशय' अर्थ ही उपयुक्त है। क्योंकि इन्द्र=सूर्य केवल नदियाँ को ही वृष्टि द्वारा प्रवाहित नहीं करता, प्रत्युत पृथिवीस्थ जलों का किरणों से आकर्षण कर अन्तरिक्ष में भी समुद्रों का निर्माण करता है। निरुक्त में 'सिन्धु' का निर्वचन भी इसी अर्थ की पुष्टि करता है—

सुषोमा सिन्धुः, यदेनामभिप्रसुवन्ति नद्यः। (निरु० ९ । २४)

अर्थात् सिन्धु समुद्र को भी कहते हैं, क्योंकि नदियाँ उसी तरफ बहती हैं। और नदियाँ सात

---

१. सृके वज्रे देवः दीप्यमानः सर्वायुधकुशलः एकः अद्वितीयः वृत्रः यत् यदा त्वा त्वां प्रत्यहन् प्रतिकूलत्वेन प्रहृतवान् तत् तदानीं त्वम् अश्व्यो वारः अश्वसंबन्धी वालः अभवः। यथाश्वस्य वालोऽनायासेन मक्षिकादीन् निवारयति तद्वत् वृत्रमगणयित्वा निराकृतवान् इत्यर्थः। किं च गाः पणिनापहृताः त्वम् अजयः जितवान्। हे शूर शौर्ययुक्त इन्द्र ! सोमम् अजयः जितवान्। सप्तसिन्धून् गंगाद्याः सप्त-संख्याका नदीः सर्त्तवे सत्तुं प्रवाहरूपेण गन्तुम् अवासृजः त्यक्तवान् ॥ (सायणः)

ही नहीं हैं। समस्त भूमण्डल में पता नहीं कितनी नदियाँ हैं। और इस मन्त्र में वृत्र को 'देवः' लिखा है, जिसका सायण ने दीप्यमानः अर्थ किया है। जिसे मन्त्र में देव कहा है, उसे राक्षस मानना क्या सायण की मान्यता मूल मन्त्र से विरुद्ध नहीं है ? और मन्त्रोक्त 'अभवः' 'अजयः' क्रियाओं की व्याख्या भूतकाल में करके सायण ने वैदिक-नियमों की उपेक्षा की है। वेद में लङादि लकार सामान्यकाल में प्रयुक्त होते हैं ॥ १२ ॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **इन्द्रः (सेनापतिः)** देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

एतयोरस्मिन् युद्धे कस्य विजयो भवतीत्युपदिश्यते ॥

इन सूर्य और मेघ के इस युद्ध में किस की विजय होती है, यह उपदेश किया जाता है ॥

नास्मै विद्युन्न तन्यतुः सिषेध न यां मिहमकिरद्ध्रादुनिं च ।
इन्द्रश्च यद्युयुधाते अहिश्चोतापरीभ्यो मघवा वि जिग्ये ॥ १३ ॥

न । अस्मै । विऽद्युत । न । तन्यतुः । सिषेध । न । याम् । मिहम् । अकिरत् । ह्रादुनिम् । च । इन्द्रः । च । यत् । युयुधाते इति । अहिः । च । उत । अपरीभ्यः । मघवा । वि । जिग्ये ॥ १३ ॥

पदार्थः—(न) निषेधार्थे (**अस्मै**) इन्द्राय=सूर्यलोकाय (**विद्युत्**) प्रयुक्ता स्तनयित्नुः (न) निषेधे (**तन्यतुः**) गर्जनसहिता (**सिषेध**) निवारयति। अत्र सर्वत्र **लडर्थे लङ्लिटौ**। (न) निवारणे (**याम्**) वक्ष्यमाणाम् (**मिहम्**) मेहति=सिंचति यया वृष्ट्या ताम् (**अकिरत्**) किरति=विक्षिपति (**ह्रादुनिम्**) ह्रादते=ऽव्यक्तान् शब्दान् करोति यया वृष्ट्या ताम्। अत्र **ह्रादधातोर्बाहुलकादौणादिक उनिः प्रत्ययः**। (च) समुच्चये (**इन्द्रः**) सूर्यः (च) पुनरर्थे (**यत्**) यः। अत्रापि **सुपां सुलुग्** इति सोर्लुक्। (**युयुधाते**) युध्येते (**अहिः**) मेघः (च) अन्योन्यार्थे (**उत**) अपि (**अपरीभ्यः**) अपूर्णाभ्यः सेनाक्रियाभ्यः। अत्र पृधातोः। **अच इः**। उ० ४। १४४। अनेन इः प्रत्ययः। **कृदिकारादक्तिनः**। अ० ४। १। ४५। अनेन ङीष् प्रत्ययः। **इदं पदं सायणाचार्येणाप्रमाणादपराभ्य इत्युशुद्धं व्याख्यातम्**। (**मघवा**) मघं=पूज्यं बहुविधं प्रकाशो धनं विद्यते यस्मिन् सः। **अत्रभूम्न्यर्थे मतुप्**। (**वि**) विशेषार्थे (**जिग्ये**) जयति ॥

प्रमाणार्थ—(**सिषेध**) यहाँ सब जगह लट् लकार के अर्थ में 'लुङ्' और 'लिट्' लकार हैं। (**ह्रादुनिम्**) यहाँ 'ह्राद्' धातु से बहुल करके 'औणादिक उनि' प्रत्यय है। (**यत्**) यहाँ 'सुपां सुलुक०' (अ० ७। १। ३९) इस सूत्र से 'सु' विभक्ति का लुक् है। (**अपरीभ्यः**) यहाँ 'पृ' धातु से अच=इः (४। १४४) इस' सूत्र से 'इः' प्रत्यय है 'कृदकारादक्तिनः' (अ० ४। १। ४५) इस वार्तिक सूत्र से 'ङीष्' प्रत्यय है। (**मघवा**) यहाँ भूमनिन्दाप्रशंसासु० (अ० ५। २। ९४) इस विधान से भूमा अर्थ में मतुप् प्रत्यय है—भूमा=अधिक ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे सेनापते त्वं यथा येनाहिनास्मा इन्द्राय प्रयुक्ता विद्युदेनं न सिषेध निवारयितुं न शक्नोति। तन्यतुर्गर्जनाप्यस्मै प्रयुक्ता न सिषेध निषेद्धुं समर्था न भवति योऽहिर्यां ह्रादुनिं मिहं वृष्टिं चाकिरत् प्रक्षिपति साऽप्यस्मै न सिषेध। अयमिन्द्रः परीभ्यः पूर्णाभ्यः सेनाभ्यो युक्त उताप्यपरीभ्यः सेनाभ्यो युक्तोऽहिर्मेघश्च=परस्परं युयुधाते। यद्यस्मादधिकबलयुक्तत्वान् मघवा तं मेघं विजिग्ये विजयते तथैव पूर्णं बलं संपाद्य शत्रून् विजयस्व ॥ १३ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **सेनापते** ! **त्वं** **भाषार्थ**—हे सेना पते ! आप—जैसे मेघ के

यथा येनाऽहिनाऽस्मै=**इन्द्राय**=सूर्य्यलोकाय **प्रयुक्ता विद्युद्** प्रयुक्ता स्तनयित्नुः **एनं न सिषेध**=**निवारयितुं न शक्नोति** न निवारयति। **तन्यतुः**=**गर्जना** गर्जनसहिता **अप्यस्मै** इन्द्राय=सूर्यलोकाय **प्रयुक्ता न सिषेध**=**निषेद्धुं समर्था न भवति। योऽहिः** मेघः **यां** वक्ष्यमाणां **ह्रादुनिं** ह्रादते=ऽव्यक्तान् शब्दान् करोति यया **वृष्ट्या** तां **मिहं**=**वृष्टिं** मेहति=सिञ्चति यया वृष्ट्या तां **च** पुनः **अकिरत्**=**प्रक्षिपति** किरति=विक्षिपति, **साऽप्यस्मै न सिषेध** निवारयति।

अयमिइन्द्रः सूर्यः **परीभ्यः**=**पूर्णाभ्यः सेनाभ्यो युक्त उत**=**अपि अपरीभ्यः**=**सेनाभ्यः** अपूर्णाभ्यः सेनाक्रियाभ्यः **युक्तोऽहि**=**मेघश्च**=**परस्परं युयुधाते** युध्येते।

यत् यस्मादधिकबलयुक्तत्वात् मघवा मघं=पूज्यं बहुविधं प्रकाशो धनं विद्यते यस्मिन् सः **तं मेघं वि+जिग्ये**=**विजयते** विशेषेण जयति **तथैव पूर्णं बलं सम्पाद्य शत्रून् विजयस्व॥ १३॥**

द्वारा (**अस्मै**) इस सूर्य के लिये प्रयुक्त की हुई (**विद्युत्**) विद्युत् इसका (**न**) नहीं (**सिषेध**) निवारण करती है, **और** (**तन्यतुः**) गर्जना भी (**अस्मै**) इस सूर्य के लिये प्रयुक्त की हुई (**न, सिषेध**) नहीं रोकने में समर्थ होता है, जो (**अहिः**) मेघ (**याम्**) जिस (**ह्रादुनिम्**) अव्यक्त शब्द करनेवाली (**मिहम्**) वर्षा को (**च**) फिर (**अकिरत्**) फेंकता है, वह भी इसका निवारण नहीं कर सकती है। यह (**इन्द्रः**) सूर्य (**परीभ्यः**) पूर्ण सेना-क्रियाओं से युक्त (**उत**) और (**अपरीभ्यः**) अपूर्ण सेना-क्रियाओं से युक्त (**अहिः**) मेघ परस्पर (**युयुधाते**) युद्ध करते हैं (**यत्**) अधिक बल-युक्त होने से (**मघवा**) बहुत प्रकार के प्रकाश से युक्त सूर्य मेघ को (**वि+जिग्ये**) जीतता है—वैसे ही पूर्ण बल को सिद्ध करके शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो॥ १३॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। राजपुरुषैर्यथा वृत्रस्य यावन्ति विद्युदादीनि युद्धसाधनानि सन्ति, तावन्ति सूर्यापेक्षया क्षुद्राणि वर्तन्ते सूर्यस्य खलु युद्धसाधनानि तदपेक्षया महान्ति सन्ति। अत एव सर्वदा सूर्यस्य विजयो वृत्रस्य पराजयश्च भवति तथैव धर्म्मेण शत्रुविजयः कार्य्यः॥ १३॥

भावार्थ—यहाँ वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। सब राजपुरुष जैसे मेघ के जितने विद्युत् आदि युद्ध के साधन हैं; वे सूर्य की अपेक्षा निर्बल हैं; और सूर्य के युद्धसाधन उसकी अपेक्षा महान् हैं, इसलिए सदा सूर्य की विजय और मेघ की पराजय होती है—वैसे ही धर्म से शत्रु पर विजय करे॥

भाष्यसार—**सूर्य और मेघ के युद्ध में किसकी विजय होती है**—मेघ के द्वारा सूर्य के लिये प्रयुक्त की हुई विद्युत्, गर्जना और अव्यक्त शब्द करनेवाली वर्षा सूर्य का निवारण नहीं करती। सूर्य पूर्ण सेना-क्रियाओं से युक्त होकर तथा मेघ अपूर्ण सेना-क्रियाओं से युक्त होकर दोनों परस्पर युद्ध करते हैं। सूर्य अधिक बलवान् होने से विजय प्राप्त करता है और मेघ की पराजय होती है। इसी प्रकार सेनापति पूर्ण बल को सिद्ध करके शत्रुओं पर विजय प्राप्त करे॥ १३॥

अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है, अतः वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि जैसे सूर्य पूर्ण सेना-क्रियाओं से युक्त होकर वृत्र पर विजय प्राप्त करता है, वैसे सेनापति पूर्ण बल को सिद्ध करके शत्रुओं पर विजय प्राप्त करे॥ १३॥

अन्यत्र व्याख्यात—(**नास्मै०**) अर्थात् वह वृत्र अपने बिजली और गर्जन रूप भय से भी इन्द्र को कभी नहीं जीत सकता। इस प्रकार अलंकार रूप वर्णन से इन्द्र और वृत्र ये दोनों परस्पर युद्ध के समान करते हैं। अर्थात् जब मेघ बढ़ता है तब तो वह सूर्य के प्रकाश को हटाता है और जब सूर्य का ताप अर्थात् तेज बढ़ता है, तब वह वृत्र नाम मेघ को हटा देता है। परन्तु इस युद्ध के अन्त में इन्द्र नाम सूर्य ही का विजय होता है। (ऋ० भू० ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः)

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—इन्द्र को रोकने के लिए वृत्रासुर ने माया से जिन विद्युदादि को बनाया था, वे सब भी इन्द्र को न रोक सके। इन्द्र को रोकने के लिए बनाई विद्युत् इन्द्र तक प्राप्त नहीं हुई। गर्जन, वृत्र द्वारा कीगई वृष्टि तथा विद्युत् भी इन्द्र को रोक न सकीं। इन्द्र और वृत्र का जब युद्ध हुआ, तब विद्युदादि पहुँची ही नहीं। और धनवान् इन्द्र ने वृत्र द्वारा निर्मित दूसरी मायाओं पर भी विजय प्राप्त की।"

आचार्य-सायण ने इस मन्त्र की व्याख्या में भी इन्द्र-वृत्रासुर की काल्पनिक कथा का ही आश्रय किया है। इस विषय में इस सूक्त के १५ वें मन्त्र की समीक्षा द्रष्टव्य है। इस मन्त्र की सायण कृत व्याख्या में निम्नलिखित त्रुटियाँ हैं—

(१) मन्त्र-पठित 'सिषेध, अकिरत्, युयुधाते, विजिग्ये' क्रियाओं का सायण ने भूतकाल में अर्थ किया है। यह सायण की वैदिक नियमों की उपेक्षा है। वेद में लिट् आदि लकारों का सामान्य काल में प्रयोग होता है।

(२) मन्त्र के 'विद्युत्' तथा 'ह्रादुनिम्' पदों का सायण ने एक विद्युत् अर्थ किया है। यह सायण की भूल है। वेद-मन्त्रों में एकार्थक प्रतीत होनेवाले पदों में भी विशेषण-विशेष्य भाव होता है, किन्तु सायण ने दोनों पदों का पृथक्-पृथक् व्याख्यान किया है, जिससे सायण की अनभिज्ञता प्रकट होती है। महर्षि ने 'ह्रादुनि' पद को 'मिहम्' पद का विशेषण मानकर धातु अर्थ के अनुसार 'अव्यक्त शब्द करनेवाली वर्षा' अर्थ किया है। जिससे पुनरुक्तिदोष नहीं रहता।

(३) सायण ने मन्त्र के 'अपरीभ्यः' पद का 'अपराभ्यः' अर्थ किया है, यह अर्थ प्रमाणविरुद्ध होने से मिथ्या है। सायण ने केवल काल्पनिक कथा के आश्रय से यह अर्थ कर दिया है। महर्षि ने इसका यौगिक प्रक्रिया से 'अपूर्णाभ्यः' अर्थ किया है। जब युद्ध में सैनिक-क्रियाएँ अपूर्ण होती हैं, तब विजय की आशा नहीं रहती। इन्द्र की अपेक्षा वृत्र के साधन अपूर्ण=अल्पशक्ति वाले थे, अतः उसका पराजय हुआ।

(४) मन्त्र में इन्द्र के लिए 'मघवा' पद पठित है, जिसका सायण ने 'धनवान्' (इन्द्र) अर्थ किया है, यह अर्थ असंगत है। जब यहाँ इन्द्र का अर्थ सूर्य है, तो सूर्य का धन क्या होगा? महर्षि ने इसका 'प्रकाशरूप धनवाला' अर्थ किया है। यह अर्थ प्रकरण के अनुसार उचित है॥ १३॥ ●

अङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **इन्द्रः (योद्धा)** देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनस्तयोः परस्परं किं भवतीत्युपदिश्यते॥

फिर सूर्य और मेघ दोनों में परस्पर क्या होता है, यह उपदेश किया जाता है॥

---

१. इन्द्रं निषेद्धुं वृत्र यान् विद्युदादीन् मायया निर्मितवान् ते सर्वेऽप्येनं निषेद्धुमशक्ताः। अस्मै इन्द्रार्थं निर्मिता विद्युत् न सिषेध इन्द्रं न प्राप्नोत्। तथा तन्यतुः गर्जनं यां मिहं सेचनं यां वृष्टिम् अकिरत् वृत्रो विक्षिप्तवान् सापि वृष्टिं न सिषेध। ह्रादुनिं च अशनिमपि यां वृत्रः प्रयुक्तवान् सापि न सिषेध। इन्द्रश्च अहिश्च इन्द्रवृत्रावुभावपि यत् यदा युयुधाते युद्धं कृतवन्तौ तदानीं विद्युदादयो न प्राप्ता इति पूर्वत्रान्वयः। उत अपि च मघवा धनवान्इन्द्रः अपरीभ्यः अपराभ्यः अन्यासामपि वृत्रनिर्मितानां मायानां सकाशात् विजिग्ये विशेषेण जितवान्॥ (सायणः)

अहेर्यातारं कमपश्य इन्द्र हृदि यत्ते जघ्नुषो भीरगच्छत् ।
नव च यन्नवतिं च स्रवन्तीः श्येनो न भीतो अतरो रजांसि ॥ १४ ॥

अहेः । यातारम् । कम् । अपश्यः । इन्द्र । हृदि । यत् । ते । जघ्नुषः । भीः । अगच्छत् । नव । च । यत् । नवतिं । च । स्रवन्तीः । श्येनः । न । भीतः । अतरः । रजांसि ॥ १४ ॥

पदार्थः—(अहेः) मेघस्य (**यातारम्**) देशान्तरे प्रापयितारम् (**कम्**) सूर्यादन्यम् (**अपश्यः**) पश्येत् । अत्र **लिङर्थे लङ्** । (**इन्द्र**) शत्रुदलविदारकः योद्धः (**हृदि**) हृदये (**यत्**) घनम् (**ते**) तव (**जघ्नुषः**) हन्तुः सकाशात् (**भीः**) भयम् (**अगच्छत्**) गच्छति=प्राप्नोति । अत्र **सर्वत्र वर्त्तमाने लङ्** । (**नव**) संख्यार्थे (**च**) पुनरर्थे (**यत्**) (**नवतिम्**) (**च**) समुच्चयार्थे (**स्रवन्तीः**) गमनं कुर्वन्तीर्नदीर्नाडीर्वा । **स्रवन्त्य इति नदीनामसु पठितम्** । निघं० १ । १३ । स्रु धातोर्गत्यर्थत्वाद्रुधिरप्राणगमनमार्गा जीवनहेतवो नाड्योपि गृह्यन्ते । (**श्येनः**) पक्षी (**न**) इव (**भीतः**) भयं प्राप्तः (**अतरः**) तरति (**रजांसि**) सर्वाँल्लोकान् **लोका रजांस्युच्यन्ते** । निरु० ४ । १९ ॥ १४ ॥

प्रमाणार्थ—(**अपश्यः**) यहाँ लिट् लकार के अर्थ में लङ् लकार है । (**गच्छत्**) यहाँ वर्त्तमानकाल में लङ् लकार है । (**स्रवन्तीः**) 'स्रवन्त्यः' यह पद निघण्टु (१ । १३) में नद नामों में पढ़ा है । (**रजांसि**) निरुक्त (४ । १९) ने अनुसार लोक 'रजांसि' कहे जाते हैं ॥ १४ ॥

अन्वयः—हे इन्द्र योद्धर्यस्य शत्रून् जघ्नुषस्ते तव प्रभावोऽहेर्मेघस्य विद्युद्गर्जनादिविशेषात् प्राणिनो यद्याभीरगच्छत् प्राप्नोति विद्वान् मनुष्यस्तस्य मेघस्य यातारं देशान्तरे प्रापयितारं सूर्य्यादन्यं कमप्यर्थं न पश्येत् । स सूर्येण हतो मेघो भीतो नेव श्येनादिव कपोतः भूमौ पतित्वा नवनवतिर्नदीर्नाडीर्वा स्रवन्तीः पूर्णाः करोति यद्यस्मात्सूर्यः स्वकीयैः प्रकाशाकर्षणछेदनादिगुणैर्महान्वर्त्तते तत्तस्माद्रजांस्यतरः सर्वाँल्लोकान् संतरतीवास्ति स त्वं हृदि यं शत्रुमपश्यः पश्येस्तं हन्याः ॥ १४ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **इन्द्र** !=योद्धः शत्रुदलविदारक योद्धः **यस्य शत्रून् जघ्नुषः** हन्तुः सकाशात् **ते**=तव **प्रभावोऽहेः**=मेघस्य **विद्युद्गर्जनादिविशेषात् प्राणिनो यद्**=या **भीरगच्छत्**=प्राप्नोति गच्छति **विद्वान् मनुष्यस्तस्य मेघस्य यातारं**=देशान्तरे प्रापयितारं **सूर्य्यादन्यम् अप्यर्थं न [अपश्यः]**=पश्येत् । **स सूर्य्येण हतो मेघो भीतः** भयं प्राप्तः **न**=इव **[श्येनः]** पक्षी **श्येनादिव कपोतः भूमौ पतित्वा नव नवतिं नदीर्नाडीर्वा स्रवन्तीः**=पूर्णाः करोति ।

यत्=यस्मात्सूर्यः **स्वकीयैः प्रकाशाकर्षणछेदनादिगुणैर्महान्वर्त्तते, तत्तस्माद् रजांस्यतरः**=सर्वाँल्लोकान् **सन्तरतीवास्ति । स त्वं हृदि** हृदये **यं शत्रुमपश्यः**=पश्येः **तं हन्याः** ॥ १४ ॥

भाषार्थ—हे (**इन्द्र**) शत्रु-दल के विदारक योद्धा शत्रुओं का (**जघ्नुषः**) हनन करने वाले (**ते**) आपका प्रभाव—(**अहेः**) मेघ की विद्युत्-गर्जना आदि विशेष से प्राणियों को (**यत्**) जो (**भीः**) भय (**अगच्छत्**) प्राप्त होता है, विद्वान् मनुष्य उस मेघ को (**यातारम्**) देशान्तर में पहुँचानेवाले सूर्य से अन्य (**कम्**) किसी को भी न **[अपश्यः]** देखे, जाने । वह सूर्य से मारा हुआ मेघ **[श्येनः]** बाज से (**भीतः**) डरे हुये कबूतर के (**न**) समान भूमि पर गिरकर (**नव, नवतिम्**) असंख्य (**स्रवन्तीः**) नदियों या नाडियों को पूर्ण करता है । (**यत्**) जिससे सूर्य अपने प्रकाश, आकर्षण और छेदन आदि गुणों से महान् है; इसलिये (**रजांसि**) सब लोकों को (**अतरः**) तरता है, पार करता है; उसके समान है, सो आप (**हृदि**) हृदय में जिस शत्रु को (**अपश्यः**) देखो, उसका हनन करो ॥ १४ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः। राजभृत्या वीरा यथा केनचित् प्रहृतो भययुक्तः श्येनः पक्षी इतस्ततो गच्छति, तथैव सूर्येण हत आकर्षितश्च यो मेघ इतस्ततः पतन् गच्छति, स स्वशरीराख्येन जलेन लोकलोकान्तरस्य मध्येऽनेका नद्यो नाड्यश्च पिपर्त्ति। अत्र नवनवतिमितिपदमसंख्यातार्थेऽस्त्युपलक्षणत्वान्नह्येतस्य मेघस्य सूर्याद्भिन्नं किमपि निमित्तमस्ति, यथाऽन्धकारे प्राणिनां भयं जायते तथा मेघस्य सकाशाद्विद्युद्गर्जनादिभिश्च भयं जायते, तन्निवारकोपि सूर्य एव, तथा सर्वलोकानां प्रकाशाकर्षणादिभिर्व्यवहारहेतुरस्ति तथैव शत्रून् विजयेरन्॥ १४॥

भावार्थ—यहाँ उपमा अलंकार है। राजा के सेवक वीर पुरुष—जैसे किसी से प्रहार किया हुआ भययुक्त श्येन (बाज) पक्षी इधर-उधर जाता है वैसे ही सूर्य से ताड़ित और आकर्षित जो मेघ इधर-उधर गिरता हुआ चलता है, वह अपने शरीर नामक जल से लोक-लोकान्तरों के मध्य में अनेक नदियों और नालों को पूर्ण करता है। यहां नवनवति पद उपलक्षण होने से असंख्य अर्थ का द्योतक है। इस मेघ का सूर्य से भिन्न कोई निमित्त नहीं है। जैसे अन्धकार में प्राणियों को भय होता है, वैसे मेघ के पास विद्युत् आदि गर्जन से भय होता है। उसका निवारक भी सूर्य ही है। जैसे वह सब लोकों के प्रकाश और आकर्षण आदि से व्यवहारों का हेतु है—वैसे ही शत्रु को जीतें॥ १४॥

भाष्यसार—सूर्य और मेघ में परस्पर क्या होता है—मेघ की विद्युत्-गर्जना आदि विशेष से प्राणियों को भय प्राप्त होता है। विद्वान् मनुष्य उस मेघ को देशान्तर में पहुँचाने वाला सूर्य से भिन्न किसी अन्य को न समझे। जैसे बाज पक्षी से भयभीत कबूतर भूमि पर गिरता है, वैसे सूर्य से आहत मेघ भूमि पर गिरता है और असंख्य नदियों को जल से पूर्ण करता है। सूर्य अपने प्रकाश, आकर्षण और छेदन आदि गुणों से महान् है। इसलिये वह सब लोकों को तरता है, पार करता है। इसी प्रकार से वीर योद्धा शत्रु-दल के विदारक एवं उसका हनन करने वाले हों। उसका प्रभाव मन्त्रोक्त सूर्य के समान हो। वे हृदय में जिस शत्रुको देखें उसका हनन करें॥ १४॥

अलंकार—इस मन्त्र में 'न' पद उपमा-वाचक है। अतः उपमा अलंकार है। उपमा यह है कि जैसे बाज पक्षी से भयभीत कपोत भूमि पर गिरता है, वैसे सूर्य से मारा हुआ मेघ भूमि पर गिरता है॥ १४॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे इन्द्र! वृत्र को मारने वाले तेरे हृदय में यदि भय हो रहा है अर्थात् वृत्र को नहीं मारा है, ऐसी बुद्धि से भय प्राप्त होवे, तो वृत्र को मारने वाला किसको देखोगे। तुम्हारे से भिन्न ऐसे पुरुष के न होने से तुम्हें भय नहीं होना चाहिए। तुमने ९९ नदियों को प्राप्तकर उनके जलों को पार किया है। श्येन (बाज) नामक पक्षी की भांति दूर गमन से तुम्हें भय न हो।"

इस सायण-कृत व्याख्या में निम्नलिखित दोष हैं—

(१) आचार्य सायण ने इन्द्र-वृत्रासुर की काल्पनिक मिथ्या कथा का आश्रय करके मन्त्र की

---

१. हे इन्द्र! जघ्नुषः वृत्र हतवतः तव हृदि चित्ते यत् यदि भीरगच्छत् न हतवानस्मीति बुद्धया भयं प्राप्नुयात् तर्हि अहेः वृत्रस्य यातारं हन्तारं कमपश्यः त्वत्तोऽन्यं कं पुरुषं दृष्टवानसि। तादृशस्य पुरुषान्तरस्याभावात् मा भूत् तव भयमित्यर्थः। यत् यस्मात् कारणात् त्वं नव च नवतिं च स्रवन्तीः एकोनशतसंख्याकाः प्रवहन्तीर्नदीः प्राप्य रजांसि तत्रत्यान्युदकानि अतरः तीर्णवानसि। तत्र दृष्टान्तः। श्येनो न। श्येननामको बलवान् पक्षीव दूरगमनात्तव भयमासीदिति गम्यते। तद्भयं मा भूदित्यभिप्रायः॥ (सायणः)

व्याख्या की है, वह मूल मन्त्र से विरुद्ध होने से मिथ्या है। इसके आलंकारिक वर्णन की यथार्थता को इस सूक्त के १५ वें मन्त्र की समीक्षा में सप्रमाण देखिए।

(२) इस समस्त सूक्त का विलोडन करने से स्पष्ट है कि इन्द्र नाम यहाँ सूर्य का तथा वृत्र नाम मेघ का है। और ये दोनों ही अचेतन हैं, उनका युद्ध-वर्णन उपमार्थक ही है। इन जड़ पदार्थों में चित्तादि कदापि सम्भव नहीं है, अतः सायण को जड़-चेतन पदार्थों के धर्मों का भी ज्ञान नहीं है। महर्षि-दयानन्द ने उपमान-उपमेय भाव से मन्त्र की व्याख्या करते हुए 'इन्द्र' का श्लेष से दूसरा अर्थ 'योद्धा' किया है। और 'हृदि' पद का सम्बन्ध उससे किया है। महर्षि के अर्थ में उपर्युक्त दोष नहीं है।

(३) सायण-भाष्य में 'अपश्यः', अगच्छत्, अतरः' क्रियाओं के भूतकाल में अर्थ किये हैं, यह वैदिक नियमों का उल्लंघन ही है। वेद में लङादि लकरों का प्रयोग सामान्यकाल में होता है।

(४) आचार्य सायण ने यहाँ 'रजांसि' पद का 'उदकानि' तथा महर्षि-दयानन्द ने 'सर्वान् लोकान्' अर्थ किया है। यद्यपि 'रजस्' पद के दोनों अर्थ शास्त्र-सम्मत हैं किन्तु पृथिवी से लाखों गुणा बड़ा सूर्य नदियों के जलों को पार करें, यह असंगत कल्पना ही है। और 'स्रवन्तीः=नदियों को' कहने से जल का अतिक्रमण स्वयं ही हो जाता है। अतः इसका लोक अर्थ ही अधिक उपयुक्त है॥ १४॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **इन्द्रः** (सूर्यः) देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनः सूर्य कीदृशः इत्युपदिश्यते॥

फिर सूर्य कैसा है, यह उपदेश किया जाता है॥

इन्द्रो॑ यातोऽवसितस्य॒ राजा॒ शम॑स्य च शृङ्गिणो॒ वज्र॑बाहुः।
सेदु॒ राजा॑ क्षयति चर्षणी॒नाम॒रान्न नेमिः परि॒ ता ब॑भूव॥ १५॥

इन्द्रः। यातः। अवऽसितस्य। राजा। शमस्य। च। शृङ्गिणः। वज्रऽबाहुः। सः। इत्। ऊम् इति। राजा। क्षयति। चर्षणीनाम्। अरान्। न। नेमिः। परि। ता। बभूव॥ १५॥

पदार्थः—(इन्द्रः) सूर्यलोक इव सभासेनापती राज्यं प्रातः (**यातः**) गमनादिव्यवहारप्रापकः (**अवऽसितस्य**) निश्चितस्य चराचरस्य जगतः (**राजा**) यो राजते=दीप्यते प्रकाशते सः (**शमस्य**) शाम्यन्ति येन तस्य शान्तियुक्तस्य मनुष्यस्य (**च**) समुच्चये (**शृङ्गिणः**) शृङ्गयुक्तस्य गवादेः पशुसमूहस्य (**वज्रबाहुः**) वज्रः=शस्त्रसमूहो बाहौ यस्य सः (**सः**) (**इत्**) एव (**उ**) अप्यर्थे (**राजा**) न्यायप्रकाशकः सभाध्यक्षः (**क्षयति**) निवासयति गमयति वा (**चर्षणीनाम्**) मनुष्याणाम् (**अरान्**) चक्रावयवान् (**न**) इव (**नेमिः**) रथाङ्गम् (**परि**) सर्वतोऽर्थे (**ता**) तानि यानि जगतो दुष्टानि कर्माणि पूर्वोक्तांल्लोकान्वा। अत्र **शेश्छन्दसि बहुलम्** इति शेर्लोपः। (**बभूव**) भवेः। अत्र **लिङर्थे लिट्॥ १५॥**

प्रमाणार्थ—(**ता**) यहां 'शेश्छन्दसि बहुलम्' (अ० ६। १। ७०) इस सूत्र से 'शि' विभक्ति का लोप है। (**बभूव**) यहां लिङ् लकार के अर्थ में लिट् लकार है॥ १५॥

अन्वयः—सूर्य्य इव वज्रबाहुरिन्द्रो यातः सभापतिः [**राजा**] अवसितस्य शमस्य शृङ्गिणश्चर्षणीनां च मध्येऽरान्नेमिर्नेव ता तानि रजांसि परिक्षयति स चेदु—उतापि सर्वेषां राजा बभूव भवतु॥

सपदार्थान्वयः—सूर्य **इव वज्रबाहुः** वज्र=शस्त्रसमूहो बाहौ यस्य सः **इन्द्रः** सूर्यलोक इव सभासेनापती राज्यं प्राप्तः **यातः**=गमनादि-व्यवहारप्रापकः **सभापतिः** [**राजा**] यो राजते दीप्यते प्रकाशते सः **अवसितस्य** निश्चितस्य चराचरस्य जगतः **शमस्य** शाम्यन्ति येन तस्य शान्तियुक्तस्य मनुष्यस्य **शृङ्गिणः** शृंगयुक्तस्य गवादेः पशुसमूहस्य **चर्षणीनां** मनुष्याणां **च मध्येऽरान्** चक्रावयवान् **नेमिः रथाङ्गं न=इव ता=तानि रजांसि** तानि यानि जगतो दुष्टानि कर्माणि पूर्वोक्तांल्लोकान्वा **परि क्षयति** सर्वतो निवासयति गमयति वा स **चेदु=उतापि सर्वेषां राजा** न्यायप्रकाशकः सभाध्यक्षः **बभूव=भवतु** ॥

भाषार्थ—सूर्य के समान (**वज्रबाहुः**) बाहु में शस्त्र-समूह को धारण करने वाला (**इन्द्रः**) राज्य को प्राप्त सभापति और सेनापति (**यातः**) गमन आदि व्यवहारों का प्रापक [**राजा**] सर्वत्र प्रकाशमान होकर— (**अवसितस्य**) निश्चित चराचर जगत् के (**शमस्य**) शान्तियुक्त मनुष्य के (**शृङ्गिणः**) शृंगयुक्त गौ आदि पशुसमूह के और (**चर्षणीनाम्**) साधारण मनुष्यों के मध्य में (**अरान्**) अरों को धारण करने वाली (**नेमिः**) धुरी के (**न**) समान उन (**रजांसि**) जगत् के दुष्ट कर्मों को या पूर्वोक्त लोकों को (**परिक्षयति**) सब ओर निवास कराता या चलाता है, (**इत्, उ**) वही सबका (**राजा**) न्याय का प्रकाशक सभाध्यक्ष (**बभूव**) होवे ॥ १५ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः। अत्र पूर्व-मन्त्रात् रजांसीति पदमनुवर्त्तते। राजा—यथा रथचक्रमरान् धृत्वा चालयति, यथायं सूर्य्यश्चरा-चरस्य शान्ताशान्तस्य जगतो मध्ये प्रकाशमानः सन् सर्वांल्लोकान् धरन् स्वस्वकक्षासु चालयति, न चैतस्माद्विना कस्यचित्संनिहितस्य मूर्तिमतो लोकस्य धारणाकर्षणप्रकाशमेघवर्षणादीनि कर्माणि संभवितुमर्हन्ति तथा धर्मेण राज्यं पालयेत् ॥ १५ ॥

भावार्थ—यहां उपमा अलङ्कार है। यहां पूर्व मन्त्र से 'रजांसि' इस पद की अनुवृत्ति है। राजा—जैसे रथचक्र धुरियों को धारण करके चलाता है, जैसे यह सूर्य चराचर, शान्त-अशान्त जगत् के मध्य में प्रकाशमान होताहुआ सब लोकों को धारण करता हुआ, अपनी-अपनी परिधि में चलाता है, इस सूर्य के विना किसी निकटवर्ती मूर्तिमान् लोक का धारण, आकर्षण, प्रकाश, मेघवर्षण आदि कर्म नहीं हो सकते, वैसे धर्म से राज्य का पालन करे ॥ १५ ॥

भाष्यसार—**सूर्य कैसा है**—सूर्य किरणरूप शस्त्र-समूह को धारण करने वाला, गमन आदि व्यवहारों का प्रापक और सर्वत्र प्रकाशमान है। वह चराचर जगत् के मनुष्यों और गौ आदि पशुओं के मध्य में अरों को धारण करने वाली धुरी के समान सब लोकों का संचालन करता है तथा निवास का हेतु होता है। जो सूर्य के समान राज्य का संचालन करे वह सभाध्यक्ष होवे ॥ १५ ॥

अलङ्कार—इस मन्त्र में 'न' पद उपमा-वाचक है अतः उपमा अलंकार है। उपमा यह है कि सभाध्यक्ष राजा—जैसे रथचक्र रथ का और सूर्य लोकों का संचालन करता है वैसे राज्य का संचालन करे ॥ १५ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायणभाष्य[1] इस प्रकार है—"वज्र हाथ में लिए इन्द्र शत्रु के नष्ट

---

१. वज्रबाहुः इन्द्रः शत्रौ हते सति निःसपत्नो भूत्वा यातः गच्छतो जङ्गमस्य अवसितस्य एकत्रैव स्थितस्य स्थावरस्य शमस्य शान्तस्य शृंगराहित्येन प्रहरणादावप्रवृत्तस्याश्वगर्दभादेः शृंगिणः शृंगोपेतस्योग्रस्य महिषबलीवर्दादेश्च राजा अभूत्। सेदु स एवेन्द्रः चर्षणीनां मनुष्याणां राजा भूत्वा क्षयति निवसति। ता तानि पूर्वोक्तानि जङ्गमादीनि सर्वाणि परिबभूव व्याप्तवान्। तत्र दृष्टान्तः। अरान् न नेमिः। यथा रथचक्रस्य परितो वर्त्तमाना नेमिः अरान् नाभौ कीलितान् काष्ठविशेषान् व्याप्नोति तद्वत् ॥ (सायणः)

होने पर शत्रुरहित होकर जंगम तथा स्थावर जगत् का, शृंग रहित घोड़े-गवे आदि का, और शृंगधारी भैंस-बैलादि का राजा हो गया। वही इन्द्र मनुष्यों का राजा होकर निवास करता है और जंगमादि को व्याप्त किए हुए है। जैसे रथचक्र में नेमि=धुरी नाभि में लगे सब काष्ठों को व्याप्त करती है।"

इस सायणकृत मन्त्र-व्याख्या में निम्नलिखित दोष हैं—

(१) मन्त्र का देवता 'इन्द्र' है। इसकी कोई व्याख्या न करने से सायण का मन्त्रार्थ प्रकरण-रहित है।

(२) इन्द्र को मन्त्र में 'वज्रबाहुः' कहा है। इन्द्र और वृत्रासुर के इस आलंकारिक वर्णन से स्पष्ट है कि यहाँ इन्द्र का अर्थ सूर्य है। और उसके हाथादि अवयव ही नहीं हैं, फिर इस पद की संगति सायणभाष्य से नहीं लगती। सूर्य-परक अर्थ में इसका अर्थ—'वज्र=किरणें ही जिसके हाथ हैं' करना चाहिए। और श्लेष से इन्द्र का सेनापति अर्थ किया जाए तो 'वज्र बाहौ यस्य' अर्थ भी संगत होता है। सायण की काल्पनिक कथा के साथ इस पद की कोई संगति नहीं लगती।

(३) 'इन्द्र' को मन्त्र में 'राजा' कहा है। इस स्थावर=जंगम जगत् का मनुष्यों तथा पशुओं का इन्द्र=सूर्य प्रकाशक है। अतः 'राजा' पद का यहाँ 'राजृ दीप्तौ' धात्वर्थ के अनुसार ही अर्थ लगाना ठीक है। और सायण की काल्पनिक कथा का इससे (राजा पद से) खण्डन ही होता है। क्योंकि उस कथा में इन्द्र को देवों का राजा (स्वर्गस्थ) माना है। वह स्थावर-जंगमादि का राजा कैसे हो सकता है?

(४) मन्त्र में इन्द्र राजा को 'क्षयति' कहा है। जिसका सायण ने बिना समझे ही 'निवसति' अर्थ कर दिया है। यह अर्थ तो किसी भी पक्ष में सत्य नहीं है। काल्पनिक कथा का इन्द्र स्वर्ग में रहता है, यहाँ नहीं। और इन्द्र=सूर्य द्युलोक में स्थित है, यहाँ नहीं रहता। सूर्य पृथिवी से लाखों मील दूर है। महर्षि दयानन्द ने 'क्षि निवासगत्योः' धात्वर्थ के अनुसार पूर्व मन्त्र से 'रजांसि' (लोकान्) पद की अनुवृत्ति करके यह अर्थ किया है—यह इन्द्र=सूर्य सब लोकों को निकास कराता है और आकर्षण से सब ओर चलाता है। इस अर्थ में कोई असंगति नहीं है।

(५) आचार्य सायण ने इन्द्र को जंगमादि जगत् में व्याप्त भी माना है। यह भी उनकी भ्रान्ति ही है। सायण का काल्पनिक देव देवों का राजा स्वर्ग में रहता है, अतः वह तो व्याप्त नहीं है। और आलंकारिक पक्ष में इन्द्र=सूर्य भी व्याप्त नहीं है महर्षि ने 'परि' का सम्बन्ध 'क्षयति' के साथ करके बहुत ही सुन्दर व संगतिपूर्ण व्याख्या की है।

महर्षि दयानन्द ने इन्द्र और वृत्रासुर की पौराणिक कथा के विषय में स्पष्ट रूप से लिखा है—

"तीसरी इन्द्र और वृत्रासुर की कथा है, इसको भी पुराण वालों ने ऐसा धर के लौटा है कि वह प्रमाण और युक्ति इन दोनों से विरुद्ध जा पड़ी है। देखो कि त्वष्टा के पुत्र वृत्रासुर ने देवों के राजा इन्द्र को निगल लिया, तब सब देवता लोग बड़े भययुक्त होकर विष्णु के समीप गए और विष्णु ने उसके मारने का उपाय बतलाया कि में समुद्र के फेन में प्रविष्ट होऊँगा, तुम लोग उस फेन को उठाके वृत्रासुर को मारना, वह मर जायेगा। यह पागलों की सी बनाई हुई पुराण-ग्रन्थों की कथा सब मिथ्या है। श्रेष्ठ लोगों को उचित है कि इन को कभी न मानें।" (ऋ० भू० ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः)

"जब-जब मेघ वृद्धि को प्राप्त होकर पृथिवी और आकाश में विस्तृत होके फैलता है, तब-तब उसको सूर्य हनन करके पृथिवी में गिरा दिया करता है, पश्चात् वह अशुद्ध भूमि, सड़े हुए वनस्पति, काष्ठ, तृण, तथा मल-मूत्रादियुक्त होने से कहीं-कहीं दुर्गन्धरूप भी हो जाता है। फिर उसी मेघ का जल समुद्र में जाता है, तब समुद्र का जल देखने में भयङ्कर मालूम पड़ने लगता है। इसी प्रकार वारंवार

मेघ वर्षता रहता है। (उपर्युपर्यन्त०) अर्थात् सब स्थानों से जल उड़-उड़ कर आकाश में बढ़ता है, वहाँ इकट्ठा होकर फिर-फिर वर्षा किया करता है। उसी जल और पृथिवी के संयोग से ओषध्यादि अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उसी **मेघ को वृत्रासुर** के नाम से बोलते हैं। **वायु और सूर्य का नाम इन्द्र है।** वायु अन्तरिक्ष में और सूर्य प्रकाश स्थान में स्थित है। इन्हीं वृत्रासुर और इन्द्र का आकाश में युद्ध हुआ करता है कि जिसके अन्त में मेघ का पराजय और सूर्य का विजय निःसन्देह होता है।

इस सत्य ग्रन्थों की अलङ्काररूप कथा को छोड़कर छोकरों के समान अल्पबुद्धि वाले लोगों ने ब्रह्मवैवर्त्त और श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थों में मिथ्या कथा लिख रक्खी है, उनको श्रेष्ठ पुरुष कभी न मानें।" (ऋ० भू० ग्रन्थप्रामाण्या०)

इन्द्र व वृत्रासुर कौन हैं ?

महर्षि दयानन्द ने वृत्र=वृत्रासुर का अर्थ मेघ और इन्द्र का अर्थ वायु और सूर्य किया है। और ये अर्थ शास्त्रों से प्रमाणित हैं देखिए—

(क) **वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये**। यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी स यदिदं सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाम॥ (शतपथ० कां० १। अ० १। ब्रा० ३ कंडि० ४)

(ख) वायुर्वेन्द्रो वा ऽन्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः॥ (निरु० ७। ५)

(ग) अहिरिति मेघनामसु पठितम्। (निघं० १। १०)
वृत्र इति मेघनामसु पठितम्। (निघं० १। १०)

(घ) तत्को वृत्रः ? मेघ इति नैरुक्ताः॥ (निरु० २। १७)

(ङ) अथ यः स इन्द्रोऽसौ स आदित्यः॥ (शत० ८। ५। ३। २)
एष वाऽइन्द्रो य एष (सूर्यः) तपति॥ (शत० २। ३। ४। १२)

(च) अहिः अयनात्, एति अन्तरिक्षे। (निरु० २। १७)

अर्थात् मेघ को 'अहि' इसलिए कहते हैं, क्योंकि यह अन्तरिक्ष में गति करता है।

(छ) वृत्रो वृणोतेर्वा वर्त्ततेर्वा वर्धतेर्वा॥ (निरु० २। १७)

अर्थात् मेघ का नाम ही वृत्र है। क्योंकि यह अन्तरिक्ष का आच्छादन करता है, वर्षा-ऋतु में वर्त्तमान रहता है और वृद्धि करता है। इससे स्पष्ट है कि वृत्र कोई मेघ से दूसरा असुर विशेष नहीं है।

(ज) अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते। तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति। अहिवत्तु खलु मन्त्रवर्णाः ब्राह्मणवादाश्च। विवृद्धया शरीरस्य स्रोतांसि निवारयाञ्चकार, तस्मिन्हते प्रसस्यन्दिर आपः। (निरु० २। १७)

अर्थात् जल और विद्युत् या सूर्यकिरणों के मिश्रण से वृष्टि होती है। उनमें उपमा रूप में युद्ध के वर्णन हैं। मनुष्यों का युद्ध इसमें नहीं पाया जाता। मन्त्रों और ब्राह्मण ग्रन्थों में वृत्र की भांति 'अहि' को भी इन्द्र का प्रतिद्वन्द्वी कहा है। जब 'अहि' शब्द मेघवाचक है, तो वृत्र भी मेघ ही है, कोई राक्षस-विशेष नहीं। और यह वृत्र का रूप अन्तरिक्ष में ही रहता है, क्योंकि यह अन्तरिक्ष में पर्याप्त रूप में बढ़ जाता है। जब तक यह बढ़ता रहता है और सूर्य या विद्युत् इसे छिन्न-भिन्न नहीं करते, तब तक यह जल स्रोतों=वर्षाओं को रोके रहता है। और इसके मारे जाने=छिन्न-भिन्न होने पर जलों की वृष्टि होती है और पृथिवी पर जल बहने लगते हैं।

आचार्य यास्क की इस व्याख्या तथा अहि, वृत्र के निर्वचनों से स्पष्ट है कि ये दोनों शब्द

एकार्थक हैं। और वृष्टि होने पर पृथिवीस्थ जलों का नाम अहि या वृत्र नहीं है। निरुक्त में इस विशद वर्णन के होने पर भी सायणाचार्य वृत्र को राक्षसविशेष ही लिख रहे हैं यह उनका महाभ्रम अथवा पूर्वाग्रह मात्र ही है। महर्षि ने इन शास्त्रीय स्थलों का सम्यक् अनुशीलन करके सुसंगत मन्त्र-व्याख्या की है। महर्षि का अर्थ शास्त्रों से प्रामाणिक है और सायण की व्याख्या काल्पनिक ही है॥ १५॥

पूर्वापरसङ्गतिमाह—अत्रेन्द्रवृत्रयुद्धालंकारवर्णनेनास्य पूर्वसूक्तोक्ताग्निशब्दार्थेन सह संगतिरस्तीति वेदितव्यम्॥

पूर्वापर-संगति—यहां इन्द्र और वृत्र के युद्ध का अलंकार से वर्णन होने से इस सूक्त का पूर्व सूक्त में प्रतिपादित अग्नि शब्द के अर्थ के साथ संगति है, ऐसा जानो॥

इति प्रथमाष्टके द्वितीयाध्यायेऽष्टात्रिंशो वर्गः, प्रथममण्डले सप्तमेऽनुवाके द्वात्रिंशं च सूक्तमध्यायश्च द्वितीयः समाप्तः॥

यह पहिले अष्टक के दूसरे अध्याय में अड़तीसवां वर्ग, और पहिले मण्डल के सातवें अनुवाक में बत्तीसवां सूक्त, और दूसरा अध्याय समाप्त हुआ॥

श्रीमत्परिव्राजकाचार्य श्रीविरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिते संस्कृतभाषार्यभाषाभ्यां विभूषिते सुप्रमाणयुक्त ऋग्वेद-भाष्ये द्वितीयोऽध्यायः पूर्तिमगमत्॥

इति श्रीयुतपण्डितसुदर्शनदेवाचार्यविरचिते दयानन्द-ऋग्वेदभाष्य-भास्करे द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः॥

॥ ओ३म् ।

अथ प्रथमाष्टके तृतीयोऽध्यायः प्रारभ्यते ॥

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव । यद्भद्रं तन्न आ सुव ॥

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः । **इन्द्रः (ईश्वरः सभापतिश्च)** देवता । निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अब तेतीसवें सूक्त का प्रारम्भ है । इसके पहिले मन्त्र में इन्द्र शब्द से ईश्वर और सभापति का उपदेश किया जाता है ॥

एतायामोप गव्यन्त इन्द्रमस्माकं सु प्रमतिं वावृधाति ।
अनामृणः कुविदादस्य रायो गवां केत परमावर्जते नः ॥ १ ॥

आ । इत । अयाम । उप । गव्यन्तः । इन्द्रम् । अस्माकम् । सु । प्रमतिम् । वावृधाति । अनामृणः । कुवित् । आत् । अस्य । रायः । गवाम् । केतम् । परम् । आऽवर्जते । नः ॥ १ ॥

पदार्थः—(**आ**) समन्तात् (**इत**) प्राप्नुत (**अयाम**) प्राप्नुयाम । अयं **लोडुत्तमबहुवचने प्रयोगः** । (**उप**) सामीप्ये (**गव्यन्तः**) आत्मनो गा=इन्द्रियाणीच्छन्तः । अत्र गोशब्दात् **सुप आत्मनः क्यच्** । अ० ३ । १ । ८ । इति क्यच् । **गौरिति पदनामसु पठितम्** । निघं० ४ । १ । (**इन्द्रम्**) परमेश्वरम् (**अस्माकम्**) मनुष्यादीनाम् (**सु**) पूजायाम् (**प्रमतिम्**) प्रकृष्टा मतिर्विज्ञानं यस्य तम् (**वावृधाति**) वर्द्धयेत् । अत्र **वृधुधातोर्लेट् बहुलं छन्दसि** शपः श्लुः व्यत्ययेन परस्मैपदम् **तुजादीनां दीर्घ** इत्यभ्यासदीर्घत्वमन्तर्गतो ण्यर्थश्च । (**अनामृणः**) अविद्यमाना समन्तान् मृणा=हिंसका यस्य सः (**कुवित्**) बहुविधानि । **कुविदिति बहुनामसु पठितम्** । निघं० ३ । १ । (**आत्**) अनन्तरार्थे (**अस्य**) जगतः (**रायः**) प्रशस्तानि धनानि (**गवाम्**) मन आदीनामिन्द्रियाणां पृथिव्यादीनां पशूनां वा (**केतम्**) प्रज्ञानम् । **केत इति प्रज्ञानामसु पठितम्** । निघं० ३ । ९ । (**परम्**) प्रकृष्टम् (**आवर्जते**) समन्ताद्वर्जयति=त्याजयति । अत्राङ् पूर्वाद् वृजीधातोर्लेट् **बहुलं छन्दसि** इति शपो लुङ् न । अन्तर्गतो ण्यर्थश्च । (**नः**) अस्मभ्यम् ॥ १ ॥

प्रमाणार्थ—(**अयाम**) यह लोट् लकार, उत्तमपुरुष बहुवचन का प्रयोग है । (**गव्यन्तः**) यहां 'गो' शब्द से 'सुप आत्मने क्यच्' (अ० ३ । १ । ८) इस सूत्र से 'क्यच्' प्रत्यय है । 'गौः' यह पद निघण्टु (४ । १) में पद-नामों में पढ़ा है । (**वावृधाति**) यहां 'वृधु' धातु से लेट् लकार में 'बहुलं छन्दसि' (अ० २ । ४ । ७६) इस सूत्र से शप् को श्लु, व्यत्यय से परस्मैपद, 'तुजादीनां दीर्घ०' (अ० ६ । १ । ७) इस सूत्र से अभ्यास को दीर्घ, और 'णिच्' का अर्थ अन्तर्भूत है । (**कुवित्**) यह पद निघण्टु (३ । १) में 'बहु' नामों में पढ़ा है । बहु=बहुत (**केतम्**) 'केतः' यह पद निघण्टु (३ । ९) में प्रज्ञा-नामों में पढ़ा है प्रज्ञा=बुद्धि । (**आवर्जते**) यहां 'आङ्' पूर्वक 'वृजी' धातु से 'लट्' लकार, और 'बहुलं छन्दसि' (अ० २ । ४ । ७६) इस सूत्र से शप् का लुक् नहीं है और 'णिच्' का अर्थ अन्तर्भूत है ॥ १ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा गव्यन्तो वयं योऽस्माकमस्य जगतश्च कुविद्रायो वावृधाति यश्च आदनन्तरं नोऽस्मभ्यमनामृणो गवां परं केतं वावृधात्यज्ञानं चावर्जते सुप्रमतिमिन्द्रं परेशं न्यायाधीशं वा शरणमुपायाम तथैव यूयमप्येत ॥ १ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्या ! यथा **गव्यन्तः** आत्मनो गा=इन्द्रियाणीच्छन्तः **वयं योऽस्माकं** मनुष्यादीनाम् **अस्य**=जगतश्च **कुवित्** बहुविधानि **रायः** प्रशस्तानि धनानि **वावृधाति** वर्द्धयेत्, **यश्च आत्**=अनन्तरं **नः**=अस्मभ्य-**मनामृणः** अविद्यमाना समन्तान् मृणा=हिंसका यस्य सः **गवां** मन आदीनामिन्द्रियाणां **पृथिव्यादीनां पशूनां वा परं** प्रकृष्टं **केतं** प्रज्ञानं **वावृधाति** वर्द्धयेत्, **अज्ञानं चावर्जते** समन्ता-द्वर्जयति=त्याजयति **सुप्रमतिं** प्रकृष्टामतिर्विज्ञानं यस्य तम् **इन्द्रं**=**परेशं न्यायाधीशं शरणमुपायाम** सामीप्येन प्राप्नुयाम, **तथैव यूयमपि एत** समन्तात् प्राप्नुत ॥ १ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः । मनुष्यै-रविद्यानाशविद्यावृद्धिभ्यां यः परमं धनं वर्द्धयति, तस्यैवेश्वरस्याज्ञापालनोपासनाभ्यां शरीरात्मबलं नित्यं वर्द्धनीयम् । नह्येतस्य सहायेन विना कश्चिद्धर्मार्थकाममोक्षाख्यं फलं प्राप्तुं शक्नोतीति ।

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे (**गव्यन्तः**) अपनी इन्द्रियों की इच्छा करने वाले हम लोग—जो (**अस्माकम्**) हम मनुष्यों और (**अस्य**) इस जगत् के (**कुवित्**) बहुत प्रकार के (**रायः**) प्रशस्त धनों को (**वावृधाति**) बढ़ावे, (**आत्**) और जो (**नः**) हमारे लिये (**अनामृणः**) हिंसारहित होकर (**गवाम्**) मन आदि इन्द्रियों पृथिवी आदि और पशुओं के (**परम्**) उत्तम (**केतम्**) ज्ञान को (**वावृधाति**) बढ़ावे, और अज्ञान का (**आवर्जते**) त्याग करावे, उस (**सप्रमतिम्**) उत्तम विज्ञान वाले (**इन्द्रम्**) परमेश्वर या न्यायाधीश की शरण को (**उपायाम**) प्राप्त करते हैं, वैसे ही तुम भी (**एत**) उसे प्राप्त करो ॥ १ ॥

भावार्थ—यहां श्लेष अलंकार है । सब मनुष्य—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि से जो उत्तम धन को बढ़ाता है, उसी ईश्वर की आज्ञा-पालन और उपासना से शरीर और आत्मा के बल को नित्य बढ़ावें, इसकी सहायता के विना कोई धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप फल को प्राप्त नहीं कर सकता ॥ १ ॥

भाष्यसार—**ईश्वर और सभापति**—जो ईश्वर और न्यायाधीश सभापति इस जगत् के बहुत प्रकार के प्रशस्त धनों को बढ़ाते हैं, और जो हमारे लिये हिंसारहित होकर मन आदि इन्द्रियों, पृथिवी आदि और पशुओं के उत्तम ज्ञान को बढ़ाते हैं और अज्ञान का निवारण करते हैं उस उत्तम ज्ञान वाले ईश्वर या सभाध्यक्ष की शरण को सब प्राप्त करें ॥ १ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में श्लेष अलंकार से 'इन्द्र' शब्द से ईश्वर और सभापति अर्थ का ग्रहण होता है ॥ १ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायणभाष्य[1] इस प्रकार है—"देवता परस्पर इस प्रकार कहते हैं। हे देवो ! पणि नामक राक्षस से अपहरण की गई अपनी गायों की इच्छा करने वाले तुम सब आओ।

---

१. देवाः परस्परमेवं कथयन्ति । हे देवाः गव्यन्तः पणिनामकेनासुरेणापहृता अस्मदीया गाः प्राप्तुमिच्छन्तो यूयं एत आगच्छत । युष्माभिः सहिता वयम् इन्द्रं गवानयनक्षमम् उप अयाम प्राप्नवाम । स चेन्द्रः अनामृणाः हिंसकरहितः सन् अस्माकं देवानां प्रमतिं गोलाभेन हर्षयित्वा प्रकृष्टां बुद्धिं सुवावृधाति सुष्ठु वर्धयति । आत अनन्तरं स इन्द्रः अस्य रायः धनस्य गवां गोरूपस्य संबन्धि परंकेतमुत्कृष्टं ज्ञानं नः अस्माकं कुवित् आवर्जते अधिकं प्रापयति । (सायणः)

तुम्हारे साथ हम गायों को लाने में समर्थ इन्द्र को प्राप्त करें। और वह अहिंसक इन्द्र गायों की प्राप्ति के द्वारा देवों को प्रसन्न करके बुद्धि को भलीभांति बढ़ाता है। तदनन्तर वह इन्द्र धन तथा गायों के सम्बन्धी हमारे ज्ञान को अधिक प्राप्त कराता है।''

इस मन्त्र में यह प्रार्थना की गई है कि हम ऐसे इन्द्र की शरण को प्राप्त करें, जो हमारी इन्द्रियों के सामर्थ्य को, गायादि को, ज्ञान को तथा धनों को बढ़ाता है। ऐसा इन्द्र कौन है ? इसको सायणाचार्य ने बिल्कुल भी नहीं समझा है और एक पौराणिक कल्पित कथा का आश्रय करके मन्त्र की व्याख्या की है। मन्त्र में इस कथा से सम्बद्ध कोई पद नहीं है और नहीं मन्त्रार्थ के साथ इसकी संगति है। महर्षि ने यहाँ इन्द्र 'देवता' के दो अर्थ किए हैं—१ ईश्वर, २ सभापति। इन दोनों की मन्त्रार्थ के साथ पूर्णतः संगति है। ईश्वर तथा राजा दोनों ही धनों की वृद्धि, पशुओं की वृद्धि, तथा ज्ञान की वृद्धि में कारण हैं। सायण के मन्त्रार्थ में यह बहुत ही विचित्र तथा असङ्गत व्याख्या है कि इन्द्र गायों की प्राप्ति कराकर बुद्धियों को बढ़ाता है। बुद्धि की वृद्धि कोई स्वर्गस्थ कल्पित इन्द्र नामक देव कदापि नहीं बढ़ा सकता है। और सायण की यह भी भ्रान्ति है कि 'गो' शब्द का अर्थ गाय नामक पशु-विशेष ही होता है। यदि उन्होंने निरुक्तादि शास्त्रों को ध्यान से देखा होता तो ऐसी भ्रान्त व्याख्या न करते।

मन्त्र के उत्तरार्द्ध में कहा है कि वह इन्द्र 'केतं परमावर्जते नः' अर्थात् हमारे ज्ञान को बढ़ाता है और अज्ञान को नष्ट करता है। इस रहस्यात्मक मन्त्रार्थ की संगति सायण नहीं लगा सके हैं। 'आवर्जते' क्रिया का सायण ने 'प्रापयति' अर्थ तो बहुत ही विचित्र किया है। इस आख्यात पद में सायण ने स्वयं 'वृजी वर्जने' क्रिया मानकर भी धात्वर्थ से पृथक् 'प्राप्त करना' अर्थ कर दिया है, यह उनकी महाभ्रान्ति रही है। उन्होंने सोचा होगा कि 'इन्द्र ज्ञान को छुड़ाता है' यह अर्थ तो ठीक नहीं है, अतः धातु के अर्थ को बदल दिया है। यहां महर्षि की प्रतिभा को देखिए कि उन्होंने मन्त्रस्थ पदों की संगति, बहुत ही सूझ-बूझ के साथ की है। उनके ऋषित्व का बोध ऐसे स्थलों पर ही होता है। महर्षि लिखते हैं कि इन्द्र केतम्=हमारे ज्ञान को 'वावृधाति=बढ़ाता है और ज्ञान से विरुद्ध अज्ञान को 'आवर्जते=छुड़ाता है। सायण की भ्रान्ति मन्त्रोक्त पदों के विशेषण-विशेष्यभाव को समझने में भी रही है। मन्त्र में कहा है कि हम ज्ञानादि की वृद्धि के प्रमतिम् इन्द्रम्=उत्तम विज्ञान वाले ईश्वर अथवा सभापति को प्राप्त करें। समान विभक्ति वालों में ही विशेषण-विशेष्यभाव होता है। किन्तु सायण ने इन दोनों पदों की व्याख्या पृथक्-पृथक् की है। यह उनकी भ्रान्ति ही है॥ १॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **इन्द्रः** (ईश्वरः) देवता। निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते॥

फिर वह ईश्वर कैसा है, यह उपदेश किया जाता है॥

उपेदहं धनदामप्रतीतं जुष्टां न श्येनो वसतिं पतामि।
इन्द्रं नमस्यन्नुपमेभिरर्कैर्यः स्तोतृभ्यो हव्यो अस्ति यामन्॥ २॥

उप। इत्। अहम्। धनऽदाम्। अप्रतिऽइतम्। जुष्टाम्। न। श्येनः। वसतिम्। पतामि। इन्द्रम्। नमस्यन्। उपमेभिः। अर्कैः। यः। स्तोतृभ्यः। हव्यः। अस्ति। यामन्॥ २॥

पदार्थः—(उप) सामीप्ये (इत्) एव (अहम्) मनुष्यः (धनदाम्) यो धनं ददाति तम्

(**अप्रतीतम्**) यश्चक्षुरादीन्द्रियैर्न प्रतीयते तमगोचरम् । (**जुष्टाम्**) पूर्वकालसेविताम् (**न**) इव (**श्येनः**) वेगवान् पक्षी (**वसतिम्**) निवासस्थानम् (**पतामि**) प्राप्नोमि (**इन्द्रम्**) अखण्डैश्वर्यप्रदं जगदीश्वरम् (**नमस्यन्**) नमस्कुर्वन् । **अत्र नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्** । अ० ३ । १ । १९ । इति **क्यच्** । (**उपमेभिः**) उपमीयन्ते यैस्तैः । अत्र माङ्धातोः **घत्रर्थे क विधानम्** । इति वार्त्तिकेन करणे कः प्रत्ययः । **बहुलं छन्दसि** इति भिस ऐस् न । (**अर्कैः**) अनेकैः सूर्यलोकैः (**यः**) पूर्वोक्तः सूर्यलोकोत्पादकः (**स्तोतृभ्यः**) य ईश्वरं स्तुवन्ति तेभ्यः (**हव्यः**) होतुमादातुमर्हः (**अस्ति**) वर्त्तते (**यामन्**) याति=गच्छति प्राप्नोति स यामा तस्मिन्नस्मिन् संसारे । अत्र **सुपां सुलुग्** इति विभक्तेर्लुक् ॥ २ ॥

प्रमाणार्थ—(**नमस्यन्**) यहां 'नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्' (अ० ३ । १ । १९) इस सूत्र से 'क्यच्' प्रत्यय है । (**उपमेभिः**) यहां 'माङ्' धातु से 'घत्रर्थे कविधानम् । (अ० ३ । ३ । ५८) इस वार्त्तिक सूत्र से घत्र् प्रत्यय के अर्थ में करण कारक में 'क' प्रत्यय का विधान है, तथा 'बहुलं छन्दसि' (अ० ७ । १ । ७०) इस सूत्र से 'भिस्' प्रत्यय को 'ऐस्' आदेश नहीं है । (**यामन्**) यहां 'सुपां सुलुक्०' (अ० ७ । १ । ३९) इस सूत्र से विभक्ति का लुक् है ॥ २ ॥

अन्वयः—यो हव्यः स्तोतृभ्यो धनप्रदोस्ति तमप्रतीतं धनदामिन्द्रं नमस्यन्नहं जुष्टां वसतिं श्येनो नेव यामन् गमनशीलेऽस्मिन् संसार उपमेभिरर्कैरिदेवोपपताम्यभ्युपगच्छामि ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः— **यः** पूर्वोक्तसूर्यलोकोत्पादकः **हव्यः** होतुमादातुमर्हः **स्तोतृभ्यः** य ईश्वरं स्तुवन्ति तेभ्यः **धनप्रदोऽस्ति** वर्त्तते; **तमप्रतीतं** यश्चक्षुरादीन्द्रियैर्न प्रतीयते **तमगोचरं धनदां** यो धनं ददाति तम् **इन्द्रम्** अखण्डैश्वर्यप्रदं जगदीश्वरं **नमस्यन्** नमस्कुर्वन् **अहं** मनुष्यः **जुष्टां** पूर्वकालसेवितां **वसतिं** निवासस्थानं **श्येनः** वेगवान् पक्षी **न=इव, यामन्=गमनशीलेऽस्मिन् संसारे** याति=गच्छति, प्राप्नोति स यामा तस्मिन्नस्मिन् संसारे **उपमेभिः** उपमीयन्ते यैस्तैः **अर्कैः** अनेकैः सूर्यलोकैः **इत्=एव, उपपतामि=अभ्युपगच्छामि** ॥ २ ॥

भाषार्थ—(**यः**) जो पूर्वोक्त सूर्यलोक का उत्पादक (**हव्यः**) ग्रहण करने योग्य (**स्तोतृभ्यः**) स्तोता जनों को धन प्रदान करनेवाला (**अस्ति**) है, उस (**अप्रतीतम्**) चक्षु आदि इन्द्रियों से प्रतीत न होनेवाले—अगोचर (**धनदाम्**) धन के दाता (**इन्द्रम्**) अखण्ड ऐश्वर्य प्रदान करनेवाले जगदीश्वर को (**नमस्यन्**) नमस्कार करता हुआ (**अहम्**) मैं—(**जुष्टाम्**) पूर्वकाल में सेवन किये हुए (**वसतिम्**) निवासस्थान=घोंसले को (**श्येनः**) बाज पक्षी (**न**) जैसे प्राप्त होता है, वैसे (**यामन्**) गमनशील=चलायमान संसार में (**उपमेभिः**) उपमा देने योग्य (**अर्कैभिः**) अनेक सूर्यलोकों से (**इत्**) ही—(**उपपतामि**) प्राप्त करता हूं, अर्थात् संसार की रचना को देखकर ईश्वर को जानता हूँ ॥ २ ॥

भावार्थः— अत्रोपमालङ्कारः । यथा श्येनाख्यः पक्षी प्राक्सेवितं सुखप्रदं निवासस्थानं स्थानान्तराद्वेगेन गत्वा प्राप्नोति तथैव परमेश्वरं नमस्यन्तो मनुष्या अस्मिन् संसारे तद्रचितैः सूर्यादिलोकदृष्टान्तैरीश्वरं निश्चित्य तमेवोपासताम् यावन्तोऽस्मिन् जगति रचिताः पदार्था वर्त्तन्ते तावन्तः सर्वे निर्मातारमीश्वरं निश्चापयन्ति । नहि निर्मात्रा विना किञ्चिन्निर्मितं संभवति । यथाऽस्मिन् मनुष्यै रचनीये व्यवहारे रचकेन विना किञ्चिदपि

भावार्थ—यहां उपमा अलंकार है । जैसे श्येन (बाज) नामक पक्षी पूर्वसेवित सुखप्रद निवास स्थान को दूसरे स्थान से वेग से जाकर प्राप्त करता है, वैसे ही परमेश्वर को नमस्कार करते हुए मनुष्य इस संसार में उसके रचे हुए सूर्य आदि लोकों के दृष्टान्त से ईश्वर का निश्चय करके उसी की उपासना करें । जितने इस जगत् में रचे हुए पदार्थ हैं, वे सब निर्माता ईश्वर का निश्चय कराते हैं, क्योंकि निर्माता के विना कुछ नहीं बन सकता । जैसे मनुष्यों

स्वतो न जायते तथैवेश्वरसृष्टौ वेदितव्यम्। अहो एवं सति य ईश्वरमनादृत्य नास्तिका भवन्ति तेषामिदं महदज्ञानं कुतः समागतमिति।

के रचना-व्यवहार में रचयिता के विना स्वतः कुछ भी नहीं बनता, वैसे ही ईश्वर की सृष्टि में जानो। आश्चर्य है, ऐसा निश्चय होने पर भी जो ईश्वर का अनादर करके नास्तिक हो जाते हैं। उनका यह महान् अज्ञान कहां से आया।

अत्राध्यापकविलसनेन श्येनस्य प्रसिद्धस्य पक्षिणो नामाविदित्वा गोदृष्टान्तो गृहीतोऽस्य मन्त्रस्यान्यथार्थो वर्णितस्तस्मादिदमस्य व्याख्यानमनादरणीयमस्तीति ॥ २ ॥

यहाँ अध्यापक विलसन ने प्रसिद्ध श्येन पक्षी का नाम न जानकर गौ का दृष्टान्त ग्रहण करके इस मन्त्र का अर्थ अन्यथा किया है। इसलिये उसका यह व्याख्यान अनादर के योग्य है ॥ २ ॥

भाष्यसार—**ईश्वर कैसा है**—ईश्वर सूर्यलोक का उत्पादक, ग्रहण करने योग्य, स्तोताजनों को धन प्रदान करनेवाला, चक्षु आदि इन्द्रियों से प्रतीत न होने वाला अर्थात् अगोचर, धन का दाता और अखण्ड ऐश्वर्य प्रदान करनेवाला है। मैं उसको नमस्कार करता हूँ। जैसे बाजपक्षी पहले सेवन किये हुये स्थान को स्थानान्तर से वेग से उड़कर प्राप्त करता है वैसे सुन्दर सूर्य आदि लोकों को देखकर मैं ईश्वर को प्राप्त करता हूँ, अर्थात् संसार की रचना को देखकर ईश्वर को जानता हूँ ॥ २ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में 'न' पद उपमा-वाचक है, अतः उपमा अलंकार है। उपमा यह है कि जैसे बाजपक्षी पूर्व सेवित सुखप्रद स्थान को स्थानान्तर से उड़कर प्राप्त करता है, वैसे मनुष्य सुन्दर सूर्य आदि लोकों को देखकर ईश्वर को प्राप्त करे ॥ २ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"जो इन्द्र स्तोताओं पर अनुग्रह करने के लिए युद्ध में बुलाने योग्य है, उस इन्द्र को मैं प्राप्त करता ही हूँ। क्या करता हुआ? उत्तम स्तोत्रों से पूजा करता हुआ। कैसे इन्द्र को? धन देने वाले और बलवानों से भी तिरस्कृत न होने वाले इन्द्र को। जैसे अतिशय वेग वाला बाज नामक पक्षी अपनी पूर्वजों से सेवित निवासभूमि की ओर आदर से दौड़ता है, वैसे मैं इन्द्र को शीघ्र प्राप्त करता हूँ।"

इस मन्त्र का देवता 'इन्द्र' है। उसको न समझकर सायण ने समस्त मन्त्रार्थ असंगत किया है। मन्त्र में कहा है कि जैसे श्येन=बाज नामक पक्षी अपने पहले घोंसले को प्राप्त करता है, वैसे ही हम इन्द्र को प्राप्त करें। सायण के मन्तव्य के अनुसार इन्द्र स्वर्गनामक लोक में देवों का राजा है। उसको हम मनुष्य श्येन के घोंसले की भांति कैसे प्राप्त कर सकते हैं? क्या हम सशरीर स्वर्ग में जाकर इन्द्र को प्राप्त कर सकते हैं? क्या स्वर्ग नामक कोई लोक-विशेष है? इन आशंकाओं का सायण-भाष्य से कोई समाधान न मिलने से उनकी व्याख्या असंगत ही है। सायण की यह भी भ्रान्ति है कि हम युद्ध में इन्द्र-नामक देव को बुलाते हैं। युद्ध आजकल भी होते हैं, किन्तु सायण की मान्यता के अनुसार शरीरधारी इन्द्र-देव कभी युद्ध में नहीं देखा गया है। अतः यह उनकी कल्पना खपुष्प की भांति संभव नहीं है।

---

१. यः इन्द्रः स्तोतृभ्यः स्तोतॄणामनुष्ठातॄणामनुग्रहार्थं यामन् तदीयशत्रुभिः सह प्रवृत्ते युद्धे हव्यः अस्ति तैराह्वातव्यो भवति। तम् इन्द्रम् अहम् अनुष्ठाता उपेत् पतामि उपाप्नोम्येव। किं कुर्वन्। उपमेभिः उपमानस्थानीयैरुत्तमैः अर्कैः स्तोत्रैः सह नमस्यन् पूजयन्। कीदृशमिन्द्रम्। धनदां धनप्रदम्। अप्रतीतम् अप्रतिगतं बलिभिरतिरस्कृतमित्यर्थः। इन्द्रप्राप्तौ दृष्टान्तः। जुष्टां पूर्वैः सेवितां वसतिं स्वकीयनीडरूपां निवासभूमिं श्येन न। यथा श्येननामको वेगवान् पक्षी स्वकीयस्थानं प्रति आदरेण धावति तद्वत् अहम् इन्द्रं त्वरया प्राप्नोमि ॥ (सायणः)

महर्षि दयानन्द ने 'इन्द्र' का अर्थ 'ईश्वर' किया है। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म होने से अप्रतीतम्=चक्षु आदि इन्द्रियों से प्रतीत नहीं होता। वह ईश्वर सर्वविध ऐश्वर्यों का स्वामी होने से धनदाम्=हमें धन प्रदान करता है। हम उस इन्द्र=ईश्वर की प्राप्ति नमस्यन्=नमस्कारादि के द्वारा कर सकते हैं और इस संसार के पदार्थों की रचना-विशेष को देखकर ईश्वर को जान सकते हैं। वह ईश्वर हव्यः=बुलाने योग्य नहीं है, क्योंकि वह सर्वत्र व्यापक है। उसको इधर-उधर कैसे बुलाया जा सकता है? अतः यहां 'बुलाने' अर्थ की कोई संगति नहीं है। महर्षि-दयानन्द ने इसीलिए यहां 'ग्रहण करने योग्य' अर्थ किया है। और बुलाना' अर्थ तो सायण की मान्यता में भी संगत नहीं होता। उनके अनुसार इन्द्र स्वर्ग का एकदेशी राजा है। वह सर्वत्र व्यापक नहीं है। फिर उसको पृथिवी पर रहने वाला मनुष्य कैसे बुला सकता है? क्या इन कल्पना की उडानों में उडने वाले सायणादि के घरों पर इन्द्र को बुलाने के लिए 'टेलीफोन' या 'बेतार के तार' लगे हुए थे? अन्यथा ऐसे असंगत एवं असम्भव अर्थ कदापि न लिखते ॥ २ ॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **इन्द्रः** (शूरवीरः) देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

अथेन्द्रशब्देन शूरवीरगुणा उपदिश्यन्ते ॥

अब इन्द्र शब्द से शूरवीर के गुणों का उपदेश किया जाता है ॥

नि सर्वसेन इषुधीँरसक्त समर्यो गा अजति यस्य वष्टि ।
चोष्कूयमाण इन्द्र भूरिं वामं मा पणिर्भूरस्मदधि प्रवृद्ध ॥ ३ ॥

नि । सर्वऽसेनः । इषुऽधीन् । असक्त । सम् । अर्यः । गाः । अजति । यस्य । वष्टि । चोष्कूयमाणः । इन्द्र । भूरिं । वामम् । मा । पणिः । भूः । अस्मत् । अधि । प्रऽवृद्ध ॥ ३ ॥

पदार्थः—(नि) नितराम् (सर्वसेनः) सर्वाः सेना यस्य सः (इषुधीन्) इषवो=बाणा धीयन्ते येषु तान् (असक्त) सज्ज। अत्र **सज्जधातोः बहुलं छन्दसि** इति शपो लुक्। **लोडर्थे लङ् व्यत्ययेनात्मनेपदं च।** (सम्) संयोगे (अर्यः) वणिग्जनः। **अर्य्यः स्वामिवैश्ययोः।** अ० ३। १। १०३। इत्ययं शब्दो निपातितः। (गाः) पशून् (अजति) प्राप्य रक्षति (यस्य) पुरुषस्य (वष्टि) प्रकाशते। (चोष्कूयमाणः) सर्वानाप्रावयन्। स्कुञ् आप्रवण इत्यस्य यङन्तं रूपम् (इन्द्र) शत्रूणां दारयितः (भूरि) बहु। **भूरीति बहुनामसु पठितम्।** निघं० ३। १। (वामम्) वमत्युद्गिरति येन तम्। टुवमु उद्गिरणेऽस्माद्धातोः **हलश्च** इति घञ्। उपधावृद्धिनिषेधे प्राप्ते। **अनाचामिकमिवमीनामिति वक्तव्यम्।** अ० ७। ३। ३४। इति वार्त्तिकेन वृद्धिः सिद्धा। (मा) निषेधे (पणिः) सत्यव्यवहारः (भूः) भव। अत्र **लोडर्थे लुङ् न माङ्योग** इत्यडभावः। (अस्मत्) स्पष्टार्थम् (अधि) उपरिभावे (प्रवृद्ध) महोत्तमगुणविशिष्ट ॥ ३ ॥

प्रमाणार्थ—(असक्त) यहां 'सज्ज' धातु से 'बहुलं छन्दसि' (अ० २। ४। ७३) इस सूत्र से 'शप्' विकरण प्रत्यय का लुक् है, लोट् अर्थ में लङ् लकार और व्यत्यय से आत्मनेपद है। (अर्यः) यह पद 'अर्य्यः स्वामिवैश्ययोः' (अ० ३। १। १०३) इस सूत्र से निपातन से सिद्ध होता है। (चोष्कूयमाणः) यह 'स्कुञ्' आप्रवणे इस धातु का 'यङन्त' रूप है। (भूरि) यह शब्द निघण्टु (३। १) में बहुनामों में पढ़ा है—बहु=बहुत। (वामम्) यहां 'टुवमु' उद्गिरणे इस धातु से 'हलश्च' (अ० ३।३।१२१) इस सूत्र से 'घञ्' प्रत्यय है। 'नोदात्तोपदेशस्यमान्तस्य० (अ० ७। ३। ३४) इस सूत्र से उपधा-वृद्धि का निषेध प्राप्त होने पर 'अनाचामिकमिवमीनामिति वक्तव्यम्' (अ० ७। ३। ३४) इस वार्त्तिक सूत्र

से वृद्धि सिद्ध है। (भूः) यहां लोट् लकार के अर्थ में लुङ् लकार है 'न माङ् योगे' (अ० ६। ४। ७४) इस सूत्र से 'अट्' आगम का अभाव है ॥ ३ ॥

अन्वयः—हे अधिप्रवृद्धेन्द्र सर्वसेनः पणिश्चोष्कूयमाणस्त्वं भूरीषुधीन् धृत्वाऽर्योगाः भूरि समजतीव न्यासक्त सज्जास्मद्वामं मा भूर्यस्माद्यस्य भवतः प्रतापो वष्टि विजयी च भवेः ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः—हे **अधि** उपरि **प्रवृद्ध** महोत्तमगुणविशिष्ट **इन्द्रः**! शत्रूणां दारयितः! **सर्वसेनः** सर्वाः सेना यस्य स **पणिः** सत्यव्यवहारः **चोष्कूयमाणः** सर्वानाप्रावयन् **त्वं भूरि** बहु **इषुधीन्** इषवो=बाणा धीयन्ते येषु तान् धृत्वा **अर्यः** वणिग्जनः **गाः** पशून् **भूरि** बहु **समजति** प्राप्य रक्षति **इव न्यसक्त**=सज्ज नितरां सज्ज; **अस्मत्** स्पष्टार्थः **वामं** वमत्युद्गिरति येन तं **मा** न **भूः** भव, **यस्माद्यस्य**=भवतः पुरुषस्य **प्रतापो वष्टि** प्रकाशते **विजयी च भवेः** ॥ ३ ॥

भाषार्थ—हे (**अधि, प्रवृद्ध**) सर्वोपरि महान् उत्तम गुणों से युक्त, (**इन्द्र**) शत्रुओं के विदारक, (**सर्वसेनः**) सब सेनाओं वाले (**पणिः**) सत्य-व्यवहार वाले (**चोष्कूयमाणः**) सब शत्रुओं को भगाने वाले शूरवीर आप (**भूरि**) बहुत प्रकार से (**इषुधीन्**) धनुषों को धारण करके—जैसे (**अर्यः**) वैश्य (**गाः**) पशुओं को (**भूरि**) बहुत प्रकार से (**समजति**) प्राप्त करके रक्षा करता है (**इव**) वैसे—(**न्यसक्त**) सर्वथा तैयार होओ, और (**अस्मत्**) हम से (**वामम्**) विरुद्ध (**मा**) मत (**भूः**) हो ओ, (**यस्य**) आपका प्रताप (**वष्टि**) प्रकाशित हो, और आप विजयी जिससे हों ॥ ३ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथावणिग्जनेन गाः पालयित्वा चारयित्वा दुग्धादिना व्यवहारसिद्धिर्निष्पाद्यते यथेश्वरेणोत्पादितस्य महतः सूर्यलोकस्य किरणा बाणवच्छेदकत्वेन सर्वान् पदार्थान् प्रविश्य वायुनोपर्यधो गमयित्वा सर्वान्सरसान् पदार्थान् कृत्वा सुखानि निष्पादयन्ति तथा राजा प्रजाः पालयेत् ॥ ३ ॥

भावार्थ—यहां वाचकलुप्तोपमा अलङ्कार है। जैसे वैश्य गौवों को पालकर, चराकर दुग्धादि से व्यवहार सिद्ध करता है। जैसे ईश्वर के बनाये हुए महान् सूर्य-लोक की किरणें बाण के समान छेदक होने से सब पदार्थों को ऊपर नीचे पहुँचाकर सब पदार्थों को रसयुक्त करके सुखों को उत्पन्न करती हैं, वैसे राजा प्रजा का पालन करे ॥

भाष्यसार—शूरवीर के गुण—शूरवीर सर्वोपरि महान् उत्तम गुणों से युक्त, शत्रुओं का विदारक, सब सेनाओं वाला, सत्य व्यवहार वाला, सब शत्रुओं को भगाने वाला हो। जैसे वणिक् जन (वैश्य) गौ आदि पशुओं को प्राप्त करके उनकी बहुत प्रकार से रक्षा करता है, वैसे वह धनुषों को धारण करके सर्वथा तैयार होवे। शूरवीर हम धार्मिक जनों से विरुद्ध न हो, जिससे उसका प्रताप सर्वत्र प्रकाशित हो और सर्वत्र विजयी हो ॥ ३ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है, अतः वाचकलुप्तोपमा अलङ्कार है। उपमा यह है कि जैसे वणिक् जन गौ आदि पशुओं की रक्षा करता है, वैसे शूरवीर धार्मिक जनों की रक्षार्थ धनुष को धारण करे अर्थात् उनकी रक्षा करे ॥ ३ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायणभाष्य[1] इस प्रकार है—"सब सेना से युक्त इन्द्र ने बाण रखने के

---

१. सर्वसेनः कृत्नसेनायुक्तः इषुधीन् बाणानामाधारभूतान् निषङ्गान् नि असक्त नितरां पृष्ठभागे संयोजितवान्। अर्यः स्वामिरूप इन्द्रः यस्य देवस्य वष्टि असुरेणापहृता गाः प्रदातुं कामयते तस्य देवस्य गृहे ताः गाः सम् अजति सम्यक् प्रापयति। हे प्रवृद्ध प्रकृष्टवृद्धियुक्त इन्द्र भूरि वामं प्रभूतं गोरूपं धनं चोष्कूयमाणः, अस्मभ्यं प्रयच्छन् अस्मदधि अस्मासु पणिः मा भूः व्यवहारी मा भूयाः। गवां मूल्यं मा याचस्वेत्यर्थः ॥ (सायणः)

निषङ्ग=तरकस को पीछे बांध रक्खा है। स्वामी इन्द्र जिस देव की असुर से अपहरण की गई गायों की इच्छा करता है, उस देव के घर पर गायों को अच्छी प्रकार पहुँचाता है। हे अतिशय वृद्धि वाले इन्द्र! तुम हमें गायों के धन को देते हुए व्यापारी न बनना अर्थात् गायों का मूल्य न मांगना।"

इस मन्त्र का प्रतिपाद्यविषय 'इन्द्र' देवता है। आचार्य सायण ने देवता की कोई व्याख्या न करके असङ्गत व्याख्या ही की है। इस मन्त्र में इन्द्र का क्या अर्थ है? इसका स्पष्टीकरण मन्त्र के पदों से ही हो रहा है। इन्द्र के विषय में मन्त्र में कहा है कि वह सर्वसेनः=समस्त सेनाओं से युक्त है, इषुधीन् असक्त=अपने पृष्ठ-भाग में इषुधि=तरकस को बांधता है, पणिः=सत्यव्यवहार वाला है, प्रबृद्ध=उत्तम गुणों वाला, चोष्कूयमाणः=शत्रुओं को भगाने वाला है, और भूरि समजति=वैश्य जैसे गायादि की रक्षा करता है, वैसे ही इन्द्र प्रजाजनों की सुरक्षा करता है। 'इन्द्र' की इन मन्त्रोक्त विशेषताओं को देखकर महर्षि दयानन्द ने 'इन्द्रः=शत्रूणां दारयिता' इस इन्द्र के निर्वचन के अनुसार मन्त्र के देवता का अर्थ 'शूरवीर' (सेनापति) किया है। परन्तु मन्त्र के इस रहस्य को न समझकर सायण-भाष्य में स्वर्ग-स्थित कल्पित इन्द्र-देवता परक ही व्याख्या की है। यह उनकी व्याख्या मूल मन्त्र तथा प्रत्यक्ष के विरुद्ध होने से सत्य नहीं है। सायणाचार्य का अभिमत इन्द्र-देव तरकसादि बांधकर हमारी गायों को राक्षसों से छुड़ाता हुआ कभी किसी ने नहीं देखा। ऐसी प्रमाण तथा प्रत्यक्ष से विरुद्ध बातों पर कौन बुद्धिमान् विश्वास कर सकता है? ॥ ३ ॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **इन्द्रः** (शूरवीरः) देवता। निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

इन्द्रशब्देन पुनः स एवार्थ उपदिश्यते॥

इन्द्र शब्द से उसी शूरवीर अर्थ का फिर उपदेश किया जाता है॥

वधीर्हि दस्युं धनिनं घनेनँ एकश्चरन्नुपशाकेभिरिन्द्र।
धनोरधि विषुणक्ते व्यायन्नयज्वानः सनकाः प्रेतिमीयुः॥ ४॥

वधीः। हि। दस्युम्। धनिनम्। घनेन। एकः। चरन्। उपऽशाकेभिः। इन्द्र। धनोः। अधि। विषुणक्। ते। वि। आयन्। अयज्वानः। सनकाः। प्रऽइतिम्। ईयुः॥ ४॥

पदार्थः—(वधीः) हिन्धि। अत्र **लोडर्थे लुङडभावश्च**। (हि) निश्चयार्थे (दस्युम्) बलान्यायाभ्यां परस्वापहर्त्तारम्। (धनिनम्) धार्मिकं धनाढ्यम् (घनेन) वज्राख्येन शस्त्रेण **मूर्तौ घनः**। अ० ३। ३। ७७। इति घनशब्दोनिपातितस्तेन काठिन्यादिगुणयुक्तो हि शस्त्रविशेषो गृह्यते। **अत्र ईषाऽक्षादिषु च छन्दसि प्रकृतिभावमात्रं द्रष्टव्यम्**। अ०६। १। १२८। इति वार्त्तिकेन प्रकृतिभावः। अत्र **सायणाचार्य्येण द्रष्टव्यमिति भाष्यकारपाठमबुध्वा वक्तव्यमित्यशुद्धः पाठो लिखितः। मूलवार्त्तिकस्यापि पाठो न बुद्धः।** (एकः) यथैकोपि परमेश्वरः सूर्यलोको वा (चरन्) जानन् प्राप्तः सन् (उपशाकेभिः) उपशक्यन्ते यैः कर्मभिस्तैः। **बहुलं छन्दसि** इति भिस ऐस् न। (इन्द्र) ऐश्वर्ययुक्त शूरवीर (धनोः) धनुषो ज्यायाः (अधि) उपरि भावे (विषुणक्) वेविषत्यधर्मेण ये ते विषवस्तान् नाशयति सः। **अन्तर्गतो ण्यर्थः**। (ते) तव (वि) विशेषार्थे (आयन्) यन्ति प्राप्नुवन्ति। अत्र **लडर्थे लङ्**। (अयज्वानः) अयाक्षुस्ते यज्वानो न यज्वानोऽयज्वानः (सनकाः) सनन्ति=सेवन्ते परपदार्थान् ये ते। अत्र **क्वुन् शिल्पिसंज्ञयोरपूर्वस्यापि**। उ० २। ३२। (प्रेतिम्) प्रयन्ति=म्रियन्ते येन तं मृत्युम् (ईयुः) प्राप्नुयुः। अत्र **लिङर्थे लिट्**॥

प्रमाणार्थ—(वधीः) यहां लोट् लकार के अर्थ में लुङ् लकार और 'अट्' आगम का

अभाव है। (**घनेन**) 'मूर्तौ घनः' (अ० ३। ३। ७७) इस सूत्र से 'घन' शब्द निपातन से सिद्ध है। इसलिए यहां काठिन्य आदि गुणों से युक्त शस्त्र-विशेष का ग्रहण होता है। यहां 'ईषा अक्षादिषु च छन्दसि प्रकृतिभावमात्रं द्रष्टव्यम्' (अ० ६। १। १२७) इस वार्तिक सूत्र से प्रकृतिभाव है—घनेन एकश्च०। (**उपशाकेभिः**) यहां 'बहुलं छन्दसि' (अ० ७। १। १०) इस सूत्र से भिस् प्रत्यय को ऐस् आदेश नहीं हुआ। (**विषुणक्**) यहां 'णिच्' प्रत्यय का अर्थ अन्तर्भूत है। (**आयन्**) यहां लट् लकार के अर्थ में लङ् लकार है। (**सनकाः**) यहां 'क्वुन् शिल्पिसंज्ञयोरपूर्वस्यापि (२। ३२) इस उणादि सूत्र से 'क्वुन्' प्रत्यय है। (**ईयुः**) यहां लिङ् लकार के अर्थ में लिट् लकार है॥ ४॥

अन्वयः—हे इन्द्र शूरवीर यथेश्वरः सूर्य्यलोकश्चोपशाकेभिरेकश्चरन् दुष्टान् हिनस्ति तथैकाकी त्वं घनेन दस्युं वधीर्हिन्धि विनाशय विषुणक् त्वं धनोरधिवाणान् सक्त्वा दस्यून्निवार्य धनिनं वर्द्धय। ययेश्वरस्य निन्दकाः सूर्यलोकस्य शत्रवो घनेन सामर्थ्येन किरणसमूहेन वा नाशं व्यायन् वियन्ति तथा हि ते तवायज्वानः सनकाः प्रेतिमीयुर्यथा प्राप्नुयुस्तथैव यतस्व।

पदार्थान्वयः— हे **इन्द्रः**=शूरवीर! ऐश्वर्ययुक्त शूरवीर! **यथेश्वरः सूर्यलोकश्च उपशाकेभिः** उपशक्यन्ते यैः कर्मभिस्तैः **एकः** यथैकोपि परमेश्वरः सूर्यलोको वा **चरन्** जानन् प्राप्तः सन् (**दुष्टान्**) [**मेघान् वा**] **हिनस्ति,तथैकाकी त्वं घनेन** वज्राख्येन शस्त्रेण **दस्युं** बल-अन्यायाभ्यां परस्वापहर्त्तारं **वधीः**=**हिन्धि**=**विनाशय; विषुणक्** वेत्रिषत्यधर्मेण ये ते विषवस्तान् नाशयति सः **त्वं धनोः** धनुषो ज्यायां **अधि** उपरि **वाणान् सक्त्वा दस्यून् निवार्य धनिनं** धार्मिकं धनाढ्यं **वर्द्धय**॥

भाषार्थ—हे(**इन्द्र**) ऐश्वर्य से युक्त शूरवीर! जैसे ईश्वर और सूर्य (**उपशाकेभिः**) सशक्त कर्मों से (**एकः**) अकेला (**चरन्**) जानता या प्राप्त करता हुआ दुष्टों या मेघों का हनन करता है, वैसे अकेले आप—(**घनेन**) वज्र नामक शस्त्र से (**दस्युम्**) बल और अन्याय से परधन अपहरण करने वाले का (**वधीः**) वध करो, उसका विनाश करो, (**विषुणक्**) अधर्मात्माओं को नष्ट करने वाले आप—(**धनोः**) धनुष की डोरी के (**अधि**) ऊपर बाणों को आसक्त कर, दस्युजनों का निवारण करके (**धनिनम्**) धार्मिक धनाढ्य पुरुष को बढ़ाओ॥

ययेश्वरस्य निन्दकाः सूर्यलोकस्य शत्रवो घनेन=**सामर्थ्येन किरणसमूहेन वा नाशं वि**+**आयन्**=**वियन्ति** विशेषतया यन्ति=प्राप्नुवन्ति **तथा हि** निश्चयेन **ते**=**तव अयज्वानः** अयाक्षुस्ते यज्वानो न यज्वानोऽयज्वानः **सनकाः** सनन्ति=सेवन्ते परपदार्थान् **ये ते प्रेतिं** प्रयन्ति=म्रियन्ते येन तं मृत्युम् **ईयुः** प्राप्नुयुः **यथा प्राप्नुयुः तथैव यतस्व**॥

जैसे ईश्वर के निन्दक या सूर्य के शत्रु मेघ (**घनेन**) सामर्थ्य से या किरण-समूह से नाश को (**वि+आयन्**) विशेष रूप से प्राप्त होते हैं, वैसे (**हि**) ही आपके (**अयज्वानः**) पूजा न करनेवाले, (**सनकाः**) परपदार्थों का सेवन करने वाले (**प्रेतिम्**) मृत्यु को (**ईयुः**) जैसे प्राप्त हों, वैसा ही प्रयत्न करो॥ ३॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथेश्वरोऽजातशत्रुः सूर्यलोकोऽपि निवृत्तवृत्रो भवति; तथैव मनुष्यैर्दस्यून् हत्वा धनिनो ह्यवित्वाऽजातशत्रुभिर्भवितव्यमिति॥ ४॥

भावार्थ—यहां वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। जैसे ईश्वर अजातशत्रु अर्थात् शत्रुओं से रहित है, सूर्यलोक भी मेघ से निवृत्त हो जाता है, वैसे ही सब मनुष्य डाकुओं को मारकर धनवानों की रक्षा करके शत्रुओं से रहित होवें॥ ४॥

भाष्यसार—शूरवीर के गुण—जैसे ईश्वर अपने सशक्त कर्मों से अकेला ही दुष्टों को

जानता हुआ उनका हनन करता है, और जैसे सूर्य भी अपने सशक्त कर्मों से अकेला ही मेघों को प्राप्त करता हुआ उन्हें नष्ट करता है, वैसे ऐश्वर्य से युक्त शूरवीर अपने वज्र नामक शस्त्र से बल और अन्याय से परधन अपहरण करने वाले दस्यु का वध करे, उसका विनाश करे। अधर्मात्माओं को नष्ट करनेवाला शूरवीर धनुष की डोरी के ऊपर बाणों को चढ़ाकर दस्यु-जनों का निवारण करे और धार्मिक धनाढ्य पुरुष को बढ़ावे।

जैसे ईश्वर के निन्दक ईश्वर के सामर्थ्य से नष्ट हो जाते हैं, और जैसे सूर्य के शत्रु मेघ सूर्य के किरण-समूह से नष्ट हो जाते हैं वैसे शूरवीर की पूजा न करने वाले और पर पदार्थों का सेवन करने वाले अधार्मिक जन जैसे नष्ट हों वैसा प्रयत्न शूरवीर अवश्य करे॥

अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है, अतः वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि जैसे ईश्वर अपने सामर्थ्य से दुष्टों का और सूर्य अपने किरण-समूह से मेघों का हनन करता है वैसे शूरवीर अपने शस्त्र से दस्यु-जनों का वध करे॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे इन्द्र! तुम ने बहुत धन वाले चोर वृत्र को कठोर वज्र से निश्चय से मारा है। यद्यपि शक्तिसम्पन्न मरुद्देव तुम्हारे पास में थे, परन्तु वृत्र पर केवल तुमने ही प्रहार किया। इन्द्र के धनुष के ऊपर सब ओर से जो वृत्र के सेवक आए थे, वे सनक नामक अनुचर यज्ञ के विरोधी थे और वे सभी मृत्यु को प्राप्त हुए।"

इस मन्त्र में भी इन्द्र=शूरवीर (सेनापति) का ही वर्णन है। क्योंकि वह शस्त्रादि से अन्याय करने वाले चोरादि दुष्टजनों तथा शत्रुओं का विनाश कर प्रजा की रक्षा करता है। यज्ञ न करने वाले तथा दूसरों के धनों का अपहरण करने वाले दस्युओं का वध स्वर्ग में बैठा हुआ कल्पित इन्द्र देवता करता है, इस असत्य बात को कोई आँख का अन्धा मतिहीन व्यक्ति ही मान सकता है। स्वर्गस्थ कल्पित इन्द्र-देव को सूचना भी कैसे मिलती होगी कि कौन अयजनशील तथा दस्यु हैं? क्या वह एकदेशी इन्द्र बिना जाने ही किसी को भी दण्ड देता है? आजकल चोर दस्यु आदि की पर्याप्त बढ़ोतरी है, क्या वह इन्द्र नशे में होकर मस्त सोया हुआ है, जो आजकल दस्युओं से हमारी सुरक्षा नहीं करता? यथार्थ में एक मिथ्या मान्यता मानने पर पद-पद पर दोषों को मानना पड़ता है। सायण ने इन्द्र तथा वृत्रासुर के आलंकारिक आख्यानों पर लेशमात्र भी ध्यान नहीं दिया। सायण ने वैदिक यौगिक-प्रक्रिया को भी तिलाञ्जलि इसीलिए दी, क्योंकि उसको मानकर वे अपने कल्पित आख्यान को मन्त्रार्थ में कदापि नहीं मिला सकते थे। महर्षि दयानन्द ने अपनी 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' में इन आलंकारिक वर्णनों की प्रामाणिक व्याख्या की है। पाठकों को ये स्थल अवश्य पढ़ने चाहिए।

और आचार्य सायण को 'अयज्वानः, सनकाः' इन पदों के अर्थों को समझने में महाभ्रान्ति रही है। सायण के अनुसार वृत्र चोर है और 'सनक' नामक वृत्र के अनुचर हैं। वे अनुचर जब इन्द्र के पास आते हैं, तब उनकी मृत्यु होती है। राजाओं तथा धनाढ्यों के अनुचर तो देखे व सुने जाते हैं, किन्तु वृत्र=चोरों के अनुचर सायणाचार्य के समय में होते होंगे। क्योंकि वे राजा के दरबार में रहते थे, उन्होंने

---

१. हे इन्द्र धनिनं बहुधनोपेतं दस्युं चोरं वृत्रं घनेन कठिनेन वज्रेण वधीर्हि त्वं हतवान् खलु। उपशाकेभिः समीपवर्त्तिभिः शक्तियुक्तैर्मरुद्भिः सहितो भूत्वा एकश्चरन्। प्रहर्त्तुं स्वयमेक एव गच्छन्। यद्यपि मरुतः समीपे वर्त्तन्ते तथापि ते प्रोत्साहयन्त्येव न तु वृत्रं प्रहरन्ति। धनोरधि इन्द्र-संबन्धिनो धनुष उपरि विषूणक् विविधं नाशमुद्दिश्य यद्वा विष्वक् सर्वतः ते वृत्रानुचराः व्यायन् विविधमागच्छन्। आगत्य च अयज्वानः यज्ञविरोधिनः सन्तः सनकाः एतन्नामका वृत्रानुचराः प्रेतिमीयुः मरणं प्राप्ताः॥ (सायणः)

किसी प्रदेश-विशेष में देखे होंगे। यथार्थ में सायण मन्त्रोक्त पदों के विशेषण-विशेष्य भाव को ही नहीं समझ सके। शूर-वीर सेनाध्यक्ष का यह परम कर्त्तव्य है कि राज्य में जो भी अयज्वानः सनकाः= ईश्वरोपासना से विमुख नास्तिक तथा दूसरों के पदार्थों का अपहरण करके खाने वाले पुरुष हों, उन्हें यथोचित दण्ड देकर उनका तिरस्कार किया करें और उन्हें कठोर मृत्यु-दण्डादि भी देवें। ऐसे सुसंगत मन्त्रार्थ को न समझकर अन्यथा अर्थ सायण कर गए हैं। स्कन्द-स्वामी ने भी इन दोनों पदों में विशेषण-विशेष्य भाव माना है। 'सनकाः' को 'अयज्वानः' का विशेषण माना है। जिससे स्पष्ट है कि 'सनकाः' किन्हीं का नाम नहीं है।

आचार्य-सायण ने मन्त्रोक्त 'वधीः' 'आयन्' 'ईयुः' क्रियाओं का भूतकाल में अर्थ किया है। यह भी उनकी वैदिक नियमों से अनभिज्ञता है। लोक में जो लकार भूतकाल में प्रयुक्त होते हैं, वेद में उनका सामान्यकाल में भी प्रयोग होता है। वेद का ज्ञान शाश्वत है। क्या इन्द्र पहले चोरादि का वध करता था, अब नहीं करता। अथवा भविष्य में नहीं करेगा? क्या इन मन्त्रों की वर्त्तमानकाल में कोई आवश्यकता नहीं है? वेद को ईश्वरीयज्ञान मानकर भी उनकी ऐसी ऐतिहासिक मिथ्या व्याख्याएँ करके आचार्य सायण ने वेदों की प्रतिष्ठा को मिट्टी में ही मिलाया है और ज्ञान के स्रोत वेद की मिथ्या व्याख्या से मिथ्या भ्रान्तियों को जन्म दिया है॥ ४॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **इन्द्रः** (**शूरवीरः**) देवता। विराट्त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

अथेन्द्रशब्देन शूरवीरकृत्यमुपदिश्यते॥

अब इन्द्र शब्द से शूरवीर के कार्य का उपदेश किया जाता है॥

परा चिच्छीर्षा ववृजुस्त इन्द्रायज्वानो यज्वभिः स्पर्धमानाः।
प्र यद्दिवो हरिवः स्थातरुग्र निरव्रताँ अधमो रोदस्योः॥ ५॥

परा। चित्। शीर्षा। ववृजुः। ते। इन्द्र। अयज्वानः। यज्वभिः। स्पर्धमानः। प्र। यत्। दिवः। हरिऽवः। स्थातः। उग्र। निः। अव्रतान्। अधमः। रोदस्योः॥ ५॥

पदार्थः—(**परा**) दूरीकरणे (**चित्**) उपमायाम् (**शीर्षा**) शिरांसि। अत्र **अचि शीर्षः।** अ० ६। १। ६२। इति शीर्षादेशः। **शेश्छन्दसि ब०** इति शेर्लोपः। (**ववृजुः**) त्यक्तवन्तः (**ते**) वक्ष्यमाणाः (**इन्द्र**) शत्रुविदारयितः शूरवीर (**अयज्वानः**) यज्ञानुष्ठानं त्यक्तवन्तः (**यज्वभिः**) कृतयज्ञानुष्ठानैः सह (**स्पर्द्धमानाः**) ईर्ष्यकाः (**प्र**) प्रकृष्टार्थे (**यत्**) यस्मात् (**दिवः**) प्रकाशस्य (**हरिवः**) हरयोऽश्वहस्त्यादयः प्रशस्ताः सेनासाधका विद्यन्ते यस्य स हरिवांस्तत्संबुद्धौ (**स्थातः**) यो युद्धे तिष्ठतीति तत्संबुद्धौ (**उग्र**) दुष्टान् प्रति तीक्ष्णव्रत। (**निः**) नितराम् (**अव्रतान्**) व्रतेन=सत्याचरणेन हीनान् मिथ्यावादिनो दुष्टान्। (**अधमः**) शब्दैः शिक्षय (**रोदस्योः**) द्यावापृथिव्योः। **रोदस्योरिति द्यावापृथिव्योर्नामसु पठितम्।** निघं० ३। ३०॥ ५॥

प्रमाणार्थ—(**शीर्षा**) यहां 'अचि शीर्षः' (अ० ६। १। ६२) इस सूत्र से 'शिर' शब्द को 'शीर्ष' आदेश है। 'शेश्छन्दसि बहुलम्' (अ० ६। १। ७०) इस सूत्र से 'शि' विभक्ति का लोप है। (**रोदस्योः**) यह पद निघण्टु (३। ३०) में द्यावापृथिवी-नामों में पढ़ा है॥ ५॥

अन्वयः—हे हरिवो युद्धं प्रति प्रस्थातरुग्रेन्द्र! [चित्] यथा प्रस्थातोग्रेन्द्रः सूर्यलोको रोदस्योः प्रकाशाकर्षणे कुर्वद् वृत्रावयवांश्छित्वा परा धमति तथैव त्वं यद् ये ऽयज्वानो यज्वभिः स्पर्द्ध-

माना: सन्ति, ते यथा शीर्षा शिरांसि ववृजुस्त्यक्तवन्तो भवेयुः [तथा] तानव्रतांस्त्वं निरधमो नितरा शिक्षय, दण्डय ॥ ५ ॥

सपदार्थान्वयः—हे हरिवः ! हरयोऽश्वहस्त्यादयः प्रशस्ताः सेनासाधका विद्यन्ते यस्य स, तत्सम्बुद्धौ **युद्धं प्रति प्रस्थातः** प्रकृष्टतया यो युद्धे तिष्ठतीति, तत्सम्बुद्धौ **उग्र** दुष्टान् प्रति तीक्ष्णव्रत **इन्द्र** शत्रुविदारयितः शूरवीर ! **[चित्] यथा [दिवः]** प्रकाशस्यो **प्रस्थातोग्रेन्द्रः**=सूर्यलोको **रोदस्योः** द्यावापृथिव्योः **प्रकाशाकर्षणे कुर्वन्, वृत्रावयवांश्छित्वा परा+धमति; तथैव त्वं यत्**=**ये ऽयज्वानः** यज्ञानुष्ठानं त्यक्तवन्तः **यज्वभिः** कृतयज्ञानुष्ठानैः सह **स्पर्द्धमानाः** ईर्ष्यकाः **सन्ति ते** वक्ष्यमाणाः **यथा शीर्षा**=**शिरांसि ववृजुः**=**त्यक्तवन्तो भवेयुस्तानव्रतान्**=व्रतेन सत्याचरणेन हीनान्, मिथ्यावादिनो दुष्टान् **त्वं निरधमः**=**नितरां शिक्षय, दण्डय** ॥ ५ ॥

भाषार्थ—हे (**हरिवः**) घोड़े, हाथी आदि प्रशस्त सेना-साधनों से युक्त, युद्ध के प्रति (**प्रस्थातः**) प्रस्थान करनेवाले, (**उग्र**) दुष्टों के प्रति तीक्ष्ण व्यवहार वाले, (**इन्द्र**) शत्रुओं के विदारक शूरवीर ! **[चित्]** जैसे **[दिवः]** प्रकाश का प्रस्थाता सूर्य (**रोदस्योः**) द्यावापृथिवी के प्रकाश और आकर्षण करता हुआ मेघ के अवयवों का छेदन करके उन्हें (**परा+धमति**) दूर भगाता है. वैसे ही आप—(**यत्**) जो (**अयज्वानः**) यज्ञ न करने वाले एवं (**यज्वभिः**) यज्ञ करनेवाले के साथ (**स्पर्द्धमानाः**) ईर्ष्या करनेवाले हैं, (**ते**) वे जैसे (**शीर्षाः**) शिरों से (**ववृजुः**) रहित होवें वैसे उन (**अव्रतान्**) व्रत=सत्याचरण से हीन, मिथ्यावादी दुष्ट जनों को (**निरधमः**) सर्वथा शिक्षा करो, उन्हें यथावत् दण्डित करो ॥ ५ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः। यथा सूर्यो दिनं पृथिव्यादिकं प्रकाशं च धृत्वा वृत्रान्धकारं निवार्य वृष्ट्या सर्वान् प्राणिनः सुखयति। तथैव मनुष्यैः सद्गुणान् धृत्वाऽसद्गुणांस्त्यक्त्वाऽधार्मिकान् दण्डयित्वा विद्यासुशिक्षाधर्मोपदेशवर्षणेन सर्वान् प्राणिनः सुखयित्वा सत्यराज्यं प्रचारणीयमिति ॥ ५ ॥

भावार्थ—यहां उपमा अलंकार है। जैसे सूर्य दिन, पृथ्वी आदि और प्रकाश को धारण कर वृत्र (मेघ) के अन्धकार को हटाकर वर्षा से सभी प्राणियों को सुख देता है, वैसे ही सब मनुष्य—सद्गुणों को धारण करके बुरे गुणों को छोड़कर, अधार्मिकों को दण्ड देकर, विद्या, सुशिक्षा, और धर्मोपदेश की वर्षा से सभी प्राणियों को सुखी करके सत्य राज्य का प्रचार करें ॥ ५ ॥

भाष्यसार—**शूरवीर के कार्य**—शूरवीर घोड़े, हाथी आदि प्रशस्त सेना-साधनों से युक्त हो। वह युद्ध के प्रति प्रस्थान करनेवाला, दुष्टों के प्रति तीक्ष्ण-व्यवहार वाला और शत्रुओं का विदारक हो। जैसे प्रकाश का प्रस्थाता सूर्य द्यावापृथिवी के प्रकाश और आकर्षण करता है और मेघ-अवयवों का छेदन करके उन्हें दूर भगाता है वैसे शूरवीर यज्ञ न करनेवाले एवं यज्ञ-कर्त्ताओं के साथ ईर्ष्या करनेवाले, सत्याचरण से हीन मिथ्यावादी दुष्ट जनों को अच्छी शिक्षा करे, उन्हें यथावत् दण्डित करे ॥ ५ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में 'चित्' पद उपमा-वाचक है अतः उपमा अलंकार है। उपमा यह है कि जैसे सूर्य मेघ-अवयवों का छेदन करके उन्हें दूर भगाता है, वैसे शूरवीर दुष्ट जनों को यथावत् दण्डित करे एवं उन्हें शिक्षित करे ॥ ५ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे इन्द्र ! वृत्र के अनुचर स्वयं याग-

---

१. हे इन्द्र ! ते वृत्रानुचराः शीर्षा स्वकीयानि शिरांसि पराचित् पराङ्मुखान्येव कृत्वा ववृजुः गतवन्तः। कीदृशास्ते। अयज्वानः स्वयं यागरहिताः प्रत्युत यज्वभिः यागानुष्ठातृभिः सह स्पर्धमानाः।

रहित हैं और याग करने वालों के साथ स्पर्धा करते हुए अपने शिरों को पराङ्मुख करके चले गए। हे हरि नामक घोड़ों से युक्त, युद्ध में पलायन न करने वाले तथा शूरतायुक्त इन्द्र ! जब अन्तरिक्ष से द्युलोक तथा पृथिवीलोक के समीप व्रतरहित वृत्र के अनुचरों का तुमने सम्पूर्णता से धमन किया, उस समय वे तुम्हारे मुख के वायु से ही प्रेरित होकर (उड़कर) चले गए।"

इस मन्त्र की व्याख्या में भी सायणाचार्य ने न तो मन्त्र के देवता को ही समझा है और न वृत्रादि को। स्वर्ग के राजा इन्द्र को घोड़ों से युक्त कहकर तो सायणाचार्य ने आश्चर्य ही पैदा कर दिया है। शरीरधारी इन्द्र घोड़ों पर अथवा घोड़ों से युक्त रथ पर बैठकर आए और वृत्र तथा वृत्र के अनुचरों के शिरों का छेदन करे और किसी भी मनुष्य को दिखाई न देवे, यह आश्चर्य की बात है या नहीं ? और ये घोड़े अन्तरिक्ष में किसके आश्रय से चलते फिरते होंगे ? यह भी सायण ही जानते होंगे। और इन्द्र के मुख के वायु से ही वृत्र के अनुचर उड़ गए, यह तो और भी महागप्प है। क्या वे अनुचर कार्पास (रूई) के बने हुए थे ?

महर्षि-दयानन्द ने यहाँ 'इन्द्र' का अर्थ शूरवीर (सेनापति) किया है। उसे घोड़े आदि सेना के अंगों का स्वामी होने से 'हरिवः' मन्त्र में कहा है। और वह उन दुष्ट पुरुषों को दण्ड देता है, जो सत्याचरणादिव्रतों से हीन हैं, यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों को न तो स्वयं करते हैं, और यज्ञादि करने वालों के साथ ईर्ष्या भाव रखते हैं। महर्षि ने मन्त्रोक्त उपमान-उपमेय भाव को भी भली-भांति समझाया है। जैसे सूर्य किरणों से वृत्र=मेघ के अवयवों को छिन्न-भिन्न करके वृष्टि द्वारा प्रजा को सुख पहुँचाता है, वैसे ही शूरवीर सेनापति दुष्ट-पुरुषों को दण्डित करके श्रेष्ठ-पुरुषों को सुखी करे। इस महर्षि के अर्थ में कहीं भी असंगति नहीं है, किन्तु सायण की व्याख्या सारी ही असंगत है ॥ ५ ॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **इन्द्रः** (**शूरवीरः**) देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनस्तस्य किं कृत्यमित्युपदिश्यते ॥

फिर उस शूरवीर का क्या कार्य है, यह उपदेश किया जाता है ॥

अयुयुत्सन्ननवद्यस्य सेनामयातयन्त क्षितयो नवग्वाः।
वृषायुधो न वध्रयो निरष्टाः प्रवद्भिरिन्द्रात्क्षितयन्त आयन् ॥ ६ ॥

अयुयुत्सन्। अनवद्यस्य। सेनाम्। अयातयन्त। क्षितयः। नवऽग्वा। वृषऽयुधः। न। वध्रयः। निःऽअष्टाः। प्रवत्ऽभिः। इन्द्रात्। क्षितयन्तः। आयन् ॥ ६ ॥

पदार्थः—(**अयुयुत्सन्**) युद्धेच्छां कुर्य्युः। अत्र **लिङर्थे लङ्। व्यत्ययेन पमस्मैपदं च** (**अनवद्यस्य**) सद्गुणैः प्रशंसनीयस्य सेनाध्यक्षस्य (**सेनाम्**) चतुरङ्गिणीं संपाद्य (**अयातयन्त**) सुशिक्षया प्रयत्नवतीं संस्कुर्वन्तु (**क्षितयः**) क्षियन्ति=क्षयं प्राप्नुवन्ति निवसन्ति ये ते मनुष्याः। **क्षितय इति मनुष्यनामसु पठितम्।** निघं० २। ३। क्षि निवासगत्योरर्थयोर्वर्त्तमानाद् धातोः। **क्तिच् क्तौ च संज्ञायाम्।** अ० ३। ३। १७४। अनेन क्तिच्। (**नवग्वाः**) नवीनशिक्षाविद्याप्राप्ताः प्रापयितारश्च। **नवगतयो नवनीतगतयो वा।** निरु० ११। १९। (**वृषायुधः**) ये वृषेण=वीर्यवता शूरवीरेण सह युध्यन्ते ते।

हे हरिवः हरिनामकाश्वयुक्त स्थातः स्थितियुक्त युद्धे पलायनरहित उग्र शौर्ययुक्तेन्द्र यत् यदा दिवः अन्तरिक्षात् रोदस्योः द्यावापृथिव्योः सकाशाच्च अव्रतान् व्रतरहितान् वृत्रानुचरान् निःप्र अधमः निःशेषेण धमनं कृतवानसि तदानीं त्वदीयमुखवायुना नुन्नाः सन्तो ववृजुरिति ॥ (सायणः)

वृषोपपदे **क्विप् च** इति क्विप्। **अन्येषामपि दृश्यते** इति दीर्घः। (**न**) इव (**बध्रयः**) ये बध्यन्ते निर्वीर्या=नपुंसका वीर्य्यहीनास्ते (**निरष्टाः**) ये नितरां अश्यन्ते=व्याप्यन्ते शत्रुभिर्बलेन ते (**प्रवद्भिः**) ये नीचमार्गैः प्रवन्ते=प्लवन्ते तैः (**इन्द्रात्**) शूरवीरात् (**चितयन्तः**) धनुर्विद्यया प्रहारादिकं संजानन्तः (**आयन्**) ईयुः। अत्र **लिङर्थे लङ्** ॥ ६ ॥

प्रमाणार्थ—(**अयुयुत्सन्**) यहां लिङ् लकार के अर्थ में लङ् लकार है और व्यत्यय से परस्मै पद है। (**क्षितयः**) यह पद निघण्टु (२ । ३) में मनुष्य-नामों में पढ़ा है। निवास और गति अर्थ में वर्तमान 'क्षि' धातु से 'क्तिक्तौ च संज्ञायाम्' (अ० ३ । ३ । १७४) इस सूत्र से 'क्तिच्' प्रत्यय है। (**नवग्वाः**) इस पद का अर्थ निरुक्त (११ । १६) के अनुसार नवगतियां अथवा नवनीत गतियां है। गति के अर्थ ज्ञान, गमन और प्राप्ति हैं, अतः यहां ज्ञान और प्राप्ति अर्थ का ग्रहण है। (**वृषायुधः**) यहां 'क्विप् च' (अ० ३ । २ । ७६) इस सूत्र से 'क्विप्' प्रत्यय है, और 'अन्येषामपि दृश्यते' (अ० ६ । ३ । १३७) इस सूत्र से दीर्घ है। (**आयन्**) यहां लिङ् लकार के अर्थ में लङ् लकार है ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे नवग्वा वृषायुधश्चितयन्तः क्षितयो मानुषा भवन्तो यस्यानवद्यस्य सेनामयातयन्त दुष्टैः शत्रुभिः सहायुयुत्सन् यस्मादिन्द्रात्सेनाध्यक्षात् बध्रयो नेव शत्रवश्चितयन्तो निरष्टाः सन्तः प्रवद्भिर्मार्गैरायन् पलायेरँस्तं सेनाध्यक्षं स्वीकुर्वन्तु ॥ ६ ॥

सपदार्थान्वयः— हे **नवग्वाः** नवीनशिक्षा विद्याप्राप्ताः प्रापयितारश्च **वृषायुधः** ये वृषेण=वीर्यवता शूरवीरेण सह युध्यन्ते ते **चितयन्तः** धनुर्विद्यया प्रहारादिकं संजानन्तः **क्षितयः मानुषाः** क्षियन्ति=क्षयं प्राप्नुवन्ति निवसन्ति ये ते मनुष्याः ! **भवन्तो यस्य अनवद्यस्य** सद्गुणैः प्रशंसनीयस्य सेनाध्यक्षस्य **सेनां** चतुरङ्गिणीं संपाद्य **अयातयन्त** सुशिक्षया प्रयत्नवती संस्कुर्वन्तु; **दुष्टैः शत्रुभिः सह अयुयुत्सन्** युद्धेच्छां कुर्य्युः; **यस्मादिन्द्रात्=सेनाध्यक्षात्** शूरवीरात् **बध्रयः** ये बध्यन्ते निर्वीर्याः=नपुंसका वीर्य्यहीनास्ते **न=इव, शत्रवश्चितयन्तः** धनुर्विद्यया प्रहारादिकं संजानन्तः **निरष्टाः** ये नितराम् अश्यन्ते=व्याप्यन्ते शत्रुभिर्बलेन ते सन्तः **प्रवद्भिः=मार्गैः** ये नीचमार्गैः प्रवन्ते=प्लवन्ते तैः **आयन्=पलायेरँस्तं सेनाध्यक्षं स्वीकुर्वन्तु** ॥ ६ ॥

भाषार्थ—हे (**नवग्वाः**) नवीन शिक्षा और विद्या को प्राप्त करने-कराने वाले (**वृषायुधः**) बलवान् शूरवीर से युद्ध करने वाले (**चितयन्तः**) धनुर्विद्या से प्रहार आदि के ज्ञाता (**क्षितयः**) निवासशील मनुष्यो ! आप—जिस (**अनवद्यस्य**) सद्गुणों से प्रशंसनीय सेनाध्यक्ष की (**सेनाम्**) चतुरङ्गिणी सेना को सिद्ध करके (**अयातयन्त**) सुशिक्षा से प्रयत्नवती करो, दुष्ट शत्रुओं के साथ (**अयुयुत्सन्**) युद्ध की इच्छा करो, जिस (**इन्द्रात्**) सेनाध्यक्ष शूरवीर से (**बध्रयः**) निर्वीर्य, नपुंसक के (**न**) समान शत्रुजन (**चितयन्तः**) धनुर्विद्या से प्रहार आदि के ज्ञाता (**निरष्टाः**) प्रबल सेना से घिरे हुये (**प्रवद्भिः**) पलायन योग्य नीच मार्गों से (**आयन्**) भागजावें, उसे सेनाध्यक्ष स्वीकार करें ॥ ६ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः। ये मानवाः शरीरात्मबलयुक्तं शूरवीरं धार्मिकं मनुष्यं सेनाध्यक्षं कृत्वा सर्वथोत्कृष्टां सेनां संपाद्य यदा दुष्टैः सह युद्धं कुर्वन्ति तदा यथा सिंहस्य समीपादजा वीरस्य समीपाद्भीरवः सूर्यस्य प्रतापाद् वृत्रावयवा नश्यन्ति तथा तेषां शत्रवो नष्टसुखा-

भावार्थ—यहां उपमा अलङ्कार है। जो मनुष्य—शरीर और आत्मा के बल से युक्त शूरवीर, धार्मिक मनुष्य को सेनापति बनाकर, सब प्रकार से उत्तम सेना का सम्पादन करके, जब दुष्टों के साथ युद्ध करते हैं, तब जैसे शेर के समीप से बकरी, वीर के समीप से कायर और

दर्शितपृष्ठा इतस्ततः पलायन्ते। तस्मात्सर्वैर्मनुष्यैरीदृशं सामर्थ्यं संपाद्य राज्यं भोक्तव्यमिति॥

सूर्य के प्रताप से मेघ के अवयव नष्ट होते हैं, वैसे ही उनके शत्रु सुख से रहित होकर, पीठ दिखाकर इधर-उधर भाग जाते हैं॥ ६॥

भाष्यसार—**शूरवीर का कार्य**—नवीन शिक्षा और विद्या को प्राप्त करने-कराने वाले बलवान् शूरवीर से युद्ध करने वाले, धनुर्विद्या से प्रहार आदि के ज्ञाता मनुष्यों को उचित है कि वे सद्गुणों से प्रशंसनीय शूरवीर सेनाध्यक्ष की चतुरङ्गिणी सेना को सिद्ध करें और उसे सुशिक्षा से प्रयत्नवती करें और दुष्ट शत्रुओं के साथ युद्ध की इच्छा करें। शूरवीर सेनाध्यक्ष ऐसा हो कि उसके प्रताप से नपुंसक, धनुर्विद्या से प्रहार आदि के ज्ञाता, प्रबल सेना से घिरेहुये शत्रु पलायनयोग्य नीच-मार्गों से पलायन कर जावें। उक्त मनुष्य ऐसे प्रतापी शूरवीर को सेनाध्यक्ष स्वीकार करें॥ ६॥

अलंकार—इस मन्त्र में 'न' पद उपमा-वाचक है, अतः उपमा अलंकार है। उपमा यह है कि शत्रु-जन निर्वीर्य=नपुंसक जन के तुल्य हों॥ ६॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायणभाष्य[1] इस प्रकार है—"वृत्र के अनुचरों ने निर्दोष इन्द्र की सेना के प्रति युद्ध करना चाहा। उस समय प्रशंसनीय चरित्र वाले अङ्गिरस आदि मनुष्यों ने युद्ध के लिए इन्द्र को अनेक प्रकार के मन्त्रों से प्रोत्साहन दिया। इन्द्र के युद्ध के लिए चले जाने पर इन्द्र से तिरस्कृत वृत्र के अनुचरों ने अपना असामर्थ्य प्रकट किया, और इन्द्र के पास से भागने योग्य मार्गों से दूर चले गए। जैसे शूरवीर के साथ युद्ध करते हुए नपुंसक दूर भाग जाते हैं।"

यहाँ सायणाचार्य ने मन्त्र के देवता को न समझकर असंगत व्याख्या की है। इस मन्त्र में वृत्रासुर का कोई वर्णन नहीं है। 'क्षितयः' आदि सब पद बहुवचनान्त ही हैं। अतः सायण ने इन पदों का अर्थ 'वृत्र के अनुचर' अर्थ कर दिया है। इन्द्र की सेना क्या है तथा वृत्र के अनुचर कौन है? यह सायण के भाष्य से बिलकुल भी स्पष्ट नहीं है। और यह कैसी उपहास्यास्पद बात है कि जिस इन्द्र को रक्षा करने वाला देवता सायण ने माना हुआ है, उसका उत्साह युद्ध में मनुष्य मन्त्र बोलकर बढ़ाते हैं। और इन्द्र देवता से बचकर वृत्र के अनुचर भागने में समर्थ हो जाते हैं। मन्त्रों से उत्साह बढ़ाने पर भी इन्द्र वृत्रानुचरों को मारने में असफल ही रहा है। यथार्थ में सायण ने मन्त्र-व्याख्या पौराणिक पूर्वाग्रह- वश ही की है। जब उन्होंने इसी सूक्त के दसवें मन्त्र में वृत्र को मेघरूप ही माना है, तब मेघ के अनुचर कौन हो सकते हैं, जो इन्द्र के साथ युद्ध करते हैं? अतः सायण की व्याख्या असङ्गत तथा मिथ्या है।

महर्षि दयानन्द ने इस मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय इन्द्र-देवता का 'शूरवीर सेनाध्यक्ष' अर्थ किया है। वह कैसा होना चाहिए? इसका वर्णन यहाँ किया है। वह शूरवीर निर्दोष होने से प्रशंसनीय तथा शत्रुओं को भगाने में समर्थ होना चाहिए। उसकी सेना प्रशिक्षित तथा अनुशासित होनी चाहिए। उसकी सेना में वीर-पुरुष ऐसे होने चाहिए कि जो नवग्वाः=नवीनतम विज्ञान को जानने वाले हों,

---

१. अनवद्यस्य गर्हणीयदोषरहितस्येन्द्रस्य सेनां प्रति अयुयुत्सन् वृत्रस्यानुचरा योद्धुमैच्छन्। तदानीं नवग्वाः नवनीतगतयः स्तोतव्यचरित्राः क्षितयः मनुष्या अङ्गिरःप्रभृतयः अयातयन्त युद्धार्थमिन्द्रं नानाविधैर्मन्त्रैः प्रोत्साहितवन्तः। इन्द्रे योद्धुं गते सति निरष्टाः तेनेन्द्रेण निराकृता वृत्रानुचराः चितयन्तः स्वकीयामशक्तिं ज्ञापयन्तः इन्द्रात् इन्द्रस्य सकाशात् प्रवद्भिः प्रवणैः पलायितुं सुशकैर्मार्गैः आयन् दूरे गतवन्तः। तत्र दृष्टान्तः। वृषायुधः वृषेण सेचनसमर्थेन पुंस्त्वयुक्तेन शूरेण सह युद्धं कुर्वन्तः वध्रयः न नपुंसका इव॥ (सायणः)

वृषायुधः=बलवान् शत्रु से भी युद्ध करने में समर्थ तथा चितयन्तः=शत्रुओं पर प्रहार करने के दांव-पेचों को जानने वाले हों।

आचार्य सायण ने अपनी व्याख्या में वैदिक नियमों की भी उपेक्षा की है। वेद में लङ् आदि लकार सामान्यकाल में होते हैं, इस तथ्य को न समझकर सायण ने 'अयातयन्तः' 'आयन्' तथा 'अयुयुत्सन्' क्रियाओं के भूतकाल में अर्थ किए हैं। उन्होंने यहाँ यह भी नहीं सोचा कि शाश्वत व सार्वभौम वेद-ज्ञान में भूतकाल के वर्णन से यह ईश्वरीय-ज्ञान कैसे सम्भव है? और जो भूतकाल का ही इतिवृत्त है, तो उसका वर्त्तमान काल में क्या उपयोग है? इससे वेदों का महत्त्व ही कम किया गया है। और 'अयातयन्तः' में 'यती प्रयत्ने' क्रिया मानकर उसका प्रोत्साहन अर्थ करना, और 'निरष्टाः' पद में 'अशूङ् व्याप्तौ' क्रिया मानकर उसका तिरस्कार अर्थ करना आदि सायण के पूर्वाग्रह को ही स्पष्ट कर रहे हैं। अन्यथा वे मूल धात्वर्थ का परित्याग न करके सुसङ्गत अर्थ ही करते ॥ ६ ॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **इन्द्रः** (शूरवीरः) देवता। विराट्त्रिष्टुप् छन्दः॥ धैवतः स्वरः॥

पुनरिन्द्रशब्देन शूरवीरकर्त्तव्यमुपदिश्यते ॥

फिर इन्द्र शब्द से शूरवीर के कार्य का उपदेश किया जाता है॥

त्वमेतान् रुदतो जक्षतश्चायोधयो रजस इन्द्र पारे।
अवादहो दिव आ दस्युमुच्चा प्र सुन्वतः स्तुवतः शंसमावः ॥ ७ ॥

त्वम्। एतान्। रुदतः। जक्षतः। च। अयोधयः। रजसः। इन्द्र। पारे। अव। अदहः। दिवः। आ। दस्युम्। उच्चा। प्र। सुन्वतः। स्तुवतः। शंसम्। आवः॥ ७॥

पदार्थः—(त्वम्) युद्धविद्याविचक्षणः (एतान्) परपीडाप्रदान् दुष्टान् शत्रून् (रदतः) रोदनं कुर्वतः (जक्षतः) भक्षणहसने कुर्वतः (च) समुच्चये (अयोधयः) सम्यक् योधय। अत्र **लोडर्थे लङ्।** (रजसः) पृथिवीलोकस्य। **लोका रजांस्युच्यन्ते।** निरु० ४। १९। (इन्द्र) राज्यैश्वर्ययुक्त (पारे) परभागे (अव) अर्वागर्थे (अदहः) दह (दिवः) सुशिक्षयेश्वरधर्मशिल्पयुद्धविद्यापरोपकारादिप्रकाशात् (आ) समन्तात् (दस्युम्) बलादन्यायेन परपदार्थहर्त्तारम् (उच्चा) उच्चानि=सुखानि कर्माणि वा (प्र) प्रकृष्टार्थे (सुन्वतः) निष्पादयतः (स्तुवतः) गुणस्तुति कुर्वतः (शंसम्) शंसति येन शास्त्रबोधेन तम् (आवः) रक्ष प्राप्नुहि वा॥

प्रमाणार्थ—(अयोधयः) यहां 'लोट्' लकार के अर्थ में 'लङ्' लकार है। (रजसः) निरुक्त (४। १९) के अनुसार 'रजांसि' पद का अर्थ लोक है॥ ७॥

अन्वयः—हे इन्द्र सेनैश्वर्ययुक्त सेनाध्यक्ष त्वमेतान् दुष्टकर्मकारिणो रुदतो रोदनं कुर्वतो शत्रून् जन्तून् वा दस्युं च [दण्डय] स्वकीयभृत्यान् जक्षतो बहुविधभोजनादिप्रापितान् कारितहर्षांश्चायोधयः। एतान् धर्मशत्रून् रजसः पारे कृत्वाऽवादहः। एवं दिव उच्चोत्कृष्टानि कर्माणि प्रसुन्वत आस्तुवतस्तेषां शंसं च प्रावः॥ ७॥

सपदार्थान्वयः—हे इन्द्र !=सेनैश्वर्ययुक्त सेनाध्यक्ष ! राज्यैश्वर्य्ययुक्त ! त्वं युद्धविद्याविचक्षणः एतान् परपीडाप्रदान् दुष्टान् शत्रून्

भाषार्थ—हे (इन्द्र) सेना और राज्य के ऐश्वर्य से युक्त सेनाध्यक्ष ! (त्वम्) युद्धविद्या में चतुर आप—(एतान्) दूसरों को पीड़ा देनेवाले,

दुष्टकर्मकारिणो रुदतः=रोदनं कुर्वतः, शत्रून् जन्तून् वा दस्युं बलादन्यायेन परपदार्थहर्त्तारं **च [दण्डय] स्वकीयभृत्यान् जक्षतः बहुविधभोजनादिप्रापितान् कारितहर्षांश्चाऽयोधयः** सम्यक् योधय। **एतान् धर्मशत्रून् रजसः** पृथिवीलोकस्य **पारे** परभागे **कृत्वाऽवादहः** अर्वाग्-दह। **एवं दिवः** सुशिक्षयेश्वरधर्मशिल्पयुद्धविद्यापरोपकारादिप्रकाशात् **उच्चा=उत्कृष्टानि कर्माणि** उच्चानि=सुखानि कर्माणि वा **प्रसुन्वतः** प्रकृष्टतया निष्पादयतः **आस्तुवतः** समन्ताद् गुणस्तुतिं कुर्वतः **तेषां शंसं** शंसति येन शास्त्रबोधेन तं **च प्रावः** प्रकृष्टतया रक्ष, प्राप्नुहि वा ॥ ७॥

दुष्ट कर्म करनेवाले, (**रुदतः**) रोने वाले शत्रुओं या जन्तुओं को और (**दस्युम्**) बल तथा अन्याय से दूसरों के पदार्थों को हरण करनेवाले दस्यु को दण्ड दीजिये, और बहुत प्रकार के भोजन आदि को प्राप्त तथा हर्ष से युक्त हुये अपने भृत्यों को (**अयोधयः**) अच्छे प्रकार उनके साथ युद्ध कराइये, इन धर्म के शत्रुओं को (**रजसः**) पृथिवीलोक के (**पारे**) परभाग में करके (**अवादहः**) भस्म कीजिये। इस प्रकार (**दिवः**) सुशिक्षा से ईश्वर, धर्म, शिल्प, युद्धविद्या और परोपकार आदि के प्रकाश से (**उच्चा**) उत्कृष्ट कर्मों या सुखों को (**प्रसुन्वतः**) अच्छे प्रकार सिद्ध करनेवालों तथा (**आस्तुवतः**) सब ओर से गुणों की स्तुति करनेवालों के (**शंसम्**) शास्त्रबोध की (**प्रावः**) अच्छे प्रकार रक्षा कीजिये तथा उसे प्राप्त कीजिये॥

भावार्थः—मनुष्यैर्युद्धार्थं विविधं कर्म कर्त्तव्यम्। प्रथमं स्वसेनास्थानां पुष्टिहर्षकरणं दुष्टनां बलोत्साहभञ्जनसंपादनं नित्यं कार्यम्। यथा सूर्यः स्वकिरणैः सर्वान् प्रकाश्य वृत्रान्धकारनिवारणाय प्रवर्त्तते तथा सर्वदोत्तमकर्मगुणप्रकाशनाय दुष्टकर्मदोषनिवारणाय च नित्यं प्रयत्नः कर्त्तव्य इति॥ ७॥

भावार्थ—सब मनुष्य युद्ध के लिए अनेक प्रकार के कर्म करें, प्रथम अपनी सेना के मनुष्यों की पुष्टि और हर्ष, दुष्टों का बल और उत्साह का भंग नित्य करें। जैसे सूर्य अपनी किरणों से सबको प्रकाशित करके मेघ के अन्धकार के निवारण के लिए प्रवृत्त होता है, वैसे सदा उत्तम कर्म और गुण के प्रकाश के लिए और दुष्ट कर्म एवं दोषों के निवारण के लिए नित्य प्रयत्न करें॥ ७॥

भाष्यसार—शूरवीर का कर्त्तव्य—शूरवीर सेनाध्यक्ष सेना और राज्य के ऐश्वर्य से युक्त हो। वह युद्धविद्या में चतुर हो। वह दूसरों को पीड़ा देनेवाले, दुष्ट कर्म करनेवाले, रोने वाले शत्रुओं या जन्तुओं को और बल तथा अन्याय से दूसरों के पदार्थों को हरण करने वाले दस्यु को दण्ड दे। भोजन आदि को प्राप्त किये तथा हर्ष से युक्त हुये अपने भृत्यों को उनके साथ युद्ध करावे। धर्म के शत्रुओं को पृथिवी के परभाग में करके भस्म करे। और जो सुशिक्षा से ईश्वर, धर्म, शिल्प, युद्धविद्या और परोपकार आदि उत्तम कर्म करने वाले, और पदार्थ गुणों की स्तुति करने वाले हैं उनके शास्त्र-ज्ञान की सदा रक्षा करे तथा स्वयं भी शास्त्र-ज्ञान को प्राप्त करे॥ ७॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे इन्द्र! तुमने रोते हुए, खाते हुए या हँसते हुए वृत्र के दोनों प्रकार के अनुचरों को अन्तरिक्ष के पर-भाग में युद्ध में मार दिया है। और वृत्र

---

१. हे इन्द्र! त्वं रुदतः रोदनं कुर्वतः जक्षतः भक्षणं हसनं वा कुर्वतः च एतान् द्विविधान् अपि वृत्रानुचरान् रजसः पारे अन्तरिक्षस्य परभागे अयोधयः युद्धमकरोः युद्धेन मारितवानित्यर्थः। दस्युम् उपक्षयितारं वृत्रं दिवः द्यावापृथिवीलोकादानीय उच्चा उत्कर्षेण अवादहः दग्धवानसि। वृत्रं सपरिवारं विनाश्य तत ऊर्ध्वं सुन्वतः सोमाभिषवं कुर्वतः स्तुवतः स्तोत्रं कुर्वतो यजमानस्य शंसं स्तुतिं प्र आवः प्रकर्षेण रक्षितवानसि॥ (सायणः)

को द्युलोक से लाकर प्रकृष्टता से जला दिया है। वृत्र को तुमने सपरिवार नष्ट करके उसके बाद सोमरस निचोड़ते हुए तथा स्तुति करते हुए यजमान की प्रशंसा तथा रक्षा तुम ने ही की है।"

इस मन्त्र में भी इन्द्र=शूरवीर सेनाध्यक्ष के कर्त्तव्यों का वर्णन किया गया है। मन्त्र के इस रहस्य को न समझकर सायणाचार्य ने असंगत व्याख्या की है। सायण की उपहास्ययोग्य बातें देखिए कि स्वयं उन्होंने इस सूक्त के ही दसवें मन्त्र में वृत्र का अर्थ मेघ माना है। और यहां वृत्र के अनुचरों को रोते हुए, खाते हुए और हँसते हुए दिखाया है। मेघ के अनुचर कौन हैं? और उनका रोना, हँसना व खाना पौराणिक कल्पनाओं में रमण करने वाले सायणाचार्य ने ही स्वयं देखा होगा। और उस वृत्र=मेघ के अनुचरों को भी दो प्रकार का माना है और इन्द्र ने उन अनुचरों को अन्तरिक्ष के पर-भाग में मारा, यह सायण की कैसी विज्ञानविरुद्ध बात है। किसी मूर्त्त-पदार्थ के तो पूर्व-परभाग होते हैं, किन्तु जो अन्तरिक्ष खाली स्थान का ही नाम है, उसका पर-भाग क्या हो सकता है? यह सायण ने स्वप्न-जाल में रमते हुए ही लिख दिया है। अन्तरिक्ष की व्याख्या करते हुए यास्काचार्य लिखते हैं—

"अन्तरिक्षं कस्मात्? अन्तरा क्षान्तं भवति, अन्तरा इमे इति वा।" (निरुक्त २।१०) अर्थात् अन्तरिक्ष द्युलोक और पृथिवी के मध्य खाली स्थान को कहते हैं अथवा द्यावा पृथिवी के मध्य में निवास होने से इसका अन्तरिक्ष नाम पड़ा है।

और मन्त्र में 'रजसः पारे' पद है, जिसका अर्थ 'लोक' पद होता है। उसका यहां 'रजःशब्दोऽन्तरिक्षवाची' 'अन्तरिक्ष' अर्थ करना ही असंगत है। और वृत्र=मेघ को परिवार सहित नष्ट करना, यह कहना भी उपहास्य योग्य ही है। क्या मेघ के भी स्त्री, बच्चे आदि परिवार होता है?

महर्षि-दयानन्द ने इस मन्त्र की बहुत ही सुसंगत व्याख्या की है। महर्षि ने इन्द्र का अर्थ 'सेनाध्यक्ष' किया है। उसका यह परम कर्त्तव्य है कि वह राज्य की सुरक्षा के लिए दस्युजनों को दण्डित करे और रोते हुए शत्रुओं को भी अवश्य दण्डित करे। सायण ने यहां 'अरोधयः' पद में प्रेरणार्थक णिजन्तरूप को भी नहीं समझा। सेनाध्यक्ष का यह भी कर्त्तव्य है कि वह अपने सेना के वीरों को भोजनादि प्राप्त कराकर सदा प्रसन्न रखे और उन्हें शत्रुओं से युद्ध करने की प्रेरणा सदा देता रहे। और रजसः पारे=अपने पृथिवी के राज्य से बाहर शत्रुओं को भगाकर नष्ट करे। और प्रसुन्वतः=सेना के लिए उत्तमोत्तम सोमरसादि को सिद्ध करने वाले (आस्तुवतः=पदार्थों के गुणविज्ञान को जानने वाले) विद्वानों की सदा रक्षा किया करे॥ ७॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **इन्द्रः** (सेनाध्यक्षः) देवता। निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनरिन्द्रकृत्यमुपदिश्यते॥

फिर इन्द्र के कार्य का उपदेश किया जाता है॥

चक्राणासः परीणहं पृथिव्या हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः।
न हिन्वानासस्तितिरुस्त इन्द्रं परि स्पशो अदधात् सूर्येण॥ ८॥

चक्राणासः। परीणहम्। पृथिव्याः। हिरण्येन। मणिना। शुम्भमानाः। न। हिन्वानासः। तितिरुः। ते। इन्द्रम्। परि। स्पशः। अदधात्। सूर्येण॥ ८॥

पदार्थः—(चक्राणासः) भृशं युद्धं कुर्वाणाः (परीणहम्) परितस्सर्वतः प्रबन्धनं सुखाच्छाद-

कत्वेन व्यापनं वा। णह बन्धन इत्यस्मात् **क्विप् च** इति क्विप् **नहिवृति०** अनेनादेर्दीर्घः (**पृथिव्याः**) भूमेः राज्यस्य (**हिरण्येन**) न्यायप्रकाशेन सुवर्णादिधातुमयेन वा (**मणिना**) आभूषणेन (**शुम्भमानाः**) शोभायुक्ताः (**न**) निषेधार्थे (**हिन्वानासः**) सुखं संपादयन्तः (**तितिरुः**) प्लवन्त=उल्लङ्घयन्ति। अत्र **लडर्थे लिट्**। (**ते**) शत्रवो दुष्टा मनुष्याः (**इन्द्रम्**) सबलं सेनाध्यक्षम् (**परि**) सर्वतो भावे (**स्पशः**) ये स्पशन्ति ते। अत्र **क्विप्**। (**अदधात्**) दधाति। अत्र **लडर्थे लङ्**। (**सूर्येण**) सवितृमण्डलेनेव ॥ ८ ॥

प्रमाणार्थ—(**परिणहम्**) बन्धन अर्थ वाली 'णह' धातु से 'क्विप् च' (अ० ३। २। ७६) इस सूत्र से क्विप् प्रत्यय है और 'नहि वृति०' (अ० ६। ३। ११६) इस सूत्र से दीर्घ है। (**तितिरुः**) यहां लट् लकार के अर्थ में लिट् लकार है। (**स्पशः**) यहां 'क्विप्' प्रत्यय है। (**अदधात्**) यहां लट् लकार के अर्थ में लङ् लकार है ॥ ८ ॥

अन्वयः—यथा यान् सूर्य्यः पर्य्यदधात्=परिदधाति ते वृत्रावयवा घनाः सूर्यस्य प्रकाशं स्पशो बाधमानाः पृथिव्याः परीणहं चक्राणासो हिरण्येन मणिनेव सूर्य्येण शुम्भमाना हिन्वानास इन्द्रं न तितिरुर्नप्लवन्ते नोल्लङ्घयन्ति तथा स्वसेनाध्यक्षादीन् जनाँश्छत्रवो बाधितुं समर्था यथा न स्युस्तथा सर्वैरनुष्ठेयम् ॥ ८ ॥

सपदार्थान्वयः—**यथा यान् सूर्य्यः पर्य्यदधात्=परिदधाति** सर्वतो दधाति **ते=वृत्रावयवा घनाः सूर्य्यस्य प्रकाशं स्पशः बाधमानाः पृथिव्याः परीणहं** परितस्सर्वतः प्रबन्धनं सुखाच्छादकत्वेन व्यापनं वा **चक्राणासः** भृशं युद्धं कुर्वाणाः **हिरण्येन** सुवर्णादिधातुमयेन **मणिना** आभूषणेन **इव सूर्य्येण** सवितृमण्डलेन **शुम्भमानाः** शोभायुक्ताः **हिन्वानासः** सुखं संपादयन्तः **इन्द्रं** सूर्यलोकं **न तितिरुः=न प्लवन्ते=नोल्लङ्घयन्ति, तथा स्वसेनाध्यक्षादीञ्जनाँश्छत्रवो बाधितुं समर्था यथा न स्युस्तथा सर्वैरनुष्ठेयम् ॥ ८ ॥**

भाषार्थ—जैसे सूर्य जिनको (**पर्यदधात्**) सब ओर से धारण करता है (**ते**) मेघ के अवयव बादल सूर्य के प्रकाश को (**स्पशः**) रोकनेवाले (**पृथिव्याः**) पृथिवी का (**परीणहम्**) सब ओर से बन्धन या सुख के आच्छादक होने व्यापन करके (**चक्राणासः**) अत्यन्त युद्ध करते हुए (**हिरण्येन**) सुवर्ण आदि धातु से बने हुए (**मणिना**) आभूषण के (**इव**) तुल्य (**सूर्येण**) सूर्यमण्डल से (**शुम्भमानाः**) सुशोभित (**हिन्वानासः**) सुख को सिद्ध करते हुये, (**इन्द्रम्**) सूर्यलोक का (**न**) नहीं (**तितिरुः**) उल्लंघन करते हैं, वैसे अपने सेनाध्यक्ष आदि जनों को शत्रु जैसे बाधित करने में समर्थ न हों वैसा प्रयत्न सब करें ॥ ८ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथा परमात्मना सूर्येण सह प्रकाशाकर्षणादीनि कर्माणि निबद्धानि तथैव विद्याधर्मन्यायशूरवीरसेनादिसामग्रीप्राप्तेन पुरुषेण सह पृथिवीराज्यं नियोजितमिति ॥ ८ ॥

भावार्थ—यहां वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। जैसे परमेश्वर ने सूर्य के साथ प्रकाश और आकर्षण आदि कर्म निबद्ध किये हैं; वैसे ही विद्या, धर्म, न्याय, शूरवीर और सेना आदि सामग्री को प्राप्त हुए पुरुष के साथ पृथ्वी के राज्य का नियोजन किया है ॥ ८ ॥

भाष्यसार—सेनाध्यक्ष का कार्य—जैसे सूर्य मेघों का सब ओर से धारण करता है, वे मेघ सूर्य के प्रकाश को रोकते हैं। वे पृथिवी का सब ओर से बन्धन करके सूर्य के साथ युद्ध करते हैं। सुवर्णमय आभूषण के तुल्य सूर्यमण्डल से सुशोभित तथा सुख के साधक मेघ सूर्यलोक (इन्द्र) का उल्लंघन

नहीं कर सकते अर्थात् उसे परास्त नहीं कर सकते। इसी प्रकार सेनाध्यक्ष आदि जनों को शत्रु बाधित न कर सकें, उन्हें पराजित न कर सकें वैसा प्रयत्न सब मनुष्य करें॥ ८॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"जो वृत्र के अनुचर पृथिवी का आच्छादन करते हुए, कण्ठ या भुजा में सुवर्णयुक्त मणि आदि आभूषण से अलंकृत तथा वृद्धि को प्राप्त कर रहे हैं, वैसे वे वृत्र के अनुचर युद्ध के लिए उद्यत इन्द्र को नहीं जीत सके। उस समय उस इन्द्र ने बाधक वृत्र के अनुचरों को सूर्य से व्यवधानयुक्त कर दिया।"

इस मन्त्र के सायण-भाष्य की असंगत बातें देखिए--यद्यपि सायण ने यहां 'वृत्र' का अर्थ स्पष्ट नहीं किया है, किन्तु इसी सूक्त के दसवें मन्त्र में 'वृत्र' का अर्थ 'मेघ' माना है। उस मेघ के अनुचर कौन हैं, जो इन्द्र के साथ युद्ध करते हैं? और मेघ के अनुचरों के कण्ठ तथा भुजादि शरीरावयवों को अलंकारों से अलंकृत कहना तो नितान्त ही पदार्थविद्या से अनभिज्ञता प्रकट करना है। क्या मेघ के अनुचर मनुष्यादि की भांति हाथादि अवयव युक्त हैं? यह कैसी अनर्गल कल्पना है? और उन मेघ के अनुचरों को इन्द्र-देवता ने सूर्य से ढक दिया। क्या इन्द्र सूर्य से भी बड़ा देवता है, जिसने पृथिवी से लाखों गुणा बड़े सूर्य को भी इधर-उधर रखकर वृत्रानुचरों को कैसे ढका होगा? यह आश्चर्य की बात है!!

महर्षि-दयानन्द ने मन्त्र के देवता इन्द्र का 'सेनाध्यक्ष' अर्थ किया है। और उसके कर्त्तव्यों का दिग्दर्शन सूर्य तथा मेघ के आलंकारिक वर्णन से किया गया है। मेघ के खण्ड सूर्य की किरणों से ऐसे शोभा देते हैं, जैसे सुवर्णादि से बने आभूषण अच्छे लगते हैं, और वे सूर्य का उल्लंघन नहीं कर सकते। ऐसे ही सेनाध्यक्ष होना चाहिए, जिसे शत्रुजन बाधित न कर सकें। सायणाचार्य ने मन्त्र के इस रहस्य को न समझकर असंगत व्याख्या ही की है और मन्त्रोक्त 'तितिरुः', 'अदधात्' क्रियाओं के भूत-कालीन अर्थ करके वैदिकनियमों से अनभिज्ञता भी प्रकट की है॥ ८॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **इन्द्रः** (राजा) देवता। निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनरिन्द्रस्य कृत्यमुपदिश्यते॥

फिर इन्द्र के कार्य का उपदेश किया जाता है॥

परि॒ यदि॑न्द्र॒ रोद॑सी उ॒भे अबु॑भोजीर्महि॒ना वि॒श्वतः॑ सीम्।
अम॑न्यमानाँ॒ अ॒भि मन्य॑मानै॒र्निर्ब्र॒ह्मभि॑रधमो॒ दस्यु॑मिन्द्र॥ ९॥

परि॑। यत्। इ॒न्द्र॒। रोद॑सी॒ इति॑। उ॒भे इति॑। अबु॑भोजीः। म॒हि॒ना। वि॒श्वतः॑। सी॒म्। अम॑न्यमानान्। अ॒भि। मन्य॑मानैः। निः। ब्र॒ह्मभिः॑। अ॒धम॒रिति॑। दस्यु॑म्। इ॒न्द्र॥ ९॥

पदार्थः—(**परि**) सर्वतो भावे (**यत्**) यस्मात् (**इन्द्र**) ऐश्वर्ययोजक राजन् (**रोदसी**) भूमिप्रकाशौ (**उभे**) द्वे (**अबुभोजीः**) आकर्षणेन न्यायेन वा पालयसि पालयति वा। अत्र भुजपाल-

---

१. ये वृत्रानुचराः पृथिव्याः भूमेः परीणहम् आच्छादनं सर्वतो व्याप्तिं चक्राणासः कुर्वाणाः हिरण्येन हिरण्ययुक्तेन मणिना कण्ठबाह्वादिगतेन मण्याद्याभरणेन शुम्भमानाः शोभमानाः हिन्वानासः वर्धमानाः सन्तो वर्त्तन्ते ते तथाविधा वृत्रानुचराः इन्द्रं युद्धायोद्यन्तं न तितिरुः जेतुं न समर्था आसन्। तदानीं स इन्द्रः स्पशः बाधकान् वृत्रानुचरान् सूर्येण आदित्येन परि अदधात् परिहितान् व्यवहितान् अकरोत्॥ (सायणः)

नाभ्यवहारयोर्लडर्थे लङि सिपि **बहुलं छन्दसि** इति शपः स्थान आदिष्टस्य श्नमः स्थाने श्लुः **श्लौ** इति द्वित्वम् **बहुलं छन्दसि** इति इडागमश्च **(महिना)** महिम्ना। अत्र **छान्दसो वर्णलोपो वा यथेष्कर्त्तारमध्वर इति मलोपः**। **(विश्वतः)** सर्वतः **(सीम्)** सुखप्राप्तिः। **सीमिति पदनामसु पठितम्**। निघं० ४। २। अनेन प्राप्त्यर्थो गृह्यते। **सीमिति परिग्रहार्थीयः**। निरु० १। ६। **(अमन्यमानान्)** अज्ञानहठाग्रहयुक्तान् सूर्य्यप्रकाशनिरोधकान् मेघावयवान् वा **(अभि)** आभिमुख्ये **(मन्यमानैः)** विद्यार्जवयुक्तैर्दुराग्रहरहितैर्मनुष्यैर्ज्ञानसंपादकैः किरणैर्वा **(निः)** सातत्ये **(ब्रह्मभिः)** वेदैर्ब्रह्मविद्भिर्ब्राह्मणैर्वा। **ब्रह्म हि ब्राह्मणः**। शत० ५। १। १। ११। **(अधमः)** शिक्षय अग्निना संयोजयति वा। **लोडर्थे लडर्थे वा लुट्** **(दस्युम्)** दुष्टकर्मणा सह वर्त्तमानं परद्रोहिणं परस्वहर्त्तारं चोरं शत्रुं वा **(इन्द्र)** राज्यैश्वर्ययुक्त सेनाध्यक्ष शूरवीर मनुष्य॥

प्रभाणार्थ—**(अबुभोजीः)** यहां पालन और भोजनार्थक 'भुज्' धातु से लङ् लकार में सिप् प्रत्यय के परे होने पर 'बहुलं छन्दसि' (अ० २। ४। ७६) इस सूत्र से 'शप्' विकरण प्रत्यय के स्थान में आदिष्ट 'श्नम्' को 'श्लु' है और 'श्लौ' (अ० ६। १। १७) इस सूत्र से द्वित्व और 'बहुलं छन्दसि' (अ० ७। ३। ९७) इस सूत्र से 'इट्' का आगम है। **(महिना)** यहां छान्दसो वर्णलोपो वा यथेष्वकर्त्तारमध्वरे (महा० ८। २। २५) इस वार्तिक सूत्र से 'म' का लोप है। **(सीम्)** यह पद निघण्टु (४। २) में पद-नामों में पढ़ा है। निरुक्त (१। ६) के अनुसार सीम् शब्द परिग्रह अर्थ में है। **(ब्रह्मभिः)** शतपथ ब्राह्मण (५। १। १। ११) के अनुसार ब्रह्म का अर्थ ब्राह्मण है। **(अधमः)** यहां लोट् अथवा लट् लकार के अर्थ में 'लुट्' लकार है॥ ९॥

अन्वयः—हे इन्द्र त्वं यथेन्द्रः सूर्यलोको महिना महिम्नोभे रोदसी सीं विश्वतः पर्यबुभोजीः। मन्यमानैर्ब्रह्मभिर्बृहत्तमैः किरणैर्दस्युं वृत्रं मेघममन्यमानान्मेघावयवान् घनान् यद्यस्मादभिनिरधमः। अभितो नितरां स्वतापाग्नियुक्तान् कृत्वा निवारयति तथा विश्वतो महिम्ना सीमुभे रोदसी पर्यबुभोजीः सर्वतो भुग्धि। एवं च हे इन्द्र मन्यमानैर्ब्रह्मभिरमन्यमानान्मनुष्यान् दस्युं दुष्टपुरुषं चाभिनिरधम आभिमुख्यतया शिक्षय॥ ९॥

पदार्थान्वयः—हे इन्द्र ! ऐश्वर्ययोजक राजन् ! **त्वं यथा इन्द्रः**=सूर्यलोको **महिना**=महिम्ना **उभे** द्वे **रोदसी** भूमिप्रकाशौ **सीं** सुखप्राप्तिः **विश्वतः** सर्वतः **परि+अबुभोजीः** सर्वत आकर्षणेन पालयति **मन्यमानैः** ज्ञानसम्पादकैः **ब्रह्मभिः**=बृहत्तमैः **किरणैः दस्युं**=वृत्रं मेघं **अमन्यमानान्**=मेघावयवान् **घनान्** सूर्य्यप्रकाशनिरोधकान् मेघावयवान् **यत्**=यस्माद् **अभि+निर्+अधमः**=अभितो नितरां स्वतापाग्नियुक्तान् कृत्वा निवारयति तथा विश्वतः सर्वतः **[महिना]**=महिम्ना **सीं** सुखप्राप्तिः **उभे** द्वे **रोदसी** भूमिप्रकाशौ **परि+अबुभोजीः**=सर्वतो**भुग्धि** सर्वतो न्यायेन पालयसि, **एवं च हे इन्द्र**! राज्यैश्वर्ययुक्त सेनाध्यक्ष शूरवीर मनुष्य ! **मन्यमानैः** विद्याऽऽर्जवयुक्तैर्दुराग्रहरहितैर्मनुष्यैर्ज्ञान-

भाषार्थ—हे **(इन्द्र)** ऐश्वर्य के योजक राजन् ! आप—जैसे इन्द्र=सूर्य **(महिम्ना)** अपनी महिमा से **(उभे)** दोनों **(रोदसी)** भूमि और प्रकाश को **(सीम्)** जीवों के सुख की प्राप्ति के लिये **(विश्वतः)** सब ओर से **(परि+अबुभोजीः)** आकर्षण से पालन करता है, और **(मन्यमानैः)** ज्ञान-साधक **(ब्रह्मभिः)** बड़ी-बड़ी किरणों से **(दस्युम्)** शत्रुमेघ को तथा **(अमन्यमानान्)** सूर्य के प्रकाश को रोकने वाले मेघ-अवयवों का **(यत्)** जिससे **(अभिनिरधमः)** सर्वथा अपने ताप रूप अग्नि से युक्त करके निवारण करता है,—वैसे आप **(विश्वतः)** सब ओर से **[महिना]** अपनी महिमा से **(सीम्)** सुख-प्राप्ति के लिये **(उभे)** दोनों **(रोदसी)** भूमि और प्रकाश का **(परि+अबुभोजीः)** न्याय से पालन करो, और

संपादकैः **ब्रह्मभिः** वेदैर्ब्रह्मविद्भिर्ब्राह्मणैः **अमन्यमानान्** अज्ञानहठाऽऽग्रहयुक्तान् **मनुष्यान् दस्युं = दुष्टपुरुषं** दुष्टकर्मणा सह वर्त्तमानं परद्रोहिणं परस्वहर्त्तारं चोरं शत्रुं वा **चाभि+निर्+अधमः = आभिमुख्यतया शिक्षय** ॥ ६ ॥

इस प्रकार हे (**इन्द्र**) राज्य-ऐश्वर्य से युक्त सेनाध्यक्ष शूरवीर मनुष्य आप—(**मन्यमानैः**) विद्या, सरलतायुक्त, दुराग्रहरहित, ज्ञान-साधक मनुष्यों तथा (**ब्रह्मभिः**) वेद, वेदज्ञ ब्राह्मणों से (**अमन्यमानान्**) अज्ञान, हठाग्रह से युक्त मनुष्यों और (**दस्युम्**) दुष्ट कर्म से संयुक्त परद्रोही, परधन हरण करने वाले चोर या शत्रु को (**अभि+निरधमः**) शिक्षा करो ॥ ६ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । यथा सूर्यलोकः सर्वान्पृथिव्यादिमूर्तिमतो लोकान्प्रकाश्याकर्षणेन धृत्वा पालको भूत्वा वृत्रराज्यन्धकारान्निवारयति तथैव हे मनुष्या भवन्तः सुशिक्षितैर्विद्वद्भिर्मूर्खाणां मूढतां निवार्य दुष्टशत्रून् शिक्षित्वा महद्राज्यसुखं नित्यं भुञ्जीरन्निति ॥

भावार्थ—यहां वाचकलुप्तोपमा अलङ्कार है । जैसे सूर्यलोक सब पृथिवी आदि मूर्तलोकों को प्रकाशित करके आकर्षण से धारण कर पालक होकर मेघ और रात्रि के अन्धकार का निवारण करता है, वैसे ही, हे मनुष्यो ! आप लोग सुशिक्षित विद्वानों से मूर्खों की मूर्खता को दूर करके, दुष्ट शत्रुओं को शिक्षा करके, महान् राज्य-सुख का नित्य भोग करो ॥ ६ ॥

भाष्यसार—**राजा का कार्य**—जैसे सूर्य अपनी महिमा से जीवों के सुख की प्राप्ति के लिये भूमि और प्रकाश का पालन करता है । वह अपनी ज्ञान-साधक किरणों से मेघ को तथा उसके प्रकाश के अवरोधक मेघ-अवयवों का अपने ताप से युक्त करके उनका निवारण करता है, वैसे ऐश्वर्य का योजक राजा—अपनी महिमा से जीवों की सुख-प्राप्ति के लिये भूमि और प्रकाश की न्याय से रक्षा करे । वह विद्या, सरलतायुक्त, दुराग्रहरहित, ज्ञान-साधक मनुष्यों तथा वेद और वेदज्ञ ब्राह्मणों से अज्ञान, हठाग्रह से युक्त मनुष्यों और दुष्ट कर्म से युक्त, परद्रोही, परधन हरण करने वाले चोर, डाकू जनों को शिक्षा करे जिससे वे सन्मार्ग पर आ सकें ॥ ६ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है, अतः वाचकलुप्तोपमा अलङ्कार है । उपमा यह है कि जैसे सूर्य अपनी महिमा से मेघों तथा मेघ-अवयवों का निवारण करता है वैसे राजा अपनी महिमा से तथा विद्वानों की सहायता से अज्ञानी मनुष्यों तथा दस्यु-जनों को उत्तम शिक्षा करे । उनके अज्ञान और दुष्टता का निवारण करे ॥ ६ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायणभाष्य[1] इस प्रकार है—"हे इन्द्र ! जब तुम द्युलोक तथा पृथिवी लोक को अपनी महिमा से चारों तरफ से सेवन करते हो, उस समय तुम मन्त्रों के अर्थों के ध्यान करने में असमर्थ केवल पाठ-मात्र करने वाले यजमानों का (सेवन करते हो) । ये यजमान हमारे और रक्षा करने योग्य हैं, इस प्रकार की स्तुति वाले मन्त्रों से चोर वृत्ररूप असुर को निकाल देते हो ॥"

आचार्य सायण ने इस मन्त्र की व्याख्या भी मन्त्र के देवता तथा इन्द्र (सूर्य) तथा दस्यु (मेघ)

---

१. हे इन्द्र ! यत् यदा रोदसी उभे द्यु लोकभूलोकावुभौ महिना त्वदीयेन महिम्ना विश्वतः सीं सर्वतः परिगृह्य परि अबुभोजीः परितो मुक्तवानसि । तदानीं त्वम् अमन्यमानान् मन्त्रार्थमनुध्यातुमशक्तानपि केवलपाठकान् यजमानान् अभिमन्यमानैः अस्मदीया एते यजमाना रक्षणीया इत्यभिमानं कुर्वद्भिः ब्रह्मभिः मन्त्रैः दस्युं चोरं वृत्रादिरूपमसुरं निः अधमः निः सारितवानसि ॥ (सायणः)

के आलङ्कारिक वर्णन को न समझकर की है। द्युलोक व पृथिवीलोक की रक्षा इन्द्र=सूर्य अपने प्रकाश तथा आकर्षणादि के द्वारा करता है और अपनी तीव्र किरणों से मेघों को छिन्न-भिन्न करके वृष्टि से पृथिवीलोक की रक्षा करता है। किन्तु सायण लिखते हैं कि इन्द्र देवता (स्वर्गस्थ) द्युलोक तथा भूलोक दोनों को भोगता है। यह उनका अर्थ असङ्गत है। क्योंकि भोग करना चेतन का धर्म है, जड़ का नहीं। और 'भुज' क्रिया का भोग से भिन्न रक्षा (पालन) करना भी अर्थ है जिसकी यहाँ सङ्गति है। और निरुक्त में तो लिखा है—

स्थाणुरयं खलु भारहारः, किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्। (निरु० १। १८)

अर्थात् जो अर्थ-ज्ञान के विना मन्त्रपाठ करता है, वह गधे के समान वेद के भार को ढोने वाला है। किन्तु सायण की व्याख्या देखिए—जो मन्त्रार्थ का चिन्तन नहीं कर सकता, ऐसे यजमान की भी इन्द्र रक्षा करता है। क्या यह निरर्थक कल्पना नहीं है? और मन्त्रों के उच्चारण से चोरादि को भगा देना मानना तो व्यवहारशून्यता को ही बताता है। फिर तो राजा को पुलिसादि की कोई आवश्यकता ही न हो, केवल मन्त्रपाठ करने वाले पण्डितों को ही स्थान-स्थान पर बैठा देवें।

महर्षि ने यहाँ 'ब्रह्म' के दो अर्थ किए हैं—किरण तथा वेद। सूर्य किरणों से दस्यु=मेघ को छिन्न-भिन्न करता है और विद्वान् वेद-ज्ञान से दस्यु=अज्ञान को हटाता है। और जैसे सूर्य पृथिवी आदि का पालन तथा मेघों का निवारण करता है वैसे ही राजा को अपनी महिमा तथा न्याय से प्रजा का पालन तथा विद्या के प्रकाश की बढ़ोतरी करनी चाहिए और राज्य से दस्यु जनों को दूर करके प्रजा के सुखों को बढ़ाना चाहिए। ऐसे सुसङ्गत अर्थ को न समझकर सायण ने जो असङ्गत तथा कल्पित व्याख्या की है, उसे कौन विद्वान् स्वीकार करेगा? ॥ ९ ॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **इन्द्रः (राजा)** देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनरिन्द्रकर्माण्युपदिश्यन्ते ॥

फिर इन्द्र के कर्मों का उपदेश किया जाता है ॥

न ये दिवः पृथिव्या अन्तमापुर्न मायाभिर्धनदां पर्यभूवन्।
युजं वज्रं वृषभश्चक्र इन्द्रो निर्ज्योतिषा तमसो गा अधुक्षत् ॥ १० ॥

न। ये। दिवः। पृथिव्याः। अन्तम्। आपुः। न। मायाभिः। धनऽदाम्। परिऽअभूवन्। युजम्॥ वज्रम्। वृषभः। चक्रे। इन्द्रः। निः। ज्योतिषा। तमसः। गाः। अधुक्षत्॥ १०॥

पदार्थः—(न) निषेधार्थे (**ये**) मेघावयवघनवद्दस्व्यादयः शत्रवः (**दिवः**) सूर्यप्रकाशस्येव न्यायबलपराक्रमदीप्तेः (**पृथिव्याः**) पृथिवीलोकस्यान्तरिक्षस्येव पृथिवीराज्यस्य। **पृथिवीत्यन्तरिक्षनामसु पठितम्।** निघं० १। ३। **पदनामसु च।** निघं० ५। ३। अनेन सुखप्राप्तिहेतुसार्वभौमराज्यं गृह्यते। (**अन्तम्**) सीमानम् (**आपुः**) प्राप्नुवन्ति। अत्र **लडर्थे लिट्।** (न) निषेधार्थे (**मायाभिः**) गर्जनान्धकारविद्युदादिवत्कपटधूर्त्तताधर्मादिभिः (**धनदाम्**) वृष्टिवद्राजनीतिम् (**पर्य्यभूवन्**) परितस्सर्वतस्तिरस्कुर्वन्ति (**युजम्**) यो युज्यते तम्। अत्र **क्विप्।** (**वज्रम्**) छेदकत्वादिगुणयुक्तं किरणविद्युदाख्यादिशस्त्रादिकम्। वज्र इति **वज्रनामसु पठितम्।** निघं० २। २०। (**वृषभः**) जलवद्वर्षयति शस्त्रसमूहम् (**चक्रे**) करोति। अत्र **लडर्थे लिट्।** (**इन्द्रः**) सूर्यलोकसदृक् शूरवीरः सभाध्यक्षो राजा (**निः**) नितराम् (**ज्योतिषा**) प्रकाश-

वद्विद्यान्यायादिसद्गुणप्रकाशेन (**तमसः**) अन्धकारवदविद्याछलाधर्मव्यवहारस्य (**गाः**) पृथिवी इव मन आदीन्द्रियाणि (**अधुक्षत्**) प्रपिपूर्द्धि । अत्र लोडर्थे लुङ् ॥ १० ॥

प्रमाणार्थ—(**पृथिव्याः**) पृथिवी यह पद निघं० (१ । ३) में अन्तरिक्ष-नामों में पढ़ा है, तथा निघं० (५ । ३) में पद-नामों में पठित है। पद के ज्ञान, गमन, और प्राप्ति अर्थ हैं। इससे सुख-प्राप्ति के हेतु सार्वभौम राज्य का ग्रहण होता है। (**आपुः**) यहां 'लट्' लकार के अर्थ में लिट् लकार है। (**युजम्**) यहां 'क्विप्' प्रत्यय है। (**वज्रम्**) वज्र यह पद निघण्टु (२ । २०) में वज्र-नामों में पढ़ा है—वज्र=शस्त्र। (**चक्रे**) यहां लट् लकार के अर्थ में लिट् लकार है। (**अधुक्षत्**) यहां लोट् लकार के अर्थ में लुङ् लकार है ॥ १० ॥

अन्वयः—हे सभेश त्वं यथाऽस्य वृत्रस्य ये घनादयोऽवयवा दिवः सूर्य्यप्रकाशस्य पृथिव्या अन्तरिक्षस्य चान्तं नापुर्मायाभिर्धनदां न पर्यभूवन् तानुपरि वृषभ इन्द्रो युजं वज्रं प्रक्षिप्य ज्योतिषा तमस आवरणं निश्चक्रे गा अधुक्षत्तथा शत्रुषु वर्त्तस्व ॥ १० ॥

सपदार्थान्वयः—हे सभेश ! त्वं—**यथास्य वृत्रस्य ये**=घनादयोऽवयवा **दिवः**=सूर्य-प्रकाशस्य **पृथिव्याः**=अन्तरिक्षस्य **चान्तं** सीमानं **नापुः**=प्राप्नुवन्ति, **मायाभिः** गर्जनान्धकारविद्यु-दादिभिः **धनदां** वृष्टिं **न परि+अभूवन्** परितः सर्वत-स्तिरस्कुर्वन्ति **तानुपरि वृषभः** जलवर्षकः **इन्द्रः** सूर्य-लोकः **युजं** यो युज्यते तं **वज्रं** छेदकत्वादिगुणयुक्तं किरणविद्युदाख्यादिकं **प्रक्षिप्य ज्योतिषा** प्रकाशेन **तमसः** अन्धकारस्य **आवरणं निश्चक्रे, गाः** पृथिवीः **अधुक्षत्** प्रपूर्द्धि **तथा शत्रुषु वर्तस्व** [अर्थात्—**ये** शत्रवः **दिवः** न्यायबलपराक्रमदीप्तेः **पृथिव्याः** पृथिवी-लोकस्यान्तरिक्षस्येव पृथिवीराज्यस्य **अन्तं** सीमानं **नापुः** प्राप्नुवन्ति, **मायाभिः** कपटधूर्तताऽधर्मादिभिः **धनदां** राजनीतिं **न परि+अभूवन्** परितः सर्वत-स्तिरस्कुर्वन्ति **तानुपरि वृषभः** जलद्वर्षयति शस्त्र-समूहं सः **इन्द्रः** शूरवीरः सभाध्यक्षो राजा **युजं** यो युज्यते तं **वज्रं** छेदकत्वादिगुणयुक्तं शस्त्रादिकं **प्रक्षिप्य ज्योतिषा** विद्यान्यायादिसद्गुणप्रकाशेन **तमसः** अविद्याछलाधर्मव्यवहारस्य **आवरणं निश्चक्रे** निराकुरु **गाः** मन आदीनीन्द्रियाणि **अधुक्षत्** प्रपूरय] ॥ १० ॥

भाषार्थ—हे सभाध्यक्ष राजन् ! आप—जैसे इस मेघ के (**ये**) जो अवयव (**दिवः**) सूर्य-प्रकाश और (**पृथिव्याः**) अन्तरिक्ष की (**अन्तम्**) सीमा को (**न**) नहीं (**आपुः**) प्राप्त करते हैं, और (**मायाभिः**) गर्जना, अन्धकार तथा विद्युत् आदि से (**धनदाम्**) वर्षा को (**न**) नहीं (**परि+अभूवन्**) सब ओर से दबा सकते हैं, उन मेघों के ऊपर (**वृषभः**) जल-वर्षक (**इन्द्रः**) सूर्यलोक (**युजम्**) उप-युक्त (**वज्रम्**) छेदक आदि गुणों से युक्त किरण, विद्युत् आदि रूप शस्त्र को फेंककर (**ज्योतिषा**) प्रकाश से (**तमसः**) अन्धकार के आवरण को (**निश्चक्रे**) दूर करता है, और (**गाः**) पृथिवी आदि लोकों को वर्षा से (**अधुक्षत्**) पूर्ण कर देता है—वैसा शत्रुओं के प्रति वर्ताव करो [अर्थात्—(**ये**) जो शत्रु आपके (**दिवः**) न्याय, बल, पराक्रम के प्रकाश तथा (**पृथिव्याः**) आपके पृथिवी और अन्तरिक्ष के राज्य की (**अन्तम्**) सीमा को (**न**) नहीं (**आपुः**) प्राप्त करते हैं, और (**मायाभिः**) कपट, धूर्तता, अधर्म आदि से (**धनदाम्**) राजनीति को (**न**) नहीं (**परि+अभूवन्**) तिरस्कार कर सकते हैं, उनके ऊपर (**वृषभः**) शस्त्र-समूह की वर्षा करनेवाले (**इन्द्रः**) शूरवीर सभाध्यक्ष राजा (**युजम्**) उपयुक्त (**वज्रम्**) छेदकता आदि गुणों से युक्त शस्त्र आदि को फेंककर (**ज्योतिषा**) विद्या, न्याय, सद्गुण आदि के प्रकाश से (**तमसः**) अविद्या, छल, अधर्म-व्यवहार के आवरण को (**निश्चक्रे**) दूर करो, और

(गाः) मन आदि इन्द्रियों को (अधुक्षत्) परिपूर्ण करो ॥ १० ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । मनुष्यैः सूर्यस्य स्वभावप्रकाशसदृशानि कर्माणि कृत्वा सर्वशत्रवन्यायाऽन्धकारं विनाश्य धर्मेण राज्यं सेवनीयम् । न हि मायाविनां कदाचित् स्थिरं राज्यं जायते तस्मात्स्वयममायाविभिर्विद्वद्भिः शत्रुप्रयुक्तां मायां निवार्य्य राज्यकरणायोद्यतैर्भवितव्यमिति ॥

भावार्थ—यहां वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। सब मनुष्य सूर्य के स्वभाव और प्रकाश के सदृश कर्मों को करके, सब शत्रुओं के अन्याय रूप अन्धकार को नष्ट करके, धर्म से राज्य का सेवन करें। कपटी लोगों का कभी भी राज्य स्थिर नहीं होता, इसलिए स्वयं कपटरहित विद्वान् के द्वारा शत्रुओं से प्रयुक्त कपट को दूर करके राज्य करने के लिए उद्यत होवें ॥ १० ॥

भाष्यसार—**राजा के कर्म**—जैसे मेघ सूर्य के प्रकाश और अन्तरिक्ष की सीमा को प्राप्त नहीं करते और अपनी गर्जना आदि से वर्षा को नहीं दबा सकते हैं। उन मेघों पर सूर्य किरण आदि रूप शस्त्र को फेंककर अपने प्रकाश से अन्धकार के आवरण को दूर करता है और पृथिवी आदि लोकों को वर्षा से पूर्ण कर देता है। वैसे सभाध्यक्ष राजा जो शत्रु-राजा के न्याय, बल, पराक्रम के प्रकाश की तथा पृथिवी और अन्तरिक्ष के राज्य की सीमा को प्राप्त नहीं करते हैं और कपट, धूर्तता तथा अधर्म आदि से उसकी राजनीति को नहीं दबा सकते हैं, उन पर सभाध्यक्ष उपयुक्त शस्त्र फेंककर, अपनी विद्या, न्याय और सद्गुण आदि के प्रकाश से उनके अविद्या, छल, अधर्म रूप व्यवहार के आवरण को दूर करे और अपनी मन आदि इन्द्रियों को परिपूर्ण करे ॥ १० ॥

अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है, अतः वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि जैसे सूर्य मेघों का निवारण करता है वैसे सभाध्यक्ष राजा शत्रुओं का निवारण करे ॥ १० ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"जो जल द्युलोक से मेघरूप वृत्र से रोके-जाने के कारण भूमि पर नहीं गिरे हैं और इसलिए धन देने वाली भूमि को कृषि आदि उपकारक कर्मों से व्याप्त नहीं कर सके हैं। उस समय यह इन्द्र मेघों के भेदन के लिए वज्र-शस्त्र को अपने हाथ में लेता है। तत्पश्चात् चमकने वाले वज्र से अन्धकाररूप मेघों से गतिशील जलों को इन्द्र ने दुहा। अर्थात् मेघ का भेदन करके जलों को वर्षाया।"

इस मन्त्र के भाष्य में सायणाचार्य ने इन्द्र =वृत्रासुर युद्ध के एक भाग को तो समझने का कुछ प्रयास किया है। उन्होंने यहां वृत्र को मेघ रूप में स्वीकार किया है। मेघ को छिन्न-भिन्न करनेवाला 'इन्द्र' कौन है और उसका शस्त्र 'वज्र' क्या है? यदि सायण इस वृष्टिविज्ञान को जानते होते, तो अपने भाष्य में की गई मिथ्या कल्पनाओं से बच ही जाते। भौतिक विज्ञान के वेत्ता यह भली-भांति जानते हैं कि मेघ को छिन्न भिन्न करनेवाला इन्द्र=सूर्य है और उसका 'वज्र' किरण ही हैं। सायण ने

---

१. ये जलविशेषाः दिवः द्युलोकात् पृथिव्याः अन्तं भूमेः स्थानं न आपुः न प्राप्ताः। मेघरूपमायान्तेन वृत्रेण निरुद्धत्वात्। अत एव भूमिप्राप्त्यभावात् धनदां धनप्रदां भूमिं मायाभिः सस्योपकारादिभिः कर्मभिः न पर्यभूवन् परितो न व्याप्ताः। तदानीमयम् इन्द्रः मेघभेदनाय वज्रं युजं स्वहस्तयुक्तं चक्रे। ततः ज्योतिषा द्योतमानेन वज्रेण तमसः अन्धकाररूपान्मेघात् गाः गमनशीलान्युदकानि निः अधुक्षत् निःशेषेण दुग्धवान्। मेघं भित्त्वा जलं वृष्टवान् इत्यर्थः ॥ (सायणः)

इस आलंकारिक वर्णन को बिलकुल भी नहीं समझा। अतः उनको ये समस्त [illegible] मिथ्या ही हैं कि स्वर्गस्थ देवताओं का राजा इन्द्र रथारूढ़ होकर वृत्रासुर का वध करता है [illegible] यजमानों की रक्षा करता है। और इस मन्त्रार्थ में स्पष्ट किए वृत्र के अर्थ से सायण की अपनी समस्त [illegible] असंगत हो जाती हैं।

सायण जब इस भौतिक विज्ञान को ही समझने में समर्थ न हो सके, तब मन्त्रोक्त आलंकारिक वर्णन को कैसे समझ सकते थे? महर्षि-दयानन्द की व्याख्या जहां विज्ञान तथा प्रकरणानुकूल है, वहां आलंकारिक वर्णन को भी स्पष्ट करने वाली है॥ १०॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप् ऋषिः। **इन्द्रः (सेनापतिः)** देवता। विराट् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनस्तस्येन्द्रस्य कृत्यमुपदिश्यते॥

फिर उस इन्द्र के कार्य का उपदेश किया जाता है॥

अनु॑ स्व॒धाम॑क्षर॒न्नापो॑ अ॒स्यावर्द्धत॒ मध्य॒ आ ना॒व्या॑नाम्।
स॒ध्री॒चीने॑न॒ मन॑सा॒ तमिन्द्र॒ ओजि॑ष्ठेन॒ हन्म॑नाहन्न॒भि द्यून्॥ ११॥

अनु। स्वधाम्। अक्षरम्। आपः। अस्य। अवर्धत। मध्ये। आ। नाव्यानाम्। सध्रीचीनेन। मनसा। तम्। इन्द्रः। ओजिष्ठेन। हन्मना। अहन्। अभि। द्यून्॥ ११॥

पदार्थः—(**अनु**) वीप्सायाम् (**स्वधाम्**) अन्नमन्नं प्रति (**अक्षरन्**) संचलन्ति। अत्र सर्वत्र **लडर्थे लङ्**। (**आपः**) जलानि (**अस्य**) सूर्यस्य (**अवर्धत**) वर्धते (**मध्ये**) (**आ**) समन्तात् (**नाव्यानाम्**) नावा तार्य्याणां नदीतडागसमुद्राणां **नौवयोधर्म०** इत्यादिना यत्। (**सध्रीचीनेन**) सहाञ्चति=गच्छति तत्सध्र्यङ् सध्र्यङ् एव सध्रीचीनं तेन। **सहस्य सधिः**। अ० ६। ३। ९५। अनेन सधर्यादेशः। **विभाषाञ्चेरदिक् स्त्रियाम्**। अ० ५। ४। ८। अनेन स्वार्थे खः प्रत्ययः **अचः** इत्यकारलोपः। **चौ**। अ० ६। ३। १३८। इति दीर्घत्वम्। (**मनसा**) मनोवद्वेगेन (**तम्**) वृत्रम् (**इन्द्रः**) विद्युत् (**ओजिष्ठेन**) ओजो=बलं तदतिशयितं तेन। **ओज इति बलनामसु पठितम्**। निघं० २। ९। (**हन्मना**) हन्ति येन तेन अत्र **कृतो बहुलमिति**। **अन्येभ्योपि दृश्यन्त** इति करणे मनिन् प्रत्ययः। **न संयोगाद्वमन्तात्**। अ० ६। ४। १३७। इत्यल्लोपो न। (**अहन्**) हन्ति (**अभि**) आभिमुख्ये (**द्यून्**) दीप्तान् दिवसान्॥ ११॥

प्रमाणार्थ—(**अक्षरन्**) यहां सर्वत्र लट् लकार के अर्थ में लङ् लकार है। (**नाव्यानाम्**) यहां नौवयो धर्म० (४। ४। ९१) इस सूत्र से यत् प्रत्यय है। (**सध्रीचीनेन**) यहां 'सहस्य सधिः' (अ० ६। ३। ९५) इस सूत्र से 'सधि' आदेश है 'विभाषाञ्चेरदिक् स्त्रियाम्' (अ० ५। ४। ८) इस सूत्र से स्वार्थ में 'खः' प्रत्यय है। 'अचः' (अ० ६। ४। १३८) इस सूत्र से अकार का लोप है और 'चौ' (अ० ६। ३। १३८) इस सूत्र से दीर्घ है। (**ओजिष्ठेन**) 'ओजः' यह पद निघण्टु (२। ९) में बल-नामों में पढ़ा है। (**हन्मना**) यहां 'कृतो बहुलम्' (अ० ३। ३। ११३) कृत् प्रत्यय बहुल करके होते हैं; अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (अ० ३। २। ७५) इस सूत्र से करण-कारक में मनिन् प्रत्यय है 'न संयोगाद्वमन्तात्' (अ० ६। ४। १३७) इस सूत्र से अकार का लोप है॥ ११॥

अन्वयः—हे सेनाधिपते यथाऽस्य वृत्रस्य शरीरं नाव्यानां **मध्ये** आवर्धत, यथास्य आपः सूर्य्येण छिन्ना अनुस्वधामक्षरन्, यथा चायं वृत्रः सध्रीचीनेनौजिष्ठेन हन्मना मनसाऽस्य सूर्य्यस्याभिद्यूनहन् हन्ति, यथेन्द्रो विद्युत् सध्रीचीनेनौजिष्ठेन बलेन तं हन्ति, अभिद्यून् सप्रकाशान् दर्शयति तथा नाव्यानां

मध्ये नौकादिसाधनसहितं बलमावर्धयास्य युद्धस्य मध्ये प्राणादीनीन्द्रियाण्यनुस्वधां चालय, सैन्येन तमिमं शत्रुं हिन्धि, न्यायादीन् प्रकाशय च ॥ ११ ॥

सपदार्थान्वयः—हे सेनाधिपते ! **यथाऽस्य**=वृत्रस्य शरीरं **नाव्यानां** नावा तार्य्याणां नदीतडागसमुद्राणां **मध्ये आ+अवर्धत** समन्तात् वर्धते; **यथाऽस्य आपः** जलानि **सूर्य्येण छिन्ना अनु स्वधाम्** अन्नमन्नं प्रति **अक्षरन्** सञ्चलन्ति; **यथा चायं वृत्रः सध्रीचीनेन** सहाञ्चति=गच्छति तत्सध्यङ् सध्यङ् एव सध्रीचीनं तेन **ओजिष्ठेन** ओजो=बलं तदतिशयितं तेन **हन्मना** हन्ति येन तेन **मनसा** मनोवद्वेगेन **अस्य**=सूर्य्यस्याभिद्यून् अभितो दीप्तान् दिवसान् **अहन्**=हन्ति; **यथेन्द्रः**=विद्युत् **सध्रीचीनेनौजिष्ठेन**=बलेन तं वृत्रं **हन्ति; अभिद्यून्**=सप्रकाशान् दर्शयति **तथा नाव्यानां मध्ये नौकादिसाधनसहितं बलमावर्धय, अस्य युद्धस्य मध्ये प्राणादीनीन्द्रियाण्यनुस्वधां चालय, सैन्येन तमिमं शत्रुं हिन्धि, न्यायादीन् प्रकाशय च ॥ ११ ॥**

भाषार्थ—हे सेनाधिपते ! जैसे (**अस्य**) इस मेघ का शरीर (**नाव्यानाम्**) नौका से पार करने योग्य नदी, तडाग और समुद्र के (**मध्ये**) मध्य में (**आ+अवर्धत**) सब ओर से बढ़ता है; और जैसे इस मेघ के (**आपः**) सूर्य से छिन्न-भिन्न हुये जल (**अनुस्वधाम्**) प्रत्येक अन्न को (**अक्षरन्**) प्राप्त होते हैं; और जैसे यह मेघ (**सध्रीचीनेन**) साथ में वर्त्तमान (**ओजिष्ठेन**) अत्यन्त बलयुक्त (**हन्मना**) हनन के साधन (**मनसा**) मन के तुल्य वेग से (**अस्य**) इस सूर्य के (**अभिद्यून्**) प्रकाशयुक्त दिनों का (**हन्ति**) हनन करता है अर्थात् उन्हें अन्धकार से ढक लेता है; जैसे (**इन्द्रः**) विद्युत् अपने साथ वर्त्तमान बल से (**तम्**) उस मेघ का हनन करती है और अपने प्रकाशयुक्त दिनों को दर्शाती है, वैसे आप—नदी, तडाग और समुद्र के मध्य में नौका आदि साधनों से युक्त सेना को बढ़ाओ, इस युद्ध के मध्य में प्राण आदि इन्द्रियों को अन्न के अनुसार चलाओ, सेना-बल से शत्रु का हनन करो और न्याय आदि को प्रकाशित करो ॥ ११ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथा विद्युता वृत्रं हत्वा निपातिता वृष्टिर्यवादिकमन्नं नदीतडागसमुद्रजलं च वर्धयति, तथैव मनुष्यैः सर्वेषां शुभगुणानां सर्वतो वर्षणेन प्रजाः सुखयित्वा शत्रून् हत्वा विद्यासद्गुणान् प्रकाश्य सदा धर्मः सेवनीय इति ॥ ११ ॥

भावार्थ—यहां वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। जैसे विद्युत् द्वारा मेघ को मारकर गिराई हुई वर्षा—जौ आदि अन्न, नदी, तालाब और समुद्र के जल को बढ़ाती है, वैसे सब मनुष्य सब शुभगुणों की सब ओर से वर्षा कर, प्रजा को सुखी कर, शत्रुओं को मारकर विद्या और सद्गुणों को प्रकाशित करके सदा धर्म का सेवन करें ॥ ११ ॥

भाष्यसार—**सेनापति का कार्य**—जैसे इस मेघ का शरीर नदी, तडाग और समुद्र में बढ़ता है; जैसे इसका सूर्य से छिन्न-भिन्न किया हुआ प्रत्येक अन्न को प्राप्त होता है; जैसे यह अपने अत्यन्त बलयुक्त वेग से सूर्य के प्रकाश से युक्त दिनों का हनन करता है अर्थात् उन्हें अन्धकार से आच्छादित करता है और जैसे विद्युत् अपने बल से मेघ का हनन करती है और प्रकाशयुक्त दिनों को दिखलाती है; वैसे सेनाधिपति नदी, तड़ाग और समुद्र में चलने वाली नौका आदि साधनों से युक्त सेना को बढ़ावे। युद्ध में प्राण आदि इन्द्रियों को अन्न के अनुसार चलावे अर्थात् उत्तम अन्न आदि से प्राण आदि को पुष्ट करके उनसे उपयोग लेवे। सेनाबल से शत्रु का हनन करे और प्रजा में न्याय आदि को प्रकाशित करे ॥ ११ ॥

अलङ्कार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है, अतः वाचकलुप्तोपमा

अलंकार है। उपमा यह है कि जैसे मेघ सूर्य के प्रकाश को आच्छादित करता है और विद्युत् उसका हनन करता है वैसे सेनापति शत्रु का हनन करे ॥ ११ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"जल इस इन्द्र के व्रीहादि अन्न का ध्यान न रखकर मेघ से वृष्टि रूप में गिरे। उस समय यह वृत्र नाव से तैरने योग्य बहुत जलों में चारों तरफ वृद्धि को प्राप्त हुआ। वृत्र बहुत जल में भी मरा नहीं। तब इन्द्र ने साथ जाते हुए मन से युक्त उस वृत्र को बहुत शक्तिशाली मारने के साधन वज्र से कुछ दिनों के बाद मारा।"

यद्यपि सायणाचार्य ने पिछले मन्त्र में स्पष्ट रूप से 'वृत्र' का अर्थ मेघ माना है, पुनरपि यहां फिर उसे भूलगए और कल्पित व्याख्या ही कर बैठे। जब मेघ के छिन्न-भिन्न होने से वृष्टि हो चुकी तब पृथिवीस्थ जलों में वृत्र की वृद्धि कैसे हुई ? यह कुछ भी सायण ने स्पष्ट नहीं किया। और जल में बढ़ते हुए वृत्र को इन्द्र ने वज्र से कुछ दिनों बाद मारा, यह तो और आश्चर्य-जनक बात है। और वृत्र को मन से युक्त बताना क्या शारीरिक विज्ञान से अनभिज्ञता नहीं है ? मन=अन्तःकरण जीवात्मा का साधन है। जब सायण ने स्वयं वृत्र को मेघ माना है, तो क्या जड़ पदार्थों में भी मन की सत्ता हो सकती है ? यदि सायणाचार्य ने दर्शनों का विधिवत् अध्ययन किया होता, तो ऐसी अनभिज्ञता की बातें न लिखते। इससे उन्होंने वेदों की सब सत्यविद्या को मिथ्या करके वेदों पर मिथ्या दोषारोपण ही किया है।

उपर्युक्त मिथ्या बातों से रहित, प्रकरणानुकूल तथा प्रामाणिक महर्षि-दयानन्द का मन्त्रार्थ पठनीय है। महर्षि ने यहां सेनापति के कर्त्तव्यों का आलंकारिक वर्णन से स्पष्टीकरण किया है। महर्षि ने 'मनसा=मन के तुल्य वेग से' इस व्याख्या से वृत्र के मनयुक्त होने की भ्रान्ति का भी समाधान कर दिया है। और वृष्टि जलों का नदी आदि में बढ़ना ही वृत्र मेघ के शरीर का बढ़ना है। उससे कृषि में लाभ होने से प्रजा को सुख होता है ॥ ११ ॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **इन्द्रः** (**वीरः**) देवता। निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

पुनरिन्द्रस्य कृत्यमुपदिश्यते ॥

फिर इन्द्र के कार्य का उपदेश किया जाता है ॥

न्यविध्यदिलीविशस्य दृढा वि शृङ्गिणमभिनच्छुष्णमिन्द्रः ।
यावत्तरो मघवन्यावदोजो वज्रेण शत्रुमवधीः पृतन्युम् ॥ १२ ॥

नि । अविध्यत् । इलीविशस्य । दृढा । वि । शृङ्गिणम् । अभिनत् । शुष्णम् । इन्द्रः । यावत् । तरः । मघऽवन् । यावत् । ओजः । वज्रेण । शत्रुम् । अवधीः । पृतन्युम् ॥ १२ ॥

पदार्थः—(**नि**) निश्चितार्थे (**अविध्यत्**) विध्यति अत्र लडर्थे लङ्। (**इलीविशस्य**)

---

१. आपः जलानि अस्य इन्द्रस्य स्वधाम् अन्नं व्रीह्यादिरूपमनुपलक्ष्य अक्षरन् मेघाद् वृष्टा अभवन्। तदानीमयं वृत्रः नाव्यानां नावा तरणयोग्यानां बह्वीनामपां मध्ये आ समन्तात् अवर्धत वृद्धिं प्राप्तः। प्रभूतजले वर्त्तमानोऽपि न ममार किन्तु अभिवृद्ध एव। तदानीम् इन्द्रः सध्रीचीनेन सह गच्छता मनसा युक्तं तं वृत्रम् ओजिष्ठेन अतिबलयुक्तेन हन्मना हननसाधनेन वज्रेण अभिद्यून् कतिचिद् दिवसानभिलक्ष्य अहन् तेषु दिवसेषु हतवान् ॥ (सायणः)

इलायाः=पृथिव्याः विले=गर्ते शेते तस्य वृत्रस्य। **इलेति पृथिवीनामसु पठितम्।** निघं० १। १। इदमभीष्टं पदं **पृषोदरादिना** सिध्यति। **इलाविशस्य इलाबिलशयस्य।** निरु० ६। १९। (**दृढा**) दृढानि=दृंहितानि वर्द्धितानि किरणशस्त्राणि (**वि**) विशेषार्थे (**भृङ्गिणम्**) शृङ्गवदुन्नतविद्युद्गर्जनाकारणघनीभूतं मेघं (**अभिनत्**) भिनत्ति। अत्र **लडर्थे लङ्।** (**शुष्णम्**) शोषणकर्त्तारम् (**इन्द्रः**) विद्युत् (**यावत्**) वक्ष्यमाणम् (**तरः**) तरति येन बलेन तत्। **तर इति बलनामसु पठितम्।** निघं० २। ९। (**मघवन्**) महाधनप्रद महाधनयुक्त वा (**यावत्**) वक्ष्यमाणम् (**ओजः**) पराक्रमः (**वज्रेण**) छेदकेन वेगयुक्तेन तापेन (**शत्रुम्**) वृत्रमिव शत्रुम् (**अवधीः**) हिन्धि। अत्र **लोडर्थे लुङ्।** (**पृतन्युम्**) पृतनां=सेनामिच्छतीव पृतन्यतीति पृतन्युस्तम्। **कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः।** अ० ७। ४। ३९॥ १२॥

प्रमाणार्थ—(**अविध्यत्**) यहां लट् लकार के अर्थ में लङ् लकार है। (**इलीविशस्य**) 'इळा' यह पद निघण्टु (१। १) में पृथिवी-नामों में पढ़ा है। यह अभीष्ट पद 'पृषोदरादि (अ० ६। ३। १०९) इस सूत्र से सिद्ध होता है, निरुक्त (६। १९) के अनुसार इस पद का अर्थ—पृथिवी के अन्दर बिल में सोने वाला है। (**अभिनत्**) यहां लट् लकार के अर्थ में लङ् लकार है। (**तरः**) यह पद निघण्टु (२। ९) में बल-नामो में पढ़ा है। (**अवधीः**) यहां लोट् लकार के अर्थ में 'लुङ्' लकार है। (**पृतन्युम्**) यहां 'कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः' (अ० ७। ४। ३९) इस सूत्र से पृतना के 'आ' का लोप हुआ है॥

अन्वयः—हे मघवन् वीर त्वं यथेन्द्रः स्तनयित्नुरिलीविशस्य वृत्रस्य संबन्धीनि दृढा दृढानि घनादीनि व्यभिनत् भिनत्ति स्वस्य यावत्तरो यावदोजोस्ति तेन सह युजा वज्रेण शृङ्गिणं शुष्णं न्यविध्यन् निहन्ति पृतन्युं वृत्रमिव शत्रुमवधीर्हन्ति तथा शत्रुषु चेष्टस्व॥ १२॥

सपदार्थान्वयः—हे **मघवन् वीर** महाधनप्रद महाधनयुक्त वा! **त्वं यथेन्द्रः=स्तनयित्नुः** विद्युत् **इलीविशस्य=वृत्रस्य** इलायाः=पृथिव्याः विले=गर्ते शेते तस्य वृत्रस्य **सम्बन्धीनि दृढा=दृढानि घनादीनि** दृढानि=दृंहितानि वर्द्धितानि किरणशस्त्राणि **वि+अभिनत्=भिनत्ति, स्वस्य यावत्** वक्ष्यमाणं **तरः** तरति येन बलेन तत् **यावत्** वक्ष्यमाणम् **ओजः** पराक्रमः **अस्ति, तेन सह युजा वज्रेण** छेदकेन वेगयुक्तेन **शृङ्गिणं** शृङ्गवदुन्नतविद्युद्गर्जनाकारणघनीभूतं मेघं **शुष्णं** शोषणकर्त्तारं **नि+[अविध्यत्] अविध्यन्=निहन्ति** निश्चिततया विध्यति, **पृतन्युं=वृत्रं** पृतनां=सेनामिच्छतीव पृतन्यतीति पृतन्युस्तम् **इव शत्रुं वृत्रमिव शत्रुम् अवधीः=हन्ति** हिन्धि, **तथा शत्रुषु चेष्टस्व॥ १२॥**

भाषार्थ—हे (**मघवन्**) महाधन से प्रदान करनेवाले या महाधन से युक्त वीर! आप—जैसे (**इन्द्रः**) विद्युत् (**इलीविशस्य**) बरसकर पृथिवी के गढों में शयन करनेवाले मेघ के सम्बन्धी (**दृढा**) सुदृढ़ मेघ आदि का (**वि+अभिनत्**) भेदन करती है, और अपना (**यावत्**) जितना (**तरः**) बल तथा (**यावत्**) जितना (**ओजः**) पराक्रम है, उससे युक्त (**वज्रेण**) वेग से (**शृङ्गिणम्**) सींगों के समान उन्नत विद्युत्-गर्जना के कारण घनीभूत (**शुष्णम्**) वर्षा को रोककर खेती को सुखानेवाले मेघ का (**नि+अविध्यत्**) निश्चित रूप से वध करती है, और (**पृतन्युम**) सेना के इच्छुक अपने शत्रु मेघ का हनन (**अवधीः**) हनन करती है,—वैसे आप शत्रुओं में चेष्टा करो॥ १२॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथा विद्युद् मेघावयवान् भित्त्वा जलं वर्षयित्वा सर्वान् सुखयति तथैव मनुष्यैः सुशिक्षितया सेनया दुष्टगुणान् दुष्टान्मनुष्यांश्चोपदेश्य प्रचण्डदण्डास्त्र-

भावार्थ—यहां वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। जैसे विद्युत् मेघ के अवयवों का भेदन कर, जल वर्षाकर, सबको सुखी करती है, वैसे ही सब मनुष्य सुशिक्षित सेना के द्वारा दुष्ट गुणों और दुष्ट

वृष्टिभ्यां शत्रून्निवार्य प्रजायां सततं सुखानि वर्षणीयानीति ॥ १२ ॥

मनुष्यों को उपदेश देकर प्रचण्ड दण्ड और अस्त्रों की वृष्टि से शत्रुओं का निवारण करके प्रजा में सदा सुखों की वर्षा करें ॥ १२ ॥

भाष्यसार—**वीर का कार्य**—जैसे विद्युत् मेघ आदि का भेदन करती है, और अपने बल और पराक्रम से युक्त वेग से घनीभूत तथा वर्षा को रोककर खेती को सुखाने वाले मेघ का हनन करती है, मेघ-सेना के इच्छुक मेघ-शत्रु का वध करती है, वैसे महाधन प्रदान करने वाला तथा स्वयं महाधन से युक्त वीर शत्रुओं में उक्त विद्युत् के तुल्य चेष्टा करे ॥ १२ ॥

अलङ्कार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक इव आदि पद लुप्त है, अतः वाचकलुप्तोपमा अलङ्कार है। उपमा यह है कि महाधनवान् वीर शत्रुओं में विद्युत् के समान चेष्टा करे ॥ १२ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायणभाष्य[1] इस प्रकार है—"भूमि के बिल में स्थित वृत्र से सम्बन्ध तथा असुर से विरुद्ध पर्याप्त जलों को इन्द्र ने विद्ध कर दिया। तत्पश्चात् गायादि के सींगों के समान शस्त्रों वाले तथा जगत् को सुखाने वाले वृत्र को अनेक प्रकार से ताडन किया। हे धनयुक्त इन्द्र ! तेरा जितना वेग है, और जितना बल है, उस सबसे युक्त तुमने युद्ध करने की इच्छा वाले वृत्र शत्रु को वज्र से मारा।"

इस मन्त्र के भाष्य में भी सायण ने बहुत ही विज्ञान-विरुद्ध बातों का उल्लेख किया है। जैसे भूमि के बिलों में वृत्र का शयन करना, इन्द्र का उसको विद्ध करना, वृत्र के गायादि पशुओं के सींगों के के समान शस्त्र बताना, और इन्द्र-देव का वज्रनामक शस्त्र-विशेष माननादि समस्त बातें सायणभाष्य की काल्पनिक हैं। वृत्र मेघ का नाम है, उसको इन्द्र=सूर्य या विद्युत् छिन्न-भिन्न करके वृष्टि द्वारा भूमि पर जलों को गिराते हैं। वही भूमि पर गिरा हुआ जल मानो वृत्र=मेघ का शरीर है। वृष्टि के बाद इन्द्र वृत्र=मेघ का भेदन नहीं करता, यह सायण की भूल है। इन्द्र तो वृत्र को नष्ट (छिन्न-भिन्न) करके वृष्टि कराता है। 'वज्र' यह कोई शस्त्र-विशेष कदापि नहीं है, सूर्य की किरणों अथवा वीर्यं वा वज्रः' (शत०) इस प्रमाण से वेग को 'वज्र' कहते हैं। वृत्र=मेघ को मन्त्र में 'शृङ्गिणम्' इसलिए कहा है कि मेघ दूर से ऊँची चोटी वाले पर्वत के समान दिखाई देते हैं। सायण ने इसे न समझकर 'वृत्र का शस्त्र' अर्थ ही कर दिया है। मन्त्र में वृत्र=मेघ के लिए 'शुष्णम्=वर्षा को रोक करके खेती को सुखाने वाला' पद पढ़ा है, जिससे स्पस्ट है कि यहाँ वृष्टि से पूर्व ही वृत्र के वध का वर्णन है, क्योंकि वृष्टि न होने से यह वृत्र खेती को सुखाता है। किन्तु सायण ने यहाँ वृष्टि के बाद भूमि पर पड़े जल के वध का वर्णन लिखा है। उन्होंने यहाँ यह भी नहीं विचार किया कि वृष्टि के बाद खेती कैसे सूखेगी ?

महर्षि के मन्त्रार्थ में यहाँ किसी प्रकार की असङ्गति नहीं है। उन्होंने उपमा अलङ्कार दिखाकर वीर (सेनाध्यक्ष) के कर्त्तव्यों का निर्देश यहाँ किया है। महर्षि के अर्थ की पुष्टि मन्त्रोक्त 'पृतन्युम्' पद से भी स्पष्ट हो रही है कि यहाँ सेनाध्यक्ष का वर्णन है। क्योंकि वह पृतना=सेना का

---

१. इलीविशस्य इलाया भूमेर्बिले शयानस्य वृत्रस्य सम्बन्धीनि द्यळहा दृंहितानि असुरेण निरुद्धानि प्रभूतान्युदकानि इन्द्रः न्यविध्यत् नितरां विद्धवान्। तत ऊर्ध्वं शृङ्गिणं गोमहिषादिशृङ्गसमानैरायुधैरुपेतं शुष्णं जगतः शोषकं वृत्रं वि अभिनत् विविधं ताडितवान्। हे मघवन् धनयुक्तेन्द्र तव यावत्तरः यावान् वेगोऽस्ति यावदोजः यावद्बलमस्ति तेन सर्वेण युक्तस्त्वं पृतन्युं पृतनां युद्धमिच्छन्तं शत्रुं वृत्रं वज्रेण अवधीः हतवानसि ॥ (सायणः)

इच्छुक होता है। परन्तु सायण ने इस पद को वृत्र का विशेषण माना है। उन्होंने यहाँ यह भी विचार नहीं किया कि क्या अचेतन (जड़) वृत्र=मेघ में इच्छादि धर्म हो सकते हैं? इच्छादि धर्म तो चेतन के होते हैं। अतः सायण की व्याख्या असङ्गत तथा काल्पनिक है ॥ १२ ॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **इन्द्रः (सेनाध्यक्षः)** देवता। निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

फिर वह सेनाध्यक्ष कैसा है, यह उपदेश किया जाता है ॥

अभि सिध्मो अजिगादस्य शत्रून्वि तिग्मेन वृषभेणा पुरोऽभेत्।
संवज्रेणासृजद्वृत्रमिन्द्रः प्रस्वां मतिमतिरच्छाशदानः ॥ १३ ॥

अभि। सिध्मः। अजिगात्। अस्य। शत्रून्। वि। तिग्मेन। वृषभेण। पुरः। अभेत्। सम्। वज्रेण। असृजत्। वृत्रम्। इन्द्रः। प्र। स्वाम्। मतिम्। अतिरत्। शाशदानः ॥ १३ ॥

पदार्थः—(**अभि**) आभिमुख्ये (**सिध्मः**) सेधति=प्राप्नोति विजयं येन गुणेन सः। अत्र **षिधु गत्यामित्यस्मादौणादिको मक् प्रत्ययः**। (**अजिगात्**) प्राप्नोति अत्र सर्वत्र **लडर्थे लङ्**। **जिगातीति गतिकर्मसु पठितम्** निघं० २। १४। (**अस्य**) स्तनयित्नोः (**शत्रून्**) मेघावयवान् (**वि**) विशेषार्थे (**तिग्मेन**) तीक्ष्णेन तेजसा (**वृषभेण**) वृष्टिकरणोत्तमेन। **अन्येषामपि** इति दीर्घः। (**पुरः**) पुराणि (**अभेत्**) भिनत्ति (**सम्**) सम्यगर्थे (**वज्रेण**) गतिमता तेजसा (**असृजत्**) सृजति (**वृत्रम्**) मेघम् (**इन्द्रः**) सूर्यः (**प्र**) प्रकृष्टार्थे (**स्वाम्**) स्वकीयाम् (**मतिम्**) ज्ञापनम् (**अतिरत्**) संतरपि प्लायति अत्र विकरणव्यत्ययेन शः। (**शाशदानः**) अतिशयेन शीयते=शातयति छिनत्ति यः सः ॥ १३ ॥

प्रमाणार्थ—(**सिध्मः**) यहां गत्यर्थक 'षिधु' धातु से औणादिक 'मक्' प्रत्यय है। (**अजिगात्**) यहां 'लट्' लकार के अर्थ में लङ् लकार है, 'जिगाति' पद निघण्टु (२। १४) में गत्यर्थक क्रियाओं में पढ़ा है। (**वृषभेण**) यहां 'अन्येषामपि०' (अ० ६। ३। १३७) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—वृषभेणा ॥

अन्वयः—यथास्य स्तनयित्नोः सिध्मो वेगस्तिग्मेन वृषभेण शत्रून् व्यजिगाद्विजिगाति, अस्य पुरो-व्यभेत् पुराणि-विभिनत्ति, यथायं शाशदान इन्द्रो वृत्रं वज्रेण समसृजत्संसृजति संयुवतं करोति, तथा मतिं ज्ञापिकां स्वां रीतिं प्रातिरत् प्रकृष्टतया संतरति, तथैवानेन सेनाध्यक्षेण भवितव्यम् ॥ १३ ॥

सपदार्थान्वयः— **यथाऽस्य**= स्तनयित्नोः **सिध्मः**=वेगः सेधति=प्राप्नोति विजयं येन गुणेन सः **तिग्मेन** तीक्ष्णेन तेजसा **वृषभेण** वृष्टिकरणोत्तमेन **शत्रून्** मेघावयवान् **वि+अजीगात्**=**विजिगाति** विशिष्टतया प्राप्नोति, **अस्य पुरो-वि+अभेत्**=**पुराणि वि+भिनत्ति** विशिष्टतया भिनत्ति, **यथाऽयं शाशदानः** अतिशयेन शीयते=शातयति छिनत्ति यः सः **इन्द्रः** सूर्यः **वृत्रं मेघं वज्रेण** गतिमता तेजसा **सम्+असृजत्**=**संसृजति, संयुवतं करोति**

भाषार्थ—जैसे (**अस्य**) इस विद्युत् का (**सिध्मः**) विजय प्राप्त करानेवाले वेग (**तिग्मेन**) तीक्ष्ण (**वृषभेण**) वृष्टि करनेवाले उत्तम गुण से (**शत्रून्**) मेघ-अवयवों को (**वि+अजीगात्**) प्राप्त होता है, और इस मेघ के (**पुरः**) नगरों के तुल्य समुदायों का (**वि+अभेत्**) भेदन करता है, और जैसे (**शाशदानः**) अत्यन्त छेदन करनेवाला (**इन्द्रः**) सूर्य (**वृत्रम्**) मेघ को (**वज्रेण**) गतिमान् तेज से (**सम्+असृजत्**) संयुवत करता है तथा (**मतिम्**)

सम्यक् सृजति, **तथा मतिं=ज्ञापिकां स्वां** स्वकीयां **रीतिं प्र+अतिरत्=प्रकृष्टतया संतरति** सम्यक् संतरति प्लावयति, **तथैवाऽनेन सेनाध्यक्षेण भवितव्यम्॥ १३॥**

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथा विद्युन्मेघावयवाँस्तीक्ष्णवेगेन घनाकारं मेघं च छित्वा भूमौ निपात्य जापयति तथैव सभासेनाध्यक्षो बुद्धिशरीरबलसेनावेगेन शत्रूंश्छित्वा शस्त्रप्रहारैर्निपात्य स्वसंमतावानयेदिति॥ १३॥

पदार्थों की ज्ञापक (**स्वाम्**) अपनी रीति को (**प्र+अतिरत्**) अच्छे प्रकार फैलाता है, वैसा ही इस सेनाध्यक्ष को होना चाहिये॥ १३॥

भावार्थ—यहां वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। जैसे विद्युत् मेघ के अवयवों को तीक्ष्ण वेग से और सघन रूपवाले मेघ को काटकर, भूमि पर डालकर, वश में करती है वैसे ही सभा और सेना के अध्यक्ष, बुद्धि तथा शरीर बल और सेना के वेग से शत्रु को काटकर, शस्त्र के प्रहार से डालकर अपनी सम्मति में लावे॥ १३॥

भाष्यसार—सेनाध्यक्ष कैसा हो—जैसे विद्युत् का विजय प्राप्त करानेवाला वेग, वृष्टि करनेवाले उत्तम तीक्ष्ण गुण से मेघ-अवयवों को प्राप्त होता और वह मेघरूप नगरों के भेदन करता है। और जैसे अत्यन्त छेदक सूर्य मेघ को अपने गतिमान् तेज से संयुक्त करता है तथा पदार्थों की ज्ञापक रीति को फैलाता है अर्थात् प्रकाश का प्रसार करता है, वैसे सेनाध्यक्ष बौद्धिक और शारीरिक बल से तथा सेना के वेग से शत्रुओं का भेदन करे। अपनी ज्ञापक रीति का प्रसार करे अर्थात् शत्रुओं को अपनी सम्मति में लावे॥ १३॥

अलङ्कार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि यह लुप्त है, अतः वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि जैसे विद्युत् मेघों का भेदन करता है वैसे सेनाध्यक्ष शत्रुओं का भेदन करे और जैसे सूर्य को वज्र से युक्त करता है वैसेसेनाध्यक्ष शत्रु को अपने वज्रप्रहार से युक्त करे। जैसे सूर्य अपनी ज्ञापक रीति का प्रसार करता है (प्रकाश को फैलाता है) वैसे सेनाध्यक्ष अपनी ज्ञापक रीति का प्रसार करे और उससे शत्रुओं को अपनी सम्मति में लावे॥ १३॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"इस इन्द्र की सफलता करनेवाला वज्र-नामक शस्त्र इन्द्र के वैरियों की तरफ गया। और उस इन्द्र ने तेज तथा श्रेष्ठ वज्र-शस्त्र से वृत्रासुर के नगरों को छिन्न-भिन्न किया। तत्पश्चात् उस इन्द्र ने अपने वज्र से वृत्रासुर को जोड़ा अर्थात् निशाना बनाया। और वृत्र का वध करते हुए इन्द्र ने हर्ष से युक्त अपनी बुद्धि को बढ़ाया।"

इस सायण के भाष्य में भी इन्द्र के वज्र का शत्रुओं की तरफ स्वयं जाना, वृत्र=मेघ के नगरों को स्वीकार करना और इन्द्र की बुद्धि का बढ़ना कहकर वृत्र=मेघ को छिन्न-भिन्न करनेवाले इन्द्र=सूर्य या विद्युत् की बुद्धि मानना, इत्यादि सायणाचार्य की काल्पनिक तथा प्रमाणशून्य बातें हैं। यथार्थ में लोकरूढ़ अर्थों को प्रमुखता देना और पौराणिक कल्पनाओं का पूर्वाग्रह रखने से सायण को सत्यार्थ से विमुख कर दिया है। महर्षि-दयानन्द के सुसंगत तथा यौगिक प्रक्रिया के आश्रय से किए सत्यार्थ को देखिए—मन्त्र में सिध्मः=साधक वज्रनामक शस्त्र नहीं है अपितु विजय प्राप्त करनेवाले वेग को

---

१. अस्य इन्द्रस्य सिध्मः साधको वज्रः शत्रून् अभि इन्द्रवैरिणोऽभिलक्ष्य अजिगात् गतवान्। स च इन्द्रः तिग्मेन तीक्ष्णेन वृषभेण श्रेष्ठेनायुधेन तेन वज्रेण पुरः वृत्रस्य पुराणि वि अभेत् विविधं भिन्नवान्। ततः सः इन्द्रः वज्रेण स्वकीयेन वृत्रं सम् असृजत् संयोजितवान्। संयोज्य च शाशदानः वृत्रं हिंसन् स्वां मतिं स्वकीयां हर्षोपेतां बुद्धिं प्रतिरत् प्रकर्षेण वर्धितवान्॥ (सायणः)

'सिध्म' कहते हैं। यह वेग ही वृत्र=मेघ को छिन्न-भिन्न करता है। और इन्द्र=सूर्य या विद्युत् अपने वज्र=वेग से वृत्र के नगरों का भेदन नहीं करता, क्योंकि वृत्र के नगर कहीं पर भी नहीं हैं। प्रत्युत वृत्र=मेघों के समूह जब दिखाई देते हैं, तब वे बड़े-बड़े नगरों के समान दिखाई देते हैं और इन्द्र=सूर्य की किरणों से छिन्न भिन्न होकर ये समूह नष्ट हो जाते हैं। और इन्द्र=सूर्य अपनी बुद्धि को नहीं बढ़ाता, प्रत्युत स्वां मतिम्=अपने ज्ञान कराने वाले प्रकाश को फैलाता है, जिसे प्रथम मेघ ने रोक रक्खा था। महर्षि ने इस आलंकारिक वर्णन से सेनाध्यक्ष के कर्त्तव्यों का भी यहाँ उल्लेख किया है, जिन्हें सायण ने नहीं समझा। ऐसे शिक्षाप्रद भौतिक विज्ञान से पूर्ण मन्त्रार्थ को न समझकर काल्पनिक मन्त्रार्थ करके सायण ने बहुत भूल की है॥ १३॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **इन्द्रः** (सभाध्यक्षः) देवता। भुरिक् पङ्क्तिः छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

पुनरिन्द्रकृत्यमुपदिश्यते॥

फिर अगले मन्त्र में इन्द्र के कार्य का उपदेश किया जाता है॥

आवः कुत्समिन्द्र यस्मिञ्चाकन्प्रावो युध्यन्तं वृषभं दशद्युम्।
शफच्युतो रेणुर्नक्षत द्यामुच्छ्वैत्रेयो नृषाह्याय तस्थौ॥ १४॥

आवः। कुत्सम्। इन्द्र। यस्मिन्। चाकन्। प्र। आवः। युध्यन्तम्। वृषभम्। दशऽद्युम्। शफऽच्युतः। रेणुः। नक्षत। द्याम्। उत्। श्वैत्रेयः। नृऽसाह्याय। तस्थौ॥ १४॥

पदार्थः—(आवः) रक्षेत्। अत्र लिङर्थे लङ्। (कुत्सम्) वज्रम्। **कुत्स इति वज्रनामसु पठितम्।** निघं० २। २०। **सायणाचार्येणात्र भ्रान्त्या कुत्सगोत्रोत्पन्नऋषिगृहीतोऽसंभवादिदं व्याख्यानमशुद्धम्** (इन्द्र) सुशील सभाध्यक्ष (यस्मिन्) युद्धे (चाकन्) चंकन्यते-काम्यत इति चाकन्। **कनी दीप्तिकान्तिगतिषु। इत्यस्य यङ्लुगन्तस्य क्विबन्तं रूपम्। वाच्छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति** इति नुगभावः। **दीर्घोऽकित** इत्यभ्यासस्य दीर्घत्वं च। **सायणाचार्येणेदं भ्रमतो मित्संज्ञकस्य ण्यन्तस्य च कनीधातो रूपमशुद्धं व्याख्यातम्** (प्र) प्रकृष्टार्थे (आवः) प्राणिनः सुखे प्रवेशयेत्। अत्र लिङर्थे लङ्। (युध्यन्तम्) युद्धे प्रवर्तमानम् (वृषभम्) प्रबलं (दशद्युम्) दशसु दिक्षु द्योतते तम् (शफच्युतः) शफेषु=गवादिखुरचिह्नेषु च्युतः=पतित आसिक्तो यः सः (रेणुः) धूलिः (नक्षत) प्राप्नोति। अत्र **अडभावो व्यत्ययेनात्मनेपदम्। णक्ष गताविति प्राप्त्यर्थस्य रूपम्** (द्याम्) प्रकाशसमूहं द्युलोकम् (उत्) उत्कृष्टार्थे (श्वैत्रेयः) श्वित्राया=आवर्णकर्त्र्या भूमेरपत्यं श्वैत्रेयः (नृसाह्याय) नृणां सहायाय। अत्र **अन्येषामापि** इति दीर्घः (तस्थौ) तिष्ठेत्। अत्र **लिङर्थे लिट्॥ १४॥**

प्रमाणार्थ—(आवः) यहाँ लिङ् लकार के अर्थ में लङ् लकार है। (कुत्सम्) 'कुत्स' पद निघण्टु (२। २०) में वज्रनामों में पढ़ा है। (चाकन्) यह दीप्ति, कान्ति और गति अर्थ वाली 'कनी' धातु के यङ्लुगन्त का क्विबन्त का रूप है 'वाच्छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति' (महा० १। ४। ९) इस नियम से नुक् आगम का अभाव है, और 'दीर्घोऽकितः' (अ० ७। ४। ८३) इस सूत्र से अभ्यास को दीर्घ है। (आवः) यहां 'लिङ्' लकार के अर्थ में लङ् लकार है। (नक्षत) यहां अट् आगम का अभाव और व्यत्यय से आत्मनेपद है। यह गति अर्थ वाली 'णक्ष' धातु का रूप है। गति के तीन अर्थ

होते हैं—ज्ञान, गमन और प्राप्ति। यहां प्राप्ति अर्थ का ग्रहण है। (**नृषाह्याय**) यहां 'अन्येषामपि०' (**अ० ६ । ३ । १३७**) इस सूत्र से दीर्घ है (**तस्थौ**) यहां लिङ् लकार के अर्थ में लिट् लकार है ॥ १४ ॥

अन्वयः—हे इन्द्र भवता यथा सूर्यलोको यस्मिन् युद्धे युध्यन्तं वृषभं दशद्युं वृत्रं प्रति कुत्सं वज्रं प्रहृत्य जगत्प्रावः श्वैत्रेयो मेघः शफच्युतो रेणुश्च द्यां नक्षत प्राप्नोति नृषाह्याय चाकन्नुत्तस्थौ सुखान्यावः ≍ प्रापयति तथा ससभेन राज्ञा प्रयतितव्यम् ॥ १४ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **इन्द्र** ! सुशील सभाध्यक्ष ! **यथा सूर्यलोको यस्मिन्=युद्धे युध्यन्तं** युद्धे प्रवर्त्तमानम् **वृषभं** प्रबलं **दशद्युं** दशसु दिक्षु द्योतते तं **वृत्रं प्रति कुत्सं=वज्रं प्रहृत्य जगत् प्रावः** प्रकृष्टतया रक्षेत्; **श्वैत्रेयः=मेघः** श्वित्रायाः= आवर्णकर्त्र्या भूमेरपत्यं श्वैत्रेयः **शफच्युतः** शफेषु= गवादिखुरचिह्नेषु च्युतः=पतित आसिक्तो यः सः **रेणुः** धूलिः **च द्यां** प्रकाशसमूहं द्युलोकं **नक्षत=प्राप्नोति; नृषाह्याय** नृणां सहायाय **चाकन्** चंकन्यते=काम्यते इति चाकन् **उत्+तस्थौ** उत्कृष्टतया तिष्ठेत्; **सुखानि आवः=प्रापयति, तथा ससभेन राज्ञा प्रयतितव्यम् ॥ १४ ॥**

भाषार्थ—हे (**इन्द्र**) सुशील सभाध्यक्ष ! जैसे सूर्य (**यस्मिन्**) जिस युद्ध में प्रवर्त्तमान (**वृषभम्**) प्रबल (**दशद्युम्**) दस दिशाओं में प्रकाशमान अर्थात् चारों ओर विद्यमान मेघ के प्रति (**कुत्सम्**) वज्र का प्रहार करके जगत् की (**प्रावः**) रक्षा करता है; और (**श्वैत्रेयः**) आवरणकर्त्री भूमि का पुत्र मेघ तथा (**शफच्युतः**) गौ आदि पशुओं के खुर-चिह्नों में पड़ी हुई (**रेणुः**) धूलि (**द्याम्**) द्युलोक को (**नक्षत**) प्राप्त होती है; और (**नृषाह्याय**) नरों की सहायता के लिये (**चाकन्**) कामना करने वाला मेघ (**उत्+तस्थौ**) उठता है और सुख (**आवः**) पहुँचाता है—वैसे सभाध्यक्ष राजा भी प्रयत्न करे ॥ १४ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः। यथा सूर्यः स्वकिरणैर्वृत्रं भूमौ निपात्य सर्वान्प्राणिनः सुखयति, तथा हे सेनाध्यक्ष त्वमपि सेनाशिक्षाशस्त्रबलेन शत्रून्नस्तव्यस्तान्नधो निपात्य सततं प्रजा रक्षेति ॥ १४ ॥

भावार्थ—यहां वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। जैसे सूर्य अपनी किरणों से मेघ को भूमि पर डालकर सब प्राणियों को सुखी करता है, वैसे हे सेनाध्यक्ष ! तू भी सेना, शिक्षा और शस्त्र के बल से शत्रुओं को अस्त-व्यस्त कर नीचे डालकर निरन्तर प्रजा की रक्षा कर ॥ १४ ॥

भाष्यसार—**सभाध्यक्ष का कार्य**—जैसे सूर्य—युद्ध में प्रवर्तमान, प्रबल, दस दिशाओं में प्रकाशमान अर्थात् चारों ओर विद्यमान मेघ पर वज्र-प्रहार करके जगत् की रक्षा करता है। इससे मेघ और धूलि द्युलोक को प्राप्त होती है अर्थात् वायु चलने लगता है। तत्पश्चात् नरों की सहायता के लिए कामना-सी करता हुआ मेघ उठता है और उन्हें सुख पहुँचाता है अर्थात् वर्षा होने लगती है। सभाध्यक्ष राजा भी ऐसा ही प्रयत्न करे अर्थात् जैसे सूर्य अपने किरणों से मेघ को भूमि पर गिराकर सब को सुखी करता है वैसे राजा सेना आदि से शत्रुओं को मारकर प्रजा की रक्षा करे ॥ १४ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है, अतः वाचकलुप्तोपमा-अलंकार है। उपमा यह है कि जैसे सूर्य मेघ का हनन करता है वैसे राजा शत्रुओं का विनाश करे ॥१४॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायणभाष्य[1] इस प्रकार है—"**हे इन्द्र** ! गोत्र चलाने वाले कुत्स-

---

१. हे इन्द्र कुत्सम् एतन्नामकं गोत्रप्रवर्त्तकमृषिम् आवः रक्षितवानसि। यस्मिन् कुत्से चाकन् स्तुतिं कामयमानो वर्त्तसे। तथा दशद्युम् एतन्नामकं दशसु दिक्षु दीप्यमानमृषिं प्रावः प्रकर्षेण

नामक ऋषि की तुमने रक्षा की है। जिस कुत्स में तुम स्तुति की इच्छा रखते हो अर्थात् कुत्स मेरी स्तुति करे, ऐसी इच्छा करते हो। और दशों दिशाओं मे चमकने वाले दशद्यु नामक ऋषि की तुमने रक्षा की है। जो गुणों में श्रेष्ठ तथा अपने शत्रुओं से युद्ध कर रहा था। तुम्हारे घोड़े के खुर से उड़ी हुई धूलि द्युलोक में व्याप्त हो जाती है। श्वित्रा नामक स्त्री का पुत्र शत्रु के भय से जल में डूब गया था, वह तुम्हारी कृपा से पुरुषों से सहने के लिए जल से खड़ा हो गया ॥"

सायणाचार्य की इस मन्त्र-व्याख्या में निम्नलिखित दोष हैं—

(१) मन्त्र के प्रतिपाद्यविषय देवता की स्पष्ट कोई व्याख्या नहीं है। और इन्द्र नामक कल्पित देव को सायण ने यहाँ माना है, जिसकी मूलमन्त्र से कोई संगति नहीं है।

(२) इस संसार की रक्षा तथा भरण-पोषण करने वाला एक चेतन परमात्मा है। और वह जीवों की कर्मानुसार सुख-दुख की व्यवस्था करता है। किन्तु सायण का यह कल्पित देव कौन है ? क्या ईश्वर से भिन्न है ? क्या वह ईश्वर की व्यवस्था में हस्तक्षेप करता है ? जो किसी की रक्षा तथा धनधान्य प्रदान करता है और किसी को वज्र से मारता है ? अतः स्पष्ट है कि सायण की व्याख्या सन्दिग्ध तथा भ्रान्तिपूर्ण है।

(३) वेदों को सायणाचार्य ने भी ईश्वरीय तथा शाश्वत ज्ञान माना है। और उसको परमेश्वर सृष्टि के प्रारम्भ में मानव को प्रदान करता है। फिर उनमें सृष्टि में होने वाले व्यक्ति-विशेषों के नाम तथा उनका इतिवृत्त कैसे सम्भव है ?

(४) वेदार्थदीपक निरुक्त-शास्त्र में यह स्पष्ट लिखा है कि वेद के नाम-पद आख्यातज= प्रकृति-प्रत्ययार्थ के योग से अर्थों को बताते हैं। किन्तु सायणाचार्य ने इस शास्त्रीय नियम का उल्लंघन करके कुत्सादि पदों के रूढ अर्थ किए हैं।

(५) मनुस्मृति में स्पष्ट लिखा है—'सर्वेषां तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेद शब्देभ्य एवादौ०' अर्थात् लोक में सृष्टि के प्रारम्भ में वेदों से चयन करके लौकिक पदार्थादि के नाम रक्खे गए। मनु की इस व्यवस्था को देखकर स्पष्ट होता है कि लौकिक कुत्सादि व्यक्तियों तथा पदार्थों का इतिवृत्त वेदों में कदापि नहीं हो सकता। सायणाचार्य की यह भूल है कि इस मन्त्रार्थ में गोत्र चलाने वाले कुत्स तथा दशद्यु नामक ऋषि की कल्पित कथा का वर्णन वेदार्थ में दिखाने का दुस्साहस मात्र किया है।

(६) सायण का कल्पित इन्द्र रथारूढ़ होकर चलता है और युद्धादि के समय उसके घोड़ों के खुरों से उड़ी धूल द्युलोक में व्याप्त हो जाती है। यह भी सायण की व्याख्या मिथ्या है। सायण ने इन्द्रादि के यथार्थ अर्थों तथा मन्त्रार्थ की संगति को बिना समझे ही यह व्याख्या की है। अतः रथारूढ़ अथवा घोड़े पर चढ़े कल्पित इन्द्र की बात स्पप्न-मात्र ही है।

(७) और सायण ने इस मन्त्र में 'श्वित्रा' के पुत्र के जल में डूबने तथा इन्द्र को कृपा से पुनः जीवित होने की व्याख्या करके तो बहुत ही आश्चर्य पैदा कर दिया है। क्या वेद किसी प्रमत्त मूर्ख व्यक्ति की रचना है कि जिसमें निरर्थक तथा असंगत बातें लिखी हों ? उसी मन्त्र में श्वित्रा स्त्री के

रक्षितवानसि। कीदृशम्। स्वकीयैः शत्रुभिः सह युद्धं कुर्वन्तं वृषभं गुणैः श्रेष्ठम्। शफच्युतः त्वदीय-अश्वस्य शफात् पतितः रेणुः धूलिः द्यां द्युलोकं नक्षत प्राप्नोति। श्वैत्रेयः श्वित्राख्याया योषितः पुत्रः पुरा शत्रुभयाज्जले मग्नः सन् त्वदनुग्रहात् नृसह्याय नृभिः पुरुषैः सोढव्याय उत् तस्थौ जलादुत्थितवान्॥ (सायण।)

पुत्र की कथा का वर्णन बताया है। उसकी मन्त्र के दूसरे पादों से भी कोई संगति तो होनी चाहिए। ऐसी असंगत व्याख्या करके सायण ने वेद के गौरव को धराशायी ही कर दिया है।

महर्षि-दयानन्द के मन्त्रार्थ में ये उपर्युक्त असंगतियाँ तथा दोष कदापि नहीं हैं। उन्होंने मन्त्र के देवता इन्द्र की व्याख्या करके एक प्रकरण के अनुकूल समस्त मन्त्रार्थ किया है। महर्षि ने निघण्टु का प्रमाण देकर लिखा है कि 'कुत्स' पद 'वज्र' वाचक होने से यहाँ यह इन्द्र=सूर्य की किरणों के लिए आया है। सूर्य अपनी किरणों से दशद्यु=सब दिशाओं में विद्यमान या प्रकाशमान मेघ को छिन्न-भिन्न कर सृष्टि की रक्षा करता है। श्वित्रा के पुत्र की यहाँ कोई कथा नहीं है। आवरण करने वाली भूमि ही 'श्वित्रा' है और भूमि से उत्पन्न होने से मेघ को 'श्वैत्रेयः' कहते हैं। यह मेघ तथा भूमि से गायादि पशुओं के खुरों से उड़ी धूल द्युलोक को प्राप्त होती है, यही श्वित्रा=भूमि के पुत्र मेघ का उठना है। मेघ से वृष्टि होने पर सृष्टि में सुख पहुँचता है। ऐसी सुसंगत तथा वैज्ञानिक व्याख्या के सामने सायण की व्याख्या सर्वथा ही परित्याज्य है॥ १४॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **इन्द्रः** (सभाध्यक्षः) देवता। भुरिक्पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

पुनरिन्द्रस्य किं कृत्यमित्युपदिश्यते॥

फिर सभाध्यक्ष का क्या कार्य है, यह उपदेश किया जाता है॥

आवः शमं वृषभं तुग्र्यासु क्षेत्रजेषे मघवञ्छ्वित्र्यं गाम्।
ज्योक् चिदत्र तस्थिवांसो अक्रञ्छत्रूयतामधरा वेदनाकः॥ १५॥

आवः। शमम्। वृषभम्। तुग्र्यासु। क्षेत्रजेऽषे। मघऽवन्। श्वित्र्यम्। गाम्। ज्योक्। चित्। अत्र। तस्थिवांसः। अक्रन्। शत्रुऽयताम्। अधरा। वेदना। अक इत्यकः॥ १५॥

पदार्थः—(**आवः**) प्रापय (**शमम्**) शाम्यन्ति येन तम् (**वृषभम्**) वर्षणशीलं मेघम् (**तुग्र्यासु**) अप्सु हिंसनक्रियासु (**क्षेत्रजेऽषे**) क्षेत्रमन्नादिसहितं भूमिराज्यं जेषते=प्रापयति तस्मै। अत्र **अन्तर्गतो ण्यर्थः क्विबुपपदसमासश्च**। (**मघवन्**) महाधन सभाध्यक्ष (**श्वित्र्यम्**) श्वित्रायां=भूमेरावरणे साधुम् (**गाम्**) ज्योतिः पृथिवीं वा (**ज्योक्**) निरन्तरे (**चित्**) उपमार्थे (**अत्र**) अप्सु भूमौ वा (**तस्थिवांसः**) तिष्ठन्तः (**अक्रन्**) कुर्वन्ति। **मन्त्रे घसह्वरणश०** इत्यादिना च्लेर्लुक्। (**शत्रूयताम्**) शत्रुरिवाचरताम् (**अधरा**) नीचानि (**वेदना**) वेदनानि अत्रोभयत्र **शेश्छन्दसि बहुलम्** इति शेर्लोपः। (**अकः**) करोति। अत्र लडर्थे लुङ्॥

प्रमाणार्थ—(**क्षेत्रजेषे**) यहां 'णिच्' प्रत्यय का अर्थ अन्तर्निहित है, क्विप् प्रत्यय है और उपपद समास है। (**अक्रन्**) यहां 'मन्त्रेघसह्वरणश०' (अ० २। ४। ८०) इस सूत्र से 'च्लि' प्रत्यय का लुक् है। (**वेदना**) यहां 'शेश्छन्दसि बहुलम्' (अ० ६। १। ७०) इस सूत्र से 'शि' प्रत्यय का लोप है। (**अकः**) यहाँ लट् लकार के अर्थ में लुङ् लकार है॥ १५॥

अन्वयः—हे मघवन् सभेश त्वं यथा सूर्यः क्षेत्रजेषे श्वित्र्यं वृषभं तुग्र्यास्वप्सु गां किरणसमूहमावः प्रवेशयति शत्रूयतां तेषां मेघावयवानामधरा नीचानि वेदना वेदनानि पापफलानि दुःखानि

तस्थिवांसः किरणाश्छेदनं ज्योगक्रन्। अत्र भूमौ निपातनमकः क्षेत्रजेषे आसु क्रियासु श्वित्र्यं वृषभं शममावः शान्तिं प्रापयति गां पृथिवीमावः दुःखान्यक्रंश्चिदिव शत्रून्निवार्य प्रजाः सदा सुखय ॥ १५ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **मघवन्**=सभेश महाधन सभाध्यक्ष ! त्वं **यथा सूर्यः क्षेत्रजेषे** क्षेत्रमन्नादिसहितं भूमिराज्यं जेषते=प्रापयति **तस्मै श्वित्र्यं** श्वित्रायां=भूमेरावरणे साधुं **वृषभं** वर्षणशीलं मेघं **तुग्र्यासु=अप्सु** अप्सु=हिंसनक्रियासु **गां=किरणसमूहं आवः=प्रवेशयति; शत्रूयतां** शत्रुमिवाऽऽचरतां **तेषां मेघावयवानाम् अधरा=नीचानि वेदना=वेदनानि पापफलानि दुःखानि तस्थिवांसः** तिष्ठन्तः **किरणाश्छेदनं ज्योग्** निरन्तरम् **अक्रन्** कुर्वन्ति; **अत्र=भूमौ निपातनम् अकः** करोति; **क्षेत्रजेषे आसु क्रियासु श्वित्र्यं** भूमेरावरणे साधुं **वृषभं** वर्षणशीलं मेघं **शमम् आवः=शान्तिं प्रापयति गां=पृथिवीम् आवः** प्रापयति, **दुःखानि अक्रन्** कुर्वन्ति, **चिद्=इव शत्रून्निवार्य्य प्रजाः सदा सुखय ॥ १५ ॥**

भाषार्थ—हे (**मघवन्**) महाधनवान् सभाध्यक्ष ! आप—जैसे सूर्य (**क्षेत्रजेषे**) क्षेत्र=अन्नादि सहित भूमि के राज्य को प्राप्त करने के लिये (**श्वित्र्यम्**) भूमि के आवरण में कुशल (**वृषभम्**) वर्षा करने वाले मेघ को (**तुग्र्यासु**) हिंसन-क्रियाओं के लिये (**गाम्**) किरण-समूह में (**आवः**) प्रविष्ट करता है, और (**शत्रूयताम्**) शत्रु के समान आचरण करने वाले उन मेघ-अवयवों के (**अधरा**) नीच (**वेदना**) पाप-फल रूप दुःखों में (**तस्थिवांसः**) अवस्थित किरणें उनका छेदन (**ज्योक्**) निरन्तर (**अक्रन्**) करती हैं, और वह सूर्य (**अत्र**) भूमि पर उनका निपातन (**अकः**) करता है, वह भूमि के राज्य को प्राप्त करने के लिये इन क्रियाओं में (**श्वित्र्यम्**) भूमि के आवरण में कुशल (**वृषभम्**) वर्षा करने वाले मेघ को (**शमम्**) शान्ति (**आवः**) पहुँचाता है अर्थात् शान्त करता है, उसे (**गाम्**) पृथिवी पर (**आवः**) पहुँचाता है अर्थात् भूमि पर गिराता है, दुःखों को दूर (**अक्रन्**) करता है, (**चित्**) वैसे शत्रुओं का निवारण करके प्रजा को सदा सुखी करो ॥ १५ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथा सूर्य्योऽन्तरिक्षान्मेघजलं भूमौ निपात्य प्राणिभ्यः शमं सुखं ददाति तथैव सेनाध्यक्षादयो मनुष्या दुष्टान् शत्रून् बध्वा धार्मिकान् पालयित्वा सततं सुखानि भुञ्जीरन्निति ॥ १५ ॥

भावार्थ—यहां वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। जैसे सूर्य अन्तरिक्ष से मेघ-जल को भूमि पर डालकर प्राणियों को शान्ति और सुख देता है, वैसे ही सेनाध्यक्ष आदि मनुष्य दुष्ट शत्रुओं को बांधकर, धार्मिकों का पालन करके, सदा सुखों का भोग करें ॥ १५ ॥

भाष्यसार—**सभाध्यक्ष का कार्य**—जैसे सूर्य भूमि के राज्य को प्राप्त करने के लिये मेघ को हिंसन के निमित्त किरण-समूह में प्रविष्ट करता है। किरणें शत्रु के समान आचरण करनेवाले मेघ-अवयवों के नीच पाप-फल रूप दुःख (अन्धकार) में अवस्थित होकर उनका छेदन करती हैं। इस प्रकार सूर्य मेघों को भूमि पर गिराता है और उन्हें शान्ति पहुँचाता है अर्थात् उन्हें शान्त कर देता है और दुःखों को दूर करता है। इसी प्रकार सभाध्यक्ष दुष्ट शत्रुओं का निवारण करके प्रजा को सुखी करे ॥ १५ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है, अतः वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि जैसे सूर्य मेघों का हनन करता है, वैसे सभाध्यक्ष राजा शत्रुओं का निवारण करे ॥ १५ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे धनसम्पन्न इन्द्र ! तुमने श्वित्रा के पुत्र की रक्षा की है। शत्रुओं के साथ युद्ध के समय खेत में जाने के लिये। वह श्वित्रा का पुत्र कैसा था ? वह तुम्हारी रक्षा से मन की व्याकुलता को छोड़कर शान्त था और गुणों में श्रेष्ठ वह जल में डूबा हुआ था। यहां हमारे साथ युद्ध में बहुत समय तक स्थिर रहकर जिन्होंने शत्रुता की, उन शत्रुता चाहने वालों के दुःखों को तुमने किया अर्थात् हमारे शत्रुओं को दुःख दिया।"

इस मन्त्र की भी सायण-व्याख्या असंगत, प्रकरणविरुद्ध तथा काल्पनिक है। सायण ने यहां श्वित्रा नामक स्त्री के पुत्र की बात लिखी है, जो उनके अज्ञान को ही प्रकट करती है। महर्षि ने पूर्व मन्त्र की भांति ही यहां श्वित्र्यम्=मेघ अर्थ किया है। सायण ने यहां विशेषण-विशेष्य भाव पर भी ध्यान नहीं दिया है। 'श्वित्र्यम्' पद 'वृषभम्' का विशेषण है, जिससे वर्षा करने वाले मेघ अर्थ की पुष्टि हो रही है। इन्द्र=सूर्य अपनी गाम्=किरणों को मेघों में छिन्न-भिन्न करने के लिए आवः=प्रवेश कराता है। यहां 'अव' धातु का सायणकृत रक्षा करना अर्थ संगत नहीं है। 'अव' धातु के प्रवेशादि दूसरे अर्थ भी हैं, जो व्याकरण से जाने जा सकते हैं। आश्चर्य तो यह है कि सायण भी इन्द्र का वृत्रासुर (मेघ) के साथ युद्ध मन्त्रार्थ में दिखाते रहे हैं और यहां इन्द्र ही मेघ की रक्षा करे, यह कैसे संगत हो सकता है ? जबकि मन्त्र में मेघ के लिए शत्रूयताम्=शत्रु के समान आचरण करने वाला स्पष्ट लिखा है। और 'श्वित्र्यम्' पद का जब मेघ अर्थ है, तब उसका चित्त कैसे हो सकता है ? अतः उसकी चित्त की व्याकुलता का दूर होना कैसे सम्भव है ? और युद्ध इन्द्र वृत्रासुर का है, अतः शत्रु भी वृत्रासुर=मेघ ही है। और वह चेतन नहीं है। उसका सुखी या दुःखी होना कैसे सम्भव है ? अतः सायण द्वारा मेघ रूप शत्रुको इन्द्र द्वारा दुःख पहुँचाने की बात कहना मिथ्या है। महर्षि-दयानन्द ने यहां इन्द्र-वृत्र के आलंकारिक वर्णन के, द्वारा सभाध्यक्ष के कर्त्तव्यों का उल्लेख किया है। जिसमें किसी प्रकार की असंगति नहीं है। और जो सायणाचार्य लङ्, लुङादि लकारों की क्रियाओं के भूतकाल में ही अर्थ प्रायः करते रहे हैं, उन्होंने यहां लुङ् लकार के 'अकः' प्रयोग का ही लोट् में अर्थ मानकर 'कुरु' अर्थ किया है। यदि वेद में लुङादि लकारों के भूतकालीन ही अर्थ सायण मानते हैं, तो यहां उन्होंने अपनी शैली का परित्याग क्यों किया ? इससे स्पष्ट है कि वेद में लुङादि लकारों के सामान्य काल के प्रयोग को सायण भी मानते हैं। किन्तु अपनी पौराणिक कथाओं का भूतकालीन अर्थ के विना वेदार्थ में कैसे समावेश करते ? अतः उन्होंने अपने पूर्वाग्रह के कारण ही वेदार्थ में ऐतिहासिक अथवा कल्पित कथाओं को मिलाने का पूर्ण-प्रयास किया है। सायण-व्याख्या के उपर्युक्त दोषों से रहित तथा प्रकरणानुकूल महर्षि का अर्थ पठनीय है ॥ १५ ॥

पूर्वापर-सङ्गतिमाह—पूर्वसूक्तार्थेन सहात्र सूर्यमेघयुद्धार्थवर्णनेनोपमानोपमेयालङ्कारेण मनुष्येभ्यो युद्धविद्योपदेशार्थतस्यैत्सूक्तार्थस्य संगतिरस्तीति बोध्यम् ॥

पूर्वापर-संगति—इस सूक्त में उपमान-उपमेय अलंकार से सूर्य और मेघ के युद्ध रूप अर्थ के वर्णन द्वारा मनुष्यों को युद्ध-विद्या का उपदेश किया है अतः पूर्व सूक्त के अर्थ के साथ इस सूक्त के अर्थ की संगति है, ऐसा जानो ॥

---

१. हे मघवन् धनवन्निन्द्र श्वित्र्यं श्वित्रायाः पुत्रम् आवः रक्षितवानसि। किमर्थम्। क्षेत्रजेषे शत्रुभिः सह युद्धवेलायां क्षेत्रप्राप्त्यर्थम्। कीदृशम्। शमं त्वदीयपरिपालनेन चित्तव्याकुलतां परित्यज्य शान्तं वृषभं गुणैः श्रेष्ठं तुग्र्यासु गां जलेषु गतं मग्नमित्यर्थः। अत्र अस्माभिः सह युद्धे ज्योक् चित् चिरकालमपि तस्थिवांसः अवस्थिताः सन्तः अक्रन् ये वैरिणः शत्रुत्वमकुर्वन्। शत्रूयतां शत्रूनात्मन इच्छतां तेषाम् अधरा वेदना निकृष्टानि दुःखानि त्वम् अकः कुरु ॥ (सायणः)

इति प्रथमाष्टके तृतीयाध्याये तृतीयो वर्गः;
प्रथममण्डले सप्तमानुवाके त्रयस्त्रिंशं सूक्तं च समाप्तम् ॥

यह पहिले अष्टक के तीसरे अध्याय में तीसरा वर्ग;
और पहिले मण्डल के सतावें अनुवाक में तेंतीसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥ ३३ ॥ ●

॥ अथ चतुस्त्रिंशं सूक्तम् ॥

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः । **अश्विनौ** (विद्वांसौ) देवते । विराड् जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

तत्रादिमे मन्त्रेणाश्विदृष्टान्तेन शिल्पगुणा उपदिश्यन्ते ॥

अब चौतीसवें सूक्त का आरम्भ है, इसके पहिले मन्त्र में अश्विनौ के दृष्टान्त से शिल्पी के गुणों का उपदेश किया जाता है ॥

त्रिश्चिन्नो अद्या भवतं नवेदसा विभुर्वां याम उत रातिरश्विना ।
युवोर्हि यन्त्रं हिम्येव वाससोऽभ्यायंसेन्या भवतं मनीषिभिः ॥ १ ॥

त्रिः । चित् । नः । अद्य । भवतम् । नवेदसा । विऽभुः । वाम् । यामः । उत । रातिः । अश्विना । युवोः । हि । यन्त्रम् । हिम्याऽइव । वाससः । अभिऽआयंसेन्या । भवतम् । मनीषिऽभिः ॥ १ ॥

पदार्थः—(त्रिः) त्रिवारम् (चित्) एव (नः) अस्माकम् (अद्य) अस्मिन्नहनि । **निपातस्य च** इति दीर्घः । (भवतम्) (नवेदसा) न विद्यते वेदितव्यं=ज्ञातव्यमवशिष्टं ययोस्तौ विद्वांसौ । **नवेदा इति मेधाविनामसु पठितम्** । निघं० ३ । १५ । (विभुः) सर्वमार्गव्यापनशीलः (वाम्) युवयोः (यामः) याति=गच्छति येन स यामो रथः (उत) अप्यर्थे (रातिः) वेगादीनां दानम् (अश्विना) स्वप्रकाशेन व्यापिनौ सूर्य्याचन्द्रमसाविव सर्वविद्याव्यापिनौ (युवोः) युवयोः । अत्र **दा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति** इति **ओसि च** इत्येकारादेशो न भवति (हि) यतः (यन्त्रम्) यन्त्र्यते यन्त्रयन्ति=संकोचयन्ति विलिखन्ति चालयन्ति वा येन तत् (हिम्याइव) हेमन्तर्तौ भवा महाशीतयुक्ता रात्रय इव । **भवे च छन्दसि** इति यत् । **हिम्येति रात्रिनामसु पठितम्** । निघं० १ । ७ । **हन्तेर्हि च** । उ० १ । १४७ । इति हन् धातोर्मक् ह्यादेशश्च । (वाससः) वसन्ति यस्मिन् तद्वासो दिनं तस्य मध्ये । दिवस उपलक्षणेन रात्रिरपि ग्राह्या (आभ्यायंसेन्या) आभिमुख्यतया समन्तात् यम्येते=गृह्येते यौ तौ । **अभ्याङ्पूर्वाद्यमधातोर्बाहुलकादौणादिकः सेन्यः प्रत्ययः** । अत्र **सुपां सुलुग्** इत्याकारादेशः । (भवतम्) (मनीषिभिः) मेधाविभिर्विद्वद्भिः शिल्पिभिः । **मनीषीति मेधाविनामसु पठितम्** । निघं० ३ । १५ ॥ १ ॥

प्रमाणार्थ—(अद्य) यहां 'निपातस्य' च (अ० ६।३।१३६) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—अद्या । (नवेदसा) 'नवेदाः' यह पद निघण्टु (३ । १५) में मेधावी-नामों में पढ़ा है । (युवोः) यहां 'वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति' (महा० १ । ४ । ९) इस परिभाषा से 'ओसि च' (अ० ७ । ३ । १०४) इस सूत्र से प्राप्त अकार को एकार आदेश नहीं हुआ । (हिम्याइव) यहां 'भवे च छन्दसि' (अ० ४ । ४ । ११०) इस सूत्र से 'यत्' प्रत्यय है । 'हिमा' यह पद निघण्टु (१ । ७) रात्री-नामों में पढ़ा है, हन्तेर्हि च (१ । १४७) इस उणादि सूत्र से 'हन्' धातु से 'मक्' प्रत्यय और 'हि' आदेश है । (आभ्यायंसेन्या) यहां अभि, आङ् उपसर्ग पूर्वक 'यम्' धातु से बहुल करके औणादिक सेन्य-प्रत्यय है, 'सुपां सुलुक्०' (अ० ७ । १ । ३९) इस

सूत्र से 'औ' विभक्ति के स्थान में आकार आदेश है। (**मनीषिभिः**) 'मनीषी' यह पद निघण्टु (३। १५) में मेधावी-नामों में पढ़ा है॥ १॥

अन्वयः—हे परस्परमुपकारिणावभ्यायंसेन्या [नवेदसा] नवेदसौ [अश्विना] अश्विनौ युवां मनीषिभिः सह दिनैः सह सखायौ शिल्पिनौ हिम्या इव नोऽस्माकमद्यास्मिन्वर्त्तमानेऽह्नि [चित्] शिल्पकार्यसाधकौ भवतं हि यतो वयं युवोः सकाशाद् यन्त्रं संसाध्य यानसमूहं चालयेम येन नोऽस्माकं वाससो रातिः प्राप्येत उतापि वां=युवयोः सकाशाद्विभुर्यामो रथश्च प्राप्तः सन्नस्मान्देशान्तरं सुखेन त्रिस्त्रिवारं गमयेदतो युष्मत्संगं कुर्याम॥ १॥

सपदार्थान्वयः— हे **परस्परमुपकारिणावभ्यायंसेन्या** आभिमुख्यतया समन्तात् यम्येते=गृह्येते यौ तौ [**नवेदसा**] **नवेदसौ** न विद्यते वेदितव्यं=ज्ञातव्यमवशिष्टं ययोस्तौ विद्वांसौ [**अश्विना**] **अश्विनौ**! स्वप्रकाशेन व्यापिनौ सूर्य्याचन्द्रमसौ इव सर्वविद्याव्यापिनौ! **युवां मनीषिभिः** मेधाविभिर्विद्वद्भिः शिल्पिभिः **सह दिनैः सह सखायौ शिल्पिनौ हिम्या इव** हेमन्तर्तौ भवा महाशीतयुक्ता रात्रय इव **नः=अस्माकमद्य=अस्मिन्वर्त्तमानेऽह्नि [चिद्]** एव **शिल्पकार्यसाधकौ भवतं; हि=यतः, वयं युवोः** युवयोः **सकाशाद् यन्त्रं** यन्त्र्यते यन्त्र्यन्ति=संकोचयन्ति विलिखन्ति चालयन्ति वा येन तत् **संसाध्य यानसमूहं चालयेम; येन नः=अस्माकं वाससः** वसन्ति यस्मिन् तद्वासो दिनं तस्य मध्ये **रातिः** वेगादीनां दानं **प्राप्येत, उत=अपि, वां=युवयोः सकाशाद् विभुः** सर्वमार्गव्यापनशीलः **यामः=रथः** याति=गच्छति येन स यामो रथः **च प्राप्तः सन् अस्मान् देशान्तरं सुखेन त्रिः=त्रिवारं, गमयेदतो युष्मत्संगं कुर्याम॥ १॥**

भावार्थः=अत्रोपमालङ्कारः। मनुष्यैर्यथा रात्रिदिवसयोः क्रमेण संगतिर्वर्त्तते तथैव यन्त्रकलानां क्रमेण संगतिः कार्या, यथा विद्वांसः पृथिवीविकाराणां यानकलाकीलयन्त्रादिकं रचयित्वा तेषां भ्रामणेन तत्र जलाग्न्यादिसंप्रयोगेण भूसमुद्राकाशगमनार्थानि यानानि साध्नुवन्ति, तथैव मयापि साधनीयानि, नैवैतद्विद्यया विना दारिद्र्यक्षयः श्रीवृद्धिश्च कस्यापि संभवति, तस्मादेतद्विद्यायां सर्वैर्मनुष्यैरत्यन्तः प्रयत्नः कर्तव्यः, यथा मनुष्या हेमन्तर्तौ शरीरे वस्त्राणि संबध्नन्ति तथैव सर्वतः कीलयन्त्रकलादिभिः यानानि संबन्धनीयानीति॥ १॥

भाषार्थ—हे परस्पर उपकार करने वाले, (**अभ्यायंसेन्या**) सब ओर से कार्यसिद्धि के लिये ग्रहण करने योग्य, [**नवेदसा**] जिनके लिये ज्ञातव्य शेष नहीं ऐसे विद्वान् [**अश्विना**] अपने प्रकाश से व्यापक सूर्य और चन्द्रमा के समान सब विद्याओं में व्याप्त शिल्पी जनो! तुम दोनों—(**मनीषिभिः**) मेधावी विद्वान् शिल्पी जनों तथा दिनों के सहाय से परस्पर सखा होकर (**हिम्या इव**) हेमन्त ऋतु की महाशीत से युक्त रात्रियों के समान (**नः**) हमारे (**अद्य**) आज [**चित्**] ही शिल्प-कार्य के साधक बनो, (**हि**) जिससे हम (**युवोः**) तुम दोनों से (**यन्त्रम्**) यन्त्र को सिद्ध करके यान-समूह को चलावें; जिससे (**नः**) हमारे (**वाससः**) दिन में (**रातिः**) वेग आदि गुणों का दान प्राप्त हो; (**उत**) और (**वाम्**) तुम दोनों से (**विभुः**) सब मार्गों को व्याप्त करने वाला (**यामः**) रथ प्राप्त होकर हमें देशान्तर में सुख से (**त्रिः**) तीन बार पहुँचावे, इसलिये हम आपका संग करें॥ १॥

भावार्थ—सब मनुष्य—जैसे रात्री और दिन की क्रम से संगति होती है, वैसे यन्त्र और कलाओं को क्रम से संगति करें। जैसे विद्वान् पृथ्वी के विकारों से यान-कला, कील और यन्त्र आदि को रचकर उनके घुमाने तथा उनमें जल, अग्नि आदि के प्रयोग से, पृथ्वी, समुद्र और आकाश में जाने-आने वाले यानों को सिद्ध करते हैं, वैसे मुझे भी करने चाहिए। इस विद्या के विना दरिद्रता का नाश और धन की वृद्धि किसी की भी नहीं हो सकती। इसलिए इस विद्या में सब मनुष्य अत्यन्त प्रयत्न करें। जैसे मनुष्य हेमन्त ऋतु में वस्त्रों को शरीर पर अच्छे

प्रकार धारण करते हैं, वैसे ही सब प्रकार से कील यन्त्र और कला आदि से यानों को संयुक्त करें ॥

भाष्यसार--**शिल्पी के गुण**—शिल्पी जन—परस्पर उपकार करने वाले कार्य-सिद्धि के लिये ग्रहण करने योग्य, जिनके लिये शिल्पकार्य में कोई ज्ञातक शेष नहीं, ऐसे विद्वान्, अपने प्रकाश से व्यापक सूर्य और चन्द्रमा के समान सब शिल्पविद्याओं में व्याप्त हों। वे मेधावी विद्वान् शिल्पी-जन तथा काल के सहाय से, परस्पर सखा होकर, शिल्प-कार्यों के साधक बनें। जैसे मनुष्य हेमन्त-ऋतु में शरीर पर वस्त्रों को बांधते हैं, वैसे वे कीलयन्त्र कला आदि को यन्त्रों में बांधें। शिल्पी जनों से यन्त्रकला आदि को सिद्ध करके मनुष्य यान-समूह को चलावें जिससे दिन में वेग आदि गुणों का दान प्राप्त हो अर्थात् दिन में कार्य शीघ्रता से सम्पन्न हो सकें। मनुष्य शिल्पी जनों से—सब मार्गों में गति करने वाला रथ प्राप्त करें और दिन में अनेक बार देशान्तर में सुखपूर्वक यात्रा करें। सब मनुष्य ऐसे शिल्पी जनों का संग करें ॥ १ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में 'इव' पद उपमा-वाचक है, अतः उपमा अलंकार है। उपमा यह है कि मनुष्य जैसे हेमन्त-ऋतु में शरीर पर वस्त्रों को बाँधते हैं वैसे शिल्पी-जन कलायन्त्र आदि को यानों में बांधें ॥ १ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—हे "मेधावी अश्विदेवो ! तुम दोनों तीन बार भी इस कर्म में हमारे लिए आते हो। तुम्हारा जाने का साधन रथ व्यापक है और दान भी व्यापक है। तुम दोनों का पारस्परिक नियमित विशेष सम्बन्ध है। जैसे रात्रि का दिन के साथ संबन्ध कभी पृथक् नहीं होता, वैसे ही तुम्हारा सम्बन्ध है। तुम दोनों मेधासम्पन्न ऋत्विजों के अनुग्रह वश आधीन रहते हो"

इस ३४ वें सम्पूर्ण सूक्त के देवता 'अश्विनौ' हैं। आचार्य-सायण ने अश्वि-देवों को न समझकर समस्त-सूक्त की ही प्रकरणविरुद्ध व्याख्या की है। निरुक्त में इन देवों की व्याख्या इस प्रकार की है—

अथातो द्युस्थाना देवताः। तासामश्विनौ प्रथमागामिनौ भवतः। अश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वं रसेनान्यो ज्योतिषान्यः। अश्वैरश्विनावित्यौर्णवाभः। तत्कावश्विनौ? द्यावापृथिव्यावित्येके। अहोरात्रावित्येके। सूर्याचन्द्रमसावित्येके। राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः॥ (निरुक्ते १२। १)

अर्थात् द्युलोकस्थानीय देवताओं की व्याख्या की जाती है। उनमें अश्विदेव पहले आते हैं। क्योंकि ये अश्विदेव एक रस से तथा दूसरे प्रकाश से सब को व्याप्त करते हैं; अतः इनका नाम अश्विदेव है। और और्णवाभ आचार्य के मत में अश्व के समान वेगवान् या व्याप्त करने वालों को अश्विदेव कहते हैं। ये अश्विदेव कौन हैं? कोई कहते हैं कि ये द्यावा (सूर्य) तथा पृथिवी ही अश्विदेव हैं। क्योंकि सूर्य प्रकाश से और पृथिवी अन्नरस से सबको व्याप्त करती है। अथवा ये दोनों वेगवान् हैं। कोई कहते हैं कि दिन व रात ही अश्विदेव हैं, क्योंकि दिन प्रकाश से और रात्रि ओस-रस से सबको व्याप्त करती है

---

१. हे नवेदसा अश्विना मेधाविनौ अश्विनौ ! युवां त्रिश्चित् त्रिवारमपि अद्य अस्मिन् कर्मणि नः अस्मदर्थं भवतम् आगतौ भवतम्। वां युवयोः यामः गमनसाधनभूतो रथः विभुः व्याप्तः। उत अपि च रातिः दानं विभुरिति शेषः। युवोः युवयोरुभयोः यन्त्रं हि परस्परनियमरूपः सम्बन्धविशेषोऽस्ति खलु। तत्र दृष्टान्तः। वासस: सूर्यरश्म्याच्छादनयुक्तस्य वासरस्य हिम्येव हिमयुक्तया रात्र्येव। यथा रात्र्या सह दिवसस्य सम्बन्धः कदाचिदपि नापैति तद्वत्। युवामुभौ मनीषिभिः मेधाविभिर्ऋत्विग्भिः अभ्यायंसेन्या अभितो नियन्तव्यौ अनुग्रहवशात् तदधीनौ भवतम्॥ (सायणः)

तथा ये दोनों वेगवान् हैं। कोई कहते हैं कि सूर्य और चन्द्र ही अश्विदेव हैं, क्योंकि सूर्य प्रकाश से और चन्द्रमा आह्लाद-रस से सबको व्याप्त करता है। और ये दोनों भी वेगवान् हैं। और ऐतिहासिक विद्वानों का मत है कि अश्विदेव मनुष्य-समाज के पुण्यकर्मा राजा हैं अर्थात् अध्यापक, उपदेशक, चिकित्सक, शिल्पी तथा राजादि हैं।

इस शास्त्रीय प्रमाण से स्पष्ट है कि अश्वि-देवों के विभिन्न अर्थ हैं जिनका प्रकरण के अनुसार अर्थ करना चाहिए। आचार्य-सायण द्वारा की गई व्याख्या में उपर्युक्त अर्थों में से किसी की संगति नहीं है। क्योंकि सायण की तो मान्यता यह है कि ये अश्वि आदि देव द्युलोक से भी ऊपर स्वर्ग में रहते हैं और वे ऋत्विजों के आह्वान पर रथारूढ़ होकर यज्ञ-प्रदेश में आते हैं, सोमरस पीते हैं, धन-दान करते हैं, आयु बढ़ाते हैं तथा ऋत्विजों के आधीन रहते हैं। यह उनकी व्याख्या मूल-मन्त्र से भी विरुद्ध होने से कदापि माननीय नहीं हो सकती।

अश्वि-देवों के सम्बन्ध में मन्त्र में कहा है कि ये देव नवेदसा=मेधावी होते हैं, अश्विना=अपनी विद्या के प्रकाश से सब को व्याप्त करने वाले हैं तथा मनीषी पुरुषों से अभ्यायंसेन्या=सब ओर से ग्रहण करने योग्य हैं। और इन विद्वान् शिल्पी-जनों का बनाया यन्त्रम्=विमानादि यान विभुः=पृथिवी अन्तरिक्षादि सभी मार्गों को व्याप्त करने वाला हो। ऐसे वेगादि गुणयुक्त यानों से रातिः=सर्वविध ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। महर्षि-दयानन्द ने इन मन्त्रोक्त विशेषताओं पर विचार करके मन्त्र में अश्विनौ=शिल्पियों के गुणों का वर्णन लिखा है। परन्तु सायण की व्याख्या में इन अर्थों की कोई संगति नहीं है। इन देवों को सायण ने भी नवेदसा=मेधासम्पन्न तथा ऋत्विजों के आधीन तो स्वीकार किया है। किन्तु यह विचार नहीं किया कि इनका व्यापक-यान क्या है? और ये देव कहाँ रहते हैं? यदि सायणानुसार माने हुए देवों पर विचार किया जाए तो अनेक भ्रान्तियां पैदा होती हैं। यदि स्वर्गस्थ हैं, तो पृथिवीस्थ ऋत्विजों की स्तुति को कैसे सुन सकते हैं? यह स्वर्ग-लोक, जिसमें देव रहते हैं, कहाँ पर है? इन देवों का रथ, जिसमें (सायण की ऋ० १। ३४। ९) मन्त्र व्याख्या के अनुसार गधे जुड़ते हैं, वह द्युलोक से पृथिवी पर कैसे आता है? क्या गधे आदि चतुष्पद पशु आकाश में चल सकते हैं? और ये देव यज्ञादि के समय अब क्यों नहीं आते? इत्यादि मिथ्या-भ्रान्तियों का सायण-भाष्य में कोई उत्तर नहीं है। अतः सायण की व्याख्या प्रकरणविरुद्ध, असंगत, प्रमाणविरुद्ध तथा विज्ञानविरुद्ध होने से मिथ्या ही है। महर्षि-दयानन्द की व्याख्या में किसी भी प्रकार की असंगति नहीं है। यही ऋषि तथा अनृषि मनुष्यों की व्याख्या में महान् अन्तर है॥ १॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **अश्विनौ** (विद्वांसौ) **देवते**। निचृज्जगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

पुनस्ताभ्यां तत्र किं किं साधनीयमित्युपदिश्यते॥

फिर वे दोनों विद्वान् वहां क्या क्या सिद्ध करें, यह उपदेश किया जाता है॥

त्रयः पवयो मधुवाहने रथे सोमस्य वेनामनु विश्व इद्विदुः।
त्रयः स्कम्भासः स्कभितास आरभे त्रिर्नक्तं याथस्त्रिर्वश्विना दिवा॥ २॥

त्रयः। पवयः। मधुऽवाहने। रथे। सोमस्य। वेनाम्। अनु। विश्वे। इत्। विदुः। त्रयः। स्कम्भासः। स्कभितासः। आरभे। त्रिः। नक्तम्। याथः। त्रिः। ऊँ इति। अश्विना। दिवा॥ २॥

पदार्थः—(त्रयः) त्रित्वसंख्याविशिष्टाः (**पवयः**) वज्रतुल्यानि चालनार्थानि कलाचक्राणि।

पविरिति वज्रनामसु पठितम्। निघं० २। २०। (**मधुवाहने**) मधुरगुणयुक्तानां द्रव्याणां वेगानां वा वाहनं=प्रापणं यस्मात्तस्मिन् (**रथे**) रमन्ते येन यानेन तस्मिन् (**सोमस्य**) ऐश्वर्यस्य चन्द्रलोकस्य वा। अत्र षु प्रसवैश्वर्ययोरित्यस्य प्रयोगः। (**वेनाम्**) कामनां यात्रां **धापृवस्यज्यतिभ्यो नः**। उ० ३। ६। इत्यजधातोर्नः प्रत्ययः (**अनु**) आनुकूल्ये (**विश्वे**) सर्वे (**इत्**) एव (**विदुः**) जानन्ति (**त्रयः**) त्रित्वसंख्याकाः (**स्कम्भासः**) धारणार्थाः स्तम्भविशेषाः (**स्कभितासः**) स्थापिताः=धारिताः। अत्रोभयत्र **आज्जसेरसुग्** इत्यासुगागमः। (**आरभे**) आरब्धव्ये गमनागमने (**त्रिः**) त्रिवारम् (**नक्तम्**) रात्रौ। **नक्तमिति रात्रिनामसु पठितम्**। निघं० १। ७। (**याथः**) प्राप्नुतम् (**त्रिः**) त्रिवारम् (**ऊँ**) वितर्के (**अश्विना**) अश्विनाविव सकलशिल्पविद्याव्यापिनौ। अत्र **सुपां सुलुग** इत्याकारादेशः। (**दिवा**) दिवसे ॥ २ ॥

प्रमाणार्थ—(**पवयः**) 'पविः' यह पद निघण्टु (२। २०) वज्र-नामों में पढ़ा है (**वेनाम्**) 'धापृवस्यज्यतिभ्यो नः' (३। ६) इस उणादि सूत्र से 'अज्' धातु से 'नः' प्रत्यय है। (**स्कम्भासः, स्कभितासः**) यहां दोनों स्थानों पर 'अज्जसेरसुक्' (अ० ७। १। ५०) इस सूत्र से 'असुक्' आगम है। (**नक्तम्**) यह पद निघण्टु (१। ७) में रात्री नामों में पढ़ा है (**अश्विना**) यहां 'सुपां सुलुक्०' (अ० ७। १। ३९) इस सूत्र से 'औ' विभक्ति के स्थान पर आकार आदेश है ॥ २ ॥

अन्वयः—हे अश्विनाविव समग्रशिल्पविद्याव्यापिनौ पुरुषौ युवां यस्मिन् मधुवाहने रथे त्रयः पवयस्त्रयः स्कम्भासः स्कभितासो भवन्ति तस्मिन् स्थित्वा त्रिर्नक्तं रात्रौ त्रिर्दिवा दिवसे चाभीष्टं स्थानं याथो गच्छथस्तत्रापि युवाभ्यां विना कार्य्यसिद्धिर्न जायते। मनुष्या यस्य मध्ये स्थित्वा सोमस्य चन्द्रस्य वा वेनां कमनीयां कान्तिं सद्यः प्राप्नुवन्ति। यं चारभे विश्वेदेवा इदेव [अनु]=विदुर्जानन्ति तमु रथं संसाध्य यथावदभीष्टं क्षिप्रं प्राप्नुतम् ॥ २ ॥

सपदार्थान्वयः—हे [अश्विना!]=**अश्विनाविव समग्रशिल्पविद्याव्यापिनौ पुरुषौ युवां यस्मिन् मधुवाहने** मधुरगुणयुक्तानां द्रव्याणां वेगानां वा वाहनं=प्रापणं यस्मात्तस्मिन् **रथे** रमन्ते येन यानेन तस्मिन् **त्रयः** त्रित्वसंख्याविशिष्टाः **पवयः** वज्रतुल्यानि चालनार्थानि कलाचक्राणि **त्रयः** त्रित्वसंख्याकाः **स्कम्भासः** धारणार्थाः स्कम्भविशेषाः **स्कभितासः** स्थापिता=धारिताः **भवन्ति, तस्मिन् स्थित्वा त्रिः** त्रिवारं **नक्तं**=रात्रौ **त्रिः** त्रिवारं **दिवा**=दिवसे, **चाभीष्टं स्थानं याथः**=गच्छतः प्राप्नुतं, **तत्रापि युवाभ्यां विना कार्य्यसिद्धिर्न जायते**।

मनुष्या यस्य मध्ये स्थित्वा सोमस्य=चन्द्रस्य **वा** ऐश्वर्यस्य चन्द्रलोकस्य वा **वेनां**=कमनीयां **कांतिं** कामनां, यात्रां **सद्यः प्राप्नुवन्ति। यं च आरभे** आरब्धव्ये गमनागमने **विश्वे** सर्वे **देवा इत्**=एव [अनु], **विदुः** आनुकूल्ये जानन्ति **तम् उ**=सवितर्कं **रथं संसाध्य यथावदभीष्टं क्षिप्रं प्राप्नुतम्** ॥ २ ॥

भाषार्थ—हे [**अश्विना**] अश्विनौ अग्नि और जल के समान सकल शिल्पविद्याओं को व्याप्त करनेवाले पुरुषो! तुम दोनों—जिस (**मधुवाहने**) मधुर गुण से युक्त द्रव्यों या वेगों की प्राप्ति के हेतु (**रथे**) रथ में (**त्रयः**) तीन (**पवयः**) वज्र के तुल्य, चालनार्थ कलाचक्र (**त्रयः**) तीन (**स्कम्भासः**) धारणार्थ खम्भे (**स्कभितासः**) स्थापित होते हैं, उस रथ में बैठकर (**त्रिः**) तीन बार (**नक्तम्**) रात्रि में और (**त्रिः**) तीन बार (**दिवा**) दिन में अभीष्ट स्थान को (**गच्छतः**) प्राप्त करते हो, क्योंकि वहां भी तुम दोनों के विना कार्य-सिद्धि नहीं होती।

मनुष्य जिसमें बैठकर (**सोमस्य**) ऐश्वर्य या चन्द्रलोक की (**वेनाम्**) कामना या यात्रा को शीघ्र प्राप्त करते हैं, और जिसे (**आरभे**) आरम्भ करने योग्य यातायात में (**विश्वे**) सब विद्वान् (**इत्**) ही (**अनु+विदुः**) अनुकूल समझते हैं, उस रथ को (**उ**) विचारपूर्वक सिद्ध करके यथावत् अभीष्ट को

शीघ्र प्राप्त करो॥ २॥

भावार्थः—भूमिसमुद्रान्तरिक्षगमनं चिकीर्षुभिर्मनुष्यैस्त्रिचक्राग्न्यागारस्तम्भयुक्तानि विमनादीनि यानानि रचयित्वा तत्र स्थित्वैकस्मिन् दिनैकस्यां रात्रौ भूगोलसमुद्रान्तरिक्षमार्गेण त्रिवारं गन्तुं शक्येरन्। तत्रेदृशास्त्रयस्स्कम्भा रचनीया यत्र सर्वे कलावयवा काष्ठलोष्ठादिस्तम्भावयवा वा स्थितिं प्राप्नुयुः तत्राग्निजले संप्रयोज्य चालनीयानि। नैतैर्विना कश्चित्सद्यो भूमौ समुद्रेऽन्तरिक्षे वा गन्तुमागन्तुं च शक्नोति तस्मादेतेषां सिद्धये विशिष्टाः प्रयन्ताः कार्या इति॥ २॥

भावार्थ—भूमि समुद्र और अन्तरिक्ष में जाने के इच्छुक जन, तीन चक्र, अग्नि के घर, स्तम्भयुक्त यान को रचकर, उसमें बैठकर एक दिन-रात में, भूगोल, समुद्र और अन्तरिक्ष मार्ग से तीन बार जाने में समर्थ होवें। उसमें इस प्रकार के तीन स्तम्भ बनावें, जिसमें सब कला-अवयव, अथवा काष्ठ, लोष्ठ आदि खम्भों के अवयव स्थित हों, वहां अग्नि और जल का अच्छे प्रकार प्रयोग करके चलावें, इसके विना कोई भी भूमि, समुद्र और अन्तरिक्ष में शीघ्र नहीं आ-जा सकता है, इसलिए इनकी सिद्धि में विशेष प्रयत्न करें॥ २॥

भाष्यसार–**अश्विनौ विद्वान् यान में क्या क्या सिद्ध करें**–सकल शिल्पविद्याओं को व्याप्त करने वाले शिल्पी विद्वान्—मधुर गुण से युक्त द्रव्यों की तथा मधुर वेग की प्राप्ति कराने वाले रथ (यान) में तीन वज्र के तुल्य चालनार्थ कलाचक्र लगावें। और उसमें धारणार्थ तीन खम्भे स्थापित करें। वे इस प्रकार ऐसा यान बनावें कि एक दिन-रात में भूगोल, समुद्र और अन्तरिक्ष के मार्ग से तीन बार यात्रा कर सकें। मनुष्य जिसमें बैठकर ऐश्वर्य की कामना और चन्द्रलोक की यात्रा कर सकें और सब विद्वान् यातायात में जिसे अनुकूल समझें। अश्विनौ-विद्वान् विचारपूर्वक ऐसे रथ को सिद्ध करके यथावत् अभीष्ट को शीघ्र प्राप्त करें॥ २॥

अन्यत्र व्याख्यात—यह यान किस प्रकार का बनाना चाहिए कि (**त्रयः पवयो मधु०**) जिसमें तीन पहिये हों जिनसे वह जल और पृथ्वी के ऊपर चलाया जाय और मधुर वेग वाला हो उसके सब अंग वज्र के समान दृढ़ हों जिनमें कलायंत्र भी दृढ़ हों जिनसे शीघ्र गमन होवे (**त्रयः स्कंभासः**) उनमें तीन-तीन थंभे ऐसे बनाने चाहिए कि जिनके आधार सब कलायंत्र लगेरहें तथा (**स्कभितासः**) वे थंभे भी दूसरे काष्ठ वा लोहे के साथ लगे रहें (**आरा**) जो कि नाभि के समान मध्यकाष्ठ होता है उसी में सब कलायंत्र जुड़े रहते हैं। (**विश्वे**) सब शिल्पि-विद्वान् लोग ऐसे यानों को सिद्ध करना अवश्य जानें (**सोमस्य वेनाम्**) जिनसे सुन्दर सुख की कामना सिद्ध होती है (**रथे**) जिस रथ में सब क्रीड़ा सुखों की प्राप्ति होती है (**आरभे**) उसके प्रारम्भ में अश्वि अर्थात् अग्नि और जल ही मुख्य हैं (**त्रिर्नक्तं याथस्त्रिर्वश्विना दिवा**) जिन यानों से तीन दिन और तीन रात में द्वीपांतर में जा सकते हैं॥

(ऋ० भू० नौविमनादिविषयः)

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"अनेक प्रकार के मधुर खाद्यपदार्थों से

---

१. मधुरवाहने मधुरद्रव्याणां नानाविधखाद्यादीनां वहनेन युक्तेऽश्विनोः सम्बन्धिनि रथे पवयः वज्रसमाना दृढ़ाश्चक्रविशेषाः त्रयः त्रिसंख्याकाः सन्ति। इत् इत्थं चक्रत्रयसद्भावप्रकारं विश्वे सर्वे देवाः सोमस्य चन्द्रस्य वेनां कमनीयां भार्यामभिलक्ष्य यात्रायां विदुः जानन्ति। यदा सोमस्य वेनया सह विवाहस्तदानीं नानाविधखाद्ययुक्तं चक्रत्रयोपेतं प्रौढं रथमारूह्य अश्विनौ गच्छत इति सर्वे देवा जानन्तीत्यर्थः। तस्य रथस्योपरि स्कम्भासः स्तम्भविशेषाः त्रयः त्रिसंख्याकाः स्कभितासः स्थापिताः। किमर्थम्। आरभे आरब्धुम् अवलम्बितुम्। हे अश्विना! युवां तादृशेन रथेन नक्तं रात्रौ त्रिः याथः त्रिवारं गच्छथः। तथा दिवा दिवसेऽपि त्रिः याथः॥ (सायणः)

युक्त अश्विदेवों के रथ में वज्र के समान दृढ़ तीन चक्र हैं। इन तीनों चक्रों की सत्ता को सब देव चन्द्र की वेनानामक स्त्री को लक्ष्य करके कोगई यात्रा में जानते हैं। जब चन्द्र का वेना के साथ विवाह होता है, तब अश्विदेव अनेक प्रकार के खाद्यपदार्थों से युक्त तीन चक्र वाले रथ पर चढ़कर जाते हैं, यह बात सब देवता जानते हैं। उस रथ में तीन खम्बे भी लगाए हुए हैं। किसलिए ? पकड़ने के लिए अर्थात् जब रथ तेजी से चलता है, तब गिरने के भय को दूर करने के लिए हाथ से पकड़ने के लिए ये खम्बे हैं। हे अश्विदेवो ! तुम दोनों वैसे रथ से रात में तीन बार जाते हो और दिन में भी।"

इस मन्त्र में यह स्पष्ट वर्णन किया गया है कि शिल्पी-जन विमानादि यान कैसे बनाएं ? यान में तीन चक्र तथा तीन खम्बे इस प्रकार लगाएँ कि जिससे पृथिवी, समुद्र तथा अन्तरिक्ष में भी चलाया जा सके। ऐसे यानों से सोमस्य=चन्द्रलोक तक की यात्रा तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति सरलता से की जा सकती है। ऐसे यानों के आरभे=चलाने वाले अग्नि और जल ही मुख्य साधन हैं। अग्नि-जल के गुणों तथा उनके प्रयोग की विधि को जानने वाले शिल्पी-विद्वान् ही यानों में इनका प्रयोग कर सकते हैं। महर्षि दयानन्द की व्याख्या से उपर्युक्त यान-विद्या का स्पष्ट ज्ञान मिल रहा है।

परन्तु आचार्य-सायण की भ्रान्ति-जन्य व्याख्या को देखिए कि उन्होंने देवतार्थ की व्याख्या न होने से समस्त असंगत व्याख्या की है। यहाँ भी सायण ने स्वर्गस्थ कल्पित देवों को लक्ष्य करके ही व्याख्या की है। जो कि भ्रान्तिमूलक होने से मिथ्या है, यह (ऋ० १। ३४। १) प्रथम-मन्त्र की समीक्षा में दिखाया जा चुका है। सायण यान-विज्ञान को न जानने से भी मिथ्या व्याख्या कर गए हैं। जब रथ तेज चलता है तो गिरने से बचने के लिए खम्बों का विधान लिखा है। किन्तु यात्री तो रथ के भीतर बैठते हैं और खम्बे रथ के ऊपर हों तो उनको यात्री कैसे पकड़ सकते हैं। और अश्विदेवों के रथारूढ़ होकर चन्द्रमा की वेना के साथ होने वाली शादी में शामिल होने की व्याख्या से तो सायण के अज्ञान की पराकाष्ठा का ही बोध हो रहा है क्या जड़ चन्द्रमा का वेना के साथ विवाह हुआ था ? यह वेना कौन है तथा किसकी कन्या है ? चन्द्रमा को तो सब मनुष्य देखते हैं, चन्द्रमा की स्त्री वेना क्यों नहीं दिखाई देती ? आजकल वह कहाँ रहती है ? और जब चन्द्र-वेना का विवाह हुआ, तो उनकी सन्तान भी होगी, वह कौन है ? चन्द्र के साथ अश्विदेवों का क्या सम्बन्ध है कि जो वे खाद्यादिमधुर पदार्थों को लेकर विवाह में गए ? क्या वे मातुलस्थानीय भातियों के समान थे। इत्यादि भ्रान्तियों की उत्पत्ति सायण-भाष्य से हो रही है। इस कल्पित मिथ्या व्याख्या का कारण है—सायण का पूर्वाग्रह और अमरकोषादि अनार्ष ग्रन्थों का अध्ययन। जिनमें सायण ने यह ही स्मरण किया था कि 'सोम' शब्द चन्द्र का पर्यायवाची है। यदि सायण वैदिक व्याख्या के निरुक्तादि शास्त्रों की यौगिक प्रक्रिया पर लेश-मात्र भी ध्यान देते, तो ऐसे दोषों से बच सकते थे लेकिन निरुक्तादि शास्त्रों को पढ़कर भी उनका वेद-विषय में अज्ञान क्यों दूर नहीं हुआ ? इसका कारण उनका पूर्वाग्रह था। उन्होंने यह पहले से ही निश्चय कर रखा था कि किसी भी प्रकार से पौराणिक आख्यानों को वेद-मन्त्रों में दिखाया जाए, चाहे उनकी संगति हो या नहीं और आचार्यसायण को जड़-चेतन की भी दर्शनविद्या न आती थी, अन्यथा जड़-चन्द्रमा की शादी-परक व्याख्या से पूर्व यह तो अवश्य विचार करते कि विवाह का क्या उद्देश्य होता है और उसका सम्बन्ध जड़पदार्थों से नहीं है। यह चन्द्र-विवाह की बात सायण की बहुत ही उपहास्यास्पद है। महर्षि-दयानन्द ने यौगिक-प्रक्रिया से इन पदों के अर्थों की बहुत सुसंगत व्याख्या की है, जो कि भ्रान्तिरहित होने से द्रष्टव्य है॥ २॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः । **अश्विनौ** (विद्वांसौ) देवते । निचृज्जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनस्ताभ्यां कृतैर्यानैः किं किं साधनीयमित्युपदिश्यते ॥

फिर उन दो विद्वानों के द्वारा बनाये हुए यानों से क्या क्या सिद्ध करें यह उपदेश किया जाता है ॥

समाने अहन्त्रिरवद्यगोहना त्रिरद्य यज्ञं मधुना मिमिक्षतम् ।
त्रिर्वाजवतीरिषो अश्विना युवं दोषा अस्मभ्यमुषसश्च पिन्वतम् ॥ ३ ॥

समाने । अहन् । त्रिः । अवद्यगोहना । त्रिः । अद्य । यज्ञम् । मधुना । मिमिक्षतम् । त्रिः । वाजंऽवतीः । इषः । अश्विना । युवम् । दोषाः । अस्मभ्यम् । उषसः । च । पिन्वतम् ॥ ३ ॥

पदार्थः—(**समाने**) एकस्मिन् (**अहन्**) अहनि=दिने (**त्रिः**) त्रिवारम् (**अवद्यगोहना**) अवद्यानि=गर्ह्याणि निन्दितानि दुःखानि गूहत=आच्छादयतो दूरीकुरुतस्तौ **अवद्यपण्य०** अ० ३ । १ । १०१ । इत्ययं निंद्यार्थे निपातः । ण्यन्ताद् गुहूसंवरणे इत्यस्माद्धातोः **ण्यासश्रन्थो युच्** । अ० ३ । ३ । १०७ इति युच् । **ऊदुपधाया गोहः** । अ० ६ । ४ । ८९ । इत्यूदादेशे प्राप्ते **वा च्छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति** इत्यस्य निषेधः । **सुपां सुलुग्** इत्याकारादेशश्च । (**त्रिः**) त्रिवारम् (**अद्य**) अस्मिन्नहनि (**यज्ञम्**) ग्राह्यशिल्पादिसिद्धिकरम् (**मधुना**) जलेन । **मध्वःयुदकनामसु पठितम्** । निघं० १ । १२ । (**मिमिक्षतम्**) मेढुमिच्छतम् (**त्रिः**) त्रिवारम् (**वाजवतीः**) प्रशस्ता वाजा=वेगादयो गुणा विद्यन्ते यासु नौकादिषु ताः । **अत्र प्रशंसार्थे मतुप्** । (**इषः**) या इष्यन्ते ता इष्टसुखसाधिकाः (**अश्विना**) वह्निजलवद्यानसिद्धिं संपाद्य प्रेरकचालकाध्वर्यू । **अश्विनावध्वर्यू** । श० १ । १ । २ । १७ । (**युवम्**) युवाम् । **प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्** अ० ७ । २ । ८८ । इत्याकारादेशनिषेधः । (**दोषाः**) रात्रिषु । अत्र **सुपां सुलुग्** इति सुब्व्यत्ययः । **दोषेति रात्रिनामसु पठितम्** । निघं० १ । ७ । (**अस्मभ्यम्**) शिल्पक्रियाकारिभ्यः (**उषसः**) प्राप्तिप्रकाशेषु दिवसेषु । अत्रापि **सुब्व्यत्ययः** । **उष इति पदनामसु पठितम्** । निघं० अ० ५ । ५ । (**च**) समुच्चये **पिन्वतम्** प्रीत्या सेवेथाम् ॥ ३ ॥

प्रमाणार्थ— (**अवद्यगोहना**) यहां 'अवद्य' पद 'अवद्यपण्य०' (अ० ३ । १ । १०१) इस सूत्र से निन्दा अर्थ में निपातन है, और णिजन्त संवरणार्थक 'गुहू' धातु से 'ण्यास श्रन्थो युच्' (अ० ३।३।१०७) इस सूत्र से 'युच्' प्रत्यय है, 'उदुपधाया गोहः' (अ० ६ । ४ । ८९) इस सूत्र से उद् आदेश प्राप्त होने पर 'वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति' (महा० १ । ४ । ९) इस परिभाषा से निषेध होगया, और 'सुपां सुलक्० (अ० ७ । १ । ३९) इस सूत्र से 'औ' विभक्ति के स्थान में आकार आदेश है। (**मधुना**) 'मधु' यह पद निघण्टु (१ । १२) में उदक-नामों में पढ़ा है—उदक=जल (**वाजवतीः**) यहां प्रशंसा अर्थ में 'मतुप्' प्रत्यय है । (**अश्विना**) शतपथ ब्राह्मण (१ । १ । २ । १७) के अनुसार अश्विनौ का अर्थ 'अध्वर्यू' है । (**युवम्**) यहां 'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्' (अ० ७।२।८८) इस सूत्र से आकार आदेश का निषेध है । (**दोषाः**) यहां 'सुपां सुलुक् (अ० ७ । १ । ३९) इस सूत्र से 'सुप्' का व्यत्यय है अर्थात् सप्तमी के स्थान में प्रथमा विभक्ति है, 'दोषाः' पद निघण्टु (१।७) में रात्री नामों में पढ़ा है (**उषसः**) यहां भी पूर्ववत् सुप् व्यत्यय है, 'उषः' यह पद निघण्टु (५ । ५) में पद-नामों में पढ़ा है । पद के अर्थ—ज्ञान, गमन, और प्राप्ति हैं, इसलिए यहां प्राप्ति का अर्थ ग्रहण किया है ॥ ३ ॥

अन्वयः—हे अश्विनावद्यगोहनाध्वर्यू युवं युवां समानेऽहनि मधुना यज्ञं त्रिर्मिमिक्षतमद्यास्मभ्यं दोषा उषसः त्रिर्यानानि पिन्वतं वाजवतीरिषश्च त्रिः पिन्वतम् ॥ ३ ॥

सपदार्थान्वयः—हे अश्विना वह्नि- **भाषार्थ**—हे (**अश्विना**) अग्नि और जल

जलवद्यानसिद्धिं संपाद्य प्रेरकचालकावध्वर्यू **अवद्यगोहना** अवद्यानि=गर्ह्याणि=निन्दितानि=दुःखानि गूहत=आच्छादयतो दूरीकुरुतस्तौ **अध्वर्यू** ! **युवं**=**युवां समाने** एकस्मिन् [**अहन्**] अहनि दिने **मधुना** जलेन **यज्ञं** ग्राह्यशिल्पादिसिद्धिकरं **त्रिः** त्रिवारं **मिमिक्षतं** मेढुमिच्छतम्, **अद्य** अस्मिन्नहनि **अस्मभ्यं** शिल्पक्रियाकारिभ्यः **दोषाः** रात्रिषु **उषसः** प्रापित-प्रकाशेषु दिवसेषु **त्रिः** त्रिवारं **यानानि पिन्वतं** प्रीत्या सेवेथाम् **वाजवती** प्रशस्ता वाजा=वेगादयो गुणा विद्यन्ते यासु नौकादिषु ताः **इषः** या इष्यन्ते ता इष्टसुखसाधिकाः **च त्रिः** त्रिवारं **पिन्वतं** प्रीत्या सेवेथाम् ॥ ३ ॥

वाले यानों की सिद्धि करके उनके प्रेरक और चालक (**अवद्यगोहना**) दुःखों को दूर करने वाले विद्वान् मनुष्यो ! (**युवम्**) तुम दोनों—(**समाने**) एक [**अहन्**] दिन में (**मधुना**) जल से (**यज्ञम्**) ग्राह्य शिल्प आदि की सिद्धि करने वाले यज्ञ को (**त्रिः**) तीन बार (**मिमिक्षतम्**) सींचने की इच्छा करो; (**अद्य**) आज (**अस्मभ्यम्**) शिल्पक्रिया करने वाले हम लोगों के लिये (**दोषाः**) रात्रियों में तथा (**उषसः**) दिनों में (**त्रिः**) तीन बार यानों का (**पिन्वतम्**) प्रीतिपूर्वक सेवन करो, और (**वाजवती**) प्रशस्त वेग आदि गुणों से युक्त (**इषः**) अभीष्ट सुख को सिद्ध करने वाली नौका आदि यानों को (**त्रिः**) तीन बार (**पिन्वतम्**) प्रीतिपूर्वक सेवन करो ॥ ३ ॥

भावार्थः—शिल्पविद्याविद्विद्वाँसो यन्त्रैर्यानं चालयितारश्च द्वौ प्रतिदिनं शिल्पविद्यया यानानि निष्पाद्य, त्रिधा शरीरात्ममनः सुखाय धनाद्यनेकोत्तमान् पदार्थानर्जयित्वा, सर्वान् प्राणिनः सुखयेताम्। येनाहोरात्रे सर्वे पुरुषार्थेनेमां विद्यामुन्नीयालस्यं त्यक्त्वोत्साहेन तद्रक्षणे नित्यं प्रयतेरन् इति ॥ ३ ॥

भावार्थ—शिल्पविद्या के ज्ञाता विद्वान्, और यन्त्रों से यानों को चलाने वाले, दोनों प्रतिदिन शिल्पविद्या से यानों को बनाकर तीन प्रकार के शारीरिक, आत्मिक, और मानसिक सुखके लिए धन आदि अनेक उत्तम पदार्थों को इकट्ठा करके सब प्राणियों को सुखी करें, जिससे दिन-रात सब लोग अपने पुरुषार्थ से इस विद्या की उन्नति कर, आलस्य त्यागकर, उत्साह से उसकी रक्षा में निरन्तर प्रयत्न करें ॥ ३ ॥

भाष्यसार—**विद्वानों के द्वारा बनाए हुये यानों से क्या क्या सिद्ध करें**—विद्वान्—अग्नि और जल वाले यानों की सिद्धि करके उनके प्रेरक और चालक हों और वे विद्वान् दुःखों को दूर करने वाले हों। वे शिल्प-साधक यज्ञ को एक दिन में तीन बार जल से सींचने की इच्छा करें। अर्थात् वे शरीर, आत्मा और मन तीन प्रकार के सुख के लिये धन आदि उत्तम पदार्थों का अर्जन करें। वे शिल्प-क्रिया करने वाले जनों के लिए दिन-रात में तीन बार यानों का प्रीतिपूर्वक सेवन करें अर्थात् वे दिन-रात पुरुषार्थ से इस शिल्पविद्या को उन्नत करके, आलस्य को छोड़कर उत्साहपूर्वक उसकी रक्षा में प्रयत्न करें ॥ ३ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अश्विदेवो ! तुम दोनों यज्ञ के दिन यज्ञादि अनुष्ठान में हुए दोषों को तीन बार ढकने वाले हो और यज्ञ की हवि को मधुररसों से सींचो। और रात-दिन निरन्तर बलप्रद अन्नों को हमें प्रदान करो।"

१. हे अश्विना अश्विनौ देवौ! युवं युवामुभौ समान अहन् एकस्मिन्ननुष्ठानदिने त्रिरवद्यगोहना त्रिवारमनुष्ठानगतानां दोषाणां संवरणकारिणौ भवतम्। अद्य अस्मिन् दिने यज्ञं यज्ञगतं हविः मधुना मधुररसेन त्रिः मिमिक्षतं त्रिवारं सिञ्चतम्। किं च दोषाः उषसश्च रात्रीर्दिवसांश्च रात्रिषु दिवसेषु च नैरन्तर्येण वाजवतीः बलकारिणीः इषः अन्नानि अस्मभ्यं पिन्वतं सिञ्चतं प्रयच्छतमित्यर्थः।

(साधण)

इस मन्त्र में भी अश्विनौ=अग्नि तथा जल के प्रयोग से चलने वाले यानों की रचना करने वाले शिल्पी-विद्वानों के कार्यों का वर्णन है। ये विज्ञानवेत्ता विद्वान् अवद्यगोहना=निन्दनीय अभावादि को दूर करने वाले हैं और सब तरह से सम्पन्नता प्राप्त कराते हैं। इस सत्यार्थ को न समझकर सायण ने इन अश्वि-देवों के विषय में लिखा है कि ये यज्ञ के समय आकर यज्ञानुष्ठान में हुए दोषों को ढकते हैं, मधुर रस से हवि को सींचते हैं और बलप्रद अन्नों को देते हैं। सायण की व्याख्या के ये तीनों कर्म कल्पित देवों के साथ कदापि संगत नहीं हो सकते। क्योंकि प्रथम तो ऐसे कल्पितदेवों की कोई सत्ता ही नहीं है। और ये स्वर्गस्थ रहकर यज्ञ के दोषों को नहीं जान सकते, ढकना तो अलग रहा। और जो देव यज्ञ में आकर सोमरस से तृप्त होते हैं वे यदि मधुर-रस वाले तथा बलप्रद अन्नों वाले हैं, तो पृथिवी पर सोमरस के लिए आने की क्या आवश्यकता है? और अश्विदेव अन्नादि कहाँ से लाकर देते हैं। क्या स्वर्ग में भी अन्नादि की खेती होती हैं। तो फिर स्वर्ग तथा मर्त्यलोक में क्या अन्तर रहा?

और ये अश्वि-देव दोषों को ढकते हैं, यह भी बात उनके देवत्व को कलंकित करने वाली है। देवता दोषों को दूर करवाते हैं, ढकते नहीं। सामान्य मनुष्यों की भांति देव रिश्वतादि लेकर दोषों को नहीं ढकते। यथार्थ में यहां विद्वान् व्यक्तियों का ही वर्णन है कि वे व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र में व्याप्त अभावात्मक दोषों को दूर करने के लिए वैज्ञानिक उपायों का आविष्कार करते हैं। यहां मन्त्रोक्त 'इषः' तथा 'पिन्वतम्' पदों के अर्थों को भी सायण ने नहीं समझा है। यहां 'इषः' पद अभीष्ट-सुखों के लिए आया है, केवल अन्न के लिए नहीं। और 'पिवि सेवन सेचने च (भ्वा०) इसके अनुसार 'पिन्वतम्' का अर्थ सेवन करना भी है। ये शिल्पी-विद्वान् विविध यानों की रचना करके इष्ट सुखों का सेवन करते हैं। 'पिन्वतम्' क्रिया के सेवानार्थ को सायण समझते होते तो 'सिञ्चनार्थ को असंगत समझते हुए 'प्रयच्छतम्' अर्थ न करते। और सायण की यह व्याख्या भी असंगत है कि ये अश्विदेव रात-दिन बलप्रद अन्नों को देते हैं। यदि ये देवता ही अन्न-प्रदान कर देवें, तो खेती आदि करने की क्या आवश्यकता है? और ये अश्वि आदि देव आजकल अन्न क्यों नहीं देते? वास्तव में यह रात-दिन परक पदों की व्याख्या को सायण ने नहीं समझा है। यह भी शिल्पियों के यानों से ही सम्बद्ध वर्णन है। उन्हें ऐसे यान बनाने चाहिए कि जो दिन-रात चलाए जा सकें। और वे इतने तीव्रगामी हों, जो चन्द्रलोकादि तक भी दिन में तीन-तीन बार आ-जा सकें॥ ३॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **अश्विनौ** (विद्वांसौ) देवते। भुरिक् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनस्ताभ्यां किं कार्यं कर्त्तव्यमित्युपदिश्यते॥

फिर उन दोनों विद्वानों को क्या कार्य करना चाहिये, यह उपदेश किया जाता है॥

त्रिर्वर्तियातं त्रिरनुव्रते जने त्रिः सुप्राव्ये त्रेधेव शिक्षतम्।
त्रिर्नान्द्यं वहतमश्विना युवं त्रिः पृक्षो अस्मे अक्षरेव पिन्वतम्॥ ४॥

त्रिः। वर्तिः। यातम्। त्रिः। अनुव्रते। जने। त्रिः। सुप्रऽअव्ये। त्रेधाऽइव। शिक्षतम्। त्रिः। नान्द्यम्। वहतम्। अश्विना। युवम्। त्रिः। पृक्षः। अस्मे इति। अक्षराऽइव। पिन्वतम्॥ ४॥

पदार्थः—(त्रिः) त्रिवारम् (**वर्त्तिः**) वर्त्तन्ते=व्यवहरन्ति यस्मिन्मार्गे **हृषिषिरुहिवृति०**। उ० ४। १२४। इत्यधिकरणे इप्रत्ययः। अत्र **सुपां सुलुग्** इति द्वितीययैकवचनस्य स्थाने सोरादेशः। (**यातम्**) प्रापयतम् (**त्रिः**) त्रिवारम् (**अनुव्रते**) अनुकूलं सत्याचरणं व्रतं यस्य तस्मिन् (**जने**) यो जनयति बुद्धिं तस्मिन्। अत्र **पचाद्यच्**. (**त्रिः**) त्रिवारम् (**सुप्राव्ये**) सुष्ठु प्रकृष्टमवितुं=प्रवेशितुं योग्यस्तस्मिन् अत्र **वाच्छन्दसि सर्वे०** इति वृद्धिनिरोधः। (**त्रेधेव**) यथा त्रिभि पाठनज्ञापनहस्तक्रियादिभिः प्रकारैस्तथा।

इवेन सह नित्यसमासो विभक्तेरलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च। अ० २। १। ४। अत्र सायणाचार्य्येण त्रेधैव त्रिभिरेवप्रकारैरित्येवशब्दोऽशुद्धो व्याख्यातः, पदपाठ **इव** शब्दस्य प्रत्यक्षत्वात्। (**शिक्षतम्**) सुशिक्षया विद्यां ग्राहयतम् (**त्रिः**) त्रिवारम् (**नान्द्यम्**) नन्दयितुं=समर्धयितुं योग्यं शिल्पज्ञानम् (**वहतम्**) प्रापयतम् (**अश्विना**) विद्यादाताग्रहीतारावध्वर्यू (**युवम्**) युवाम् (**त्रिः**) त्रिवारम् (**पृक्षः**) पृङ्क्ते येन तत्। अत्र पृची-धातोः **सर्वधातुभ्योऽसुन्**। बाहुलकात्सुडागमश्च। (**अस्मे**) अस्मान् (**अक्षरेव**) यथाऽक्षराणि जलानि तथा। अत्र **शेश्छन्दसि** इति शेर्लोपः। **अक्षरमित्युदमनामसु पठितम्।** निघं० १। १२। (**पिन्वतम्**) प्रापयतम् ॥

प्रमाणार्थ—(**वर्तिः**) यहां 'हृषिषिरुहिवृति०' (४। १२४) इस उणादि सूत्र से अधिकरण कारक में 'इ' प्रत्यय है। यहां 'सुपां सुलुक्०' (अ० ७। १। ३९) इस सूत्र से द्वितीया एकवचन के स्थान में 'सु' आदेश है। (**जने**) यहां 'नन्दिग्रहिपचादि०' (अ० ३। १। १३४) इस सूत्र से 'अच्' प्रत्यय है। (**सुप्राव्ये**) यहां 'वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति' (महा० १। ४। ९) इस परिभाषा से वृद्धि का निषेध है। (**त्रेधेव**) यहां इव के साथ नित्यसमास, विभक्ति का लोप नहीं और पूर्वपद को प्रकृति स्वर होता है। द्र०—(अ० २। १। ४) (**पृक्षः**) यहां 'पृची' धातु से 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' इस उणादि सूत्र से 'असुन्' प्रत्यय और बहुल करके 'सुट्' का आगम है। (**अक्षरेव**) यहां 'शेश्छन्दसि०' (अ० ६। १। ७०) इस सूत्र से 'शि' प्रत्यय का लुक् है, 'अक्षर' यह पद निघण्टु (१। १२) में उदक-नामों में पढ़ा है, उदक=जल ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे अश्विना युवं युवामस्मे अस्माकं वर्त्तिर्मार्गं त्रिर्यातम् तथा सुप्राव्येऽनुव्रते जने त्रिर्यातं त्रिवारं प्रापयतम्, शिष्याय [त्रेधेव] त्रेधा हस्तक्रियारक्षणचालनज्ञानाढ्यां शिक्षन्नध्यापक इवास्मान् त्रिः शिक्षतमस्मान्नान्द्यं त्रिर्वहतं त्रिवारं प्रापयतम्, [अक्षरेव] यथा नदीतडागसमुद्रादयो जलाशया मेघस्य सकाशादक्षराणि जलानि व्याप्नुवन्ति तथाऽस्मान् पृक्षो विद्यासंपर्कं त्रिः पिन्वतम् ॥ ४ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे अश्विना** ! विद्या-दाताग्रहीतारावध्वर्यू ! **युवं=युवां, अस्मे=अस्माकम् वर्त्तिः=मार्गं** वर्त्तन्ते=व्यवहरन्ति यस्मिन्मार्गे **त्रिः** त्रिवारं **यातं** प्रापयतं; **तथा सुप्राव्ये** सुष्ठुप्रकृष्टमवितुं=प्रवेशितुं योग्यस्तस्मिन् **अनुव्रते** अनुकूलं सत्याचरणं व्रतं यस्य तस्मिन् **जने** यो जनयति बुद्धिं तस्मिन् **त्रिर्यातं=त्रिवारं प्रापयतं; शिष्याय [त्रेधेव] त्रेधा = हस्तक्रियारक्षणचालनज्ञानाढ्यां शिक्षन्नध्यापक इव** यथा त्रिभिः पाठनज्ञापनहस्तक्रियादिभिः प्रकारैस्तथा **अस्मान् त्रिः** त्रिवारं **शिक्षतं** सुशिक्षया विद्यां ग्राहयतम्, **अस्मान्नान्द्यं** नन्दयितुं=समर्धयितुं योग्यं शिल्पज्ञानं **त्रिः वहतं त्रिवारं प्रापयतं, अक्षरेव यथा नदीतडागसमुद्रादयो जलाशया मेघस्य सकाशाद् [अक्षरा] अक्षराणि=जलानि** यथाऽक्षराणि जलानि तथा **व्याप्नुवन्ति तथाऽस्मान् पृक्षः** पृङ्क्ते येन तत् **विद्यासम्पर्कं त्रिः** त्रिवारं **पिन्वतं** प्रापयतम् ॥

भाषार्थ—हे (**अश्विना**) विद्या के देने और ग्रहण करनेवाले विद्वानो ! (**युवम्**) तुम दोनों—(**अस्मे**) हमारे (**वर्त्तिः**) व्यवहार मार्ग को (**त्रिः**) तीन बार (**यातम्**) प्राप्त करो, तथा (**सुप्राव्ये**) अच्छे प्रकार प्रवेश करने योग्य (**अनुव्रते**) अनुकूल सत्याचरण रूप व्रत वाले (**जने**) बुद्धि के उत्पादक मनुष्य के निमित्त (**त्रिः**) तीन बार (**यातम्**) प्राप्त होओ, और शिष्य के लिये (**त्रेधेव**) तीन प्रकार अर्थात् हस्तक्रिया, रक्षा और चालन ज्ञान से युक्त शिक्षा करते हुये एक अध्यापक के समान हमें (**त्रिः**) तीन बार (**शिक्षतम्**) शिक्षा दिया करो, हमें (**नान्द्यम्**) समृद्धि के योग्य शिल्प-ज्ञान को (**त्रिः**) तीन बार (**वहतम्**) प्राप्त कराओ; और (**अक्षरेव**) जैसे नदी, तडाग, समुद्र आदि जलाशय मेघ से [**अक्षरा**] अविनाशी जलों को प्राप्त करते हैं, वैसे हमें (**पृक्षः**) विद्या-सम्पर्क को (**त्रिः**) तीन बार (**पिन्वतम्**) प्राप्त करो ॥ ४ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः । शिल्पविद्याविदां योग्यतास्ति—विद्यां चिकीर्षून्ननुकूलान् बुद्धिमतो जनान् हस्तक्रियाविद्यां पाठयित्वा, पुनः पुनः सुशिक्ष्य, कार्यसाधनसमर्थान् संपादयेयुः । ते चैतां संपाद्य यथावच्चातुर्यपुरुषार्थाभ्यां बहून् सुखोपकारान् गृह्णीयुः ॥ ४ ॥

भावार्थ—यहाँ उपमा अलंकार है। शिल्पविद्या के ज्ञाता विद्वानों को योग्य है कि विद्या की इच्छा करने वाले, अनुकूल, बुद्धिमान् मनुष्यों को हस्त-शिल्पविद्या को पढ़ाकर, बार-बार सुशिक्षा देकर, कार्य करने में समर्थ बनावें, और वे भी इनको ग्रहण करके यथावत् चातुर्य और पुरुषार्थ से बहुत सुखरूप उपकार को ग्रहण करें ॥ ४ ॥

भाष्यसार–अश्विनौ विद्वान् क्या कार्य करें—विद्या के देने और ग्रहण करने वाले अश्विनौ विद्वान् हमारे व्यवहार मार्ग को प्राप्त हों; वे प्रवेश करने योग्य अर्थात् विद्या के इच्छुक, अनुकूल आचरण वाले, बुद्धिमान् मनुष्यों के निमित्त तीन बार प्राप्त हों अर्थात् उन्हें हस्त-क्रिया रूप विद्या पढ़ावें। जैसे एक अध्यापक अपने शिष्य को शिक्षा करता है वैसे वे यानसम्बन्धी हस्तक्रिया, रक्षा और चालन ज्ञान से युक्त शिक्षा करें। वे समृद्धि के योग्य इस शिल्प-ज्ञान की बार-बार शिक्षा करें। जैसे नदी, तडाग और समुद्र आदि मेघ से जल प्राप्त करते हैं, उससे सम्पर्क रखते हैं वैसे वे मनुष्यों को विद्यासम्पर्क से युक्त रखें ॥

अलंकार—इस मन्त्र में 'इव' पद उपमा-वाचक है, अतः उपमा अलङ्कार है। उपमा यह है कि जैसे एक अध्यापक अपने शिष्यों को शिक्षा करता है वैसे अश्विनौ विद्वान् जिज्ञासुजनों को शिल्पविद्य की शिक्षा करें ॥ ४ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अश्वि देवो ! तुम हमारे यज्ञादि करने योग्य घरों पर तीन बार प्राप्त हो। और हमारे सहायक मनुष्य पर कृपा करने के लिए तीन बार जाओ। और आप से रक्षा करने योग्य हमें बार-बार यज्ञादि करने के लिए तीन प्रकार से शिक्षा दो। और संतोषकर फल को तीन बार प्राप्त कराओ। जैसे मेघ जल को प्रदान करता है, वैसे हमें अन्न प्रदान करो।"

आचार्य-सायण ने यहां अश्वि-देवों को घर पर तीन बार आने के लिए, यज्ञ में सहायक जन पर तीन बार कृपा करने लिए, शिक्षा देने तथा फल देने के लिए भी तीन बार लिखा है। क्या ये देव तीन से अधिक समय में नहीं आते अथवा तीन बार के बाद इनकी कोई आवश्यकता नहीं रहती ? वास्तव में यह 'त्रिः' पद की व्याख्या भी विद्वानों के साथ ही संगत होती है कि वे अपने शिष्यों को तीन-तीन बार शिक्षा अवश्य देते हैं, जिससे वह शिक्षा हृदयंगम हो सके। जब कोई नई विद्या को सीखता है तो सामान्य जन एक बार के पढ़ाने या सिखाने से पूर्ण रूप से नहीं सीख पाते। इस मन्त्र में भी शिक्षा के इस नियम को ही दोहराया है।

मन्त्रोक्त बातों की सायण के कल्पित-देवों के साथ कोई संगति भी नहीं है। इन कल्पित देवों

---

१. हे अश्विना ! युवां त्रिर्वर्त्तिर्यातम् अस्मदीयवर्त्तनसाधनं गृहं त्रिर्यातं त्रिवारं प्राप्नुतम्। तथा अनुव्रते अस्मदनुकूलव्यापारयुक्ते जने त्रिः यातं त्रिवारं तदनुग्रहाय गच्छतम्। त्रिः सुप्राव्ये त्रिवारं सुष्ठु प्रकर्षेण भवद्भ्यां रक्षणीये प्रवर्त्तमानान् अस्मान् त्रेधेव त्रिभिरेव प्रकारैः शिक्षतम्। पुनः पुनरनुष्ठानमुपदेष्टव्यमित्यर्थः। तथा नान्द्यं नन्दनीयं सन्तोषकरं फलं त्रिः वहतं प्रापयतम्। अस्मे अस्मासु पृक्षः अन्नं त्रिः पिन्वतं त्रिवारं प्रयच्छतम्। तत्र दृष्टान्तः। अक्षरेव। अक्षराण्युदकानि तानि पर्जन्यः यथा प्रयच्छति तद्वत् ॥ (सायणः)

को हमारे घरों, हमारे सहायक जनों का ज्ञान कैसे हो सकता है ? क्या ये परमेश्वर की भांति व्यापक तथा सर्वज्ञ हैं ? यदि व्यापक हैं, तो पूर्वतः ही विद्यमान थे, उन्हें बुलाने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। और यदि वे एकदेशी हैं, तो अल्पज्ञ होने से जीवों के कर्मों को न तो जान सकते और नहीं कर्मफल दे सकते हैं। रथारूढ होकर आने की सायण की व्याख्या भी अश्वि-देवों को एकदेशी ही मानती है। और मेघ की भांति अन्नों की वृष्टि की बात भी सायण की मिथ्या है। 'पृक्षः' पद में 'पृची संपर्के' धातु है। इसका अन्न अर्थ यहां असंगत है। यहां शिल्प-ज्ञान की शिक्षा का विषय होने से **'विद्या का संपर्क'** अर्थ ही उपयुक्त है। सायण ने अन्नार्थ में यहां कोई प्रमाण भी नहीं दिया है। और 'पिन्वतम्' क्रिया भी सेवनार्थ में ही यहाँ संगत है, सेचनार्थ में नहीं। क्योंकि विद्या का सेवन किया जाता है, सिंचन नहीं। सायणाचार्य को भी सेवन धात्वर्थ को न समझने से 'प्रयच्छतम्' अर्थ करना पड़ा, जो धातु का अर्थ नहीं है ॥ ४ ॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **अश्विनौ** (विद्वांसौ) देवते। जगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

पुनस्तौ किं साधकावित्युपदिश्यते॥

फिर वे दोनों विद्वान् किस कार्य के साधक हैं, यह उपदेश किया जाता है॥

त्रिर्नो॑ र॒यिं व॑हतमश्विना यु॒वं त्रिर्दे॒वता॑ता॒ त्रिरु॒तावं॑तं धि॒यः।
त्रिः सौभ॑ग॒त्वं त्रिरु॒त श्रवां॑सि नस्त्रि॒ष्ठं वां॑ सू॒रे दु॒हि॒ता रु॒हद्रथ॑म् ॥ ५ ॥

त्रिः। नः। र॒यिम्। व॒ह॒त॒म्। अ॒श्वि॒ना। यु॒वम्। त्रिः। दे॒व॒ऽता॒ता। त्रिः। उ॒त। अव॑तम्। धि॒यः। त्रिः। सौभ॑ग॒ऽत्वम्। त्रिः। उ॒त। श्रवां॑सि। नः। त्रि॒ऽस्थम्। वा॒म्। सू॒रे। दु॒हि॒ता। आ। रु॒ह॒त्। रथ॑म् ॥ ५ ॥

पदार्थः—(**त्रिः**) त्रिवारं विद्याराज्यश्रीप्राप्तिरक्षणक्रियामयम् (**नः**) अस्मान् (**रयिम्**) परमोत्तमं धनम् (**वहतम्**) प्रापयतम् (**अश्विना**) द्यावापृथिव्यादिसंज्ञकाविव। अत्र **सुपां सुलुग्** इत्याकारादेशः। (**युवम्**) युवाम्, (**त्रिः**) त्रिवारं प्रेरक-साधक-क्रिया-जन्यम्। (**देवताता**) शिल्पक्रियायज्ञसंपत्तिहेतू यद्वा देवान्=विदुषो दिव्यगुणान्वा ततुतस्तौ। अत्र **दुतनिभ्यां दीर्घश्च**। उ० ३। ८८। इति क्तः प्रत्ययः। **देवतातेति यज्ञनामसु पठितम्**। निघं० ३। १७।, (**त्रिः**) त्रिवारं शरीरप्राणमनोभी रक्षणम् (**उत**) अपि (**अवतम्**) प्रविशतम् (**धियः**) धारणावतीर्बुद्धीः, (**त्रिः**) त्रिवारं भृत्यसेनास्वात्मभार्यादिशिक्षाकरणम् (**सौभगत्वम्**) शोभना भगा=ऐश्वर्याणि यस्मात् पुरुषार्थात्तस्येदं सौभगं तस्य भावः सौभगत्वम्, (**त्रिः**) त्रिवारं श्रवणमननिदिध्यासनकरणम् (**उत**) अपि (**श्रवांसि**) श्रूयन्ते यानि तानि वेदादिशास्त्रश्रवणानि धनानि वा। **श्रव इति धननामसु पठितम्**। निघं० २। १०। (**नः**) अस्माकम् (**त्रिस्थम्**) त्रिषु शरीरात्ममनस्सुखेषु तिष्ठतीति त्रिस्थम् (**वाम्**) तयोः (**सूरे**) सूर्यस्य। अत्र **सुपां सुलुग्** इति शे आदेशः। (**दुहिता**) कन्येव। **दुहिता दुर्हिता दूरे हिता दोग्धेर्वा**। निरु० ३। ४। (**आ**) समन्तात् (**रुहत्**) रोहेत्। अत्र **कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि+इति** च्लेरङ्। **बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेपि** इत्यडभावो **लडर्थे लुङ् च**। (**रथम्**) रमन्ते येन तं विमानादियानसमूहम्॥ ५॥

प्रमाणार्थ—(**अश्विना**) यहां 'सुपां सुलुक्०' (अ० ७। १। ३९) इस सूत्र से 'औ' विभक्ति के स्थान में आकार आदेश है। (**देवताता**) यहां 'दुतनिभ्यां दीर्घश्च' (३। ८८) इस उणादि सूत्र से 'क्त' प्रत्यय है। यह पद निघण्टु (३। १७) में यज्ञ-नामों में पढ़ा है। (**श्रवांसि**) श्रव यह पद निघण्टु (२। १०)

में धन-नामों में पढ़ा है। (**सूरे**) यहां 'सुपां सुलुक्०' (अ० ७ । १ । ३९) इस सूत्र से 'ङस्' विभक्ति के स्थान में शे आदेश है। (**दुहिता**) निरुक्त (३ । ४) के अनुसार इस पद का अर्थ इस प्रकार है—दूर देश में जिसका हित है, अथवा जो पिता से कुछ न कुछ पदार्थ दोहती रहती है। (**रुहत्**) यहां 'कृमृदृरुहिभ्य-श्छन्दसि' (अ० ३ । १ । ५९) इस सूत्र से 'च्लि' के स्थान पर 'अङ्' आदेश 'बहुलं' छन्दस्यमाङ् योगेऽपि (अ० ६ । ४ । ७५) इस सूत्र से 'अट्' आगम का अभाव और लट् लकार के अर्थ में लङ् लकार है॥

अन्वयः—हे देवतातावश्विनौ युवं युवां नोऽस्मभ्यं रयिं त्रिर्वहतं नोस्माकं धियो बुद्धीरुतापि बलं त्रिरवतं नोस्मभ्यं त्रिस्थं सौभगत्वं त्रिर्वहतं प्राप्नुतमुतापि श्रवांसि त्रिर्वहतं प्राप्नुतं वां ययोरश्विनोः सूरे [सकाशात्] दुहिता पुत्रीव सुविद्यया नोस्माकं रथं त्रिरारुहत् त्रिवारमारोहेत् तौ वयं शिल्पकार्येषु संप्रयुज्महे ॥ ५ ॥

सपदार्थान्वयः— हे [**देवताता**] **देवतातौ** शिल्पक्रियायज्ञसम्पत्तिहेतू यद्वा देवान्=विदुषो दिव्यगुणान् वा तनुतस्तौ [**अश्विना**] **अश्विनौ** द्यावापृथिव्यादिसंज्ञकाविव **युवं=युवां नः=अस्मभ्यं रयिं** परमोत्तमं धनं **त्रिः** त्रिवारं विद्याराज्यश्रीप्राप्तिरक्षणक्रियामयम् **वहतं** प्रापयतं; **नः=अस्माकं धियः** धारणावतीर्बुद्धीः **उत=अपि बलं त्रिः** त्रिवारं शरीरप्राणमनोभी रक्षणम् **अवतम्** प्रविशतं; **नः=अस्मभ्यं त्रिस्थं** त्रिषु शरीरात्ममनस्सुखेषु तिष्ठतीति त्रिस्थं **सौभगत्वं** शोभना भगा ऐश्वर्याणि यस्मात् पुरुषार्थात् तस्येदं सौभगं तस्य भावः सौभगत्वं **त्रिः** त्रिवारं भृत्य-सन्तानस्वात्मभार्यादि शिक्षाकरणं **वहतं=प्राप्नुतं** प्रापयतम्, **उत=अपि श्रवांसि** श्रूयन्ते यानि तानि वेदादिशास्त्रश्रवणानि धनानि वा **त्रिः** त्रिवारं श्रवणमननिदिध्यासनकरणं **वहतं=प्राप्नुतं** प्रापयतं; **वां=ययोरश्विनोः [सकाशात्] सूरे** सूर्यस्य **दुहिता=पुत्रीव सुविद्यया [साधितं] नः=अस्माकं रथं** रमन्ते येन तं **त्रिः त्रिवारं** प्रेरक-साधक-क्रिया-जन्यं **त्रिवारमारोहेत्, तौ—वयं शिल्पकार्येषु संप्रयुज्महे ॥ ५ ॥**

भावार्थः—मनुष्यैरश्विनोः सकाशाच्छिल्प-कार्याणि निर्वर्त्य बुद्धिं वर्धयित्वा सौभाग्यमुत्तमान्नादीनि च प्रापणीयानि तत्सिद्धयानेषु स्थित्वा देशदेशान्तरान् गत्वा व्यवहारेण धनं प्राप्य सदानन्दयितव्यमिति ॥ ५ ॥

भाषार्थ—हे (**देवताता**) शिल्पक्रियामय यज्ञ की सिद्धि के हेतु अथवा विद्वानों या दिव्यगुणों का विस्तार करनेवाले [**अश्विना**] द्यावापृथिवी के तुल्य सुखदायक विद्वानो! तुम दोनों—(**नः**) हमें (**रयिम्**) उत्तम धन तथा (**त्रिः**) तीन विद्या और राज्यरूप श्री की प्राप्ति उसकी रक्षा और आचरण को (**वहतम्**) प्राप्त कराओ; (**नः**) हमारी (**धियः**) धारणावती बुद्धियों को (**उत**) और बल को (**त्रिः**) तीन शरीर, प्राण और मन के द्वारा रक्षण में (**अवतम्**) प्रविष्ट करो; (**नः**) हमारे लिये (**त्रिस्थम्**) तीन शरीर, आत्मा और मन के सुखों में स्थित (**सौभगत्वम्**) ऐश्वर्य के हेतु पुरुषार्थभाव को (**त्रिः**) तीन भृत्य, सन्तान और अपनी भार्या आदि को शिक्षण (**वहतम्**) प्राप्त कराओ; (**उत**) और (**श्रवांसि**) वेद, शास्त्र आदि के श्रवण या धनों को (**त्रिः**) तीन श्रवण, मनन, निदिध्यासन पूर्वक (**वहतम्**) प्राप्त कराओ; (**वाम्**) जिन अश्विनौ विद्वानों से—(**सूरे**) सूर्य की (**दुहिता**) पुत्री उषा के समान—उत्तम विद्या से सिद्ध किये हुये (**नः**) हमारे (**रथम्**) यान (**त्रिः**) जो प्रेरक, साधक और क्रिया से उत्पन्न है, उस पर तीन बार (**आरुहत्**) आरोहण करें—उन दोनों विद्वानों को हम शिल्प-कार्यों में अच्छे प्रकार युक्त करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य-अश्विनौ विद्वानों के पास से शिल्प कार्यों को सिद्ध कर, बुद्धि को बढ़ाकर, सौभाग्य और उत्तम अन्नादि को प्राप्त करें। उनके बनाये यानों में बैठकर, देश-देशान्तरों में जाकर, व्यापार से धन प्राप्त कर, सदा आनन्द करें ॥ ५ ॥

भाष्यसार—**अश्विनौ विद्वान् किस कार्य के साधक हैं**—अश्विनौ विद्वान् शिल्पक्रियामय यज्ञ के साधक तथा विद्वानों या दिव्य गुणों का विस्तार करनेवाले हों। वे द्यावापृथिवी के समान सुख-दायक हों। वे हमें उत्तम धन तथा विद्या और राज्य रूप श्री की प्राप्ति, उसकी रक्षा और आचरण को प्राप्त करावें। हमारी बुद्धि और बल की शरीर, प्राण और मन की शिक्षा से रक्षा करें। वे हमारे शरीर, आत्मा और मन के सुखों में स्थित, ऐश्वर्य के हेतु पुरुषार्थभाव का हमारे भृत्य, सन्तान और भार्या आदि को शिक्षण प्रदान करें। वे वेद, शास्त्र आदि के ज्ञान को श्रवण, मनन और निदिध्यासन पूर्वक प्राप्त करावे। जैसे सूर्य की पुत्री उषा प्रातःकाल उदय रूप रथ पर आरोहण करती है, वैसे वे उत्तमविद्या से सिद्ध किये हुये हमारे रथ पर आरोहण करें॥ ५॥

समीक्षा--इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अश्विदेवो! तुम दोनों हमें धन तीन बार प्राप्त कराओ, देवों से युक्त कर्म में तीन बार आओ, हमारी बुद्धियों की तीन बार रक्षा करो, सौभाग्य तीन बार प्राप्त कराओ, तथा हमें अन्न तीन बार प्राप्त कराओ। तुम्हारे तीन चक्र वाले रथ पर सूर्य की पुत्री ने आरोहण किया।"

आचार्य-सायण की व्याख्या के अनुसार ये कल्पित अश्विदेव धन, बुद्धि, अन्न तथा सौभाग्य को प्राप्त कराने के लिए तीन बार यज्ञ में प्राप्त होते हैं। और सूर्य की पुत्री अश्विदेवों के रथ पर आरोहण करती है। ये समस्त बातें अप्रामाणिक, प्रकरणविरुद्ध तथा असंगत होने से मिथ्या हैं। सायण की यह मिथ्या भ्रान्ति है कि केवल द्रव्यमय यज्ञ को ही सर्वत्र यज्ञवाची शब्दों से ग्रहण करते हैं। 'यज देवपूजा-संगतिकरणदानेषु' (भ्वा०) इस मूल धात्वर्थ के अनुसार संगतिकरणरूप शिल्पादि भी यज्ञ शब्द से गृहीत होते हैं। और उस शिल्पयज्ञ में ये कल्पित अश्विदेव कदापि नहीं आते। ज्ञान-विज्ञान को व्याप्त करने वाले विद्वान् शिल्पी ही वास्तव में यहां अश्विदेव हैं। वे ही हमारे धियः=ज्ञानों की वृद्धि कराकर नानाविध विज्ञानों से राज्य, धनादि ऐश्वर्य की वृद्धि कराते हैं। और ये देव तीन बार आते हैं, इसको भी सायण ने नही समझा है। ये विद्वान्-शिल्पी श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन रूप विद्याप्राप्ति के तीनों साधनों से ज्ञानप्राप्त कराते हैं। मन्त्र में 'वह प्रापणे' धातु का ही 'वहतम्' रूप है, परन्तु सायण ने अज्ञानवश 'आगच्छतम्' अर्थ किया है। जिसकी अपेक्षा 'ज्ञान प्राप्त कराना' अर्थ की अधिक सगति है। और मन्त्र में पाञ्च बार 'त्रिः' पद का प्रयोग है, जिसकी भ्रान्तिपूर्ण सायण ने 'त्रिवारम्' ही व्याख्या की है। इसके पृथक्-पृथक् संगति के अनुसार अर्थ होते हैं। महर्षि-दयानन्द ने इस पद की संगति के अनुसार व्याख्या की है। जैसे धन के विषय में कहा है कि उसकी प्राप्ति, रक्षा तथा सदुपयोग तीनों को सिखाएँ। धियः=धारणावती बुद्धि शरीर, प्राण तथा मन के द्वारा रक्षा करनेवाली हो। सौभाग्य प्राप्ति का उपाय भृत्य, सन्तान तथा भार्यादि को भी सिखाएँ। और श्रवांसि=सुनने से प्राप्त होने वाले ज्ञान-प्राप्ति के श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन इन तीनों उपायों को बताएँ। और हमारा सौभाग्य त्रिष्ठम्=शरीर, आत्मा तथा मन के सुखों का साधन हो।

और 'जड़ सूर्य की पुत्री अश्विदेवों के रथ पर चढ़े' यह व्याख्या तो सायण की विज्ञान की शून्यता को ही बता रही है। इसी सूक्त के दूसरे मन्त्र में चन्द्रमा के वेना के साथ विवाह में अश्विदेवों का जाना तथा यहां सूर्य की पुत्री का रथारूढ़ होना, क्या ऐसी अवैज्ञानिक बातों का वर्णन ईश्वरीय-ज्ञान वेदों में

१. हे अश्विना! युवं नः अस्मान् रयिं धनं त्रिः वहतं त्रिवारं प्रापयतम्। देवताता देवतातौ देवैर्युक्ते कर्मणि त्रिः त्रिवारमागच्छतमिति शेषः। उत अपि च धियः अस्मद् बुद्धीः त्रिः त्रिवार रक्षतम्। सौभगत्वं सौभाग्यं त्रिः वहतमिति शेषः। उत अपि च श्रवांसि अन्नानि नः अस्मभ्यं त्रिः वहतम्। वां युवयोः संबन्धिनं त्रिष्ठं चक्रत्रयेऽवस्थितं रथं सूरे सूर्यस्य दुहिता पुत्री आरुहत्=आरूढवती॥ (सायणः)

हो सकता है ? स्वतःप्रमाण वेदों को ऐसी ज्ञान-विरुद्ध व्याख्या करके सायण ने वेदों के सम्बन्ध में विभिन्न भ्रान्तियाँ पैदा की हैं। महर्षि-दयानन्द ने इन सब पदों का सत्यार्थ दिखाकर बहुत ही सुसंगत व्याख्या की है। चन्द्र-वेना के विवाह का महर्षि की सत्य व्याख्या ने स्पष्ट खण्डन कर दिया है। और यहां भी आलंकारिक वर्णन को सायण ने नहीं समझा है। जो जिसमे पैदा हो, वह उसके पुत्र या पुत्री के समान होता है। यहाँ भी सूर्य से उत्पन्न होने के कारण उषा ही उसकी पुत्री है। जैसे प्रातःकाल यह उषा सूर्य के रथ चक्र के आगे-आगे चलती है, मानो वह रथारूढ़ होकर चल रही है. इसी प्रकार हम भी शिल्पिजनों से सिद्ध किए विमानादि रथों पर आरोहण करें। महर्षि की इस व्याख्या में किसी प्रकार की भी भ्रान्ति नहीं है।

आचार्य-सायण ने वैदिक नियमों को न समझकर 'आरुहत्' क्रिया का 'आरूढवती' यह भूतकालीन अर्थ किया है। यद्यपि इस क्रिया में 'लुङ्' का प्रयोग है किन्तु वेद में लुङादिलकारों का प्रयोग सामान्य-काल में भी होता है। इस तथ्य को न समझकर सायण की व्याख्या से वेदों में अनित्येतिहास की भ्रान्ति होती है ।। ५ ।। ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **अश्विनौ** (विद्वांसौ) देवते। विराड्जगती छन्दः। निषादः स्वरः ॥

पुनस्ताभ्यां किं कार्यमित्युपदिश्यते ।।

फिर अश्विनौ विद्वान् क्या करें यह उपदेश किया जाता है ।।

त्रिर्नो अश्विना दिव्यानि भेषजा त्रिः पार्थिवानि त्रिरु दत्तमद्भ्यः ।
ओमानं शंयोर्ममकाय सूनवे त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पती ।। ६ ।।

त्रिः । नः । अश्विना । दिव्यानि । भेषजा । त्रिः । पार्थिवानि । त्रिः । ऊँ इति । दत्तम् । अत्ऽभ्यः । ओमानम् । शंऽयोः । ममकाय । सूनवे । त्रिऽधातु । शर्म । वहतम् । शुभः । पती इति ॥ ६ ॥

पदार्थः—(त्रिः) त्रिवारम् (नः) अस्मभ्यम् (**अश्विना**) अश्विनौ विद्याज्योतिर्विस्तारमयौ (**दिव्यानि**) विद्यादिशुभगुणप्रकाशकानि (**भेषजा**) सोमादीन्यौषधानि रसमयानि (**त्रिः**) त्रिवारम् (**पार्थिवानि**) पृथिव्या विकारयुक्तानि (**त्रिः**) त्रिवारम् (ऊँ) वितर्के (**दत्तम्**) (**अद्भ्यः**) सातत्यगन्तृभ्यो वायुविद्युदादिभ्यः (**ओमानम्**) रक्षन्तम् विद्याप्रवेशकं क्रियागमकं व्यवहारम्। अत्रावधातोः। **अन्येभ्योऽपि दृश्यन्त** इति मनिन्। (**शंयोः**) शं=सुखं कल्याणं विद्यते यस्मिँस्तस्य (**ममकाय**) ममायं ममकस्तस्मै। अत्र **संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः**। अ० ६। ४। १४६। इति वृद्ध्यभावः। (**सूनवे**) औरसाय विद्यापुत्राय वा (**त्रिधातु**) त्रयोऽयस्ताम्रपित्तलानि धातवो यस्मिन् भूसमुद्रान्तरिक्षगमनार्थे याने तत् (**शर्म**) गृहस्वरूपं सुखकारकं वा। **शर्मेति गृहनामसु पठितम्**। निघं० ३। ४। (**वहतम्**) प्रापयतम् (**शुभः**) यत् कल्याणकारकं मनुष्याणां कर्म तस्य। अत्र **संपदादित्वात्** क्विप्। (**पती**) पालयितारौ। **षष्ठ्याः पतिपुत्र०**। अ० ८। ३। ५३। इति संहितायां विसर्जनीयस्य सकारादेशः ।। ६ ।।

प्रमाणार्थ—(**ओमानम्**) यहां 'अव' धातु से 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (अ० ३। २। ७५) इस सूत्र से 'मनिन्' प्रत्यय है (**ममकाय**) 'यहाँ संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' (६। ४। १४६) इस परिभाषा से वृद्धि का अभाव है। (**शर्म**) यह पद निघण्टु (३। ४) में गृहनामों में पढ़ा है। (**शुभः**) यहां संपादादि से क्विप् प्रत्यय है। (**पती**) यहां षष्ठ्याः पतिपुत्र० (अ० ८। ३। ५३) इस सूत्र से संहिता में विसर्जनीय को सकार आदेश है ।। ६ ।।

अन्वयः—हे शुभस्पती अश्विनौ युवां नोऽस्मभ्यमद्भ्यो दिव्यानि भेषजौषधानि त्रिर्दत्तं ऊँइति=वितर्के पार्थिवानि भेषजौषधानि त्रिर्दत्तं ममकायसूनवे शंयोः सुखस्य दानमोमानं त्रिर्दत्तं त्रिधातु शर्म ममकाय सूनवे त्रिर्वहतं प्रापयतम् ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः—हे **शुभः** यत्कल्याणकारकं मनुष्याणां कर्म तस्य **पती** पालयितारौ **[अश्विना] अश्विनौ!** अश्विनौ विद्याज्योतिर्विस्तारमयौ ! **युवां नः=अस्मभ्यम् अद्भ्यः** सातत्यगन्तृभ्यो वायुविद्युदादिभ्यः **दिव्यानि** विद्यादिशुभगुणप्रकाशकानि **भेषजा=औषधानि** सोमादीन्यौषधानि रसमयानि **त्रिः** त्रिवारं **दत्तम् ऊँ=इति वितर्के पार्थिवानि** पृथिव्याविकारयुक्तानि **भेषजा=औषधानि** सोमादीन्यौषधानि रसमयानि **त्रिः** त्रिवारं **दत्तं, ममकाय** ममायं ममकस्तस्मै **सूनवे** औरसाय विद्यापुत्राय वा **शंयोः=सुखस्य** यशं=सुखं कल्याणं विद्यते यस्मिँतस्य **दानम् ओमानं** रक्षन्तं विद्याप्रवेशकं क्रियागमकं व्यवहारं **च त्रिः** त्रिवारं **दत्तं, त्रिधातुः** त्रयोऽस्ताम्रपित्तलानि धातवो यस्मिन् भूसमुद्रान्तरिक्षगमनार्थे याने तत् **शर्म** गृहस्वरूपं सुखकारकं वा **ममकाय** ममायंममकस्तस्मै **सूनवे** औरसाय विद्यापुत्राय वा **त्रिः** त्रिवारं **वहतं=प्रापयतम्** ॥ ६ ॥

भाषार्थ—हे (**शुभः**) मनुष्यों के कल्याणकारक कर्म की (**पती**) रक्षा करनेवाले [**अश्विना**] विद्या-ज्योति का विस्तार करनेवाले विद्वानो ! तुम दोनों (**नः**) हमारे लिए (**अद्भ्यः**) सतत गतिशील वायु और विद्युत् आदि से (**दिव्यानि**) विद्या आदि शुभ गुणों के प्रकाशक (**भेषजा**) रसमय सोम आदि औषधों को (**त्रिः**) तीन बार (**दत्तम्**) प्रदान करो ! (**ऊँ**) विचार-पूर्वक (**पार्थिवानि**) पृथिवी से उत्पन्न (**भेषजा**) रसमय सोम आदि औषधों को (**त्रिः**) तीन बार (**दत्तम्**) प्रदान करो । (**ममकाय**) मेरे (**सूनवे**) औरस पुत्र या विद्या-पुत्र के लिए (**शंयोः**) कल्याणमय सुख का दान और (**ओमानम्**) रक्षक, विद्या-प्रवेशक और क्रियाज्ञापक व्यवहार को (**त्रिः**) तीन बार (**दत्तम्**) प्रदान करो (**त्रिधातुः**) लोहा, तांबा और पीतल इन तीन धातुओं से युक्त भूमि, समुद्र और अन्तरिक्ष में गति करने वाले (**शर्म**) गृहस्वरूप या सुखकारक यान का (**ममकाय**) मेरे (**सूनवे**) औरस-पुत्र या विद्या-पुत्र के लिए (**त्रिः**) तीन बार (**वहतम्**) प्राप्त कराओ ॥ ६ ॥

भावार्थः— मनुष्यैर्जलपृथिव्योर्मध्ये यानि रोगनाशकान्यौषधानि सन्ति तानि त्रिविधतापनिवारणाय भोक्तव्यान्यनेकधातुकाष्ठमयं गृहाकारं यानं रचयित्वा तत्रोत्तमानि यवादीन्यौषधानि संस्थाप्याग्निगृहेग्नि पार्थिवैरिन्धनैः प्रज्वाल्यापः स्थापयित्वा वाष्पबलेन यानानि चालयित्वा व्यवहारार्थं देशदेशान्तरं गत्वा तत आगत्य सद्यः स्वदेशः प्राप्तव्य कृते महान्ति सुखानि प्राप्तानि भवन्तीति ॥ ६ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य पृथ्वी और जल में जो रोगनाशक औषध हैं, उनका त्रिविध दुःख निवारण के लिए भक्षण करें, अनेक धातुकों से युक्त काष्ठमय गृह के आकार का यान बनाकर, उसमें जौ आदि उत्तम औषध रखकर, अग्नि-गृह में अग्नि को पार्थिव इन्धनों से जलाकर, जल स्थापित कर, वाष्प-बल से यानों को चलाकर, व्यवहार के लिए देश-देशान्तरों में जाकर, वहां से आकर शीघ्र ही अपने देश को प्राप्त करें, इस प्रकार करने से महान् सुख प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

भाष्यसार—अश्विनौ विद्वान् क्या करें—मनुष्यों के कल्याणकारक कर्म के रक्षक, विद्या-ज्योति के विस्तारक अश्विनौ विद्वान्—वायु और विद्युत् से विद्या आदि शुभ गुणों के प्रकाशक सोम आदि औषध प्रदान करें। वे पृथिवी से उत्पन्न सोम आदि औषधों को विचार पूर्वक प्रदान करें। वे हमारे औरस-पुत्र या विद्या-पुत्र के लिए सुख का दान करें। वे हमारे रक्षक, विद्या-प्रवेशक और क्रिया-

ज्ञापक व्यवहार का उपदेश करें । वे लोहा, तांबा, और पीतल इन धातुओं से युक्त; भूमि, समुद्र और अन्तरिक्ष में गति करने वाले यान को हमारे सन्तान के लिए प्राप्त करावें ।। ६ ।।

अन्यत्र व्याख्यात—फिर वह सवारी कैसी बनानी चाहिए कि (**त्रिर्नो अश्विनाय०**) (**पृथिवीमशायतम्**) जिन सवारियों से हमारा भूमि और आकाश में प्रतिदिन आनंद से जाना-आना बनता है (**परित्रिधातुः**) वे लोहा, ताम्बा, चाँदी आदि तीन धातुओं से बनती हैं। और जैसे (**रथ्या परावतः०**) नगर वा ग्राम की गलियों में झटपट जाना आना बनता है वैसे दूर देश में भी उन सवारियों से शीघ्र शीघ्र जाना-आना होता है। (**नासत्या**) इसी प्रकार विद्या के निमित्त पूर्वोक्त जो अश्वि उन से बड़े- बड़े कठिन मार्ग में भी सहज से जाना-आना करें। जैसे (**आत्मेव वातः स्व०**) मन के वेग के समान शीघ्र गमन के लिए सवारियों से प्रतिदिन सुख से सब भूगोल के बीच जावें आवें।

(ऋ० भू० नौविमानादिविषयः)

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण भाष्य[1] इस प्रकार है-"हे अश्विदेवो ! तुम हमें द्युलोकस्थ औषधियों, पृथिवीस्थ औषधियों तथा अन्तरिक्षस्थ औषधियों को तीन वार प्रदान करो। और बृहस्पति के शंयो नामक पुत्र से सम्बद्ध सुखविशेष को मेरे पुत्र को प्रदान करो। हे उत्तम औषधियों के पालक देवो ! तुम दोनों वात, पित्त तथा कफ के शमन विषयक सुखों को प्राप्त कराओ।"

विज्ञान के क्षेत्र में आयुर्वेद भी एक विज्ञान है। इस विज्ञान के विद्वान् व्यक्तियों को यहां शुभस्पती=कल्याणकारक व रोगनिवारक औषधियों के ज्ञान का पालक कहा है। ये विद्वान् पृथिवी तथा जल के मध्य उत्पन्न औषधियों के गुण-ज्ञान के द्वारा मनुष्यों के विविध रोगों का निवारण करते हैं। और शिल्पी-जन त्रिधातु=लोहा, तांबा. चाँदी आदि धातुओं से बने पृथिवी, समुद्र तथा आकाश में चलने वाले यानों से मनुष्यों को सुख पहुँचाते हैं।

इस सत्यार्थ को न समझकर सायणाचार्य की भ्रान्ति देखिए—द्युलोक तथा अन्तरिक्ष में स्थित ओषधियाँ कौन सी हैं ? क्या बिना किसी आधार के ओषधियां उत्पन्न हो सकती हैं ? मन्त्र में पार्थिव ओषधियों का ही वर्णन है। परन्तु सायण को पता नहीं स्वप्न आ रहा था, जो उन्होंने 'दिव्यानि= द्युलोकवर्ती ओषधियां 'अर्थ कर दिया है। 'अप्' शब्द का सायण ने सप्रमाण अन्तरिक्ष अर्थ किया है किन्तु उसकी यहाँ संगति तो नहीं और अद्भ्यः तथा 'भेषजा' पदों में समान विभक्ति न होने से भी सायण की व्याख्या ठीक नहीं है। विशेषण-विशेष्य भाव समान-विभक्ति वालों में ही होता है। क्या किसी ने अन्तरिक्षस्थ ओषधियाँ देखी हैं ? सायण ने जैसे अश्वि आदि देवताओं की कल्पना की है, वैसे ही कल्पित-औषधियों का वर्णन भी कर दिया है। वास्तव में ऐसी, ओषधियाँ कोई नहीं हैं, जो द्युलोक तथा अन्तरिक्ष में पैदा होती हों।

और 'शंयोः' पद का अर्थ 'बृहस्पति का पुत्र' करके तो सायण ने और भी आश्चर्य पैदा कर दिया है। मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि विद्वान् वैद्य तथा शिल्पी-जन ओषधि-विज्ञान तथा यान-विज्ञान

---

१. हे अश्विना ! नः अस्मभ्यं दिव्यानि द्युलोकवर्तीनि भेषजा औषधानि त्रिःदत्तम्। तथा पार्थिवानि पृथिव्यामुत्पन्नान्यौषधानि त्रिःदत्तम्। अद्भ्यः उ अन्तरिक्षसकाशादप्यौषधानि त्रिः दत्तम्। शंयोः एतन्नामकस्य बृहस्पतिपुत्रस्य सम्बन्धिनम् ओमानम् सुखविशेषं ममकाय सूनवे मदीयाय पुत्राय दत्तम्। हे शुभस्पती शोभनस्यौषधजातस्य पालकौ युवां त्रिधातु वातपित्तश्लेश्मधातुत्रयशमनविषयं सुखं वहतं प्रापयतम् ।। (सायणः)

के द्वारा हमारी सन्तान को शंयोः[1]=कल्याण करने वाले सुख का दान तथा ओमानम्=रक्षक, विद्या प्रवेशक, क्रियाज्ञापक व्यवहार को प्रदान करें। परन्तु सायण बृहस्पति के पुत्र से सम्बद्ध सुख की माँग करा रहे हैं। क्या किसी का सुख किसी को मिल सकता है? बृहस्पति तथा उसका पुत्र कौन है? और वे कहां रहते हैं? उनसे सम्बद्ध सुख कौन सा है, जिसे हम चाहते हैं? इत्यादि प्रश्नों का सायण के भाष्य से कोई उत्तर नहीं मिल रहा है। अतः समस्त सायण-कृत मन्त्रार्थ कल्पित होने से मिथ्या है॥ ६॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **अश्विनौ** (विद्वांसौ) देवते। निचृद्जगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

पुनस्तौ कीदृशौ स्त इत्युपदिश्यते॥

फिर वे अश्विनौ विद्वान् कैसे हैं, यह उपदेश किया जाता है॥

त्रिर्नो अश्विना यजता दिवेदिवे परि त्रिधातु पृथिवीमशायतम्।
तिस्रो नासत्या रथ्या परावत आत्मेव वातः स्वसराणि गच्छतम्॥ ७॥

त्रिः। नः। अश्विना। यजता। दिवेऽदिवे। परि। त्रिऽधातु। पृथिवीम्। अशायतम्। तिस्रः। नासत्या। रथ्या। परावतः। आत्माऽइव। वातः। स्वसराणि। गच्छतम्॥ ७॥

पदार्थः—(त्रिः) त्रिवारम् (नः) अस्माकम् (अश्विना) जलाग्नी इव शिल्पनौ (यजता) यष्टारौ=संगन्तारौ। अत्र सर्वत्र **सुपां सुलुग्** इत्याकारादेशः (दिवेदिवे) प्रतिदिनम् (परि) सर्वतो भावे (त्रिधातु) सुवर्णरजतादिधातुसंपादितम् (पृथिवीम्) भूमिमन्तरिक्षं वा। **पृथिवीत्यन्तरिक्षनामसु पठितम्।** निघं० १। ३ (अशायतम्) शयाताम्। अत्र **लोडर्थे लङ्**। अशयातामिति प्राप्ते ह्रस्वदीर्घयोर्व्यत्ययासः। (तिस्रः) ऊर्ध्वाधः समगतीः (नासत्या) न विद्यतेऽसत्यं ययोस्तौ (रथ्या) यौ रथविमानादिकं यानं वहतस्तौ (परावतः) दूरस्थानानि। **परावतः प्रेरितवतः परागताः।** निरु० ११। ४८। **परावत इति दूरनामसु पठितम्।** निघं० ३। २६। (आत्मेव) आत्मनः शीघ्रगमनवत् (वातः) कलाभिर्भ्रामितो वायुः (स्वसराणि) स्वस्वकार्य्यप्रापकाणि दिनानि। **स्वसराणीति पदनामसु पठितम्।** निघं० ४। २। अनेन प्राप्त्यर्थो गृह्यते (गच्छतम्)॥

प्रमाणार्थ—(यजता) यहां 'सुपां सुलुक्०' (अ० ७। १। ३९) इस सूत्र से 'औ' विभक्ति के स्थान में आकार आदेश है। (पृथिवीम्) 'पृथिवी' यह पद निघण्टु (१। ३) में अन्तरिक्ष-नामों में पढ़ा है।

---

१. 'शंयोः' पद का अर्थ है—शम्=सुखं कल्याणं विद्यते यस्मिँस्तस्य। अर्थात् जिसमें सुख और कल्याण हो। यहां 'कंशंभ्यां बभयुस्तितुतयसः' (अ० ५। २। १३८) इस पाणिनीय सूत्र से शम्' प्रातिपादिक से मत्वर्थ में 'युस्' प्रत्यय होता है। परन्तु सायणाचार्य ने इस नियम को न समझकर इसे समस्त पद मानकर व्याख्या की है, यह उनकी भ्रान्ति है। सायण के अनुसार—शमु उपशमे' धातु से क्विप् करने पर 'शम्' शब्द तथा 'यु अमिश्रणे' क्रिया से 'विच्' करने पर 'यु' शब्द बना है और इन दोनों के समास करने पर 'शंयुः' शब्द बना है। सायण के इस प्रकृति-प्रत्यय के विभाग से इस शब्द का अर्थ यह होगा—जो शम्=सुख या शान्ति को अमिश्रण=पृथक् करे, वह शंयु' हुआ। क्या हम अपनी सन्तान के लिए ऐसी प्रार्थना कर सकते हैं? हमें यह भी याद रखना चाहिए कि यद्यपि धातु-पाठ में 'यु' धातु का 'मिश्रण' अर्थ भी है, परन्तु सायण ने उस अर्थ को न दिखाकर यहां 'अमिश्रण' अर्थ ही दिखाया है।

(**अशायतम्**) यहां लोट् लकार के अर्थ में 'लङ्' लकार है। (**परावतः**) इस पद का अर्थ निरुक्त (११ । ४८) में 'दूर गया हुआ' किया है, यह पद निघण्टु (३ । २६) में दूर-नामों में पढ़ा है। (**स्वसराणि**) यह पद निघण्टु (४ । २) में पद-नामों में पढ़ा है। पद के अर्थ—ज्ञान, गमन और प्राप्ति हैं, अतः ४ प्राप्ति अर्थ ग्रहण किया है ॥ ७ ॥

अन्वयः—हे नासत्यौ यजतौ रथ्यावश्विनाविव शिल्पिनौ युवां पृथिवीं प्राप्य त्रिः पर्य्यशयातमात्मेव वातः प्राणश्च स्वसराणि दिवे दिवे गच्छति तद्वद्गच्छतं नोऽस्माकं त्रिधातु यानं परावतो मार्गाँस्तिस्रो गतीर्गमयतम् ॥ ७ ॥

सपदार्थान्वयः— हे (**नासत्या**) **नासत्यौ** न विद्यतेऽसत्यं ययोस्तौ (**यजता**) **यजतौ** यष्टारौ=संगन्तारौ [**रथ्या**] **रथ्यौ** यौ रथविमानादिकं यानं वहतस्तौ [**अश्विना**] **अश्विनाविव शिल्पिनौ** जलाग्नी इव शिल्पिनौ **युवां पृथिवीं** भूमिमन्तरिक्षं वा **प्राप्य त्रिः** त्रिवारं **परि+अशायतं** सर्वतः अशयाताम्। **आत्मेव** आत्मनः शीघ्रगमनवत् **वातः**=प्राणः कलाभिर्भ्रामितो वायुः च **स्वसराणि** स्वस्वकार्य-प्रापकाणि दिनानि **दिवे दिवे** प्रतिदिनं **गच्छति, तद्वद् गच्छतम्**। **नः**=अस्माकं **त्रिधातु** सुवर्णरजतादिधातुसम्पादितं **यानं परावतः**=**मार्गान्** दूरस्थानानि **तिस्रः गतीः** उच्चावचःसमगतीः **गमयतम्** ॥ ७ ॥

भाषार्थ—हे [**नासत्या**] असत्य व्यवहार से रहित, [**यजता**] साथ चलने वाले [**रथ्या**] रथ, विमान आदि के चालक [**अश्विना**] जल और अग्नि के तुल्य शिल्पी जनो! तुम दोनों-(**पृथिवीम्**) भूमि या अन्तरिक्ष को प्राप्त करके (**त्रिः**) तीन बार (**परि+अशायतम्**) सब ओर शयन करो। (**आत्मेव**) आत्मा के शीघ्रगमन के समान और जैसे (**वातः**) प्राण, या कलाभ्रमण से उत्पन्न वायु (**स्वसराणि**) अपने-अपने कार्यों के प्रापक दिनों को (**दिवे दिवे**) प्रतिदिन प्राप्त होता है, वैसे (**गच्छतम्**) देशान्तर को प्राप्त करो; (**नः**) हमारे (**त्रिधातु**) सोना, चांदी आदि धातुओं से बनाये हुये यान को (**परावतः**) मार्गों एवं दूर स्थानों में (**तिस्रः**) ऊंची, नीची और सम तीन गतियों को प्राप्त कराओ ॥ ७ ॥

भावार्थः— अत्रोपमालङ्कारः ऐहिकसुखमभीप्सवो जना यथा जीवोऽन्तरिक्षादिमार्गैः सद्यः शरीरान्तरं गच्छति यथा च वायुः सद्यो गच्छति तथैव पृथिव्यादिविकारैः कलायन्त्रयुक्तानि यानानि रचयित्वा तत्र जलाग्न्यादीन् संप्रयोज्याभीष्टान् दूरदेशान् सद्यः प्राप्नुयुः। नैतेन कर्मणा विना सांसारिकं सुखं भवितुमर्हति ॥ ७ ॥

भावार्थ—यह उपमा-अलंकार है। इस लोक का सुख चाहने वाले मनुष्य-जैसे जीव अन्तरिक्ष आदि मार्गों से शीघ्र ही शरीरान्तर में चला जाता है, और जैसे वायु शीघ्र चलता है, वैसे ही पृथ्वी आदि विकारों से कला-यन्त्रों से युक्त यान बनाकर, उसमें जल, अग्नि आदि का प्रयोग करके, दूर देशों को शीघ्र प्राप्त करे; इस कार्य के बिना सांसारिक सुख नहीं हो सकता ॥ ७ ॥

भाष्यसार—**अश्विनौ विद्वान् कैसे हों**—अश्विनौ (शिल्पी) विद्वान् असत्य व्यवहार से रहित, साथ चलने वाले, रथ और विमान आदि के चालक हों। वे यानों में जल और अग्नि आदि के संप्रयोजक हों। वे यानों में भूमि और अन्तरिक्ष में सर्वत्र गमन करें। जैसे जीवात्मा अन्तरिक्ष आदि मार्गों से शीघ्र शरीरान्तर में चला जाता है, और जैसे प्राण या कलाभ्रमण से उत्पन्न वायु दिनों को प्रतिदिन प्राप्त होता है अर्थात् शीघ्र गति करता है, वैसे ये विद्वान् यानों से देशान्तर को शीघ्र प्राप्त करें। ये सोना, चांदी आदि धातुओं से बने हुये यानों का ऊँची, नीची और समगति से संचालन करें ॥ ७ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में 'इव' पद उपमा-वाचक है, अतः उपमा-अलंकार है। उपमा यह है कि जैसे जीवात्मा अन्तरिक्ष आदि मार्गों से शीघ्र शरीरान्तर को प्राप्त होता है वैसे विद्वान् यानों से देशान्तर को शीघ्र प्राप्त करें ॥ ७ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अश्विदेवो ! तुम दोनों प्रतिदिन यज्ञ करने योग्य हो। तुम दोनों हमारी पृथिवीस्थ वेदी पर आकर तीन रस्सियों से बन्धे कुशासन पर तीन बार शयन करो। हे रथ के स्वामी अश्विदेवो ! तुम ऐष्टिक, पाशुक तथा सौमिक नामक वेदियों को वैसे प्राप्त करो, जैसे प्राणियों को प्राणभूत प्राणवायु उनके शरीरों को प्राप्त करता है॥"

इस मन्त्र में अश्वि-देवों की कुछ विशेषताएँ बताते हुए लिखा है कि ये देव यजता=संगतिकरण रूप शिल्पयज्ञ के करने वाले हैं। नासत्या=ये देव असत्य व्यवहार से सर्वथा रहित हैं। पृथिवीमशायतम् पृथिवी पर शयन करने वाले हैं और रथ्या परावतः=दूर-दूर विमानादि रथों को प्राप्त कराते हैं। ये समस्त विशेषताएं वैज्ञानिक शिल्पियों के लिए तो संगत होती हैं; किन्तु सायण के कल्पित द्युलोकस्थ अश्विदेव यदि स्वयं यज्ञ करते हैं, तो उन्हें हमारे यज्ञों में आकर शयन करने की क्या आवश्यकता है ? और जो प्रतिदिन यज्ञ-प्रदेश में आकर शयन करते हों, क्या आजकल उनकी मृत्यु हो गई. अथवा वे मर्त्यलोक से बिलकुल ही रुष्ट हो गए। जो आजकल रथारुढ़ होकर आते हुए नहीं दिखाई देते ? क्या उनका सत्यव्यवहार न करने के कारण 'नासत्यौ' विशेषण निरर्थक ही हो गया है ?

आचार्य-सायण ने मन्त्र के 'नासत्या' तथा 'परावतः' दो पदों की तो व्याख्या छोड़ दी है। क्या ये पद निरर्थक ही हैं। निघं० (३।२६) में 'परावतः' पद दूर-नामों में पठित है। इसकी संगति दूर दूर जाने वाले विमानादि रथों के साथ ही थी। उसकी संगति न देखकर सम्भव है कि सायण ने उसको छोड़ ही दिया है। और मन्त्रोक्त 'त्रिधातु' पद का लोह, ताम्बा, सुवर्णादि धातुओं से बनने वाला रथ ही अर्थ उपयुक्त है। किन्तु सायण इस का अर्थ 'तीन रस्सियों से युक्त कुशासन कर रहे हैं। यह कितनी क्लिष्ट-कल्पना सायण ने की है। क्या कुशासन तीन[2] धातुओं से निर्मित होते हैं ? और यज्ञ-वेदि शयन का तो स्थान नहीं होता। यदि देवता ही यज्ञ-प्रदेश में आकर सो जाते हैं, तो यजमानादि की क्या दशा होती होगी ? और ये देवता 'तिस्रः' तीन प्रकार की ऐष्टिकादि वेदियों पर ही जाते हैं, यह व्याख्या भी असंगत है। शिल्पी विद्वानों को ऐसे यानों की रचना करनी चाहिए जो तीव्र, मध्य तथा मन्द इन तिस्रः=तीनों गतियों से चलते हों।

मन्त्र में मन्त्रार्थ को समझाने के लिए एक उपमा भी दी है—'आत्मेव वातः स्वसराणि गच्छतम्' अर्थात् जीवात्मा अपने-अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियों में चला जाता है और जैसे वायु शीघ्र चलता है इसी प्रकार विमानयानादि भी शीघ्र चलने वाले तथा सभी स्थानों पर (पृथिवी, समुद्र

---

१. हे अश्विना ! दिवे दिवे प्रतिदिनं यजता यष्टव्यौ युवां नः अस्मदीयां पृथिवीं वेदिरूपां भूमिं परि सर्वतः प्राप्य त्रिधातु कक्ष्यात्रययुक्ते आस्तीर्णे बर्हिषि त्रिः त्रिवारम् अशायतं शयनं कुरुतम्। हे रथ्या=रथस्वामिनौ तिस्रः त्रिसंख्याकाः ऐष्टिकपाशुकसौमिकरूपा वेदीः गच्छतम्। तत्र दृष्टान्तः। स्वसराणि शरीराणि आत्मेव वातः। यथा प्राणिनामात्मभूतः प्राणवायुस्तदीयानि शरीराणि गच्छति तद्वत्॥ (सायणः)

२. आचार्य सायण का 'त्रिधातु त्रेधा धीयते निधीयते' यह पद-व्याख्या भी संगत नहीं है। क्या यज्ञ-प्रदेश में तीन प्रकार से ही कुशासन बिछाये जाते हैं ? यज्ञ में होतादि के स्थान की दृष्टि से भी चार आसन होने चाहिए।

तथा आकाश में) गति करने वाले हों। आचार्य सायण ने इस समता को भी नहीं समझा और अर्थ किया है कि अश्विदेव तीनों वेदियों पर वैसे ही पहुँच जाते हैं, जैसे आत्मभूत प्राण-वायु शरीरों को प्राप्त करता है। जीवात्मा शरीरों में बिना प्रयोजन या बिना हेतु के नहीं जाता, परन्तु देवता, जिन्हें स्वर्ग में सब सुख प्राप्त हैं (यह मान्यता भी पौराणिक ही है) वे वेदि पर किस लिए आएं ? अतः इस मन्त्र का वास्तविक अर्थ रथादि यानों के साथ ही संगत होता है। 'शरीरं रथमेव 'तु' उपनिषद् के इस प्रमाण शरीर को भी रथ कहा गया है। शरीर तथा रथ दोनों ही लक्ष्य को प्राप्त कराने के साधन हैं ॥ ७ ॥

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः । **अश्विनौ** (विद्वांसौ) देवते । निचृद् जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनस्तौ कीदृशौ ताभ्यां किं किं साध्यमित्युपदिश्यते ॥

फिर वे दोनों विद्वान् कैसे हैं, और वे क्या-क्या सिद्ध करें, यह उपदेश किया जाता है ॥

त्रिरश्विना सिन्धुभिः सप्तमातृभिस्त्रय आहावास्त्रेधा हविष्कृतम् ।
तिस्रः पृथिवीरुपरि प्रवा दिवो नाकं रक्षेथे द्युभिरक्तुभिर्हितम् ॥ ८ ॥

त्रिः । अश्विना । सिन्धुऽभिः । सप्तमातृऽभिः । त्रयः । आऽहावाः । त्रेधा । हविः । कृतम् । तिस्रः । पृथिवीः । उपरि । प्रवा । दिवः । नाकम् । रक्षेथे इति । द्युऽभिः । अक्तुऽभिः । हितम् ॥ ८ ॥

पदार्थः—(**त्रिः**) त्रिवारम् (**अश्विना**) अश्विनौ सूर्य्याचन्द्रमसाविव । अत्र सर्वत्र **सुपां सुलुग्** इत्याकारादेशः । (**सिन्धुभिः**) नदीभिः (**सप्तमातृभिः**) सप्तार्थात् पृथिव्यग्निसूर्यवायुविद्युदुदकावकाशा मातरो जनका यासां ताभिः (**त्रयः**) उपर्यधोमध्याख्याः (**आहावाः**) निपानसदृशा मार्गा जलाधारा वा । **निपानमाहावः** । अ० ३ । ३ । ७४ । इति निपातनम् । (**त्रेधा**) त्रिभिः प्रकारैः (**हविः**) होतुमर्हं द्रव्यम् (**कृतम्**) शोधितम् (**तिस्रः**) स्थूलत्रसरेणुपरमाण्वाख्याः (**पृथिवीः**) विस्तृताः (**उपरि**) ऊर्ध्वार्थे (**प्रवा**) गमयितारौ (**दिवः**) प्रकाशयुक्तान् किरणान् (**नाकम्**) अविद्यमानदुःखम् (**रक्षेथे**) रक्षतम् । अत्र **लोडर्थे लट्** व्यत्ययेनात्मनेपदं च (**द्युभिः**) दिनैः **द्युरित्यहर्नामसु पठितम्** । निघं० १ । ९ । (**अक्तुभिः**) रात्रिभिः **[अक्तुरिति रात्रिना० । निघं० १ । ७]** (**हितम्**) धृतम् ॥ ८ ॥

प्रमाणार्थ—(**अश्विना**) यहां 'सुपां सुलुक्०' (अ० ७ । १ । ३९) इस सूत्र से 'औ' विभक्ति के स्थान में आकार आदेश है। (**आहावाः**) यहां 'निपानमाहावः' (अ० ३ । ३ । ७४) इस सूत्र से निपातन है। (**रक्षेथे**) यहां 'लोट्' लकार के अर्थ में 'लट्' लकार और व्यत्यय से आत्मनेपद है। (**द्युभिः**) यह पद निघण्टु (१ । ९) में 'अहः' नामों में पढ़ा है—अहः=दिन (**अक्तुभिः**) यह पद निघण्टु (१ । ७) में रात्रि-नामों में पढ़ा है ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे प्रवौ गमयितारावश्विनौ वायुसूर्य्याविव शिल्पिनौ युवां सप्तमातृभिः सिन्धुभिर्द्युभिरक्तुभिश्च यस्य त्रय आहावाः सन्ति तत् त्रेधा हविष्कृतं शोधितं नाकं हितं द्रव्यमुपरि प्रक्षिप्य तत् तिस्रः पृथिवीर्दिवः प्रकाशयुक्तान् किरणान् प्रापय्य तदितस्ततश्चालयित्वाऽधो वर्षयित्वैतेन सर्वं जगत्त्रीं रक्षेथे त्रिवारं रक्षतम् ॥ ८ ॥

सपदार्थान्वयः—हे [**प्रवा**] **प्रवौ**=गमयितारौ [**अश्विना**] **अश्विनौ**=वायुसूर्य्याविव शिल्पिनौ **युवां-सप्तमातृभिः** सप्तार्थात् पृथिव्यग्नि-

भाषार्थ—हे [**प्रवा**] गमन करानेवाले [**अश्विना**] वायु और सूर्य के समान शिल्पी विद्वानो ! तुम दोनों–(**सप्तमातृभिः**) पृथिवी, अग्नि,

सूर्यवायुविद्युदुदकावकाशा मातरो=जनका यासां ताभिः सिन्धुभिः नदीभिः द्युभिः दिनैः अक्तुभिः रात्रिभिः **च यस्य त्रयः** उपर्यधोमध्याख्याः **आहावाः** निपानसदृशा मार्गा जलधारा वा **सन्ति, तत् त्रेधा** त्रिभिः प्रकारैः **हविष्कृतं=शोधितं** होतुर्महं द्रव्यं शोधितं **नाकम्** अविद्यमानदुःखं **हितं** धृतं **द्रव्यम् उपरि ऊर्ध्वं प्रक्षिप्य तत् तिस्रः** स्थूलत्रसरेणु-परमाण्वाख्याः **पृथिवीः** विस्तृताः **दिवः=प्रकाश-युक्तान् किरणान् प्रापय्य तदितस्ततश्चालयित्वाऽधो वर्षयित्वैतेन सर्वजगत्त्री रक्षेथे=त्रिवारं रक्षतम् ॥**

सूर्य, वायु, विद्युत्, जल, और अवकाश ये सात जिनकी माता=उत्पादक हैं उन (**सिन्धुभिः**) नदियों (**द्युभिः**) दिनों और (**अक्तुभिः**) रात्रियों से जिनके (**त्रयः**) ऊपर, नीचे और मध्यवर्ती तीन (**आहावाः**) निपान के सदृश मार्ग या जलधारा हैं, उस (**त्रेधाः**) तीन प्रकार से (**हविष्कृतम्**) होम के योग्य, शोधित (**नाकम्**) दुःखरहित (**हितम्**) सुरक्षित द्रव्य का (**उपरि**) ऊपर प्रक्षेप कर, उसे (**तिस्रः**) तीन स्थूल, त्रसरेणु और परमाणु रूप (**पृथिवीः**) विस्तृत (**दिवः**) प्रकाशयुक्त किरणों में पहुँचाकर, उसे इधर-उधर चलाकर, नीचे बरसाकर, उससे सब जगत् की (**त्रिः**) तीन बार (**रक्षेथे**) रक्षा करो ॥ ८ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्वायुसूर्य्ययोश्छेदनाकर्षण-वृष्ट्युद्भावकैर्गुणैर्नद्यश्चलन्ति, हुतं द्रव्यं दुर्गन्धादि-दोषान्निवार्य हितं सर्वदुःखरहितं सुखं साधयति, यतोऽहर्निशं सुखं वर्द्धते, येन विना कश्चित्प्राणी जीवितुं न शक्नोति तस्मादेतच्छोधनार्थं यज्ञाख्यं कर्म नित्यं कर्तव्यमिति ॥ ८ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य—वायु और सूर्य के छेदन, आकर्षण और वृष्टि करने वाले गुणों से नदियाँ चलती हैं तथा हवन किया हुआ द्रव्य, दुर्गन्ध आदि दोषों को दूर करके, हितकारी, सब दुःखों से रहित, सुख को सिद्ध करता है, जिससे दिन-रात सुख बढ़ता है, जिसके बिना कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकता, इसके शोधन के लिए यज्ञ-नामक कर्म नित्य करें ॥ ८ ॥

भाष्यसार—अश्विनौ विद्वान् कैसे हों, और क्या-क्या सिद्ध करें—अश्विनौ विद्वान् गमन कराने वाले हों। वे वायु और सूर्य के समान हों, अर्थात् वे वायु और सूर्य के तुल्य छेदन, आकर्षण और वर्षा आदि के उत्पादक हों। पृथिवी, अग्नि, सूर्य, वायु, विद्युत्, जल और अवकाश ये सात नदियों की माता अर्थात् जनक हैं। जिस द्रव्य से दिन-रात ऊपर-नीचे और मध्यवर्ती तीन जल की धारायें बहती हैं, उस शोधित, होम के योग्य, दुःखरहित, सुरक्षित द्रव्य का अग्नि के द्वारा ऊपर प्रक्षेप करें। उसे तीन स्थूल, त्रसरेणु और परमाणु रूप, विस्तृत, प्रकाशयुक्त किरणों में पहुँचावें। उसे इधर-उधर चलावें, उसे नीचे बरसाकर सब जगत् की तीन काल में रक्षा करें ॥ ८ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अश्विदेवो ! जिन जलों को गंगादि सात नदियाँ उत्पन्न करती हैं, उन प्रवाहित होने वाले जलों से तीन बार सोम को निचोड़ा गया। और

---

१. हे अश्विना ! सप्तमातृभिः सप्तसंख्याका गंगाद्या नद्यो मातर उत्पादिका येषां जलविशेषाणां तैः सिन्धुभिः स्यन्दनस्वभावैर्जलैर्वसतीवरीनामभिः त्रिः सोमाभिषवः कृत इति शेषः। आहावाः यथोक्तजल-युक्तस्य सोमस्याधारभूताः कूपसदृशाः त्रयः त्रिसंख्याका द्रोणकलशाधवनीयपूतभृदाख्या निष्पन्ना इति शेषः। तेषु त्रिषु पात्रविशेषेषु त्रेधाः त्रिभिः प्रकारैः सवनत्रयगतैः हविष्कृतं सोमाख्यं हविः संपादितं द्रव्यं वर्त्तते। तिस्रः पृथिवीरुपरि त्रिभ्यः पृथिव्यादिलोकेभ्य ऊर्ध्वं प्रवाप्रवन्तौ गच्छन्तौ युवां दिवो नाकं द्युलोकसंबन्धिनमादित्यं रक्षेथे। कीदृशं नाकम् ? द्युभिः अहोभिः अक्तुभिः रात्रिभिश्च हितं स्थापितम्। अहनि सूर्य उदेति रात्रावस्तं गच्छतीत्येवमहोरात्राभ्यां सूर्यो व्यवस्थाप्यते इत्यर्थः ॥ (सायणः)

उस जलयुक्त सोम के रखने के लिए कुए के समान तीन पात्र हैं। उन पात्रों में तीनों सवनों में सोम नामक हवि तैयार की गई है। पृथिवी आदि लोकों से ऊपर जाते हुए तुम दोनों अश्विदेवो ! द्युलोकवर्त्ती सूर्य की रक्षा करते हो। जिस सूर्य की दिनों तथा रातों से व्यवस्था की जाती है।"

आचार्य-सायण ने उपर्युक्त समस्त-मन्त्र की असंगत व्याख्या की है। नदियों से जल की उत्पत्ति, नदियों के पानी से सोम को निचोड़ना, उस सोम को कुए के समान महापात्रों में रखना और पृथिवी आदि लोकों से ऊपर जाने वाले अश्विदेवों से सूर्य की रक्षा करनादि सभी बातें विज्ञान-विरुद्ध तथा असंगत हैं। सायण की व्याख्या के अनुसार जो अश्विदेव रथारूढ़ होकर यज्ञवेदि पर आकर शयन करते हैं, क्या वे इस पृथिवी से लाखों गुणा बड़े सूर्य की रक्षा कर सकते हैं ? यह सायण का कथन असम्भव तथा उपहास्यास्पद ही है। यथार्थ में सायण का ज्ञान वृष्टि-विज्ञान के विषय में शून्य था, अन्यथा ऐसी बातें न लिखते।

'सप्तमातृभिः' पद का अर्थ गंगादि सात नदियाँ नहीं है। जिससे पैदा हो, वह मातृस्थानीय होता है। इस पार्थिव जल की उत्पत्ति के कारण (पृथिवी, अग्नि, सूर्य, वायु, विद्युत्, सूक्ष्म जल तथा अवकाश) ही सप्तमाताएं हैं। और उनसे सोम नहीं निचोड़ा जाता है। मन्त्र में सोमादि का कुछ भी वर्णन नहीं है, यह सायण का पूर्वाग्रह मात्र ही है। उन सप्तमाताओं को जल को त्रिः=तीन प्रकार से अर्थात् सूर्य के किरणों से ऊपर पहुँचाकर, मेघरूप होकर इधर-उधर चलाकर तथा नीचे भूमि पर बरसाकर जगत् के प्राणियों की रक्षा की जाती है। और मन्त्रोक्त 'आहावाः' पद का भी सायण ने संगत अर्थ न समझकर मिथ्या व्याख्या की है। यद्यपि इस पद का लोक में यही अर्थ प्रसिद्ध है कि कूपादि के पास पशुओं को पानी पिलाने के लिए जो उदकाधार=खेलादि बना दिया जाता है, उसे 'निपान' कहते हैं। किन्तु यह अर्थ सायण को भी अभीष्ट नहीं है। अतः उन्होंने उसके समान पात्र अर्थ कर दिया है। परन्तु प्रकरण तो वृष्टि-विज्ञान का है, उनके इस अर्थ की क्या संगति ? आकाशरूप जलधाराएँ ही यहाँ 'आहावाः' हैं और उनमें सोमरस नहीं रखा जाता। उन जल की धाराओं की शुद्धि तथा वृष्टि-तत्त्वों को हटाने के लिए नाकम्=रोगरूपी दुःखों से रहित हितम्=सुरक्षित तथा हविष्कृतम्=शोधित द्रव्यों को होम में प्रक्षेप करके ऊपर पहुँचाया जाता है, जो आकाश में जाकर तिस्रः पृथिवीः=स्थूल, त्रसरेणु तथा सूक्ष्म परमाणुओं को शुद्ध करता है। जिसको न समझकर आचार्य-सायण ने 'पृथिवी-आदि तीनों लोकों से ऊपर' यह असंगत व्याख्या की है। ये अश्विदेव=वैज्ञानिक यज्ञ करने वाले शिल्पी नाकम्=सूर्य की रक्षा नहीं करते, प्रत्युत रोगनाशक पदार्थों के प्रक्षेप से जगत् की रक्षा करते हैं। और ये 'आहावाः' तीन सोमरस रखने के महापात्र नहीं हैं किन्तु आकाश में ऊपर, मध्य तथा नीचे की तीन प्रकार की जलधाराएं हैं। आकाश में ऐसी जलधाराओं को वैज्ञानिक भली-भांति जानते हैं। और दिन-रात सूर्य को स्थापित करते हैं, यह भी सायण का कथन असंगत है। सूर्य ही दिन-रात के होने में कारण है। दिन-रात सूर्य को स्थापित नहीं कर सकते। स्वयं सायण को भी अपनी व्याख्या पर सन्देह रहा होगा, अतः आगे इसका अर्थ व्यवस्था करने में बदल दिया है। यथार्थ में मन्त्रोक्त द्युभिरक्तुभिः' पदों का सम्बन्ध जल की धाराओं से है, क्योंकि ये जलधाराएँ रात-दिन प्रवाहित होती रहती हैं। इस प्रकार सायण की व्याख्या असंगत तथा वृष्टि-विज्ञान के विरुद्ध होने से मिथ्या ही है ॥ ८ ॥

अङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **अश्विनौ** (विद्वांसौ) देवते। भुरिक्पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः ॥

पुनस्ताभ्यां किं कर्त्तव्यमित्युपदिश्यते ॥

फिर अश्विनौ विद्वान् क्या करें यह उपदेश किया जाता है ॥

क्व॑ त्री चक्रा त्रिवृतो॒ रथस्य॒ क्व॑ त्रयो॑ बन्धुरो॒ ये स॒नीळाः॑ ।
कदा॒ योगो॑ वाजिनो॒ रास॑भस्य॒ येन॑ य॒ज्ञं ना॑सत्योपया॒थः ॥ ९ ॥

क्व॑ । त्री । च॒क्रा । त्रि॒ऽवृ॒तः॑ । रथ॑स्य । क्व॑ । त्र॒यः॑ । ब॒न्धु॒रः॑ । ये । स॒ऽनी॒ळाः॑ । क॒दा । योगः॑ । वा॒जि॒नः॑ । रास॑भस्य । येन॑ । य॒ज्ञम् । ना॒स॒त्या॒ । उ॒प॒ऽया॒थः॑ ॥ ९ ॥

पदार्थः—(**क्व**) कस्मिन् (**त्री**) त्रीणि (**चक्रा**) यानस्य शीघ्रं गमनाय निर्मितानि कलाचक्राणि । अत्रोभयत्र **शेश्छन्दसि** इति शेर्लोपः । (**त्रिवृतः**) त्रिभी रचनचालनसामग्रीभिः पूर्णस्य (**रथस्य**) त्रिषु भूमिजलान्तरिक्षमार्गेषु रमन्ते येन तस्य (**क्व**) (**त्रयः**) जलाग्निमनुष्यपदार्थस्थित्यर्थविकाशाः (**बन्धुरः**) बन्धनविशेषाः । **सुपां सुलुग्** इति जसः स्थाने सुः । (**ये**) प्रत्यक्षाः (**सनीडाः**) समाना नीडा=बन्धनाधारा गृहविशेषा अग्न्यागारविशेषा वा येषु ते (**कदा**) कस्मिन् काले (**योगः**) युज्यते यस्मिन्सः (**वाजिनः**) प्रशस्तो वाजो=वेगोऽस्यास्तीति तस्य । अत्र **प्रशंसार्थ इनिः** । (**रासभस्य**) रासयन्ति=शब्दयन्ति येन वेगेन तस्य **रासभावश्विनोरित्यादिष्टोपयोजननामसु पठितम्** । निघं० १ । १५ । (**येन**) रथेन (**यज्ञम्**) गमनयोग्यं मार्गं (**नासत्या**) सत्यगुणस्वभावौ (**उपयाथः**) शीघ्रमभीष्टस्थाने सामीप्यं प्रापयथः ॥ ९ ॥

प्रमाणार्थ—यहाँ 'सुपां सुलुक्'० (अ० ७ । १ । ३९) इस सूत्र से 'जस्' के स्थान पर 'सु' आदेश है । (**वाजिनः**) यहां प्रशंसा अर्थ में 'इनि' प्रत्यय है । (**रासभस्य**) रासभौ यह पद निघण्टु (१।१५) में आदिष्टोपयोजन-नामों में पढ़ा है—रासभ का सम्बन्ध अश्विनौ के साथ है ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे नासत्यावश्विनौ शिल्पनौ युवां येन विमानादियानेन यज्ञं संगन्तव्यं मार्गं कदोपयाथो दूरदेशस्थं स्थानं सामीप्यवत्प्रापयथः तस्य च रासभस्य वाजिनस्त्रिवृतो रथस्य मध्ये क्व त्रीणि चक्राणि कर्त्तव्यानि, क्व चास्मिन् विमानादियाने ये सनीडास्त्रयो बन्धुरास्तेषां योगः कर्त्तव्य इति त्रयः प्रश्नाः ॥ ९ ॥

सपदार्थान्वयः— हे [**नासत्या**] **नासत्यौ**=अश्विनौ=शिल्पिनौ सत्यगुणस्वभावौ ! **युवां**—**येन**=**विमानादियानेन यज्ञं**=**संगन्तव्यं मार्गं कदा** कस्मिन् काले **उपयाथः**=**दूरदेशस्थं स्थानं सामीप्यवत्प्रापयथः तस्य च रासभस्य** रासयन्ति=शब्दयन्ति येन वेगेन तस्य **वाजिनः** प्रशस्तो वाजो=वेगोऽस्यास्तीति तस्य **त्रिवृतः** त्रिभी रचनचालनसामग्रीभिः पूर्णस्य **रथस्य** त्रिषु भूमिजलान्तरिक्षमार्गेषु रमन्ते येन तस्य **मध्ये क्व** [**त्री**]=**त्रीणि** [**चक्रा**] = **चक्राणि कर्त्तव्यानि, ? क्व चास्मिन् विमानादियाने ये** प्रत्यक्षा **सनीडाः** समाना नीडा=बन्धनाऽऽधारा गृहविशेषा अग्न्यागारविशेषा वा येषु ते **त्रयः** जलाग्निमनुष्यपदार्थस्थित्यर्थविकाशाः [**बन्धुरः**] **बन्धुराः** बन्धनविशेषाः **तेषां योगः** युज्यते यस्मिन् सः **कर्त्तव्य ? इति त्रयः प्रश्नाः** ॥ ९ ॥

भाषार्थ—हे [**नासत्या**] हे सत्य गुण, स्वभाव वाले शिल्पी जनो ! तुम दोनों—(**येन**) जिस विमान आदि यान से (**यज्ञम्**) गन्तव्य मार्ग को (**कदा**) कब (**उपयाथः**) दूर देश में स्थित स्थान को समीप के समान प्राप्त करते हो ? और उस (**रासभस्य**) शब्द करने वाले (**वाजिनः**) प्रशस्त वेग वाले (**तिवृतः**) तीन रचना, चालन और सामग्री से पूर्ण (**रथस्य**) भूमि, जल और अन्तरिक्ष में रमण कराने वाले यान में (**क्व**) कहां [**त्री**] तीन [**चक्रा**] चक्र बनावें ? और कहां इस विमान आदि यान में (**ये**) जो (**सनीडाः**) समान बन्धन-आधार वाले गृह विशेषों या अग्न्यागार विशेषों से युक्त (**त्रयः**) तीन जल, अग्नि और मनुष्यों के रहने के स्थान तथा [**बन्धुरः**] बन्धन विशेष हैं; उनका (**योगः**) योग करें ?— ये तीन प्रश्न हैं ॥ ९ ॥

भावार्थः—अत्रोक्तानां त्रयाणां प्रश्नाना-

भावार्थ—यहां कहे हुए तीन प्रश्नों के

मेतान्युत्तराणि वेद्यानि विभूतिकामैर्नरै रथस्यादिमध्यान्तेषु सर्वकलाबन्धनाधाराय त्रयो बन्धनविशेषाः कर्त्तव्याः एकं मनुष्याणां स्थित्यर्थं द्वितीयमग्निस्थित्यर्थं तृतीयं जलस्थित्यर्थं च कृत्वा यदा यदा गमनेच्छा भवेत्तदा तदा यथायोग्यं काष्ठानि संस्थाप्याग्निं योजयित्वा कलायन्त्रौद्भाविर्तेन वायुना संदीप्य वाष्पवेगेन चालितेन यानेन सद्यो दूरमपि स्थानं समीपवत्प्राप्तं शक्नुयुः नहीदृशेन यानेन विना कश्चिन्निर्विघ्नतया स्थानान्तरं सद्यो गन्तुं शक्नोतीति ॥९॥

ये उत्तर जानो—ऐश्वर्य की इच्छा रखने वाले मनुष्य—रथ के आदि, मध्य और अन्त में सब कलाओं के बन्धन के आधार हेतु तीन बन्धन विशेष करें, एक मनुष्यों के बैठने, दूसरा अग्नि-स्थापन और तीसरा जल-स्थापन के लिये करके जब-जब गमन की इच्छा हो तब-तब यथायोग्य काष्ठ रखकर, अग्नि को युक्त करके, कलायन्त्र से उठाई हुई वायु द्वारा उसे प्रदीप्त करके वाष्प के वेग से चलाये हुए यान से शीघ्र ही दूरस्थ स्थान को भी निकट के समान प्राप्त करें। इस प्रकार के यान के विना कोई भी निर्विघ्न, स्थानान्तर में नहीं जा सकता ॥९॥

भाष्यसार—अश्विनौ विद्वान् क्या करें—सत्य गुण और स्वभाव वाले अश्विनौ (शिल्पी) विद्वानों से इस प्रकार प्रश्न करें—तुम दोनों विमान आदि यान से गन्तव्य मार्ग को तथा दूरस्थ देश को समीपस्थ देश के समान कब प्राप्त करते हो ? शब्दायमान, प्रशस्त वेग से युक्त, रचना, चालन और सामग्री से पूर्ण, भूमि जल और अन्तरिक्ष में रमण करने वाले यान में हम कहां तीन चक्र बनावें ? विमान आदि यानों में गृहविशेषों या अग्न्यागार विशेषों से युक्त जल, अग्नि और मनुष्यों के रहने के स्थान तथा बन्धन-विशेष का योग कहां करें। ये तीन प्रश्न हैं इनका उत्तर भाष्य के भावार्थ सन्दर्भ में दिया गया है ॥ ९ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अश्विदेवो ! तुम्हारे तीन अश्रियों= धुरियों से युक्त रथ से सम्बन्ध तीन चक्र कहां लगे हुए हैं ? जो रथ के ऊपर बैठने के स्थान के लिए तीन विशेष काष्ठ=लकड़ियां लगाई हैं, वे कहां लगी हैं ? और तुम्हारे रथ में अश्व= घोड़े के स्थान पर बलवान् गधे को कब जोड़ा गया है ? यह सब हमें पता नहीं है। जिस रथ से तुम दोनों हमारे यज्ञ के स्थान पर पहुँचते हो।"

इस मन्त्र में रथस्य=विमानादियानों के निर्माण के विषय में विस्तृत वर्णन किया गया है। 'रथ' पद का रूढ अर्थ यहां कदापि संगत नहीं है। रमण कराने के साधन=सभी प्रकार के यानों को 'रथ' शब्द से कहा गया है। और ऐसे रथ के बनाने वाले 'अश्विदेव' कोई कल्पित देव नहीं हैं। किन्तु जो नासत्यौ= असत्य व्यवहार से रहित तथा सत्य विज्ञान को प्राप्त करने वाले विद्वान्-शिल्पी हैं, उनका ही यहां वर्णन किया गया है। किन्तु सायण ने पूर्वाग्रहवश कल्पित अश्विदेवों के रथ का ही वर्णन किया है और उनके रथ में घोड़ों के स्थान में गधे जोड़े जाते हैं। यह सायण की कैसी भ्रान्ति है कि उन्होंने लोकरूढ़ अर्थों से वेदार्थ का अनर्थ कर दिया है। क्या गधों का रथ आकाश में चल सकता है ? ऐसी सृष्टि-नियम से विरुद्ध

---

१. हे नासत्यौ अश्विनौ ! त्रिवृत्तः त्रिसंख्याकैरश्रिभिरुपेतस्य भवदीयस्य रथस्य ईषाद्वयं पूर्वभागे संयुज्यते। सेयम् एका अश्रिः। पृष्ठभागे वियुज्यते। तत्र कोऽद्वयं सम्पद्यते। ईदृशस्य रथस्य संबन्धीनि त्री चक्रा त्रीणि चक्राणि क्व कुत्र स्थितानीत्यस्माभिर्न दृश्यते। ये काष्ठविशेषाः सनीळाः नीळं गृहसदृशं रथस्योपरि उपवेशस्थानम्। तेन सह वर्त्तन्ते इति सनीळाः। ते काष्ठविशेषाः बन्धुरः नीडबन्धनाधारभूताः तयः त्रिसंख्याकाः क्व कुत्र स्थिता इत्यस्माभिर्न ज्ञायते। वाजिनः बलवतः रासभस्य भवदीयाश्वस्थानीयस्य गर्धभस्य योगः रथे योजनं कदा कस्मिन् काले निष्पन्नमित्यस्माभिर्न दृश्यते। येन रथेन यज्ञम् अस्मदीस्० यागस्थानम् उपयाथः युवां प्राप्नुथः ॥ (सायणः)।

असम्भव बातों के उल्लेख से सायण ने वेदों को कलङ्कित ही किया है। महर्षि-दयानन्द ने यौगिक प्रक्रिया से "वाजिनः=प्रशस्त वेगवाले तिवृतः=रचना, चालन तथा सामग्री से पूर्ण, रासभस्य रथस्य=शब्द करने वाले रथ=भूमि, जल तथा अन्तरिक्ष में चलने वाले यान" अर्थ किया है इसमें किसी प्रकार की असंगति नहीं है। सायणाचार्य स्वयं ऋषि नहीं थे। उन्होंने ऋषियों की बताई यौगिक प्रक्रिया को भी नहीं माना, अतः मनमाने कल्पित मन्त्रार्थों से सत्यार्थ का प्रकाश कैसे हो सकता है ?

सायणाचार्य ने रथ के विज्ञान को भी नहीं समझा है। मन्त्र में कहे विमानादि यानों में 'त्रयो बन्धुरो ये सनीळाः=जल, अग्नि तथा मनुष्यों के बैठने के तीन स्थान ऐसे होने चाहिए कि जिनका समान बन्धन=एक आधार हो। यानों में तीन ऐसे गृहविशेष पृथक्-पृथक् होने चाहिए जिनमें जल, अग्नि के आगार हों और मनुष्य सरलता से बैठ सकें। परन्तु सायण ने इसे न समझकर लिखा है कि रथ के ऊपर जो बैठने का स्थान है, उसमें तीन काष्ठविशेष लगाने चाहिए। सायण की ऐसी विज्ञानविरुद्ध व्याख्या से स्पष्ट है कि सायण न तो विज्ञान ही जानते थे और नहीं उन्होंने मन्त्रार्थ पर विचार किया। जैसे भूमि पर चलने वाले रथ होते हैं, उन्हीं को देखकर सायण ने ऐसी व्याख्या की है। परन्तु उन्होंने यह भी विचार नहीं किया कि तुम्हारे देव तो स्वर्ग से आते हैं। क्या गधोंवाला रथ वहां आ-जा भी सकता है या नहीं ? महर्षि-दयानन्द की विज्ञानानुकूल तथा सुसंगत व्याख्या पढ़ने योग्य है ॥ ९ ॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **अश्विनौ** (विद्वांसौ) देवते। जगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

पुनस्ताभ्यां किं साधनीयमित्युपदिश्यते॥

फिर वे अश्विनौ विद्वान् क्या सिद्ध करें, यह उपदेश किया जाता है॥

आ नासत्या गच्छतं हूयते हविर्मध्वः पिबतं मधुपेभिरासभिः।
युवोर्हि पूर्वं सवितोषसो रथमृताय चित्रं घृतवन्तमिष्यति॥ १०॥

आ। नासत्या। गच्छतम्। हूयते। हविः। मध्वः। पिबतम्। मधुऽपेभिः। आसऽभिः। युवोः। हि। पूर्वम्। सविता। उषसः। रथम्। ऋताय। चित्रम्। घृतऽवन्तम्। इष्यति॥ १०॥

पदार्थः—(आ) समन्तात् (**नासत्या**) अश्विनाविव। अत्र **सुपां सुलुग्** इत्याकारादेशः (**गच्छतम्**) (**हूयते**) क्षिप्यते=दीप्यते (**हविः**) होतुं=प्रक्षेप्तुं दातुमर्हं काष्ठादिकमिन्धनम् (**मध्वः**) मधुरगुणयुक्तानि जलानि। **मधित्युदकनामसु पठितम्।** निघं० १। १२। अत्र **लिङ्गव्यत्ययेन पुंस्त्वम्। वाच्छन्दसि सर्वे०** इति पूर्वसवर्णप्रतिषेधाद्यणादेशः। (**पिबतम्**) (**मधुपेभिः**) मधूनि जलानि पिबन्ति यैस्तैः (**आसभिः**) स्वकीयैरास्यवच्छेदकगुणैः। अत्रास्यस्य स्थाने **पद्दन्नोमास्०।** अ० ६। १। ६३। इत्यासन्नादेशः। (**युवोः**) युवयोः (**हि**) निश्चयार्थे (**पूर्वम्**) प्राक् (**सविता**) सूर्यलोकः (**उषसः**) सूर्योदयात्प्राक् वर्त्तमानकालवेलायाः (**रथम्**) रमणहेतुम् (**ऋताय**) सत्यगमनाय। **ऋतमिति सत्यनामसु पठितम्।** निघं० ३। १०। (**चित्रम्**) आश्चर्य्यवेगादियुक्तम् (**घृतवन्तम्**) घृतानि बहून्युदकानि विद्यन्ते यस्मिंस्तम्। **घृतमित्युदकनामसु पठितम्।** निघं १। १२। (**इष्यति**) गच्छति॥ १०॥

प्रमाणार्थ—(**नासत्या**) यहां 'सुपां सुलुक्०' (अ० ७। १। ३९) इस सूत्र से 'औ०' विभक्ति के स्थान में आकार आदेश है। (**मध्वः**) 'मधु' यह पद निघण्टु (१। १२) में उदक-नामों में पढ़ा है—उदक=जल, यहां लिङ्ग के व्यत्यय से पुल्लिङ्ग है। 'वा छन्दसि सर्वे०' (महा० १। ४। ९) इस परिभाषा से पूर्वसवर्ण के प्रतिषेध से 'यण्' आदेश है। (**आसभिः**) यहां 'आस्य' के स्थान पर 'पद्दन्नोमास'

(अ० ६ । १ । ६३) इस सूत्र से 'आसन्' आदेश है। (**ऋतम्**) यह पद निघण्टु (३ । १०) में सत्य-नामों में पढ़ा है। (**घृतवन्तम्**) 'घृतम्' यह पद निघण्टु (१ । १२) में उदक-नामों में पढ़ा है—उदक= जल ॥ १० ॥

अन्वयः—हे अश्विनौ नासत्याभ्यामश्विभ्यामिव युवाभ्यां यद्धविर्हूयते तेन हविषा शोधितानि मध्वो मधूनि जलानि मधुपेभिरासभिः पिबतम्। अस्मदानन्दाय घृतवन्तं चित्रं रथमागच्छतं समन्ताच्छीघ्रं प्राप्नुतं युवोर्युवयोर्यो रथ उषसः पूर्वं सवितेव प्रकाशमान इष्यति स ह्यृतायास्माभिर्गृहीतव्यो भवति ॥ १० ॥

सपदार्थान्वयः— हे अश्विनौ ! [नासत्या] **नासत्याभ्याम्**=अश्विभ्यामिव युवाभ्यां **यत् हविः** होतुं=प्रक्षेप्तुं दातुमर्हं काष्ठादिकमिन्धनं **हूयते** क्षिप्यते=दीप्यते, **तेन हविषा शोधितानि मध्वः**=**मधूनि जलानि मधुपेभिः** मधूनि= जलानि पिबन्ति यैस्तैः **आसभिः** स्वकीयैरास्य-वच्छेदकगुणैः **पिबतम्। अस्मदानन्दाय घृतवन्तं** घृतानि बहून्युदकानि विद्यन्ते यस्मिँस्तं **चित्रम्** आश्चर्यवेगादियुक्तं **रथं** रमणहेतुम् **आगच्छतं**= **समन्ताच्छीघ्रं प्राप्नुतं युवोः**=**युवयोर्यो रथ उषसः** सूर्योदयात्प्राक् वर्त्तमानकालवेलायाः **पूर्वं** प्राक् **सविता** सूर्यलोकः **इव प्रकाशमान इष्यति** गच्छति; **स हि** निश्चयेन **ऋताय** सत्यगमनाय **अस्माभिर्गृहीतव्यो भवति ॥ १० ॥**

भाषार्थ—हे शिल्पी-जनो ! [**नासत्याभ्याम्**] असत्य गुण से रहित अग्नि और जल के तुल्य आप दोनों जो (**हविः**) हवि रूप काष्ठ आदि इन्धन (**हूयते**) प्रदीप्त करते हो, उस हवि से शुद्ध किये हुये (**मध्वः**) मधुर जलों का (**मधुपेभिः**) मधुर जल-पान करनेवाले (**आसभिः**) अपने मुख के समान अपने छेदक गुणों से (**पिबतम्**) पान करो; हमारे आनन्द के लिये (**घृतवन्तम्**) बहुत जल वाले (**चित्रम्**) अद्भुत वेग आदि से युक्त (**रथम्**) यान को (**आगच्छतम्**) सब ओर से शीघ्र प्राप्त करो; (**युवोः**) तुम दोनों का जो यान—(**उषसः**) उषा-काल से (**पूर्वम्**) पहले (**सविता**) सूर्य के समान प्रकाशमान है—वह (**इष्यति**) चलता है, वह (**हि**) ही (**ऋताय**) सत्य गमन के लिये ग्रहण करने योग्य है ॥ १० ॥

भावार्थः—यदा यानेष्वग्निजले प्रदीप्य चालयन्ति तदेमानि यानानि स्थानान्तरं सद्यः प्राप्नुवन्ति। तत्र जलवाष्पनिस्सारणायैकमीदृशं स्थानं निर्मातव्यं यद्द्वारा वाष्पनिर्मोचनेन वेगो वर्द्धेत। एतद्विद्याऽभिज्ञ एव सम्यक् सुखं प्राप्नोति ॥ १० ॥

भावार्थ—जब यानों में जल और अग्नि को प्रदीप्त करके चलाते हैं तब ये स्थानान्तर को शीघ्र ही प्राप्त करते हैं। उनमें जल-वाष्प निकालने के लिए एक ऐसा स्थान बनावें जिसके द्वारा वाष्प निकलने से वेग बढ़ जाये। इस विद्या को जानने वाला ही अच्छे सुख को प्राप्त करता है ॥ १० ॥

भाष्यसार—अश्विनौ विद्वान् क्या सिद्ध करें—अश्विनौ विद्वान् अग्नि और जल के तुल्य असत्य गुण से रहित हों। वे यान में काष्ठ आदि इन्धन डालकर उसे प्रदीप्त करें और यानों को चलावें। वे प्रदीप्त अग्नि से शुद्ध किये हुये मधुर जलों का मुख के समान छेदक गुणों से पान करें अर्थात् यान में जल-वाष्प के निकालने के लिये एक स्थान बनावें जिससे वाष्प का निर्मोचन हो और यान का वेग बढ़े। उस अद्भुत वेग आदि से युक्त यान को वे प्राप्त करें। वह यान उषाकाल के सूर्य के समान प्रकाशमान हो। मनुष्य यातायात के लिये उस यान को ग्रहण करें ॥ १० ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अश्विदेवो ! तुम दोनों इस यज्ञ-कर्म में आओ। यहां हम हवि तैयार कर रहे हैं। और तुम दोनों मधुरपान से युक्त अपने मुखों से मधुर हवियों का पान करते हो। सूर्य तुम्हारे रथ को उषाकाल से पहले हमारे यज्ञ के लिए निश्चय से प्रेरित करता है। वह रथ कैसा है ? पूर्वोक्त तीनों चक्रों से विचित्र तथा धुरी पर लगने वाले घी से युक्त है।"

इस मन्त्र-व्याख्या में सायणाचार्य ने अश्विदेवों के मुखों का भी वर्णन किया है। ऐसे शरीर वाले देव यज्ञप्रदेश में रथारूढ़ होकर आएँ, और दिखाई न देवें, यह परस्परविरुद्ध बात है। और सूर्य, जो एक अचेतन अग्नि का पुञ्ज है, वह देवों के रथ को कैसे प्रेरित कर सकता है ? क्या अश्विदेवों का रथ सूर्य के निकट जाने से भस्म नहीं होता होगा ? क्या उनके रथ का वाहन गधा सूर्य के निकट जाकर जीवित रह सकता है ? और इन देवों के रथ की धुरी पर घृत=घी लगाया जाता है। यह कैसी विचित्र व्याख्या की है। सोचा होगा कि मनुष्यों के रथ में तो तेल लगता है, देवों के रथ की कुछ तो विशेषता होनी चाहिए। उन्होंने यह भी विचार नहीं किया कि 'घृतम्' पद निघण्टु में जल-नामों में पठित है।

महर्षि-दयानन्द ने मन्त्र के सत्यार्थ पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि यहां शिल्पी-जनों से बनाए जाने वाले रथ=विमानादि यानों का वर्णन है। उन यानों को चलाने के लिए अग्नि और जल आवश्यक हैं। उनमें जब इन्धन प्रज्वलित किया जाता है, यही 'हविर्हूयते' है। और अग्नि जलने से जो जल की भाप बनती है, उसके निकलने के लिए जो मुखस्थानीय छिद्र हैं, यही मुखों से मधुर-जल का पान है। और यानों में जल के सुरक्षित भण्डार के लिए पृथक् स्थान होना चाहिए, यही रथ का घृतवन्तम्=बहुत जल वाला होना है। यहाँ धुरी में घी लगाने का कोई वर्णन नहीं है। और 'इषु गतौ' धातु से 'इष्यति' रूप बना है, इसका प्रेरणार्थक अर्थ मूलधात्वर्थ से विरुद्ध तथा असंगत है। विज्ञान से सिद्ध रथ=यान=ऋताय=सत्यमार्ग पर चलने के लिए गति करता है और यह ऐसा प्रकाशमान होना चाहिए, जैसे उषाकाल से पूर्व सूर्य प्रकाशमान रहता है। इस सत्यार्थ को न समझकर सायण ने यह कल्पित व मिथ्या व्याख्या की है कि अश्विदेवों के रथ को यज्ञ के लिए सूर्य प्रेरणा करता है। और (निघं० १। १२ में) उदक-नामों में पठित मधु तथा घृत शब्दों के प्रामाणिक अर्थों को न समझकर 'मधुरद्रव्य' और 'घी' अर्थ सायण ने लोकरूढ़ मानकर असंगत किए हैं। और 'आगच्छतम्' का अर्थ स्थानान्तर गमन ही नहीं है। 'गम्' धातु के ज्ञान, गमन तथा प्राप्ति तीन अर्थ हैं। अतः सायण की व्याख्या के अनुसार 'अश्विदेव यहाँ आएँ' यह व्याख्या असंगत है। जो अश्विन=वैज्ञानिक विद्वान् हैं वे ऐसी मन्त्रोक्त यानविद्या को प्राप्त करें तथा प्राप्त कराएँ इस अर्थ की ही यहाँ संगति है॥ १०॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **अश्विनौ** (विद्वांसौ) देवते। जगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

पुनस्ताभ्यां किं किं साधनीयमित्युपदिश्यते॥

फिर अश्विनौ विद्वान् क्या-क्या सिद्ध करें, यह उपदेश किया जाता है॥

---

१. हे नासत्यौ अश्विनौ ! इह कर्मणि आगच्छतम्। अत्रास्माभिः हविः हूयते। युवां च मधुपेभिः मधुरपानयुक्तैः आसभिः भवदीयैरास्यैः मध्वः मधुरद्रव्याणि हवींषि पिबतम्। सविता सूर्यः उषसः पूर्वम् उषःकालात्पुरा युवयोरश्विनोः सम्बन्धिनं रथम् ऋताय अस्मद् यज्ञार्थम् इष्यति हि प्रेरयति खलु। कीदृशम्। चित्रं पूर्वोक्तैश्चक्रत्रयादिभिः विचित्रं घृतवन्तम् अक्षाञ्जनसाधनेन घृतेनोपेतम्। (सायणः)

आ नासत्या त्रिभिरेकादशैरिह देवेभिर्यातं मधुपेयमश्विना ।
प्रायुस्तारिष्टं नी रपांसि मृक्षतं सेधतं द्वेषो भवतं सचाभुवा ॥ ११ ॥

आ । नासत्या । त्रिऽभिः । एकादशैः । इह । देवेभिः । यातम् । मधुऽपेयम् । अश्विना । प्र । आयुः । तारिष्टम् । निः । रपांसि । मृक्षतम् । सेधतम् । द्वेषः । भवतम् । सचाऽभुवा ॥ ११ ॥

पदार्थः—(आ) समन्तात् (**नासत्या**) सत्यगुणस्वभावौ । अत्र **सर्वत्र सुपां सुलुग्** इत्याकारादेशः । (**त्रिभिः**) एभिरहोरात्रैः समुद्रस्य पारम् (**एकादशैः**) एभिरहोरात्रैर्भूगोलान्तम् (**इह**) यानेषु संप्रयोजितौ (**देवेभिः**) विद्वद्भिः (**यातम्**) प्राप्नुतम् (**मधुपेयम्**) मधुभिर्गुणैर्युक्तं पेयं द्रव्यम् (**अश्विना**) द्यावापृथिव्यादिकौ द्वौ द्वौ (प्र) प्रकृष्टार्थे (**आयुः**) जीवनम् (**तारिष्टम्**) अन्तरिक्षं प्लावयतम् (**निः**) नितराम् (**रपांसि**) पापानि दुःखप्रदानि । **रपोरिप्रमिति पापनामनी भवतः** । निरु० ४ । २१ । (**मृक्षतम्**) दूरीकुरुतम् (**सेधतम्**) मङ्गलं=सुखं प्राप्नुतम् (**द्वेषः**) द्विषतः=शत्रून् । **अन्येभ्योऽपि दृश्यन्त इति** कर्त्तरि विच् । (**भवतम्**) (**सचाभुवा**) यौ सचा=समवायं भावयतस्तौ । अत्रान्तर्गतो ण्यर्थः ॥ ११ ॥

प्रमाणार्थ—(**नासत्या**) यहां सर्वत्र, अश्विना और सचाभुवा में 'सुपां सुलुक्०' (अ० ७ । १ । ३९) इस सूत्र से 'औ' विभक्ति के स्थान में 'आकार' आदेश है । (**रपांसि**) निरुक्त (४ । १९) के अनुसार 'रप' और 'रिप्र' पाप के नाम हैं । (**द्वेषः**) यहां 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (अ० ३ । २ । ७५) इस सूत्र से 'विच्' प्रत्यय है । (**सचाभुवा**) यहां 'णिच्' प्रत्यय का अर्थ अन्तर्भूत है ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे शिल्पिनौ युवां नासत्याश्विना सचाभुवाविव देवेभिर्विद्वद्भिस्सहेहोत्तमेषु यानेषु स्थित्वा त्रिभिरहोरात्रैर्महासमुद्रस्य पारमेकादशैरहोरात्रैर्भूगोलान्तं यातं द्वेषोरपांसि च निर्मृक्षतं मधुपेयमायुः प्रतारिष्टं सुसुखं सेधतं विजयिनौ भवतम् ॥ ११ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **शिल्पिनौ** ! **युवां नासत्या** सत्यगुणस्वभावौ **अश्विना** द्यावापृथिव्यादिकौ द्वौ द्वौ [**सचाभुवा**] **सचाभुवौ** यौ सचा=समवायं भावयतस्तौ **इव, देवेभिः**=**विद्वद्भिस्सह इह**=**उत्तमेषु यानेषु स्थित्वा त्रिभिः**=**अहोरात्रैः** एभिरहोरात्रैः **महासमुद्रस्य पारम् एकादशैः**=**अहोरात्रैर्भूगोलाऽन्तम्** [**आ**]+**यातं** समन्तात् प्राप्नुतं; **द्वेषः** द्विषतः=शत्रून् **रपांसि** पापानि दुःखप्रदानि **च निः**+**मृक्षतम्** नितरां दूरीकृतं; **मधुपेयं** मधुभिर्गुणैर्युक्तं पेयं द्रव्यम् **आयुः** जीवनं **प्र**+**तारिष्टं** प्रकृष्टतयाऽन्तरिक्षं प्लावयतं; **सुसुखं सेधतं** मङ्गलं=सुखं प्राप्नुतं **विजयिनौ भवतम्** ॥ ११ ॥

भाषार्थ—हे शिल्पी जनो ! तुम दोनों—(**नासत्या**) सत्य गुण, स्वभाव वाले (**अश्विना**) द्यावापृथिवी के तुल्य [**सचाभुवा**] समवाय=सम्बन्ध रखनेवाले, (**देवेभिः**) विद्वानों के साथ (**इह**) इन उत्तम यानों में बैठकर (**त्रिभिः**) तीन दिन-रात में महासमुद्र के पार, और (**एकादशैः**) ग्यारह दिन-रात में भूगोल का अन्त ([**आ**] **यातम्**) प्राप्त करो; और (**द्वेषः**) शत्रुओं तथा (**रपांसि**) दुःखप्रद पापों को (**निः**+**मृक्षतम्**) सर्वथा दूर करो; और (**मधुपेयम्**) मधुर गुणों से युक्त पेय द्रव्य को तथा (**आयुः**) जीवनकाल को (**प्र**+**तारिष्टम्**) उत्तम रीति से बढ़ाओ; और उत्तम सुख को (**सेधतम्**) प्राप्त करो; और विजयी बनो ॥ ११ ॥

भावार्थः—यदा मनुष्या ईदृशेषु यानेषु स्थित्वा चालयन्ति तदा त्रिभिरहोरात्रैः सुखेन समुद्रपारमेकादशैरहोरात्रैर्भूगोलस्याभितो गन्तुं शक्नुवन्ति । एवं कुर्वन्तो विद्वांसः सुखयुक्तं पूर्णमायुः

भावार्थ—जब मनुष्य इस प्रकार के यानों में बैठकर चलाते हैं; तब तीन दिन और तीन रात्रियों में सुख से समुद्र के पार और ग्यारह दिन-रात में भूगोल के चारों ओर जा सकते हैं । इस

प्राप्य दुःखानि दूरीकृत्य शत्रून् विजित्य चक्रवर्त्ति-राज्यभागिनो भवन्तीति ॥ ११ ॥

प्रकार करते हुए विद्वान् लोग सुखपूर्वक पूर्ण आयु को प्राप्त कर दुःखों को दूर करके, शत्रुओं को जीतकर, चक्रवर्ती राज्य के भागी होते हैं ॥ ११ ॥

भाष्यसार—**अश्विनौ विद्वान् क्या-क्या सिद्ध करें**—अश्विनौ (शिल्पी) विद्वान् सत्य गुण, स्वभाव वाले तथा द्यावापृथिवी के समान परस्पर सम्बन्ध रखनेवाले हों। वे विद्वानों के साथ उत्तम यानों में बैठकर तीन दिन-रात में महासमुद्र को पार करें। वे ग्यारह दिन-रात में भूगोल का अन्त प्राप्त करें अर्थात् भूगोल की परिक्रमा करें। वे शत्रुओं और दुःखप्रद पापों को सर्वथा दूर करें। वे मधुर गुण से युक्त पेय पदार्थों को तथा आयु को बढ़ावें। वे उत्तम सुख को प्राप्त करें तथा विजयी होवें ॥ ११ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे झूठ से रहित अश्विदेवो ! तुम दोनों ग्यारह-वर्गों में विभक्त तथा तीन संख्यावाले देवों के साथ मधुर-सोमपान के लिए इस यज्ञ-प्रदेश में आओ। और हमारी आयु को बढ़ाओ, पापों की सम्पूर्णता से शुद्धि करो, द्वेष करने वालों को दूर करो और हमारे साथ स्थित रहो।"

इस सायण-भाष्य से भी स्पष्ट है कि अश्विदेव हमारे साथ रहने वाले विद्वान् व्यक्ति ही हैं। वे मिथ्याव्यवहारों से रहित होने से 'नासत्यौ' कहलाते हैं और वे पापादि दुराचरणों से बचाकर हमारी आयु की वृद्धि में भी कारण होते हैं। जैसा कि मनु जी ने लिखा है—'आचाराल्लभते ह्यायुः' अर्थात् सदाचार से आयु की वृद्धि होती है। और द्वेष से निवृत्ति व पापों से शुद्धि भी वे ही विद्वान् सुशिक्षादि से करा सकते हैं, जो हमारे संसर्ग में रहने वाले हैं। इस यथार्थ तथ्य को न स्वीकार कर स्वर्गस्थ कल्पित अश्विदेव हमारे यज्ञों में आकर उपर्युक्त आयुवृद्धि, पापशुद्धि तथा द्वेष-निवृत्ति आदि कार्य कदापि नहीं करा सकते। 'सहवासी एव जानाति चरितं सहवासिनः' अर्थात् साथ रहने वाला ही साथी के चाल-चलन को जान सकता है। अतः सायण द्वारा अभिमत कल्पित अश्विदेवों का यहाँ कोई वर्णन नहीं है। यहां विद्वान् पुरुषों के कर्त्तव्य-कर्मों का ही उल्लेख है।

और सायण की यह भी भ्रान्ति है कि ये अश्विदेव एकादश वर्गों में विभक्त तीन संख्यावाले देवों के साथ यज्ञ में आते हैं। प्रथम तो सायण-भाष्य में 'त्रिभिः' 'एकादशैः' सख्याओं की व्याख्या ही स्पष्ट नहीं है। और इन पदों में 'अपवर्गे तृतीया' (अ० २। ३। ६) सूत्र से अपवर्ग=फल-प्राप्ति में तृतीया विभक्ति है, सहयोग में नहीं। शिल्पी विद्वान् ऐसे यानों की रचना करें जो तीन घण्टों या दिनों में महासमुद्र को पार तथा ग्यारह घण्टों या दिनों में भूगोल की परिक्रमा समाप्त कर सकें। इन पदों को सायण ने 'देवेभिः' के साथ रक्खा है, किन्तु ये देव कौन से हैं, यह नहीं समझ सके हैं। अन्यथा इन देवों की स्पष्ट व्याख्या करते। और सायण-भाष्य से यह भ्रान्ति भी होती है कि अश्विदेवों के साथ जो दूसरे देव हैं, उनके नाम तथा कार्य क्या हैं ? क्या वे अश्विदेवों के सेवक हैं, शिष्य हैं, या अनुयायी हैं ? क्या देवों में भी इस प्रकार के उत्तम, मध्यम तथा अधम भेद होते हैं ? अतः सायण की समस्त व्याख्या असंगत तथा भ्रान्तिमूलक है ॥ ११ ॥ ●

---

१. हे नासत्या असत्येनानृतेन रहितौ अश्विना अश्विदेवौ युवां त्रिभिरेकादशैः त्रिसंख्याकैः एकादशात्मकवर्गत्रयगतैर्देवैः सह मधुपेयं सोमात्मकं मधुरद्रव्यपानम् अभिलक्ष्य इह अस्मिन् देवयजनदेशे आयातम् आगच्छतम्। आयुः अस्मदीयमायुष्यं प्रतारिष्टं प्रवर्धयतम्। रपांसि अस्मदीयानि पापानि निःमृक्षतं निःशेषेण शोधयतम्। द्वेषः द्वेषकर्तॄन सेधतं प्रतिषेधतम्। सचाभुवा अस्माभिः सहावस्थितौ भवतम् ॥ (सायणः)

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः । **अश्विनौ** (विद्वांसौ) देवते । निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनरेताभ्यां किं साधनीयमित्युपदिश्यते ॥

फिर अश्विनौ विद्वान् क्या सिद्ध करें यह उपदेश किया जाता है ॥

आ नो अश्विना त्रिवृता रथेनार्वाञ्चं रयिं वहतं सुवीरम् ।
शृण्वन्ता वामवसे जोहवीमि वृधे च नो भवतं वाजसातौ ॥ १२ ॥

आ । नः । अश्विना । त्रिऽवृता । रथेन । अर्वाञ्चम् । रयिम् । वहतम् । सुऽवीरम् । शृण्वन्ता । वाम् । अवसे । जोहवीमि । वृधे । च । नः । भवतम् । वाजऽसातौ ॥ १२ ॥

पदार्थः—(आ) समन्तात् (नः) अस्माकम् (अश्विना) जलपवनौ । अत्र सर्वत्र **सुपां सुलुग्** इत्याकारादेशः । (त्रिवृता) यस्त्रिषु स्थलजलान्तरिक्षेषु पूर्णगत्या गमनाय वर्त्तते तेन (रथेन) विमानादियानस्वरूपेण रमणसाधनेन (अर्वाञ्चम्) अर्वागुपरिष्टादधस्थं स्थानमभीष्टं वाञ्छति येन तम् (रयिम्) चक्रवर्त्तिराज्यसिद्धं धनम् (वहतम्) प्राप्नुतः । अत्र **लडर्थे लोट्** । (सुवीरम्) शोभना वीरा यस्य तम् (शृण्वन्ता) शृण्वन्तौ (वाम्) युवयोः (अवसे) रक्षणाय सुखावगमाय विद्यायां प्रवेशाय वा (जोहवीमि) पुनः पुनराददामि (वृधे) वर्द्धनाय । अत्र **कृतो बहुलम्** इति भावे क्विप् । (च) समुच्चये (नः) अस्मान् (भवतम्) भवतः । अत्र **लडर्थे लोट्** । (वाजसातौ) सङ्ग्रामे ॥ १२ ॥

प्रमाणार्थ—(अश्विना) यहां 'सुपां सुलुक्०' (अ० ७ । १ । ३९) इस सूत्र से 'औ' विभक्ति के स्थान में आकार आदेश है । (वहतम्) यहां लट् लकार के अर्थ में लोट् लकार है (वृधे) यहां 'कृतो बहुलम्' (अ० ३ । ३ । ११३) इस वार्तिक सूत्र से भाव में क्विप् प्रत्यय है (भवतम्) यहां लट् लकार के अर्थ में लोट् लकार है ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे शिल्पविद्याविचक्षणौ शृण्वन्ता श्रावयितारावश्विनौ युवां द्यावापृथिव्यादिकौ द्वाविव त्रिवृता रथेन नोस्मानर्वाञ्चं सुवीरं रयिमावहतं प्राप्नुतम् नोऽस्माकं वाजसातौ वृधे वर्द्धनाय च विजयिनौ भवतं यथाहं वामवसे जोहवीमि पुनः पुनराददामि तथा मां गृह्णीतम् ॥ १२ ॥

सपदार्थान्वयः—हे शिल्पविद्याविचक्षणौ शृण्वन्ता=श्रावयितारौ [अश्विना] अश्विनौ! युवां द्यावापृथिव्यादिकौ द्वाविव त्रिवृता यस्त्रिषु जलस्थलान्तरिक्षेषु पूर्णगत्या गमनाय वर्त्तते तेन रथेन विमानादियानस्वरूपेण रमणसाधनेन नः=अस्मान् अर्वाञ्चं अर्वागुपरिष्टादधस्थं स्थानमभीष्टं वाञ्छति तम् सुवीरं शोभना वीरा यस्य तं रयिं चक्रवर्त्तिराज्यसिद्धं धनम् आ+वहतं=प्राप्नुतं समन्तात् प्राप्नुतः; नः=अस्माकं वाजसातौ संग्रामे वृधे=वर्द्धनाय च विजयिनौ भवतं यथाऽहं वां युवयोः अवसे रक्षणाय सुखावगमाय विद्यायां प्रवेशाय वा जोहवीमि=पुनः पुनराददामि तथा मां गृह्णीतम् ॥

भाषार्थ—हे शिल्पविद्या में चतुर, (शृण्वन्ता) शिल्पविद्या को सुनाने वाले (अश्विनौ) शिल्पी विद्वानो ! तुम दोनों—दो द्यावापृथिवी के तुल्य (त्रिवृता) तीन जल, स्थल और अन्तरिक्ष में पूर्ण गति से जाने के लिए विद्यमान (रथेन) विमान आदि यान स्वरूप रमण के साधन से (नः) हमें (अर्वाञ्चम्) ऊपर से नीचे स्थान को या अभीष्ट स्थान को, (सुवीरम्) उत्तम वीरों से युक्त (रयिम्) चक्रवर्ती राज्य से सिद्ध हुये धन को (आ+वहतम्) प्राप्त कराओ; और (नः) हमारे (वाजसातौ) संग्राम में (वृधे) वृद्धि के निमित्त विजयी होवो, जैसे मैं (वाम्) तुम दोनों की (अवसे) रक्षा, सुख-प्राप्ति या विद्या में प्रवेश के लिए (जोहवीमि) बार-बार ग्रहण करता हूँ—वैसे आप मुझे ग्रहण करो ॥

भावार्थः—नैतदश्विसंप्रयोजितरथेन विना कश्चित् स्थलजलान्तरिक्षमार्गान् सुखेन सद्यो गन्तुं शक्नोत्यतो राज्यश्रियमुत्तमां सेनां वीरपुरुषांश्च संप्राप्येदृशेन यानेन युद्धे विजयं प्राप्तुं शक्नुवन्ति तस्मादेतस्मिन् मनुष्याः सदा युक्ता भवन्त्विति ॥ १२ ॥

भावार्थ—इस जल और वायु से संयुक्त किये हुए रथ के विना कोई स्थल, जल और अन्तरिक्ष मार्गों में सुख से शीघ्र नहीं जा सकता, इसलिए राज्यश्री, उत्तम सेना और वीरपुरुषों को प्राप्त करके, ऐसे यान से युद्ध में विजय प्राप्त कर सकते हैं, अतः इसमें मनुष्य सदा युक्त होवें ॥ १२ ॥

भाष्यसार—अश्विनौ विद्वान् क्या सिद्ध करें—अश्विनौ विद्वान्—शिल्पविद्या में चतुर और शिल्पविद्या का उपदेश करने वाले हों। वे द्यावापृथिवी के तुल्य परस्पर सहयोगी हों। वे जल, स्थल और अन्तरिक्ष में पूर्ण गति से जाने के लिए विद्यमान यान से अभीष्ट स्थान पर पहुँचावें तथा उत्तम वीरों से युक्त चक्रवर्ती राज्य से सिद्ध किये हुए धन को प्राप्त करावें। वे हमारे संग्राम में—वृद्धि के निमित्त विजयी होवें। हम उन्हें अपनी रक्षा, सुख-प्राप्ति और शिल्पविद्या में प्रवेश के लिए बार-बार प्राप्त करें, और वे भी हमें प्राप्त हों ॥ १२ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—हे "अश्विदेवो ! तुम दोनों तीनों लोकों में अबाधित गति से चलने वाले रथ के साथ हमारे सम्मुख उत्तम तथा वीर, पुत्र, भृत्यादि से युक्त धन को लाकर प्राप्त कराओ हमारी स्तुति को सुनते हुए तुम दोनों को अपनी रक्षा के लिए हम बुलाते हैं। और तुम दोनों देव संग्राम में हमें बढ़ाने वाले हों ॥"

आचार्य-सायण ने यहां लिखा है कि ये स्वर्गस्थ अश्वि-देव हमारी स्तुति को सुनते हैं, युद्धादि के समय हमारी सहायता करते हैं, हमें वीर-पुत्र, भृत्यादि से युक्त धन प्राप्त कराते हैं और इनका रथ तीनों लोकों में गति करने वाला है। इनका हम आह्वान करते हैं। यह सब सायण की व्याख्या असगंत तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध है। क्योंकि सायण का कल्पित स्वर्ग भी बहुत दूर है, वहां रहने वाले देव हमारी स्तुति को कदापि नहीं सुन सकते। अतः उनका आह्वान करना निरर्थक है। मन्त्रोक्त सभी बातें विद्वान् व्यक्तियों के साथ ही सगंत होती हैं। ये ही शिल्पविद्यादि में चतुर होकर दूसरों को शिल्पविद्या सुनाकर सिखाते हैं। विमानादि यानों की रचना करके धनादि ऐश्वर्य को प्राप्त कराते हैं और ऐसे यानों से संग्रामादि के समय हमारा साहस बढ़ाते हैं। और इन विद्वानों के संपर्क से हम शिल्पविद्यादि को जोहवीमि=बार-बार ग्रहण करते हैं। आचार्य सायण ने इस पद का आह्वयामि=बुलाता हूँ' यह अर्थ असंगत किया है। क्योंकि इस पद की सिद्धि 'हु दानादानयोः' धातु से भी होती है। जिसके अनुसार 'ग्रहण करना' अर्थ भी प्रामाणिक है। पौराणिक जगत् में देवों के आह्वान तथा विसर्जन की क्रियाओं का मूलकरण यह सायण-भाष्य ही है। जिसमें मिथ्या कल्पनाओं को जन्म देकर वेदार्थ का बहुत अनर्थ किया है। और सायण ने ऐसे काल्पनिक तथा निष्क्रिय देवों की आराधना बताकर और एकेश्वर-पूजा से विमुख करके मानवजाति को निष्क्रिय बनाने का महापाप किया है। और मन्त्रों अथवा सूक्तों के प्रारम्भ में जो ऋषियों के नाम लिखे हैं, वे मन्त्रार्थ के प्रथम द्रष्टा होने से ही स्मरणार्थ उल्लि-

---

१. हे अश्विना! त्रिवृता रथेन अप्रतिहतगतित्वात् त्रिषु लोकेषु वर्त्तमानेन रथेन सह नः अस्माकम् अर्वाञ्चम् अभिमुखं सुवीरं शोभनैर्वीरैः पुत्रभृत्यादिभिरुपेतं रयिं धनम् आवहतम् आनीय प्रापयतम्। श्रृण्वन्ता अस्मादीयस्तुतिं श्रृण्वन्तौ वां युवाम् अवसे अस्मद् रक्षणार्थं जोहवीमि आह्वयामि। नः अस्माक वाजसातौ संग्रामे वृधे वर्धनाय च भवतम् ॥ (सायणः)

खित हैं। उनका मन्त्रार्थ करने में कोई उपयोग नहीं है। महर्षि-दयानन्द ने अपनी इस प्रामाणिक मान्यता का सर्वत्र पालन किया है। किन्तु आचार्य-सायण ने इन ऋषि-नामों को भी मन्त्रार्थ के साथ घसीटने का दुष्प्रयत्न भी किया है। ये ऋषि मन्त्रार्थ में सहायक होते हैं, तो सर्वत्र होने चाहिएँ। परन्तु कहीं मन्त्रार्थ के साथ संगति लगाने के लिए खींचातानी करना और कहीं छोड़ देना इससे सायण की अधूरी व मिथ्या मान्यता की ही पुष्टि होती है। इसी ३४ वें सूक्त का ऋषि है—आङ्गिरसो हिरण्यस्तूपः। किन्तु सायण-भाष्य में इस ऋषि-नाम की सगंति किसी मन्त्र में भी नहीं है। अतः जहां सायण की यहां प्रतिज्ञा-हानि हुई है, वहां उनकी मिथ्या मान्यता का खण्डन उनके भाष्य से ही हो रहा है ॥ १२ ॥

पूर्वापरसङ्गतिमाह—पूर्वेण सूक्तेनैतद् विद्यासाधकेन्द्रोऽर्थः प्रतिपादितोऽनेन सूक्तेन ह्येतस्या विद्याया मुख्यौ साधकावश्विनौ द्यावापृथिव्यादिकौ च प्रतिपादितौ स्तः, इत्येतदर्थस्य पूर्वार्थेन सह सङ्गतिरस्तीति विज्ञेयम् ॥ ३४ ॥

पूर्वापर-सङ्गति—पूर्व सूक्त में इस शिल्पविद्या के साधक 'इन्द्र' के अर्थ का प्रतिपादन किया गया है, और इस सूक्त में इस शिल्पविद्या के मुख्य साधक अश्विनौ (शिल्पी जन) और द्यावापृथिवी (अग्नि, जल, आदि) का प्रतिपादन किया है, इसलिए इस सूक्त के अर्थ की पूर्व सूक्त के अर्थ के साथ संगति है, ऐसा जानो ॥ ३४ ॥

इति प्रथमाष्टके तृतीयाध्याये पञ्चमो वर्गः,
प्रथममण्डले सप्तमानुवाके चतुस्त्रिंशं सूक्तं च समाप्तम् ॥

यह पहिले अष्टक के तीसरे अध्याय में पांचवां वर्ग;
और पहिले मण्डल के सातवें अनुवाक में चौतीसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥ ३४ ॥

अथ पञ्चत्रिंशं सूक्तम् ॥

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **अग्निर्मित्रावरुणौ रात्रिः सविता च** (अग्निः, प्राणः, उदानः, रात्रिः सूर्यश्च) देवता। विराड्जगती छन्दः। निषादः स्वरः ॥

तत्राग्न्यादिगुणान् विज्ञाय कृतकृत्यो भवेदित्युपदिश्यते ॥

अब पैंतीसवें सूक्त का आरम्भ है। इसके पहिले मन्त्र में अग्नि आदि के गुणों को जान के सब प्रयोजन सिद्ध करे, यह उपदेश किया जाता है ॥

ह्वयाम्यग्निं प्रथमं स्वस्तय आ ह्वयामि मित्रावरुणावि॒हावसे ।
ह्वयामि रात्रीं जगतो निवेशनीं ह्वयामि देवं सवितारमूतये ॥ १ ॥

ह्वयामि । अग्निम् । प्रथमम् । स्वस्तये । ह्वयामि । मित्रावरुणौ । इह । अवसे । ह्वयामि । रात्रीम् । जगतः । निऽवेशनीम् । ह्वयामि । देवम् । सवितारम् । ऊतये ॥ १ ॥

पदार्थः—(ह्वयामि) स्पर्धामि (अग्निम्) रूपगुणम् (प्रथमम्) जीवनस्यादिमनिमित्तम् (स्वस्तये) सुशोभनमिष्टं सुखमस्ति यस्मात्तस्मै सुखाय (ह्वयामि) स्वीकरोमि (मित्रावरुणौ) मित्रः=प्राणो वरुण=उदानस्तौ (इह) अस्मिन् शरीरधारणदिव्यव्यवहारे (अवसे) रक्षणाद्याय (ह्वयामि) प्राप्नोमि

(**रात्रिम्**) सुर्याभावादन्धकाररूपाम् [**जगतः**] संसारस्य [**निवेशनीम्**] निविशन्ति यस्यां ताम् (**ह्वयामि**) गृह्णामि (**देवम्**) द्योतनात्मकं (**सवितारम्**) सूर्यलोकम् (**ऊतये**) क्रियासिद्धीच्छायै ॥ १ ॥

अन्वयः--अहमिह स्वस्तये प्रथममग्निं ह्वयाम्यवसे मित्रावरुणौ ह्वयामि जगतो निवेशनीं रात्रीं ह्वयाम्यूतये सवितारं देवं ह्वयामि ॥ १ ॥

सपदार्थान्वयः—अहमिह अस्मिन् शरीरधारणादिव्यवहारे **स्वस्तये** सुशोभनमिष्टं सुखमस्ति यस्मात्तस्मै सुखाय **प्रथमं** जीवनस्यादिमनिमित्तम् **अग्निं** रूपगुणं **ह्वयामि** स्पर्धामि, **अवसे** रक्षणाद्याय **मित्रावरुणौ** मित्रः=प्राणो वरुणः=उदानस्तौ **ह्वयामि** स्वीकरोमि, **जगतः** संसारस्य **नीवेशनीं** निविशन्ति यस्यां तां **रात्रीं** सूर्य्याभावादन्धकाररूपां **ह्वयामि** प्राप्नोमि, **ऊतये** क्रियासिद्धीच्छायै **सवितारं** सूर्यलोकं **देवं** द्योतनात्मकं **ह्वयामि गृह्णामि** ॥ १ ॥

भाषार्थ—मैं (**इह**) इस शरीर-धारण आदि व्यवहार में (**स्वस्तये**) उत्तम सुख के लिए (**प्रथमम्**) जीवन के आदिम निमित्त (**अग्निम्**) रूप गुणवाले अग्नि की (**ह्वयामि**) इच्छा करता हूँ; (**अवसे**)रक्षा आदि के लिए (**मित्रावरुणौ**) मित्र=प्राण, वरुण=उदान को (**ह्वयामि**) स्वीकार करता हूँ, (**जगतः**)संसार की (**निवेशनीम्**) निद्रा में निवेश कराने वाली (**रात्रीम्**) सूर्य के अभाव से अन्धकार रूप रात्रि को (**ह्वयामि**) प्राप्त करता हूँ; (**ऊतये**) क्रिया-सिद्धि की इच्छा के लिए (**देवम्**) प्रकाशात्मक (**सवितारम्**) सूर्य को ग्रहण करता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थः—मनुष्यैरहर्निशं सुखायाग्निवायुसूर्याणां सकाशादुपयोगं गृहीत्वा सर्वाणि सुखानि प्राप्याणि, नैतदादिना विना कदाचित् कस्यचित् सुखं संभवतीति ॥ १ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य दिन-रात सुख के लिए अग्नि, वायु और सूर्य से उपयोग ग्रहण करके, सब सुखों को प्राप्त करें; इत्यादि के विना कभी किसी को सुख नहीं होता ॥ १ ॥

भाष्यसार—मनुष्य अग्नि आदि के गुणों को जानकर कृत कृत्य हो--मनुष्य इस शरीर-धारण आदि व्यवहार में उत्तम सुख की प्राप्ति के लिए जीवन के आदिम निमित्त अग्नि की कामना करे। वह अपनी रक्षा आदि के लिए प्राण और उदान को स्वीकार करे। वह संसार को निद्रा में निवेश कराने वाली रात्रि को प्राप्त करे। वह क्रिया-सिद्धि के लिये प्रकाशात्मक सूर्य को ग्रहण करे। तात्पर्य यह है कि मनुष्य अग्नि, प्राण, उदान, रात्रि और सूर्य से उपयोग ग्रहण करके सब सुखों को प्राप्त करे।

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"मैं अपने विनाश को दूर करने तथा अपनी रक्षा के लिए अग्निदेव को, मित्र-वरुण देवों को सब प्राणियों को विश्राम देने वाली रात्रिदेवता को और सविता=सूर्यदेव को बुलाता हूँ ॥"

यहां सायणाचार्य ने अग्नि, मित्र, वरुणादि शब्दों की कोई व्याख्या नहीं की है, केवल इन विभिन्न देवों का मन्त्रार्थ में आह्वान मात्र ही दर्शाया है। यह सायण की भ्रान्ति है कि ये अग्नि आदि देव आह्वान पर हमारी रक्षा के लिये आते हैं। अपनी रक्षा के लिए रात्रिदेवता आदि का आह्वान करना इत्यादि क्या उपहास्यास्पद नहीं है ? यथार्थ में ह्वयामि पद में ह्वेञ् स्पर्धायाम् (स्पर्धा)=इच्छा धातु है, जिसके अनुसार अग्नि आदि जड़ देवों के गुणों को जानकर इनसे सुख-प्राप्ति के लिए स्पर्धा (इच्छा) का ही

१. स्वस्तये अस्माकमविनाशाय **प्रथमम्** अदौ **अग्निं ह्वयामि**। इह अस्मिन् कर्मणि **अवसे** अस्मद्रक्षणाय **मित्रावरुणौ ह्वयामि**। जगतः जङ्गमस्य प्राणिजातस्य निवेशनीम् उपवेशनहेतुभूतां **रात्रीं** रात्रिदेवतां **ह्वयामि**। ऊतये अस्मद्रक्षणायं **सवितारं देवं ह्वयामि** ॥ (सायणः)

मन्त्र में वर्णन है। ये अग्नि, सूर्यादि देव जड़ होने से स्वयं किसी को सुख व दुःख देने अथवा इधर-उधर बुलाने पर जाने में कदापि समर्थ नहीं हैं। मन्त्र में 'स्वस्तये' 'अवसे' 'ऊतये' इन तीनों पदों की व्याख्या भी सायण ने मिथ्या की है। 'स्वस्तये'=अविनाशाय' तथा 'अवसे व ऊतये' पदों का रक्षा ही अर्थ ठीक नहीं है। 'स्वस्ति' पद का कल्याण या सुख अर्थ तो ठीक है, किन्तु इस पद का अविनाश अर्थ कल्पित ही है। 'अवसे व ऊतये' पदों में 'अव' धातु है। इसके धातुपाठ में १९ अर्थ दिये हैं। यदि इनका एक ही अर्थ होता तो दोनों पदों का मन्त्र में प्रयोग निरर्थक हो जायेगा, जब कि एक ही से अर्थ की सिद्धि हो जाती। महर्षि-दयानन्द ने अग्नि के साथ 'रक्षा करना' और सविता के साथ 'क्रिया-सिद्धि' अर्थ किया है, जो प्रकरण के अनुसार संगत है ॥ १ ॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **सविता** (ईश्वरः सूर्यश्च) देवता। विराट् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

अथ सूर्यलोकगुणा उपदिश्यन्ते ॥

अब सूर्यलोक के गुणों का उपदेश किया जाता है ॥

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च ।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥ २ ॥

आ । कृष्णेन । रजसा । वर्त्तमानः । निऽवेशयन् । अमृतम् । मर्त्यम् । च । हिरण्ययेन । सविता । रथेन । आ । देवः । याति । भुवनानि । पश्यन् ॥ २ ॥

पदार्थः—(**आ**) समन्तात् (**कृष्णेन**) कर्षति येन स कृष्णस्तेन। यद्वा कृष्णवर्णेन लोकेन। **कृष्णं कृष्यतेर्निकृष्टो वर्णः**। निरु० २। २०। **यत्कृष्णं तदन्नस्य**। छान्दो० ६। ४। एताभ्यां प्रमाणाभ्यां पृथिवीलोका अत्र गृह्यन्ते। **कृषेर्वर्णे**। उ० ३। ४। इति नक् प्रत्ययः। अत्राङ्पूर्वकत्वादाकर्षणार्थो गृह्यते (**रजसा**) लोकसमूहेन सह। **लोका रजांस्युच्यन्ते**। निरु० ४। १९। (**वर्त्तमानः**) वर्त्ततेऽसौ वर्त्तमानः (**निवेशयन्**) नितरां स्वस्वसामर्थ्ये स्थापयन् (**अमृतम्**) अन्तर्यामितया वेदद्वारा च मोक्षसाधकं सत्यं ज्ञानं वृष्टिद्वाराऽमृतात्मकं रसं वा (**मर्त्यम्**) कर्मप्रलयप्राप्तिव्यवस्थया कालव्यवस्थया वा मरणधर्मयुक्तम् प्राणिनम् (**च**) समुच्चये (**हिरण्ययेन**) ज्योतिर्मयेनानन्तेन यशसा तेजोमयेन वा। **ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानि छन्दसि**। अ० ६। ४। १७५। इत्ययं निपातितः। **ज्योतिर्हि हिरण्यम्**। श० ४। ३। १। २१। (**सविता**) सर्वेषां प्रसविता प्रकाशवृष्टिरसानां च प्रसविता (**रथेन**) रंहति=जानाति गच्छति गमयति वा येन तेन। **रथो रंहतेर्गतिकर्मणः**। निरु० ९। ११। (**आ**) समन्तात् (**देवः**) दीव्यति=प्रकाशयतीति (**याति**) प्राप्नोति प्रापयति वा। अत्र पक्षेऽन्तर्गतो ण्यर्थः। (**भुवनानि**) भवन्ति भूतानि येषु तानि। **भूसू०**। उ० २। ७८। इत्यधिकरणे क्युन् प्रत्ययः। (**पश्यन्**) प्रेक्षमाणो दर्शयन् वा। अत्रापि पक्षेऽन्तर्गतो ण्यर्थः ॥ २ ॥

प्रमाणार्थ—(**कृष्णेन**) निरुक्त (२। २०) के अनुसार 'कृष्ण' शब्द 'कृष' धातु से सिद्ध होता है, इसका अर्थ 'निकृष्ट वर्ण है'। छान्दोग्य उपनिषद् (६। ४) के अनुसार अन्न का कृष्ण वर्ण है। इन दो प्रमाणों से यहां कृष्ण पद से पृथ्वीलोकों का ग्रहण होता है, 'कृषेर्वर्णे' (३। ७) इस उणादि सूत्र से यहाँ 'नक्' प्रत्यय है, आङ् उपसर्ग पूर्वक होने से आकर्षण अर्थ ग्रहण किया जाता है। (**रजसा**) निरुक्त (४। १९) के अनुसार लोक 'रजांसि' कहे जाते हैं। (**हिरण्ययेन**) 'ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्वमाध्वी-हिरण्ययानि छन्दसि' (अ० ६। ४। १७५) इस सूत्र से यह पद निपातन से सिद्ध है, शतपथब्राह्मण

(४।३।१।२१) के अनुसार 'हिरण्य' का अर्थ ज्योति है। (**रथेन**) निरुक्त (९।११) के अनुसार 'रथ' शब्द गति अर्थ वाली 'रंह' धातु से सिद्ध होता है। (**भुवनानि**) यहां भूसू० (२।७८) इस उणादि सूत्र से अधिकरण कारक में 'क्युन्' प्रत्यय है॥ २॥

अन्वयः—अयं सविता देवः परमेश्वर आकृष्णेन रजसा सहाभिव्याप्य वर्त्तमानः सर्वस्मिन् जगत्यमृतं मर्त्यं च निवेशयन् सन् हिरण्ययेन यशोमयेन ज्ञानरथेन युक्तो भुवनानि पश्यन्नायाति समन्तात् सर्वान्पदार्थान् प्राप्नोतीति पूर्वोऽन्वयः। अयं सविता देवः सूर्यलोकः कृष्णेन रजसा सह वर्त्तमानोऽस्मिन् जगत्यमृतं मर्त्यं च निवेशयन् हिरण्ययेन रथेन भुवनानि पश्यन् दर्शयन् सन्नायाति समन्ताद्वृष्ट्यादिरूपविभागं च प्रापयतीत्यपरोऽन्वयः॥ २॥

[परमेश्वरः]

सपदार्थान्वयः—**अयं सविता** सर्वेषां प्रसविता **देवः=परमेश्वरः** दीव्यति=प्रकाशयतीति **आकृष्णेन** समन्तात् कर्षति येन स कृष्णस्तेन **रजसा** लोकसमूहेन **सह अभिव्याप्य वर्त्तमानः** वर्त्ततेऽसौ वर्त्तमानः **सर्वस्मिन् जगति अमृतम्** अन्तर्यामितया वेदद्वारा च मोक्षसाधकं सत्यं ज्ञानं **मर्त्यं** कर्मप्रलयप्राप्तिव्यवस्थया मरणधर्मयुक्तं प्राणिनं **च निवेशयन्** नितरां स्वस्वसामर्थ्ये स्थापयन् सन् **हिरण्ययेन=यशोमयेन** ज्योतिर्मयेनानन्तेन यशसा [**रथेन**] **ज्ञानरथेन** रंहति=जानाति येन तेन **युक्तो भुवनानि** भवन्ति भूतानि येषु तानि **पश्यन्** प्रेक्षमाणः **आ+याति=समन्तात् सर्वान्पदार्थान् प्राप्नोति**॥

[परमेश्वर]

भाषार्थ—यह (**सविता**) सबको उत्पन्न करनेवाला (**देवः**) सब का प्रकाशक **परमेश्वर** (**आकृष्णेन**) अपनी आकर्षण शक्ति से (**रजसा**) लोक-समूह के साथ व्यापक होकर (**वर्त्तमानः**) वर्त्तमान, सब जगत् में (**अमृतम्**) अन्तर्यामी रूप से और वेद के द्वारा मोक्ष-साधक सत्यज्ञान को (**च**) और (**मर्त्यम्**) कर्म और प्रलय-प्राप्ति की व्यवस्था से मरणधर्मा प्राणी को (**निवेशयन्**) सर्वथा अपने-अपने सामर्थ्य में स्थापित करता हुआ (**हिरण्ययेन**) ज्योतिर्मय अनन्त यश से युक्त [**रथेन**] ज्ञानरूप रथ से युक्त होकर (**भुवनानि**) लोकों को (**पश्यन्**) देखता हुआ (**आ+याति**) सब ओर से सब पदार्थों को प्राप्त होता है॥

[सूर्यलोकः]

अयं सविता प्रकाशवृष्टिरसानां प्रसविता **देवः=सूर्यलोकः** दीव्यति=प्रकाशयतीति **कृष्णेन** कृष्णवर्णेन लोकेन **रजसा** लोकसमूहेन **सह वर्त्तमानः** वर्त्ततेऽसौ वर्त्तमानः **अस्मिन् जगति अमृतं** वृष्टिद्वारा अमृतात्मकं रसं **मर्त्यं** कालव्यवस्थया मरणधर्मयुक्तं प्राणिनं **च निवेशयन्** नितरां स्वस्वसामर्थ्ये स्थापयन् **हिरण्ययेन** तेजोमयेन **रथेन** रंहति=गच्छति=गमयति वा येन तेन **भुवनानि** भवन्ति भूतानि येषु तानि **पश्यन्=दर्शयन् सन् आ+याति=समन्तात् वृष्ट्यादिरूपविभागं च प्रापयति**॥ २॥

[सूर्यलोक]

यह (**सविता**) प्रकाश, वृष्टि और रसों को उत्पन्न करनेवाले (**देवः**) प्रकाशक सूर्य (**कृष्णेन**) कृष्ण वर्ण वाले=प्रकाश रहित (**रजसा**) लोक-समूह के साथ (**वर्त्तमानः**) वर्त्तमान होकर इस जगत् में (**अमृतम्**) वर्षा के द्वारा अमृतस्वरूप रस को (**च**) और (**मर्त्यम्**) काल-व्यवस्था से मरणधर्मा प्राणी को (**निवेशयन्**) सर्वथा अपने-अपने सामर्थ्य में स्थापित करता हुआ (**हिरण्ययेन**) तेजोमय (**रथेन**) गति से (**भुवनानि**) लोकों को (**पश्यन्**) दिखलाता हुआ (**आ+याति**) सब ओर से वर्षा आदि और रूप-विभाग को प्राप्त कराता है॥ २॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः। यथा पृथिव्यादयो लोकाः सर्वान् मनुष्यादीन् धरन्ति सूर्य-

भावार्थ—यहां श्लेष अलंकार है। जैसे पृथ्वी आदि लोक सब मनुष्य आदि को धारण करते

लोक आकर्षणेन पृथिव्यादीन् धरति। ईश्वरः स्वसत्तया सूर्यादीन् लोकान् धरति। एवं क्रमेण सर्वलोकधारणं प्रवर्त्तते नैतेन विनान्तरिक्षे कस्यचिद् गुरुत्वयुक्तस्य लोकस्य स्वपरिधौ स्थितेः सम्भवोस्ति। नैव लोकानां भ्रमणेन विना क्षणमुहूर्त्त-प्रहराहोरात्रपक्षमासर्तुसंवत्सरादयः कालावयवा उत्पत्तुं शक्नुवन्तीति ॥ २ ॥

हैं। सूर्यलोक आकर्षण से पृथ्वी आदि को धारण करता है, और ईश्वर अपनी सत्ता से सूर्य आदि लोकों को धारण करता है। इस प्रकार क्रम से सब लोकों का धारण हो रहा है। इसके विना अन्तरिक्ष में किसी भारयुक्त लोक का अपनी परिधि में स्थित रहना सम्भव नहीं है। और लोकों के भ्रमण के विना क्षण, मुहूर्त्त, प्रहर, दिन-रात, मास, ऋतु, वर्ष आदि काल के अवयव उत्पन्न नहीं हो सकते ॥ २ ॥

भाष्यसार—**ईश्वर के गुण**—परमेश्वर सब को उत्पन्न करनेवाला और सबका प्रकाशक है। वह अपनी आकर्षण-शक्ति से लोकों के साथ व्यापक होकर वर्त्तमान है। वह सब जगत् में अन्तर्यामी रूप से तथा वेद के द्वारा सत्यज्ञान को स्थापित करता है। वह कर्म और प्रलय-प्राप्ति की व्यवस्था से मरणधर्मा प्राणियों को अपने-अपने सामर्थ्य में रखता है। वह ज्योतिर्मय ज्ञानरूप रथ से युक्त हुआ सब लोकों को देखता है, और वह सब ओर से सब पदार्थों को प्राप्त हो रहा है।

सूर्य के गुण—सूर्य—प्रकाश, वृष्टि और रसों को उत्पन्न करनेवाला और पदार्थों का प्रकाशक है। वह कृष्ण वर्ण वाले अर्थात् प्रकाशरहित पृथिवी आदि लोकों के साथ वर्त्तमान है। वह इस जगत् में वर्षा के द्वारा अमृत रूप रस को स्थापित करता है। वह काल-व्यवस्था से मरणधर्मा प्राणियों को अपने-अपने सामर्थ्य में रखता है। वह अपनी तेजोमय गति से लोकों को दिखलाता है। वह सब ओर से वर्षा आदि और रूप विभाग को प्राप्त कराता है ॥ २ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में श्लेष अलंकार होने से 'सविता' पद से परमेश्वर और सूर्य अर्थ का ग्रहण होता है ॥ २ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"सविता (सूर्य) देव काले रंग से (अन्धकार से) पूर्ण अन्तरिक्षलोक में बार-बार आता हुआ, देवों और मनुष्यों को अपने-अपने स्थान पर रखता हुआ अथवा मरणरहित प्राण तथा मरणशील शरीर को स्थापित करता हुआ और समस्त लोकों को प्रकाशित करता हुआ सोने से निर्मित रथ के द्वारा हमारे समीप प्राप्त होता है।"

इस मन्त्र का देवता 'सविता' है। जिसकी व्याख्या सायण-भाष्य में 'सूर्य' की है। अन्तरिक्षस्थ अन्धकार को दूर करके प्राणियों को अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त करना तथा लोकों को प्रकाशित करनादि कार्य सूर्य के ही हैं। किन्तु सायण-भाष्य में इस पृथिवी से लाखों गुणा बड़े सूर्य का सोने से निर्मित रथ से गति करना तथा जड़-सूर्य का सब लोकों को देखना रूप अर्थ यहां सर्वथा असंगत है। यह हम सभी जानते हैं कि गर्मी के समय यह सूर्य बहुत दूर रहता हुआ भी हमें कितना अधिक सन्तप्त कर देता है। किन्तु उस सूर्य को अपने समीप बुलाना कैसे संभव है? क्या सूर्य के समीप होने पर

---

१. सविता सूर्यः कृष्णेन रजसा कृष्णवर्णेन लोकेन, अन्तरिक्षलोको हि सूर्यागमनात् पुरा कृष्णवर्णो भवति, तेनान्तरिक्षमार्गेण आवर्त्तमानः पुनः पुनरागच्छन् अमृतं देवं मर्त्यं मनुष्यं च निवेशयन् स्वस्वस्थानेऽवस्थापयन्। यद्वा। अमृतं मरणरहितं प्राणं मरणरहितं शरीरं च निवेशयन्। यथोक्तगुणोपेतः सविता देवः भुवनानि सर्वान् लोकान् पश्यन् अवेक्षमाणः प्रकाशयन्नित्यर्थः। हिरण्ययेन सुवर्णनिर्मितेन रथेन आयाति अस्मत्समीपमागच्छति ॥ (सायणः)

हमारे भौतिक-शरीर सुरक्षित रह सकते हैं ? इन सब वैज्ञानिक तथा प्रत्यक्ष बातों से अनभिज्ञ होकर सायण ने बहुत ही कल्पित व्याख्या की है। सायण के भाष्य का एक प्रमुख दोष यह भी है कि उन्होंने केवल लोकरूढ़ अर्थों का आश्रय करके ही वेदार्थ कर डाला, चाहे उसकी संगति हो या न हो, इसका ध्यान नहीं रक्खा। इस पृथिवी से लाखों गुणा बड़े सूर्य के लिए कितना बड़ा रथ चाहिए ? और वह इस पृथिवी पर कैसे समा सकता है ? क्या इस सूर्य के समीप आने पर मनुष्यों की रक्षा सम्भव है ? इत्यादि बातों का विचार सायण ने बिल्कुल भी नहीं किया।

महर्षि-दयानन्द ने इस मन्त्र की सूर्य-परक व्याख्या भी की है। किन्तु उसमें ऐसी कोई असंगति नहीं है। उन्होंने शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण से 'हिरण्य' का अर्थ 'ज्योति=तेज' किया है। और यौगिक प्रक्रिया से 'रथ' का अर्थ 'गति' किया है। और अपने अर्थ की पुष्टि में निरुक्त का प्रमाण भी दिया है। यह भौतिक सूर्य अपनी ज्योतिर्मयी गति से सब लोकों को प्रकाशित करता है। क्योंकि यह जड़देव नेत्रेन्द्रिय न होने से स्वयं देख नहीं सकता, अतः अन्तर्भावितण्यर्थ मानकर महर्षि ने 'पश्यन्=दर्शयन्' अर्थ किया है। यहाँ सायण की 'पश्यन्' की व्याख्या असंगत ही है।

और सायण-भाष्य में 'अमृतम्' की व्याख्या 'देव' की गई है। यह भी उचित नहीं है। देवों और मनुष्यों के निवासस्थान पृथिवी तथा स्वर्ग भिन्न-भिन्न हैं, ऐसा सायण की व्याख्या से बोध हो रहा है। किन्तु ये चेतनदेव मनुष्यों के ही अन्तर्गत हैं, पृथक् नहीं। अतः महर्षि ने इस पद की व्याख्या 'वृष्टि द्वारा अमृतात्मक रस' की है। क्योंकि सूर्य ही अपनी किरणों से मेघस्थ जलों को छिन्न-भिन्न करके 'वृष्टि के द्वारा अमृत (जल) प्राप्त कराता है। सूर्य के गुणों में इसका निर्देश करना भी आवश्यक था। किन्तु वृष्टि-विज्ञान से अनभिज्ञ सायण ने इस रहस्य को न समझकर कल्पित व्याख्या ही की है। महर्षि-दयानन्द की इस मन्त्र की सुसंगत तथा प्रामाणिक व्याख्या एवं श्लेष द्वारा ईश्वर-परक व्याख्या पठनीय है ॥ २ ॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **सविता** (सूर्यः) देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

अथ वायुसूर्य्यदृष्टान्तेन शूरवीरगुणा उपदिश्यन्ते ॥

अब वायु और सूर्य के दृष्टान्त से शूरवीर के गुणों का उपदेश किया जाता है ॥

यातिं देवः प्रवता यात्युद्वता यातिं शुभ्राभ्यां यजतो हरिभ्याम् ।
आ देवो यांति सविता परावतोऽप विश्वा दुरिता बाधमानः ॥ ३ ॥

यातिं । देवः । प्रऽवता । याति । उत्ऽवता । याति । शुभ्राभ्याम् । यजतः । हरिऽभ्याम् । आ । देवः । याति । सविता । पराऽवतः । अप । विश्वा । दुःइता । बाधमानः ॥ ३ ॥

पदार्थः— (**याति**) गच्छति (**देवः**) द्योतको वायुः (**प्रवता**) अधोमार्गेण। अत्र **प्रपूर्वकात्सम्भजनार्थाद्वनधातोः क्विप्** (**याति**)प्राप्नोति (**उद्वता**) ऊर्ध्वमार्गेण (**याति**) गच्छति (**शुभ्राभ्याम्**) शुद्धाभ्याम् (**यजतः**) संगन्तुं योग्यः (**हरिभ्याम्**) कृष्णशुक्लपक्षाभ्याम् (**आ**) अभ्यर्थे (**देवः**) प्रकाशकः (**याति**) प्राप्नोति(**सविता**) सूर्यलोकः (**परावतः**)। दूरमार्गान् **परावत इति दूरनामसु पठितम्**। निघं० ३। २६ (**अप**) दूरार्थे (**विश्वा**) विश्वानि= सर्वाणि (**दुरिता**) दुष्टानि दुःखानि। अत्रोभयत्र **शेश्छन्दसि०** इति लोपः (**बाधमानः**) दूरीकुर्वन् ॥ ३ ॥

प्रमाणार्थ—(**प्रवता**) यहाँ 'प्र' उपसर्ग पूर्वक संभजन अर्थ वाली 'वन' धातु से 'क्विप्'

प्रत्यय है। (**परावतः**) यह पद निघण्टु (२ । २६) में दूर-नामों में पढ़ा है। (**विश्वा, दुरिता**) यहां दोनों स्थानों में 'शेश्छन्दसि० (अ० ६ । १ । ७०) इस सूत्र से 'शि' का लोप है ॥ ३ ॥

अन्वयः—हे राजपुरुषा भवन्तो यथा विश्वानि दुरितान्यपबाधमानो यजतो देवो वायुः प्रवता मार्गेण यात्युद्वता मार्गेण यात्यायाति च यथा च विश्वा दुरिता सर्वाणि दुःखप्रदान्यन्धकारादीनि बाधमानो यजतः सविता देवः सूर्यलोकः शुभ्राभ्यां हरिभ्यां हरणसाधनाभ्यामहोरात्राभ्यां कृष्णशुक्लपक्षाभ्यां परावतो दूरस्थान् पदार्थान् स्वकिरणैः प्राप्य पृथिव्यादीन् लोकान् याति प्राप्नोति तथा युद्धाय शूरवीरा गमनागमनाभ्यां प्रजाः सततं सुखयन्तु ॥ ३ ॥

सपदार्थान्वयः—हे राजपुरुषा ! भवन्तो यथा [विश्वा] विश्वानि विश्वानि=सर्वाणि [दुरिता] दुरितानि दुष्टानि=दुःखानि अपबाधमानः दूरीकुर्वन् यजतः संगन्तुं योग्यः देवः=वायुः द्योतको वायुः प्रवता=मार्गेण अधोमार्गेण याति गच्छति, उद्वता ऊर्ध्वमार्गेण याति प्राप्नोति आयाति च। यथा च विश्वा विश्वानि=सर्वाणि [दुरिता] =सर्वाणि दुःखप्रदान्यन्धकारादीनि बाधमानः दूरीकुर्वन् यजतः संगन्तुं योग्यः देवः प्रकाशकः [सूर्यलोकः] सविता सूर्यलोकः शुभ्राभ्यां शुद्धाभ्यां हरिभ्यां=हरणसाधनाभ्यामहोरात्राभ्यां कृष्णशुक्लपक्षाभ्यां परावतः=दूरस्थान् पदार्थान् स्वकिरणैः प्राप्य पृथिव्यादीन् लोकान् [आ] याति =प्राप्नोति, तथा युद्धाय शूरवीरा गमनागमनाभ्यां प्रजाः सततं सुखयन्तु ॥ ३ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथा ईश्वरोत्पादितायां सृष्टौ वायुरधऊर्ध्वसमगत्या गच्छन्नधस्थानुपर्युपरिस्थानध आनयति यथायमहोरात्रादिभ्यां हरणशीलाभ्यां स्वकिरणयुक्ताभ्यां युक्तः सविता देवोऽन्धकाराद्यपवारणेन दुःखानि विनाश्य सुखानि प्रकटय्य कदाचित् सुखानि निवार्य्य दुःखानि प्रकटयति तथा सभापत्यादिभिरपि सेनादिभिः सह गत्वागत्य च शत्रून् जित्वा प्रजापालनमनुष्ठेयम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—हे राजपुरुषो ! आप—जैसे [विश्वा] सब [दुरिता] दुःखों को (**अपबाधमानः**) दूर करता हुआ (**यजतः**) संग करने योग्य (**देवः**) ज्ञान-प्रकाशक वायु (**प्रवता**) अधोमार्ग से (**याति**) जाता है और (**उद्वता**) ऊर्ध्व मार्ग से (**याति**) जाता और आता है। और—जैसे (**विश्वा**) सब [दुरिता] दुःखदायक अन्धकार आदि को (**बाधमानः**) दूर करता हुआ (**यजतः**) संग करने योग्य (**देवः**) प्रकाशक (**सविता**) सूर्य (**शुभ्राभ्याम्**) शुद्ध (**हरिभ्याम्**) हरण के साधन दिन-रात तथा कृष्ण और शुक्ल पक्षों से (**परावतः**) दूरस्थ पदार्थों को अपनी किरणों से प्राप्त करके पृथिवी आदि लोकों को प्राप्त होता है,— वैसे युद्ध के लिए शूरवीर गमन-आगमन से प्रजा को सदा सुखी करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—यहां वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। जैसे ईश्वर की उत्पन्न की हुई सृष्टि में वायु ऊपर, नीचे और समगति से चलता हुआ नीचे वाले पदार्थों को ऊपर और ऊपर वालों को नीचे लाता है, और जैसे यह दिन रात से तथा हरणशील अपनी किरणों से युक्त सूर्य देव, अन्धकार आदि को दूर करने से दुःखों का नाश करके सुखों को प्रकट कर एवं कभी सुखों को दूर करके दुखों को प्रकट करता है वैसे ही सभापति आदि भी सेना के साथ गमन और आगमन कर के शत्रुओं को जीतकर, प्रजा का पालन करें ॥ ३ ॥

भाष्यसार—**वायु और सूर्य के दृष्टान्त से शूरवीर के गुणों का उपदेश**—जैसे सब दुःखों को दूर करता हुआ वायु अधोमार्ग से और ऊर्ध्वमार्ग से जाता-आता है वैसे शूरवीर युद्ध के लिए गमन-आगमन करे। और जैसे सब दुःखदायक अन्धकार आदि को दूर करता हुआ सूर्य दिन-रात तथा

शुक्ल और कृष्ण पक्षों को उत्पन्न कर दूरस्थ पदार्थों को अपनी किरणों से प्राप्त करके पृथिवी आदि लोकों को प्राप्त करता है, वैसे शूरवीर युद्ध के लिए गमन-आगमन करके प्रजा को सदा सुखी करे ॥

अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है, अतः वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि शूरवीर वायु और सूर्य के समान युद्धार्थ गमन- आगमन से प्रजा को सदा सुखी करे ॥ ३ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"प्रकाशमान सूर्य निचले तथा उन्नत मार्गों से गति करता है। अर्थात् उदय होने के बाद सूर्य मध्याह्न होने तक उन्नत मार्ग से तथा उसके बाद सायं तक निचले मार्ग से गति करता है। और वह यज्ञ करने योग्य सूर्य यज्ञ के स्थान पर श्वेत-वर्ण वाले घोड़ों से जाता है और वह सविता देव समस्त पापों का विनाश करता हुआ दूरस्थ द्युलोक से यज्ञ-प्रदेश में प्राप्त होता है।"

इस सायण-भाष्य से विदित होता है कि सायणाचार्य केवल शाब्दिक पण्डित ही था, उसे भूगोल-खगोल की विद्या का लेश-मात्र भी ज्ञान नहीं था। अन्यथा ऐसी मिथ्या व्याख्या क्यों करता कि सूर्य ऊपर-नीचे गति करता है, यह श्वेतवर्ण के घोड़ों से जाता-आता है और यह पापों का विनाश करता हुआ यज्ञ-देश में आता है। वेद में सूर्यादि के विषय में बहुत ही स्पष्ट लिखा है—

(क) आयं गौः पृश्निरक्रमीद् असदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ (य० ३। ६)

अर्थात् ये पृथिव्यादि सब लोक अन्तरिक्ष में भ्रमणशील हैं। यह पृथिवी पिता के समान सूर्य के चारों तरफ चक्र लगाती हुई घूमती है।

(ख) व्यस्तभ्नाद्रोदसी मित्रः ०॥ (ऋ० ४।५।१०।३)

अर्थात् यह सूर्य अपनी परिधि में घूमता हुआ पृथिवी आदि लोकों का धारण कर रहा है।

इत्यादि वैदिक प्रमाणों से स्पष्ट है कि सूर्य अपनी परिधि में ही चक्र लगाता है, और पृथिवी उसके चारों तरफ चक्र लगाती रहती है। इसी से ही ऋतु परिवर्तनादि होते हैं किन्तु सायण ने इस सत्य विज्ञान को नहीं जाना। यह सूर्य हम मनुष्यों को पृथिवी के घूमने से ऊपर नीचे जाता हुआ दीखता है, यथार्थ में यह ऊपर नीचे नहीं होता। महर्षि-दयानन्द ने यहाँ 'देवः' का अर्थ 'वायु' किया है, क्योंकि यह वायु ऊपर नीचे आता-जाता है और मन्त्र के उत्तरार्द्ध में 'सविता' का अर्थ सायण ने भी 'सूर्य' ही किया है, क्योंकि यह सूर्य हरिभ्याम्=धारण-आकर्षण गुणों वाली अपनी किरणों से भूमि आदि को धारण करता हुआ गति करता है। यह सूर्य घोड़ों पर चढ़कर कदापि नहीं आता-जाता। यह सायण का महाभ्रम है। क्या यह पृथिवी से भी लाखों गुणा बड़ा सूर्य घोड़ों पर चढ़कर आते जाते किसी ने देखा है? वे घोड़े कितने बड़े होंगें? उनका आधार क्या होगा? यह सायण ने कुछ भी विचार नहीं किया। और असम्भव बातों को अपनी व्याख्या में लिख गए। यथार्थ में सायण ने यह ही अमरकोषादि में घोटा था कि सूर्य के हरि-नामक दो घोड़े होते हैं और उनका वर्ण सफेद होता है। इसलिए उन्होंने ऐसी

---

१. देवः दीप्यमानः सविता प्रवता प्रवणवता मार्गेण याति गच्छति। तथा उद्वता उत्कृष्टेनोर्ध्व-देशयुक्तेन मार्गेण याति। उदयानन्तरं आमध्याह्नमूर्ध्वो मार्गः, तत उपरि आसायं प्रवणो मार्ग इति विवेकः। तथा यजतः यष्टव्यः स देवः शुभ्राभ्यां श्वेताभ्यां हरिभ्याम् अश्वाभ्यां याति देवयजनदेशे गच्छति। सविता देवः विश्वा दुरिता सर्वाणि पापानि अप बाधमानः विनाशयन् परावतः दूरदेशात् द्युलोकात् आयाति यागदेशे आगच्छति ॥ (सायणः)

व्याख्या की है। महर्षि-दयानन्द ने योग से समस्त तथ्यों का साक्षात् किया था। अतः वे सत्यार्थ-प्रकाश करसके। उन्होंने 'शुभ्रायाम्' तथा 'हरिभ्याम्' का अर्थ 'शुद्ध करने वाली तथा धारण-आकर्षण करने वाली किरणों से' किया है, अथवा 'दिन-रात' व 'शुक्ल-कृष्ण' पक्ष अर्थ किया है।

और सायण की यह भ्रान्त व्याख्या है कि यह सूर्य पापों को दूर करता हुआ यज्ञ-देश में आता-जाता है। क्या यह सूर्य यज्ञ-देश में आ सकता है? यज्ञ में बैठे मनुष्य क्या सूर्य के आने से बच सकते हैं? और भौतिक अग्नि का पुञ्ज सूर्य यजमान की प्रार्थना सुनकर अनुग्रह कर सकता है? ये सब बातें असम्भव तथा प्रत्यक्ष-विरुद्ध हैं। यथार्थ में सूर्य पापों का नाश कदापि नहीं करता है। यह सूर्य दूरस्थ पदार्थों को अपनी किरणों से प्राप्त करता है और दुःखद अन्धकार को और दूषित दुर्गन्धादि को किरणों से हरण कर मनुष्यों के दुःखों को दूर करता है। जड़-सूर्य मनुष्यों के पाप-पुण्यों को जान भी नहीं सकता है और नहीं उनके फल दे सकता है। यह व्यवस्था तो परमेश्वर की है। अतः सायण का समस्त मन्त्रार्थ ही असम्भव तथा मिथ्या बातों से पूर्ण है। सत्यार्थ को जानने के लिये महर्षि की व्याख्या पढ़नी चाहिए ॥ ३ ॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **सविता** (राजा सूर्यश्च) देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनस्तयोर्दृष्टान्तेन राजकृत्यमुपदिश्यते॥

फिर वायु और सूर्य के दृष्टान्त से राजकार्य्य का उपदेश किया जाता है॥

अभीवृतं कृशनैर्विश्वरूपं हिरण्यशम्यं यजतो बृहन्तम्।
आस्थाद्रथं सविता चित्रभानुः कृष्णा रजांसि तविषीं दधानः॥ ४॥

अभिऽवृतम्। कृशनैः। विश्वऽरूपम्। हिरण्यऽशम्यम्। यजतः। बृहन्तम्। आ। अस्थात्। रथम्। सविता। चित्रऽभानुः। कृष्णा। रजांसि। तविषीम्। दधानः॥ ४॥

पदार्थः—(**अभीवृतम्**) अभितः=सर्वतः साधनैः पूर्णो वर्त्तते सोऽभीवृतम्। **नहिवृति०**। ६। ३। ११६। इति पूर्वस्य दीर्घत्वम् (**कृशनैः**) तनूकरणैः सूक्ष्मत्वनिष्पादकैः किरणैर्विविधैरूपैर्वा। **कृशनमिति रूपनामसु पठितम्**। निघं० ३। ७। (**विश्वरूपम्**) विश्वानि=बहूनि रूपाणि यस्मिन् प्रकाशे तम् (**हिरण्यशम्यम्**) हिरण्या=सुवर्णान्यन्यानि वा ज्योतींषि शम्यानि=शमितुं योग्यानि यस्मिंस्तम् (**यजतः**) सङ्गतिप्रकाशयोर्दाता। (**बृहन्तम्**) महान्तम् (**आ**) समन्तात् (**अस्थात्**) तिष्ठति। अत्र **लडर्थे लुङ्**। (**रथम्**) यस्मिन् रमते तम्। **रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा**। निरु० ९। ११। (**सविता**) ऐश्वर्यवान्राजा सूर्यलोको वायुर्वा। **सवितेति पदनामसु पठितम्**। निघं० ५। ४। अनेन प्राप्तिहेतोर्वायोरपि ग्रहणम्। (**चित्रभानुः**) चित्रा भानवो=दीप्तयो यस्य यस्माद्वा सः (**कृष्णा**) कृष्णान्याकर्षणाकृष्णवर्णयुक्तानि पृथिव्यादीनि (**रजांसि**) लोकान् (**तविषीम्**) बलम्। **तविषीति बलनामसु पठितम्**। निघं० २। ९। (**दधानः**) धरन्॥ ४॥

प्रमाणार्थ—(**अभीवृतम्**) यहां 'नहिवृति०' (अ० ६। ३। ११६) इस सूत्र से पूर्वपद को दीर्घ है (**कृशनैः**) 'कृशनम्' यह पद निघण्टु (३। ७) में रूप-नामों में पढ़ा है। (**अस्थात्**) यहाँ 'लट्' लकार के स्थान में 'लुङ्' लकार है। (**रथम्**) इस पद का अर्थ निरुक्त (३। ११) के अनुसार इस प्रकार है—'व्यक्ति रमण करता हुआ इसमें बैठता है, इसलिए यह रथ कहलाता है। (**सविता**) यह पद

निघण्टु (५।४) में पद-नामों में पढ़ा है, पद के अर्थ ज्ञान, गमन और प्राप्ति हैं। यहां प्राप्ति अर्थ का ग्रहण है। (**तविषीम्**) यह पद निघण्टु (२।९) में बल-नामों में पढ़ा है॥ ४॥

अन्वयः—हे सभेश राजँस्त्वं यथा यजतश्चित्रभानुः सविता सूर्यो वायुर्वा कृशनैः किरणैरूपैर्वा बृहन्तं हिरण्यशम्यमभीवृतं विश्वरूपं रथं कृष्णानि रजांसि पृथिव्यादिलोकांस्तविषीं बलं च दधानः सन्नास्थात् समन्तात् तिष्ठति तथा भूत्वा वर्त्तस्व॥

सपदार्थान्वयः—**हे सभेश राजन्! त्वं यथा यजतः** संगतिप्रकाशयोर्दाता **चित्रभानुः** चित्रा भानवो=दीप्तयो यस्य यस्माद्वा स **सविता**=**सूर्य्यो वायुर्वा कृशनैः**=**किरणैरूपैर्वा** तनूकरणैः सूक्ष्मत्वनिष्पादकैः किरणैर्विविधैरूपैर्वा **बृहन्तं** महान्तं **हिरण्यशम्यं** हिरण्या=सुवर्णान्यन्यानि वा ज्योतींषि शम्यानि=शमितुं योग्यानि यस्मिंस्तम् **अभीवृतं** अभितः=सर्वतः साधनैः पूर्णो वर्त्तते सोऽभीवृतं **विश्वरूपं** विश्वानि=बहूनि रूपाणि प्रकाशे तं **रथं** यस्मिन् रमते तं [**कृष्णा**] **कृष्णानि** कृष्णान्याकर्षणकृष्णवर्णयुक्तानि पृथिव्यादीनि **रजांसि**=**पृथिव्यादिलोकान् तविषीं**=**बलं च दधानः** धरन् **सन् आ**+**अस्थात्**=**समन्तात् तिष्ठति, तथा भूत्वा वर्त्तस्व॥ ४॥**

भाषार्थ—हे सभाध्यक्ष राजन्! आप—जैसे (**यजतः**) संगति और प्रकाश का दाता (**चित्रभानुः**) विचित्र दीप्ति=प्रकाश से युक्त (**सविता**) सूर्य और वायु (**कृशनैः**) सूक्ष्मता की निष्पादक किरणों से या विविध रूपों से (**बृहन्तम्**) महान् (**हिरण्यशम्यम्**) हिरण्य=सुवर्ण या अन्य ज्योतियों को शान्त करनेवाले (**अभीवृतम्**) सब ओर से साधनों से पूर्ण (**विश्वरूपम्**) विविध रूपवाले प्रकाश से युक्त (**रथम्**) रथ को, [**कृष्णा**] आकर्षण और कृष्ण वर्ण से युक्त (**रजांसि**) पृथिवी आदि लोकों और (**तविषीम्**) बल को (**दधानः**) धारण करता हुआ (**आ+अस्थात्**) सब ओर अवस्थित होता है—वैसे होकर अपना वर्ताव करो॥ ४॥

भावार्थः— अत्र श्लेषवाचकलुप्तोपमालङ्कारौ। यथा सूर्यादिजननिमित्तः सूर्यादिलोकधारको बलवान् सर्वान् लोकानाकर्षणाख्यं बलं च धरन् वायुर्वर्त्तते, यथा च सूर्यलोकः स्वसन्निहितान् लोकान् धरन् सर्वं रूपं प्रकटयन् बलाकर्षणाभ्यां सर्वं धरति, नैताभ्यां विना कस्यचित् परमाणोरपि धारणं संभवति, तथैव राजा शुभगुणाढ्यो भूत्वा राज्यं धरे॥ ४॥

भावार्थ—यहाँ श्लेष और वाचकलुप्तोपमा अलंकार हैं। जैसे सूर्य आदि की उत्पत्ति का निमित्त, सूर्य आदि लोकों को धारण करनेवाला, बलवान्, सब लोकों और आकर्षण नामक बल को धारण करता हुआ वायु विद्यमान है, और जैसे सूर्यलोक अपने समीपस्थ लोकों को धारण और सब रूपों को प्रकट करता हुआ, बल और आकर्षण से सबको धारण करता है, इन दोनों के विना किसी परमाणु का भी धारण करना सम्भव नहीं है, वैसे ही राजा शुभगुणवाला होकर राज्य को धारण करे॥ ४॥

भाष्यसार—**वायु और सूर्य के दृष्टान्त से राजकार्य का उपदेश**—जैसे संगति और प्रकाश के दाता, विचित्र प्रकाश से युक्त सूर्य और वायु अपनी किरणों या विविध रूपों से—महान्, सुवर्ण या अन्य ज्योतियों को शान्त करनेवाले, साधनों से पूर्ण, विविध रूपवाले प्रकाश से युक्त रथ को धारण करके अवस्थित हैं, और वे आकर्षण और कृष्णवर्ण से युक्त पृथिवी आदि लोकों को तथा बल को धारण करके विद्यमान हैं, वैसे सभाध्यक्ष राजा महान्, तेजस्वी, साधनों से परिपूर्ण, विविध रूपवाला हो। वह पृथिवी आदि लोकों और बल को धारण करे॥ ४॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"सूर्य रथ पर चढ़ा। कैसे रथ पर ? सब ओर वर्त्तमान तथा सोने से विभिन्न रूपों वाले रथ पर। और रथ के शङ्कु (जुए की खूंटियाँ, जो जुए को इधर-उधर जाने से रोकती हैं) सोने के बने हैं। और वह रथ बृहत्=बड़ा है। सविता=सूर्य कैसा है ? यजतः=यज्ञ करने योग्य, चित्रभानुः=विविध किरणों से युक्त और कृष्णवर्ण के लोकों में विद्यमान अन्धकार को दूर करने के लिए अपने प्रकाशरूप बल को धारण करने वाला है।"

इस सायण के भाष्य से यह तो स्पष्ट है कि इस मन्त्र में सविता=सूर्य का वर्णन है, जो अन्धकार-पूर्ण पृथिवी आदि लोकों का धारण तथा प्रकाशन करता है। किन्तु उस विशालतम सूर्य का रथ क्या है ? इसको सायण ने बिल्कुल भी नहीं समझा है। इसीलिए उन्होंने लोकप्रसिद्ध रथ अर्थ करके उस पर सूर्य का आरोहण अर्थ दिखाया है। यद्यपि मन्त्र में आरोहणार्थक कोई क्रिया नहीं है, पुनरपि सायण ने भ्रान्तिवश 'आस्थात्' पद का ही यह अर्थ कर दिया है। यथार्थ में सूर्य अपनी परिधि में ही घूमता है, उससे पृथक् कभी नहीं होता। जैसे पृथिवी आदि अपनी परिधि में घूमते हुए भी सूर्य के चारों तरफ चक्र लगाते हैं, वैसे सूर्य किसी का चक्र नहीं लगाता, अतः मन्त्र में सूर्य को 'आस्थात्=अपनी परिधि में अवस्थित कहा है। और उसकी गति को ही यहाँ 'रथ' शब्द से कहा गया है क्योंकि सूर्य अपनी गति में ही (रममाणोऽस्मिँस्तिष्ठति) अवस्थित रहता है। उसकी गति में कभी अन्तर नहीं आता। इसलिए ज्योतिर्विद् बहुतवर्ष पूर्व ही गणित लगाकर सूर्यग्रहणादि का ज्ञान कर लेते हैं। और मन्त्र में 'रथम्' पद के जो विशेषण हैं, वे भी गति के साथ संगत हो रहे हैं। सूर्य का रथ=गति विश्वरूपम्=विविध रूपवाले प्रकाश से युक्त है, 'हिरण्यशम्यम्=दूसरी ज्योतियों को अभिभूत=दबाने वाली है, 'कृशनैर्बृहन्तम्'=सूक्ष्मता करने वाली किरणों से महत्त्व वाली है, और 'अभिवृतम्'=सब ओर वर्त्तमान है। ऐसी गति वाला सूर्य यजतः=संगति करने योग्य और प्रकाश देने वाला है, चित्रभानुः=विचित्र=रंग-बिरंगों (सातों रंगों) वाले प्रकाश से युक्त है। इस सत्यार्थ को सायण न समझने से मिथ्या व्याख्या ही कर गए हैं। मन्त्र की प्रकरणानुकूल तथा प्रामाणिक महर्षि-कृत व्याख्या पठनीय है, जिसमें सायण के सदृश कोई भी असंगति नहीं है।

इस मन्त्रार्थ में सायण ने हिरण्य' शब्द को लोकरूढ 'सोना' (धातु विशेष) अर्थ करके अपने अज्ञान को ही प्रकट किया है। महर्षि-दयानन्द ने अपनी पाठविधि में इसीलिए अमर-कोषादि अनार्ष-ग्रन्थों को घोटने या पढ़ने का निषेध किया है, क्योंकि इनके पढ़ने से ऐसे संस्कार घर कर जाते हैं, जिनसे ऊपर अध्येता कदापि नहीं उठ सकता और वेद में भी अनर्थ करने लगता है। महर्षियों ने सत्यार्थ का ज्ञान करके जो वैदिक पदों के अर्थ ब्राह्मणादि ग्रन्थों में लिखे हैं, उनके समझने में भी अनार्ष ग्रन्थ सर्वथा ही बाधक होते हैं। महर्षि-दयानन्द ने अनार्ष ग्रन्थों को गुरु के आदेश से यमुना में प्रवाहित करके आर्षग्रन्थों को पढ़ा और सत्यार्थ को समझा। इसलिए उन्होंने यहां 'हिरण्य' शब्द का 'ज्योतिर्हि हिरण्यम्' (श० ४ । ३ । १ । २१) प्रमाण के अनुसार 'ज्योति' अर्थ किया है। इसी अर्थ की यहाँ मन्त्रार्थ में पूर्णतः संगति है, 'सोने' की नहीं। सायण ने यहाँ सूर्य के सोने के रथ या शुंकुओं का वर्णन करके असंगत व्याख्या की है ॥ ४ ॥ ●

---

१. सविता रथम् आस्थात् आस्थितवान् आरूढवानित्यर्थः। कीदृशम्। अभीवृतम् अभितो वर्त्तमानम्। तथा कृशनैर्विश्वरूपं सुवर्णेन नानारूपम्। हिरण्यशम्यम्। अश्वानां स्कन्धेषु रथयोजनवेलायां नियन्तुं प्रक्षेप्यमाणाः शंकवः शम्याः। ताः सुवर्णमय्यो रथे वर्त्तन्ते। बृहतं प्रौढम्। कीदृशः सविता। यजतः यष्टव्यः चित्रभानुः विविधरश्मियुक्तः कृष्णा रजांसि अन्धकारयुक्ततया कृष्णवर्णान् लोकानुद्दिश्य तमो निवारणार्थं तविषीं बलं स्वकीयं प्रकाशरूपं दधानः ॥ (सायणः)

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **सविता** (सूर्यो वायुश्च) देवता। विराट् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनस्तौ कीदृशावित्युपदिश्यते॥

फिर वे सूर्य और वायु कैसे हैं, यह उपदेश किया जाता है॥

विजनाञ्छ्यावाः शितिपादो अख्यन् रथं हिरण्यप्रउगं वहन्तः।
शश्वद्विशः सवितुर्दैव्यस्योपस्थे विश्वा भुवनानि तस्थुः॥ ५॥

वि। जनान्। श्यावाः। शितिऽपादः। अख्यन्। रथम्। हिरण्यऽप्रउगम। वहन्तः। शश्वत्। विशः। सवितुः। दैव्यस्य। उपऽस्थे। विश्वा। भुवनानि। तस्थुः॥ ५॥

पदार्थः—(**वि**) विशेषार्थे (**जनान्**) विदुषः (**श्यावाः**) श्यायन्ते=प्राप्नुवन्ति ते। **श्यावाः सवितुरित्यादिष्टोपयोजननामसु पठितम्॥** निघं० १। १५। (**शितिपादः**) शितयः=शुक्लाः पादाः=अंशा येषां किरणानामन्ते (**अख्यन्**) ख्याता भवन्ति। अत्र **लडर्थे लुङ्**। (**रथम्**) विमानादियानम् (**हिरण्यप्रउगम्**) हिरण्यस्य=ज्योतिषोऽग्नेः प्रउगं=सुखवत्स्थानं यस्मिँस्तं प्रयोगार्हम्। **पृषोदरादिना** अभीष्टरूपसिद्धिः (**वहन्तः**) प्राप्नुवन्तः (**शश्वत्**) अनादयः (**विशः**) प्रजाः (**सवितुः**) सूर्यलोकस्य (**दैव्यस्य**) देवेषु=दिव्येषु पदार्थेषु भवो दैव्यस्तस्य (**उपस्थे**) उपतिष्ठन्ते यस्मिँस्तस्मिन्। अत्र **घत्रर्थे कविधानम्** इत्यधिकरणे कः प्रत्ययः। (**विश्वा**) विश्वानि=सर्वाणि। अत्र **शेश्छन्दसि** इति शेर्लोपः। (**भुवनानि**) पृथिवीगोलादीनि (**तस्थुः**) तिष्ठन्ति अत्र **लडर्थे लिट्॥ ५॥**

प्रमाणार्थ—(**श्यावाः**) 'श्यावाः सवितुः' यह पद निघण्टु (१। १५) में 'आदिष्टोपयोजन' नामों में पढ़ा है। (**अख्यन्**) यहां 'लट्' लकार के अर्थ में 'लुङ्' लकार है। (**हिरण्यप्रउगम्**) इस पद की अभीष्ट सिद्धि 'पृषोदरादीनि०' (अ० ६। ३। १०९) इस सूत्र से होती है। (**उपस्थे**) यहां 'घत्रर्थे कविधानम्' (अ० ३। ३। ५८) इस वार्त्तिक सूत्र से अधिकरण में 'कः' प्रत्यय का विधान है। (**विश्वा**) यहाँ 'शेश्छन्दसि०' (अ० ६। १। ७०) इस सूत्र से 'शि' का लोप है। (**तस्थुः**) यहाँ 'लट्' लकार के अर्थ में लिट् लकार है॥ ५॥

अन्वयः—हे सज्जन यथाऽस्य दैव्यस्य सवितुः सूर्यलोकस्योपस्थे विश्वा भुवनानि सर्वे भूगोलास्तस्थुस्तस्य शितिपादः श्यावाः किरणा जनान् हिरण्यप्रउगं रथं शश्वद्विशश्च वहन्तो व्यख्यन् विविधतया ख्यान्ति तथा तव निकटे विद्वांसस्तिष्ठन्तु त्वं च विद्याधर्मौ प्रकटय॥ ५॥

सपदार्थान्वयः— हे **सज्जन**! **यथाऽस्य दैव्यस्य** देवेषु=दिव्येषु पदार्थेषु भवो दैव्यस्तस्य **सवितुः=सूर्यलोकस्य उपस्थे** उपतिष्ठन्ते यस्मिंस्तस्मिन् **विश्वा** विश्वानि=सर्वाणि **भुवनानि=सर्वे भूगोलाः** पृथिवीगोलादीनि **तस्थुः** तिष्ठन्ति। **तस्य शितिपादः** शितयः=शुक्लाः पादा=अंशा येषां किरणानामन्ते **श्यावाः=किरणाः** श्यायन्ते=प्राप्नुवन्ति ते **जनान्** विदुषः **हिरण्यप्रउगं** हिरण्यस्य=ज्योतिषोऽग्नेः प्रउगं=सुखवत्स्थानं यस्मिंस्तं प्रयोगार्हं **रथं** विमानादियानं **शश्वत्** अना-

भाषार्थ—हे सज्जन! जैसे इस (**दैव्यस्य**) दिव्य पदार्थों में विद्यमान (**सवितुः**) सूर्य के (**उपस्थे**) उपस्थ=सान्निध्य में (**विश्वा**) सब (**भुवनानि**) भूगोल (**तस्थुः**) अवस्थित हैं, जिसकी (**शितिपादः**) श्वेत अंशों से युक्त (**श्यावाः**) किरणें (**जनान्**) विद्वानों को, (**हिरण्यप्रउगम्**) अग्नि के सुखदायक स्थान से युक्त, प्रयोग के योग्य (**रथम्**) विमान आदि यान को और (**शश्वत्**) अनादि (**विशः**) प्रजा को (**वहन्तः**) प्राप्त करती हुई (**वि+अख्यन्**) विविध प्रकार से विख्यात होती हैं—वैसे

दयः **विशः** प्रजाः **च वहन्तः** प्राप्नुवन्तः **वि+अख्यन्**=**विविधतया ख्यान्ति** विशेषतया ख्याता भवन्ति, **तथा तव निकटे विद्वांसस्तिष्ठन्तु, त्वं च विद्याधर्मौ प्रकटय ॥ ५ ॥**

भावार्थः—हे मनुष्य ! यूयं यथा सूर्यलोकस्य प्रकाशाकर्षणादयो गुणाः सन्ति ते सर्वं जगद्धारणपुरस्सरं यथायोग्यं प्रकटयन्ति ये सूर्यस्य सन्निधौ लोकाः सन्ति ते सूर्य्यप्रकाशेन प्रकाशन्ते या अनादिरूपाः प्रजास्ता अपि वायुर्धरति। अनेन सर्वे लोकाः स्वस्वपरिधौ समवतिष्ठन्ते तथा गुणान्धरत स्व स्वव्यवस्थायां स्थित्वा न्यायान् स्थापयत च ॥ ५ ॥

आपके निकट विद्वान् अवस्थित हों, और आप विद्या और धर्म को प्रकाशित करो ॥ ५ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! तुम—जैसे सूर्यलोक के प्रकाश और आकर्षण आदि गुण हैं वे सब संसार को धारण पूर्वक यथायोग्य प्रकट करते हैं, और जो सूर्य के समीप लोक हैं, वे सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं, जो अनादि रूप प्रजा है उसका भी धारण वायु करता है, इस प्रकार सब लोक अपनी-अपनी परिधि में स्थित रहते हैं, वैसे गुणों को धारण करते हुए अपनी-अपनी व्यवस्था में स्थिर रहकर न्याय की स्थापना करो ॥ ५ ॥

भाष्यसार—**सूर्य और वायु कैसे हैं**—सूर्य और वायु दिव्य पदार्थों में विद्यमान हैं। उनके उपस्थ=सान्निध्य में सब भूगोल अवस्थित हैं। इनकी किरणें और गति विद्वानों, विमान आदि यानों और प्रजा को प्राप्त करती हुई विविध प्रकार से विख्यात होती हैं, वैसे सब सज्जन पुरुष विद्वानों के सान्निध्य में रहें और विद्या तथा धर्म को प्रकाशित करें ॥ ५ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"सूर्य के 'श्यावा' नामक घोड़े हैं और वे श्वेत=सफेद पैरों वाले हैं। वे सूर्य के रथ को वहन करते हुए प्राणियों को विशेष रूप से प्रकाशित करते थे। सूर्य के रथ का प्रउग=जुआ बान्धने का स्थान सोने से बना है। और दूसरे देवों से सम्बन्ध रखने वाले तथा प्रेरणा देने वाले सूर्य के समीप प्रजाएँ सर्वदा स्थित रहीं। केवल प्रजा ही नहीं, प्रत्युत सब लोक सूर्य के समीप स्थित थे।"

इस मन्त्र की व्याख्या में सूर्य के रथ तथा सफेद पैर वाले श्यावा नामक घोड़ों का वर्णन पौराणिक-पूर्वाग्रह वश तथा प्रकरणविरुद्ध किया है। सूर्य की गति ही उसका रथ है, यह (ऋ० १। ३५। ४) की समीक्षा में दिखा दिया है। और 'श्वावाः सवितुः' (निघं० १। १५) इस प्रमाण को न समझने के कारण ही सायण ने इसका अर्थ 'सूर्य के घोड़े' अर्थ कर दिया है। यौगिक प्रक्रिया तथा प्रकरण पर यदि सायण ध्यान देते, तो ऐसी मिथ्या व्याख्या न करते। सूर्य की किरणों को 'श्यावाः' इसलिए कहते हैं, क्योंकि तनूकरण=सूक्ष्मार्थक 'शो' धातु से यह पद निष्पन्न है। सूर्य की किरणों का गुण सूक्ष्म करना है, अतः उन्हें 'श्यावाः' कहते हैं। और 'शितिपादः' का अर्थ 'सफेद' पैर वाले नहीं है। यह पद 'श्यावाः' का विशेषण है। सूर्य की किरणें ही सफेद पाद=अंश वाली होने से 'शितिपाद्' कहलाती हैं।

---

१. श्यावाः एतन्नामकाः सूर्यस्याश्वाः। ते च शितिपादः श्वेतैः पादैरुपेताः। हिरण्यप्रउगम्=रथस्य मुखम् ईषयोरग्रं युगबन्धनस्थानं प्रउगमित्युच्यते। तच्चात्र सुवर्णमयम्। तद्युक्तं रथं वहन्तः जनान् प्राणिनः वि अख्यन् विशेषेण प्रकाशितवन्त इत्यर्थः। शश्वत् सर्वदा विशः प्रजाः दैव्यस्य इतरदेवसम्बन्धिनः सवितुः प्रेरकस्य सूर्यस्य उपस्थे समीपस्थाने तस्थुः स्थितवत्यः। न केवलं प्रजाः, किं तर्हि, विश्वा भुवनानि सर्वे च लोकाः प्रकाशाय सूर्यसमीपे तस्थुः॥ (सायणः)

और सायण की यह व्याख्या भी असंगत तथा असम्भव है कि विशः=प्रजाएँ सूर्य के समीप स्थित रहती हैं। पूर्य अग्नि का पुत्र है। उसके पास पार्थिव शरीरवाली प्रजाएँ कदापि स्थित नहीं रह सकतीं। महर्षि-दयानन्द ने इसकी व्याख्या उपमान-उपमेय भाव से सूर्य की उपमा से शिल्पादि के विद्वान् के समीप रहकर विज्ञान बढ़ाने का वर्णन किया है, जो कि व्यावहारिक तथा सत्य है। और आचार्य-सायण ने व्याख्या में 'अख्यन्' व 'तस्थुः' क्रियाओं की भूतकालीन व्याख्या वैदिक नियमों से अनभिज्ञ होकर की है। वेद में लुङादि लकारों का प्रयोग सामान्यकाल में भी होता है। इस नियम को भुलाकर सायण ने भूतकाल में अर्थ करके प्रत्यक्ष तथा सर्वजनविदित सामान्य बातों को भी नहीं समझा। क्या सूर्य सायण के समय पृथिव्यादि लोकों को प्रकाशित नहीं करता था, या अब नहीं करता? अतः सायण की व्याख्या सृष्टि-विज्ञान के विरुद्ध तथा असंगत है॥ ५॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **सविता** (वायुः सूर्यश्च) देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनरपि वायुसूर्य्ययोर्गुणा उपदिश्यन्ते॥

फिर भी वायु और सूर्य्य के गुणों का उपदेश किया जाता है॥

तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थाँ एका यमस्य भुवने विराषाट्।
आणिं न रथ्यममृताधितस्थुरिह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत्॥ ६॥

तिस्रः। द्यावः। सवितुः। द्वौ। उपऽस्थां। एका। यमस्य। भुवने। विराषाट्। आणिम्। न। रथ्यम्। अमृता। अधि। तस्थुः। इह। ब्रवीतु। यः। ऊं इति। तत्। चिकेतत्॥ ६॥

पदार्थः—(तिस्रः) त्रित्वसंख्याकाः (द्यावः) सूर्याग्निविद्युद्रूपाः (सवितुः) सूर्यलोकस्य (द्वौ) स्वप्रकाशभूगोलौ (उपस्था) उपतिष्ठन्ति यस्मिंस्तत्र। अत्र **आङ याजयारां चोपसंख्यानम्** । इति वार्तिकेन ङेः स्थाने आङादेशः। **आङोनुनासिकश्छन्दसि**। अ० ६। १। १२६। इति प्रकृतिभावादिसंधिः। (एका) विद्युदाख्यादीप्तिः (यमस्य) वायोः (भुवने) अन्तरिक्षस्थाने (विराषाट्) वीरान्=ज्ञानवतः प्राप्तिशीलान् जीवान् सहते सः। अत्र **वर्णव्यत्ययेन** दीर्घेकारस्य स्थाने ह्रस्वेकारोऽकारस्थान आकारश्च। **स्फायितञ्चि०**। उ० २। १३। इत्यजधातोरक् प्रत्ययः। **छन्दसि सहः**। अ० ३। २। ६३। इति ण्विः। **सहेः साडः सः**। अ० ८। ३। ५६। इति षत्वम् (आणिम्) संग्रामम्। **आणाविति संग्रामनामसु पठितम्**। निघं० २। १७। (न) इव (रथ्यम्) रथान् वहति तम् (अमृता) अमृतानि (अधि) उपरिभावे (तस्थुः) तिष्ठन्ति। अत्र **लडर्थे लिट्**। (इह) अस्मिन् संसारेऽस्यां विद्यायां वा (ब्रवीतु) उपदिशतु (यः) मनुष्यः (ऊं) वितर्के (तत्) ज्ञानम् (चिकेतत्) विजानीयात्। अयं कित ज्ञाने **धातोर्लेट् प्रथमैकवचन**-प्रयोगः। **बहुलं छन्दसि इति** शपः श्लुः॥ ६॥

प्रमाणार्थ—(उपस्था) 'आङ्याजयारां चोपसंख्यानम्' (अ० ७। १। ३९) इस वार्तिक सूत्र से 'ङि' के स्थान पर आङ् आदेश है। 'आङोऽनुनासिकश्छन्दसि' (अ० ६। १। १२६) इस सूत्र से प्रकृतिभाव से सन्धि नहीं है — उपस्थां एका। (विराषाट्) यहाँ वर्ण-व्यत्यय से दीर्घ 'ई' के स्थान पर 'आकार' आदेश है, 'स्फायितञ्चि० (२। १३) इस उणादि सूत्र से 'अज्' धातु से 'रक्' प्रत्यय है। (विरः) 'छन्दसि सह' (अ० ३। २। ६३) इस सूत्र से 'ण्वि' प्रत्यय है और 'सहेः साडः सः' (अ० ८। ३। ५६) इस सूत्र से 'षत्व' है। (आणिम्) आणौ यह पद निघण्टु (२। १२) में संग्राम-नामों में पढ़ा है—संग्राम=युद्ध। (तस्थुः) यहां 'लट् लकार के अर्थ में 'लिट्' लकार है। (चिकेतत्) यह ज्ञानार्थक

कित्'धातु का लट् लकार, प्रथमपुरुष एकवचन का प्रयोग है, 'बहुलं छन्दसि' (अ० । २ । ४ । ७६) इस सूत्र से 'शप्' विकरण प्रत्यय को 'श्लु' आदेश है ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे विद्वँस्त्वं रथ्यमाणि भृत्याननेवाऽस्य सवितुः सूर्यलोकस्य प्रकाशे यास्तिस्रो द्यावोऽधितस्थुस्तत्र द्वौ सवितृमण्डलस्योपस्था वर्त्तेते । एका विराषाट् विद्युदाख्यादीप्तिर्यमस्य नियन्तुर्वायोर्भुवनेऽन्तरिक्षे हि तिष्ठति । यान्यमृता कारणरूपेण नाशरहितानि चन्द्रतारकादीनि भुवनानि सन्ति तान्यन्तरिक्षेऽधितस्थुरधितिष्ठन्ति । य उएतानि चिकेतत् जनीयात् स तज्ज्ञानं [इह] ब्रवीतु तथा भूत्वेमां विद्यामुपदिश ॥ ६ ॥

सपदार्थान्वयः—हे विद्वन् ! त्वं रथ्यं रथान् वहति तम् आणि संग्रामं भृत्यान् न=इवास्य सवितुः= सूर्यलोकस्य प्रकाशे यास्तिस्रः त्रित्वसंख्याकाः द्यावः सूर्याग्निविद्युद्रूपाः अधि+तस्थुः उपरि तिष्ठन्ति तत्र [द्वा] द्वौ स्वप्रकाशभूगोलौ सवितृमण्डलस्योपस्था उपतिष्ठन्ति यस्मिंस्तत्र वर्त्तेते । एका विद्युदाख्यादीप्तिः विराषाट् वीरान् =ज्ञानवतः प्राप्तिशीलान् जीवान् सहते सः यमस्य=नियन्तुर्वायोर्भुवने=अन्तरिक्षे अन्तरिक्षस्थाने हि तिष्ठति । यानि अमृता=कारणरूपेण नाशरहितानि चन्द्रतारकादीनि भुवनानि सन्ति, तान्यन्तरिक्षेऽधितस्थुः=अधितिष्ठन्ति । यः मनुष्यः उ वितर्के एतानि चिकेतत्=जानीयात् विजानीयात् स तत्=ज्ञानमिह अस्मिन्संसारेऽस्यां विद्यायां वा ब्रवीतु उपदिशतु, तथाभूत्वेमां विद्यामुपदिश ॥ ६ ॥

भाषार्थ—हे विद्वन् ! आप—(रथ्यम्) रथों के चालक (आणिम्) संग्राम तथा राजभृत्यों के (न) समान इस (सवितुः) सूर्य के प्रकाश में जो (तिस्रः) तीन (द्यावः) सूर्य, अग्नि और विद्युत् रूप दीप्तियां (अधि+तस्थुः) अधिष्ठित हैं, उनमें [द्वा] दो स्वप्रकाश और भूगोल सूर्यमण्डल के (उपस्था) उपस्थ= सान्निध्य में वर्तमान हैं, और (एका) एक विद्युत् नामक दीप्ति जो (विराषाट्) ज्ञानवान्, प्राप्तिशील जीवों का मर्षण करने वाली है, वह (यमस्य) नियन्ता वायु के (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष-स्थान में (हि) ही रहती है । और जो (अमृता) कारण रूप से नाशरहित, चन्द्र, तारक आदि लोक हैं, वे अन्तरिक्ष में अधिष्ठित हैं और (यः) जो मनुष्य (उ) विचारपूर्वक इन्हें (चिकेतत्) जाने वह (तत्) उस ज्ञान का (इह) इस संसार में या इस विद्या के सम्बन्ध में (ब्रवीतु) उपदेश करे—वैसे होकर इस विद्या का उपदेश करो ॥ ६ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः । ईश्वरेण या अग्न्याख्यात्कारणात्तिस्रो दीप्तयः सूर्याग्निविद्युदाख्या रचिताः सन्ति तद् द्वारा सर्वाणि कार्याणि सिध्यन्ति । यदा ये जीवाः शरीराणि त्यक्त्वा यस्य यमस्य स्थानं गच्छन्ति स कोस्तीति पृच्छ्यते । अत्रोत्तरमन्तरिक्षस्थं वायुं यमाख्यं गच्छन्तीति ब्रूयात् । यथा युद्धे रथभृत्यादीन्यङ्गान्युपतिष्ठन्ति तथैव मृता जीविताश्च जीवा वायुमाश्रित्य तिष्ठन्ति । पृथिवीचन्द्रतारकादयो लोकाः सूर्यप्रकाशमुपाश्रित्य वर्त्तन्ते । यो विद्वान् स एव प्रश्नोत्तराणि वदेन्नेतरो मूढ । नैव मनुष्यैरविद्वत्कथने विश्वसितव्यं न किलाप्तशब्देऽश्रद्धातव्यं चेति ॥ ६ ॥

भावार्थ—यहां उपमा अलंकार है । ईश्वर ने जो अग्नि नामक कारण से तीन दीप्तियां सूर्य, अग्नि और विद्युत् नामक रची हैं, उनके द्वारा सब कार्य सिद्ध होते हैं । जब कोई यह प्रश्न करे कि जीव शरीर को छोड़कर जिस यम के स्थान को जाते हैं वह कौन है ? यहां उत्तर यह कहें कि अन्तरिक्ष में रहने वाले वायु यम-नाम वाले को प्राप्त करते हैं, जैसे युद्ध में रथ, भृत्य आदि अङ्ग होते हैं, पृथ्वी, चन्द्र, तारे आदि लोक सूर्यप्रकाश के आश्रित रहते हैं, जो विद्वान् है वही प्रश्नों के उत्तर देवे; अन्य मूर्ख नहीं । सब मनुष्य अविद्वानों के कथन में विश्वास न करें, और आप्तवाक्य में अश्रद्धा न करें ॥ ६ ॥

भाष्यसार—**वायु और सूर्य के गुण**—जैसे रथ के चालक, संग्राम और राज्यभृत्यु ये तीन अंग हैं, वैसे वैसे अग्नि नामक कारण से सूर्य, अग्नि (प्रसिद्ध) और विद्युत ये तीन दीप्तियां उत्पन्न होती हैं। उनमें से दो सूर्यमण्डल के उपस्थ=सान्निध्य में वर्तमान रहती हैं। और एक विद्युत् नामक जो दीप्ति है वह जीवों का मर्षण (विनाश) करने वाली है, वह वायु के अन्तरिक्ष नामक स्थान में रहती है। चन्द्र, तारक आदि लोक भी अन्तरिक्ष में ही अधिष्ठित हैं। जो विद्वान् मनुष्य इस विद्या को जाने वही इसका उपदेश करे ॥ ६ ॥

अलङ्कार—इस मन्त्र में 'न' पद उपमा-वाचक है। अतः उपमा अलंकार है। उपमा यह है कि जैसे रथचालक, संग्राम और राजभृत्यु सेना के तीन अंग हैं वैसे सूर्य, अग्नि और विद्युत् ये तीन दीप्तियां होती हैं ॥ ६ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"स्वर्ग कहलाने वाले प्रकाशमान तीन लोक हैं। उनमें सूर्य से प्रकाशित होने से द्युलोक, तथा भूलोक ये दोनों लोक सूर्य के समीप हैं। और एक मध्यम भूमि अन्तरिक्षलोक है, वह यम के घर जाने वालों को सहन करता है। अर्थात् मरे हुए पुरुष अन्तरिक्ष मार्ग से यमलोक में जाते हैं। और चन्द्र, नक्षत्रादि तथा जल सूर्य के आश्रय से स्थित थे। जैसे रथ के बाहर के भाग में धुरी के छिद्र में जो कील होती है, उसके आश्रय से रथ स्थित होता है, वैसे ही चन्द्र, नक्षत्रादि सूर्य से बन्धे हैं। जो मनुष्य सूर्य के विषय में जानता है, वह इस विषय में बताए। अर्थात् सूर्य की महिमा किसी से कही नहीं जा सकती ॥"

इस मन्त्रार्थ में सायणाचार्य ने निम्नलिखित असंगत तथा काल्पनिक बातों का वर्णन किया है (क) स्वर्ग कहलाने वाले प्रकाशमान तीन लोक हैं। (ख) एक मध्यम भूमि अन्तरिक्ष में हैं, जिसमें मरे हुए प्राणी जाते हैं। (ग) 'यम' का अर्थ 'यमराज' सायण की इन काल्पनिक बातों में निम्नलिखित कारण हैं—

(क) सूर्य प्रकाशमान लोक है, पृथिवी आदि सूर्य से प्रकाशित होते हैं। अतः प्रकाशमान तीन लोक मानना असत्य धारणा है। और यदि सूर्य से प्रकाशित होने से पृथिवी आदि को प्रकाशमान माना है, तो भी ठीक नहीं। क्योंकि सूर्य से प्रकाशित लोक तीन से भी अधिक हैं। और पृथिवी आदि को स्वर्गोपलक्षित कहना तथा 'स्वर्ग-नरक' को' स्थानविशेष कहना भी परस्पर विरोधी तथा पौराणिक कल्पना मात्र ही है। पृथिवी आदि भी यदि स्वर्ग हैं तो स्वर्ग नामक स्थान अन्यत्र मानना सत्य नहीं। यथार्थ में पौराणिकों ने नामों की समानता से मिथ्या धारणाओं की कल्पना की है। 'स्वर्' 'नाकः' आदि शब्द सूर्य के लिए तथा सुख या मोक्ष के भी वाचक हैं। उनके प्रकरणानुसार अर्थ ही संगत हो सकते हैं। सायण ने इस रहस्य को न समझकर असंगत व्याख्या की है। निरुक्त में इन पदों के विभिन्न अर्थों की स्पष्ट व्याख्या मिलती है।

---

१. द्यावः स्वर्गोपलक्षिताः प्रकाशमाना लोकाः तिस्रः त्रिसंख्याकाः सन्ति। तत्र द्वौ लोकौ सवितुः सूर्यस्य उपस्था समीपस्थाने वर्त्तते, द्युलोकभूलोकयोः सूर्येण प्रकाशितत्वात्। एका मध्यमा भूमिरन्तरिक्षलोकः यमस्य भुवने पितृपतेर्गृहे विराषाट् विराज् गन्तॄन् सहते। प्रेताः पुरुषा अन्तरिक्षमार्गेण यमलोके गच्छन्तीत्यर्थः। अमृता अमृतानि चन्द्रनक्षत्रादीनि ज्योतींषि जलानि वा अधितस्थुः सवितारमधिगम्य स्थितानि। तत्र दृष्टान्तः। रथ्यम् आणिं न। रथाद् बहिः अक्षच्छिद्रे प्रक्षिप्तः कीलविशेषः आणिरित्युच्यते। रथसंबन्धिनम् आणिम् अधिगम्य यथा रथस्तिष्ठति तद्वत्। यः तु मानवः तत् सवितृरूपं चिकेतत् जानाति स मानवः इह अस्मिन् विषये ब्रवीतु कथयतु। केनापि वक्तुमशक्यः सवितुर्महिमेत्यर्थः॥ (सायणः)

(ख) अन्तरिक्ष में एक ऐसी यमपुरी मानना, जहाँ मृत-प्राणी जाते हैं एक काल्पनिक धारणा मात्र है। 'यम' का अर्थ नियन्ता परमेश्वर, 'यमेन वायुना' आदि के अनुसार यम नाम वायु का है, यम=नियन्ता होने से राजा का भी नाम है। इत्यादि यम शब्द के अर्थों को न समझकर पौराणिक आग्रहवश यमपुरी की कल्पना की गई है। आकाश में ऐसी यमपुरी नामक स्थान कहीं भी नहीं है। समस्त जीवों को स्वकर्मानुसार यम=परमेश्वर विभिन्न योनियों में भेजता है और परमेश्वर की यही व्यवस्था सभी लोक-लोकान्तरों में एक समान है। क्या जीव मरकर पृथिवी पर पुनर्जन्म धारण नहीं करते? यदि करते हैं तो फिर यह पृथिवी यमपुरी क्यों नहीं है? और 'यमराज' कौन है? क्या वह परमेश्वर से भिन्न कोई देव-विशेष है? यदि ऐसा है तो वह एकदेशी होने से कदापि जीवों के कर्मों को न जानने से कर्म-फल देनेवाला मानना ईश्वरीय न्याय को कलंकित करना ही है। 'यम' जो जीवों के कर्मों का फल देता है, वह मनीषी=मनों का भी साक्षी, सर्वत्र व्यापक, सर्वज्ञ परमात्मा ही है और वह सर्वत्र विद्यमान है। उसे एकदेशी कहना तथा सर्वव्यापक भी मानना परस्पर विरोधी मान्यताएँ हैं।

(ग) मन्त्रोक्त 'यमस्य भुवने' पदों में 'यम' का अर्थ वायु है। क्योंकि यह मध्यम लोक में रहता है। और वायु के आश्रय से ही एका=एक विद्युत् रहती है। यह वायु ही विराषाट्=ज्ञानवान् या गतिशील जीवों का अन्तरिक्ष में आश्रय होता है। इस सत्यार्थ को न समझकर यम का एक पितृगृह=यमपुरी मानना एक पौराणिक मान्यता तथा प्रमाणादि से विरुद्ध धारणा है। इस मन्त्र की महर्षि-दयानन्द की सुसंगत तथा प्रामाणिक व्याख्या पठनीय है।

महर्षि-दयानन्द ने यम के विषय में अन्यत्र भी लिखा है—

"प्रश्न—जब तुम्हारे कहने से यमलोक और यम नहीं हैं, तो मरकर जीव कहाँ जाता और इनका न्याय कौन करता है?

उत्तर—तुम्हारे गरुड़ पुराण का कहा हुआ तो अप्रमाण है, परन्तु जो वेदोक्त है कि 'यमेन वायुना सत्यराजन्' इत्यादि वेद-वचनों से निश्चय है कि 'यम' नाम वायु का है। शरीर को छोड़कर वायु के साथ अन्तरिक्ष में जीव रहते हैं और सत्यकर्त्ता पक्षपात रहित परमात्मा 'धर्मराज' है, वही सब का न्यायकर्त्ता है।" (सत्यार्थ० एकादश समुल्लासः) ॥ ६ ॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **सविता (सूर्यः)** देवता। भरिक्पंक्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

पुनरस्य सूर्यलोकस्य गुणा उपदिश्यन्ते॥

फिर इस सूर्यलोक के गुणों का उपदेश किया जाता है॥

वि सुपर्णो अन्तरिक्षाण्यख्यद् गभीरवेपा असुरः सुनीथः।
क्वेदानीं सूर्यः काश्चिकेत कतमां द्यां रश्मिरस्या ततान॥ ७॥

वि। सुऽपर्णः। अन्तरिक्षाणि। अख्यत्। गभीरऽवेपाः। असुरः। सुऽनीथः। क्व। इदानीम्। सूर्यः। कः। चिकेत। कतमाम्। द्याम्। रश्मिः। अस्य। आ। ततान॥ ७॥

पदार्थः—(वि) विशेषार्थे (सुपर्णः) शोभनपतनशीला रश्मयो यस्य। **सुपर्णा इति रश्मिनामसु पठितम्।** निघं० १। ५। (**अन्तरिक्षाणि**) अन्तरिक्षस्थानि सर्वाणि भुवनानि (**अख्यत्**) ख्यापयति=प्रकाशयति (**गभीरवेपाः**) गभीरोऽविद्वद्भिर्लक्षितुमशक्यो वेप=कम्पनं यस्य सः। टुवेपृकम्पन अस्मात् **सर्वधातुभ्योऽसुन्** इत्यसुन् प्रत्ययः (**असुरः**) सर्वेभ्यः प्राणदः सूर्योदये मृता इवोत्तिष्ठन्तीत्यतः,

असुषु प्राणेषु रमते वा। (**सुनीथः**) सुष्ठुनीथाः=पदार्थप्राप्तयो यस्मात् सः। **हनिकुषि०**। उ० २। २। अनेन णीञ् प्रापणे धातोः क्थन् प्रत्ययः। (**क्व**) कुत्र (**इदानीम्**) अस्मिन् समये वर्त्तमानायां रात्रौ (**सूर्यः**) (**कः**) विद्वान् (**चिकेत**) केतति=जानाति। अत्र कित ज्ञाने **धातोर्लडर्थे लिट्**। (**कतमाम्**) बहूनां पृथिवीनां मध्ये काम् (**द्याम्**) द्योतनात्मिकाम् (**रश्मिः**) ज्योतिः (**अस्य**) सूर्यस्य (**आ**) समन्तात् (**ततान**) तनोति=विस्तृणोति। अत्रापि **लडर्थे लिट्**॥ ७॥

प्रमाणार्थ—(**सुपर्णः**) यह पद निघण्टु (१। ५) में रश्मि-नामों में पढ़ा है। (**गभीरवेपाः**) यहां कम्पन अर्थ वाली 'टुवेपृ' धातु से 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (४। ९६) इस उणादि सूत्र से 'असुन्' प्रत्यय है। (**सुनीथः**) यहां 'हनिकुषि०' (२। २) इस उणादि सूत्र से प्रापण अर्थ वाली 'णीञ्' धातु से 'क्थन्' प्रत्यय है। (**चिकेत**) यहाँ ज्ञान अर्थवाली 'कित्' धातु से 'लट्' लकार के अर्थ में 'लिट्' लकार है। (**ततान**) यहां भी 'लट्' लकार के अर्थ में 'लिट्' लकार है॥ ७॥

अन्वयः—हे विद्वन् यथाऽसुरो गभीरवेपाः सुनीथः सुपर्णोऽस्यरश्मिरन्तरिक्षाणि व्यख्यद्विख्यापयति प्रकाशयति तेन रश्मिगणेन युक्तः सूर्य्य इदानीं क्व वर्तते। एतत्कश्चिकेत को जानाति। कतमां द्यामस्य सूर्य्यस्य रश्मिराततानैतदपि कश्चिकेत। कश्चिदेव जानाति न तु सर्वे तदेतत्त्वमवेहि॥

सपदार्थान्वयः—हे **विद्वन्** ! **यथा-असुरः** सर्वेभ्यः प्राणदः सूर्योदये मृता इवोत्तिष्ठन्तीत्यतः, असुषु=प्राणेषु रमते वा **गभीरवेपाः** गभीरोऽविद्वद्भिर्लक्षितुमशक्यो वेपः=कम्पनं यस्य सः **सुनीथः** सुष्ठु नीथाः=पदार्थप्राप्तयो यस्मात् सः **सुपर्णः** शोभनपतनशीला रश्मयो यस्य **अस्य** सूर्यस्य **रश्मिः** ज्योतिः **अन्तरिक्षाणि** अन्तरिक्षस्थानि सर्वाणि भुवनानि **वि+अख्यत्=विख्यापयति प्रकाशयति, तेन रश्मिगणेन युक्तः सूर्य्य इदानीम्** अस्मिन् समये वर्त्तमानायां रात्रौ **क्व** कुत्र **वर्त्तते** ? **एतत् कश्चिकेत=को जानाति** केतति जानाति ? **कतमां** बहूनां पृथिवीनां मध्ये कां **द्यां** द्योतनात्मिकाम् **अस्य=सूर्यस्य रश्मिः आततान** समन्तात् तनोति विस्तृणोति **एतदपि कश्चिकेत** को जानाति ? **कश्चिदेव जानाति, न तु सर्वे तदेतत्त्वमवेहि**॥ ७॥

भाषार्थ—हे विद्वन् !—जैसे यह सूर्य (**असुरः**) सबको प्राण देनेवाला क्योंकि सब सूर्योदय होने पर मृतक से उठते हैं, या यह प्राणों में रमण करने वाला है (**गभीरवेपाः**) जिसका कम्पन गभीर=सूक्ष्म होने से अविद्वानों के द्वारा न जानने योग्य है (**सुनीथः**) उत्तम प्रकार से पदार्थों की प्राप्ति करानेवाला है (**सुपर्णः**) उत्तम पतनशील किरणों से युक्त है, (**अस्य**) इस सूर्य की (**रश्मिः**) ज्योति (**अन्तरिक्षाणि**) अन्तरिक्ष में विद्यमान सब लोकों को (**वि+अख्यत्**) विख्यात=प्रकाशित करती है; उस रश्मिगण से युक्त सूर्य (**इदानीम्**) इस समय=रात्रि में (**क्व**) कहां है ? इस बात को (**कः**) कौन (**चिकेत**) जानता है ? और (**कतमाम्**) किस (**द्याम्**) प्रकाशयुक्त पृथिवी को (**अस्य**) इस सूर्य की किरण (**आततान**) आच्छादित कर रही है ? इस बात को भी (**कः**) कौन (**चिकेत**) जानता है ? इसे कोई ही जानता है; सब नहीं। उसे आप जानो॥ ७॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यदायं भूगोलो भ्रमणेन सूर्यप्रकाशमाच्छाद्यान्धकारं जनयति तदाऽविद्वांसो जनाः पृच्छन्तीदानीं सूर्यः क्व गत इति तं प्रश्नमुत्तरेणैवं समादध्यात् पृथिव्या अरे पृष्ठेऽस्तीति यस्य चलनमतीवसूक्ष्ममस्त्यतः प्राकृतैर्जनैर्न विज्ञायत एवं विद्वदभिप्रायोऽपि॥ ७॥

भावार्थ—यहां वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। जब यह भूगोल भ्रमण से सूर्य के प्रकाश का आच्छादन कर अन्धकार प्रकट करता है, तब अविद्वान् मनुष्य पूछते हैं—अब सूर्य कहां गया ? उस प्रश्न का उत्तर से समाधान करें कि पृथ्वी के दूसरे भाग में है। जिसका चलना अति सूक्ष्म है

अतः साधारण मनुष्य नहीं जानपाते, इसी प्रकार विद्वानों के अभिप्राय को भी साधारण जन नहीं जान सकते ॥ ७ ॥

भाष्यसार—**सूर्य के गुण**—सूर्योदय होने पर सब मृतक के समान उठते हैं, अतः सूर्य सबको प्राण देनेवाला है। वह प्राणों में रमण करनेवाला है। इसका कम्पन गभीर है अतः अविद्वान् लोग उसे देख नहीं सकते। वह उत्तम प्रकार से पदार्थों की प्राप्ति करानेवाला है। वह उत्तम पतनशील किरणों से युक्त है। सूर्य की ज्योति अन्तरिक्ष में विद्यमान सब लोकों को प्रकाशित करती है। सूर्य रात्रि के समय कहां होता है, इस बात को कौन जानता है? पृथिवी को सूर्य की किरण आच्छादित कर रही हैं, इस बात को कौन जानता है? इसे भी विद्वान् ही जानता है; सब नहीं ॥ ७ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है, अतः वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि जैसे सूक्ष्म होने से सूर्य की गति को अविद्वान् नहीं जान सकते वैसे वे विद्वानों के गम्भीर अभिप्राय को भी नहीं समझ सकते ॥ ७ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"सूर्य की सुपर्ण नामक किरण ने अन्तरिक्ष से ग्रहण करने योग्य तीनों लोकों को प्रकाशित किया। उस सुपर्णरश्मि की गति को कोई देख नहीं सकता, वह सबको प्राण देने वाली तथा मार्ग को प्रकाशित करके अभीष्ट स्थान पर पहुँचाती है। ऐसी किरण से युक्त सूर्य इस समय रात में कहां है, इस रहस्य को कोई नहीं जान सकता। और इस सूर्य की यह सुपर्ण नामक किरण रात्रि में किस द्युलोक को व्याप्त कर रही थी, यह भी कौन जानता है?"

इस मन्त्र में सविता=सूर्य के गुणों का वर्णन किया गया है। किन्तु सायणाचार्य ने इस तथ्य को न समझकर सूर्य की एक सुपर्ण नामक किरण-परक व्याख्या की है। यद्यपि निघण्टु (१। १५) में सुपर्ण शब्द रश्मि-नामों में पठित है, किन्तु यहाँ इस पद के समास तथा स्वर से स्पष्ट है कि यहाँ 'सुपर्णः' शब्द 'सूर्यः' पद का विशेषण है। सायण की यहाँ विशेषण-विशेष्य-भाव के समझने में महाभ्रान्ति रही है। इस पद में 'शोभनाः पतनशील रश्मयो यस्य' स सुपर्णः (सूर्यः) इस विग्रह के अनुसार बहुव्रीहि समास है। और बहुव्रीहि समास में पूर्वपद का प्रकृति स्वर प्राप्त होने पर 'नञ्सुभ्याम्' (अ० ६। २। १७२) सूत्र से बहुव्रीहि समास स्वर का अपवाद उत्तर पद को अन्तोदात्त हुआ है। सायण-भाष्य में भी यही स्वीकार किया है। जब यहां बहुव्रीहि समास है, और बहुव्रीहि समास सर्वोपसर्जनीभूत होता है, अथवा अन्यपदार्थप्रधान होता है। यदि यह 'सुपर्ण' पद रश्मि-वाचक हो तो किस का विशेषण होगा? मन्त्र में 'सूर्यः' पद तो है, किन्तु दूसरा कोई ऐसा पद नहीं है, जिसका 'सुपर्णः' विशेषण हो। अतः सायण का मन्त्रार्थ सुपर्ण-किरण परक होने से भ्रान्त तथा अपूर्ण है। मन्त्र के दूसरे ('असुरः=प्राणप्रदः' 'सुनीथः=शोभनप्रापणः') इत्यादि विशेषणों की सूर्य के साथ पूर्णतः संगति है।

---

१. सुपर्णः शोभनपतनः सूर्यस्य रश्मिः अन्तरिक्षाणि अन्तरिक्षोपलक्षितानि लोकत्रयस्थानानि वि अख्यत् विशेषेण ख्यापितवान् प्रकाशितवान्। कीदृशो रश्मिः। गभीरवेपाः गम्भीरकम्पनः। रश्मेः प्रकम्पनं चलनं केनापि द्रष्टुमशक्यम्। असुरः सर्वेषां प्राणदः। सुनीथः सुनयनः सुप्रापणः। मार्गप्रकाशनेन अभीष्टदेशं प्रापयतीत्यर्थः। तादृशरश्मियुक्तः सूर्यः इदानीं रात्रौ क्व कुत्र वर्त्तते। तदेतद्रहस्यं कश्चिकेत को जानाति। न कोपीत्यर्थः। अस्य सूर्यस्य रश्मिः कतमां द्याम् आततान कं द्युलोकं रात्रौ व्याप्तवान्, एतदपि को जानाति॥ (सायणः)

और 'क्वेदानीं सूर्यः कश्चिकेत' मन्त्र के इस भाग की भी सायण-व्याख्या भ्रान्त है। रात्रि के समय सूर्य या सूर्य की किरण कहाँ होती हैं, इसे कोई भी नहीं जानता, सायण का यह कथन उनके अज्ञान को प्रकट करता है। सूर्य रात के समय कहां होता है, इसका उत्तर देते हुए महर्षि-दयानन्द लिखते हैं—'यदायं भूगोलो भ्रमणेन सूर्यप्रकाशमाच्छाद्यान्धकारं जनयति तदाऽविद्वांसो जनाः पृच्छन्ती-दानीं सूर्यः क्व गत इति। तं प्रश्नमुत्तरेणैवं समादध्यात् पृथिव्या अपरे पृष्ठेऽस्तीति यस्य चालनमतीव-सूक्ष्ममस्त्यतः प्राकृतैर्जनैर्न विज्ञायते।' (भावार्थ में) अर्थात् जब यह पृथिवी भ्रमण के द्वारा सूर्य-प्रकाश को ढककर अन्धकार पूर्ण हो जाती है, तब अविद्वान् लोग पूछते हैं कि इस समय सूर्य कहां गया? उनको उत्तर इस प्रकार देवे कि सूर्य रात के समय पृथिवी के दूसरे भाग पर है। सूर्य का चलना बहुत सूक्ष्म है, इसे साधारण मनुष्य नहीं जान पाते। किन्तु विद्वान् जानते ही हैं। अतः सायण का यह कथन अज्ञानमूलक है कि रात के समय सूर्य कहां है? इसे कोई भी नहीं जानता। और यह सूर्य पहले भी प्रकाश देता था और अब भी दे रहा है और आगे भी देता रहेगा। इस सामान्य बात को न समझकर सायण ने मन्त्रोक्त 'अख्यत्' 'आततान' क्रियाओं के भूतकालीन अर्थ किए हैं। इससे उनकी वैदिक नियमों से अनभिज्ञता भी प्रकट होती है॥ ७॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **सविता** (सूर्यः) देवता। भुरिक्पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

पुनरेतस्य कृत्यमुपदिश्यते॥

फिर इस सूर्य के कृत्य का उपदेश किया जाता है॥

अष्टौ व्यख्यत्ककुभः पृथिव्यास्त्री धन्व योजना सप्त सिन्धून्।
हिरण्याक्षः सविता देव आगाद्दधद्रत्ना दाशुषे वार्याणि॥ ८॥

अष्टौ। वि। अख्यत्। ककुभः। पृथिव्याः। त्री। धन्व। योजना। सप्त। सिन्धून्। हिरण्यऽअक्षः। सविता। देवः। आ। अगात्। दधत्। रत्ना। दाशुषे। वार्याणि॥ ८॥

पदार्थः—(अष्टौ) चतस्रो दिश उपदिशश्च (वि) विशेषार्थे क्रियायोगे (अख्यत्) ख्यापयति (ककुभः) दिशः। **ककुभइति दिङ्नामसु पठितम्।** निघं० १। ६। (पृथिव्याः) भूमेः सम्बन्धिनीः (त्री) त्रीणि भूम्यन्तरिक्षप्रकाशस्थानि भुवनानि (धन्व) प्राप्तव्यानि। अत्र **गत्यर्थाद्धविधातोरौणादिकः कनिन्। सुपां सुलुग्** इति विभक्तेर्लुक्। (योजना) युज्यन्ते सर्वाणि वस्तूनि येषु भुवनेषु तानि योजनानि। अत्र **शेश्छन्दसि** इति शेर्लोपः (सप्त) सप्तसङ्ख्याकान् (सिन्धून्) भूम्यन्तरिक्षोपर्युपरिस्थितान् (हिरण्याऽक्षः) हिरण्यानि ज्योतींष्यक्षीणि व्याप्तिशीलानि यस्य सः (सविता) वृष्ट्युत्पादकः (देवः) द्योतनात्मकः (आ) समन्तात् (अगात्) एति=प्राप्नोति अत्र **लडर्थे लुङ्। इणो गा लुङि।** अ०। २। ४। ४५। इति गा आदेशः। (दधत्) दधातीति दधत्सन् (रत्ना) सुवर्णादीनि रमणीयानि (दाशुषे) सर्वोपकारकाय विद्यादि-दानशीलाय यजमानाय (वार्य्याणि) वरितुं ग्रहीतुं योग्यानि॥ ८॥

प्रमाणार्थ—(ककुभः) यह पद निघण्टु (१।६) में 'दिक्'-नामों में पढ़ा है—दिक्=दिशा। (धन्व) यहां गति अर्थ वाली 'धवि' धातु से औणादिक 'कनिन्' प्रत्यय है 'सुपां सुलुक्० (अ० ७। १। ३९) इस सूत्र से विभक्ति का लुक् है। (योजना) यहां 'शेश्छन्दसि' (अ० ६।१।७०) इस सूत्र से 'शि' का लोप है। (अगात्) यहां 'लट्' लकार के अर्थ में 'लुङ्' लकार है। इणो गा लुङि' (अ० २। ४। ४५) इस सूत्र से 'इण् धातु को 'गा' आदेश है॥ ८॥

अन्वयः—हे सभेश त्वं यथा यो हिरण्याक्षः सविता देवः सूर्यलोकः पृथिव्याः सम्बन्धिनीरष्टौककुभस्त्री त्रीण्युपर्यधोमध्यस्थानि धन्वानि योजनानि तदुपलक्षितान् मार्गान् सप्तसिंधूँश्च व्यख्यद्विख्यापयति स दाशुषे वार्याणि रत्ना रत्नानि दधत्सन्नागात् समन्तादेति तथा भूतः सन् वर्त्तस्व ॥ ८ ॥

सपदार्थान्वयः—हे सभेश! त्वं यथा यो हिरण्याक्षः हिरण्यानि=ज्योतींष्यक्षीणि=व्याप्तिशीलानि यस्य सः सविता वृष्ट्युत्पादकः देवः सूर्यलोको द्योतनात्मकः पृथिव्याः भूमेः सम्बन्धिनीः अष्टौ चतस्रो दिश उपदिशश्च ककुभः दिशः त्री=त्रीण्युपर्यधोमध्यस्थानि त्रीणि भूम्यन्तरिक्षप्रकाशस्थानि भुवनानि [धन्व] धन्वानि प्राप्तव्यानि [योजना] योजनानि=तदुपलक्षितान् मार्गान् युज्यन्ते सर्वाणि वस्तूनि येषु भुवनेषु तानि योजनानि सप्तसिंधून् सप्तसंख्याकान् भूम्यन्तरिक्षोपर्युपरिस्थितान् च वि+अख्यत्=विख्यापयति विशिष्टतया ख्यापयति, स दाशुषे सर्वोपकारकाय विद्यादिदानशीलाय यजमानाय वार्य्याणि वरितुं=ग्रहीतुं योग्यानि रत्ना=रत्नानि सुवर्णादीनि रमणीयानि दधत् सन् दधातीति दधत् सन् आ+अगात्=समन्तादेति समन्तादेति=प्राप्नोति, तथाभूतः सन् वर्त्तस्व ॥ ८ ॥

भाषार्थ—हे सभाध्यक्ष ! आप—जैसे जो (हिरण्याक्षः) व्याप्तिशील ज्योतियों वाला (सविता) वृष्टि का उत्पादक (देवः) प्रकाशात्मक सूर्य (पृथिव्याः) पृथिवी-सम्बधी (अष्टौ) आठ (ककुभः) चार दिशा और उपदिशाओं को (त्री) तीन—ऊपर, नीचे और मध्य में स्थित भूमि अन्तरिक्ष और प्रकाश में विद्यमान [धन्व] प्राप्त करने योग्य [योजना] सब वस्तुओं से युक्त लोकों को एवं तदुपलक्षित मार्गों को और (सप्तसिन्धून्) भूमि और अन्तरिक्ष के ऊपर-ऊपर स्थित सात सागरों को (वि+अख्यत्) विख्यात=प्रकाशित करता है, वह (दाशुषे) सबके उपकारक, विद्यादि दानशील यजमान के लिए (वार्याणि) ग्रहण करने योग्य (रत्ना) सुवर्ण आदि रमणीय पदार्थों को (दधत्) धारण करता हुआ (आ+अगात्) सब ओर प्राप्त होता है— वैसे होकर वर्ताव करो ॥ ८ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । यथाऽयं सूर्यलोकः सर्वाणि मूर्त्तद्रव्याणि प्रकाश्य छित्वा वायुद्वाराऽन्तरिक्षे नीत्वा तस्मादधो निपात्य सर्वाणि रमणीयानि सुखानि जीवार्थं नयति । पृथिव्या मध्ये स्थितानामेकोनपञ्चाशत् क्रोशपर्यन्तेऽन्तरिक्षे स्थूलसूक्ष्मलघुगुरुत्वरूपेण स्थितानां चापां सप्तसिंधिति संज्ञिताः सर्वा आकर्षणेन धरति च तथा सर्वैर्विद्वद्भिर्विद्याधर्म्माभ्यां सकलान् मनुष्यान् धृत्वाऽऽनन्दयितव्याः ॥ ८ ॥

भावार्थ— यहां वाचकलुप्तोपमा अलंकार है । जैसे यह सूर्यलोक सब मूर्तिमान् पदार्थों का प्रकाश और छेदन कर, वायु द्वारा अन्तरिक्ष में लेजाकर, वहां से नीचे डालकर, सब रमणीय सुखों को जीव के लिए प्राप्त कराता है, और पृथिवी में स्थित उनचास क्रोश पर्यन्त अन्तरिक्ष में स्थूल, सूक्ष्म, लघु, गुरु, रूप से स्थित जलों को जिनकी सप्तसिन्धु संज्ञा है, इन सबको आकर्षण से धारण करता है, वैसे सब विद्वान् विद्या और धर्म से सकल मनुष्यों को धारण करके, आनन्दित करें ॥ ८ ॥

भाष्यसार—सूर्य के कृत्य का उपदेश—सूर्य व्याप्तिशील ज्योतियोंवाला, वृष्टि का उत्पादक और प्रकाशात्मक है । वह पृथिवी-सम्बन्धी आठ दिशाओं (चार दिशा और चार उपदिशा) को प्रकाशित करता है । वह ऊपर नीचे और मध्य में स्थित एवं भूमि, अन्तरिक्ष और प्रकाश में विद्यमान लोकों को विख्यात करता है । वह भूमि और अन्तरिक्ष के ऊपर-ऊपर स्थित सात सागरों को प्रसिद्ध करता है । दानशील यजमान के लिए ग्रहण करने योग्य सुवर्ण आदि रमणीय पदार्थों को धारण करता है । वैसे सभाध्यक्ष मन्त्रोक्त सूर्य के तुल्य वर्ताव करें ॥ ८ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है अतः वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि सभाध्यक्ष मन्त्रोक्त सूर्य के तुल्य वर्ताव करे ॥ ८ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"पृथिवी से सम्बन्ध रखने वाली, प्राची आदि चार तथा अग्नेयादि चार, इन आठों दिशाओं को सूर्य ने प्रकाशित किया। और प्राणियों को, पृथिव्यादि लोकों को तथा गंगादि नदियों या समुद्रों को सूर्य ने प्रकाशित किया। यह सुनहरी आंखों वाला सूर्य हवि देनेवाले यजमान को श्रेष्ठ रत्नों को देता हुआ सूर्य यहां आवे।"

इस मन्त्र का देवता 'सविता' है। यह सविता=वृष्टि का उत्पादक सूर्य चारों दिशाओं, चारों उपदिशाओं, पृथिव्यादि तीनों लोकों तथा सप्तसिन्धून्=भूमि व अन्तरिक्ष के मध्य नीचे ऊपर स्थित सात समुद्रों को प्रकाशित करता है। इन गुणों से विशिष्ट सविता सूर्य ही है। सायण-भाष्य में इसके विषय में निम्नलिखित दोष हैं—

१. इस मन्त्र में सूर्य के लिए 'हिरण्याक्षः' एक विशेषण पठित है। जिसकी व्याख्या सायण ने यह की है—'हिरण्यमयान्यक्षीणि यस्यासौ हिरण्याक्षः' अर्थात् जिसकी सुवर्णमय आंखें हैं, उसे 'हिरण्याक्ष' कहते हैं, यह अर्थ सूर्य के साथ कदापि संगत नहीं है, क्योंकि सूर्य की सोने की आखों का मानना खपुष्प की भांति असम्भव है। महर्षि-दयानन्द ने 'ज्योतर्वै हिरण्यम्' (श०) तथा 'अक्षि' शब्द 'अशूङ् व्याप्तौ' धात्वर्थ के अनुसार व्याप्त्यर्थक मानकर 'व्याप्तिशील ज्योतिवाला' अर्थ किया है। यह अर्थ सूर्य के साथ पूर्णतः संगत है। अतः सायण की व्याख्या असम्भव-अर्थों से पूर्ण है।

२. मन्त्रोक्त 'सप्तसिन्धून्' पद का सायण-भाष्य में 'गंगादि नदीः' अर्थ भी किया है, यह अर्थ अपूर्ण है। यदि इसका 'गंगादि सात नदियां अर्थ मान लिया जाए, तो प्रश्न यह उपस्थित होगा कि क्या सूर्य गंगादि सात नदियों को ही प्रकाशित करता है? और भी बहुत सी नदियां हैं, क्या उन्हें प्रकाशित नहीं करता? अतः यौगिक प्रक्रिया से प्रस्रवण होनेवाले सप्तसिन्धु=सात सागर अन्तरिक्षस्थ ही यहां लेने चाहिएँ। सूर्य ही इन समुद्रों का निर्माता, धारक इनसे वृष्टि कराने वाला है। महर्षि ने इस वृष्टि-विज्ञान को समझकर बहुत ही सुसंगत व्याख्या की है। और सायण ने इस विज्ञान को न समझकर असंगत व्याख्या की है।

३. और सायण की यह व्याख्या भी असम्भव है कि हवि देनेवाले यजमान को सूर्य रत्न देने के लिए यज्ञप्रदेश में आता है। मन्त्र में 'दाशुषे' पद है, जिसका अर्थ ('दाशृ' दाने) धात्वर्थ के अनुसार 'दान देनेवाला है। जो यज्ञादि के द्वारा दानशील है, उसके लिए सूर्य रत्नों को धारण करता है अथवा पोषण करता है। मन्त्र में 'दधत्' क्रिया धारण-पोषणार्थक ही है। यज्ञ करने से अग्नि जिन सूक्ष्मतत्त्वों को आकाशस्थ जलों में मिश्रण कर देती है, उनसे वृष्टि का जल संस्कृत तथा पोषक होने से अन्नादि ऐश्वर्यों को देता है। वृष्टि का मुख्य कारण सूर्य है। इस वृष्टि-विज्ञान को न समझकर सायण का यह कथन कि यज्ञ में आकर सूर्य यजमान को रत्न देता है, यह असम्भव तथा मिथ्या कथन है। इसी प्रकार मन्त्र-पठित 'आगात्' क्रिया का सायणकृत 'आगच्छतु' अर्थ असंगत है। इतना विशाल सूर्य पृथिवी

---

१. पृथिव्याः संबन्धिनीः अष्टौ ककुभः प्राच्याद्याश्चतस्रो दिश आग्नेयाद्याश्चतस्रो विदिश इत्यष्टौ दिशः व्यख्यत् सविता प्रकाशितवान्। तथा योजना प्राणिनः स्वस्वभोगेन योजयितॄन् धन्व अन्तरिक्षोपलक्षितान् त्री त्रिसंख्याकान् पृथिव्यादिलोकान् सप्तसिन्धून् गङ्गादिनदीः समुद्रान्वा सविता व्यख्यत्। हिरण्याक्षः हितरमणीयचक्षुर्युक्तो हिरण्मयाक्षो वा सविता देवः आगात् इहागच्छतु। किं कुर्वन्? दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय वार्याणि वरणीयानि रत्नानि दधत् प्रयच्छन् ॥ (सायणः)

पर कैसे आ सकता है ? और वह जड़ होने से हमारी प्रार्थना को भी नहीं जान सकता है। और सूर्य के समीप यजमान का स्थित होना कैसे सम्भव है ? अतः यहां सूर्य का भूमि पर आना-जाना मानना सृष्टि-विज्ञान से विरुद्ध होने से माननीय नहीं हो सकता ॥ ८ ॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **सविता** (सूर्यलोकः) देवता। निचृद्जगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

पुनः स किं करोतीत्युपदिश्यते॥

हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिरुभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते।
अपामीवां बाधते वेति सूर्यमभिकृष्णेन रजसा द्यामृणोति॥ ९॥

हिरण्यऽपाणिः। सविता। विऽचर्षणिः। उभे इति। द्यावापृथिवी इति। अन्तः। ईयते। अप। अमीवाम्। बाधते। वेति। सूर्यम्। अभि। कृष्णेन॥ रजसा। द्याम्। ऋणोति॥ ९॥

पदार्थः—(**हिरण्यपाणिः**) हिरण्यानि=ज्योतींषि पाणयो=हस्तवद्ग्रहणसाधनानि यस्य सः (**सविता**) रसानां प्रसविता (**विचर्षणिः**) विलेखनस्वभावेन विच्छेदकः। **कृषेरादेश्च चः**। उ० २। १००। इति कृषविलेखने धातोरनिः प्रत्ययः। (**उभे**) द्वे (**द्यावापृथिवी**) प्रकाशपृथिव्यौ (**अन्तः**) अन्तरिक्षस्य मध्ये (**ईयते**) प्रापयति (**अप**) दूरीकरणे (**अमीवाम्**) रोगपीडाम् (**बाधते**) निवारयति (**वेति**) प्रजनयति। अत्रान्तर्गतो ण्यर्थः। (**सूर्यम्**) सरणशीलं स्वकीयरश्मिगणम् (**अभि**) सर्वतोभावे (**कृष्णेन**) पृथिव्यादिना (**रजसा**) लोकसमूहेन (**द्याम्**) प्रकाशम् (**ऋणोति**) प्रापयति। अत्रान्तर्गतो ण्यर्थः॥ ९॥

प्रमाणार्थ—(**विचर्षणिः**) यहाँ 'कृषेरादेश्च चः' (२। १००) इस उणादि सूत्र से विलेखन अर्थ वाली 'कृष' धातु से 'इनिः' प्रत्यय है॥ ९॥

अन्वयः—भोः सभाध्यक्ष यथा हिरण्यपाणिर्विचर्षणिः सविता सूर्यलोक उभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते अमीवामपबाधते सूर्यमभिवेति कृष्णेन रजसा सह द्यामृणोति तथाभूतस्त्वं भव॥ ९॥

सपदार्थान्वयः— **भोः सभाध्यक्ष ! यथा हिरण्यपाणिः** हिरण्यानि=ज्योतींषि पाणयो=हस्तवद्ग्रहणसाधनानि यस्य सः **विचर्षणिः** विलेखनस्वभावेन विच्छेदकः **सविता=सूर्यलोकः** रसानां प्रसविता **उभे द्वे द्यावापृथिवी** प्रकाशपृथिव्यौ **अन्तरीयते** अन्तरिक्षस्य मध्ये प्रापयति, **अमीवां** रोगपीडाम् **अप+बाधते** दूरीकर्त्तुं निवारयति, **सूर्य्यं** संसरणशीलं स्वकीयरश्मिगणम् **अभि+वेति** सर्वतः प्रजनयति, **कृष्णेन** पृथिव्यादिना **रजसा** लोकसमूहेन **सह द्यां** प्रकाशम् **ऋणोति** प्रापयति; **तथाभूतस्त्वं भव॥ ९॥**

भाषार्थ—हे सभाध्यक्ष ! जैसे—(**हिरण्यपाणिः**) ज्योतियां जिसके हाथ के समान ग्रहण-साधन है; जो (**विचर्षणिः**) विलेखन स्वभाव वाला होने से पदार्थों का विच्छेदक और (**सविता**) रसों का उत्पादक सूर्य है, वह (**उभे**) दोनों (**द्यावापृथिवी**) द्यावापृथिवी को (**अन्तरीयते**) अन्तरिक्ष के मध्य में पहुँचाता है; (**अमीवाम्**) रोग-पीड़ा को (**अप+बाधते**) दूर करता है; (**सूर्यम्**) गतिशील अपने रश्मि-गण को (**अभि+वेति**) सब ओर उत्पन्न करता है; (**कृष्णेन**) प्रकाशरहित पृथिवी आदि (**रजसा**) लोकसमूह के साथ (**द्याम्**) प्रकाश को (**ऋणोति**) प्राप्त करता है—वैसे आप भी बनो॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः।

भावार्थ—यहाँ वाचकलुप्तोपमा अलंकार

हे सभापते यथायं सूर्यो बहुभिर्लोकैः सहाकर्षण-संबन्धेन वर्त्तमानः सर्वं वस्तुजातं प्रकाशयन् प्रकाश-पृथिव्योरान्तर्यं करोति तथैव त्वया भवितव्यमिति ॥

है। हे सभापते ! जैसे यह सूर्यलोक बहुत लोकों के साथ आकर्षण सम्बन्ध से वर्त्तमान सब वस्तु मात्र को प्रकाशित करता हुआ प्रकाश और पृथ्वी में मेल करता है, वैसे आप भी होओ ॥ ६ ॥

भाष्यसार—**सूर्य क्या करता है**—सूर्य की ज्योतियाँ हाथ के समान ग्रहण-साधन हैं। वह विलेखन स्वभाव वाला होने से पदार्थों का विच्छेदक है। और वह रसों का उत्पादक है। वह द्यावापृथिवी दोनों को अन्तरिक्ष के मध्य में पहुँचाता है। रोग-पीड़ा का निवारण करता है। वह संसरणशील अपने रश्मिगण को सब ओर उत्पन्न करता है। वह प्रकाशरहित पृथिवी आदि लोक-समूह के साथ अपने प्रकाश को प्राप्त करता है। वैसे सभाध्यक्ष भी मन्त्रोक्त सूर्य के समान वर्ताव करे ॥ ६ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है, अतः वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि सभाध्यक्ष मन्त्रोक्त सूर्य के समान वर्ताव करे ॥ ६ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"यजमानों को देने के लिए सुवर्ण हाथ में लिए तथा नाना प्रकार के दर्शनों से युक्त सविता देव द्युलोक व पृथिवी-लोक दोनों के बीच में गति करता है। और रोगादि बाधाओं को दूर कर देता है। वैसे ही सूर्य गति करता है। और अन्धकार को दूर करनेवाले तेज से आकाश को सब ओर से व्याप्त करता है।"

इस मन्त्र में सविता=सूर्य को 'हिरण्य-पाणिः' कहा है। इसके प्राकरणिक अर्थ को न समझ-कर सायण ने यह असंगत अर्थ किया है कि सूर्य सुवर्णमय हाथों वाला है। अथवा सूर्य यजमानों को देने के लिए हाथों में सोना लिए हुए है। क्या सूर्य के हाथादि अवयव मानना प्रत्यक्ष व विज्ञान से विरुद्ध कथन नहीं है ? महर्षि-दयानन्द ने इस पद का बहुत ही प्राकरणिक तथा विज्ञानानुकूल अर्थ किया है—"हिरण्यानि=ज्योतींषि पाणयः=हस्तवद्ग्रहणसाधनानि यस्य=ज्योतियां जिसके हाथ के समान ग्रहण करने के साधन हैं," ऐसा सूर्य 'हिरण्यपाणिः' कहलाता है।

और इस मन्त्र में 'सविता' तथा 'सूर्यम्' दो विभिन्न विभक्ति के पद पठित हैं। इसका अर्थ सायण ने यह किया है—सविता सूर्य को प्राप्त करता है। इससे स्पष्ट है कि सायण सविता तथा सूर्य में भेद मानते हैं, यह उनका अज्ञान है। 'सूर्यं वेति' की महर्षि-दयानन्द की सुसंगत व्याख्या देखिए—(सविता) सूर्यं संसरणशीलं स्वकीयरश्मिगणम्, अभि+वेति=सर्वतः प्रजनयति=अर्थात् सूर्य गतिशील अपनी किरणों को सब ओर उत्पन्न करता है। महर्षि ने यहां यौगिक प्रक्रिया के आश्रय से सत्यार्थ का प्रकाश किया है। किन्तु सायण भ्रान्त ही प्रतीत हो रहे हैं।

और इसी प्रकार 'कृष्णेन रजसा' की व्याख्या सायण ने 'अन्धकार-निवर्त्तक तेज' किया है। यद्यपि इससे संगति लगाने का सायण ने प्रयत्न तो किया है किन्तु 'रजसा' का जो 'तेज' अर्थ किया है, उसमें कोई प्रमाण नहीं दिया है। स्वयं सायण ने इस सूक्त के दूसरे मन्त्र में 'लोका रजांस्युच्यन्ते'

---

१. हिरण्यपाणिः सुवर्णमयहस्तयुक्तः। यद्वा यजमानेभ्यो दातुं हिरण्यं हस्ते धृतवान्। विचर्षणिः विविधदर्शनयुक्तः। सविता देवः उभे द्यावापृथिवी अन्तः उभयोर्लोकयोर्मध्ये ईयते गच्छति। अमीवां रोगादिबाधाम् अपबाधते सम्यक् निराकरोति। तथा सूर्यं वेति गच्छति। यद्यपि सवितृ-सूर्ययोरेकदेवतात्वं तथापि मूर्त्तिभेदेन गन्तृगन्तव्यभावः। कृष्णेन तमसः कर्षकेण निवर्त्तकेन रजसा तेजसा द्याम् आकाशम् अभिऋणोति सर्वतो व्याप्नोति ॥ (सायणः)

(निरु० ४। १९) प्रमाण को उद्धृत किया है, किन्तु पता नहीं यहां वह अर्थ क्यों नहीं दिखाया ? प्रतीत होता है कि यहां 'लोक' अर्थ की सायण को संगति नहीं सूझी। अतः अप्रामाणिक अर्थ का ही आश्रय सायण ने किया है। महर्षि ने 'रजसा' पद को 'लोक' अर्थ में ही सुसंगत व्याख्या की है॥ ९॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **सविता (वायुः)** देवता। विराट् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

अथ वायुगुणा उपदिश्यन्ते॥

अब वायु के गुणों का उपदेश किया जाता है॥

हिरण्यहस्तो असुरः सुनीथः सुमृळीकः स्ववाँ यात्वर्वाङ्।
अपसेधन्रक्षसो यातुधानानस्थाद्देवः प्रतिदोषं गृणानः॥ १०॥

हिरण्यऽहस्तः। असुरः। सुऽनीथः। सुऽमृळीकः। स्वऽवान्। यातु। अर्वाङ्। अपऽसेधन्। रक्षसः। यातुऽधानान्। अस्थात्। देवः। प्रतिऽदोषम्। गृणानः॥ १०॥

पदार्थः—(**हिरण्यहस्तः**) हिरण्यानि=सर्वतो गमनानि हस्ता इव यस्य सः। अत्र **गत्यर्थाद्धर्य्यधातोरौणादिकः कन्यन् प्रत्ययः**। (**असुरः**) असून्=प्राणान् राति=ददात्यविद्यमानरूपगुणो वा सोऽसुरो वायुः। **आतोनुपसर्गे कः**। अ० ३। २। ३। इत्यसूपपदाद्राधातोः कः। (**सुनीथः**) शोभनं नीथो=नयनं प्रापणं यस्य सः (**सुमृडीकः**) यः शोभनेन मृडयति=सुखयति सः। **मृडः कीकच्कङ्कणौ**। उ० ४। २५। इति कीकच्। (**स्ववान्**) स्वे=प्रशस्ताः स्पर्शादयो गुणा विद्यन्ते यस्मिन् सः। अत्र **प्रशंसार्थे मतुप्**। (**यातु**) प्राप्नोति प्राप्नोतु वा (**अर्वाङ्**) अर्वतः=स्वकीयानघ ऊर्ध्वतिर्यग्गमनास्त्यवेगानञ्चति=प्राप्नोतीति। अत्र **ऋत्विग्दधृक्०**। इति क्विन्। **क्विन्प्रत्ययस्य कुः** इति कवर्गादेशः। (**अपसेधन्**) निवारयन् सन् (**रक्षसः**) चोरादीन् दुष्टकर्मकर्तॄन्। **रक्षो रक्षयितव्यमस्मात्**। निरु० ४। १८। (**यातुधानान्**) यातवो=यातनाः पीडा धीयन्ते येषु तान् दस्यून् (**अस्थात्**) स्थितवानस्ति (**देवः**) सर्वव्यवहारसाधकः (**प्रतिदोषम्**) रात्रिं रात्रिं प्रति। अत्र **दोषेति रात्रिनामसु पठितम्**। निघं० १। ७। (**गृणानः**) स्वगुणैः स्तोतुमर्हः॥ १०॥

प्रमाणार्थ—(**हिरण्यहस्तः**) यहां गति अर्थ वाली 'हर्य्य' धातु से औणादिक 'कन्यन्' प्रत्यय है। (**असुरः**) 'आतोऽनुपसर्गे कः' (अ० ३। २। ३) इस सूत्र से 'असु' उपपद पूर्वक 'रा' धातु से 'क' प्रत्यय है। (**सुमृडीकः**) यहां 'मृडः कीकच्कङ्कणौ' (४। २५) इस उणादि सूत्र से 'कीकच्' प्रत्यय है। (**स्ववान्**) यहां प्रशंसा अर्थ में मतुप् प्रत्यय है। (**अर्वाङ्**) यहां 'ऋत्विक्दधृक्०' (अ० ३। २। ५९) इस सूत्र से 'क्विन्' प्रत्यय और 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (अ० ८। २। ६२) इस सूत्र से कवर्ग आदेश है। (**रक्षसः**) निरुक्त (४। १८) के अनुसार इस पद का अर्थ—'जिनसे रक्षा की जाये है'। (**प्रतिदोषम्**) 'दोषा' यह पद निघण्टु (१। ७) में रात्रि-नामों में पढ़ा है॥ १०॥

अन्वयः—हे सभेश भवान् यथाऽयं हिरण्यऽहस्तोऽसुरः सुनीथः सुमृडीकः स्ववानर्वाङ् वायुर्याति सर्वतश्चलति। एवं प्रति दोषं गृणानो देवो वायुर्दुःखानि निवार्य सुखानि प्रापयित्वाऽस्थात् तथा यातुधानान्रक्षसोऽपसेधन् सर्वान् दुष्टान्निवारयन् श्रेष्ठान् यातु प्राप्नोतु॥ १०॥

सपदार्थान्वयः—हे सभेश ! भवान्

भाषार्थ—हे सभाध्यक्ष ! आप—जैसे यह

यथाऽयं हिरण्यहस्तः हिरण्यानि=सर्वतो गमनानि हस्ता इव यस्य सः **असुरः** असून्=प्राणान् राति=ददात्यविद्यमानरूपगुणो वा सोऽसुरो वायुः **सुनीथः** शोभनं नीथो=नयनं=प्रापणं यस्य सः **सुमृडीकः** यः शोभनेन मृडयति=सुखयति सः **स्ववान्** स्वे प्रशस्ताः स्पर्शादयो गुणा=विद्यन्ते यस्मिन् सः **अर्वाङ्** अर्वतः = स्वकीयानधऊर्ध्वतिर्यग्गमनाख्यवेगान्=श्वति=प्राप्नोतीति **वायुः** [**यातु**] **याति=सर्वतश्चलति** प्राप्नोति **एवं प्रतिदोषं** रात्रिं रात्रिं प्रति **गृणानः** स्वगुणैः स्तोतुमर्हः **देवः=वायुः** सर्वव्यवहारसाधकः **दुःखानि निवार्य्य सुखानि प्रापयित्वाऽस्थात्** स्थितवानस्ति; **तथा यातुधानात्** यातवो=यातनाः पीडा धीयन्ते येषु तान् दस्यून् **रक्षसः** चोरादीन् दुष्टकर्मकर्तॄन् **अपसेधन्=सर्वान् दुष्टान् निवारयन्** सन् **श्रेष्ठान् यातु=प्राप्नोतु** ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। हे सभापते यथायं वायुः स्वकीयाकर्षणबलादिगुणैः सर्वान् पदार्थान् व्यवस्थापयति यथा च दिवसे चोराः प्रबला भवितुं नार्हन्ति तथैव भवतापि भवितव्यम्। येन जगदीश्वरेण बहुगुणसुखप्रापका वाय्वादयः पदार्था रचितास्तस्मै सर्वे धन्यवादा देयाः ॥ १० ॥

(**हिरण्यहस्तः**) हाथों के समान सब ओर गतिवाला (**असुरः**) प्राण देनेवाला, रूप गुण से रहित (**सुनीथः**) अच्छे प्रकार सबको प्राप्त होनेवाला (**सुमृडीकः**) उत्तम सुख देनेवाला (**स्ववान्**) प्रशस्त स्पर्श आदि गुणों से युक्त (**अर्वाङ्**) अपने नीचे-ऊँचे और टेढ़े जानेवाले वेगों को प्राप्त करनेवाला वायु [**यातु**] सब ओर चलता है, प्राप्त होता है; और (**प्रतिदोषम्**) प्रत्येक रात्रि में (**गृणानः**) अपने गुणों से स्तुति के योग्य (**देवः**) सब व्यवहारों का साधक वायु दुःखों का निवारण कर तथा सुखों को प्राप्त कराकर (**अस्थात्**) अवस्थित है—वैसे (**यातुधानात्**) यातनाओं के आधार दस्युओं और (**रक्षसः**) दुष्ट कर्म करनेवाले चोर आदि को (**अपसेधन्**) निवारण करते हुए श्रेष्ठ जनों को (**यातु**) प्राप्त करो ॥ १० ॥

भावार्थ—यहां वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। हे सभापते! जैसे यह वायु अपने आकर्षण, बल आदि गुणों से सब पदार्थों को व्यवस्थित रखता है, और जैसे दिन में चोर प्रबल नहीं हो सकते, वैसे ही आप भी होओ। जिस जगदीश्वर ने बहुत गुण और सुखों को प्राप्त कराने वाले वायु आदि पदार्थ बनाये हैं, उसको सब धन्यवाद देवें ॥

भाष्यसार—**वायु के गुण**—वायु हाथों के समान सब ओर गतिवाला, प्राणशक्ति देनेवाला, रूप गुण से रहित, अच्छे प्रकार सबको प्राप्त होनेवाला, उत्तम सुख देनेवाला, प्रशस्त स्पर्श आदि गुणों से युक्त, अपने नीचे, ऊँचे और टेढ़े जानेवाले वेगों को प्राप्त करनेवाला है। यह सब ओर चलता है, प्राप्त होता है। यह सदा अपने गुणों से स्तुति के योग्य है। यह सब व्यवहारों का साधक-वायु दुःखों का निवारण करके सुखों को प्राप्त कराता है।

वायु के सदृश गुणों से युक्त सभाध्यक्ष दस्युओं और चोर आदि का निवारण करे और श्रेष्ठ जनों को प्राप्त करे ॥ १० ॥

अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है, अतः वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि सभाध्यक्ष मन्त्रोक्त वायु के सदृश गुणों को धारण करे ॥ १० ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"यह सुवर्ण हाथ में लिए सविता-देव

---

१. हिरण्यहस्तः असुरः प्राणदाता सुनीथः सुष्ठु नेता प्रशस्य इत्यर्थः। सुमृळीकः सुष्ठु सुखयिता स्ववान् धनवान् अर्वाङ् अभिमुखः कर्मदेशे गच्छतु। किं चायं देवः प्रति दोषं प्रतिरात्रि गृणानः स्तूयमानः अस्थात् स्थितवान्। किं कुर्वन्? रक्षसः बाधकत्वेन रक्षणनिमित्तभूतान् यातुधानान् असुरान् अपसेधन् निराकुर्वन्॥ (सायणः)

प्राण देनेवाला तथा प्रशस्य नेता है। और वह सुख देनेवाला व धनवान् देव हमारे कर्म करने के स्थान पर आए। और यह देव प्रत्येक रात्रि में स्तुति किया जाता हुआ तथा राक्षसों को दूर करता हुआ स्थित था।"

इस मन्त्र का देवता 'सविता' है। उसका इस मन्त्र में क्या अर्थ है, यह विचारणीय है। सविता के विषय में निरुक्तकार लिखते हैं—

'सविता सर्वस्य प्रसविता।.....कमन्यं मध्यमाद् एवमवक्ष्यत्। आदित्योऽपि सवितोच्यते॥' (निरु० १०। ३१-३२)

अर्थात् जो सब का प्रेरक है, वह सविता देव है। 'सविता यंत्रैः०' इस मन्त्र में मध्यम देव (वायु) से भिन्न किस देव के विषय में इस प्रकार कहा जा सकता है। सूर्य को भी 'सविता' कहते हैं।

इससे स्पष्ट है कि 'सविता' का अर्थ निरुक्त में 'सबका प्रेरक' माना है। और उनमें वायु तथा सूर्य के मन्त्र देकर व्याख्या भी की है। आचार्य-सायण ने इस यौगिक-प्रक्रिया को छोड़कर 'सविता' पद से सूर्य का ही ग्रहण किया है, यह उनकी भ्रान्ति है। यद्यपि मन्त्र में कहे कुछ विशेषण सूर्य के साथ भी संगत हो सकते हैं, परन्तु अर्वाङ्=नीचे-ऊपर तथा टेढ़े जाने वाले वेगों का प्राप्त करने वाला, प्रतिदोषं गृणानः=प्रत्येक रात्रि में स्तुति किया जाता हुआ, इत्यादि विशेषणों की संगति सूर्य के साथ कदापि नहीं हो सकती। क्योंकि सूर्य टेढ़ी गति से नहीं चलता और रात के समय सूर्य की स्तुति भी सम्भव नहीं। अतः महर्षि-दयानन्द ने इस मन्त्र के देवता 'सविता' का वायु अर्थ किया है। और मन्त्र के प्रतिपाद्य देवता की व्याख्या करके प्रकरणानुकूल ही मन्त्र की व्याख्या की है।

आचार्य-सायण को मन्त्र के देवता के विषय में तो भ्रान्ति रही ही है, और भी सायण ने भूल की है। मन्त्र में कहा है कि सविता देव "अपसेधन् रक्षसो यातुधानान्=दस्युओं व दुष्ट कर्म करने वाले चोरादि का निवारण करता है। इस अर्थ की संगति सूर्य के साथ कदापि नहीं है। दस्यु चोरादि को दण्ड देकर दुष्टकर्मों से रोकना राजा का काम है, सूर्य का नहीं। महर्षि-दयानन्द ने उपमान-उपमेय भाव से वायु की भांति राजा के कर्त्तव्यों का वर्णन मन्त्र-व्याख्या में किया है।

और सायण की भांति यहां स्कन्दस्वामी भी व्याख्या में भ्रान्त ही रहे हैं। उन्होंने मन्त्रोक्त 'असुरः' पद का 'प्रज्ञावान्' अर्थ किया है। इन सविता सूर्यपरक व्याख्या करनेवालों ने यह विचार भी नहीं किया कि क्या अचेतन पदार्थों में भी बुद्धि हो सकती है? यहाँ उन्होंने दर्शनों की विद्या से अनभिज्ञ होकर ही सूर्य को 'प्रज्ञावान्=बुद्धिमान्' कहा है। इन व्याख्याकारों को जड़-चेतन के लक्षणों का भी ज्ञान नहीं है॥ १०॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। **सविता** (ईश्वरः) देवता। विराट् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

अथ सवितृशब्देनेश्वर उपदिश्यते॥

अब सविता शब्द से ईश्वर का उपदेश किया जाता है॥

ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासोऽरेणवः सुकृता अन्तरिक्षे।
तेभिर्नो अद्य पथिभिः सुगेभी रक्षा च नो अधि च ब्रूहि देव॥ ११॥

ये। ते। पन्थाः। सवितः। पूर्व्यासः। अरेणवः। सुऽकृताः। अन्तरिक्षे। तेभिः। नः। अद्य। पथिभिः। सुऽगेभिः। रक्ष। च। नः। अधि। च। ब्रूहि। देव॥ ११॥

पदार्थः—(ये) वक्ष्यमाणाः (ते) तव (पन्थाः) धर्ममार्गाः। अत्र **सुपां सुलुग्** इति जसः स्थाने सुः (सवितः) सकलजगदुत्पादकेश्वर (पूर्व्यासः) पूर्वैः कृताः=साधिताः सेविताश्च। अत्र **पूर्वैः कृतमिनियौ च**। अ० ४। ४। १३३। इति पूर्वशब्दाद्यः प्रत्ययः **आज्जसेरसुग्** इत्यसुगागमश्च। (अरेणवः) अविद्यमाना रेणवो=धूल्यंशा इव विघ्ना येषु ते। **अजिवृरी०**। उ० ३। ३७। इति रीधातोर्णुः प्रत्ययः। (सुकृताः) सुष्ठु निर्मिताः (अन्तरिक्षे) स्वव्याप्तिरूपे ब्रह्माण्डे (तेभिः) तैः (नः) अस्मान् (अद्य) अस्मिन्नहनि (पथिभिः) उक्तमार्गैः (सुगेभिः) सुखेन गच्छन्ति येषु तैः। **सुदुरोरधिकरणे०**। अ० ३। २। ४८। इति वार्त्तिकेन सूपपदाद् गमधातोर्डः प्रत्ययः (रक्ष) पालय। अत्र **द्व्यचोतस्तिङ इति दीर्घः**। (च) समुच्चये (नः) अस्मभ्यम् (अधि) ईश्वरार्थं उपरिभावे (च) अपि (ब्रूहि) उपदिश (देवः) सर्वसुखप्रदातरीश्वर ॥ ११ ॥

प्रमाणार्थ—(पन्थाः) यहां सुपां सुलुक्० (अ० ७। १। ३९) इस सूत्र से 'जस्' प्रत्यय के स्थान पर 'सु' आदेश है। (पूर्व्यासः) यहां 'पूर्वैः कृतमिनियौ च' (अ० ४। ४। १३३) इस सूत्र से पूर्व शब्द से 'यः' प्रत्यय है तथा 'अज्जसेरसुक्' (अ० ७। १। ५०) इस सूत्र से 'असुक्' आगम है। (अरेणवः) यहां 'अजिवृरी० (३। ३७) इस उणादि सूत्र से 'री' धातु से 'णु' प्रत्यय है (सुगेभिः) यहां 'सुदुरोरधिकरणे' (अ० ३। २। ४८) इस वार्तिक सूत्र से 'सु' उपपद पूर्वक 'गम्' धातु से 'डः' प्रत्यय है। (रक्षः) यहां द्व्यचोतस्तिङः' इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—रक्षा ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे सवितर्देव जगदीश्वर त्वं कृपया ये ते तवारेणवः पूर्व्यासः सुकृताः पन्थानोन्तरिक्षे स्वव्याप्तिरूपे वर्त्तन्ते तेभिः सुगेभिः पथिभिर्नोस्मानद्य रक्ष च नोस्मभ्यं सर्वा विद्या अधिब्रूहि च ॥ ११ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **सवितः** सकलजगदुत्पादकेश्वर **देव=जगदीश्वर** सर्वसुखप्रदातरीश्वर! **त्वं कृपया ये** वक्ष्यमाणाः **ते=तवाऽरेणवः** अविद्यमाना रेणवो=धूल्यंशा इव विघ्ना येषु ते **पूर्व्यासः** पूर्वैः कृताः=साधिताः **सेविताश्च सुकृताः** सुष्ठु निर्मिताः [**पन्थाः**] **पन्थानः** धर्ममार्गाः **अन्तरिक्षे= स्वव्याप्तिरूपे** ब्रह्माण्डे **वर्त्तन्ते, तेभिः** तैः **सुगेभिः** सुखेन गच्छन्ति येषु तैः **पथिभिः** उक्तमार्गैः **नः=अस्मान् अद्य** अस्मिन्नहनि **रक्ष** पालय **च, नः=अस्मभ्यं सर्वा विद्या अधि+ब्रूहि** ईश्वरत्वेन उपरिभावत्वेन उपदिश **च** अपि ॥ ११ ॥

भावार्थः—हे ईश्वर त्वया ये सूर्यादिलोकानां भ्रमणार्था मार्गा प्राणिसुखाय च धर्ममार्गा अन्तरिक्षे स्वमहिम्नि च रचितास्तेष्विमे यथानियमं भ्रमन्ति विचरन्ति च तान् सर्वेषां पदार्थानां मार्गान् गुणांश्चास्मभ्यं ब्रूहि। येन वयं कदाचिदितस्ततो न भ्रमेमेति ॥ ११ ॥

भाषार्थ—हे (**सवितः**) सकल जगत् के उत्पादक (**देव**) सब सुखों के दाता जगदीश्वर! आप— कृपा करके (**ये**) जो (**ते**) आपके (**अरेणवः**) धूलि-अंशों के समान विघ्नों से रहित (**पूर्व्यासः**) पूर्वजों से साधित और सेवित (**सुकृताः**) अच्छे प्रकार निर्मित [**पन्थाः**] धर्म-मार्ग (**अन्तरिक्षे**) अपनी व्याप्ति रूप ब्रह्माण्ड में हैं; (**तेभिः**) उन (**सुगेभिः**) सुगम (**पथिभिः**) धर्ममार्गों से (**नः**) हमारी (**अद्य**) आज (**रक्ष**) रक्षा करो (**च**) और हमें सब विद्याओं का (**अधि+ब्रूहि**) सर्वोपरि ईश्वर भाव से उपदेश करो ॥ ११ ॥

भावार्थ—हे ईश्वर! आपने जो सूर्य आदि लोकों को घुमाने के लिए मार्ग और प्राणियों के सुख के लिए धर्म-मार्ग, आकाश और अपनी महिमा से रचे हैं, उनमें ये नियम से घूमते और विचरण करते हैं, उन सब पदार्थों के मार्गों तथा गुणों का हमें उपदेश करो जिससे हम लोग इधर-उधर चलायमान न होवें ॥ ११ ॥

भाष्यसार—ईश्वर-प्रार्थना—हे सकल जगत् के उत्पादक, सब सुखों के दाता जग-

दीश्वर ! जो आपके विघ्नरहित, पूर्वजों से साधित और सेवित, अच्छे प्रकार निर्मित धर्म-मार्ग आपकी महिमा में हैं, तथा सूर्य आदि लोकों के भ्रमणार्थ अन्तरिक्ष में मार्ग बनाये हैं। उनसे आप हमारी रक्षा करो। आप सर्वोपरि ईश्वर होने से हमें सब विद्याओं का उपदेश करो। जिससे हम इधर-उधर न भटक जायें॥ ११॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे सविता देव ! तेरे मार्ग पहले से ही सिद्ध, धूलिरहित तथा अन्तरिक्ष में अच्छी प्रकार बने हुए हैं। उन जाने योग्य मार्गों से इस दिन आकर हमारी रक्षा तथा पालन करो। और हे देव ! तुम यज्ञानुष्ठान करने वाले हमारे विषय में देवों के आगे विशेष रूप से कहो॥"

इस मन्त्र का देवता 'सविता' है। उसका क्या अर्थ है, इसको समझने में सायण सर्वथा असमर्थ ही रहे हैं। क्योंकि मन्त्र में कहा है— 'रक्षा च नो अधि च ब्रूहि।' अर्थात् सविता=सबको उत्पन्न करने तथा प्रेरणा देने वाले देव ! तुम हमारी रक्षा करो और सब विद्याओं का उपदेश करो। इस अर्थ की सूर्य के साथ कदापि संगति नहीं हो सकती। क्योंकि अचेतन सूर्य न तो हमारी प्रार्थना को सुनकर रक्षा कर सकता है और न वह बोलकर उपदेशादि कर सकता है। सायण ने इस मन्त्र-भाग का जो अर्थ किया है—"हमारी रक्षा तथा पालन करो और देवों के सामने हम यजमानों के विषय में विशेष रूप से कहो।" क्या जड़ सूर्य से इन बातों का सम्भव हो सकता है ? ऐसी असम्भव बातों को मन्दमति, विवेकशून्य तथा पौराणिक कल्पनाओं पर अन्धभक्ति रखने वाले ही स्वीकार कर सकते हैं। सायण ने यहां अपनी व्याख्या पर भी ध्यान नहीं दिया कि क्या सूर्य भी बोलने आदि क्रिया कर सकता है? हाँ परमेश्वर तो वेदों का उपदेष्टा है, अतः उस बुद्धियों के प्रेरक परमेश्वर के साथ इस अर्थ की पूर्णतः संगति है। अतः सायण की सूर्य-परक व्याख्या असंगत है। महर्षि-दयानन्द ने इस मन्त्र की व्याख्या ईश्वर-परक की है जिसमें किसी प्रकार की असंगति नहीं है।

सायणाचार्य के भाष्य में अन्य भी मिथ्या व्याख्याएँ हैं। जैसे सूर्य का किसी दिन विशेष में रक्षार्थ आना और पूर्व्यासः=पूर्वसिद्ध मार्गों से सूर्य का आना और यजमानों की प्रार्थना को देवों के आगे कहनादि आदि बातें प्रत्यक्ष विरुद्ध भी हैं। यह सूर्य तो प्रतिदिन दिखाई देता है। फिर उसका किसी विशेष दिन आना, कहना क्या निरर्थक नहीं है ? और सूर्य के मार्गों को कौन बनाता है ? क्या सूर्य बोल सकता है ? और क्या सूर्य के समीप यजमानादि स्थित हो सकते हैं ? इत्यादि अनेक भ्रान्तियाँ सायण-भाष्य से उत्पन्न होती हैं, जिन पर सायण ने स्वयं कुछ भी विचार नहीं किया॥ ११॥

पूर्वापरसङ्गतिमाह—अस्मिन् सूक्ते सूर्यलोकेश्वरवायुगुणानां प्रतिपादनाच्चतुस्त्रिंशसूक्तोक्तार्थेन सह सङ्गतिरस्तीति वेदितव्यम्॥

पूर्वापर-संगति—इस सूक्त में सूर्यलोक, ईश्वर और वायु से गुणों का प्रतिपादन करने से चौंतीसवें सूक्त में प्रतिपादित अर्थ के साथ संगति है; ऐसा जानो॥

इति प्रथमाष्टके तृतीयाध्याये सप्तमो वर्गः,
प्रथममण्डले सप्तमोऽनुवाकः पञ्चत्रिंशं सूक्तं च समाप्तम्॥ ३५॥

---

१. हे सवितः ! ते तव पन्थाः मार्गाः पूर्व्यासः पूर्वसिद्धाः अरेणवः धूलिरहिताः अन्तरिक्षे सुकृताः सुष्ठु सम्पादिताः। सुगेभिः सुष्ठु गन्तुं शक्यैः तेभिः पथिभिः तैर्मार्गैरागत्य अद्य अस्मिन् दिने नः अस्मान् रक्ष च पालनमपि कुरु। तथा हे देव ! नः अस्मान् अनुष्ठातॄन् अधिब्रूहि च देवानामग्रेऽधिकत्वेन कथय च॥ (सायणः)

यह पहिले अष्टक के तीसरे अध्याय में सातवां वर्ग,
तथा पहिले मण्डल में सातवां अनुवाक और पैंतीसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥ ३५ ॥ ●

अथ षट्त्रिंशं सूक्तम् ॥

घौरः काण्व ऋषिः । **अग्निः** (ईश्वरः) देवता । भुरिगनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

तत्रादावग्निशब्देनेश्वरगुणा उपदिश्यन्ते ॥

अब छत्तीसवें सूक्त का आरम्भ है, इसके पहिले मन्त्र में अग्नि शब्द से ईश्वर के गुणों का उपदेश किया जाता है ॥

प्र वो॑ य॒ह्वं पु॒रूणां॒ वि॒शां दे॑वय॒तीनाम् ।
अ॒ग्निं सू॒क्तेभि॒र्वचो॑भिरीमहे॒ यं सी॒मिद॒न्य ईळ॑ते ॥ १ ॥

प्र । वः । य॒ह्वम् । पु॒रूणाम् । वि॒शाम् । दे॒व॒ऽय॒तीनाम् । अ॒ग्निम् । सु॒ऽउ॒क्तेभिः । वचः॑ऽभिः । ईम॒हे॒ । यम् । सी॒म् । इत् । अ॒न्ये । ईळ॑ते ॥ १ ॥

पदार्थः—(प्र) प्रकृष्टार्थे (वः) युष्माकम् (**यह्वम्**) गुणैर्महान्तम् । **यह्व इति महन्नामसु पठितम्** । निघं० ३ । ३ । (**पुरूणाम्**) बह्वीनाम् (**विशाम्**) प्रजानां मध्ये (**देवयतीनाम्**) आत्मनो देवान्=दिव्यान् भोगान् गुणाँश्चेच्छन्तीनाम् (**अग्निम्**) परमेश्वरम् (**सूक्तेभिः**) सुष्ठूक्ता विद्या येषु तैः (**वचोभिः**) वेदार्थज्ञानयुक्तैर्वचनैः (**ईमहे**) याचामहे । अत्र **बहुलं छन्दसि** इति श्यनो लुक् । **ईमह इति याच्ञाकर्मसु पठितम्** । निघं० ३ । १९ । (**यम्**) उक्तम् (**सीम्**) सर्वतः । **प्रसीमादित्योऽसृजत् । प्रासृजत्सर्वत इति वा** । निरु० १ । ७ । इति सीमव्ययं सर्वार्थे गृह्यते । (**इत्**) एव (**अन्ये**) परोपकारका बुद्धिमन्तो धार्मिका विद्वांसः (**ईळते**) स्तुवन्ति ॥ १ ॥

प्रमाणार्थ—(**यह्वम्**) यह पद निघण्टु (३ । ३) में महान् नामों में पढ़ा है । (**ईमहे**) यहां 'बहुलं छन्दसि' (अ० २ । ४ । ७३) इस सूत्र से 'श्यन्' विकरण प्रत्यय का लुक् है, यह पद निघंटु (३ । १९) में 'याच्ञा' अर्थों में पढ़ा है—याच्ञा=मांगना । (**सीम्**) निरुक्त (१ । ७) के अनुसार इस पद का अर्थ 'सब ओर से' है जैसे—'प्रसीमादित्योऽसृजत्' अर्थात् प्रभु ने सब ओर से बनाया ॥ १ ॥

अन्वयः—वयं यथान्ये विद्वांसः सूक्तेभिर्वचोभिर्देवयतीनां पूरूणां वो युष्माकं विशां प्रजानां सुखाय यं यह्वमग्निं सीमीडते तथा तमिदेव प्रेमहे प्रकृष्टतया याचामहे प्रकाशयामश्च ॥ १ ॥

सपदार्थान्वयः—**वयं यथाऽन्ये**=**विद्वांसः** परोपकारका बुद्धिमन्तो धार्मिका विद्वांसः **सूक्तेभिः** सुष्ठूक्ता विद्या येषु तैः **वचोभिः** वेदार्थज्ञानयुक्तैर्वचनैः **देवयतीनाम्** आत्मनो देवान् = दिव्यान् भोगान् गुणाँश्चेच्छन्तीनां **पुरूणां** बह्वीनां **वः**=**युष्माकं विशां**=**प्रजानां** प्रजानां मध्ये **सुखाय यम्** उक्तं **यह्वं** महान्तम् **अग्निं** परमेश्वरं **सीं** सर्वतः **ईडते**

भाषार्थ—हम—जैसे (**अन्ये**) अन्य परोपकारी, बुद्धिमान्, धार्मिक विद्वान्—(**सूक्तेभिः**) जिनमें विद्या अच्छे प्रकार कही हैं, उन (**वचोभिः**) वेदार्थज्ञान से युक्त वचनों से (**देवयतीनाम्**) अपने दिव्य भोगों और दिव्य गुणों की इच्छा करनेवाली (**पुरूणाम्**) बहुत (वः) तुम्हारी (**विशाम्**) प्रजा के मध्य में सुख के लिये (**यम्**) जिस (**यह्वम्**) गुणों से

स्तुवन्ति तथा तम् इत्=एव प्र+ईमहे प्रकृष्टतया याचामहे प्रकाशयामश्च ॥ १ ॥

महान् (अग्निम्) परमेश्वर की (सीम्) सब ओर से (ईडते) स्तुति करते हैं—वैसे उसकी (इत्) ही (प्र+ईमहे) प्रार्थना करते हैं और उसके गुणों को प्रकाशित करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। हे मनुष्या यूयं यथा विद्वांसः प्रजासुखसंपत्तये सर्वव्यापिनं परमेश्वरं निश्चित्योपदिश्य च तद्गुणान् प्रयत्नेन विज्ञापयन्ति स्तावयन्ति तथैव वयमपि प्रकाशयामः; यथेश्वरोऽग्न्यादिपदार्थरचनपालनाभ्यां जीवेषु सर्वाणि सुखानि दधाति तथा वयमपि सर्वप्राणिसुखानि सदा निर्वर्त्तयेमेति बुध्यध्वम् ॥१॥

भावार्थ— यहां वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। हे मनुष्यो ! तुम—जैसे विद्वान् प्रजा के सुख की सिद्धि के लिए सर्वव्यापक परमेश्वर का निश्चय और उपदेश करके, उसके गुणों को प्रयत्न से बतलाते हैं और स्तुति कराते हैं, वैसे हम भी प्रकाशित करें; जैसे ईश्वर अग्नि आदि पदार्थों की रचना और पालन से जीवों में सब सुख स्थापित करता है, वैसे हम भी सब प्राणियों के सुखों को सिद्ध करें—ऐसा जानो ॥ १ ॥

भाष्यसार—**ईश्वर के गुण**—जैसे परोपकारी, बुद्धिमान् धार्मिक विद्वान्—विद्या प्रतिपादक, वेदार्थ ज्ञान से युक्त वचनों से प्रजा के सुख के लिये जिस महान् परमेश्वर की स्तुति करते हैं, वैसे सब मनुष्य ईश्वर की स्तुति करें, और प्रार्थना करें ॥ १ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है, अतः वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि सब मनुष्य विद्वानों के समान ईश्वर की स्तुति और प्रार्थना करें ॥ १ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे यजमानो ! देवों की कामना करने वाले प्रजा रूप तुम्हारे पर कृपा करने के लिए महान् अग्नि की हम सूक्त रूप वाक्यों से याचना करते हैं। दूसरे ऋषि भी जिस अग्नि की स्तुति करते हैं।"

इस मन्त्र का देवता 'अग्नि' है। इस का इस मन्त्र में क्या अर्थ है, यह सायण समझने में असमर्थ ही रहे हैं। क्योंकि 'अग्नि' को कल्पित देव-विशेष मानकर ही व्याख्या की है। किन्तु मन्त्रोक्त पदों पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि मन्त्र में परमेश्वराग्नि का वर्णन किया गया है। यजुर्वेद के 'तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।' प्रमाण के अनुसार 'अग्नि' परमेश्वर का नाम है। इस अग्नि की ही ऋषि लोग सूक्तों से स्तुति तथा प्रार्थना करते हैं और उसी से ही याचना भी करते है। मन्त्र में 'ईळते' तथा 'प्र+ईमहे' दो क्रियाएँ पठित हैं। जिनका अर्थ सायणाचार्य ने भी स्तुति तथा याचना किया है। और परमेश्वर ही यह्वम्=गुणों में सबसे महान् है। उसी से ही देवयतीनां विशाम्=दिव्य भोगों तथा दिव्यसुखों की कामना करने वाली प्रजा के सुख के लिए प्रार्थना करनी योग्य है। परमेश्वर से भिन्न भौतिकाग्नि अथवा कल्पित अग्निदेव के साथ मन्त्रोक्त बातों की संगति कदापि नहीं हो सकती। क्योंकि परमेश्वर ही सब सुखों को देने वाला तथा प्रार्थनीय है। अचेतनाग्नि से सुखादि के लिए प्रार्थना या स्तुति करना सर्वथा निरर्थक है। महर्षि-दयानन्द की ईश्वर-परक व्याख्या सुसंगत होने से प्रकरणानुकूल है। और सायण की व्याख्या प्रकरण के विपरीत होने से भ्रान्तिपूर्ण है ॥ १ ॥ ●

---

१. हे ऋत्विग्यजमानाः देवयतीनां देवान् कामयमानानां पुरूणां बहूनां विशां प्रजारूपाणां वः युष्माकमनुग्रहाय यह्वं महान्तम् अग्निं सूक्तेभिर्वचोभिः सूक्तरूपैर्वाक्यैः प्रईमहे प्रकर्षेण याचामहे। अन्ये इत् अन्येऽपि ऋषयः यम् अग्निं सीं सर्वतः ईळते स्तुवन्ति ॥ (सायणः)

घौरः काण्व ऋषिः। **अग्निः** (ईश्वरः) देवता। निचृत्सतःपङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

पुनः स एवार्थ उपदिश्यते॥

फिर ईश्वर के गुणों का उपदेश किया जाता है॥

जनासो अग्निं दधिरे सहोवृधं हविष्मन्तो विधेम ते।
स त्वं नो अद्य सुमना इहाविता भवा वाजेषु सन्त्य॥ २॥

जनासः। अग्निम्। दधिरे। सहःऽवृधम्। हविष्मन्तः। विधेम। ते। सः। त्वम्। नः। अद्य। सुमनाः। इह। अविता। भव। वाजेषु। सन्त्य॥ २॥

पदार्थः—(**जनासः**) विद्यासु प्रादुर्भूता मनुष्याः (**अग्निम्**) सर्वाभिरक्षकमीश्वरम् (**दधिरे**) धरन्ति। अत्र **लडर्थे लिट्**। (**सहोवृधम्**) सहो=बलं वर्धयतीति सहोवृधम् (**हविष्मन्तः**) प्रशस्तानि हवींषि=दातुमादातुमर्हाणि वस्तूनि विद्यन्ते येषां ते। अत्र **प्रशंसार्थे मतुप्**। (**विधेम**) सेवेमहि (**ते**) तव। **अत्र सायणाचार्य्येण ते त्वामित्युक्तं तन्न संभवति द्वितीयैकवचने त्वाऽऽदेशविधानात्** (**सः**) ईश्वरः (**त्वम्**) सर्वदा प्रसन्नः (**नः**) अस्माकम् (**अद्य**) अस्मिन्नहनि (**सुमनाः**) शोभनं मनो+ज्ञानं यस्य सः (**इह**) अस्मिन् संसारे (**अविता**) रक्षको ज्ञापकः सर्वासु विद्यासु प्रवेशकः (**भवा**) अत्र **द्व्यचोतस्तिङ** इति दीर्घः। (**वाजेषु**) युद्धेषु (**सन्त्य**) सन्तौ=दाने साधुस्तत्संबुद्धौ। अत्र **षणु दान** इत्यस्माद्बाहुलकादौणादिकस्तिः प्रत्ययस्ततः साध्वर्थे यच्च॥ २॥

प्रमाणार्थ—(**दधिरे**) यहां 'लट्' लकार के अर्थ में 'लिट्' लकार है। (**हविष्मन्तः**) यहां प्रशंसा अर्थ में मतुप् प्रत्यय है। (**भवा**) यहां 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (अ० ६। ३। १३५) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—भवा॥ २॥

अन्वयः—हे सन्त्येश्वर यथा हविष्मन्तो जनासो यस्य ते तवाश्रयं दधिरे तथा तं सहोवृधमग्निं त्वां वयं विधेम स सुमनास्त्वमद्य नोस्माकमिह वाजेषु चाविता भव॥ २॥

सपदार्थान्वयः—हे **सन्त्य**=ईश्वर सन्तौ=दाने साधु तत्सम्बुद्धौ! **यथा हविष्मन्तः** प्रशस्तानि हवींषि=दातुमादातुमर्हाणि वस्तूनि विद्यन्ते येषां ते **जनासः** विद्यासु प्रादुर्भूता मनुष्याः **यस्य ते=तवाश्रयं दधिरे** धरन्ति; **तथा तं सहोवृधं** सहो=बलं वर्धयतीति सहोवृधम् **अग्निं** सर्वाभिरक्षकमीश्वरं **त्वां वयं विधेम** सेवेमहि **सः** ईश्वरः **सुमनाः** शोभनं मनो=ज्ञानं यस्य सः **त्वं** सर्वदा प्रसन्नः **अद्य** अस्मिन्नहनि **नः=अस्माकमिह** अस्मिन्संसारे **वाजेषु** युद्धेषु **चाविता** रक्षको ज्ञापकः सर्वासु विद्यासु प्रवेशकः **भव**॥ २॥

भावार्थः—मनुष्यैरेकस्याद्वितीयपरमेश्वरस्योपासनेनैव संतोषितव्यं, नहि विद्वांसः कदाचिद् ब्रह्मस्थानेऽन्यद्वस्तूपास्यत्वेन स्वीकुर्वन्ति। अत एव तेषां युद्धेष्विह कदाचित् पराजयो न दृश्यते। एवं

भाषार्थ—हे (**सन्त्य**) दान में श्रेष्ठ ईश्वर! जैसे—(**हविष्मन्तः**) प्रशस्त देने-लेने योग्य वस्तुओं वाले (**जनासः**) विद्याओं में प्रसिद्ध विद्वान् मनुष्य (**ते**) आपके आश्रय को (**दधिरे**) धारण करते हैं,—वैसे उस (**सहोवृधम्**) सहः=बल को बढ़ाने वाले (**अग्निम्**) सबके रक्षक आप ईश्वर की हम (**विधेम**) सेवा करें; (**सः**) सो (**सुमनाः**) उत्तम ज्ञान वाले (**त्वम्**) सर्वदा प्रसन्न आप—(**अद्य**) आज (**नः**) हमारे (**इह**) इस संसार में और (**वाजेषु**) युद्धों में (**अविता**) रक्षक, ज्ञापक तथा सब विद्याओं में प्रवेशक (**भव**) होओ॥ २॥

भावार्थ—सब मनुष्य एक अद्वितीय परमेश्वर की उपासना से ही सन्तुष्ट रहें, विद्वान् कभी ब्रह्म के स्थान पर अन्य वस्तु को उपास्य के रूप में स्वीकार नहीं करते, इसी कारण से उनका इस

नहि कदाचिदनीश्वरोपासकास्तान् विजेतुं शक्नुवन्ति येषामीश्वरो रक्षकोस्ति कुतस्तेषां पराभवः ॥

संसार में युद्धों में कभी पराजय नहीं दीखता। इस प्रकार ईश्वर की उपासना न करने वाले उनको जीतने में कभी समर्थ नहीं होते। जिनका रक्षक ईश्वर है, उनकी पराजय कैसे हो सकती है ॥

भाष्यसार—**ईश्वर के गुण**—जैसे प्रशस्त देने-लेने योग्य वस्तुओं वाले, विद्याओं में प्रसिद्ध विद्वान् ईश्वर का आश्रय करते हैं, वैसे हम भी बल को बढ़ाने वाले, सबके रक्षक ईश्वर की उपासना करें। उत्तम ज्ञानवाला और सर्वदा प्रसन्न ईश्वर इस संसार में और युद्धों में हमारा रक्षक, ज्ञापक और विद्याओं में प्रवेश कराने वाला है ॥ २ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"यज्ञादि के अनुष्ठान करने वाले पुरुषों ने बल को बढ़ाने वाले अग्नि को धारण किया है। हे अग्निदेव ! हम सब हवि लेकर तुम्हारी परिचर्या=पूजा करें। हे अन्न सम्बन्धी दान देने वाले अग्निदेव ! तुम आज इस कर्म में हमारे प्रति अच्छे मनवाले होकर हमारे रक्षक बनो ॥"

इस मन्त्र में 'अग्नि' की निम्न विशेषताएँ कही हैं कि सत्य=यह अग्नि दानशील है, सहोबृधम्=बल को बढ़ाने वाली है, सुमनाः=अच्छे ज्ञान से युक्त है, अविता=युद्धादि के समय रक्षा करती है और विद्वान् लोग दधिरे=उसके आश्रय को धारण करते हैं। ये सब विशेषताएँ परमेश्वर में ही संगत होती हैं, अतः, यहां 'अग्नि' का अर्थ परमेश्वर ही करना चाहिए। परमेश्वर से भिन्न भौतिकाग्नि-परक व्याख्या यहाँ कदापि संगत नहीं हो सकती। क्योंकि यह ज्ञानरहित जड़ अग्नि सुमनाः= उत्तम ज्ञानयुक्त कदापि नहीं हो सकती, यह हमारे बलों को बढ़ाने तथा युद्धादि में रक्षा करने में भी समर्थ नहीं है।

सायणाचार्य ने यहाँ भ्रान्तिवश यज्ञाग्नि परक व्याख्या की है। सायण-व्याख्या के अनुसार यज्ञाग्नि को सुमनाः=उत्तम मनवाला तथा अविता=रक्षक कहना सर्वथा असंगत है। क्या भौतिक-अग्नि में मन है ? और क्या इस जड़ाग्नि में यह सामर्थ्य है कि वह अपनी परिचर्या करने वाले की युद्धादि में रक्षा कर सके। ऐसे असम्भव अर्थों से स्पष्ट है कि सायण दर्शनविद्या से बिल्कुल ही अनभिज्ञ था। उसे जड़-चेतन के धर्मों का भी बोध नहीं था। अन्यथा यज्ञ की अग्नि को सुमनाः=शोभन मनवाला क्यों लिखते ? महर्षि-दयानन्द की इस मन्त्र की ईश्वर परक व्याख्या प्रकरणानुकूल होने से पठनीय है।

इस मन्त्र की व्याख्या में सायणाचार्य की व्याकरण-सम्बन्धी त्रुटियाँ भी हैं। सायण-भाष्य में 'ते' पद की 'त्वाम्' व्याख्या अशुद्ध की है। क्योंकि युष्मद् शब्द के द्वितीया विभक्ति में 'ते' आदेश कदापि नहीं होता। इसी प्रकार 'दधिरे' क्रिया की 'धृतवन्तः' भूतकालीन व्याख्या वैदिकव्याकरण से अनभिज्ञ होकर की है। वैदिकनियमों में लिट् आदि लकार सामान्यकाल में भी विहित हैं। यहां सायण ने यह भी विचार नहीं किया कि अग्नि को पहले ही धारण करते थे, क्या अब नहीं करते ? भौतिकाग्निपरक व्याख्या करने वाले सायण ने अपनी व्याख्या पर भी ध्यान नहीं दिया। क्या अब पाकशाला आदि में अग्नि का आश्रय नहीं किया जाता ? अतः यह सायण की प्रत्यक्षविरुद्ध व्याख्या है ॥ २ ॥ ●

---

१ जनासः अनुष्ठातारो जनाः सहोबृधं बलस्य वर्धयितारम् अग्निं दधिरे धृतवन्तः। हविष्मन्तः हविर्युक्ता वयं हे अग्ने ते त्वां विधेम परिचरेम। वाजेषु अन्नेषु सन्त्य दानशील हे अग्ने स त्वम् अद्य अस्मिन् दिने इह कर्मणि नः अस्मान् प्रति सुमनाः शोभनमनस्कः अविता रक्षिता भव ॥ (सायणः)

घौरः काण्व ऋषिः । **अग्निः** (भौतिकोग्निः) देवता । निचृत्पथ्याबृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अथ भौतिकाग्निदृष्टान्तेन राजदूतगुणा उपदिश्यन्ते ॥

अब भौतिक अग्नि के दृष्टान्त से राजदूत के गुणों का उपदेश किया जाता है ॥

प्र त्वा दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् ।
महस्ते सतो वि चरन्त्यर्चयो दिवि स्पृशन्ति भानवः ॥ ३ ॥

प्र । त्वा । दूतम् । वृणीमहे । होतारम् । विश्वऽवेदसम् । महः । ते । सतः । वि । चरन्ति । अर्चयः । दिवि । स्पृशन्ति । भानवः ॥ ३ ॥

पदार्थः—(प्र) प्रकृष्टार्थे (त्वा) त्वाम् (दूतम्) यो दुनोत्युपतापयति सर्वान् पदार्थानितस्ततो भ्रमणेन दुष्टान् वा तम् (वृणीमहे) स्वीकुर्महे (होतारम्) ग्रहीतारम् (विश्ववेदसम्) विश्वानि=सर्वाणि शिल्पसाधनानि विन्दन्ति यस्मात्तं सर्वप्रजासमाचारज्ञं वा (महः) महसो=महागुणविशिष्टस्य । **सर्वधातुभ्योसुन्नित्यसुन् । सुपां सुलुग्** इति ङसो लुक् । (ते) तव (सतः) कारणरूपेणाविनाशिनो विद्यमानस्य (वि) विशेषार्थे (चरन्ति) गच्छन्ति (अर्चयः) दीप्तिरूपा ज्वाला न्यायप्रकाशका नीतयो वा (दिवि) द्योतनात्मके सूर्यप्रकाशे प्रजाव्यवहारे वा (स्पृशन्ति) संबध्नन्ति (भानवः) किरणाः प्रभावा वा । **भानव इति रश्मिना० निघं० १ । ५ । ॥ ३ ॥**

प्रमाणार्थ—(महः) यहां 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (४ । १९६) इस उणादि सूत्र से 'असुन्' प्रत्यय है, 'सुपां सुलुक्०' (अ० ७ । १ । ३९) इस सूत्र से 'ङस्' विभक्ति का लुक् है । (भानवः) यह पद निघण्टु (१ । ५) में रश्मि-नामों में पढ़ा है ॥ ३ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् राजदूत यथा वयं विश्ववेदसं होतारं दूतमग्निं प्रवृणीमहे तथाभूतं त्वा त्वामपि प्रवृणीमहे यथा च महो महसः सतोऽग्नेर्भानवः सर्वान् पदार्थान् स्पृशन्ति संबध्नन्त्यर्चयो दिवि विचरन्ति च तथा ते तवापि सन्तु ॥ ३ ॥

सपदार्थान्वयः—हे विद्वन् राजदूत ! **यथा वयं विश्ववेदसं** विश्वानि=सर्वाणि शिल्पसाधनानि विन्दन्ति यस्मात् तं **होतारं** ग्रहीतारं **दूतं** यो दुनोत्युपतापयति सर्वान् पदार्थान् तम् **अग्निं प्र+वृणीमहे** प्रकृष्टतया स्वीकुर्महे, **तथाभूतं** [**विश्ववेदसं** सर्वप्रजासमाचारज्ञं **होतारं** ग्रहीतारं **दूतं** यो दुनोत्युपतापयति·····इतस्ततो भ्रमणेन दुष्टान्...तं] **त्वा=त्वामपि प्र+वृणीमहे**=प्रकृष्टतया स्वीकुर्महे ।

यथा च महसः महागुणविशिष्टस्य **सतः** कारणरूपेणाविनाशिनो विद्यमानस्य **अग्नेर्भानवः** किरणाः **सर्वान् पदार्थान् स्पृशन्ति=सम्बध्नन्ति, अर्चयः** दीप्तिरूपा ज्वाला **दिवि** द्योतनात्मके सूर्यप्रकाशके **वि+चरन्ति** विशेषतया गच्छन्ति **च, तथा तवापि** [**भानवः** प्रभावाः **सर्वान् पदार्थान्**

भाषार्थ—हे विद्वन् राजदूत ! जैसे हम—(**विश्ववेदसम्**) सब शिल्प-साधनों की प्राप्ति के हेतु (**होतारम्**) ग्रहण करने वाले, (**दूतम्**) सब पदार्थों को तपाने वाले अग्नि को (**प्र+वृणीमहे**) अच्छे प्रकार स्वीकार करते हैं—वैसे [(**विश्ववेदसम्**) सब प्रजा के समाचार को जानने वाले (**होतारम्**) ग्रहण करने वाले (**दूतम्**) इधर उधर भ्रमण करके दुष्टों को पीडित करने वाले] (**त्वा**) आपको भी हम स्वीकार करते हैं ।

और जैसे (**महसः**) महान् गुणों से युक्त (**सतः**) कारण रूप से अविनाशी, विद्यमान अग्नि की (**भानवः**) किरणें सब पदार्थों का (**स्पृशन्ति**) स्पर्श करती हैं, और (**अर्चयः**) दीप्ति रूप ज्वालायें (**दिवि**) सूर्य के प्रकाश में (**वि+चरन्ति**) विचरण करती हैं, वैसे आपके भी [(**भानवः**)

स्पृशन्ति=सम्बध्नन्ति, अर्चयः न्यायप्रकाशका नीतयः दिवि द्योतनात्मके···प्रजाव्यवहारे] सन्तु ॥ ३ ॥

प्रभाव सब पदार्थों से (स्पृशन्ति) सम्बद्ध हों, (अर्चयः) न्यायप्रकाशक नीतियां (दिवि) प्रकाशात्मक प्रजा-व्यवहार में] विचरण करें ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । हे स्वकर्मप्रवीण राजदूत यथा सर्वैर्मनुष्यैर्महाप्रकाशादिगुणयुक्तमग्निं पदार्थप्राप्तचप्राप्तचोः कारकत्वाद् दूतं कृत्वा शिल्पकार्याणि वियदि हुतद्रव्यप्रापणं च साधयित्वा सुखानि स्वीक्रियन्ते यथाऽस्य विद्युद्रूपास्याग्नेर्दीप्तयः सर्वत्र वर्त्तन्ते प्रसिद्धस्य लघुत्वाद्वायोश्छेदकत्वेनावकाशकारित्वाज्ज्वाला उपरि गच्छन्ति तथा त्वमपीदं कृत्वैवं भव ॥ ३ ॥

भावार्थ—यहां वाचकलुप्तोपमा अलंकार है । हे अपने कार्य में प्रवीण राजदूत ! जैसे सब मनुष्य महाप्रकाश आदि गुणयुक्त अग्नि को, पदार्थों की प्राप्ति वा अप्राप्ति कराने वाला होने से दूत बनाकर, शिल्पकार्यों और आकाश में हवन किये हुए पदार्थों की प्राप्ति को सिद्ध करके, सुखों को स्वीकार करते हैं; जैसे इस विद्युत् रूप अग्नि की दीप्तियां सब जगह वर्तमान हैं, प्रसिद्ध अग्नि के लघु होने से एवं वायु के छेदक होने से अवकाश करनेवाली होकर ज्वाला ऊपर जाती है, वैसे तू भी इस प्रकार करके ऐसे ही हो ॥ ३ ॥

भाष्यसार—**अग्नि के दृष्टान्त से राजदूत के गुण**—मनुष्य जैसे—सब शिल्प-साधनों की प्राप्ति के हेतु, पदार्थों को ग्रहण करने वाले, सब पदार्थों को तपाने वाले अग्नि को स्वीकार करते हैं, वैसे सब प्रजा के समाचार के ज्ञाता, पदार्थों को ग्रहण करने वाले इधर-उधर भ्रमण से दुष्टों को पीडित करने वाले विद्वान् राजदूत को भी स्वीकार करें । और जैसे महान् गुणों से युक्त, कारण रूप से अविनाशी अग्नि की किरणें सब पदार्थों का स्पर्श करती हैं, इसकी दीप्ति रूप ज्वाला में सूर्य के प्रकाश में विचरण करती हैं, वैसे राजदूत के प्रभाव सब पदार्थों को स्पर्श करें, और उसकी न्यायप्रकाशक नीतियां प्रकाशात्मक प्रजा-व्यवहार में विचरण करें ॥ ३ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में उपमा वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है, अतः वाचकलुप्तोपमा अलङ्कार है । उपमा यह है कि, विद्वान् राजदूत मन्त्रोक्त अग्नि के सदृश गुणों से अलंकृत हो ॥ ३ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अग्निदेव ! तुम यज्ञ को सिद्ध करने वाले अथवा बुलाने वाले, सर्वज्ञदूत हो और देवों के दूतकर्म में लगे हुए हो । तुम्हें हम प्रकृष्टरूप से स्वीकार करते हैं । और महान् व नित्य वर्त्तमान रहने वाले तुझ अग्नि का प्रकाश तरह-तरह से फैल रहा है । तेरी किरणें द्युलोक को छू रही हैं और द्युलोकस्थ प्राणियों को प्रकाशित कर रही हैं ॥"

इस मन्त्र का भाष्य यद्यपि सायण और दयानन्द ने दोनों ने ही भौतिक अग्नि-परक किया है, किन्तु दोनों के भाष्यों में जो महान् अन्तर है, वह देखिए—

महर्षि-दयानन्द-भाष्यम्	सायण-भाष्यम्
होतारम्=ग्रहण करने वाले ।	होतारम्=आह्वातारम्=बुलाने वाले ।
विश्ववेदसम्=समस्त शिल्पसाधनों की प्राप्ति का हेतु (अग्नि) ।	विश्ववेदसम्=सर्वज्ञ (परमेश्वर)

१. हे अग्ने होतारं होमनिष्पादकमाह्वातारं वा विश्ववेदसं सर्वज्ञं दूतं देवानां दूत्ये प्रवृत्तम् । तादृशं त्वां प्रवृणीमहे प्रकर्षेण वरणं कुर्मः । महः महतः सतः नित्यं वर्त्तमानस्य ते तव अर्चयः दीप्तयः विचरन्ति विविधं प्रचरन्ति । भानवः त्वदीया रश्मयः दिवि द्युलोके स्पृशन्ति तत्रत्यान् प्राणिनः प्रकाशयन्तीत्यर्थः ॥ (सायणः)

दूतम्=सब पदार्थों को तपाने वाला।
सतः=कारण रूप से अविनाशी।
दिवि स्पृशन्ति=सूर्यप्रकाश में विशेषरूप से गति करती हैं।

दूतम्=देवों के दूतकार्य में लगे हुए।
सतः=नित्यवर्त्तमान।
दिवि स्पृशन्ति=द्युलोकस्थ प्राणियों को प्रकाशित करती हैं।

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि सायणाचार्य ने भौतिकाग्नि के गुणों को भी नहीं जाना, इसीलिए असंगत व्याख्या की है। इस जड़ अग्नि में बुलाने का, व सबको जानने का सामर्थ्य कहाँ है? ज्ञानादि चेतन के गुणों से रहित अग्नि को सर्वज्ञ कहना दर्शनविद्या से नितान्त अनभिज्ञता प्रकट करना है। और स्वर्ग नामक स्थान-विशेष को देवों का निवास मानकर अग्नि को दूत का कार्य करने वाला कहना भी असंगत कल्पना है। और यह कार्य-अग्नि नित्य नहीं रहता, अतः कारणरूपाग्नि ही नित्य है। यह भौतिकाग्नि द्युलोकस्थ प्राणियों को प्रकाशित करती है, यह कथन भी सायण का मिथ्या है। द्युलोक में कौन से प्राणी रहते हैं? यह तो सायण ही जानते होंगे, किन्तु इस भौतिकाग्नि से उन्हें कथमपि प्रकाशित नहीं किया जा सकता। अतः सायणभाष्य कल्पित, मिथ्या तथा असंगत है। महर्षि-दयानन्द ने यौगिक प्रक्रिया से मन्त्र के समस्त पदों की प्रकरणानुकूल व्याख्या की है। उसमें किसी प्रकार की भी असंगति नहीं है।

और मन्त्रोक्त 'विश्ववेदसम्=विश्वानि वेत्तीति सर्वज्ञम्' पद की व्याख्या तो सायण ने स्वराङ्कित चिह्नों से भी विरुद्ध की है। इस समस्त पद में बहुव्रीहि समास होने से पूर्वपद का प्रकृति स्वर है। आचार्य सायण ने बहुव्रीहि समास न मानकर तत्पुरुष समास माना है और स्वरदोष का परिहार 'मरुद्वृधादित्वात् पूर्वपदान्तोदात्तत्वम्' मानकर करना पड़ा है। यह सायण की असंगत क्लिष्ट कल्पना मात्र ही है॥ ३॥ ●

घौरः काण्व ऋषिः। **अग्निः** (सभाध्यक्षः) देवता। निचृत्पङ्क्तश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

पुनः स दूतः कीदृश इत्युपदिश्यते॥

फिर वह दूत कैसा है, यह उपदेश किया जाता है॥

देवासस्त्वा वरुणो मित्रो अर्य्यमा सं दूतं प्रत्नमिन्धते।
विश्वं सो अग्ने जयति त्वया धनं यस्ते ददाश मर्त्यः॥ ४॥

देवासः। त्वा। वरुणः। मित्रः। अर्यमा। सम्। दूतम्। प्रत्नम्। इन्धते। विश्वम्। सः। अग्ने। जयति। त्वया। धनम्। यः। ते। ददाश। मर्त्यः॥ ४॥

पदार्थः—(**देवासः**) सभ्या विद्वांसः (**त्वा**) त्वाम् (**वरुणः**) उत्कृष्टः (**मित्रः**) मित्रवत्प्राणप्रदः (**अर्य्यमा**) न्यायकारी (**सम्**) सम्यगर्थे (**दूतम्**) यो दुनोति सामादिभिः शत्रूंस्तम्। **दुतनिभ्यां दीर्घश्च।** उ० ३। ८८। (**प्रत्नम्**) कारणरूपेणानादिम्। **नश्च पुराणे प्राद्वक्तव्यः।** अ० ५। ४। ३०। इति पुराणार्थे **प्रशब्दात् त्नप्** प्रत्ययः। (**इन्धते**) शुभगुणैः प्रकाशन्ते (**विश्वम्**) सर्वम् (**सः**) (**अग्ने**) धर्मविद्या श्रेष्ठगुणैः प्रकाशमान सभापते (**जयति**) उत्कर्षति (**त्वया**) (**धनम्**) विद्यासुवर्णादिकम् (**यः**) (**ते**) तव (**ददाश**) दाशति। अत्र लडर्थे लिट्। (**मर्त्यः**) मनुष्यः॥ ४॥

प्रमाणार्थ—(**दूतम्**) यहां 'दुतनिभ्यां दीर्घश्च' (३। ८८) इस उणादि सूत्र से दीर्घ है।

(प्रत्नम्) यहां 'नश्चपुराणे प्राग्वतव्यः' (अ० ५। ४। ३०) इस वार्तिक सूत्र से पुराण अर्थ में 'प्र' शब्द से 'त्नप्' प्रत्यय है। (ददाश) यहां 'लट्' लकार के अर्थ में 'लिट्' लकार है ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे अग्ने सभेश यस्ते दूतो मर्त्यो धनं ददाश यस्त्वया सह शत्रून्जयति मित्रो वरुणोर्यमा देवासो यं दूतं समिन्धते यस्त्वा त्वां प्रजाञ्च प्रीणाति स प्रत्नं विश्वं राज्यं रक्षितुमर्हति ॥ ४ ॥

सपदार्थान्वयः — हे **अग्ने** ! **सभेश** धर्मविद्याश्रेष्ठगुणैः प्रकाशमान सभापते ! **यस्ते**=**तव दूतो मर्त्यः** मनुष्यः **धनं** विद्यासुवर्णादिकं **ददाश** दाशति; **यस्त्वया सह शत्रून्जयति** उत्कर्षति, **मित्रः** मित्रवत्प्राणप्रदः **वरुणः** उत्कृष्टः **अर्यमा** न्यायकारी **देवासः** सभ्या विद्वांसः **यं दूतं** यो दुनोति सामादिभिः शत्रूंस्तं **समिन्धते** सम्यक्तया शुभगुणैः प्रकाशन्ते, **यस्त्वा**=**त्वां प्रजाञ्च प्रीणाति, स प्रत्नं** कारणरूपेणानादिं **विश्वं**=**राज्यं** सर्वं **रक्षितुमर्हति** ॥ ४ ॥

भाषार्थ—हे (**अग्ने**) धर्म, विद्या और श्रेष्ठ गुणों से प्रकाशमान सभाध्यक्ष ! (**यः**) जो (**ते**) आपका दूत (**मर्त्यः**) मनुष्य (**धनम्**) विद्या, सुवर्ण आदि धन (**ददाश**) देता है; जो आपके साथ शत्रुओं को (**जयति**) जीतता है; और (**मित्रः**) मित्र के समान प्राण प्रदान करनेवाला, (**वरुणः**) उत्कृष्ट, (**अर्यमा**) न्यायकारी, (**देवासः**) सभ्य विद्वान्—जिस (**दूतम्**) साम आदि से शत्रुओं को पीड़ित करनेवाले दूत को (**समिन्धते**) शुभ गुणों से अच्छे प्रकार प्रकाशित करते हैं; और जो (**त्वा**) आपको तथा प्रजा को प्रसन्न करता है; वह (**प्रत्नम्**) कारण रूप से अनादि (**विश्वम्**) सम्पूर्ण राज्य की रक्षा कर सकता है ॥ ४ ॥

भावार्थः—नहि केचिदपि सर्वशास्त्रविशारदै राजधर्मवित्तमैः परावरज्ञैर्धार्मिकैः प्रगल्भैः शूरैर्दूतैः सराजभिः सभासद्भिश्च विना राज्यं लब्धुं रक्षितुमुन्नेतुमुपकर्त्तुं शक्नुवन्ति, तस्मादेवमेव सर्वैः सदा विधेयमिति ॥ ४ ॥

भावार्थ—सब शास्त्रों में प्रवीण, राजधर्म के वेत्ता, पर-अवर के ज्ञाता, धार्मिक, चतुर, शूर दूत, और राजा सहित सभासदों के विना राज्य को पाने, रक्षा करने, उन्नत करने और उपकार करने में कोई भी समर्थ नहीं हो सकते। इसलिए सब सदा ऐसा ही करें ॥ ४ ॥

भाष्यसार—**दूत कैसा हो**—दूत—विद्या, सुवर्ण आदि धनों का दाता हो। वह राजा के साथ शत्रुओं को जीते। मित्र के समान प्राण देने वाले, उत्कृष्ट, न्यायकारी विद्वान् दूत को शुभ गुणों से प्रकाशित करें। दूत राजा और प्रजा को प्रसन्न करे। धर्म, विद्या, और श्रेष्ठ गुणों से प्रकाशमान जिस समाध्यक्ष राजा के पास ऐसा दूत हो, वह सम्पूर्ण राज्य की रक्षा कर सकता है ॥ ४ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अग्नि देव ! वरुणादि तीन देव प्राचीन दूत रूप तुझ अग्नि को भलीभांति प्रदीप्त करते हैं। और जो यजमान तेरे लिए हवि प्रदान करता है, वह तुम्हारे सहयोग से सब धनों को जीत लेता है ॥"

इस मन्त्र के सायण-भाष्य में जो यह कहा है कि वरुण, मित्र तथा अर्यमा ये तीन देव अग्नि को प्रदीप्त करते हैं, यह प्रत्यक्ष विरुद्ध होने से मिथ्या है। इस भौतिकाग्नि को तो सभी मनुष्य

१. हे अग्ने ! वरुणादयस्त्रयः देवासः देवाः प्रत्नं पुरातनं दूतं त्वां सम् इन्धते सम्यक् दीपयन्ति। यः मर्त्यः मनुष्यो यजमानः ते तुभ्यं ददाश हविर्दत्तवान् सः यजमानः त्वया सहायभूतेन विश्वं सर्वधनं जयति ॥ (सायणः)

प्रज्वलित करते हैं। महर्षि दयानन्द ने यहाँ भौतिकाग्नि का वर्णन न मानकर समाध्यक्ष-परक व्याख्या की है, जिसमें कोई असंगति नहीं है। अग्नि=श्रेष्ठ गुणों से प्रकाशमान तथा अग्रणी समाध्यक्ष को राज्य की रक्षा करने के लिए ऐसे दूतों की नियुक्ति करनी चाहिए, जो बहुत ही दक्ष हों। दूत में ऐसे गुण होने चाहिएँ, जो शत्रुओं को जीतने में समर्थ हों और जिसकी प्रशंसा मित्र के समान प्रिय, वरुण=उत्कृष्ट तथा अर्यमा=न्यायकारी देवासः=सभी विद्वान् करते हों। और वह दूत लोभादि दोषों से रहित तथा सम्पन्न होना चाहिए, अन्यथा शत्रु-प्रदत्त रिश्वतादि लेकर दूत धोखा भी दे सकता है। इसीलिए मन्त्र में कहा है जो मनुष्य धनम्=विद्या व सुवर्णादि धनों को देता है, वह दानशील व शिक्षित दूत राज्य की रक्षा कर सकता है।

महर्षि द्वारा निर्दिष्ट ऐसे सुसंगत मन्त्र की सायणाचार्य ने भ्रान्तिवश असंगत व्याख्या ही की है। और सायण-भाष्य में मन्त्र के पूर्वार्द्ध की उत्तरार्द्ध के साथ भी क्या संगति है? वरुणादि देव अग्नि को प्रदीप्त करते हैं और हवि देनेवाला यजमान समस्त धनों को जीत लेता है, इन दोनों बातों में क्या मेल है? सायण के अनुसार वरुणादि देव स्वर्गस्थ हैं और मनुष्य (यजमान) भूमि पर रहने वाला है। इन में परस्पर क्या सामञ्जस्य है? क्या ये देव पृथिवी पर आकर अग्नि प्रज्वलित करते हैं? आजकल यज्ञादि के समय ये देव अग्नि क्यों नहीं जलाते? इत्यादि अनेक भ्रान्तियां सायण-भाष्य से उत्पन्न हो रही हैं। जिनका उत्तर सायण-भाष्य से नहीं मिलता। अतः सायण की व्याख्या सर्वथा ही असंगत है॥ ४॥ ●

घौरः काण्व ऋषिः। **अग्निः** (दूतः) देवता। निचृद्बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते॥

फिर वह राजा कैसा हो, यह उपदेश किया जाता है॥

मन्द्रो होता गृहपतिरग्ने दूतो विशामसि।
त्वे विश्वा संगतानि व्रता ध्रुवा यानि देवा अक्रृण्वत॥ ५॥

मन्द्रः। होता। गृहपतिः। अग्ने। दूतः। विशाम्। असि। त्वे इति। विश्वा। संगतानि। व्रता। ध्रुवा। यानि। देवाः। अक्रृण्वत॥ ५॥

पदार्थः—(**मन्द्रः**) पदार्थप्रापकत्वेन हर्षहेतुः (**होता**) सुखानां दाता (**गृहपतिः**) गृहकार्याणां पालयिता (**अग्ने**) शरीरबलेन देदीप्यमान (**दूतः**) यो दुनोत्युपतप्य भिनत्ति दुष्टान् शत्रून् सः (**विशाम्**) प्रजानाम् (**असि**) (**त्वे**) त्वयि राज्यपालके सति (**विश्वा**) विश्वानि=सर्वाणि (**संगतानि**) धर्म्यव्यवहार-संयुक्तानि (**व्रता**) व्रतानि=सत्याचरणानि कर्माणि। **व्रतमिति कर्मनामसु पठितम्** निघं० २। १। (**ध्रुवा**) निश्चलानि। अत्र त्रिषु **शेश्छन्दसि बहुलम्** इति शेर्लोपः। (**यानि**) (**देवाः**) विद्वांसः (**अक्रृण्वत**) कृण्वन्ति=कुर्वन्ति। अत्र **लडर्थे लङ् व्यत्ययेनात्मनेपदञ्च॥ ५॥**

प्रमाणार्थ—(**व्रताः**) 'व्रतम्' पद निघण्टु (२।१) में कर्म-नामों में पढ़ा है (**ध्रुवा**) यहां 'शेश्छन्दसि बहुलम्' (अ० ६। १। ७०) इस सूत्र से 'शि' विभक्ति का लोप है। (**अक्रृण्वत**) यहां 'लट्' लकार के अर्थ में लङ् लकार है और व्यत्यय से आत्मनेपद है॥ ५॥

अन्वयः—हे अग्ने यतस्त्वं मन्द्रो होता गृहपतिर्दूतो विशां पतिरसि तस्मात्सर्वा प्रजा यानि विश्वा ध्रुवा संगतानि व्रता धर्म्याणि कर्माणि देवा अक्रृण्वत तानि त्वे सततं सेवन्ते॥ ५॥

सपदार्थान्वयः—हे अग्ने ! शरीर-बलेन देदीप्यमान **यतस्त्वं मन्द्रः** पदार्थप्रापकत्वेन हर्षहेतुः **होता** सुखानां दाता **गृहपतिः** गृह-कार्य्याणां पालयिता **दूतः** यो दुनोत्युपतप्य भिनत्ति दुष्टान् शत्रून् सः **विशां** प्रजानां **पतिरसि, तस्मात्सर्वा प्रजा यानि विश्वा** विश्वानि=सर्वाणि **ध्रुवा** निश्चलानि **संगतानि** धर्म्यव्यवहारसंयुक्तानि **व्रता धर्म्याणि कर्माणि** व्रतानि=सत्याचरणानि कर्माणि **देवाः**, विद्वांसः **अकृण्वत** कृण्वन्ति=कुर्वन्ति **तानि त्वे** त्वयि राज्यपालके सति **सततं सेवन्ते** ॥ ५ ॥

भाषार्थ—हे (**अग्ने**) शरीर-बल से सुशोभित राजन् ! जिससे आप (**मन्द्रः**) पदार्थों के प्रापक होने से हर्ष के हेतु, (**होता**) सुखों के दाता, (**गृहपतिः**) गृह-कार्यों के पालक (**दूतः**) पीडित करके दुष्ट शत्रुओं के भेदक और (**विशाम्**) प्रजा के (**पतिः**) रक्षक हो, इसलिये सब प्रजा—जिन (**विश्वा**) सब (**ध्रुवा**) निश्चल (**संगतानि**) धर्मव्यवहार से संयुक्त (**व्रता**) सत्याचरण आदि कर्मों को (**देवाः**) विद्वान् (**अकृण्वत**) करते हैं—उन्हें (**त्वे**) आपके राज्यपालक होने पर निरन्तर सेवन करती है ॥५॥

भावार्थः—सुराजदूतसभासद एव राज्यं रक्षितुमर्हन्ति न विपरीताः ॥ ५ ॥

भावार्थ—उत्तम राजदूत और सभासद् ही राज्य की रक्षा कर सकते हैं; अन्य नहीं ॥ ५ ॥

भाष्यसार—**दूत कैसा हो**—राजा शरीर-बल से सुशोभित, पदार्थों का प्रापक होने से हर्ष का हेतु, सुखों का दाता, गृह-कार्यों का पालक, पीडित करके दुष्ट शत्रुओं का भेदक और प्रजा का रक्षक हो। जिन धर्मयुक्त सत्याचरण आदि कर्मों का विद्वान् लोग आचरण करते हैं; उक्त दूत के राज्य-पालक होने पर सब प्रजा निरन्तर सेवन करती है ॥ ५ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अग्निदेव। तुम हर्षित करने वाले, देवों को बुलाने वाले यजनरूप प्रजाओं के पालक तथा देवों के दूत हो। तुम्हारे में समस्त कर्म संगत हैं। पृथिवी आदि देवों ने स्थिर कर्म किए॥"

इस सायण-भाष्य से स्पष्ट है कि सायणाचार्य ने मन्त्रोक्त अग्नि की सब विशेषताओं पर विचार नहीं किया है। इस भौतिकाग्नि को देवों को बुलाने वाला, हर्ष का हेतु तथा गृहपति मानना उपहास्यास्पद ही है। जड़-अग्नि में यह गुण कहाँ है कि वह किसी को बुला सके, अथवा स्वेच्छा से सुख दे सके। पृथिव्यादि देवों का स्थिर कर्म क्या है ? और इन के कर्मों की अग्निदेव के साथ संगति कहनादि सायण-भाष्य की समस्त बातें काल्पनिक ही हैं। महर्षि-दयानन्द ने इस मन्त्र की व्याख्या यौगिक-प्रक्रिया से बहुत ही संगत की है। उनके अनुसार 'अग्नि' का यहां अर्थ 'राजा का दूत' है। वह दूतः=शत्रुओं का भेदक होने से प्रजाओं की रक्षा करता है, मन्द्रः=पदार्थों को प्राप्त कराकर हर्ष का हेतु है, गृहपतिः=राज्यरूपी घर की शत्रुओं से रक्षा करता है और दूतों के आश्रय से जब राष्ट्र सुरक्षित होता है, तो विद्वान् लोग संगतानि धर्मव्यवहार से युक्त व्रता=सत्याचरणादि श्रेष्ठ कार्यों को निश्चल होकर करते हैं। सायण ने इस मन्त्र के गाम्भीर्य को न समझकर प्रकरणविरुद्ध ही व्याख्या की है ॥ ५ ॥ ●

घौरः काण्व ऋषिः। **अग्निः (सभाध्यक्षः)** देवता। भुरिग्बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

अथाग्निदृष्टान्तेन राजपुरुषगुणा उपदिश्यन्ते॥

अब अग्नि के दृष्टान्त से राजपुरुष के गुणों का उपदेश किया जाता है॥

---

१. हे अग्ने त्वं मन्द्रः हर्षहेतुः होता देवानामाह्वाता विशां यजमानरूपाणां प्रजानां गृहपतिः गृहस्य पालकः दूतः देवदूतः असि। त्वे त्वयि विश्वा व्रता सर्वाणि कर्माणि संगतानि। पृथिव्यादयः देवाः ध्रुवा स्थिराणि यानि कर्माणि अकृण्वत कृतवन्तः॥ (सायणः)

त्वे इदग्ने सुभगे यविष्ठ्य विश्वमाहूयते हविः ।
त्वन्नो अद्य सुमना उतापरं यक्षि देवान्त्सुवीर्यां ॥ ६ ॥

त्वे । इति । इत् । अग्ने । सुऽभगे । यविष्ठ्य । विश्वम् । आ । हूयते । हविः । सः । त्वम् । नः । अद्य । सुऽमनाः । उत । अपरम् । यक्षि । देवान् । सुऽवीर्यां ॥ ६ ॥

पदार्थः—(त्वे) त्वयि (इत्) एव (अग्ने) सुखप्रदातः सभेश (सुभगे) शोभननैश्वर्यं यस्मिँस्तस्मिन् (यविष्ठ्य) यो वेगेन पदार्थान् यौति=संयुनक्ति संहतान् भिनत्ति वा स युवातिशयेन युवा यविष्ठो यविष्ठ एव यविष्ठ्यस्तत्सम्बुद्धौ (विश्वम्) सर्वम् (आ) समन्तात् (हूयते) दीयते (हविः) सुसंस्कृतं वस्तु (सः) त्वम् (नः) अस्मान् (अद्य) अस्मिन्नहनि (सुमनाः) शोभनं मनो=विज्ञानं यस्य सः (उत) अपि (अपरम्) श्वोदिनं प्रति (यक्षि) संगमय । अत्र लडर्थे लङ्ङभावश्च । (देवान्) विदुषः (सुवीर्या) शोभनानि वीर्याणि येषां तान् अत्र सुपां सुलग् इत्याकारादेशः ॥ ६ ॥

प्रमाणार्थ—(यक्षि) यहां लट् लकार के अर्थ में लङ् लकार और 'अट्' आगम का अभाव है । (सुवीर्या) यहां 'सुपां सुलुक्०' (अ० ७ । १ । ३९) इस सूत्र से 'शि' के स्थान में आकार आदेश है ॥

अन्वयः—हे यविष्ठ्याग्ने यथा होत्राग्नौ विश्वं हविराहूयते यस्मिन् सुभगे त्वे त्वयि सर्वो न्यायोऽस्माभिरधिक्रियते स सुमनास्त्वमद्योताप्यपरं दिनं प्रति नोस्मान् सुवीर्या श्रेष्ठपराक्रमयुक्तानि देवान्यक्षि संगमय ॥ ६ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **यविष्ठ्य** यो वेगेन पदार्थान् योति=संयुनक्ति, संहतान् भिनत्ति वा स युवाऽतिशयेन युवा यविष्ठो यविष्ठ एव यविष्ठ्यः, तत्सम्बुद्धौ **अग्ने** ! सुखप्रदातः सभेश ! **यथा होत्राऽग्नौ विश्वं** सर्वं **हविः** सुसंस्कृतं वस्तु **आ+हूयते** समन्ताद् दीयते **[तथा] यस्मिन् सुभगे** शोभनमैश्वर्य्यं यस्मिंस्तस्मिन् **त्वे**=त्वयि **[इत्]** एव **सर्वो न्यायोऽस्माभिरधिक्रियते, सः** त्वं **सुमनाः** शोभनं मनो=विज्ञानं यस्य सः **त्वमद्य** अस्मिन्नहनि **उत**=अपि **अपरं**=दिनं प्रति श्वोदिनं प्रति **नः**=अस्मान् **सुवीर्या**=श्रेष्ठपराक्रमयुक्तान् शोभनानि वीर्याणि येषां तान् **देवान्** विदुषः **यक्षिः**=संगमय ॥ ६ ॥

भाषार्थ—हे (**यविष्ठ्य**) वेग से पदार्थों को संयुक्त करने वाले या संहतों का अत्यन्त भेदन करने वाले (**अग्ने**) सुखों के दाता सभाध्यक्ष ! जैसे होता अग्नि में (**विश्वम्**) सब (**हविः**) अच्छे प्रकार संस्कृत पदार्थ की (**आहूयते**) आहुति देता है वैसे—(**त्वे**) आपके (**सुभगे**) उत्तम ऐश्वर्य से सम्पन्न होने पर [**इत्**] ही आपको सब के न्याय का हम अधिकार देते हैं (**सः**) सो आप—(**सुमनाः**) उत्तम विज्ञान वाले होकर (**अद्य**) आज (**उत**) और (**अपरम्**) कल (**नः**) हमें (**सुवीर्या**) श्रेष्ठ पराक्रम से युक्त (**देवान्**) विद्वानों का (**यक्षि**) संग कराओ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । यथा विद्वांसो वह्नौ शुद्धं हव्यं द्रव्यं प्रक्षिप्य जगते सुखं जनयन्ति तथैव राजपुरुषा दुष्टान् कारागृहे प्रक्षिप्य धार्मिकेभ्य आनन्दं प्रादुर्भावयन्तु ॥ ६ ॥

भावार्थ—यहां वाचकलुप्तोपमा अलंकार है । जैसे विद्वान् अग्नि में शुद्ध हवन योग्य द्रव्य डालकर जगत् के लिए सुख को उत्पन्न करते हैं, वैसे ही राजपुरुष दुष्टों को कारागार में डालकर धार्मिकों के लिए आनन्द को प्रकट करें ॥ ६ ॥

भाष्यसार—**राजपुरुष के गुण**—सभाध्यक्ष—वेग से पदार्थों को संयुक्त करनेवाला और आवश्यकता के अनुसार उनका भेदन करने वाला हो । वह सब सुखों का दाता हो । जैसे होता अग्नि में उत्तम पदार्थ की आहुति देता है, वैसे उत्तम ऐश्वर्य से सम्पन्न होने पर उक्त सभाध्यक्ष को मनुष्य न्याय-अधिकार देवें । उत्तम विज्ञानवाला सभाध्यक्ष आज-कल—प्रतिदिन मनुष्यों को श्रेष्ठ पराक्रमी विद्वानों का संग करावे ॥ ६ ॥

अलंकार—इस मन्त्रमें उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है, अतः वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि जैसे होता अग्नि में उत्तम पदार्थ की आहुति देता है वैसे प्रजाजन सभाध्यक्ष को न्याय-अधिकार प्रदान करें ॥ ६ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अतिशय जवान तथा सौभाग्यशाली अग्निदेव ! तेरे अन्दर ही सब हवि डाली जाती है। तुम हमारे प्रति प्रसन्न मन होकर आज तथा भविष्य में भी सब समय में निरन्तर अच्छे वीर्यसम्पन्न देवों का यजन करो॥"

इस मन्त्र में वर्णित 'अग्नि' के गुणों पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि इसमें भौतिकाग्नि का वर्णन नहीं है। क्योंकि यह अचेतन अग्नि ज्ञानादि गुणों से रहित है, अतः यजमान की प्रार्थना पर देवों का यजन नहीं कर सकती। और इस भौतिकाग्नि को 'सुमनाः=उत्तम मनवाला' तो कदापि नहीं कहा जा सकता। क्या जड़-देवों में भी मन आदि इन्द्रियां हो सकती हैं ? ऐसी असम्भव बातों पर भी सायण ने पता नहीं कैसे विश्वास कर लिया ? और अग्नि को यविष्ठ्य=अतिशय जवान, सुभगे=सौभाग्ययुक्त तथा वीर्योपेत देवों का यज्ञ करने वालादि बताना भी सायण की भ्रान्ति ही है।

महर्षि-दयानन्द ने यहां 'अग्नि' का अर्थ 'सभाध्यक्ष' किया है। वह कैसा हो, इस का वर्णन मन्त्र में करते हुए लिखा है—यविष्ठ्य=(यु मिश्रणे धात्वर्थ के अनुसार) अतिशय पदार्थों को मिलाने वाला हो, सुभगे=उत्तम ऐश्वर्य से सम्पन्न हो, सुमनाः=उत्तम विज्ञान वाला और सुवीर्या-विद्याबलसम्पन्न देवान् यक्षि=विद्वानों की संगति कराकर ज्ञान-विज्ञान को राज्य में बढ़ाने वाला हो। ऐसे सुसंगत मन्त्रार्थ को न समझकर सायण ने अनृषि होने से ही असगंत व्याख्या की है। सायण की मिथ्या व्याख्या होने का प्रमुख कारण यह भी है कि उन्होंने मन्त्रार्थ में यौगिक प्रक्रिया का परित्याग करके रूढ अर्थों पर ही अधिक बल दिया है ॥ ६ ॥ ●

घौरः काण्व ऋषिः। **अग्निः** (सभाध्यक्षः) देवता। बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

पुनः स एवार्थ उपदिश्यते॥

फिर उसी सभाध्यक्ष विषय का उपदेश किया जाता है॥

तं घेमित्था नमस्विन उप स्वराजमासते।
होत्राभिरग्निं मनुषः समिन्धते तितिर्वांसो अति स्रिधः॥ ७॥

तम्। घ। ईम्। इत्था। नमस्विनः। उप। स्वऽराजम्। आसते। होत्राभिः। अग्निम्। मनुषः। सम्। इन्धते। तितिर्वांसः। अति। स्रिधः॥ ७॥

पदार्थः—(तम्) प्रधानं सभाध्यक्षं राजानम् (घ) एव (ईम्) प्रदातारम्। **ईमिति पदनामसु पठितम्।** निघं० ४। २। अनेन प्राप्तयर्थो गृह्यते (**इत्था**) अनेन प्रकारेण (**नमस्विनः**) नमः=प्रशस्तो वज्रः शस्त्रसमूहो विद्यते येषां ते। अत्र **प्रशंसार्थे विनिः**। (उप) सामीप्ये (**स्वराजम्**) स्वेषां राजा=स्वराजस्तम् (**आसते**) उपविशन्ति (**होत्राभिः**) हवनसत्यक्रियाभिः (**अग्निम्**) ज्ञानस्वरूपम् (**मनुषः**)

---

१. हे यविष्ठ्य युवतम अग्ने सुभगे सौभाग्ययुक्ते त्वे इत् त्वय्येव विश्वं सर्वं हविः आहूयते सर्वतः प्रक्षिप्यते। स त्वं नः अस्मान् प्रति सुमनाः शोभनमनस्को भूत्वा अद्य अस्मिन् दिने उत अपि च अपरं श्वः परश्व इत्यादिकमुत्तरं कालं सर्वस्मिन्नपि काले नैरन्तर्येण सुवीर्या शोभनवीर्योपेतान् देवान् यक्षि यज॥ (सायणः)

मनुष्याः । अत्र **मनधातोर्बाहुलकादौणादिक उसिः प्रत्ययः** । (**सम्**) सम्यगर्थे (**इन्धते**) प्रकाशयन्ते (**तितिर्वांसः**) सम्यक् तरन्तः । **अत्र तॄधातोर्लिट् स्थाने वर्त्तमाने क्वसुः** । (**अति**) अतिशयार्थे (**स्निधः**) हिंसकान् क्षयकर्त्तॄञ्छत्रून् ॥ ७ ॥

प्रमाणार्थ—(**ईम्**) यह पद निघण्टु (४ । २) में पद-नामों में पढ़ा है । पद के अर्थ ज्ञान, गमन, और प्राप्ति हैं; इससे यहां प्राप्ति अर्थ ग्रहण किया है । (**नमस्विनः**) यहां प्रशंसा अर्थ में 'विनि' प्रत्यय है । (**मनुषः**) यहाँ 'मन्' धातु से बहुल करके औणादिक 'उसि' प्रत्यय है । (**तितिर्वांसः**) यहां 'तॄ' धातु से 'लिट्' लकार के स्थान में वर्तमान काल में 'क्वसु' आदेश है ॥ ७ ॥

अन्वयः—ये नमस्विनो मनुषो होत्राभिस्तं स्वराजमग्निं सभाध्यक्षं घोपासते समिन्धते च तेऽतिस्निधस्तितिर्वांसो भवेयुः ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः — ये **नमस्विनः** नमः=प्रशस्तो वज्रः शस्त्रसमूहो विद्यते येषां ते **मनुषः** मनुष्याः **होत्राभिः** हवनसत्यक्रियाभिः **तं** प्रधानं सभाध्यक्षं राजानम् [**ईम्**] प्रदातारं **स्वराजं** स्वेषां राजा=स्वराजस्तम् **अग्निं**=**सभाध्यक्षं** ज्ञानस्वरूपं **घ** एव **उप**+**आसते** समीपतयोपविशन्ति, **सम्**+**इन्धते** सम्यक्तया प्रकाशयन्ते **च**, **ते** [**इत्था**] अनेन प्रकारेण **अतिस्निधः** अतिशयेन हिंसकान् क्षयकर्त्तॄञ्छत्रून् **तितिर्वांसः** सम्यक् तरन्तो **भवेयुः** ॥

भावार्थः — न खलु सभाध्यक्षोपासकैः सभासद्भिर्भृत्यैर्विना कश्चिदपि स्वराजसिद्धिं प्राप्य शत्रून् विजेतुं शक्नोति ॥

भाषार्थ—जो (**नमस्विनः**) प्रशस्त वज्र=शस्त्रसमूह से युक्त (**मनुषः**) मनुष्य—(**होत्राभिः**) हवन रूप सत्य-क्रियाओं से (**तम्**) उस (**ईम्**) सुखों के दाता (**स्वराजम्**) प्रजा के राजा (**अग्निम्**) ज्ञान-स्वरूप सभाध्यक्ष की (**घ**) ही (**उप+आसते**) उपासना करते हैं, (**समिन्धते**) अच्छे प्रकार उसे प्रकाशित करते हैं; वे [**इत्था**] इस प्रकार से (**अतिस्निधः**) अत्यन्त हिंसक, विनाशकारी शत्रुओं को (**तितिर्वांसः**) अच्छे प्रकार पार करनेवाले—जीतने वाले होते हैं ॥

भावार्थ—सभाध्यक्ष के उपासक सभासद् और भृत्यों के विना कोई भी स्वराज्य-सिद्धि को प्राप्त करके शत्रुओं को नहीं जीत सकता ॥ ७ ॥

भाष्यसार—**सभाध्यक्ष कैसा हो**—जो प्रशस्त शस्त्र-समूह से युक्त मनुष्य—सत्यक्रियाओं से उस सुखों के दाता, प्रजा के राजा, ज्ञानस्वरूप सभाध्यक्ष की उपासना करते हैं, और उसके गुणों को प्रकाशित करते हैं, वे अत्यन्त हिंसक, विनाशकारी शत्रुओं को जीतने वाले होते हैं । उपासक सभासद् और भृत्यजनों के विना सभाध्यक्ष शत्रुओं पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता ॥ ७ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अग्निदेव ! अन्नों से युक्त अथवा नमस्कार से युक्त यजमान स्वयं दीप्यमान पूर्वोक्त तुझ अग्नि की इस प्रकार हवि-प्रदानादि के द्वारा उपासना करते हैं और यजमान सात वषट् कर्मवाले तुझ अग्नि को भलीभांति प्रदीप्त करते हैं । वे यजमान शत्रुजनों को अतिशयता से पार कर लेते हैं ।"

इस मन्त्र में अग्नि की उपासना तथा उसे सुप्रकाशित करने के लिए कहा है । और मन्त्र के उत्तरार्द्ध में उनके परिणाम की बात भी कही है कि जिससे हम अतिस्निधः=शत्रुजनों को पार कर सकें

---

१. हे अग्ने नमस्विनः अन्नयुक्ता नमस्कारयुक्ता वा यजमानाः स्वराजं स्वतो दीप्यमानं तं घेम् तमेव पूर्वोक्तसर्वगुणविशिष्टं त्वाम् इत्था अनेन प्रकारेण हविष्प्रदानादिरूपेण उप आसते । मनुषः मनुष्या यजमानाः होत्राभिः सप्तभिर्वषट्कर्त्तृभिः अग्निं त्वां समिन्धते सम्यग्दीपयन्ति । कीदृशा मनुष्याः । स्निधः शत्रून् अति तितिर्वांसः अतिशयेन तरन्तः ॥ (सायणः)

अथवा जीत सकें, इसलिए अग्नि की उपासना करें। यह मन्त्र-व्याख्या इस भौतिकाग्नि के साथ कदापि संगत नहीं हो सकती। क्योंकि शत्रुओं का निवारण इस जड़-अग्नि से सम्भव नहीं है। शत्रुओं का विनाश करके राज्य की रक्षा करना राजा का कार्य है। सायणाचार्य ने इस तथ्य पर बिल्कुल भी ध्यान नहीं दिया और याज्ञिक अर्थों को ही पूर्वाग्रहवश प्रधानता देने की चेष्टा की है। महर्षि-दयानन्द ने समस्त मन्त्र पर पूर्वापर का विचार करके यहां अग्नि का अर्थ 'सभाध्यक्ष' किया है। वह कैसा हो! इसका उत्तर भी मन्त्र में स्पष्ट दिया है कि राजा ईम्=प्रजा को सुख देने वाला, स्वराजम्=स्वयं गुणों से प्रकाशमान अथवा अपनी प्रजा का यथार्थ में स्वामी हो। ऐसे राजा की प्रजा तथा राजपुरुष निश्चय से उपासते=निकट स्थित रहते हैं और समिन्धते=उसके कार्यों को प्रकाशित करते हैं। शत्रुजनों से रक्षा के लिए ऐसे सभाध्यक्ष की राज्य में परमावश्यकता है। सायणाचार्य ऐसे सुसंगत मन्त्रार्थ को समझने में सर्वथा ही असमर्थ रहे हैं। उन्होंने यह भी विचार नहीं किया कि क्या इस भौतिकाग्नि के समीप बैठने से शत्रुओं का नाश कदापि सम्भव है? ॥ ७ ॥ ●

घौरः काण्व ऋषिः। **अग्निः** (सभाध्यक्षः) देवता। स्वराड्बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

पुनः स एवार्थ उपदिश्यते॥

फिर उसी सभाध्यक्ष विषय का उपदेश किया जाता है॥

घ्नन्तो वृत्रमतरन्रोदसी अप उरु क्षयाय चक्रिरे।
भुवत्कण्वे वृषा द्युम्न्याहुतः क्रन्ददश्वो गविष्टिषु॥ ८॥

घ्नन्तः। वृत्रम्। अतरन्। रोदसी इति। अपः। उरु। क्षयाय। चक्रिरे। भुवत्। कण्वे। वृषा। द्युम्नी। आहुतः। क्रन्दत्। अश्वः। गोऽइष्टिषु॥ ८॥

पदार्थः—(घ्नन्तः) शत्रूहननं कुर्वन्तो विद्युत्सूर्यकिरणा इव सेनापत्यादयः (**वृत्रम्**) मेघमिव शत्रुम् (**अतरन्**) प्लावयन्ति। अत्र **लडर्थे लङ्**। (**रोदसि**) द्यावापृथिव्यौ (**अपः**) कर्माणि। **अप इति कर्मनामसु पठितम्**। निघं० २। १। (**उरु**) बहु (**क्षयाय**) निवासाय (**चक्रिरे**) कुर्वन्ति। अत्र **लडर्थे लिट्** (**भुवत्**) भवेत्। लेट् प्रयोगो **बहुलं छन्दसि** इति शपो लुकि **भूसुवोस्तिङि**। अ० ७। ३। ८८। इति गुणप्रतिषेधः। (**कण्वे**) शिल्पविद्याविदि मेधाविनि विद्वज्जने (**वृषा**) सुखवृष्टिकर्त्ता (**द्युम्नी**) द्युम्नानि=बहुविधानि धनानि भवन्ति यस्मिन्। अत्र **भूम्न्यर्थ इनिः**। (**आहुतः**) सभाध्यक्षत्वेन स्वीकृतः (**क्रन्दत्**) हेषणाख्यं शब्दं कुर्वन् (**अश्वः**) तुरङ्ग इव (**गविष्टिषु**) गवां=पृथिव्यादीनामिष्टिप्राप्तीच्छा येषु संग्रामेषु तेषु॥ ८॥

प्रमाणार्थ—(**अतरन्**) यहाँ लट् लकार के अर्थ में 'लङ्' लकार है। (**अपः**) यह पद निघण्टु (२।१) में कर्म-नामों में पढ़ा है। (**चक्रिरे**) यहां लट् लकार के अर्थ में लिट् लकार है। (**भुवत्**) यह 'लेट्' लकार का प्रयोग है, यहां 'बहुलं छन्दसि' (अ० २। ४। ७३) इस सूत्र से 'शप्' विकरण प्रत्यय का लुक् और भूसुवोस्तिङि' (अ० ७। ३। ८८) इस सूत्र से गुण का प्रतिषेध है। (**द्युम्नी**) यहां भूमा अर्थ में 'इनि' प्रत्यय है—भूमा=बहुत॥ ८॥

अन्वयः—[हे] राजपुरुषा! विद्युत्सूर्यकिरणा वृत्रमिव शत्रुदलं घ्नन्तो रोदसी अतरन्नपः कुर्युः तथा गविष्टिषु क्रन्ददश्व इवाहुतोवृषासन्नुरुक्षयाय कण्वे द्युम्नी दधद्भुवत्॥ ८॥

सपदार्थान्वयः—[हे] राजपुरुषाः! **भाषार्थ**—हे राजपुरुषो! जैसे विद्युत, सूर्य

विद्युत्सूर्यकिरणा वृत्रं मेघम् इव=**शत्रुदलं घ्नन्तः** शत्रुहननं कुर्वन्तो विद्युत्सूर्यकिरणा इव सेनापत्यादयः **रोदसी** द्यावापृथिव्यौ **अतरन्** प्लावयन्ति, **अपः** कर्माणि [**चक्रिरे**]=**कुर्युः** कुर्वन्ति ।

और उसकी किरणें (**वृत्रम्**) मेघ का हनन करती हैं, वैसे शत्रुदल का (**घ्नन्तः**) हनन करते हुए सेनापति आदि (**रोदसी**) द्यावापृथिवी को (**अतरन्**) पार करते हैं, और (**अपः**) राज्यसम्बन्धी कर्मों को [**चक्रिरे**] करते हैं।

तथा गविष्टिषु गवां=पृथिव्यादीनामिष्टि=प्राप्तीच्छा येषु संग्रामेषु तेषु **क्रन्दत्** हेषणाख्यं शब्दं कुर्वन् **अश्व इव तुरङ्ग इव आहुतः** सभाध्यक्षत्वेन स्वीकृतः **वृषा** सुखवृष्टिकर्त्ता **सन् उरु** बहु **क्षयाय** निवासाय **कण्वे** शिल्पविद्याविदि मेधाविनि विद्वज्जने **द्युम्नी द्युम्नानि**=बहुविधानि धनानि भवन्ति यस्मिन् **दधद् भुवत्** भवेत् ॥ ८ ॥

तथा (**गविष्टिषु**) पृथिवी आदि की प्राप्ति की इच्छा वाले संग्रामों में (**क्रन्दत्**) हिनहिनाते हुए (**अश्वः**) घोड़े के समान (**आहुतः**) स्वीकृत सभाध्यक्ष (**वृषा**) सुख की वर्षा करने वाला होकर (**उरु**) चिरकाल तक (**क्षयाय**) निवास के लिए (**कण्वे**) शिल्पविद्या के ज्ञाता, मेधावी विद्वान् के प्रति (**द्युम्नी**) बहुत प्रकार के धनों को धारण करने वाला (**भुवत्**) हो ॥ ८ ॥

भावार्थः — यथा विद्यद्भौतिकसूर्याग्नयो मेघं छित्वा वर्षयित्वा सर्वान् लोकान् जलेन पूरयन्ति तत् कर्म प्राणिनां चिरसुखाय भवत्येवं सभाध्यक्षादिभी राजपुरुषैः कण्टकरूपाञ्छत्रून् हत्वा प्रजाः सततं तर्पणीयाः ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे विद्युत्, भौतिक और सूर्य रूप अग्नियाँ मेघ को छिन्न भिन्न करके, वर्षा कर सब लोकों को जल से पूर्ण करती हैं, वह कर्म प्राणियों के चिर-सुख के लिए होता है, इस प्रकार सभाध्यक्ष आदि राजपुरुष कण्टक रूप शत्रुओं को मारकर सदा प्रजा को तृप्त करें ॥ ८ ॥

भाष्यसार—**सभाध्यक्ष कैसे हो**—जैसे विद्युत्, सूर्य और उसकी किरणें मेघ का हनन करती हैं वैसे सेनापति आदि शत्रु-दल का हनन करें और द्यावापृथिवी को पार करें—उन पर विजय प्राप्त करें और राज्यसम्बन्धी कर्मों का आचरण करें। पृथिवी आदि की प्राप्ति की इच्छा वाले संग्रामों में एक हिनहिनाते हुये घोड़े के समान ध्वनि में प्रजा द्वारा स्वीकृत सभाध्यक्ष सुख की वर्षा करने वाला हो। वह अपने चिरकाल पर्यन्त निवास के लिए शिल्पविद्या के ज्ञाता विद्वानों के लिये बहुत प्रकार के धनों को धारण करे ॥ ८ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अग्निदेव ! तुम्हारे सहयोग से देवों ने प्रहार करते हुए वृत्र को पार किया। और उसके बाद तुमने प्राणियों के निवास के लिए द्युलोक, पृथिवी लोक तथा अन्तरिक्ष को विस्तृत किया। आप तो कण्व नामक महर्षि पर कामनाओं की वृष्टि करनेवाले धनवाले और सब ओर से होमयुक्त हो। जैसे गायों की इच्छा वाले संग्रामों में घोड़ा शब्द करता हुआ अभीष्ट को प्राप्त कराता है ॥"

इस सायण-भाष्य में मन्त्र के प्रतिपाद्यविषय देवता को न समझने से सायण मन्त्रार्थ करने में

---

१. हे अग्ने घ्नन्तः त्वत्सहायेनेतरे देवाः प्रहरन्तः वृत्रम् अतरन् तीर्णवन्तः । तदनन्तरं रोदसी द्यावापृथिव्यौ अपः अन्तरिक्षं च क्षयाय प्राणिनां निवासार्थम् उरु विस्तारो यथा भवति तथा चक्रिरे। भवांस्तु कण्वे कण्वनामके महर्षौ वृषा कामानां वर्षिता द्युम्नी धनवान् आहुतः सर्वतो होमयुक्तश्च भुवत् भवतु। तत्र दृष्टान्तः। गविष्टिषु गोविषयेच्छायुक्तेषु संग्रामेषु अश्वः क्रन्दत् शब्दं कुर्वन् यथाभीष्टप्रापकस्तथेति शेषः ॥ (सायणः)

भ्रान्त ही रहे हैं। उनके भाष्य में अनेक असम्भव, भ्रान्तिजनक तथा असंगत बातों का वर्णन है। जैसे अग्नि-देव के सहयोग से दूसरे देवों ने वृत्र को पार किया। इसमें ये दूसरे देव कौन हैं? और वृत्र कौन है? इसकी कोई व्याख्या ही नहीं की है। और आगे तो सायण ने ऐसी व्याख्या की है, जिसको पढ़कर हँसी आती है। सायण लिखते हैं कि देवों ने प्राणियों के निवास के लिए द्युलोक, पृथिवी लोक तथा अन्तरिक्ष का विस्तार किया। क्या परमात्मा की रची इस सृष्टि को कोई अन्यथा कर सकता है? क्या ये देव परमात्मा की व्यवस्था का उल्लंघन कर सकते हैं? और द्युलोक तथा अन्तरिक्ष लोक में कौन से प्राणी रहते हैं, जिनके लिए देवों ने इनका विस्तार किया? कण्व नामक महर्षि कौन और कब हुआ है? क्या यह अग्नि, जिसको सायण ने भी 'हूयते हविः' (अ० १। ३५। ६) मन्त्रभाष्य में यज्ञ की अग्नि माना है, किसी मनुष्य विशेष पर अनुकम्पित होकर कामनाओं की पूर्ति कर सकती है? सायण की यथार्थ में यहाँ जड़देवों की पूजा करते-करते विवेक-शक्ति भी जड़ हो गई है, जो ऐसी असम्भव व्याख्या कर गये हैं। और मन्त्र में दी गई उपमा को सायण ने नहीं समझा है। पशुओं में यह सामान्य बुद्धि होती है कि वे अपनी जाति के पशुओं को ही देखकर कामातुर होते हैं और हिनहिनानादि शब्द भी करते हैं। किन्तु सायण लिखते हैं जैसे घोड़ा गाय के प्रति कामातुर होकर शब्द करता है और वृषा=कामों की वृष्टि करता है। यथार्थ में ऐसे असंगत तथा असम्भव अर्थों के करने का मुख्य कारण है—मन्त्र के देवता को न समझकर प्रकरण न बनना है और प्रकरण-विरुद्ध अर्थों की संगति कैसे हो सकती है?

उपर्युक्त सभी असंगतियों तथा भ्रान्तियों से रहित प्रकरणानुकूल महर्षि दयानन्द का भाष्य पठनीय है। महर्षि ने यहां 'अग्नि' का अर्थ 'सभाध्यक्ष' किया है। जैसे सूर्य की किरणें या विद्युत् वृत्र= मेघ को छिन्न-भिन्न करके नष्ट करती हैं, वैसे ही राजा के सेनापति आदि शत्रुओं को नाश के लिए अपः चक्रिरे= राजसम्बन्धी कार्यों को करते हैं और विमानादि यानों से द्युलोक तथा पृथिवी लोक को पार करते हैं। 'उरु' का यहां विस्तृत अर्थ या बहुत्ववाचक अर्थ अपः=कर्मों के साथ तो संगत होता है, किन्तु द्युलोकादि का विस्तृत करना अर्थ ठीक नहीं। और 'कण्व' किसी ऋषि का नाम नहीं है। निघं० (३। १५) में 'कण्व'शब्द मेधावी-नामों में पठित है। अतः शिल्पविद्यादि के जो मेधासम्पन्न विद्वान् पुरुष हैं उनके प्रति सभाध्यक्ष द्युम्नी=धनादि साधनों को धारण करने वाला, उनके क्षयाय=निवास के लिए विशेष प्रबन्ध करने वाला हो, जिससे विज्ञानादि की वृद्धि हो। और यहाँ 'गविष्टिषु' पद में 'गो' शब्द पशु विशेष का वाचक नहीं है। 'गो' शब्द पृथिवी का वाचक है। सभाध्यक्ष पृथिवी आदि की प्राप्ति के लिए जो संग्राम करता है, उनमें जैसे अश्वादि युद्ध-साधनों को परमोपयोगी समझकर ग्रहण करता है, वैसे शिल्पविद्या के विद्वानों का भी सदा सम्मान करे।

ऐसे सुसंगत तथा शिक्षाप्रद मन्त्रार्थ को न समझकर सायण ने बहुत ही असंगत व्याख्या की है। और सायण-भाष्य में 'अतरन्' 'चक्रिरे क्रियाओं की भूतकालीन व्याख्या वैदिक नियमों को न समझकर की गई है। इससे वेदों में इतिहास की भ्रान्ति होती है॥ यथार्थ में ये लङ्, लिटादि लकार वेदों में सामान्यकाल में भी प्रयुक्त हैं। इस नियम को न समझने से सायण को प्रायः सर्वत्र ही भ्रान्ति रही है॥ ●

घौरः काण्व ऋषिः। **अग्निः (सभापतिः)** देवता। निचृदुपरिष्टाद्बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

अथ सभापतेर्गुणा उपदिश्यन्ते॥

अब सभापति के गुणों का उपदेश किया जाता है॥

सं सीदस्व महाँ असि शोचस्व देववीतमः ।
वि धूममग्ने अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम् ॥ ९ ॥

सम् । सीदस्व । महान् । असि । शोचस्व । देवऽवीतमः । विऽधूमम् । अग्ने । अरुषम् । मियेध्य । सृज । प्रऽशस्त । दर्शतम् ॥ ९ ॥

पदार्थः—(सम्) सम्यगर्थे (सीदस्व) दोषान् हिन्धि । व्यत्ययेनात्रात्मनेपदम् (महान्) महागुणविशिष्टः (असि) वर्त्तसे (शोचस्व) प्रकाशस्व शुच् दीप्तावित्यस्माल्लोट् (देववीतमः) यो देवान्=विदुषो व्याप्नोति सोतिशयित (वि) (धूमम्) धूमसदृशमलरहितम् (अग्ने) तेजस्विन् सभापते (अरुषम्) सुन्दररूपयुक्तम् । अरुषमिति रूपनामसु पठितम् । निघं० ३ । ७ । (मियेध्य) मेधार्ह अयं प्रयोगः पृषोदरादिना अभीष्टः सिद्धचति । (सृज) (प्रशस्त) प्रशंसनीय (दर्शतम्) द्रष्टुमर्हम् ॥ ९ ॥

प्रमाणार्थ—(सीदस्व) यहां व्यत्यय से आत्मनेपद है । (शोचस्व) यहां दीप्ति अर्थ वाली 'शुच्' धातु से 'लेट्' लकार है । (अरुषम्) यह पद निघण्टु (३ । ७) में रूप-नामों में पढ़ा है । (मियेध्य) यह शब्द 'पृषोदरादि०' (अ० ६ । ३ । १०९) इस सूत्र से सिद्ध है ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे मियेध्याग्ने तेजस्विन् सभापते यस्त्वं महानसि स देववीतमः सन्न्याये संसीदस्व शोचस्व हे प्रशस्त राजँस्त्वमत्र विधूमं दर्शतमरुषं सृजोत्पादय ॥ ९ ॥

पदार्थान्वयः—हे **मियेध्य** मेधार्ह **अग्ने=तेजस्विन् सभापते ! यस्त्वं महान्** महागुणविशिष्टः **असि** वर्त्तसे; **स देववीतमः** देवान्=विदुषो=व्याप्नोति सोऽतिशयितः **सन् न्याये सं+सीदस्व** सम्यक्तया दोषान् हिन्धि, **शोचस्व** प्रकाशस्व ।

हे **प्रशस्त** प्रशंसनीय **राजन् ! त्वमत्र विधूमं** धूमसदृशमलरहितं **दर्शतं** द्रष्टुमर्हम् **अरुषं** सुन्दररूपयुक्तं **सृज=उत्पादय** ॥ ९ ॥

भावार्थः—मेधाविनो राजपुरुषा अग्निवत् तेजस्विनो महागुणाढ्या भूत्वा दिव्यगुणानां पृथिव्यादिभूतानां तत्त्वं विज्ञाय प्रकाशमानाः सन्तो निर्मलं दर्शनीयं रूपमुत्पादयेयुः ॥ ९ ॥

भाषार्थ—हे (**मियेध्य**) मेधा से युक्त (**अग्ने**) तेजस्वी सभाध्यक्ष ! जो आप—(**महान्**) महान् गुणों से युक्त (**असि**) हो, सो (**देववीतमः**) विद्वानों को अत्यन्त व्याप्त करने वाले होकर न्याय में (**संसीदस्व**) स्थित रहो एवं अच्छे प्रकार दोषों का नाश करो ।

हे (**प्रशस्त**) प्रशंसनीय राजन् ! आप—यहां (**विधूमम्**) धूम सदृश मल से रहित (**दर्शतम्**) दर्शनीय (**अरुषम्**) सुन्दर रूप से युक्त (**सृज**) बनो ।

भावार्थ—मेधावी राजपुरुष अग्नि के समान तेजस्वी, महान् गुणों वाले होकर, दिव्य गुणों से युक्त पृथ्वी आदि भूतों के तत्त्व को जानकर, प्रकाशमान होतेहुए, निर्मल दर्शनीय रूप को उत्पन्न करें ॥ ९ ॥

भाष्यसार—**सभापति के गुण**—सभापति मेधा से युक्त, तेजस्वी और महान् हो, महान् गुणों से युक्त हो । वह विद्वानों को अत्यन्त व्याप्त करने वाला होकर न्याय में स्थित रहे और अच्छे प्रकार से दोषों का विनाश करे । प्रशंसनीय सभापति दर्शनीय रूप से युक्त हो—अत्यन्त रूपवान् हो ॥ ९ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अग्नि देव ! तुम कुशासन पर

---

१. हे अग्ने संसीदस्व बर्हिष्युपविश । महान् असि गुणाधिको भवसि । देववीतमः अतिशयेन देवान् कामयमानः शोचस्व दीप्यस्व । हे मियेध्य मेधार्ह प्रशस्त उत्कृष्ट अग्ने ! अरुषं गमनशीलं दर्शतं दर्शनीयं धूमं विसृज विशेषेण संपादय ॥ (सायणः)

बैठो, तुम गुणों में महान् हो, और अतिशय से देवों की कामना करते हुए प्रदीप्त होओ। हे प्रशस्त मेधायुक्त अग्निदेव ! तुम गतिशील तथा दर्शनीय धूम को विशेषरूप से सिद्ध करो ॥"

इस मन्त्र-भाष्य में भी सायण ने 'अग्नि' देवता को बिना समझे ही व्याख्या की है। जिस अग्नि की किरणें सूर्य की तरफ जाती हैं, और जो धूम को फैलाता है, ऐसा भौतिकाग्नि क्या कुशासन पर बैठ सकता है ? क्या कुशासन इस अग्नि से जलेगा नहीं ? क्या यह जड़-अग्निदेव देवों की कामना कर सकता है ? और मेधाबुद्धि, जिसकी 'यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते' इस वेद-मन्त्र के अनुसार विद्वान् लोग प्राप्त करने के लिए परमात्मा की उपासना करते हैं, क्या ऐसी मेधा अचेताग्नि में संभव है ? वाह रे वेद के भाष्यकार सायणाचार्य ! क्या तुम्हें जड़-चेतन का भी विवेक न रहा, जो ऐसी उन्मत्त प्रलाप के समान वेद-मन्त्र की व्याख्या कर डाली।

महर्षि-दयानन्द की व्याख्या प्रकरणानुकूल है। उन्होंने यहां 'अग्नि' का अर्थ 'तेजस्वी सभापति' किया है। वह कैसा हो ? इसका वर्णन इस मन्त्र में किया है। मन्त्रोक्त मियेध्य—मेधा-बुद्धि संपन्न, देववीतमः=विद्वानों की कामना करने वाला आदि विशेषण सभापति के साथ पूर्णतया संगत है। और 'संसीदस्व' पद का अर्थ यहां 'उपविश=बैठना' नहीं है। 'षदॢ विशरणगत्यवसादनेषु' (धातु० भ्वा०) इस धातु का यह रूप है। और इसका विशरण=हिंसा अर्थ भी है। सभापति का यह परम कर्त्तव्य है कि वह विधूमम्=स्वयं धूमसदृश दोषों से रहित, अरुषम्=सुन्दर रूप वाला हो और प्रजा में विद्यमान चोरादिकों को दोषों का दण्ड अवश्य देवे। ऐसे सुसंगत मन्त्रार्थ को अनृषि लोग केवल पाण्डित्य के आश्रय से कदापि नहीं समझ सकते ॥ ९ ॥ ●

घौरः काण्व ऋषिः। **अग्निः** (सभापतिः) देवता। निचृद्विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

मनुष्याः कीदृशं सभेशं कुर्य्युरित्याह ॥

मनुष्य कैसे पुरुष को सभाध्यक्ष बनावे, यह उपदेश किया जाता है ॥

यं त्वा देवासो मनवे दधुरिह यजिष्ठं हव्यवाहन ।
यं कण्वो मेध्यातिथिर्धनस्पृतं यं वृषा यमुपस्तुतः ॥ १० ॥

यम् । त्वा । देवासः । मनवे । दधुः । इह । यजिष्ठम् । हव्यऽवाहन । यम् । कण्वः । मेध्यऽअतिथिः । धनऽस्पृतम् । यम् । वृषा । यम् । उपऽस्तुतः ॥ १० ॥

पदार्थः—(यम्) मननशीलम् (त्वा) त्वाम् (**देवासः**) विद्वांसः (**मनवे**) मननयोग्याय राज्यशासनाय (**दधुः**) दध्यासुः। अत्र **लिङर्थे लिट्**। (**इह**) अस्मिन् संसारे (**यजिष्ठम्**) अतिशयेन यष्टारम् (**हव्यवाहन**) हव्यान्यादातुमर्हाणि वसूनि वहति=प्राप्नोति तत्सम्बुद्धौ सम्यजन (**यम्**) शिक्षितम् (**कण्वः**) मेधावीजनः (**मेध्यातिथिः**) मेध्यैरतिथिभिर्युक्तोऽध्यापकः (**धनस्पृतम्**) धनैर्विद्यासुवर्णादिभिः स्पृतः=प्रीतः सेवितस्तम् (**यम्**) सुखस्य वर्षकम् (**वृषा**) विद्यावर्षकः (**यम्**) स्तोतुमर्हम् (**उपस्तुतः**) उपगतः स्तौति स उपस्तुतो विद्वान्। अत्र **स्तुधातोर्बाहुलकादौणादिकः क्तः प्रत्ययः** ॥ १० ॥

प्रमाणार्थ—(**दधुः**) यहां 'लिङ्' लकार के अर्थ में 'लिट्' लकार है। (**उपस्तुतः**) यहां 'स्तु' धातु से बहुल करके औणादिक 'क्त' प्रत्यय है ॥ १० ॥

अन्वयः—हे हव्यवाहन यं यजिष्ठं त्वा त्वां देवासो मनव इह दधुर्दधति। यं धनस्पृतं

त्वा त्वां मेध्यातिथिः कण्वो दधे। यं त्वा त्वां वृषा दधे। यं त्वा त्वामुपस्तुतो दधे तं त्वां वयं सभापतित्वेनाङ्कीकुर्महे ॥ १० ॥

स्वपदार्थान्वयः—हे हव्यवाहन ! हव्यान्यादातुमर्हाणि वसूनि वहति=प्राप्नोति तत्संबुद्धौ सभ्यजन ! यं मननशीलं **यजिष्ठम्** अतिशयेन यष्टारं **त्वा=त्वां देवासः** विद्वांसः **मनवे** मननयोग्याय राज्यशासनाय **इह** अस्मिन् संसारे **दधुः=दधति** यं शिक्षितं **धनस्पृतं** धनैर्विद्यासुवर्णादिभिः स्पृतः=प्रीतः सेवितस्तं **त्वा=त्वां मेध्यातिथिः मेध्यैरतिथिभिर्युक्तोऽध्यापकः कण्वः** मेधावीजनो **दधे** यं सुखस्य वर्षकं **त्वा=त्वां वृषा** विद्यावर्षकः **दधे**; यं स्तोतुमर्हं **त्वा=त्वामुपस्तुतः** उपगतः स्तौति स उपस्तुतो विद्वान् **दधे, तं त्वां वयं सभापतित्वेनाङ्कीकुर्महे** ॥ १० ॥

भाषार्थ—हे (**हव्यवाहन**) ग्रहण करने योग्य पदार्थों को प्राप्त कराने वाले सभ्य जन ! (**यम्**) जिस मननशील (**यजिष्ठम्**) अत्यन्त यज्ञ करने वाले (**त्वा**) आपको (**देवासः**) विद्वान् (**मनवे**) मनन योग्य राज्यशासन के लिये (**इह**) इस संसार में (**दधुः**) धारण करते हैं, और (**यम्**) जिस शिक्षित (**धनस्पृतम्**) विद्या, सुवर्ण आदि धनों से सेवित (**त्वा**) आपको (**मेध्यातिथिभिः**) मेधावी अतिथियों से युक्त अध्यापक (**कण्वः**) मेधावी पुरुष (**दधे**) धारण करता है; और (**यम्**) सुख की वर्षा करने वाले (**त्वा**) आपको (**वृषा**) विद्या की वर्षा करने वाला मनुष्य (**दधे**) धारण करता है; और (**यम्**) जिस स्तुति के योग्य (**त्वा**) आपको (**उपस्तुतः**) विद्वान् पुरुष (**दधे**) धारण करता है, सो आपको हम सभापति रूप में स्वीकार करते हैं ॥ १० ॥

भावार्थः—अस्मिञ्जगति सर्वैर्मनुष्यैर्विद्वांसोऽन्ये च श्रेष्ठपुरुषा मिलित्वा यं विचारशीलमादेयवस्तुप्रापकं शुभगुणाढ्यं विद्यासुवर्णादिधनयुक्तं सभ्यजनं राज्यशासनाय नियुञ्ज्युस्स एव पितृवत्पालको राजा भवेत् ॥ १० ॥

भावार्थ—इस जगत् में विद्वान् और अन्य श्रेष्ठ पुरुष मिलकर जिस विचारवान्, ग्रहण करने योग्य वस्तुओं को प्राप्त कराने वाले, शुभगुणों से भूषित, विद्या, सुवर्ण आदि धन से युक्त, सभ्य जन को राज्यशासन के लिए नियुक्त करें; वही पिता के तुल्य पालक राजा होवे ॥ १० ॥

भाष्यसार—**मनुष्य कैसे पुरुष को सभाध्यक्ष बनावें**—जो पुरुष ग्रहण करने योग्य पदार्थों को प्राप्त कराने वाला, सभ्य, मननशील, अत्यन्त यज्ञ करने वाला और जिसे विद्वान् राज्यशासन के लिये धारण करें, उसे सभाध्यक्ष बनावें। और जो शिक्षित, विद्या तथा सुवर्ण आदि धनों से सेवित हो और जिसे मेधावी जन धारण करें ऐसे पुरुष को सभाध्यक्ष बनावें। और जो सुख की वर्षा करने वाला हो तथा विद्या की वर्षा करने वाला मनुष्य जिसे धारण करे उसे सभाध्यक्ष बनावें। जो स्तुति के योग्य और विद्वान् पुरुष जिसे धारण करें उसे सभापति बनावें। ऐसा राजा पिता के समान प्रजा का पालन करे ॥ १० ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे हवि को वहन करने वाले अग्नि देव !

---

१. हे हव्यवाहन हविषो वाहकाग्ने ! मनवे मनोरनुग्रहाय देवासः सर्वे देवाः यजिष्ठम् अतिशयेन पूज्यं यष्टृतमं वा यं त्वाम् इह देवयजनदेशे दधुः धृतवन्तः। मेध्यातिथिः मेधार्हैरतिथिभिर्युक्तः कण्वः एतन्नामको महर्षिः यं त्वां धनस्पृतं धनेन प्रीणयितारं कृत्वा दधे इति शेषः। तथा वृषा इन्द्रः यं त्वा दधे। तथा उपस्तुतः अन्योऽपि स्तोता यजमानो यं त्वा दधे। स त्वं संसीदस्वेति पूर्वत्रान्वयः ॥ (सायणः)

मनुष्य पर अनुग्रह करने के लिए सब देवों ने अतिशय पूज्य अथवा यज्ञ करने योग्य तुझ अग्नि का यहाँ यज्ञप्रदेश में धारण किया। मेधा के योग्य अतिथियों सहित कण्व नामक महर्षि ने धन से तृप्त करने वाले तुझ अग्नि को धारण किया और इन्द्र ने तुझे धारण किया। और स्तुति करनेवाले दूसरे स्तोता यजमान ने भी तुझे धारण किया। एवं विशिष्ट तुम कुशासन पर बैठो ॥"

इस मन्त्र के देवता 'अग्नि' के प्रकरणानुकूल अर्थ को न समझकर सायण ने अग्नि=भौतिक-अग्नि से कुशासन पर बैठने की प्रार्थना मानी है। यह उनकी महाभ्रान्ति ही है। मन्त्रोक्त पद का 'हव्यवाहन=हवि को प्राप्त या वहन करने वाले' यह अर्थ सायण ने अपने पूर्वाग्रह वश तथा यौगिक प्रक्रिया को त्यागकर किया है और फिर मन्त्रोक्त मनु, कण्व, वृषा=इन्द्र आदि पदों के भी सायण-भाष्य में असंगत अर्थ किए हैं। मन्त्र के सत्यार्थ के जानने के लिए मन्त्र के समस्त पदों का देवतार्थ के साथ सङ्गत होना अत्यावश्यक है। यह भौतिकाग्नि कुशासन पर कदापि नहीं बैठ सकता, यह अग्नि 'यजिष्ठम्' जड होने से स्वयं अतिशय यज्ञ नहीं कर सकता, धनस्पृतम्=और यह अग्नि ज्ञानादि गुणों से हीन होने से किसी को स्वेच्छा से धन से तृप्त नहीं कर सकता। अतः सायण का मन्त्रार्थ असङ्गत तथा मिथ्या है। महर्षि-दयानन्द के भाष्य में मन्त्र के समस्त पदों की उत्तम संगति है। मन्त्र की विशेषताओं को समझकर ही महर्षि ने यौगिक प्रक्रिया से 'हव्यवाहन' का 'ग्रहण करने योग्य पदार्थों को प्राप्त कराने वाला (सभापति)' अर्थ किया है। मनवे=ज्ञान विज्ञान के लिए उत्तम प्रशासन होना परमावश्यक है। राज्य के जो कण्व=मेधावी देवासः=विद्वान् हैं, वे धन, विद्यादि ऐश्वर्यों की वृद्धि के लिए यजिष्ठम्=अतिशय यज्ञादि श्रेष्ठ कर्म करने वाले सभापति को राजा के पद पर बैठाते हैं। ऐसे सुसंगत मन्त्रार्थ की अनृषि-पण्डितों ने न समझकर कैसी असंगत व्याख्या की है, यह सायण-भाष्य में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है ॥ १० ॥

घौरः काण्व ऋषिः। **अग्निः** (भौतिकाग्निः) देवता। निचृत्पथ्या बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः ॥

पुनरेतैरग्न्यादिपदार्थाः कथमुपकर्त्तव्याः ॥

फिर सभाध्यक्षादि लोग अग्नि आदि पदार्थों से कैसे उपकार लेवें, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

यमग्निं मेध्यातिथिः कण्व ईध ऋतादधि ।
तस्य प्रेषो दीदियुस्तमिमा ऋचस्तमग्निं वर्धयामसि ॥ ११ ॥

यम् । अग्निम् । मेध्यऽअतिथिः । कण्वः । ईधे । ऋतात् । अधि । तस्य । प्र । इषः । दीदियुः । तम् । इमाः । ऋचः । तम् । अग्निम् । वर्धयामसि ॥ ११ ॥

पदार्थः—(यम्) (अग्निम्) दाहगुणविशिष्टं सर्वपदार्थछेदकं च (मेध्यातिथिः) पवित्रैः पूजकैः शिष्यवर्गैर्युक्तो विद्वान् (कण्वः) विद्याक्रियाकुशलः (ईधे) दीपयति। अत्र लडर्थे लिट्। इजादेश्चगुरुमतो नृच्छः। अ० ३। १। ३६। इत्यमन्त्र इति प्रतिषेधादाम् निषेधः। इन्धिभवतिभ्याञ्च। अ०१। २। ६। इति लिटः कित्त्वाद् अनिदिताम्० इति नलोपो गुणाऽभावश्च। (ऋतात्) मेघमण्डलादुपरिष्टादुदकात् (अधि) उपरिभावे (तस्य) अग्नेः (प्र) प्रकृष्टार्थे (इषः) प्रापिका दीप्तयो रश्मयः (दीदियुः) दीप्यन्ते। दीदयतीति ज्वलतिकर्मसु पठितम्। निघं० १। १६। दीङ्क्षय इत्यस्माद् व्यत्ययेन परस्मैपदमभ्यासस्य ह्रस्वत्वे वाच्छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति इत्यनभ्यासस्य ह्रस्वः। सायणाचार्येणेदं पदमन्यथा व्याख्यातम् (तम्) यज्ञस्य

मुख्यं साधनम् (**इमाः**) प्रत्यक्षाः (**ऋचः**) वेदमन्त्राः (**तम्**) विद्युदाख्यम् (**अग्निम्**) सर्वत्र व्यापकम् (**वर्धयामसि**) वर्धयामः ॥ ११ ॥

प्रमाणार्थ—(**ईधे**) यहाँ 'लट् लकार के अर्थ में 'लिट्' लकार है 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' (अ० ३ । १ । ३६) इस सूत्र से अमन्त्र विषय में प्रतिषेध होने से 'आम्' प्रत्यय का निषेध है। 'इन्धि भवतिभ्याञ्च' (अ० १ । २ । ६) इस सूत्र से 'लिट्' लकार के 'कित्' होने पर 'अनिदिताम्०' (अ० ६ । ४ । २४) इस सूत्र से 'न' का लोप और गुण का अभाव है। (**दीदियुः**) 'दीयति' यह पद निघण्टु (१ । १६) में ज्वलति-अर्थों में पढ़ा है, 'क्षय' अर्थ-वाली 'दीङ्' धातु से व्यत्यय से परस्मैपद है, अभ्यास को ह्रस्व प्राप्त होने पर 'वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति (महा० १ । ४ । ९) इस परिभाषा से अनभ्यास को ह्रस्व है ॥ ११ ॥

अन्वयः—मेध्यातिथिः कण्व ऋतादधि यमग्निमीधे तस्येषो प्रदीदियुरिमा ऋचस्तं वर्णयन्ति तमेवाग्निं राजपुरुषा वयं शिल्पक्रियासिद्धये वर्धयामसि ॥ ११ ॥

सपदार्थान्वयः—**मेध्यातिथिः** पवित्रैः पूजकैः शिष्यवर्गैर्युक्तो विद्वान् **कण्वः** विद्याक्रियाकुशलः **ऋताद् अधि** मेघमण्डलादुपरिष्टादुदकात् **यम् अग्निं** दाहगुणविशिष्टं सर्वपदार्थछेदकं च **ईधे** दीपयति, **तस्य** अग्नेः **इषः** प्रापिका दीप्तयो रश्मयः **प्रदीदियुः** प्रकृष्टतया दीप्यन्ते, **इमाः** प्रत्यक्षाः **ऋचः** वेदमन्त्राः तं यज्ञस्य मुख्यं साधनं **वर्णयन्ति, तं** विद्युदाख्यम् **एवाग्निं** सर्वत्रव्यापकं **राजपुरुषा वयं शिल्पक्रियासिद्धये वर्धयामसि** वर्धयामः ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(**मेध्यातिथिः**) पवित्र और पूजक शिष्यवर्ग से युक्त (**कण्वः**) विद्या और क्रिया में कुशल विद्वान्—(**ऋताद् अधि**) मेघमण्डल से ऊपर विद्यमान जल से जिस (**अग्निम्**) दाह-गुण से युक्त और सब पदार्थों के छेदक अग्नि को (**ईधे**) दीप्त करता है, (**तस्य**) उस अग्नि की (**इषः**) प्रापिका दीप्तियां=रश्मियां (**प्रदीदियुः**) प्रदीप्त होती हैं; और (**इमाः**) ये (**ऋचः**) वेद-मन्त्र (**तम्**) यज्ञ के मुख्य साधन उस अग्नि का वर्णन करते हैं; (**तम्**) उस विद्युत् नामक (**अग्निम्**) सर्वत्र व्यापक अग्नि को हम राजपुरुष शिल्पक्रिया की सिद्धि के लिए (**वर्धयामसि**) बढ़ाते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थः—सभाध्यक्षादिराजपुरुषैर्होत्रादयो विद्वांसो वायुवृष्टिशुद्ध्यर्थहवनाय यमग्निं दीपयन्ति यस्य रश्मय ऊर्ध्वं प्रकाशन्ते, यस्य गुणान् वेदमन्त्रा वदन्ति, स राजव्यवहारसाधकशिल्पक्रियासिद्धय एव वर्द्धनीयः ॥ ११ ॥

भावार्थ—सभाध्यक्ष आदि राजपुरुष—होता आदि विद्वान् वायु और वृष्टि की शुद्धि हेतु हवन के लिए जिस अग्नि को दीप्त करते हैं, जिसकी रश्मियाँ ऊपर प्रकाशित होती हैं, जिसके गुण वेद मन्त्र गाते हैं, राज्य व्यवहार की साधक शिल्प क्रिया की सिद्धि के लिए उस अग्नि को बढ़ावें ॥ ११ ॥

भाष्यसार—**अग्नि आदि पदार्थों से उपकार ग्रहण**—पवित्र और पूजक शिष्यवर्ग से युक्त, विद्या और क्रिया में कुशल विद्वान्-मेघ-मण्डल से ऊपर विद्यमान अग्नि को दीप्त करे और उस अग्नि की रश्मियां प्रदीप्त हों। वेद-मन्त्र उस अग्नि का वर्णन करते हैं। सभाध्यक्ष आदि राजपुरुष उस सर्वत्र व्यापक अग्नि (विद्युत्) को शिल्प-क्रिया की सिद्ध के लिए बढ़ावें ॥ ११ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"यज्ञ के योग्य ऋत्विक्रूप अतिथियों से युक्त कण्व नामक ऋषि ने सूर्य से लेकर जिस अग्नि को प्रदीप्त किया, उस अग्नि की गतिशील किरणें प्रकृष्टतया प्रदीप्त हो रही हैं। और उस अग्नि को ये हमारे से प्रयुक्त ऋचाएं बढ़ाती हैं और हम भी उस अग्नि को स्तोत्रों से बढ़ायें ॥"

इस मन्त्र के देवता 'अग्नि' को न समझकर सायणाचार्य लिखते हैं कि यज्ञ की अग्नि को कण्व ऋषि ने सूर्य से लेकर प्रदीप्त किया। और उस अग्नि को वेद-मन्त्रों से बढ़ाया। यह सायण की व्याख्या भ्रान्त है। मन्त्रों से अग्नि को कभी नहीं बढ़ाया जा सकता है ? विज्ञान के आश्रय से सूर्य से भी अग्नि प्रज्वलित हो सकती है, किन्तु सायण के भाष्य से स्पष्ट है कि वे विज्ञान-ज्ञान से शून्य थे। यथार्थ में यहां सूर्य से अग्नि-प्रदीप्त करने का कोई प्रकरण ही नहीं है। मन्त्र में 'ऋतात्' पद है। और निघण्टु (१।१२) में 'ऋतम्' पद जल-नामों में पठित है। अतः यहां जलीय-विद्युदग्नि का ही वर्णन जानना चाहिए। जिसे कण्व=विज्ञानादि के मर्मज्ञ मेधावी विद्वान् ऋतात्=जल से उत्पन्न करते हैं और उस विद्युदग्नि का वेद-मन्त्रों में पर्याप्त वर्णन है। उसको जानकर वैज्ञानिक विद्युत् को बढ़ाते हैं। ऐसे उत्तम तथा संगत अर्थ को सायणाचार्य ने न समझकर असंगत व्याख्या की है।

और सायणाचार्य का यह भी भ्रम है कि मन्त्रों के प्रारम्भ में जो ऋषियों के नाम लिखे हैं, उनका मन्त्रार्थ में उपयोग होता है। मन्त्रों के प्रारम्भ में लिखे ऋषि-नामों तथा मन्त्रान्तर्गत कण्वादि के अर्थों में कोई संगति नहीं है। मन्त्रों के आरम्भ में लिखे ऋषि ऐतिहासिक तथा मन्त्रार्थ के द्रष्टा ऋषि हुए हैं, उनका मन्त्रार्थ करने में कोई उपयोग नहीं है। किन्तु मन्त्रान्तर्गत कण्वादि पद ऋषि विशेषों के वाचक न होकर प्रकरणानुसार यौगिक प्रक्रिया से अर्थों का बोध कराते हैं। सायणाचार्य ने इस शास्त्रीय रहस्य को न समझकर मन्त्र के बीच में कण्वादि को भी व्यक्ति-विशेष माना है, जिससे वेदों में इतिहास की भ्रान्ति फैली है। परमेश्वरोक्त शाश्वत ज्ञानस्वरूप वेदों में ऐसे लौकिकवृत्तों का वर्णन कैसे सम्भव है ? ॥ ११ ॥ ●

घौरः काण्व ऋषिः। **अग्निः** (सभाध्यक्षः) देवता। भुरिगनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

पुनश्च तेषामेव राजपुरुषाणां गुणा उपदिश्यन्ते ॥

फिर उन्हीं राजपुरुषों के गुणों का उपदेश किया जाता है ॥

रायस्पूर्धि स्वधावोऽस्ति हि तेऽग्ने देवेष्वाप्यम्।
त्वं वाजस्य श्रुत्यस्य राजसि स नो मृड महाँ असि ॥ १२ ॥

रायः। पूर्धि। स्वधाऽवः। अस्ति। हि। ते। अग्ने। देवेषु। आप्यम्। त्वम्। वाजस्य। श्रुत्यस्य। राजसि। सः। नः। मृड। महान्। असि ॥ १२ ॥

पदार्थः—(रायः) विद्यासुवर्णचक्रवर्त्तिराज्यादिधनानि (**पूर्धि**) पिपूर्धि। अत्र **बहुलं छन्दसि इति** शपो लुक्। **श्रुशृणपृ०** इति हेर्धिः। (**स्वधाः**) स्वधा=भोक्तव्या अन्नादिपदार्थाः सन्ति यस्य तत्सम्बुद्धौ (**अस्ति**) (**हि**) यतः (**ते**) तव (**अग्ने**) अग्निवत्तेजस्विन् (**देवेषु**) विद्वत्सु (**आप्यम्**) आप्तुं=प्राप्तुं योग्यं

१. मेध्यातिथिः यागयोग्या अतिथय ऋत्विग्रूपा तस्य तादृशः कण्वः ऋषिः ऋतादधि आदित्यादध्याहृत्य यम् अग्निम् ईधे दीप्तवान् तस्य अग्नेः इषः गमनस्वभावा रश्मयः प्रदीदियुः प्रकर्षेण दीप्यन्ते। तथा तम् अग्निम् इमाः अस्माभिः प्रयुज्यमानाः ऋचः वर्धयन्तीति शेषः। वयमपि तमग्निं वर्धयामसि स्तोत्रैर्वर्धयामः॥ (सायणः)

सखित्वम्। अत्र आप्लृव्याप्तावित्यस्मादौणादिको यत्। अत्र सायणाचार्येण प्रमादाद्रुपधत्वाभावेऽपि पोरदुपधात् इति कर्मणि यत्। यतोऽनाव इत्याद्युदात्तत्वम् यच्च छान्दसमाद्युदात्तत्वमित्यशुद्धमुक्तम्। औणादिकस्य यत्प्रत्ययस्य विद्यमानत्वात् (त्वम्) पुत्रवत्प्रजापालकः (वाजस्य) युद्धस्य (श्रुत्यस्य) श्रोतुं योग्यस्य। श्रुश्रवण इत्यस्मादौणादिकः कर्मणि क्यप् प्रत्ययः। (राजसि) प्रकाशितो भवति (सः) (नः) अस्मान् (मृड) सुखय (महान्) बृहद्गुणाढ्यः (असि) वर्त्तसे ॥ १२ ॥

प्रमाणार्थ—(पूधि) यहाँ 'बहुलं छन्दसि' (अ० २। ४। ७३) इस सूत्र से 'शप्' विकरण प्रत्यय का लुक् है। 'श्रुशृणुपृ०' (अ० ६। ४। १०२) इस सूत्र से हि को 'धि' आदेश है। (आप्यम्) यहां व्याप्ति अर्थ वाली 'आप्लृ' धातु से उणादि का 'यत्' प्रत्यय है। (श्रुत्यस्य) यहां श्रवण अर्थ वाली 'श्रु' धातु से कर्म में 'क्यप् प्रत्यय है ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे स्वधावोऽग्ने हि यतस्ते देवेष्वाप्यमस्ति रायस्पूधि। यस्त्वं महानसि श्रुत्यस्य वाजस्य च मध्ये राजसि स त्वं नोऽस्मान् मृड सुखयुक्तान् कुरु ॥ १२ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **स्वधावः** स्वधा=भोक्तव्या अन्नादिपदार्थाः सन्ति यस्य तत्सम्बुद्धौ **अग्ने** ! अग्निवत्तेजस्विन् ! **हि=यतस्ते=तव देवेषु** विद्वत्सु **आप्यम्** आप्तुं=प्राप्तुं योग्यं सखित्वम् **अस्ति, रायः** विद्यासुवर्णचक्रवर्त्तिराज्यादिधनानि **पूधि** पिपूर्धि। **यस्त्वं** पुत्रवत्प्रजापालकः **महान्** बृहद्गुणाढ्यः **असि** वर्त्तसे **श्रुत्यस्य** श्रोतुं योग्यस्य **वाजस्य** युद्धस्य **च मध्ये राजसि** प्रकाशितो भवसि **स त्वं नः=अस्मान् मृड=सुखयुक्तान् कुरु** सुखय ॥ १२ ॥

भाषार्थ—हे (**स्वधावः**) स्वधा=खाने योग्य अन्न आदि पदार्थों से युक्त (**अग्ने**) अग्नि के तुल्य तेजस्वी सभाध्यक्ष ! (**हि**) जिस कारण (**ते**) आपकी (**देवेषु**) विद्वानों में (**आप्यम्**) प्राप्त करने योग्य मित्रता है; इसलिये (**रायः**) विद्या, सुवर्ण और चक्रवर्ती राज्य आदि धनों को (**पूधि**) पूर्ण करो। जो (**त्वम्**) पुत्र के समान प्रजा के पालक आप (**महान्**) बड़े गुणों से युक्त (**असि**) हो; और (**श्रुत्यस्य**) सुनने योग्य (**वाजस्य**) युद्ध के मध्य में (**राजसि**) प्रकाशित होते हो, सो आप (**नः**) हमें (**मृड**) सुखयुक्त करो ॥ १२ ॥

भावार्थ:—वेदवित्सु विद्यावृद्धेषु मैत्रीं भावयद्भिः सभाध्यक्षादिराजपुरुषैरन्नधनादिपदार्थागाराः सततं प्रपूर्य प्रसिद्धैर्दस्युभिस्सह युद्धाय समर्था भूत्वा प्रजायै महान्ति सुखानि दातव्यानि ॥

भावार्थ—वेदज्ञ, विद्यावृद्ध विद्वानों में मैत्री रखते हुए सभाध्यक्ष आदि राजपुरुष अन्न, धन आदि से पदार्थभण्डारों को सदा पूर्ण करके, प्रसिद्ध दस्युओं के साथ युद्ध के लिए समर्थ होकर, प्रजा को महान् सुख देवें ॥ १२ ॥

भाष्यसार—**राजपुरुषों के गुण**—सभाध्यक्ष आदि राजपुरुष खाने योग्य अन्न आदि पदार्थों से युक्त और अग्नि के समान तेजस्वी हों। वे विद्वानों में मित्रता रखें। और विद्या, सुवर्ण तथा चक्रवर्ती राज्य आदि धनों को पूर्ण करें। वे पुत्र के समान प्रजा के पालक और महान् गुणों से युक्त हों। युद्ध में विराजमान रहें और प्रजा को सुखी करें ॥ १२ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अन्नवाले अग्निदेव ! तुम हमारे

१. हे स्वधावः अन्नवन् अग्ने ! अस्माकं रायः धनानि पूधि पूरय देहि वा। हे अग्ने ! ते तव देवेष्वाप्यं प्रापणीयं सख्यमस्ति हि विद्यते खलु। त्वं श्रुत्यस्य श्रवणीयस्य वाजस्य अन्नस्य राजसि ईश्वरो भवसि। सः त्वं नः अस्मान् मृळ सुखय। महान् गुणैरधिकः असि ॥ (सायणः)

धनों को पूर्ण करो अथवा प्रदान करो। हे अग्निदेव ! तुम्हारी मित्रता देवों में प्रापणीय है। तुम सुनने योग्य अन्न के स्वामी हो। वह तुम हमें सुखी करो; तुम गुणों में महान् हो ॥"

सायण-भाष्य में यहां भी देवता के अर्थ को न समझकर असंगत व्याख्या की है। इस भौतिकाग्नि द्वारा धनों का देना अथवा धन के लिए प्रार्थना करना, इस अचेतन एवं ज्ञानादि से रहित अग्नि की देवों के साथ मित्रता मानना, और सुनने योग्य अन्न का अग्नि को ईश्वर बतानादि सायण-भाष्य की असंगत बातें हैं। महर्षि-दयानन्द ने यहां 'अग्नि' का अर्थ 'सभाध्यक्ष' किया है। और उसी की विशेषताओं का वर्णन मानकर-समस्त मन्त्र की व्याख्या की है। महर्षि लिखते हैं कि सभाध्यक्ष अग्नि=तेजस्वी तथा स्वधावः=अन्नादि पदार्थों से युक्त होना चाहिए, वह देवों=विद्वानों का मित्र तथा दुष्टों को दण्ड देने वाला हो, और वह श्रुत्यस्य=सुनने योग्य वाजस्य राजसि=युद्धों में विशेष रूप से वीरतादि गुणों से प्रकाशित होने वाला हो। क्योंकि गुणों में महान् एवं रायः=धनादि ऐश्वर्यों से सम्पन्न राजा ही प्रजा को मृळ=सुखी कर सकता है। इस मन्त्र के रहस्य को न समझकर जड़ भौतिकाग्नि-परक सायण की व्याख्या सर्वथा असंगत है। क्योंकि ज्ञानादि से रहित इस अग्नि में देवों के साथ मित्रता करने तथा हमारी प्रार्थना को सुनकर हमें सुख देने का सामर्थ्य कहाँ है ? ॥ १२ ॥ ●

घौर काण्व ऋषिः। **अग्निः** (**सभाध्यक्षः**) देवता। उपरिष्टाद्बृहती छन्दः। मध्यमः स्वर ॥

पुनः स कथंभूत इत्युपदिश्यते ॥

फिर वह सभाध्यक्ष कैसा हो, यह उपदेश किया जाता है ॥

ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये तिष्ठा देवो न सविता।
ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामहे ॥ १३ ॥

ऊर्ध्वः। ऊँ इति। सु। नः। ऊतये। तिष्ठ। देवः। न। सविता। ऊर्ध्वः। वाजस्य। सनिता। यत्। अञ्जिऽभिः। वाघतऽभिः। विऽह्वयामहे ॥ १३ ॥

पदार्थः—(ऊर्ध्वः) उच्चासने (ऊँ) च (सु) शोभने। अत्र सोरुपसर्गस्य ग्रहणं न किन्तु सुत्रो निपातस्य तेन **इकः सुञि**। अ० ६। ३। १३४ इति। संहितायामुकारस्य दीर्घः **सुत्रः**। ८। ३। १०७ इति मूर्द्धन्यादेशश्च। (नः) अस्माकम्। **नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः**। अ० ८। ४। २७। इति णत्वम्। (ऊतये) रक्षणाद्याय (तिष्ठ) अत्र **द्व्यचोतस्तिङ** इति दीर्घश्च। (**देवः**) द्योतकः (**न**) इव (**सविता**) सूर्यलोकः (**ऊर्ध्वः**) उन्नतस्सन् (**वाजस्य**) संग्रामस्य (**सनिता**) संभक्तसेवकः (**यत्**) यस्मात् (**अञ्जिभिः**) अञ्जसा धनानि प्रकटयद्भिः। **सर्वधातुभ्यः इन्**। उ० ४। १२३। इति कर्त्तरीन् प्रत्ययः (**वाघद्भिः**) विद्वद्भिर्मेधाविभिः) **वाघत इति मेधाविनामासु पठितम्**। निघं० ३। १५ (**विह्वयामहे**) विविधैः शब्दैः स्तुमः ॥ १३ ॥

प्रमाणार्थ—(सु) यहां सु उपसर्ग का ग्रहण नहीं है, अपितु 'सुत्र्' निपात का ग्रहण है, इस से 'इकः सुञि' (अ० ६। ३। १३४) इस सूत्र से संहिता में उकार को दीर्घ है; 'सुत्रः' (अ० ८। ३। १०७) इस सूत्र से मूर्धन्य षकार आदेश है। (नः) यहां 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' (अ० ८। ४। २७) इस सूत्र से संहिता में 'णत्व' आदेश है—णः। (तिष्ठ) यहां 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (अ० ६। ३। १३५) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—तिष्ठा। (अञ्जिभिः) यहां 'सर्वधातुभ्य इन्' (४। १२३) इस उणादि सूत्र से कर्त्ता में 'इन्' प्रत्यय है (वाघद्भिः) 'वाघतः' यह पद निघण्टु (३। १५) में मेधावी नामों में पढ़ा है ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे सभापते त्वं सविता देवो नेव नोऽस्माकमूतय उर्ध्वः सुतिष्ठ। उ चोर्ध्वः सन् वाजस्य सनिता भवा [यत्] अतो वयमञ्जिभिर्वाघद्भिस्सह त्वां विह्वयामहे ॥ १३ ॥

सपदार्थान्वयः— हे सभापते त्वं **सविता** सूर्यलोकः **देवः** द्योतकः **न=इव नः**=अस्माकमूतये रक्षणाद्याय **ऊर्ध्वः** उच्चासने **तिष्ठ**, शोभनं तिष्ठ **उ**=च **ऊर्ध्वः** उन्नतः **सन् वाजस्य** संग्रामस्य **सनिता** संभक्तसेवकः **भव** [**यत्**] **अतो वयमञ्जिभिः** अञ्जसा धनानि प्रकटयद्भिः **वाघद्भिः** विद्वद्भिर्मेधाविभिः **सह त्वां वि+ह्वयामहे** विविधैः शब्दैः स्तुमः ॥ १३ ॥

भाषार्थ—हे सभापते ! आप—(**देवः**) प्रकाशक (**सविता**) सूर्यलोक के (**न**) समान (नः) हमारी (**ऊतये**) रक्षा आदि के लिये (**उर्ध्वः**) ऊंचे आसन पर (**सु+तिष्ठ**) सुशोभित होओ; (**उ**) और (**ऊर्ध्वः**) उन्नत होकर (**वाजस्य**) संग्राम का (**सनिता**) सेवन करने वाले बनो, (**यत्**) इसलिए हम (**अञ्जिभिः**) शीघ्र धनों को प्रकट करने वाले (**वाघद्भिः**) मेधावी विद्वानों के साथ आपको (**वि+ह्वयामहे**) विविध प्रकार के शब्दों=वचनों से स्तुति करते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थः—सूर्यवदुत्कृष्टतेजसा सभापतिना संग्रामसेवनेन दुष्टशत्रून्निवार्य्य सर्वेषां प्राणिनामूतये यज्ञसाधकैर्विद्वद्भिः सहात्युच्चासने स्थातव्यम्

भावार्थ—सूर्य के समान उत्तम तेजस्वी सभापति—संग्राम के सेवन से दुष्ट शत्रुओं का निवारण कर, प्राणियों की रक्षा के लिए यज्ञसाधक विद्वानों के साथ अति उच्च आसन पर आसीन हो ॥ १३॥

भाष्यसार—सभाध्यक्ष कैसा हो—सभापति सूर्य के समान तेजस्वी हो। वह प्रजा की रक्षा के लिए उच्च आसन पर विराजमान होवे। और वह उन्नत होकर संग्राम का सेवन करने वाला हो तथा दुष्ट शत्रुओं का निवारण करे। प्रजाजन उसका मेधावी विद्वानों के साथ विविध वचनों से स्तवन करें ॥ १३ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे यूपात्मक लकड़ी में विद्यमान अग्निदेव ! आप हमारी रक्षा के लिए सूर्य देव की भांति ऊपर उठें। उन्नत होकर अन्न देने वाले हो जाओगे। क्योंकि घृत से यूप (यज्ञीय खम्बा) को सींचते हुए तथा यज्ञ को करते हुए ऋत्विक् जनों के साथ हम तुम्हें अन्न देने के लिए बुलाते हैं। अतः तुम अन्न के दाता हो जाओ।"

इस मन्त्र के देवता 'अग्नि' को सायणाचार्य ने यूप=यज्ञीय लकड़ी के खम्बे में स्थित भौतिकाग्नि मानकर व्याख्या की है, यह उनकी महाभ्रान्ति है, क्योंकि मन्त्र में 'यूप' वाचक कोई पद नहीं, है और मन्त्रोक्त विशेषण-विशेष्य भाव से भी सायण की व्याख्या संगत नहीं है। मन्त्र में कहा है कि हम ऊतये=अपनी रक्षा के लिए अग्नि को ऊपर (उन्नत आसनादि पर) बैठायें। और यह अग्नि उन्नत होकर वाजस्य=संग्राम का सेवन करने वाला अथवा अन्नादि पदार्थों का देनेवाला हो। ये विशेषताएं भौतिकाग्नि में कदापि सम्भव नहीं है। न तो यह जड़ अग्नि हमारी रक्षा कर सकता है, और नहीं

---

१. हे यूप यद्वा यूपात्मकदारुनिष्ठाग्ने ! नः अस्माकम् ऊतये रक्षणाय ऊर्ध्वः उन्नतः तिष्ठ। तत्र दृष्टान्तः। सविता देवो न। यथा सूर्यो देव उन्नतस्तिष्ठति तद्वत्।। ऊर्ध्वः उन्नतः सन् वाजस्य अन्नस्य सनिता दाता भविष्यसि। तत् यस्मात् कारणात् अञ्जिभिः आज्येन यूपम् अञ्जद्भिः वाघद्भिः यज्ञं वहद्भिर् ऋत्विग्भिः सह विह्वयामहे अन्नदानाय त्वां विशेषेणाह्वयामः। तस्मादन्नस्य दाता भवेति पूर्वत्रान्वयः ।। (सायणः)

यह संग्राम करने अथवा अन्नादि देने में समर्थ है। इस अग्नि का 'उन्नत होकर स्थित होना' कहना तो सायण का बहुत ही उपहास्यास्पद है। क्या अग्न्यादि अचेतन देव हमारे कहने या प्रार्थना करने पर किसी उन्नत स्थान पर बैठ सकते हैं ? और यूप को घृत से सींचने वाले तथा यज्ञ करने वाले ऋत्विजों के साथ अन्न-दान के लिए भी इस भौतिकाग्नि का बुलाना कभी भी सम्भव नहीं है।

महर्षि-दयानन्द ने मन्त्र की उपर्युक्त सभी विशेषताओं पर विचार करके मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय को समझकर 'अग्नि' का अर्थ 'सभाध्यक्ष' किया है। इसके साथ सभी विशेषताएं संगत होती हैं। मन्त्र में राजा-प्रजा के व्यवहार का वर्णन किया है। प्रजा अपनी रक्षा करने के लिए ऐसे राजा को चुनकर उन्नत-स्थान पर बैठायें, जो सविता=सूर्य के समान देव=अच्छे गुणों का प्रकाशक हो। और शत्रुओं से रक्षा करने के लिए वाजस्य=युद्ध का सेवन अर्थात् उत्तम सेनादि के द्वारा शत्रुओं को विनाश करने में समर्थ भी हो । अथवा जो वाजस्य=अन्नादि पदार्थों के उत्पादन तथा वितरण की उत्तम व्यवस्था को करने में पूर्णतया समर्थ हो।

और सायण-भाष्य में यौगिक प्रक्रिया का परित्याग तथा वैदिक कोषों की उपेक्षा करके व्याख्या की गई है। निघण्टु (३ । १५) में 'वाघत' पद मेधावी नामों में पठित है। और वे मेधावी विद्वान् कैसे हों ? अञ्जिभिः=धनादि पदर्थों को शीघ्र प्राप्त कराने वाले हों। ऐसे वैज्ञानिक, शिल्पी, तथा कृष्यादि विद्या के पारंगत विद्वानों की राजा को परमावश्यकता होती है। इन विद्वानों के साथ ही राजा की मन्त्र में स्तुति की है। इस मन्त्र के रहस्य को न समझकर सायण ने अचेतन भौतिकाग्नि का आह्वान किया है। क्या यह यूपस्थ अग्नि हमारी प्रार्थना सुन सकती है ? क्या इस प्रकार की प्रार्थना निरर्थक नहीं है ? और घृत से यूप को सींचना और 'वाघद्भिः' का 'अर्थ यज्ञ करनेवाले ऋत्विक्' करना क्या पूर्वाग्रह व मिथ्या कल्पना नहीं है ? महर्षि-के भाष्य में ऐसी कोई असंगत कल्पना नहीं है और उन्होंने सभी पदों के अर्थ प्रकरणानुकूल तथा प्रामाणिक किए हैं ॥ १३ ॥ ●

घौरः काण्व ऋषिः । **अग्निः** (सभाध्यक्षः) देवता । निचृद्विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्याह ॥

फिर वह सभापति कैसा हो, यह उपदेश किया जाता है ॥

ऊ॒र्ध्वो नः॑ पा॒ह्यंह॑सो॒ नि के॒तुना॒ विश्वं॒ सम॒त्रिणं॑ दह ।
कृ॒धी न॑ ऊ॒र्ध्वान् च॒रथा॑य जी॒वसे॑ वि॒दा दे॒वेषु॑ नो॒ दुवः॑ ॥ १४ ॥

ऊ॒र्ध्वः । नः॒ । पा॒हि॒ । अंह॑सः । नि । के॒तुना॑ । विश्व॑म् । सम् । अ॒त्रिण॑म् । द॒ह॒ । कृ॒धि । नः॒ । ऊ॒र्ध्वान् । च॒रथा॑य । जी॒वसे॑ । वि॒दाः॒ । दे॒वेषु॑ । नः॒ । दुवः॑ ॥ १४ ॥

पदार्थः–(ऊर्ध्वः) सर्वोत्कृष्टः (नः) अस्मान् (पाहि) रक्ष (अंहसः) परपदार्थहरणरूपपापात् । **अमेर्हुक् च** । उ० ४ । २२० । इत्यसुन् प्रत्ययो हुगागमश्च । (नि) नितराम् (केतुना) प्रकृष्टज्ञानदानेन । **केतुरिति प्रज्ञानामसु पठितम्** । निघ० ३ । ९ । (विश्वम्) सर्वम् (सम्) सम्यगर्थे (अत्रिणम्) अत्ति= भक्षयत्यन्यायेन परपदार्थान् यः स शत्रुस्तम् (दह) भस्मी (कृधि) कुरु । **अत्रान्येषामपीति** संहितायां दीर्घः । (नः) अस्मान् (ऊर्ध्वान्) उत्कृष्टगुणसुखसहितान् (चरथाय) चरणाय (जीवसे) जीवितुम् । जीवधातोस्तुमर्थेऽसे प्रत्ययः (विदाः) लम्भय । अत्र **लोडर्थे लेट्** । (देवेषु) विद्वत्स्वृतुषु वा । **ऋतवो वै देवाः** । श० । [७ । २ । २ । २६] (नः) अस्माकमस्मभ्यं वा (दुवः) परिचर्याम् ॥ १४ ॥

प्रमाणार्थ—(**अंहसः**) यहां 'अमेर्हुक् च' (४। २२०) इस उणादि सूत्र से 'असुन्' प्रत्यय और 'हुक्' का आगम है। (**केतुना**) 'केतुः' यह पद निघण्टु (३। ९) में प्रज्ञा-नामों में पढ़ा है। (**कृधि**) यहाँ 'अन्येषामपि०' (अ० ६। ३। १३७) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—कृधी। (**विदाः**) यहां 'लोट्' लकार के अर्थ में 'लेट्' लकार है। (**देवेषु**) शतपथब्राह्मण (७। २। २। २६) के अनुसार ऋतुयें ही देव हैं ॥ १४॥

अन्वयः—हे सभापते त्वं केतुना प्रज्ञादानेन नोंहसो निपाहि विश्वमत्रिणं शत्रुं संदह ऊर्ध्वस्त्वं चरथाय न ऊर्ध्वान् कृधि देवेषु जीवसे नो दुवो विदाः ॥ १४॥

सपदार्थान्वयः—हे सभाध्यक्ष ! **त्वं केतुना**=प्रज्ञादानेन प्रकृष्टज्ञानदानेन **नः** अस्मान् **अंहसः** परपदार्थहरणरूपपापात् **नि+पाहि** नितरां रक्ष। **विश्वं** सर्वम् **अत्रिणं**=शत्रुम् अत्ति=भक्षयत्यन्यायेन परपदार्थान् यः स शत्रुस्तं **सं+दह** सम्यक्तया भस्मीकुरु। **ऊर्ध्वः** सर्वोत्कृष्टः **त्वं चरथाय** चरणाय **नः** अस्मान् **ऊर्ध्वान्** उत्कृष्टगुणसुखसहितान् **कृधि** कुरु। **देवेषु** विद्वत्स्वृतुषु वा **जीवसे** जीवितुं **नः** अस्माकमस्मभ्यं वा **दुवः** परिचर्यां **विदाः** लम्भय ॥ १४॥

भाषार्थ—हे सभापते ! आप—(**केतुना**) बुद्धि के दान से (**नः**) हमारी (**अंहसः**) दूसरों के पदार्थ हरण रूप पाप से (**नि+पाहि**) सर्वथा रक्षा करो। (**विश्वम्**) सब (**अत्रिणम्**) अन्याय से दूसरों के पदार्थों के भक्षक शत्रु को (**सं+दह**) अच्छे प्रकार भस्म करो। (**ऊर्ध्वः**) सबसे उत्कृष्ट आप (**चरथाय**) सुख की प्राप्ति के लिये (**नः**) हमें (**ऊर्ध्वान्**) उत्कृष्ट गुण और सुख से युक्त (**कृधि**) करो। (**देवेषु**) विद्वानों या ऋतुओं में (**जीवसे**) जीवन-वृद्धि के लिये (**नः**) हमें (**दुवः**) सेवा (**विदाः**) प्राप्त कराओ ॥ १४॥

भावार्थः—उत्कृष्टगुणस्वभावेन सभाध्यक्षेण राज्ञा राज्यनियमदण्डभयेन सर्व-मनुष्यान् पापात् पृथक्कृत्य सर्वान् शत्रून् दग्ध्वा विदुषः परिषेव्य ज्ञानसुखजीवनवर्द्धनाय सर्वे प्राणिन उत्कृष्टगुणाः सदा सम्पादनीयाः ॥ १४॥

भावार्थ—उत्तम गुण स्वभाव से युक्त सभाध्यक्ष राजा राज्यनियम और दण्ड के भय से सब मनुष्यों को पाप से पृथक् कर, सब शत्रुओं को दग्ध कर, विद्वानों का सेवन करके, ज्ञान, सुख और जीवन की वृद्धि के लिए सब प्राणियों को उत्तम गुणों से युक्त सदा करे ॥ १४॥

भाष्यसार—**सभाध्यक्ष कैसा हो**—सभापति बुद्धि के दान से दूसरों के पदार्थ हरण रूप पाप से प्रजा को पृथक् रखे। वह अन्याय से दूसरों के पदार्थों के भक्षक शत्रु को भस्म करे। सर्वोत्कृष्ट सभाध्यक्ष सुख की प्राप्ति के लिए प्रजा को उत्कृष्ट गुण और सुख से युक्त करे। वह विद्वानों में और सब ऋतुओं में ज्ञान, सुख और जीवन की वृद्धि के लिये प्रजा को सेवा प्राप्त करावे ॥ १४॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे यूपस्थित अग्निदेव ! तुम उन्नत होकर हमें ज्ञान के द्वारा पाप से बचाओ। और सबको खाने वाले राक्षस को भलीभांति भस्म करो। हम सबको उन्नत करो। किस लिये ? लोक में जीवन के लिए हमारे हविरूप धन को देवों को प्राप्त कराओ ॥"

---

१. हे यूप यद्वा तन्निष्ठाग्ने ! ऊर्ध्वः उन्नतः सन् नः अस्मान् केतुना ज्ञानेन अंहसः पापात् निपाहि नितरां पालय। विश्वम् अत्रिणम् सर्वमत्तारं भक्षकं राक्षसं संदह सम्यग् भस्मीकुरु। नः अस्मान् ऊर्ध्वान् उन्नतान् कृधि कुरु। किमर्थम् ! चरथाय लोके चरणाय जीवसे जीवनाय च नः अस्माकं दुवः धनं हविः स्वरूपं देवेषु विदाः लम्भय ॥ (सायणः)

इस मन्त्र में भी सायण ने यूपस्थ अग्नि का वर्णन माना है। किन्तु यह उनकी व्याख्या असंगत तथा अपनी व्याख्या से भी विरुद्ध होने से मिथ्या है। मन्त्र में कहा कि अग्नि उन्नत होकर ज्ञान के द्वारा अंहसः=पाप से हमारी रक्षा करे। और राक्षस वृत्ति के मनुष्यों को नष्ट करके प्रजा को उन्नत करे। ये विशेषतायें इस भौतिकाग्नि में कदापि सम्भव नहीं हैं। क्योंकि इस अग्नि में ज्ञान न होने से पाप=अन्याय से रक्षा करना कदापि सम्भव नहीं है। अचेतन पदार्थों में ज्ञानादि गुण मानकर सायण ने जड़-चेतन का विवेचन करनेवाली दार्शनिकविद्या से अनभिज्ञता ही प्रकट की है, इस भौतिकाग्नि को यह ज्ञान कहां है कि कौन पाप कर रहा है, और कौन राक्षस वृत्ति का मनुष्य है। इस अग्नि का तो स्वाभाविक गुण जलना=भस्म करना है। इसके सान्निध्य में चाहे विद्वान् पुण्यात्मा आ जाए अथवा घोर पापी आ जाये, सभी को जला देती है। क्या हम सब यह प्रत्यक्ष नहीं देखते कि अग्नि में पापी या पुण्यात्मा का विवेक न होने से यह सभी को जला देती है। अतः सायण की यह व्याख्या प्रत्यक्ष से विरुद्ध तथा असंगत है।

महर्षि-दयानन्द ने यहां 'अग्नि' का अर्थ 'सभाध्यक्ष' किया है। राजा के धर्मों का ही इस मन्त्र में वर्णन किया गया है। राजा का यह परम धर्म है कि वह उन्नत-आसन (न्याय-पीठ) पर बैठकर कभी अन्याय न होने देवे। वह ज्ञान से (न्यायविद्या से) पाप-पुण्य व न्याय-अन्याय का सुविचार करके निर्णय करे और पाप=अन्याय से सदा प्रजा की रक्षा करे। और अत्रिणम्=जो अन्याय से प्रजा के धन को खा जाते हैं, ऐसे रिश्वतखोर, जमाखोर तथा चोरादि को दण्ड देकर राज्य में व्यवस्था ठीक रखे। ऐसा न्यायकारी राजा ही प्रजा जनों को 'ऊर्ध्वान् कृधि=उत्कृष्ट गुणों वाला बना सकता है।

और आचार्य-सायण की यह भी भ्रान्ति है कि यह अग्नि हमारे धनों को अथवा हवि को उन देवों को प्राप्त कराती है, जो स्वर्ग में रहते हैं। यह कितनी आश्चर्य-जनक बात है कि जिन देवों से धनादि के लिए मनुष्य प्रार्थना करते हैं, यदि वे भी धनादि की इच्छा करते हैं, अकिंचन होने से उन्हें भी धन की आवश्यकता है, तो देवों तथा पृथिवीस्थ मनुष्यों में क्या अन्तर है? वास्तव में स्वर्गस्थ देवादि की सायण की पौराणिक कल्पना मात्र ही है। 'विद्वांसो हि देवाः' के अनुसार विद्वानों का ही नाम देव है। उनकी सेवा तथा संगति से ज्ञानादि की वृद्धि होने से श्रेष्ठ जीवन प्राप्त होता है। राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह विद्वानों का सदा सत्कार करके ज्ञान-विज्ञान को बढ़ाने में यत्नशील रहे। अतः महर्षि का भाष्य प्रकरणानुकूल तथा भ्रांतिरहित होने से सत्य तथा पठनीय है ॥ १४ ॥ ●

घौरः काण्व ऋषिः। **अग्निः** (सभाध्यक्षः) देवता। विराट् पथ्या बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः ॥

पुनः तं प्रति प्रजासेनाजनाः किङ्किम्प्रार्थयेयुरित्युपदिश्यते ॥

फिर उस सभाध्यक्ष राजा से प्रजा और सेना के जन क्या-क्या प्रार्थना करें,
इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

पाहि नो अग्ने रक्षसः पाहि धूर्तेरराव्णः।
पाहि रीषत उत वा जिघांसतो बृहद्भानो यविष्ठ्य ॥ १५ ॥

पाहि। नः। अग्ने। रक्षसः। पाहि। धूर्तेः। अराव्णः। पाहि। रिषतः। उत। वा। जिघांसतः। बृहद्भानो इति बृहत्ऽभानो। यविष्ठ्य ॥ १५ ॥

पदार्थः—(**पाहि**) रक्ष (**नः**) अस्मान् (**अग्ने**) सर्वाग्रणीः सर्वाभिरक्षक (**रक्षसः**) महादुष्टात् मनुष्यात् (**पाहि**) (**धूर्त्तेः**) विश्वासघातिनः। **अत्र धुर्वी धातोर्बाहुलकादौणादिकस्तिः प्रत्ययः।** (**अराव्णः**) राति=ददाति स रावा, न अरावा रावा तस्मात्कृपणाददानशीलात् (**पाहि**) रक्ष (**रिषतः**) हिंसकाद्व्याघ्रादेः प्राणिनः। **अत्रान्येषामपि दृश्यत** इति दीर्घः। (**उत**) अपि (**वा**) पक्षान्तरे (**जिघांसतः**) हन्तुमिच्छतः शत्रोः (**बृहद्भानो**) बृहन्ति भानवो=विद्याद्यैश्वर्य्यतेजांसि यस्य तत्संबुद्धौ (**यविष्ठ्य**) अतितरुणावस्थायुक्त ॥ १५ ॥

प्रमाणार्थ—(**धूर्त्तेः**) यहां 'धुर्वी' धातु से बहुल करके औणादिक 'ति' प्रत्यय है। (**रिषतः**) यहां 'अन्येषामपि दृश्यते' (अ० ६ । ३ । १३७) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—रीषतः ॥ १५ ॥

अन्वयः—हे बृहद्भानो यविष्ठ्याग्ने सभाध्यक्ष महाराज त्वं धूर्तेरराव्ण रक्षसो नः पाहि। रिषतः पापाचाराज्जनात् पाहि। उत वा जिघांसतः पाहि ॥ १५ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **बृहद्भानो** बृहन्ति भानवो=विद्याद्यैश्वर्यतेजांसि यस्य तत्सम्बुद्धौ **यविष्ठ्य** अतितरुणावस्थायुक्त **अग्ने** ! सर्वाग्रणीः सर्वाभिरक्षक **सभाध्यक्ष महाराज** ! **त्वं धूर्त्तेः** विश्वासघातिनः **अराव्णः** राति=ददाति स रावा, न रावा अरावा तस्मात्कृपणाददानशीलात् **रक्षसः** महादुष्टान्मनुष्यात् **नः** अस्मान् **पाहि** रक्ष **रिषतः**=**पापाऽऽचाराज्जनात्** हिंसकाद्व्याघ्रादेः प्राणिनः **पाहि** रक्ष; **उत** अपि **वा** (पक्षान्तरे) **जिघांसतः** हन्तुमिच्छतः शत्रोः **पाहि** रक्ष ॥ १५ ॥

भाषार्थ—हे (**बृहद्भानो**) बड़े विद्यादि ऐश्वर्य रूप तेजवाले (**यविष्ठ्य**) अत्यन्त तरुण अवस्था से युक्त (**अग्ने**) सबके अग्रणी, सबके रक्षक सभाध्यक्ष महाराज ! आप—(**धूर्त्तेः**) विश्वासघाती (**अराव्णः**) कृपण, अदानशील (**रक्षसः**) महादुष्ट मनुष्य से (**नः**) हमारी (**पाहि**) रक्षा करो ! (**रिषतः**) दुष्टाचारी मनुष्य एवं हिंसक व्याघ्र आदि प्राणी से (**पाहि**) रक्षा करो। (**उत**) और (**जिघांसतः**) मारने के इच्छुक शत्रु से (**वा**) भी (**पाहि**) रक्षा करो ॥ १५ ॥

भावार्थः — मनुष्यैः सर्वतोभिरक्षणाय सर्वाभिरक्षको धर्म्मोन्नतिं चिकीर्षुर्दयालुः सभाध्यक्षः सदा प्रार्थनीयः, स्वैरपि दुष्टस्वभावेभ्यो मनुष्यादिप्राणिभ्यः सर्वपापेभ्यश्च शरीरवचोमनोभिर्दूरे स्थातव्यं, नैवं विना कश्चित्सदा सुखी भवितुमर्हति।

भावार्थ—सब मनुष्य–सब ओर से रक्षा के लिए, सब रक्षक, धर्म-उन्नति की इच्छा वाले, दयालु सभाध्यक्ष से सदा प्रार्थना करें। अपने आप भी दुष्ट स्वभावों वाले मनुष्य आदि प्राणियों और सब पापों से शरीर, वाणी और मन से दूर रहें। इसके विना कोई सदा सुखी नहीं हो सकता ॥

भाष्यसार—**सभाध्यक्ष से प्रजा और सेना क्या-क्या प्रार्थना करे**—हे बड़े विद्यादि ऐश्वर्य रूप तेज वाले, तरुण, सबके अग्रणी एवं सबके रक्षक सभाध्यक्ष ! आप—विश्वासघाती, कृपण, महादुष्ट मनुष्य से हमारी रक्षा करो। दुष्टाचारी मनुष्य और हिंसक व्याघ्र, सिंह आदि प्राणियों से हमारी रक्षा करो। हमें मारने के इच्छुक शत्रु से भी हमारी रक्षा करो ॥ १५ ॥

अन्यत्र व्याख्यात—हे शत्रुदाहकाग्ने परमेश्वर ! राक्षस हिंसाशील दुष्ट स्वभाव देहधारियों से "नः" हमरा "पाहि" पालन करो "धूर्त्तेरराव्णः" कृपण जो धूर्त्त उस मनुष्य से भी हमारी रक्षा करो। जो हमको मारने लगे तथा मारने की इच्छा करता है, हे महातेजोबलवत्तम ! उन सबसे हमारी रक्षा करो ॥ (आर्याभिविनय १ । १२)

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे बड़ी-बड़ी किरणों वाले तथा अतिशय जवान अग्निदेव ! आप हमारी रक्षा बाधा डालने वाले राक्षासादि से, धनादि न देनेवाले (कञ्जूस) हिंसकों से, हिंसा करने वाले शेरादि से तथा मारने की इच्छा वाले शत्रुओं से कीजिए।"

इस मन्त्र में अग्नि से प्रार्थना की है कि आप बाधक राक्षसों, कृपण=कंजूस जमाखोरों, हिंसक चोरादि तथा शेरादि पशुओं और मारने की इच्छावाले शत्रुओं से रक्षा कीजिए। ये विशेषतायें किस की हो सकती हैं? यदि सायण इन पर थोड़ा भी विचार करते तो मन्त्रार्थ बहुत ही स्पष्ट हो जाता। किन्तु पूर्वाग्रह तथा पौराणिक प्रभाव ने सायण के विवेक को नष्ट ही कर दिया था, अन्यथा ऐसे सुगम अर्थों को भी समझना कठिन न था।

महर्षि-दयानन्द ने मन्त्रोक्त विशेषताओं पर विचार करके मन्त्र के देवता 'अग्नि' का 'सभाध्यक्ष' अर्थ किया है। क्योंकि राजा के धर्मों का ही मन्त्र में वर्णन है। सायण की इससे बड़ी भ्रान्ति क्या हो सकती है, कि स्वयं उन्होंने जो व्याख्या की है, उस से भी उनकी आँखें नहीं खुलीं। क्या भौतिकाग्नि या कोई कल्पितदेव मनुष्यों की राक्षस, कंजूस, शेर तथा शत्रुओं से रक्षा कर सकता है? क्या यह प्रत्यक्ष विरुद्ध नहीं है। इस भौतिकाग्नि में यह ज्ञान कहां कि कौन कृपण=अदानशील है कौन राक्षसवृत्ति का है और कौन हिंसकवृत्ति का है? अतः स्पष्ट ही यहां राजा के धर्मों का ही वर्णन है। और अग्नि के विशेषणों—(बृहद्भानो' व 'यविष्ठ्य') की भी राजा परक ही व्याख्या करनी चाहिए। इस भौतिकाग्नि को अतिशय जवान कहना भी उचित नहीं, क्योंकि युवादि अवस्थाएँ जीव के संयोग से शरीर-गत धर्म हैं। और 'बृहद्भानो' पद की भी यौगिक प्रक्रिया से बड़े विद्यादि ऐश्वर्यरूप तेजवाला अग्नि अथवा अग्नि के समान प्रकाशक अर्थ ही करना चाहिए। अतः महर्षि की मन्त्रव्याख्या सुसंगत तथा भ्रान्तिरहित होने से पठनीय है, किन्तु सायण की व्याख्या सर्वथा ही असंगत है॥ १५॥ ●

घौरः काण्व ऋषिः। **अग्निः** (सेनाध्यक्षः) देवता। निचृद्बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

पुनस्तदेवाह॥

फिर उसी सेनाध्यक्ष विषय का उपदेश किया है॥

घनेव विष्वग्वि जह्यराव्णस्तपुर्जम्भ यो अस्मध्रुक्।
यो मर्त्यः शिशीते अत्यक्तुभिर्मा नः स रिपुरीशत॥ १६॥

घनाऽइव। विष्वक्। वि। जहि। अराव्णः। तपुःऽजम्भ। यः। अस्मध्रुक्। यः। मर्त्यः। शिशीते। अति। अक्तुभिः। मा। नः। सः। रिपुः। ईशत॥ १६॥

पदार्थः—(घनेव) घनाभिर्यष्टभिर्यथा घटं भिनत्ति तथा (विष्वक्) सर्वतः (वि) विगतार्थे (जहि) नाशय (अराव्णः) उक्तशत्रून (तपुर्जम्भ) तप संताप इत्यस्मादौणिक उसिन् प्रत्ययः सन्ताप्यन्ते शत्रवो यैस्तानि तपूंषि। जभि नाशन इत्यस्मात् करणे घञ् जभ्यन्त एभिरिति जम्भान्यायुधानि तपूंष्येव जम्भानि यस्य भवतस्तत्संबुद्धौ (यः) मनुष्यः (अस्मध्रुक्) अस्मान् द्रुह्यति यः सः (यः) (मर्त्यः) मनुष्यः

---

१. हे अग्ने हे बृहद्भानो बृहन्तो भानवो यस्य तादृश हे यविष्ठ्य युवतम हे अग्ने! नः अस्मान् रक्षसः बाधकाद् राक्षसादेः पाहि पालय। तथा अराव्णः धनादीनाम् अदातृरूपात् धूर्त्तेः हिंसकात् पाहि। तथा रिषतः हिंसकाद् व्याघ्रादेः सकाशात् पाहि। उत वा अथवा जिघांसतः हन्तुमिच्छतः शत्रोः सकाशात् पाहि॥ (सायणः)

(**शिशीते**) कृशं करोति। शो तनूकरणे इत्यस्माल्लटि **विकरणव्यत्ययेन** श्यनः स्थाने श्लुरात्मनेपदं **बहुलं छन्दसि** इत्यभ्यासस्येत्वम्। **ईहल्यघोः**। अ० ६। ४। ११३। इत्यनभ्यास्येकारादेशश्च। (**अति**) अतिशये (**अक्तुभिः**) अञ्जति=मृत्युं नयन्ति यैस्तैः शस्त्रैः। **अञ्जू धातोर्बाहुलकादौणादिकस्तुः प्रत्ययः** (**मा**) निषेधार्थे (**नः**) अस्मान् (**सः**) (**रिपुः**) शत्रुः (**ईशत**) ईष्टां=समर्थो भवतु अत्र **लोडर्थे लङ्**। **बहुलं छन्दसि** इति शपो लुक्॥ १६॥

प्रभ्राणार्थ—(**तपुर्जम्भ**) यहाँ संताप अर्थवाली 'तप्' धातु से उणादि का 'उसिन्' प्रत्यय है। नाशन अर्थ वाली 'जभि' धातु से करण में 'घञ्' प्रत्यय है। (**शिशीते**) तनूकरण अर्थवाली 'शो' धातु से 'लट्' लकार में विकरण प्रत्यय के व्यत्यय से 'श्यन्' के स्थान पर 'श्लु' बहुलं छन्दसि (अ० २। ४। ७६) इस सूत्र से अभ्यास को 'इत्व', 'ई हल्यघोः' (अ० ६। ४। ११३) इस सूत्र से अनभ्यास को ईकार आदेश है। (**अक्तुभिः**) यहां 'अञ्जु' धातु से बहुल करके औणादिक 'तु' प्रत्यय है। (**ईशत**) यहां लोट् लकार के अर्थ में लङ् लकार है। वहुलं छन्दसि (अ० २। ४। ७३) इस सूत्र से 'शप्' विकरण प्रत्यय का लुक् है॥ १६॥

अन्वयः—हे (तपुर्ज्जम्भ) सेनापते विष्वक् त्वमराव्णोरीन् घनेव विजहि यो मर्त्योक्तुभिरस्मद्घ्रुगति शिशीते स रिपुर्नोस्मान् मेशत॥ १६॥

सपदार्थान्वयः—हे **तपुर्जम्भ** सन्ताप्यन्ते शत्रवो यैस्तानि तपूंषि जम्यन्त एभिरिति जम्भान्यायुधानि, तपूंष्येव जम्भानि यस्य भवतस्तत्सम्बुद्धौ **सेनापते**! **विष्वक्** सर्वतः **त्वमराव्णः**=**अरीन्** अक्तशत्रून् **घनेव** घनाभिर्यष्टिभिर्यथा घटं भिनत्ति तथा **वि+जहि** वि+नाशय **यो मर्त्यः** मनुष्यः **अक्तुभिः** अञ्जति=मृत्युं नयन्ति यैस्तैः शस्त्रैः [**अस्मध्रुक्**] **अस्मदध्रुक्** अस्मान् द्रुह्यति यः सः **अति+शिशीते** अतिशयेन कृशं करोति **स रिपुः नः**=**अस्मान् मा ईशत** मा ईष्टां= समर्थो भवतु॥ १६॥

भाषार्थ— हे (**तपुर्जम्भ**) शत्रुओं को सन्ताप देनेवाले एवं उनके अङ्गों को तोड़ने वाले शस्त्रों से युक्त सेनापते! (**विष्वक्**) सब ओर से आप—(**अराव्णः**) उक्त शत्रुओं का (**घनेव**) लाठी से जैसे घड़े को फोड़ते हैं वैसे (**वि+जहि**) विनाश कर (**यः**) जो (**मर्त्यः**) मनुष्य (**अक्तुभिः**) मृत्यु को प्राप्त कराने वाले शस्त्रों से [**अस्मध्रुक्**] हमारा द्रोही (**अति+शिशीते**) अत्यन्त निर्बल करता है (**सः**)वह (**रिपुः**) शत्रु (**नः**) हमारा (**मा, ईशत**) स्वामी न हो, समर्थ न होवे॥ १६॥

भावार्थ:—अत्रोपमालङ्कारः। सेनापत्यादयो यथा घनेनायः पाषाणादीस्त्रोटयन्ति तथैव शत्रूणामङ्गानि त्रोटयित्वाऽहर्निशं धार्मिकप्रजापालनतत्पराः स्युर्यतोऽरय एता दुःखयितुन्नो शक्नुयुरिति॥ १६॥

भावार्थ—यहां उपमा-अलंकार है। सेनापति आदि—जैसे घन से लोहा और पाषाण आदि तोड़ते हैं, वैसे ही शत्रुओं के अङ्गों को तोड़कर, दिन-रात धार्मिक प्रजा के पालन में तत्पर रहें, जिससे शत्रु इनको दुःख न दे सकें॥ १६॥

भाष्यसार—सेनाध्यक्ष कैसा हो—सेनापति शत्रुओं को सन्ताप देनेवाले एवं उनके अङ्गों को तोड़ने वाले शस्त्रों से युक्त हो। वह सब ओर से लाठी से जैसा घड़े को फोड़ते हैं अथवा जैसे घन से लोहा और पत्थर आदि को तोड़ते हैं-वैसे शत्रुओं का विनाश करे। जो हमारा द्रोही मनुष्य मृत्यु को प्राप्त करानेवाले शस्त्रों से हमें अत्यन्त निर्बल करता है—सभाध्यक्ष ऐसा प्रयत्न करे कि वह कभी हमारा स्वामी न बन सके। हम पर कभी समर्थ न हो सके॥ १६॥

अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' पद है, अतः उपमा अलङ्कार है। उपमा यह है कि जैसे लाठी से घड़े को फोड़ते हैं अथवा घन से लोहा और पाषाण आदि को तोड़ते हैं वैसे सभाध्यक्ष शत्रु का विनाश करे॥ १६॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"सन्तप्त होने वाली किरणों से युक्त अग्निदेव ! हमें देने योग्य धन को न देने वाले वैरी जनों को विशेष रूप से मार दीजिए। जैसे कठोर दण्ड यथा पत्थरादि से (घटादि) पात्रों को तोड़ा जाता है, उसी प्रकार जो शत्रु हमारे से द्रोह करता है तथा भर्त्सनादि से दुःख देता है, और जो शत्रु हमारे पर तीक्ष्ण शस्त्रों से हमला करता है ऐसे भर्त्सन (धमकाना) तथा हमला करने वाले शत्रुओं को मारकर आप ऐसा कर दीजिए कि वे हमारे पर काबू न कर सकें॥"

इस मन्त्र को सायण तथा दयानन्द की व्याख्या में यद्यपि विशेष अन्तर नहीं है, परन्तु मन्त्र के देवता 'अग्नि' की असंगत व्याख्या से सायण का भाष्य प्रकरण-विरुद्ध तथा प्रत्यक्ष-विरुद्ध हो गया है। क्या प्रदीप्त किरणों वाले भौतिकाग्नि के निम्न कार्य हो सकते हैं? अन्याय से धन-हरण करने वाले वैरी जनों का मारना, हमारे से द्रोह तथा भर्त्सन करने वालों तथा शस्त्रों से प्रहार करने वाले शत्रुओं को दण्डादि से घटादि के समान नष्ट करना इत्यादि सायण की व्याख्या से भी स्पष्ट है कि ये सेनापति के ही धर्म हैं भौतिकाग्नि के नहीं।

महर्षि-दयानन्द ने मन्त्रोक्त विशेषण-विशेष्य भाव को समझकर यहाँ मन्त्र के देवता 'अग्नि' का 'सेनाध्यक्ष' अर्थ किया है और अग्नि के पठित विशेषण 'तपुर्जम्भ' की व्याख्या भी सेनाध्यक्ष के साथ ही संगत है। सेना के अध्यक्ष के पास शत्रुओं को सन्ताप देने वाले शस्त्र पर्याप्त तथा सशक्त होने चाहिएँ। सायण ने इस पद की यह व्याख्या की है–तपुर्जम्भ=तप सन्तापे। औणादिकः करणे उसिन् प्रत्ययान्तः तपुस् शब्दः।·····जभि नाशने। जम्भ्यन्ते शत्रव एभिरिति जम्भान्यायुधानि। करणे घञ्। तपूंस्येव जम्भानि यस्यासौ तपुर्जम्भः। अर्थात् शत्रुओं को सन्ताप देने वाले हैं आयुध=शस्त्रास्त्र जिसके, उसको 'तपुर्जम्भः' कहते हैं। क्या यह सायण की व्याख्या भौतिकाग्नि के साथ संगत है? क्या इस अग्नि से आयुध तथा शत्रुओं को सन्ताप देना सम्भव है? अतः स्पष्ट है कि सायण की इस पद की उपर्युक्त व्याख्या होते हुए भी पदार्थ में जो 'तप्यमानरश्मियुक्ताग्ने' व्याख्या की है, वह उनकी अपनी व्याख्या से भी विरुद्ध है क्योंकि उन्होंने यहां 'जभि नाशने' धातु के अर्थ को बिलकुल ही छोड़ दिया है। यह उनकी भ्रान्ति तथा पूर्वाग्रह का ही परिणाम है कि ऐसे सुस्पष्ट तथा सुगम मन्त्रार्थों की भी याज्ञिक-व्याख्या करने की क्लिष्ट कल्पना सायण ने की है, जबकि इसमें स्पष्ट रूप से राजा के धर्मों का वर्णन किया गया है। कोई शत्रु 'मा नः स रिपुरीशत' हमारे पर स्वामी बनने में समर्थ न हो सके, क्या यह भौतिकाग्नि का काम हो सकता है? ॥ १६॥ ●

घौरः काण्व ऋषिः। **अग्निः** (सभाध्यक्षः) देवता। विराडुपरिष्टाद् बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

पुनस्तेषां गुणा अग्निदृष्टान्तेनोपदिश्यन्ते॥

फिर उन सभाध्यक्षादि के गुण अग्नि के दृष्टान्त से कहे जाते हैं॥

---

१. हे तपुर्जम्भ तप्यमानरश्मियुक्ताग्ने ! अराव्णः अस्मभ्यं देयस्य धनस्य अदातॄन् वैरिणः विष्वक् सर्वतः विजहि विशेषेण मारय। तत्र दृष्टान्तः। घनेव। यथा कठिनेन दण्डाषाणादिना भाण्डादिभङ्गं करोति तद्वत्। यः अन्योऽपि रिपुः अस्मध्रुक् अस्मद् विषयद्रोहकारी भर्त्सनादिना बाधते। यः च अन्यः मर्त्यः मनुष्यः शत्रुः अक्तुभिः आयुधैः अतिशिशीते तनूकरोति अस्मान् प्रहरतीत्यर्थः। सः रिपुः भर्त्सन-प्रहारकारी द्विविधोऽपि शत्रुः नः अस्मान् प्रति मा ईशत ईश्वरः शक्तो मा भूत्॥ (सायणः)

अग्निर्वन्ने सुवीर्यमग्निः कण्वाय सौभगम् ।
अग्निः प्रावन्मित्रोत मेध्यातिथिमग्निः साता उपस्तुतम् ॥ १७ ॥

अग्निः । वन्ने । सुऽवीर्यम् । अग्निः । कण्वाय । सौभगम् । अग्निः । प्र । आवत् । मित्रा । उत । मेध्यऽअतिथिम् । अग्निः । साता । उपऽस्तुतम् ॥ १७ ॥

पदार्थः—(**अग्निः**) विद्युदिव सभाध्यक्षो राजा (**वन्ने**) याचते । वनु याचन इत्यस्माल्लडर्थे लिट् वन सम्भक्ताविति्यस्माद्वा **छादन्सो वर्णलोपो वा** इत्यनेनोपधालोपः । (**सुवीर्यम्**) शोभनं शरीरात्मपराक्रमलक्षणं बलम् (**अग्निः**) उत्तमैश्वर्यप्रदः (**कण्वाय**) धर्मात्मने मेधाविने शिल्पिने (**सौभगम्**) शोभना भगा=ऐश्वर्ययोगा यस्य तस्य भावस्तम् (**अग्निः**) सर्वमित्रः (**प्र**) प्रकृष्टार्थे (**आवत्**) रक्षति=प्रीणाति (**मित्रा**) मित्राणि । अत्र **शेर्लोपः** । (**उत**) अपि (**मेध्यातिथिम्**) मेध्याः=संगमनीयाः पवित्रा अतिथयो यस्य तम् (**अग्निः**) सर्वाभिरक्षकः (**सातौ**) संभजन्ते धनानि यस्मिन् युद्धे शिल्पकर्मणि वा तस्मिन् (**उपस्तुतम्**) य उपगतैर्गुणैः स्तूयते तम् ॥ १७ ॥

प्रमाणार्थ—(**वन्ने**) यहां याचना अर्थ वाली 'वन' धातु से लट् लकार के अर्थ में लिट् लकार है, अथवा संभक्ति अर्थ वाली 'वन' धातु से 'छान्दसो वर्णलोपो वा' (महा० ८ । २ । २५) इस वार्तिक सूत्र से उपधा का लोप है । (**मित्रा**) यहां 'शि' का लोप है ॥ १७ ॥

अन्वयः—यो विद्वान् अग्निरिव सातौ संग्रामे उपस्तुतं सुवीर्यमग्निरिव कण्वाय सौभगं वन्नेग्निरिव मित्रा, सुहृदः प्रावदग्निरिवोताग्निरिव मेध्यातिथि च सेवेत स एव राजा भवितुमर्हेत् ॥

सपदार्थान्वयः—**यो विद्वान् अग्निः विद्युत् इव सातौ**=सङ्ग्रामे सम्भजन्ते धनानि यस्मिन् युद्धे शिल्पकर्मणि वा तस्मिन् **उपस्तुतं** य उपगतैर्गुणैः स्तूयते तं **सुवीर्यं** शोभनं शरीरात्मपराक्रमलक्षणं बलम् **अग्निः** उत्तमैश्वर्यप्रदः **इव कण्वाय** धर्मात्मने मेधाविने शिल्पिने **सौभगं** शोभना भगा=ऐश्वर्ययोगा यस्य तस्य भावस्तं **वन्ने** याचते; **अग्निः** सर्वमित्र **इव मित्रा**=सुहृदः मित्राणि **प्र+आवत्** प्रकृष्टतया रक्षति=प्रीणाति । **अग्निरिव उत** अपि **अग्निः** सर्वाभिरक्षकः **इव मेध्यातिथि** मेध्याः=संगमनीयाः पवित्रा अतिथयो यस्य तं **च सेवेत; स एव राजा भवितुमर्हेत् ॥**

भाषार्थ—जो विद्वान् (**अग्निः**) विद्युत् के समान (**सातौ**) संग्राम में या शिल्पकर्म में (**उपस्तुतम्**) प्राप्त गुणों से स्तुति के योग्य (**सुवीर्यम्**) उत्तम शरीर और आत्मा के पराक्रम रूप बल को-और जो (**अग्निः**) उत्तम ऐश्वर्य प्रदान करने वाले के समान (**कण्वाय**) धर्मात्मा मेधावी शिल्पी के लिये (**सौभगम्**) उत्तम ऐश्वर्य को (**वन्ने**) चाहता है—और जो (**अग्निः**) सबके मित्र के समान (**मित्रा**) मित्रों की (**प्र+आवत्**) अच्छे प्रकार रक्षा करता है — (**उत**) और (**अग्निः**) विद्युत् के समान (**अग्निः**) सबके रक्षक के तुल्य (**मेध्यातिथिम्**) संग करने योग्य पवित्र अतिथियों वाले पुरुष की सेवा करता है—वही राजा हो सकता है ॥ १७ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । यथायं भौतिकोग्निर्विद्वद्भिः सुसेवितः सन् तेभ्यो बलपराक्रमान् सौभाग्यं च प्रदाय शिल्पविद्याप्रवीणं तन्मित्राणि च सर्वदा रक्षति । तथैव प्रजा सेनास्थैर्भद्रपुरुषैर्याचितोयं सभाध्यक्षो राजा तेभ्यो बलपराक्रमोत्साहानैश्वर्य्यशक्तिं च दत्वा युद्धविद्या-

भावार्थ—यहाँ वाचकलुप्तोपमा अलंकार है । जैसे यह भौतिक अग्नि विद्वानों के द्वारा सेवन किया हुआ उनको बल, पराक्रम और सौभाग्य देकर, शिल्प-विद्या में प्रवीण और उनके मित्रों की सदा रक्षा करता है, वैसे ही प्रजा और सेना के भद्र-पुरुषों से प्रार्थना किया हुआ—सभाध्यक्ष

प्रवीणान् तन्मित्राणि च सर्वथा पालयेत् ॥ १७ ॥ राजा उनको बल, पराक्रम, उत्साह ऐश्वर्य और शक्ति देकर युद्धविद्या में प्रवीण करे और उनके मित्रों का सर्वथा पालन करे ॥ १७ ॥

भाष्यसार—**सभाध्यक्ष राजा के गुण**—सभाध्यक्ष राजा विद्युत् के समान बलवान् हो। वह संग्राम में या शिल्पकर्म में स्तुति के योग्य शरीर और आत्मा के बल की कामना करे। वह उत्तम ऐश्वर्य के दाता के तुल्य धर्मात्मा मेधावी शिल्पी-जन के लिये उत्तम ऐश्वर्य की इच्छा करे। वह सबके मित्र पुरुष के समान मित्रों की रक्षा करे। जैसे विद्युत् सबका रक्षक है वैसे सभाध्यक्ष सबका रक्षक होकर—जो संग करने योग्य पवित्र अतिथियों वाला मनुष्य है—उसकी सेवा करे ॥ १७ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है अतः वाचकलुप्तोपमा अलङ्कार है। उपमा यह है कि सभाध्यक्ष राजा अग्नि (विद्युत् आदि) के समान हो ॥ १७ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"अग्निदेव से उत्तम शक्तिवाले धन के लिए याचना की। उस अग्नि ने कण्व ऋषि को अच्छे धन के रूप में भाग्य दिया। और अग्नि ने हमारे मित्रों की अच्छी प्रकार रक्षा की। और अग्नि ने मेधा के योग्य अतिथियों से युक्त ऋषि की रक्षा की। और स्तुति करने वाले यजमान के धनादि की रक्षा की॥"

इस मन्त्र-व्याख्या में सायणाचार्य की निम्नलिखित असंगतियां तथा त्रुटियाँ हैं—

(क) मन्त्र के देवता 'अग्नि' की व्याख्या मन्त्रोक्त विशेषताओं से संगत नहीं है। क्योंकि सातौ=संग्रामादि में रक्षा करना भौतिकाग्नि के कार्य कदापि नहीं हो सकते।

(ख) सायण ने यहाँ 'कण्व' का अर्थ यौगिक प्रक्रिया का परित्याग करके ऋषि का व्यक्तिगत नाम माना है। यह कण्व-ऋषि कब हुआ? उसको अग्नि ने धनादि कब दिया? ऐसी बातों को देखकर वेदों को शाश्वत ज्ञान तथा ईश्वरोक्त कैसे कहा जा सकता है, जबकि उसमें ऐतिहासिक बातों का वर्णन सायण मान रहे हैं।

(ग) मन्त्र में अग्नि से प्रार्थना की है कि वह हमारे मित्रों की रक्षा करे। क्या भौतिकाग्नि में मित्र-शत्रु की विवेक-शक्ति है? सायण की इस प्रकार की जड़-देवों से प्रार्थना-परक व्याख्याओं से ही जड़ देवी देवताओं की लोक में पूजा प्रचलित हुई है।

(घ) मन्त्र-व्याख्या में सायण ने व्याकरण के वैदिक नियमों की भी उपेक्षा की है। मन्त्र में 'वन्ने' तथा 'प्रावत्' दो क्रियाएँ पठित हैं। जिनमें क्रमशः लिट् तथा लङ् लकार हैं। इनका सायण ने लौकिक संस्कृत की भांति भूतकालीन अर्थ किया है। जबकि 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (अ० ३। ४। ६) इत्यादि सूत्रों से वेद में लुङादि लकारों का सामान्यकाल में प्रयोग माना है। क्या यह वैदिक नियमों की उपेक्षा नहीं है?

महर्षि-दयानन्द की व्याख्या बहुत ही सुसंगत तथा प्राचीन शास्त्रों के अनुकूल है। महर्षि ने यहां भी मन्त्र के देवता का 'अग्निः=सभाध्यक्षः' अर्थ करके बहुत ही सुसंगत व्याख्या की है। उसमें सायण की व्याख्या की भांति कोई असंगति नहीं है, अतः वह पठनीय है ॥ १७ ॥ ●

---

१. अग्निः देवः सुवीर्यं शोभनवीर्योपेतं धनमुद्दिश्य वन्ने याचितः। सः अग्निः कण्वाय महर्षये सौभगं शोभनधनादिरूपं भाग्यं प्रायच्छदिति शेषः। तथा अग्निः मित्रा अस्मन्मित्राणि प्रावत् प्रकर्षेण रक्षितवान्। उत अपि च मेध्यातिथिं मेधायोग्यैरतिथिभिरुपेतम् ऋषिं प्रावत्। तथा उपस्तुतम् अन्यमपि स्तोतारम् यजमानं सातौ धनादिदाननिमित्तं प्रावदिति शेषः॥ (सायणः)

घौरः काण्व ऋषिः । **अग्निः** (सभाध्यक्षः) देवता । विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

सर्वे मनुष्याः सभाध्यक्षेण सह दुष्टान् कथं हन्युरित्युपदिश्यते ॥

सब मनुष्य सभाध्यक्ष से मिल के दुष्टों को कैसे मारें, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

अग्निना तुर्वशं यदुं परावत उग्रादेवं हवामहे ।
अग्निर्नयन्नववास्त्वं बृहद्रथं तुर्वीतिं दस्यवे सहः ॥ १८ ॥

अग्निना । तुर्वशम् । यदुम् । परावतः । उग्रऽदेवम् । हवामहे । अग्निः । नयत् । नवऽवास्त्वम् । बृहत्ऽरथम् । तुर्वीतिम् । दस्यवे । सहः ॥ १८ ॥

पदार्थः—(**अग्निना**) अग्निवत्तेजस्विना सभाध्यक्षेण (**तुर्वशम्**) तुरा=शीघ्रतया परपदार्थान् वष्टि=काङ्क्षति सः । **तुर्वशा इति मनुष्यनामसु पठितम्** । निघं० २ । ३ । (**यदुम्**) इतरधनाय यततेऽसौ यदुर्मनुष्यस्तम् । अत्र यती प्रयत्न इत्यस्माद्बाहुलकादौणादिक उः प्रत्ययस्तकारस्य दकारः (**परावतः**) दूरदेशात् (**उग्रादेवम्**) उग्रान्=तीव्रस्वभावान् विजिगीषुम् । **अत्रान्येषामपि दृश्यत** इति पूर्वपदस्य दीर्घः (**हवामहे**) योद्धुमाह्वयेम (**अग्निः**) अग्रणीस्सभाध्यक्षः (**नयत्**) नयतु=बन्धनागारे प्रापयतु । अयं **लेट्प्रयोगः** । (**नववास्त्वम्**) नवानि नवीनान्यरण्ये निर्मितानि वास्तूनि गृहाणि येन तम् **अमिपूर्व** इत्यत्र **वा छन्दसि** इत्यनुवर्त्तनात् पूर्वसवर्णाभावे यणादेशः (**बृहद्रथम्**) बृहन्तो रथा=रमणसाधका यस्य तम् (**तुर्वीतिम्**) तुर्वति=हिनस्ति यस्तम् । अत्र **हिंसार्थात्तुर्वीधातोर्बाहुलकादौणादिकः कर्त्तृकारक इतिः प्रत्ययः** (**दस्यवे**) स्वबलोत्कर्षेण परपदार्थहर्त्तुर्दस्योः । अत्र **षष्ठ्यर्थे चतुर्थी** (**सहः**) पराभावुकः ॥ १८ ॥

प्रमाणार्थ—(**तुर्वशम्**) 'तुर्वशा' यह पद निघण्टु (२ । ३) में मनुष्य-नामों में पढ़ा है। (**यदुम्**) यहाँ प्रयत्न अर्थ वाली 'यती' धातु से बहुल करके औणादिक 'उः' प्रत्यय और तकार को दकार आदेश है । (**उग्रादेवम्**) यहां 'अन्येषामपि दृश्यते' (अ० ६ । ३ । १३७) इस सूत्र से पूर्व पद को दीर्घ है । (**नयत्**) यह लेट् लकार का प्रयोग है । (**नववास्त्वम्**) यहाँ 'अमिपूर्वः' (अ० ६ । १ । १०७) इस सूत्र में 'वा छन्दसि' (अ० ६ । १ । १०६) इस सूत्र की अनुवृत्ति आने से पूर्वसवर्ण का अभाव होने पर 'यण्' आदेश है । (**तुर्वीतिम्**) यहाँ हिंसा अर्थ वाली 'तुर्वी' धातु से बहुल करके कर्त्ता कारक में औणादिक 'इतिः' प्रत्यय है । (**दस्यवे**) यहां षष्ठी विभक्ति के अर्थ में चतुर्थी विभक्ति है ॥ १८ ॥

अन्वयः—वयं येनाग्निना संग्राह्योग्रादेवं तुर्वशं यदुं परावतो हवामहे । स च दस्यवे सहोऽग्निर्नववास्त्वं बृहद्रथं तुर्वीतिमिहानयत् बन्धागारे प्रापयतु ॥ १८ ॥

सपदार्थान्वयः — वयं येनाऽग्निना अग्निवत्तेजस्विना सभाध्यक्षेण **संग्राह्य उग्रादेवम्** उग्रान्=तीव्रस्वभावान् विजिगीषुं **तुर्वशं** तुरा=शीघ्रतया परपदार्थान् वष्टि=काङ्क्षति सः **[तं] यदुम्** इतरधनाय यततेऽसौ यदुर्मनुष्यस्तं **परावतः** दूरदेशात् **हवामहे** योद्धुमाह्वयेम; **स च दस्यवे** स्वबलोत्कर्षेण परपदार्थहर्त्तुर्दस्योः **सहः** पराभावुकः **अग्निः** अग्रणीस्सभाध्यक्षः **नववास्त्वं** नवानि नवीनान्यरण्ये निर्मितानि वास्तूनि=गृहाणि येन तं

भाषार्थ—हम—जिस (**अग्निना**) अग्नि के समान तेजस्वी सभाध्यक्ष के साथ मिलकर (**उग्रादेवम्**) तेज स्वभाववालों को जीतने की इच्छा करनेवाले (**तुर्वशम्**) शीघ्रता से दूसरे के पदार्थों की आकांक्षा करनेवाले (**यदुम्**) दूसरे के धन के लिये चेष्टा करनेवाले मनुष्य को (**परावतः**) दूर देश से (**हवामहे**) युद्ध के लिये आह्वान करें । और वह—(**दस्यवे**) अपने बल के उत्कर्ष से दूसरे के पदार्थों को हरण करनेवाले दस्यु का (**सहः**) परा-

बृहद्रथं बृहन्तो रथाः=रमणसाधका यस्य तं **तुर्वीतिं** तुर्वति=हिनस्ति यस्तम् **इह [नयत्] आनयत्=बन्धागारे प्रापयतु** नयतु=बन्धनागारे प्रापयतु ॥

भव करनेवाला (**अग्निः**) अग्रणी सभाध्यक्ष (**नववास्त्वम्**) नवीन, अरण्य में घर बनाने वाले (**बृहद्रथम्**) बड़े रथों वाले (**तुर्वीतिम्**) हिंसक पुरुष को यहां (**नयत्**) कारागार में पहुँचाये ॥ १८ ॥

भावार्थः — सर्वैर्धार्मिकपुरुषैस्तेजस्विना सभाध्यक्षेण राज्ञा सह समागम्य वेगेन परपदार्थहर्त्तॄन् कुटिलस्वभावान् स्वविजयमिच्छन् दस्यूनाहूय पर्वतारण्यादिषु निर्मितानि तद्गृहाणि निपात्य तान् बध्वा कारागृहे नियोक्तव्याः ॥

भावार्थ—सब धार्मिक पुरुष—तेजस्वी सभाध्यक्ष राजा के साथ मिलकर, वेग से दूसरों के पदार्थों का हरण करने वाले, कुटिल स्वभाव युक्त, अपनी विजय चाहने वाले दस्युओं को बुलाकर पर्वतों और वनों में बने उनके घरों को गिराकर, उनको बान्धकर कारागार में रखें ॥ १८ ॥

भाष्यसार—मनुष्य सभाध्यक्ष के साथ मिलकर दुष्टों को कैसे मारें—सब मनुष्य अग्नि के समान तेजस्वी सभाध्यक्ष के साथ मिलकर—तेज स्वभाव वाले वीरों को जीतने की इच्छा करने वाले, शीघ्रता से दूसरे की पदार्थों की आकांक्षा रखने वाले और दूसरे के धन के लिये चेष्टा करने वाले दुष्ट मनुष्यों को दूर देश से युद्ध के लिये आह्वान करें। दस्युओं का पराभव करने वाला, अग्रणी सभाध्यक्ष—अरण्य में घर बनाने वाले बड़े रथों वाले, हिंसक पुरुषों को कारागार में रखे ॥

समीक्षा (महर्षिदयानन्द)— सायणाचार्येणायं मन्त्रोऽर्वाचीनपुराणमिथ्याग्रन्थरीतिमाश्रित्य भ्रान्त्याऽनर्थो व्याख्यातः ॥

भाषार्थ—सायणाचार्य ने इस मन्त्र की व्याख्या नवीन पुराण मिथ्या ग्रन्थों की रीति का आश्रय करके भ्रान्ति से अनर्थ पूर्ण की है ॥

समीक्षा (राजवीर शास्त्री)—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हम अग्नि के साथ स्थित तुर्वश, यदु, उग्रदेव नामक राजर्षियों को बुलाते हैं। और वह अग्नि नववास्तु, बृहद्रथ तथा तुर्वीत नामक राजर्षियों को यहाँ प्राप्त कराये । वह अग्नि कैसा है ? अग्नि हमारे साथ उपद्रव करने वाले चोर का अभिभव=दबाने वाला है ॥"

'अग्नि' इस मन्त्र का देवता है। सायण उसके विषय में बहुत ही भ्रान्त एवं मन्त्रार्थ की संगति लगाने में सर्वथा असमर्थ रहे हैं। जिस अग्नि को सायण ने (१ । ३६ । १३-१४) मन्त्रों में यूप=खम्बे में स्थित माना है, जिसको (१ । ३६ । १०) मन्त्र में हव्यवाहन=यज्ञ की हवि को प्राप्त कराने वाला कहा है जिसको (१ । ३६ । ११) मन्त्र में सूर्य से लेकर कण्व ऋषि ने प्रदीप्त किया है, जिसको (१ । ३६ । ९) मन्त्र में दर्शनीय धूम (धुंआ) को बनाने वाला माना है जिसको (१ । ३६ । ७) मन्त्र में मनुष्यों द्वारा प्रज्वलित करना माना है और जिसकी किरणें (१ । ३६ । ३) मन्त्र में चारों तरफ फैलना कहा है, वह अग्नि भौतिकाग्नि है या कोई कल्पित देव ? इसका निर्णय सायण की उपर्युक्त व्याख्याओं से स्पष्ट है कि यह भौतिकाग्नि के अतिरिक्त अन्य देव नहीं है।

और इस मन्त्र के सायण-भाष्य में कहा है कि अग्नि के साथ तुर्वश, यदु, उग्रदेव, नववास्तु, बृहद्रथ तथा तुर्वीति नामक राजर्षि रहते हैं और इनको यजमान बुलाते हैं तथा अग्नि इन राजर्षियों को यज्ञ-प्रदेश में प्राप्त कराता है। सायण की यह कैसी विचित्र, असंगत तथा कल्पित व्याख्या है, क्या भौतिकाग्नि के साथ कोई ऋषि रहते हैं। और यह अग्नि उन ऋषियों को कहाँ से और कैसे

---

१. अग्निना सहावस्थितान् तुर्वशनामकं यदुनामकम् उग्रदेवनामकं च राजर्षीन् परावतः दूरदेशात् हवामहे आह्वयामः। स च अग्निः नववास्तुनामकं बृहद्रथनामकं तुर्वीतिनामकं च राजर्षीन् नयत् इहानयतु। कीदृशो ऽग्निः। दस्यवे सहः अस्मदुपद्रवहेतोश्चोरस्याभिभविता ॥ (सायणः)

प्राप्त कराता है ? क्या ये ऋषि अग्नि के साथ आजकल नहीं रहते हैं ? इत्यादि अनेक भ्रान्तियों का सायण-भाष्य से कोई उत्तर नहीं मिलता है। इस प्रकार के भाष्यों को देखकर ही यह भ्रम पैदा होता है कि वेदों में भी अनित्येतिहास है।

यथार्थ में सायण ने शास्त्रीय वेदार्थ की यौगिक प्रक्रिया का परित्याग तथा वैदिक पदों को आख्यातज माननेवाले निरुक्त के प्रमुख सिद्धान्त की उपेक्षा करने से ही वेद-भाष्य में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ की हैं। महर्षि दयानन्द ने इस मन्त्र का बहुत ही सुसंगत तथा प्रामाणिक भाष्य किया है। इस मन्त्र के देवता की व्याख्या महर्षि ने 'सभाध्यक्ष' की है। जिससे मन्त्र में राजधर्म के वर्णन का स्पष्ट बोध हो रहा है। और 'दस्यवे सहः=दूसरों के पदार्थों का हरण करने वाले चोरादि का अभिभव करनेवाला जो अग्नि है' उसी का मन्त्र में वर्णन मानना ठीक भी है और यह कार्य भौतिकाग्नि कदापि नहीं कर सकता। यह कार्य तो राजा का ही है।

और राजा परक व्याख्या में मन्त्रोक्त सभी पदों की संगति हो रही है। मनुष्यों का यह परम कर्त्तव्य है कि वे अग्नि के समान तेजस्वी राजा का चयन करके और उसके साथ मिलकर राज्य में वर्त्तमान उग्रादेवम्=तीव्र स्वभाव वाले वीरों को जीतने की इच्छा वाले, यदुम्=दूसरों के धन को हरण करने की चेष्टा करने वाले तथा तुर्वशम्=शीघ्रता से पर-पदार्थों को लेने की इच्छा रखने वाले दुष्ट मनुष्यों को युद्ध के लिए आह्वान करें और उनको कारागार (जेल) आदि में डालकर सन्मार्ग पर चलावें। और तेजस्वी राजा उपर्युक्त दस्युओं आदि को दण्ड देने में कदापि उपेक्षा न करे। चाहे वे तुर्वीति=हिंसक दस्यु बृहद्रथम्=बड़े-बड़े रथादि साधनवाले हों अथवा नववास्त्वम्=अरण्यादि में नए-नए घर बनाकर रहते हों। मन्त्रोक्त 'उग्रादेवम्' आदि का, जिनको सायण ने राजर्षि मानकर भ्रान्त व्याख्या की है, यौगिक-प्रक्रिया से यहाँ महर्षि ने बहुत सुसंगत व्याख्या की है। महर्षि ने इन समस्त पदों के निर्वचन करके व्याख्या की है, जिससे प्रकृति-प्रत्यय के अर्थों का स्पष्ट-बोध हो रहा है।

और महर्षिकृत अर्थों की पुष्टि निरुक्तादि शास्त्रों से भी हो रही है। जैसे—

तुर्वशम् इति मनुष्यनाम (निघं० २। ३)
यदव इति मनुष्यनाम (निघं० २। ३)

इत्यादि प्रमाणों से भी स्पष्ट है कि तुर्वशादि पद मनुष्यों के लिए ही प्रयुक्त हैं। इनको राजर्षि कहना मन्त्रार्थ से विरुद्ध तथा भौतिकाग्नि के द्वारा इनका लाना सर्वथा ही असम्भव है॥ १८॥ ●

घौरः काण्व ऋषिः। **अग्निः** (**ईश्वरः**) देवता। पथ्या बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

पुनरेषां सहायकारी जगदीश्वरः कीदृश इत्युपदिश्यते॥

फिर इन राजपुरुषों का सहायक जगदीश्वर कैसा है, इस विषय का उपदेश किया जाता है॥

नि त्वाम॑ग्ने मनु॒र्दधे॒ ज्योति॒र्जना॑य शश्वते।
दी॒देथ॒ कण्व॑ ऋ॒तजा॑त उक्षि॒तो यं नम॒स्यन्ति॑ कृ॒ष्टयः॥ १९॥

नि। त्वाम्। अग्ने। मनुः। दधे। ज्योतिः। जनाय। शश्वते। दीदेथ। कण्वे। ऋतऽजातः। उक्षितः। यम्। नमस्यन्ति। कृष्टयः॥ १९॥

पदार्थः—(नि) नितराम् (त्वाम्) सर्वसुखप्रदम्। **स्वरव्यत्ययादुदात्तत्वम् सायणाचार्येणेदं** भ्रमान्न बुद्धम् (**अग्ने**) तेजस्विन् (**मनुः**) विज्ञानन्यायेन सर्वस्याः प्रजायाः पालकः (**दधे**) स्वात्मनि धरे

(**ज्योतिः**) स्वयं प्रकाशकत्वेन ज्ञानप्रकाशकम् (**जनाय**) जीवस्य रक्षणाय (**शश्वते**) स्वरूपेणानादिने (**दीदेथ**) प्रकाशयेथ **शबभावः** (**कण्वे**) मेधाविनि जने (**ऋतजातः**) ऋतेन=सत्याचरणेन जातः=प्रसिद्धः (**उक्षितः**) आनन्दैः सिक्तः (**यम्**) परमात्मानम् (**नमस्यन्ति**) पूजयन्ति। **नमसः पूजायाम्**। अ० ३।१।१९। (**कृष्टयः**) मनुष्याः। **कृष्टय इति मनुष्यनामसु पठितम्**। निघं० २। ३॥ १९॥

प्रमाणार्थ—(**त्वाम्**) यहां स्वर-व्यत्यय से उदात्त है। (**दीदेथ**) यहां 'शप्' विकरण प्रत्यय का अभाव है। (**नमस्यन्ति**) यहां 'नमसः पूजायाम्' (अ० ३। १। १९) इस वार्तिक सूत्र से 'नमः' शब्द से पूजा अर्थ में 'क्यच्' प्रत्यय है। (**कृष्टयः**) यह पद निघण्टु (२। ३) में मनुष्य-नामों में पढ़ा है॥

अन्वयः—हे अग्ने जगदीश्वर यं परमात्मानं त्वां शश्वते जनाय कृष्टयो नमस्यन्ति, [यं च] हे विद्वांसो यूयं दीदेथ, तज्ज्योतिस्स्वरूपं ब्रह्म ऋतजात उक्षितो मनुरहं कण्वे निदधे तमेव सर्वे मनुष्या उपासीरन्॥ १९॥

पदार्थान्वयः—हे **अग्ने**=**जगदीश्वर** तेजस्विन्! **यं**=**परमात्मानं त्वां** सर्वसुखप्रदं **शश्वते** स्वरूपेणाऽनादिने **जनाय** जीवस्य रक्षणाय **कृष्टयः** मनुष्याः **नमस्यन्ति** पूजयन्ति, [यं च] **हे विद्वांसो! यूयं दीदेथ** प्रकाशयेथ, **तज्ज्योतिः स्वरूपं ब्रह्म** स्वयं प्रकाशकत्वेन ज्ञानप्रकाशकम् **ऋतजातः** ऋतेन=सत्याचरणेन जातः=प्रसिद्धः **उक्षितः** आनन्दैः सिक्तः **मनुः** विज्ञानन्यायेन सर्वस्याः प्रजायाः पालकः **अहं कण्वे** मेधाविनि जने **नि+दधे** नितरां स्वात्मनि धरे, **तमेव सर्वे मनुष्या उपासीरन्॥ १९॥**

भाषार्थ—हे (**अग्ने**) तेजस्वी जगदीश्वर! (**यम्**) जिस सब सुखों के दाता आप को (**शश्वते**) स्वरूप से अनादि (**जनाय**) जीव की रक्षा के लिये (**कृष्टयः**) मनुष्य (**नमस्यन्ति**) पूजते हैं, और जिसको हे विद्वानो! तुम (**दीदेथ**) प्रकाशित करते हो, उस (**ज्योतिः**) ज्योतिःस्वरूप, स्वयं प्रकाशमान होने से ज्ञान के प्रकाशक ब्रह्म को (**ऋतजातः**) सत्याचरण से प्रसिद्ध (**उक्षितः**) आनन्दों से अभिषिक्त (**मनुः**) विज्ञानमय न्याय से सब प्रजा पालक मैं—(**कण्वे**) मेधावी मनुष्य में एवं अपने आत्मा में (**नि+दधे**) स्थापित करता हूँ—उस ब्रह्म की ही सब मनुष्य उपासना करें।

भावार्थ:—पूज्यस्य परमात्मनः कृपया प्रजारक्षणाय राजाधिकारे नियोजितैर्मनुष्यैः सर्वैः सत्यव्यवहारप्रसिद्धचा धार्मिका आनन्दितव्या, दुष्टाश्च ताडया, बुद्धिमत्सु मनुष्येषु विद्या निधातव्याः॥

भावार्थ—पूज्य परमात्मा की कृपा से प्रजा की रक्षा के लिये राज्य अधिकार में नियुक्त सब मनुष्य—सत्य व्यवहार की प्रसिद्धि से धार्मिकों को आनन्दित करें, और दुष्टों को ताड़ित कर, तथा बुद्धिमान् मनुष्यों में विद्या की स्थापना करें।

भाष्यसार—जगदीश्वर कैसा है—जगदीश्वर तेजस्वी और सब सुखों का दाता है। स्वरूप से अनादि जीव की रक्षा के लिये मनुष्य उसका पूजन करते हैं। विद्वान् लोग उसे अपने प्रवचनों से प्रकाशित करते हैं। वह ज्योतिःस्वरूप और ज्ञान का प्रकाशक है। जगदीश्वर सत्याचरण से प्रसिद्ध, आनन्दों से अभिषिक्त, विज्ञानमय न्याय से प्रजा के पालक मेधावी मनुष्य में अवस्थित है। सब मनुष्य उस ब्रह्म की उपासना करें॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे अग्निदेव! प्रजापति ने तुम्हें

---

१. हे अग्ने! ज्योतिः प्रकाशरूपं त्वां शश्वते बहुविधाय जनाय मनुः प्रजापतिः निदधे देवयजनदेशे स्थापितवान्। हे अग्ने! त्वम् ऋतजातः ऋतेन यज्ञेन निमित्तभूतेनोत्पन्नः उक्षितः हविर्भिस्तर्पितः सन् कण्वे एतन्नामके महर्षौ दीदेथ दीप्तवानसि। यम् अग्निं कृष्टयः मनुष्याः नमस्यन्ति नमस्कुर्वन्ति। स त्वमिति पूर्वत्रान्वयः (सायणः)

बहुत प्रकार के मनुष्यों के लिये यज्ञ-प्रदेश में स्थापित किया। हे अग्निदेव ! तुम यज्ञ के द्वारा उत्पन्न तथा हवि से तृप्त होकर कण्व नामक ऋषि के लिये प्रदीप्त होते हो। जिस अग्नि को सब मनुष्य नमस्कार करते हैं।''

इस मन्त्र के देवता 'अग्नि' को भौतिकाग्नि मानकर सायण ने जो व्याख्या की है, उसमें अनेक असंगतियां तथा कल्पनायें की गई हैं। जैसे मन्त्र में कहा है—'त्वामग्ने मनुर्दधे=हे अग्निदेव ! तुझे मनु धारण करता है।' इसका अर्थ सायण ने मनु=प्रजापति ने अग्नि को यज्ञदेश में स्थापित करना माना है। यहाँ मन्त्र में 'देवयजनदेश' के लिए कोई पद नहीं पढ़ा है यह सायण ने कल्पना ही की है। और 'प्रजापति' कौन हैं ? क्या यज्ञ में दूसरे मनुष्य अग्नि को स्थापित नहीं करते ? 'प्रजापति' यदि परमेश्वर का नाम है, तो क्या वह स्वयं शरीर धारण करके यज्ञीय अग्नि को प्रज्वलित करता है ? इत्यादि अनेक भ्रान्तियां सायण-व्याख्या से हो रही हैं। यथार्थ में 'मनुर्मननात्' (निरु० १२। ३३) इस प्रमाण के अनुसार 'मनु' का अर्थ विद्वान् पुरुष है। विद्वान् पुरुष परमेश्वराग्नि को धारण करता है, इस अर्थ को न समझकर सायण की व्याख्या असंगत हो गई है।

और मन्त्र में कहा है—'शश्वते जनाय'। जिसका अर्थ स्वरूप से अनादि (शाश्वत) जीवात्मा करना चाहिए। किन्तु सायण ने 'शश्वत्' शब्द का 'बहुविधाय' अर्थ कल्पना से किया है और यह उनकी अप्रामाणिक व्याख्या है। और मन्त्र में अग्नि को 'ऋतजातः' कहा है। सायण ने इसका अर्थ 'यज्ञ से उत्पन्न' किया है। इस भौतिकाग्नि को यज्ञ से उत्पन्न कहना भी नासमझी की बात है। क्योंकि इस अग्नि को तो पाकशालादि में भी जलाया जाता है। अतः महर्षि कृत इस पद की व्याख्या 'ऋत=सत्याचरण से 'प्रसिद्ध' ही संगत होती है। परमेश्वराग्नि निराकार होने से वैसे तो अजन्मा है, किन्तु सत्याचरणादि से परमेश्वर की अनुभूति अवश्य होती है। और मन्त्र में पठित 'कण्वे' पद का भी 'कण्व नामक ऋषि' अर्थ सायण ने वेदादिशास्त्रों से विरुद्ध किया है। शाश्वत-ज्ञान वेदों में ऋषियों का इतिहास कदापि सम्भव नहीं है। निघण्टु में 'कण्वः=मेधाविनाम' (निघं० ३। १५) लिखकर 'कण्व' के अर्थ की व्याख्या की है। जो मेधासम्पन्न योगी होता है वह ही परमेश्वराग्नि को धारण कर सकता है। और 'यं नमस्यन्ति कृष्टयः' कहकर भी परमेश्वराग्नि का ही मन्त्र में वर्णन है, इस बात की स्पष्ट पुष्टि की है क्योंकि सभी जीव परमेश्वर को उपासना तथा उसी को नमन करते हैं। वेदादिशास्त्रों में एक परमेश्वर की ही उपासना का विधान है, जड़-देवताओं का नहीं। सायण ने यहां जडाग्नि को नमस्कार कराकर जड=देवपूजा की पुष्टि की है, जो शास्त्र-विरुद्ध तथा कल्पित मान्यता है। शास्त्रों में स्पष्ट रूप से कहा है कि—'योऽन्यां देवतामुपासते स पशुरेव देवनाम् ॥' (ब्राह्मण) अर्थात् जो एक पूज्य परमेश्वर के स्थान पर दूसरे देवता की उपासना करता है, वह पशु के तुल्य ही है।

उपर्युक्त सायण-भाष्य की असंगतियाँ तथा मन्त्रोक्त विशेषण विशेष्य-भाव को देखकर स्पष्ट है कि इसमें 'अग्नि' पद से परमेश्वर का ही वर्णन समझना चाहिए। महर्षि दयानन्द ने इस मन्त्र की ईश्वर परक बहुत ही सुसंगत तथा निर्भ्रान्त व्याख्या की है ॥ १९ ॥

धौरः काण्व ऋषिः। **अग्निः** (सभापतिः) देवता। सतःपङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः ॥

अथ तं सभेशं प्रति किं किमुपदिशेदित्याह ॥

अब उस सभापति के प्रति क्या क्या उपदेश करे, इस विषय का उपदेश किया है ॥

त्वेषासो अग्नेरमवन्तो अर्चयो भीमासो न प्रतीतये ।
रक्षस्विनः सदमिद्यातुमावतो विश्वं सम्त्रिणं दह ॥ २० ॥

त्वेषासः । अग्नेः । अमऽवन्तः । अर्चयः । भीमासः । न । प्रतिऽइतये । रक्षस्विनः । सदम् । इत् । यातुऽमावत । विश्वम् । सम् । अत्रिणम् । दह ॥ २० ॥

पदार्थः—(**त्वेषासः**) त्विषन्ति=दीप्यन्ते यास्ताः (**अग्नेः**) सूर्यविद्युत्प्रसिद्धरूपस्य (**अमवन्तः**) निन्दितरोगकारकाः (**अर्चयः**) दीप्तयः । **अर्चिरिति ज्वलतो नामधेयेषु पठितम्** । निघं० १ । १७ । (**भीमासः**) बिभ्यति याभ्यस्ता भयङ्कराः (**न**) इव (**प्रतीयते**) सुखप्राप्तये ज्ञानाय वा (**रक्षस्विनः**) रक्षांसि=निन्दिताः पुरुषाः सन्ति येषु व्यवहारेषु ते । अत्र **निन्दितार्थे विनिः** । (**सदम्**) सीदन्त्यवतिष्ठन्ति यस्मिँस्तत् (**इत्**) एव (**यातुमावतः**) यान्ति=प्राप्नुवन्ति ये यातवः, मत्सदृशा इति पावन्तः,=यातवश्च ते मावन्तश्च तान् । अत्र सायणाचार्येण यातुरिति पूर्वपदं मावानित्युत्तरपदं च अविदित्वा यातुमावत्पदान्मतुप् कृतस्तदिदं पदपाठाद्विरुद्धत्वादशुद्धम् (**विश्वम्**) सर्वं जगत् (**सम्**) सम्यगर्थे (**अत्रिणम्**) परपदार्थापहर्त्तारं शत्रुम् (**दह**) भस्मीकुरु ॥ २० ॥

प्रमाणार्थ—(**अर्चयः**) 'अर्चिः' यह पद निघण्टु (१ । १७) में 'ज्वलतः नामों' में पढ़ा है—ज्वलतः=प्रदीप्त अग्निः । (**रक्षस्विनः**) यहां निन्दार्थ में 'विनि' प्रत्यय है ॥ २० ॥

अन्वयः—हे तेजस्विन् सभापते ! त्वमग्नेस्त्वेषासो भीमासोऽर्चयोर्न येऽमवन्तो रक्षस्विनः सन्ति तानत्रिणं चेदेव संदह प्रतीतये विश्वं सदं यातुमावतश्च संरक्ष ॥ २० ॥

सपदार्थान्वयः— **हे तेजस्विन् सभापते ! त्वमग्नेः** सूर्यविद्युत्प्रसिद्धरूपस्य **त्वेषासः** त्विषन्ति=दीप्यन्ते यास्ताः **भीमासः** बिभ्यति याभ्यस्ता भयङ्कराः **अर्चयः** दीप्तयः **न** इव **येऽमवन्तः** निन्दितरोगकारकाः **रक्षस्विनः** रक्षांसि=निन्दिताः पुरुषाः सन्ति येषु व्यवहारेषु ते **सन्ति तानत्रिणं** परपदार्थापहर्त्तारं शत्रुं **च इत्** एव **सम्+दह** सम्यक्तया भस्मीकुरु **प्रतीतये** सुखप्राप्तये ज्ञानाय वा **विश्वं** सर्वं जगत् **सदं** सीदन्त्यवतिष्ठन्ति यस्मिंस्तत् **यातुमावतः** यान्ति=प्राप्नुवन्ति ये यातवः, मत्सदृशा इति मावन्तः, यातवश्च ते मावन्तश्च तान् **च संरक्ष** ॥ २० ॥

भावार्थः—सभाध्यक्षादिभी राजपुरुषैः प्रजाजनैश्च यथाऽग्न्यादयः वनादीनि दहन्ति तथा दुष्टाचाराः प्राणिनो विनाशनीया एवं प्रयतमानैः सततं प्रजारक्षणं कार्यमिति ॥ २० ॥

भाषार्थ—हे तेजस्वी सभापते ! आप—(**अग्नेः**) सूर्य, विद्युत् और प्रसिद्ध रूप अग्नि की (**त्वेषासः**) प्रकाशस्वरूप (**भीमासः**) भयंकर (**अर्चयः**) ज्वालाओं के (**न**) समान जो (**अमवन्तः**) निन्दित रोग करने वाले (**रक्षस्विनः**) राक्षस, निन्दित पुरुष हैं, उन्हें, और (**अत्रिणम्**) दूसरों के पदार्थों का अपहरण करने वाले शत्रु को (**इत्**) ही (**सम्+दह**) अच्छे प्रकार भस्म करो । (**प्रतीतये**) सुख-प्राप्ति या ज्ञान के लिये (**विश्वम्**) सब (**सदम्**) जगत् की और (**यातुमावतः**) आपको प्राप्त करने वाले और मेरे सदृश धार्मिक जनों की रक्षा करो ॥ २० ॥

भावार्थ—सभाध्यक्ष आदि राजपुरुष और प्रजाजन—जैसे अग्नि आदि वन आदि को जलाते हैं, वैसे दुष्ट आचार वाले प्रणियों का विनाश करें, इस प्रकार यत्न करते हुए सदा प्रजा की रक्षा करें ॥

भाष्यसार—**सभापति के प्रति उपदेश**—तेजस्वी सभापति सूर्य, विद्युत् और प्रसिद्ध रूप अग्नि की ज्वालाओं के समान निन्दित रोगकारक, राक्षसों और पर-पदार्थों का अपहरण करने

वाले शत्रुओं को भस्म करे। वह सुख और ज्ञान की प्राप्ति के लिए सब जगत् की रक्षा करे ॥ २० ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"अग्नि की ज्वालाएँ प्रदीप्त, बलवती तथा भयंकर हैं। इसलिए हमारे से नहीं जानी जा सकतीं। हे अग्निदेव ! तुम बलवान् राक्षसों को सदा ही भस्म कर दो और हमारे बाधकरूप सब शत्रुओं को भस्म करो।"

आचार्य सायण ने यहाँ 'अग्नि' को भौतिकाग्नि मानकर व्याख्या की है। किन्तु भौतिकाग्नि की ज्वालाओं को कौन नहीं जान सकता ? जिसको हम प्रतिदिन प्रज्वलित करते हैं, और प्रत्यक्ष देखते हैं, उसके विषय में यह कहना कि हम उसे नहीं जान सकते, यह मिथ्या कथन है। और इस अचेताग्नि को हमारे मित्र व शत्रु का क्या ज्ञान है ? फिर यह हमारे शत्रुओं का नाश तथा मित्रों की रक्षा कैसे कर सकता है ? और हमारी प्रार्थनाओं को कैसे सुन सकता है। इस प्रकार सायण की व्याख्या से अनेक भ्रान्तियां उत्पन्न होती हैं, जिससे उनका भाष्य प्रकरणविरुद्ध सिद्ध होता है।

महर्षि दयानन्द ने यहाँ 'अग्नि' का अर्थ 'सभापति' किया है। अग्नि के सदृश तेजस्वी सभापति का प्रभाव ऐसा होना चाहिए जैसा कि भयंकर अग्नि की ज्वालाओं का होता है। जिससे दुष्ट चोरादि सदा ही भयभीत रहकर दुष्ट कर्म न कर सकें। और जो अभवन्तः=निन्दित रोगादि दोषों के फैलाने वाले हैं, रक्षस्विनः=निन्दित व्यवहारवाले पुरुष हैं और जो अत्रिणम्=दूसरों के धनादि को छीनकर भोग करने वाले हैं, ऐसे राज्य के शत्रुजनों का संदह=अग्नि की भांति जलाकर समूल विनाश राजा ही कर सकता है। ऐसे दुर्जनों के विनाश की भौतिकाग्नि से आशा करना या प्रर्थना करना दुराशा मात्र ही है।

सायण-भाष्य में यहां पद-पाठादि के समझने में भी भूलें की गई हैं। उन्हों ने यहां 'न' पद को निषेधार्थक माना है। यद्यपि 'न' निपात के 'निषेध' तथा 'उपमा' दोनों अर्थ होते हैं। परन्तु यास्क निरुक्त में उनका स्थान निणय करते हुए कहते हैं—

पुरस्तादुपचारस्तस्य यत्प्रतिषेधेति
उपरिष्टादुपचारस्तस्य येनोपमिमिते ॥ (निरुक्त १ । ४)

अर्थात् वेद में प्रतिषेध अर्थ में प्रतिषेध्य से पूर्व तथा उपमा अर्थ में उपमान के पीछे 'न' का प्रयोग होता है। प्रस्तुत मन्त्र में 'भीमासो न' कहकर 'भयंकर किरणों की भांति' ही संगत होता है। और 'न प्रतीतये' मानकर जो सायण ने व्याख्या की है, वह प्रत्यक्ष विरुद्ध होने से कदापि मान्य नहीं हो सकती।

और मन्त्र में 'यातुऽमावतः' पद को भी सायण ने नहीं समझा है। उन्होंने इसकी व्याख्या 'यातुमा पद से मतुप्' मानकर की है। यदि सायण की व्याख्या सत्य होती तो पदपाठ इस प्रकार होता—यातुमाऽवतः। परन्तु सायण-भाष्य में पदपाठ 'यातुऽमावतः' दिखाया है, जिससे सायण की व्याख्या का स्पष्ट खण्डन हो रहा है और 'यातु' तथा 'मावत्' दो पदों की पुष्टि होती है। अतः सायण की यहां पद-ज्ञान न होने से भ्रान्त व्याख्या हुई है। महर्षि ने सायण का यह दोष अपने भाष्य में स्पष्ट किया है ॥ २० ॥

---

१. अग्नेः अर्चयः ज्वालाः त्वेषासः दीप्ताः अमवन्तः बलवन्तः भीमासः भयंकराः। अतः प्रतीतये अस्माभिः प्रत्येतुं न शक्या इति शेषः। हे अग्नेः ! रक्षस्विनः बलवतः यातुमावतः यातुधानान् असुरान् सदमित् सर्वदैव संदह सम्यग् भस्मीकुरु। तथा विश्वं सर्वं अत्रिणं भक्षकं अस्मद् बाधकं शत्रुं संदह ॥ (सायणः)

पूर्वापरसङ्गतिमाह—अत्र सर्वाभिरक्षकेश्वरस्य, भौतिकाग्नेश्च गुणवर्णनं, दूतगुणोपदेशोग्नि-दृष्टान्तेन राजपुरुषगुणवर्णनं, सभापतिकृत्यं, सभापतित्वाधिकारिप्रकारोऽन्यादिपदार्थोपयोगकरणं मनुष्याणां सभेशस्य प्रार्थना, सर्वमनुष्याणां सभाध्यक्षेण सह दुष्टहननं, राजपुरुषसहायकेश्वरवर्णनं चोक्तमत एतत्सूक्तोक्तार्थस्य पूर्वसूक्तोक्तार्थेन सह संगतिरस्तीति वेदितव्यम्।

पूर्वापर-संगति—इस सूक्त में सबके रक्षक ईश्वर और दूत के दृष्टान्त से—भौतिक अग्नि के गुणों का वर्णन, दूत के गुणों का उपदेश और अग्नि के दृष्टान्त से राजपुरुष के गुणों का वर्णन, सभापति के कार्य, सभापति रूप अधिकारी का प्रकार, अग्नि आदि पदार्थों का उपयोग, मनुष्यों की सभाध्यक्ष से प्रार्थना, सब मनुष्यों का सभाध्यक्ष के सहाय से दुष्टों का हनन और राजपुरुषों के सहायक ईश्वर का वर्णन है, इसलिए इस सूक्त में प्रतिपादित अर्थ की पूर्व सूक्त में प्रतिपादित अर्थ के साथ संगति है, ऐसा जानो॥ ३६॥

इति प्रथमाष्टके तृतीयाध्याय एकादशो वर्गः,
प्रथममण्डले ऽष्टमानुवाके षट्त्रिंशं सूक्तं च समाप्तम्॥ ३६॥

यह पहिले अष्टक के तीसरे अध्याय में ग्यारहवाँ वर्ग,
तथा पहिले मण्डल के आठवें अनुवाक में छत्तीसवां सूक्त समाप्त हुआ॥ ३६॥ ●

अथ सप्तत्रिंशं सूक्तम्

घौरः कण्व ऋषिः। **मरुत्वः** (**वायवः**) देवताः। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

अत्र मोक्षमूलरादिकृतव्याख्यानं सर्वमसंगतं तत्र प्रत्येकमन्त्रेणानर्थमस्तीति वेद्यम्।

तत्रादिमे मन्त्रे विद्वद्भिर्वायुगुणैः किं किं कर्त्तव्यमित्युपदिश्यते॥

अब संतीसवें सूक्त का आरम्भ है। इस सूक्त में मोक्षमूलर आदि का किया हुआ व्याख्यान असंगत है। उस में प्रत्येक मन्त्र में उन की असंगति जाननी चाहिये। इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में विद्वानों को वायु के गुणों से क्या-क्या उपकार लेना चाहिये इस विषय का उपदेश किया है॥

क्रीळं वः शर्धो मारुतमनर्वाणं रथे शुभम्। कण्वा अभि प्र गायत॥ १॥

क्रीळम्। वः। शर्धः। मारुतम्। अनर्वाणम्। रथे। शुभम्। कण्वाः। अभि। प्र। गायत॥ १॥

पदार्थः—(**क्रीडम्**) क्रीडन्ति यस्मिँस्तत्। अत्र क्रीड़ विहार इत्यस्माद् **घञर्थे क विधानम्** इति कःप्रत्ययः। (**वः**) युष्माकम् (**शर्धः**) बलम्। **शर्ध इति बलनामसु पठितम्।** निघं० १। ९। (**मारुतम्**) मरुतां समूहः। अत्र **मृग्रोरुतिः।** उ० १। ९४। इति मृङ्धातोरुतिः प्रत्ययः। **अनुदात्तादेरञ्।** अ० ४। २। ४४। इत्यत्र प्रत्ययः। **इदं पदं सायणाचार्येण मरुतां संबन्धि तस्येदम् इत्यण् व्यत्ययेनाद्युदात्तत्वमित्यशुद्धं व्याख्यातम्।** (**अनर्वाणम्**) अविद्यमाना अर्वाणोश्वा यस्मिँस्तम्। **अर्वेत्यश्वनामसु पठितम्।** निघं० १। १४। (**रथे**) रयते=गच्छति येन तस्मिन् विमानादियाने (**शुभम्**) शोभनम् (**कण्वाः**) मेधाविनः (**अभि**) आभिमुख्ये (**प्र**) प्रकृष्टार्थे (**गायत**) शब्दायत=शृणुतोपदिशत च॥

प्रमाणार्थ—(**क्रीडम्**) यहां विहार अर्थ वाली 'क्रीड़' धातु से 'धञर्थे कविधानम्'

(अ० ३। ३। ५८) इस वार्तिक सूत्र से 'घञ्' प्रत्यय के अर्थ में 'क' प्रत्यय है। (**शर्ध**) यह पद निघं० (१। ९) में बल-नामों में पढ़ा है। (**मारुतम्**) यहां 'मृग्रोरुतिः' (१। ९४) इस उणादि सूत्र से मृङ् धातु से 'डति' प्रत्यय है। (**अनर्वाणम्**) 'अर्वाः' यह पद निघण्टु (१। १४) में 'अश्व' नामों में पढ़ा है॥

अन्वयः—हे कण्वा मेधाविनो विद्वांसो यूयं यद्वोनर्वाणं रथे क्रीडं क्रियायां शुभमारुतं शर्धोस्ति तदभिप्रगायत॥ १॥

सपदार्थान्वयः—हे **कण्वाः**! **मेधाविनो विद्वांसः**! **यूयं यद् वः** युष्माकम् **अनर्वाणम्** अविद्यमाना अर्वाणोऽश्वा यस्मिँस्तं **रथे** रयते=गच्छति येन तस्मिन् विमानादियाने **क्रीडं** क्रीडन्ति यस्मिँस्तत् **क्रियायां शुभं** शोभनं **मारुतं** मरुतां समूहस्तं **शर्धः** बलम् **अस्ति, तदभि+प्र+गायत** अभितः प्रकृष्टतया शब्दायत=शृणुतोपदिशत च॥

भाषार्थ—हे (**कण्वाः**) मेधावी विद्वानो! तुम—जो (**वः**) तुम्हारा (**अनर्वाणम्**) घोड़ों से रहित (**रथे**) विमान आदि यान में (**क्रीडम्**) क्रीड़ा का हेतु, गमन-आगमन क्रिया में (**शुभम्**) उत्तम (**मारुतम्**) पवनों का समूह रूप (**शर्धः**) बल है; उसे (**अभि+प्र+गायत**) अच्छे प्रकार सुनो और उपदेश करो॥ १॥

भावार्थः—विद्वद्भिर्ये वायवः प्राणिना चेष्टाबलवेगयानमङ्गलादिव्यवहारान् साधयन्ति तस्मात्तद्गुणान् परीक्ष्यैतेभ्यो यथायोग्यमुपकारा ग्राह्याः॥ १॥

भावार्थ—सब विद्वान्—जो वायु प्राणियों की चेष्टा, बल, वेग, यान और मङ्गल आदि व्यवहारों को सिद्ध करते हैं, इससे उनके गुणों की परीक्षा करके उनसे यथायोग्य उपकार ग्रहण करें।

भाष्यसार—**वायु के गुण**—जो घोड़ों से रहित, विमान आदि यान में क्रीड़ा का हेतु, गमन—आगमन क्रिया में उत्तम, पवनों का समूह रूप बल है, उसे मेधावी विद्वान् अन्य विद्वानों से अच्छे प्रकार सुनें अर्थात् उसका अध्ययन करें और तत्पश्चात् उसका उपदेश करें॥ १॥

समीक्षा (म० दयानन्द)—(क) (मारुतम्) इदं पदं सायणाचार्येण 'मरुतां सम्बन्धि' 'तस्येदम्' [अ० ४। ३। १२०] इत्यण्, व्यत्ययेनाद्युदात्तत्वमित्यशुद्धं व्याख्यातम्॥

(ख) मोक्षमूलराख्येनार्वशब्देन ह्यश्वग्रहणनिषेधः कृतः सोऽशुद्ध एव, भ्रममूलत्वात्। तथा पुनरर्वशब्देन सर्वत्रैवाश्वग्रहणं क्रियत इत्युक्तम्, एतदपि प्रमाणाभावादशुद्धमेव, अत्र विमानादेरनश्वस्य रथस्य विवक्षितत्वात्, अत्र कलाभिश्चालितेन वायुनाग्नेः प्रदीपनाज्जलस्य वाष्पवेगेन यानस्य गमनं कार्य्यते, नहि पशवोऽश्वा गृह्यन्ते॥ १॥

भाषार्थ—(क) सायणाचार्य ने 'मारुतम्' पद का अर्थ 'पवनों का सम्बन्धी' किया है यहाँ 'तस्येदम्' [अ० ४। ३। १२०] इस सूत्र से अण् प्रत्यय और व्यत्यय से आद्युदात्त स्वर होता है; ऐसा अशुद्ध व्याख्यान किया है॥

(ख) मोक्षमूलर ने 'अर्वा' शब्द से अश्व के ग्रहण का निषेध किया है, वह भ्रममूलक होने से अशुद्ध ही है। और फिर लिखा है कि 'अर्वा' शब्द से सर्वत्र 'अश्व' का ग्रहण किया जाता है, यह भी प्रमाण के न होने से अशुद्ध ही है। यहां विमान आदि अश्वरहित रथ की विवक्षा होने से तथा उन यानों में कलाओं से चालित वायु के द्वारा अग्नि के प्रदीपन से जल के वाष्प-वेग से यान का गमन कराया जाता है, अर्थात् उसमें गति उत्पन्न की जाती है। यहां पशु रूप घोड़ों का ग्रहण नहीं है॥१॥

समीक्षा (राजवीर शास्त्री)—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे कण्व गोत्रोत्पन्न महर्षियो ! अथवा मेधावी ऋत्विजो ! तुम्हारे लिये मरुद्देवों का जो बल है, उसकी प्रकृष्ट रूप में स्थिति करो। वह बल कैसा है ? विहरणशील, शत्रुरहित तथा रथ में स्थित होकर शोभायमान है॥"

आचार्य-सायण ने इस सूक्त के देवता 'मरुतः' को न समझकर इनके विषय में बहुत ही असंगत तथा असम्भव बातें लिखी हैं। जिनका यथास्थान वर्णन किया जायेगा। ये मरुद्देव कौन हैं, इसकी व्याख्या करते हुए निरुक्त (११। ११) में लिखा है—

> अथातो मध्यस्थाना देवगणाः। तेषां मरुतः प्रथमागामिनो भवन्ति।
> मरुतो मितराविणो वा, मितरोचिनो वा, महद् द्रवन्तीति वा॥

अर्थात् मध्यस्थानीय देवगणों में मरुद्देव प्रथम आते हैं। ये मरुद्देव मितरावी=मितभाषण करने वाले होते हैं। अथवा मित=माप से प्रीति करने वाले होते हैं। अथवा ये बहुत गति करते हैं। निरुक्त के इन निर्वचनों से स्पष्ट है कि 'मरुत्' शब्द के विभिन्न अर्थ हैं, उनका प्रकरण को देखकर सुसंगत अर्थ करना चाहिये।

> वैदिक कोष निघण्टु में मरुदिति हिरण्यनामसु पाठः (निघं० १। २)।
> मरुत इति ऋत्विङ्नाम (निघं० ३। १८)।
> मरुदिति रूपनामसु पाठः (निघं० ३। ७)।

'मरुत्' के 'सुवर्ण' ऋत्विक् तथा 'रूप' अर्थ दिखाये हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में 'मरुत्' के निम्न-लिखित अर्थ दिखाए हैं—

> मरुतो रश्मयः॥ ताण्ड्यब्राह्मण १४। १२। ६॥
> गणशो हि मरुतः॥ ताण्ड्यब्राह्मण १६। १४। २॥
> मरुतो गणानां पतयः॥ तैत्तिरीय० ३। ११। ४। २॥
> आपो वै मरुतः॥ ऐतरेयब्राह्मण ६। ३०॥
> ओजो वै वीर्यं मरुतः॥ जैमिनीय० ३। ३०६॥

महर्षि-दयानन्द ने उपर्युक्त शास्त्रों के प्रमाणों के आधार पर ही अपने वेद-भाष्य में 'मरुतः' की व्याख्या में विभिन्न अर्थ प्रकरणानुसार किए हैं। प्रस्तुत मन्त्र में महर्षि ने 'मरुतः=वायवः' करके व्याख्या की है और वायु के समूह को ही मन्त्र में 'मारुतम्' कहा है। परन्तु सायणाचार्य ने प्रसंग को न समझकर असंगत तथा काल्पनिक व्याख्या की है। सायण ने मरुद्देवों को शरीरधारी तथा कशा हाथ में लिए अपने रथ के मृगी रूप घोड़ों को (१। ३७। ३ में) हाँकने वाला माना है। और (१। ३७। ६–११) मन्त्रों में मरुत् को आकाश में उत्पन्न होने वाला, वाणी की उत्पत्ति का कारण तथा मेघों को गति देने वाला मानकर भी सायण ने मरुतों की माता गायों को माना है, मरुद्देवों की (१। ३७। ६) आयु को भी पूछा है, और (१। ३७। १५) में मरुद्देवों को आयु देने वाला माना है। यह सायण की भ्रान्तिपूर्ण तथा परस्पर विरुद्ध व्याख्या है। जो मरुत्=वायु आकाश में उत्पन्न होती है और हमारी वाणी का भी कारण है, क्या उसके हाथ आदि शरीरावयव, उसका रथ तथा उसके हिरणियों के घोड़े (वाहन) हो सकते हैं ? क्या गाय मरुतों की मातायें है ? क्या मनुष्यों को ये 'मरुत्' आयु

---

१. हे कण्वाः कण्वगोत्रोत्पन्ना महर्षयः। यद्वा। मेधाविन ऋत्विजः। वः युष्मदर्थं मारुतं मरुत्समूहरूपं शर्धः बलम् अभि प्रगायत अभितः प्रकर्षेण स्तुवध्वम्। कीदृशं शर्धः ? क्रीळं विहरणशीलम्, अनर्वाणम् भ्रातृव्यरहितम्, रथेशुभं स्वकीये रथेऽवस्थाय शोभमानम्॥ (सायणः)

प्रदान प्रार्थना करने पर कर सकते हैं ? जो मरुत्=वायु प्रत्यक्ष स्पर्शेन्द्रिय से अनुभव में आ रही है, और जो नेत्र का विषय ही नहीं है, उसके शरीरावयव रूप हाथादि बताना क्या प्रत्यक्ष विरुद्ध नहीं है? इस प्रकार सायण-भाष्य में इस सम्पूर्ण सूक्त की असंगत व्याख्या की गई है, जिसे यथास्थान दिखाया जायेगा।

इस मन्त्र में सायण-भाष्य की भूलें देखिये—

(क) 'कण्वा' की व्याख्या सायण ने 'कण्वगोत्रोत्पन्न महर्षि' भ्रान्तिपूर्ण की है। लौकिक सभी गोत्र सृष्टि के आदि में नहीं थे, ये सब लौकिक व्यवस्था के लिये ऋषियों ने बाद में चलाये हैं। इनका वर्णन शाश्वत ज्ञानरूप वेद में दिखाना क्या वेदों को अर्वाचीन सिद्ध नहीं करता ? महर्षि ने निघण्टु के प्रमाणानुसार 'कण्वाः' की व्याख्या 'मेधाविनः' किया है। क्योंकि मेधावी विद्वान् शिल्पी ही वायु के गुणों को जानकर उसका उपकार ले सकते हैं।

(ख) मन्त्र में 'मरुत्' को क्रीडम्=भ्रमण करने वाला, अनर्वाणम्=घोड़ों से रहित तथा रथेशुभम्=विमानादि यानों की गमनागमन क्रिया में उत्तम माना है। परन्तु सायण ने इस सत्यार्थ को न समझकर 'अनर्वाणम्' का अर्थ 'घोड़ों से रहित' न करके 'भ्रातृव्यरहित=शत्रुरहित' किया है। यहाँ 'अर्वा[1]' पद का 'शत्रु' अर्थ असंगत एवं काल्पनिक किया है। क्योंकि वायुदेव जड़देव है, उसमें शत्रुता अथवा मित्रता का भाव मानना मूर्खता है। जड़ पदार्थ सभी ज्ञान-रहित हैं, उनमें चेतनों के ज्ञानादि धर्म कैसे हो सकते हैं ? यहाँ सायण ने दर्शनविद्या से अनभिज्ञता दिखाकर जड़-चेतन के धर्मों को भी नहीं समझा है।

(ग) 'रथेशुभम्' का अर्थ 'अपने रथ में स्थित होकर शोभायमान' करना भी भ्रांतिपूर्ण है। क्या मरुत्=वायु का अपना कोई रथ=यान है, कि जिसमें वायु बैठकर इधर-उधर गति करता हो? सायण की यह कैसी मिथ्याधारणा तथा अवैज्ञानिक व्याख्या है, जो ऐसी सामान्य तथा प्रत्यक्ष बातों को भी उन्होंने नहीं समझा ?।

(घ) 'मारुतम्' की व्याख्या पद के स्वर को न समझकर सायण ने 'मरुतां संबन्धि' की है और यहां 'तस्येदम्' सूत्र से अण् प्रत्यय दिखाया है। किन्तु इस प्रत्यय से स्वर की संगति न लगने पर व्यत्यय से स्वर दिखाया है। यह सायण की क्लिष्ट-कल्पना ही है। महर्षि ने इसका स्पष्ट रूप से खण्डन किया है और इस पद की स्वरानुसार व्याख्या की है। अतः सायण की व्याख्या असंगत तथा भ्रान्तिपूर्ण है। यहां महर्षि-दयानन्द की सुसंगत व्याख्या पठनीय है ॥ १ ॥

घौरः कण्व ऋषिः। **मरुतः** (विद्वांसः) देवताः। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तैः कथं भवितव्यमित्युपदिश्यते ॥

फिर वे विद्वान् कैसे होने चाहियें, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

ये पृषतीभिर्ऋष्टिभिः साकं वाशीभिरञ्जिभिः। अजायन्त स्वभानवः ॥ २ ॥

ये। पृषतीभिः। ऋष्टिऽभिः। साकम्। वाशीभिः। अञ्जिभिः। अजायन्त। स्वऽभानवः ॥ २ ॥

पदार्थः—(ये) मरुतइव विज्ञानशीला विद्वांसो जनाः (पृषतीभिः) पर्षन्ति=सिञ्चन्ति धर्म-वृक्षं याभिरद्भिः (ऋष्टिभिः) याभिः कलायन्त्रयष्टीभिर्ऋषन्ति=जानन्ति प्राप्नुवन्ति व्यवहाराँस्ताभिः (साकम्) सह (वाशीभिः) वाणीभिः। **वाशीति वाङ्नामसु पठितम्।** निघं० १। ११। (अञ्जिभिः)

१. निघण्टु (१। १४) में अर्वा पद अश्वनामों में पठित है।

अञ्जन्ति=व्यक्तीकुर्वन्ति पदार्थगुणान् याभिः क्रियाभिः (**अजायन्त**) धर्म्मक्रियाप्रचाराय प्रादुर्भवन्ति। अत्र **लडर्थे लङ्**। (**स्वभानवः**) वायुवत्स्वभानवो=ज्ञानदीप्तयो येषान्ते ॥ २ ॥

प्रमाणार्थ—(**वाशीभिः**) 'वाशी' पद निघण्टु (१ । ११) में 'वाक्' नामों में पढ़ा है—वाक्=वाणी। (**अजायन्त**) यहां 'लट्' लकार के अर्थ में 'लङ्' लकार है ॥ २ ॥

अन्वयः—ये पृषतीभिर्ऋष्टिभिरञ्जिभिर्वाशीभिः साकं क्रियाकौशले प्रयतन्ते ते स्वभानवोऽजायन्त ॥ २ ॥

सपदार्थान्वयः—ये **पृषतीभिः** पर्षन्ति=सिञ्चन्ति धर्मवृक्षं याभिरद्भिः **ऋष्टिभिः** याभिः कलायन्त्रयष्टीभिर्ऋषन्ति=जानन्ति=प्राप्नुवन्ति व्यवहाराँस्ताभिः **अञ्जिभिः** अञ्जन्ति=व्यक्तीकुर्वन्ति पदार्थगुणान् याभिः क्रियाभिः **वाशीभिः** वाणीभिः **साकं** सह **क्रियाकौशले प्रयतन्ते, ते स्वभानवः** वायुवत्स्वभानवो=ज्ञानदीप्तयो येषान्ते **अजायन्त** धर्मक्रियाप्रचाराय प्रादुर्भवन्ति ॥ २ ॥

भाषार्थ—जो विद्वान्—(**पृषतीभिः**) धर्म-वृक्ष का सेचन करनेवाली (**ऋष्टिभिः**) कलायन्त्र आदि व्यवहारों को जनाने एवं प्राप्त कराने वाली (**अञ्जिभिः**) पदार्थों के गुणों को व्यक्त करनेवाली (**वाशीभिः**) वाणियों (**साकम्**) के सहाय से क्रिया-कौशल में प्रयत्न करते हैं;—वे (**स्वभानवः**) वायु के समान ज्ञान-दीप्ति वाले होकर (**अजायन्त**) धर्म, और क्रिया=आचरण के प्रचार के लिये समर्थ होते हैं ॥ २ ॥

भावार्थः—हे विद्वांसो मनुष्या युष्माभिरीश्वररचितायां सृष्टौ कार्यस्वभावप्रकाशस्य वायोः सकाशाज्जलसेचनं चेष्टाकरणमग्न्यादिप्रसिद्धिर्वायु-व्यवहाराश्चार्थात् कथनश्रवणस्पर्शा भवन्ति तैः क्रियाविद्याधर्मादिशुभगुणाः प्रचारणीयाः ॥ २ ॥

भावार्थ—हे विद्वान् मनुष्यो ! तुम—ईश्वर की रची हुई सृष्टि में कार्य के स्वभाव को प्रकाशित करनेवाले वायु से जल सेचन, चेष्टा का करना, अग्नि आदि की प्रसिद्धि और वायु के व्यवहार अर्थात् कथन, श्रवण, स्पर्श होते हैं उनसे क्रिया, विद्या और धर्म आदि शुभ गुणों का प्रचार करो ॥

भाष्यसार—**विद्वान् कैसे हों**—धर्म-वृक्ष का सेचन करने वाली, कलायन्त्र आदि को जानने एवं प्राप्त कराने वाली अग्नि वायु आदि पदार्थों के गुणों को प्रकाशित करने वाली वाणियों से क्रियाकौशल की प्राप्ति में विद्वान् प्रयत्न करें। वे वायु के समान ज्ञानदीप्ति वाले हों अर्थात् जैसे वायु से कथन, श्रवण और स्पर्श होते हैं वैसे क्रिया=आचरण, विद्या और धर्म आदि शुभ गुणों का प्रचार करें ॥ २ ॥

समीक्षा (म० दयानन्द)—**मोक्षमूलरोक्तिः**—ये ते वायवो विचित्रैर्हरिणैरयोमयोभिः शक्तिभिरसिभिः प्रदीप्तैराभूषणैश्च सह जाता इत्यसंभवास्ति। कुतः ? वायवो हि पृषत्यादीनां स्पर्शादिगुणानां च योगेन सर्वचेष्टाहेतुत्वेन च वागग्निप्रादुर्भावे हेतवः सन्तः स्वप्रकाशवन्तः सन्त्यतः। यच्चोक्तं सायणाचार्येण वाशीशब्दस्य व्याख्यानं समीचीनं कृतमित्यलीकम्। कुतः ? मन्त्रपदवाक्यार्थविरोधात्। यश्च प्रकरणपदवाक्यभावार्थानुकूलोस्ति सोऽयमस्य मन्त्रस्यार्थो द्रष्टव्यः ॥ २ ॥

भाषार्थ—मोक्षमूलर का यह कथन—'जो ये वायु विचित्र हरिण, लोहमय शक्ति (बर्छी), तलवार और प्रदीप्त आभूषणों के साथ उत्पन्न हुये हैं'—असम्भव है। क्योंकि—वायु निश्चय से पृषती आदि अर्थात् स्पर्श आदि गुणों के योग से और सब चेष्टाओं के हेतु होने से वाणी और अग्नि के प्रादुर्भाव में हेतु होते हुये स्वप्रकाश वाले हैं। और जो मोक्षमूलर ने यह कहा कि सायणाचार्य ने 'वाशी' शब्द का व्याख्यान ठीक किया है, वह भी मिथ्या है। क्योंकि वह मन्त्र, पद और वाक्यार्थ से

विरुद्ध है। और जो इस पद का अर्थ प्रकरण, पद, वाक्य और भावार्थ के अनुकूल है वह इस मन्त्र के अर्थ में देख लेवें ॥ २ ॥

समीक्षा (राजवीर शास्त्री)--इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"जो मरुद्देव अपने वाहनभूत मृगियों आदि के साथ अपनी दीप्ति से युक्त होकर उत्पन्न होते हैं। हम उन मरुद्देवों के वाहनभूत हिरणियों की, उनके शस्त्रों की, उनके शब्दों की तथा अलंकरणों की स्तुति करते हैं ॥"

यहाँ सायणाचार्य ने मन्त्र के देवता 'मरुतः' को न समझकर भ्रान्त व्याख्या की है। मरुतः= वायुदेवों के वाहन पृषत्यः=मृगियों को मानकर तो सायण ने आश्चर्य ही पैदा कर दिया है। क्या किसी ने मृगी=हिरणी के ऊपर मरुद्देवों को बैठे देखा है! यहाँ सायण ने यौगिक-प्रक्रिया को न समझकर मिथ्या व्याख्या लोकरूढ़ अर्थों के आश्रय से की है। यहाँ सायण-भाष्य में 'पृषत्यो मरुताम्' (निघं० १। १५) का प्रमाण भी दिया है। जिसको सायण ने न समझकर मरुद्देवों के वाहन पृषत्य=: मृगियों को माना है। निघण्टु में यहाँ 'दशोत्तराण्यादिष्टोपयोजनानि' लिखकर अश्व-नामों से पृथक् पढ़ा है। यदि ये अश्व-नाम ही होते, तो इनका पृथक् करना निरर्थक ही था। और अश्व-नामों से भी अभिप्राय घोड़ों के (पशु विशेष) नाम से ही नहीं है। अन्यथा यास्काचार्य 'तस्याश्ववद् देवतावच्च निगमा भवन्ति' (निरु० २। २८) कहकर अश्व-नामों को मध्यस्थानीय इन्द्रादि देवता मानकर मन्त्रों का वर्णन क्यों कहते। और 'पृषत्यो मरुताम्' इत्यादि के 'आदिष्टोपयोजनानि' शब्द की व्याख्या करते हुए निरुक्त में 'साहचर्यज्ञानाय' (निरु० २। २८) लिखा है। जिससे स्पष्ट है कि ये इन देवताओं के घोड़े (वाहन) नहीं हैं, प्रत्युत इनकी शक्तियों का ही वर्णन है, जो उनसे कदापि पृथक् नहीं होतीं।

परन्तु प्रस्तुत मन्त्र में तो 'पृषतीभिः' पद 'वाशीभिः' का विशेषण है। और 'मरुतः' का सम्बन्ध 'स्वभानवः' पद के साथ है। क्योंकि विशेषण-विशेष्य भाव में समान विभक्तियाँ होती हैं। और सायण-भाष्य में भी 'वाशीभिः' की व्याख्या 'वाशी वाणी' (निघं० १। ११) इस प्रमाण को उद्धृत करके की है। जिसके अनुसार 'पृषतीभिः' पद की व्याख्या वाणी-परक ही करनी चाहिये। जिसको सायणाचार्य ने न समझकर "पृषत्यो बिन्दुयुक्ता मृग्यो मरुद्वाहनभूताः=मरुद्देवों के वाहन-भूत बिन्दु चिह्नवाली हिरणियाँ" अर्थ किया है। हिरणियों का वाणी से क्या सम्बन्ध है? इसी प्रकार मरुद्देवों के 'ऋष्टयः=आयुधानि' शस्त्रों का तथा 'अञ्जयोऽलंकरणानि=आभूषणों का भी वर्णन सायण की भ्रान्ति का द्योतक है। क्या मरुत्=वायु को किसी ने शस्त्रधारण किए और आभूषण पहरे देखा है? सायण की इस भ्रान्त-व्याख्या का प्रमुख कारण 'देवता' के अर्थ को न समझना, यौगिक-प्रक्रिया को त्यागकर लौकिक रूढ़ अर्थ करना तथा पौराणिक-देवतावाद का मिथ्या प्रभाव है। जैसे प्रकरण से अनभिज्ञ व्यक्ति दूसरों के भाव को समझने में असमर्थ रहता है, ऐसे ही सायण-भाष्य का पाठक मन्त्र के भावों से अनभिज्ञ ही रहता है। इसीलिये सत्य ही लिखा है—

दैवतज्ञो हि मन्त्राणां तदर्थमवगच्छति ॥ (शौनकीय बृहद्देवता १। २)

अर्थात् देवता का सम्यक् ज्ञाता ही मन्त्रों के अर्थों को जान सकता है। महर्षि-दयानन्द ने 'मरुत ऋत्विङ् नाम (निघं० ३। १८) इस प्रमाण के अनुसार "ऋतुओं के अनुसार यज्ञ करने वाला

---

१. ये मरुतः पृषत्यादिभिः साकं स्वभानवः स्वकीयदीप्तियुक्ताः अजायन्त इति सम्पन्नाः। पृषत्यो बिन्दुयुक्ता मृग्यो मरुद्वाहनभूताः, ऋष्टय आयुधानि, वाश्यः शब्दविशेषाः पुरकीयसेनाभीतिहेतवः, अञ्जयोऽलंकरणानि, तान् स्तुम इति शेषः ॥ (सायणः)

विद्वान्" अर्थ किया है। जिसकी संगति सम्पूर्ण मन्त्र से हो रही है। विद्वान् पुरुषों का वाशीभिः= वाणियों से सम्बन्ध भी उचित है, क्योंकि उनके उपदेश व शिक्षा से ज्ञान-दीप्ति होती है। मरुत्= वायु देव की वाणी को तो कोई मतिमन्द पौराणिक-अन्धानुयायी ही स्वीकार कर सकता है ॥ २ ॥

घौरः कण्व ऋषिः । **मरुतः (वायवः)** देवताः । निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनरेते तैः किं कुर्य्युरित्युपदिश्यते ॥

फिर ये विद्वान् वायु से क्या उपकार लेवें, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

इहेव शृण्व एषां कशा हस्तेषु यद्वदान् । नियामँश्चित्रमृञ्जते ॥ ३ ॥

इहऽइव । शृण्वे । एषाम् । कशाः । हस्तेषु । यत् । वदान् । नि । यामन् । चित्रम् । ऋञ्जते ॥ ३ ॥

पदार्थः—(**इहेव**) यथाऽस्मिन्स्थाने स्थित्वा तथा (**शृण्वे**) शृणोमि । अत्र **व्यत्ययेनात्मनेपदम्** । (**एषाम्**) वायूनाम् (**कशाः**) चेष्टासाधनरज्जुवन्नियमप्रापिकाः क्रियाः (**हस्तेषु**) हस्ताद्यङ्गेषु बहुवचनादङ्गानीति ग्राह्यम् । (**यत्**) व्यावहारिकं वचः (**वदान्**) वदेयुः (**नि**) नितराम् (**यामन्**) यान्ति=प्राप्नुवन्ति सुखहेतुपदार्थान् यस्मिँस्तस्मिन् मार्गे । अत्र **सुपां सुलुग्** इति ङेर्लुक् । (**चित्रम्**) अद्भुतं कर्म (**ऋञ्जते**) प्रसाध्नोति । **ऋञ्जतिः प्रसाधनकर्मा** । निरु० ६ । २१ ॥ ३ ॥

प्रमाणार्थ—(**शृण्वे**) यहाँ व्यत्यय से आत्मनेपद है। (**यामन्**) यहाँ 'सुपां सुलुक्०' (अ० ७ । १ । ३९) इस सूत्र से 'ङि' का 'लुक्' है। (**ऋञ्जते**) 'ऋञ्जति' यह पद निरुक्त (६ । २१) के अनुसार प्रसाधन अर्थ वाला है ॥ ३ ॥

अन्वयः—अहं यदेषां वायूनां कशा हस्तेषु सन्ति प्राणिनो यद् वदान् वदेयुस्तदिहेव शृण्वे सर्वः प्राण्यप्राणी यद्यामन् यामनि चित्रं कर्म न्यृञ्जते तदहमपि कर्त्तुं शक्नोमि ॥ ३ ॥

सपदार्थान्वयः — अहं यद् एषां=वायूनां कशाः चेष्टासाधनरज्जुवन्नियमप्रापिकाः क्रियाः **हस्तेषु** हस्ताद्यङ्गेषु **सन्ति, प्राणिनो यद्** व्यावहारिकवचः **वदान्=वदेयुस्तद् इहेव** यथाऽस्मिन्स्थाने स्थित्वा तथा **शृण्वे** शृणोमि । **सर्वः प्राण्यप्राणी यद् यामन्=यामनि** यान्ति=प्राप्नुवन्ति सुखहेतुपदार्थान् यस्मिँस्तस्मिन् मार्गे **चित्रम्** अद्भुतं **कर्म नि+ऋञ्जते** नितरां प्रसाध्नोति, **तदहमपि कर्त्तुं शक्नोमि ॥ ३ ॥**

भाषार्थ—मैं—जो, (**एषाम्**) इन पवनों की (**कशाः**) चेष्टा के साधन, रस्सी के समान नियमन करने वाले क्रियायें (**हस्तेषु**) हाथ आदि अङ्गों में हैं, उन्हें और जो प्राणी (**यद्**) जिस व्यावहारिक वचन को (**वदान्**) बोलते हैं, उसे (**इहेव**) जैसे इस स्थान में बैठकर सुनता हो वैसे (**शृण्वे**) सुनता हूं। और सब प्राणी और अप्राणी (**यामन्**) सुख के हेतु पदार्थों को प्राप्त करानेवाले मार्ग में जिस (**चित्रम्**) अद्भुत कर्म को (**नि+ऋञ्जते**) सर्वथा सिद्ध करते हैं; उसे मैं भी सिद्ध कर सकता हूँ ॥ ३ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः । पदार्थविद्यामभीप्सुभिर्विद्वद्भिर्यानि कर्माणि जडचेतनाः पदार्थाः कुर्वन्ति तद्धेतवो वायवः सन्तिः । यदि वायुर्न स्यात्तर्हि कश्चित् किंचिदपि कर्म कर्त्तुं न शक्नुयात् । दूरस्थेनोच्चारिताञ्छब्दान् समीप-

भावार्थ—यहाँ उपमा अलंकार है। पदार्थविद्या की प्राप्ति के इच्छुक विद्वान्—जितने जड़ और चेतन पदार्थ कर्म करते हैं उन सबका कारण वायु है। यदि वायु न हो तो कोई कुछ भी कर्म नहीं कर सकता। दूरस्थ व्यक्ति द्वारा उच्चरित

स्थानिव वायुचेष्टामन्तरेण कश्चिदपि श्रोतुं वक्तुं च न प्रभवेत्। वीरा युद्धादिकार्येषु यावन्तौ बल-पराक्रमौ कुर्वन्ति तावन्तौ सर्वौ वायुयोगादेव भवतः। नह्येतेन विना नेत्रस्पन्दनमपि कर्त्तुं शक्य-मतोऽस्य सर्वदैव शुभगुणाः सर्वैः सदान्वेष्टव्याः ॥

शब्दों को निकट उच्चारण के समान वायु-व्यापार के विना कोई भी सुनने और बोलने में समर्थ नहीं हो सकता। वीर पुरुष युद्ध आदि कार्यों में जितना बल और पराक्रम करते हैं, वह सब वायु के वेग से ही होता है, इसके विना नेत्र-स्पन्दन भी नहीं कर सकते, अतः सदा ही सब इसके शुभ गुणों का अन्वेषण करें ॥ ३ ॥

भाष्यसार—**विद्वान् वायु से क्या उपकार लेवें**—वायु चेष्टा के साधन हैं। इनकी क्रियायें रस्सी के समान पदार्थों का नियमन करने वाली हैं। वायु के कारण ही हाथ आदि अंगों में विविध क्रियायें होती हैं। जो प्राणा व्यावहारिक वचन बोलते हैं उसका कारण भी वायु है। दूर देश में उच्चारण किया हुआ शब्द जो समीप देश में उच्चारण किये हुये के समान सुनाई देता है, उसमें वायु कारण है। प्राणी और अप्राणी अर्थात् जड़ और चेतन जो भी विचित्र कर्म दिखाई देता है वह वायु के कारण से होता है। अतः विद्वान् वायु के गुणों का अन्वेषण करें ॥ ३ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में 'इव' पद उपमा-वाचक है, अतः उपमा अलंकार है। उपमा यह है कि जो दूर देश में उच्चारण किये हुये शब्दों को समीप देश में उच्चारण किये हुये शब्दों के समान सुनता है उसमें वायु कारण है ॥ ३ ॥

समीक्षा (म० दयानन्द)—मोक्षमूलरोक्तिः—अहं सारथिना कशाशब्दाञ्च्छृणोमि, अतिनिकटे हस्तेषु तान् प्रहरन्ति, ते स्वमार्गेष्वतिशोभां प्राप्नुवन्ति। यामन्निति मार्गस्य नाम, येन मार्गेण देवा गच्छन्ति, यस्मान् मार्गाद्बलिदानानि प्राप्नुवन्ति। यथास्माकं प्रकरणे मेघावयवानामपि ग्रहणं भवतीत्य-शुद्धास्ति। कुतः अत्र ? कशाशब्देन वायुहेतुकानां क्रियाणां ग्रहणाद्यामन्निति शब्देन सर्वव्यवहारसुखप्राप-कस्य कर्मणो ग्रहणाच्च ॥ ३ ॥

भाषार्थ—मोक्षमूलर का यह कथन—'मैं सारथियों की कशा अर्थात् चाबुक के शब्दों को सुनता हूँ; अतिनिकट हाथों में उनका प्रहार करते हैं, वे अपने मार्गों में अति शोभा को प्राप्त होते हैं। और 'यामन्' यह मार्ग का नाम है, जिस मार्ग से देव जाते हैं, जिस मार्ग से बलिदानों को प्राप्त होते हैं। जैसे हमारे प्रकरण में मेघ-अवयवों का भी ग्रहण होता है; अशुद्ध है। क्योंकि—यहाँ 'कशा' शब्द से वायु से होनेवाली क्रियाओं का ग्रहण है और 'यामन्' इस शब्द से सब व्यवहारों में सुख के प्रापक कर्म का ग्रहण होता है ॥ ३ ॥

समीक्षा (राजवीर शास्त्री)—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"इन मरुद्देवों के हाथों में अपने-अपने रथों को चलाने के लिये ताडना=मारने के साधन कशाः=चाबुक विद्यमान हैं। उन देवों की ध्वनि को मैं सुनता हूँ। वह विशेष ध्वनि संग्राम में विविध शूरता को अलंकृत करती है ॥"

सायणाचार्य ने इस सूक्त के (१। ३७। १०) 'मरुत्' देव को वाणी का उत्पादक माना है, (१। ३७। ११) मन्त्र-भाष्य में मरुत्=मेघों को गति करने वाला माना है, और (१। ३७। ९) में मरुद्देवों का जन्म स्थान आकाश में माना है। जिससे उनकी मान्यता का स्पष्ट उल्लेख हो जाता है

१. एषां मरुतां हस्तेषु स्थिताः कशाः स्वस्ववाहनताडनहेतवः यद्वदान् यद् वदन्ति यं ध्वनिं कुर्वन्ति तं ध्वनिम् इहेव अत्रेव स्थित्वा शृणोमि। स ध्वनिविशेषः यामन् संग्रामे चित्रं विविधं शौर्यं नि ऋञ्जते नितराम् अलंकरोति ॥ (सायणः)

कि वे 'मरुत्' का अर्थ वायु मान रहे हैं। क्या ये मरुद्देव शरीरधारी हैं, जो सायण ने उनके हाथों में कशा=चाबुक मानी है? उनके रथ कौन से हैं, जिन पर ये चढ़कर जाते हैं? और शरीरधारी होकर भी दिखाई क्यों नहीं देते? ऐसे असम्भव एवं प्रत्यक्षविरुद्ध मन्त्रार्थों को कौन विद्वान् मान सकता है। यथार्थ में मन्त्र में आलंकारिक वर्णन है, जिसको सायण ने नहीं समझा और उन्होंने लौकिक संस्कृत के अनुसार ही मन्त्र की व्याख्या की है। इसमें वायु के गुणों का वर्णन है। 'कशा' का अर्थ यहाँ चाबुक के तुल्य नियन्त्रण करने वाली क्रिया से है। लोक में जड़-चेतन पदार्थों में होने वाली समस्त चेष्टायें वायु के आश्रय से ही होती हैं। इन वायुओं की कशा=नियमन क्रिया हस्तेषु=प्राणियों के हाथादि अवयवों में निरन्तर हो रही है, वायु के आश्रय से ही मनुष्य दूरस्थ शब्दों को सुन पाते हैं, और जो भी बल-पराक्रम का कार्य लोक में होता है, वह भी वायु के बिना नहीं हो सकता। इसलिए मन्त्र में 'चित्रमृञ्जते=अद्भुत कर्मों को सिद्ध करते हैं' कहा है। यहाँ सायण ने 'ऋञ्जतिः प्रसाधनकर्मा' (निरु० ६। २१) का प्रमाण देकर 'सिद्ध करने' के स्थान पर 'सजाना' अर्थ माना है। यह सायण की भूल है। वायु की ध्वनि युद्ध में क्या शृङ्गार कर सकती है? यद्यपि लोक में 'प्रसाधन' शब्द का 'शृंगार करना' भी अर्थ है, किन्तु वेद में 'प्रकृष्ट रूप से सिद्ध करना' अर्थ ही संगत होता है। क्योंकि जड़ वस्तु का अलङ्कार करना कैसे सम्भव है? अतः सायण की व्याख्या असंगत तथा असम्भव अर्थों से पूर्ण होने से मिथ्या है। महर्षि दयानन्द ने मन्त्रोक्त 'इव' पद के अनुसार उपमा अलङ्कार माना है, जबकि सायण को मन्त्र में 'इह+इव=इहेव' पदों के होते हुए भी यह अर्थ समझ में नहीं आया और इसको 'अत्रेव' व्याख्या करके आलङ्कारिक वर्णन को छोड़ ही दिया है॥ ३॥

घौरः कण्व ऋषिः। **मरुतः (वायवः)** देवताः। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनरेते वायोः कस्मै प्रयोजनाय किं कुर्युरित्युपदिश्यते॥

फिर ये विद्वान् लोग वायु से किस प्रयोजन के लिये क्या करें, इस विषय का उपदेश किया जाता है॥

प्र वः शर्धाय घृष्वये त्वेषद्युम्नाय शुष्मिणे। देवत्तं ब्रह्म गायत॥ ४॥

प्र। वः। शर्धाय। घृष्वये। त्वेषद्युम्नाय। शुष्मिणे। देवत्तम्। ब्रह्म। गायत॥ ४॥

पदार्थः—(**प्र**) प्रीतार्थे (**वः**) युष्माकम् (**शर्धाय**) बलाय (**घृष्वये**) घर्षन्ति=परस्परं संचूर्णयन्ति येन तस्मै (**त्वेषद्युम्नाय**) प्रकाशमानाय यशसे **द्युम्नं द्योततेर्यशोवान्नं वा।** निरु० ५। ५। (**शुष्मिणे**) शुष्यति=बलयति येन व्यवहारेण स बहुर्विद्यते यस्मिँस्तस्मै। अत्र **भूम्न्यर्थ इनिः।** (**देवत्तम्**) यद्देवेनेश्वरेण दत्तं विद्वद्भिर्वाध्यापकेन तत् (**ब्रह्म**) वेदम् (**गायत**) षड्जादिस्वरैरालपत॥

प्रमाणार्थ—(**त्वेषद्युम्नाय**) 'द्युम्नम्' यह पद निरुक्त (५। ५) के अनुसार 'द्युत्' धातु से बनता है तथा इसका अर्थ यश अथवा अन्न है। (**शुष्मिणे**) यहाँ 'भूमा' अर्थ में 'इनि' प्रत्यय है—भूमा=अधिक॥ ४॥

अन्वयः—हे विद्वांसो मनुष्या य इमे वायवो वो युष्माकं शर्धाय घृष्वये शुष्मिणे त्वेषद्युम्नाय सन्ति तन्नियोगेन देवत्तं ब्रह्म यूयं प्रगायत॥ ४॥

सपदार्थान्वयः—हे विद्वांसो मनुष्याः! **य इमे वायवो वः=युष्माकं शर्धाय** बलाय **घृष्वये** (वः) तुम्हारे (**शर्धाय**) बल (**घृष्वये**) परस्पर

भाषार्थ—हे विद्वान् मनुष्यो! जो ये वायु-

घर्षन्ति=परस्परं संचूर्णयन्ति येन तस्मै **शुष्मिणे** शुष्यति=बलयति येन व्यवहारेण स बहुविद्यते यस्मिँस्तस्मै **त्वेषद्युम्नाय** प्रकाशमानाय यशसे **सन्ति, तन्नियोगेन देवत्तं** यद्देवेनेश्वरेण दत्तं विद्वद्भिर्वाऽध्यापकेन तत् **ब्रह्म** वेदं **यूयं [प्र]+गायत** प्रीतिपूर्वकं षड्जादिस्वरैरालपत ॥ ४ ॥

भावार्थः — विद्वद्भिर्मनुष्यैरीश्वरोक्तान् वेदानधीत्य वायुगुणान् विदित्वा यशस्वीनि बलकारकाणि कर्माणि नित्यमनुष्ठाय सर्वेभ्यः प्राणिभ्यः सुखानि देयानीति ॥ ४ ॥

घर्षण = संचूर्णन = लड़ना-भिड़ना, **(शुष्मिणे)** अत्यन्त बलयुक्त व्यवहार और **(त्वेषद्युम्नाय)** प्रकाशमान यश के लिये हैं, उनके नियोग से **(देवत्तम्)** ईश्वर, विद्वान् या अध्यापक के द्वारा दिये हुये **(ब्रह्म)** वेद का तुम **([प्र]+गायत)** प्रीतिपूर्वक षड्ज आदि स्वरों से गान करो ॥

भावार्थ—विद्वान् मनुष्य—ईश्वरोक्त वेदों को पढ़कर, वायु-गुणों को जानकर, यशस्वी और बलकारक कर्मों का नित्य अनुष्ठान करके, सब प्राणियों को सुख देवें ॥ ४ ॥

भाष्यसार—**विद्वान् वायु से किस प्रयोजन के लिये क्या करें**—वायु-बल, परस्पर घर्षण, अत्यन्त बलयुक्त व्यवहार और यश की प्राप्ति के लिये हैं। विद्वान् मनुष्य वायु के नियोग से ईश्वर, विद्वान् या अध्यापक द्वारा दिये हुये वेद का षड्ज आदि स्वरों में गान करें ॥ ४ ॥

समीक्षा (म० दयानन्द)—मोक्षमूलरोक्तिः—येषां गृहेषु वायवो देवता आगच्छन्ति, हे कण्वा! यूयं तेषामग्रे ता देवता स्तुत। ताः कीदृश्यः सन्ति? उन्मत्ता विजयवत्यो बलवत्यश्च। अत्र मं० ४। सू० १७। मं० २। इदमत्रप्रमाणमस्तीत्यशुद्धास्ति। यच्चात्र मन्त्रप्रमाणं दत्तं तत्रापि तदभीष्टोर्थो नास्तीत्यतः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—मोक्षमूलर का यह कथन—"जिनके घरों में वायु देवता आते हैं, हे बुद्धिमान् मनुष्यो! तुम उनके आगे उन देवताओं की स्तुति करो। वे देवता कैसे हैं? वे उन्मत्त, विजय वाले और बलवान् हैं। इसमें ऋग्वेद (मं० ४। सू० १७। मं० २) का यह मन्त्र प्रमाण है,"—अशुद्ध है। क्योंकि जो यहां मन्त्र का प्रमाण दिया है, वहाँ भी वह अर्थ अभीष्ट नहीं है ॥ ४ ॥

समीक्षा (राजवीर शास्त्री)—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे ऋत्विजो! तुम्हारे से सम्बद्ध, सहनशील, शत्रुमर्दन करने वाले, तथा प्रसिद्ध यशवाले मरुद्गण की तुम हवि लक्षण अन्न के लिये प्रकृष्ट रूप से स्तुति करो। वह हवि कैसी है, जो देवों के अनुग्रह से प्राप्त हुई है।"

इस मन्त्र में मरुद्देव=वायु के गुणों का ज्ञान करने के निम्न प्रयोजन बताये हैं—शर्धाय=बल व पराक्रम का साधन वायु है। घृष्वये=पदार्थों के घर्षण व सञ्चूर्णन का कारण वायु है। त्वेषद्युम्नाय=यशस्वी होने के लिये (प्राणायामादि योगविद्या तथा यानादि में उपयोग द्वारा) वायु का आश्रय आवश्यक है। और शुष्मिणे=बलयुक्त व्यवहारों का साधन भी वायु है। इन वायु के गुणों को वेदों से जानकर मनुष्य ईश्वरप्रदत्त ब्रह्म=वेदज्ञान का प्रगायत=प्रकृष्ट रूप से गान करे। ऐसे शिक्षाप्रद अर्थ को न जानकर सायण ने मरुद्देव की स्तुति का ही वर्णन लिखा है। क्या ये मरुद्देव हमारे यशोगान से प्रसन्न होकर हमारा विशेष लाभ कर सकते हैं? जड़देव से ऐसी निरर्थक आशायें करना सर्वथा ही मूर्खता का कार्य है। अतः सायण की वायु के गान की बात मिथ्या है। और 'ब्रह्म=अन्नम्' यह सायण की व्याख्या यहाँ संगत नहीं है। यहाँ 'ब्रह्म' की व्याख्या 'वेद' ही ठीक है। क्योंकि वह

---

१. हे ऋत्विजः! वः युष्माकं सम्बन्धिने शर्धाय प्रसहनशीलाय घृष्वये शत्रुघर्षणयुक्ताय त्वेषद्युम्नाय दीप्यमानयशसे शुष्मिणे बलवते, एवंभूताय मरुद्गणाय ब्रह्म हविर्लक्षणमन्नमुद्दिश्य प्रगायत स्तुध्वम्। कीदृशं ब्रह्म? देवत्तं देवैर्दत्तं देवतानुग्रहाल्लब्धम् ॥ (सायणः)

देवत्तम्=परमदेव परमेश्वर से प्रदत्त है। और वेद के द्वारा ही वायु आदि देवों के सत्यगुणों का ज्ञान होता है। जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य वायु आदि से भी लाभप्राप्त करता है ॥ ४ ॥ ●

घौरः कण्व ऋषिः। **मरुतः (वायवः)** देवताः। विराड्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

पुनरेतेषां योगेन किं किं भवतीत्युपदिश्यते ॥

फिर इन **पवनों** के योग से क्या क्या होता है, यह उपदेश किया जाता है ॥

प्र शंसा गोष्वघ्न्यं क्रीळं यच्छर्धो मारुतम्। जम्भे रसस्य वावृधे ॥ ५ ॥

प्र। शस। गोषु। अघ्न्यम्। क्रीळम्। यत्। शर्धः। मारुतम्। जम्भे। रसस्य। वावृधे ॥ ५ ॥

पदार्थः—(प्र) प्रकृष्टार्थे (**शंस**) अनुशाधि (**गोषु**) पृथिव्यादिष्विन्द्रियेषु पशुषु वा (**अघ्न्यम्**) हन्तुमयोग्यमघ्नचाभ्यो गोभ्यो हितं वा। **अघ्नचादयश्च**। उ० ४। ११६। अनेनाऽयं सिद्धः। **अघ्न्येति गोनामसु पठितम्**। निघं० २। ११। (**क्रीडम्**) क्रीडति येन तत् (**यत्**) (**शर्धः**) बलम् (**मारुतम्**) मरुतो विकारो मारुतस्तम् (**जम्भे**) जभ्यन्ते=गात्राणि विनाम्यन्ते चेष्टचन्ते येन मुखेन तस्मिन् (**रसस्य**) भुक्तान्नत उत्पन्नस्य शरीरवर्द्धकस्य भोगेन (**वावृधे**) वर्धते। अत्र **तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य** इति दीर्घः ॥

प्रमाणार्थ—(**अघ्न्यम्**) 'अघ्न्यादयश्च' (४। ११६) इस उणादि सूत्र से यह पद सिद्ध है। 'अघ्न्याः' यह पद निघण्टु (२। ११) में गो-नामों में पढ़ा है। (**वावृधे**) यहाँ 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (अ० ६। १। ७) इस सूत्र से दीर्घ है ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे विद्वंस्त्वं यद् गोषु क्रीडमघ्न्यं मारुतं जम्भे रसस्य सकाशादुत्पद्यमानं शर्धो बलं ववृधे तन्मह्यं प्रशंस नित्यमनुशाधि ॥ ५ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे विद्वन्! त्वं यद् गोषु** पृथिव्यादिष्विन्द्रियेषु पशुषु वा **क्रीडं** क्रीडति येन तत् **अघ्न्यं** हन्तुमयोग्यमघ्न्याभ्यो गोभ्यो हितं वा **मारुतं** मरुतो विकारो मारुतस्तं **जम्भे** जभ्यन्ते=गात्राणि विनाम्यन्ते=चेष्टचन्ते येन मुखेन तस्मिन् **रसस्य** भुक्तान्नत उत्पन्नस्य शरीरवर्द्धकस्य भोगेन **सकाशादुत्पद्यमानं शर्धः=बलं ववृधे** वर्धते, **तन्मह्यं प्र+शंस=नित्यमनुशाधि** प्रकृष्टतयानुऽशाधि ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यद्वायुसम्बन्धिशरीरादिषु क्रीडाबलवर्धनमस्ति तन्नित्यं वर्धनीयम्। यावद्रसादिज्ञानं तत्सर्वं वायुसन्नियोगेनैव जायते अतः सर्वैः परस्परमेवमनुशासनं कार्यं यतः सर्वेषां वायुगुणविद्या विदिता स्यात् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—हे विद्वन् आप—जो (**गोषु**) पृथिवी आदि, इन्द्रियों या पशुओं में (**क्रीडम्**) क्रीडा का निमित्त (**अघ्न्यम्**) हनन न करने योग्य या अघ्न्या=गौओं के लिये हितकारी (**मारुतम्**) वायु-विकार है, वह—(**जम्भे**) मुख में (**रसस्य**) खाये हुये अन्न से उत्पन्न, शरीर-वर्द्धक रस से उत्पन्न (**शर्धः**) बल को (**ववृधे**) बढ़ाता है, उसे मेरे लिये (**प्र+शंस**) नित्य उपदेश करो ॥ ५ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य—जो वायु से सम्बंधित शरीर आदि में क्रीडा और बल की वृद्धि है, उसको नित्य बढ़ावें। जितना रस आदि का ज्ञान है, वह सब वायु के योग से ही उत्पन्न होता है, अतः सब परस्पर इस प्रकार शिक्षा करें। जिससे सब को वायु की गुण-विद्या विदित हो जाये ॥ ५ ॥

भाष्यसार—**वायु के योग से क्या-क्या होता है**—वायु—पृथिवी आदि में इन्द्रियों में

और गौ आदि पशुओं में क्रीडा का निमित्त है। वह हनन करने अयोग्य गौ आदि प्राणियों के लिये हितकारी है। वह खाये हुये अन्न से उत्पन्न रस से बल को बढ़ाता है। विद्वान् मनुष्य—वायुविद्या का नित्य उपदेश करे ॥ ५ ॥

समीक्षा (म० दयानन्द)—मोक्षमूलरोक्तिः—स प्रसिद्धो वृषभो गवां मध्ये, अर्थात् पवनदलानां मध्य उपाधिवर्धितो जातः सन् यथा तेन मेघावयवाः खादिताः, कुतः ? अनेन मरुतामादरः कृतस्तस्मादित्यशुद्धास्ति, कथं ? अत्र यद्गवां मध्ये मारुतं बलमस्ति। तस्य प्रशंसाः कार्य्याः। यच्च प्राणिभिर्मुखेन खाद्यते तदपि मारुतं बलमस्तीति। अत्र जम्भशब्दार्थे विलसनमोक्षमूलराख्यविवादो निष्फलोस्ति ॥ ५ ॥

भाषार्थ—मोक्षमूलर का यह कथन—"यह प्रसिद्ध वृषभ गौओं के मध्य में अर्थात् पवनदलों के मध्य में उपाधि से बढ़ा हुआ उत्पन्न होता है, और इसलिये उसने मेघ-अवयवों को खा लिया, क्योंकि इसने पवनों का आदर किया,"—अशुद्ध है। क्योंकि यहाँ गौ अर्थात् पृथिवी आदि के मध्य में पवनों का बल है, उसकी प्रशंसा करनी चाहियें, और प्राणी जो मुख से खाते हैं, वह भी पवनों का बल है। यहाँ 'जम्भ' शब्द के अर्थ में विलसन और मोक्षमूलर का विवाद भी निष्फल है।

समीक्षा (राजवीर शास्त्री)—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे ऋत्विजो ! मरुद्देवों की मातृस्थानीय पृश्नि आदि गायों में स्थित, न मारने योग्य, विहार से युक्त, मरुद्देव सम्बन्धी जो सहनशील तेज है, उसकी तुम स्तुति करो। गायों के दूध से सम्बद्ध वह तेज मुख या पेट में बढ़ गया है ॥"

इस मन्त्र की व्याख्या में 'गोषु' पद का संगत अर्थ न समझने के कारण सायण ने यहाँ यह व्याख्या की है कि मरुद्देवों का शर्धः=बल गायों में स्थित है और गायें मरुद्देवों की माता हैं। यह सायण की व्याख्या वैदिककोष निघण्टु आदि की उपेक्षा करके लौकिक अर्थों के आश्रय से होने के कारण असंगत है। मरुद्देवों की माता गायों को कहना विज्ञान के विरुद्ध तथा सृष्टि नियम के विरुद्ध होने से अनर्गल-प्रलाप मात्र ही है। क्योंकि मरुद्देवों की उत्पत्ति गो=गायों से नहीं हो सकती। वैदिकशास्त्रों के अनुसार 'गो' शब्द के पृथिवी, इन्द्रिय, किरण, गायादि विभिन्न अर्थ हैं। उनके अनुसार मरुत्=वायु के कारण ही पृथिवी आदि व इन्द्रियादि में समस्त चेष्टायें हो रही हैं।

और 'जम्भे रसस्य वावृधे' पदों की व्याख्या में सायण की यह भ्रान्ति है कि उन्होंने 'रसमय=गोक्षीररूपस्य' अर्थ करके 'रस' शब्द से 'गायों का दूध' अर्थ ही किया है। यह मरुद्देव=वायु तो जो कुछ भी हम खाते हैं, उसके रस से हमारे शारीरिक बल को बढ़ाता है। केवल 'गोदूध' अर्थ करना संकुचित तथा पूर्ण ज्ञान के अभाव को ही बताता है। महर्षि-दयानन्द की व्याख्या में सायण की भांति किसी प्रकार की असंगति नहीं है ॥ ५ ॥ ●

---

१. गोषु मरुन्मातृभूतपृश्निप्रभृतिषु धेनुष्ववस्थितम् अघ्न्यम् अहन्तव्यम्, क्रीळं विहारोपेतं मारुतं मरुत्संबन्धिशर्धः प्रसहनशीलं तेजो यत् अस्ति तत् प्रशंस=हे ऋत्विक्समूह स्तुहि। रसस्य गोक्षीररूपस्य संबन्धि तत् तेजः जम्भे मुखे उदरे वा ववृधे वृद्धमभूत् ॥ (सायणः)

धौरः कण्व ऋषिः । **मरुतः (वायवः)** देवताः । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनरेतेभ्यो प्रजाराजजनाभ्यां किं किं कार्य्यं ज्ञातव्यं चेत्युपदिश्यते ॥

फिर इन पवनों से प्रजा और राजा को क्या क्या करना और जानना चाहिये, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

को वो वर्षिष्ठ आ नरो दिवश्च ग्मश्च धूतयः । यत्सीमन्तं न धूनुथ ॥ ६ ॥

कः । वः । वर्षिष्ठः । आ । नरः । दिवः । च । ग्मः । च । धूतयः । यत् । सीम् । अन्तम् । न । धूनुथ ॥६॥

पदार्थः—(**कः**) प्रश्ने (**वः**) युष्माकं मध्ये (**वर्षिष्ठः**) अतिशयेन वृद्धः (**आ**) समन्तात् (**नरः**) नयन्ति ये ते नरस्तत्संबुद्धौ (**दिवः**) द्योतकान् सूर्यादिलोकान् (**च**) समुच्चये (**ग्मः**) प्रकाशरहितपृथिव्यादिलोकान् । **ग्मेति पृथिवीनामसु पठितम्** । निघंटु १ । १ । अत्र **गमधातोर्बाहुलकादौणादिक आप्रत्यय उपधालोपश्च** । (**च**) सत्संबन्धिनश्च (**धूतयः**) धून्वन्ति ये ते (**यत्**) ये (**सीम्**) सर्वतः (**अन्तम्**) वस्त्रप्रान्तम् (**न**) इव (**धूनुथ**) शत्रून् कम्पयत ॥ ६ ॥

प्रमाणार्थ—(**ग्मः**) 'ग्मा' यह पद निघण्टु (१ । १) में पृथिवी नामों में पढ़ा है, यहाँ 'गम्' धातु से बहुल करके औणादिक आ प्रत्यय और उपधा का लोप है ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे धूतयो नरो विद्वांसो मनुष्या यद्ये यूयं दिवः सूर्यादिप्रकाशकाँल्लोकाँस्तत्सम्बधिनोऽन्याँश्च ग्मः=पृथिवीस्तत्संबन्धिन इतराँश्च सीं सर्वतस्तृणवृक्षाद्यवयवान् कम्पयन्तो वायवो नेव शत्रुगणानामन्तं यदाधूनुथ समन्तात्कम्पयत तदा वो युष्माकं मध्ये को वर्षिष्ठो विद्वान्न जायेत ॥६॥

सपदार्थान्वयः—हे **धूतयः** धून्वन्ति ये ते **नरः**=**विद्वांसो मनुष्याः** ! नयन्ति ये ते नरस्तत्सम्बुद्धौ **यद् ये यूयं दिवः=सूर्य्यादिप्रकाशकाँल्लोकाँस्तत्सम्बन्धिनोऽन्याँश्च** द्योतकान् सूर्य्यादिलोकान् **ग्मः=पृथिवीस्तत्सम्बन्धिन इतराँश्च**=प्रकाशरहितपृथिव्यादिलोकान् **सीं=सर्वतस्तृणवृक्षाद्यवयवान् कम्पयन्तो वायवो न=इव शत्रुगणानामन्तं** वस्त्रप्रान्तं **यदाऽऽधूनुथ=समन्तात् कम्पयत तदा वः=युष्माकं मध्ये को वर्षिष्ठः** अतिशयेन वृद्धः **विद्वान् न जायेत** ॥ ६ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालंकारः । विद्वद्भी राजपुरुषैर्यथाकश्चिद्बलवान्मनुष्यो निर्बलं केशान् गृहीत्वा कम्पयति यथा च वायवः सर्वान् लोकान् धृत्वा कम्पयित्वा चालयित्वा स्वं स्वं परिधिं प्रापयन्ति तथैव सर्वं शत्रुगणं प्रकम्प्य तत्स्थानात्प्रचाल्य प्रजा रक्षणीया ॥ ६ ॥

भाषार्थ—हे (**धूतयः**) शत्रुओं को कंपाने वाले (**नरः**) विद्वान् मनुष्यो ! (**यत्**) जो तुम—(**दिवः**) सूर्य आदि प्रकाशक तथा तत्सम्बन्धी अन्य लोकों को और (**ग्मः**) प्रकाश रहित पृथिवी आदि और तत्सम्बन्धी इतर लोकों को (**सीम्**) सब ओर से तृण तथा वृक्ष आदि के अवयवों को कंपाते हुए पवनों के (**न**) समान शत्रुगणों के (**अन्तम्**) वस्त्रप्रान्त को जब (**आधूनुथ**) सब ओर से कंपाते हो तब (**वः**) तुम्हारे मध्य में (**कः**) कौन (**वर्षिष्ठः**) अत्यन्त वृद्ध विद्वान् प्रसिद्ध न हो ॥ ६ ॥

भावार्थ—यहाँ उपमा अलंकार है । विद्वान् राजपुरुष—जैसे कोई बलवान् मनुष्य निर्बल को केश पकड़कर कंपाता है, और जैसे वायु सब लोकों को धारण करके, कंपाकर, चलाकर अपनी-अपनी परिधि में प्राप्त कराते हैं, वैसे ही सब शत्रुगण को कंपाकर, उनके स्थानों से चलायमान करके प्रजा की रक्षा करें ॥ ६ ॥

भाष्यसार—**इन पवनों से प्रजा और राजा क्या क्या करें और जानें**—जैसे पवन सूर्य आदि प्रकाशक तथा तत्सम्बन्धी अन्य लोकों को और प्रकाशरहित पृथिवी तथा तत्सम्बन्धी इतर

लोकों को तथा तृण एवं वृक्ष आदि के अवयवों को कंपाते हैं, लोकों की परिधि में रखते हैं वैसे विद्वान् राजपुरुष शत्रुगणों के वस्त्र-प्रान्त सब ओर से कंपावें अर्थात् उन्हें विचलित करें जिससे तुम में अत्यन्त वृद्ध विद्वान् लोग प्रसिद्ध हों ॥ ६ ॥

अलंकार—इस मंत्र में 'न' पद उपमा-वाचक है, अतः उपमा अलंकार है। उपमा यह है कि जैसे पवन लोकों को कंपाते हैं वैसे विद्वान् राजपुरुष शत्रु-गण को कम्पित करें ॥ ६ ॥

समीक्षा (महर्षि दयानन्द)—**मोक्षमूलरोक्तिः**—हे मनुष्या ! युष्माकं मध्ये महान् कोऽस्ति ? यूयं कम्पयितार आकाशपृथिव्योः। यदा यूयं धारितवस्त्रप्रान्तकम्पनवत् तान् कम्पयत। अन्तशब्दार्थं सायणाचार्योक्तं न स्वीकुर्वे किंतु विलसनाख्यादिभिरुक्तमित्यशुद्धमिति। कुतः ? अत्रोपमालङ्कारेण यथा राजपुरुषाः शत्रूनितरे मनुष्यास्तृणकाष्ठादिकं गृहीत्वा कम्पयन्ति तथा वायवोऽग्निपृथिव्यादिकं गृहीत्वा कम्पयन्तीत्यर्थस्य विदुषां सकाशान्निश्चयः कार्य इत्युक्तत्वात् यथा सायणाचार्येण कृतोर्थो व्यर्थोस्ति तथैव मोक्षमूलरोक्तोऽस्तीति विजानीमः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—मोक्षमूलर का यह कथन कि—"हे मनुष्यो ! तुम्हारे बीच में बड़ा कौन है ? तुम आकाश और पृथिवी को कंपाने वाले हो। जब तुम धारण किये हुए वस्त्र के प्रान्त-भाग के समान उन्हें कम्पित करते हो। सायणाचार्य के कहे 'अन्त' शब्द के अर्थ को मैं स्वीकार नहीं करता किन्तु विलसन आदि के द्वारा कहे अर्थ को स्वीकार करता हूँ" अशुद्ध है। क्योंकि यहाँ उपमा अलंकार से यह कहा है कि जैसे राजपुरुष शत्रुओं को और अन्य मनुष्य तृण, काष्ठ आदि को ग्रहण करके कंपाते हैं, वैसे वायु, अग्नि, पृथिवी आदि को ग्रहण करके कंपाते हैं, इस अर्थ का विद्वानों से निश्चय करें। जैसे सायणाचार्य का किया हुआ अर्थ निरर्थक है, वैसे ही मोक्षमूलर का भी अर्थ व्यर्थ है, ऐसा मैं समझता हूँ ॥

समीक्षा (राजवीर शास्त्री)—इस मन्त्र का सायण भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे द्युलोक व पृथिवी लोक को कंपित करने वाले मरुद्देवो ! तुम्हारे मध्य में सब से बूढ़ा कौन है ? क्योंकि तुम वृक्ष के अग्रभाग की भांति सबको कम्पित कर देते हो, इसलिए कम्पाने वाले तुम्हारे बीच में कौन देव अधिक बलवान् है ?

इस मन्त्र की व्याख्या में आचार्य-सायण ने द्युलोक व पृथिवी लोक को कम्पित करने वाले वायुवों से प्रश्न किया है कि तुम्हारे बीच में कौन सबसे बड़ी आयु का वृद्ध है अथवा बलवान् है। यहाँ सायण ने यह विचार नहीं किया कि वृद्धादि आयुकृत अवस्थायें किसकी होती हैं ? क्या परमेश्वर रचित वायु आदि महाभूतों की ये अवस्थायें होती हैं, यदि होती हैं तो इनकी बाल्यावस्था किस युग में थी ? क्या उस समय मनुष्य बिना हवा के ही जीवन व्यतीत करते थे ? और अचेतन हवाओं से प्रश्न करने की क्या आवश्यकता है ? क्या ये हवायें प्रत्युत्तर दे सकती हैं ?

इत्यादि प्रश्नों का सायण-भाष्य से कोई उत्तर न मिलने से स्पष्ट है कि सायणाचार्य कृत भाष्य सारा ही असंगत है। और उन्होंने मन्त्रोक्त 'धूतयः' तथा 'नरः' सम्बोधनान्त पदों की संगति भी अनुचित लगाई है। महर्षि ने यहां इन पदों की व्याख्या शत्रुजनों को कम्पित करने वाले विद्वान् राजापरक की है, इसकी समस्त मन्त्र के पदों से संगति भी लगती है। शत्रुजनों को कम्पित करने वाले

---

१. दिवश्च द्युलोकस्यापि ग्मश्च भूलोकस्यापि धूतयः कम्पनकारिणो हे नरः नेतारो मरुतः ! वः युष्माकं मध्ये आसमन्तात् वर्षिष्ठः बृद्धतमः कः ? यत् यस्मात् कारणात् सीं सर्वतः अन्तं न वृक्षाग्रमिव धूनुथ चालयथ। तस्मात् कारणात् कम्पयितॄणां युष्माकं मध्ये कः प्रबल इति प्रश्नः ॥ (सायणः)

नरः=राजादि मनुष्य ही हो सकते हैं। और उनमें अतिशय वृद्धादि प्रश्न की भी संगति लग जाती है। सायणाचार्य ने यहाँ उपमान—उपमेय भाव को समझने में भी भ्रान्ति की है। उपमान यहाँ मरुत् = हवा है, और उपमेय राजादि हैं। राजा का यह परमधर्म है कि वह शुत्रुजनों को इस प्रकार कम्पित करने में पूर्ण प्रयास करे, जैसे पवन वृक्षादि के अवयवों को कम्पित कर देता है। सायण-भाष्य से उपमान-उपमेय के भेद का कुछ भी ज्ञान नहीं होता है। अतः सायण की व्याख्या असंगत तथा भ्रान्ति-पूर्ण है ॥ ६ ॥ ●

घौरः कण्व ऋषिः। **मरुतः**। (**राजप्रजाजनाः**) देवताः। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

पुना राजप्रजाजनैः कथं भवितव्यमित्युपदिश्यते ॥

फिर वे राजा और प्रजाजन कैसे होने चाहियें, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

नि वो यामाय मानुषो दध्र उग्राय मन्यवे । जिहीत पर्वतो गिरिः ॥ ७ ॥

नि । वः । यामाय । मानुषः । दध्रे । उग्राय । मन्यवे । जिहीत । पर्वतः । गिरिः ॥ ७ ॥

पदार्थः—(**नि**) निश्चयार्थे (**वः**) युष्माकम् (**यामाय**) यथार्थव्यवहारप्रापणाय। **अर्त्तिस्तुसु०**। उ० १ । १३९। इति याधातोर्मप्रत्ययः (**मानुषः**) सभापतिर्मनुजः (**दध्रे**) धरति। अत्र **लडर्थे लिट्**। (**उग्राय**) तीव्रदण्डाय (**मन्यवे**) क्रोधरूपाय (**जिहीत**) स्वस्थानाच्चलति। अत्र **लडर्थे लिङ्**। (**पर्वतः**) मेघः (**गिरिः**) यो गिरति=जलादिकं गृणाति महतः शब्दान् वा सः ॥ ७ ॥

प्रमाणार्थ—(**यामाय**) यहां 'अर्त्तिस्तुसु०' (१ । १३९) इस उणादि सूत्र से 'या' धातु से 'म' प्रत्यय है। (**दध्रे**) यहाँ लट् लकार के अर्थ में लिट् लकार है। (**जिहीत**) यहाँ 'लट्' लकार के अर्थ में 'लिङ्' लकार है।

अन्वयः—हे प्रजासेनास्था मनुष्या भवन्तो यस्य सेनापतेर्भयाद्वायोः सकाशाद् गिरिः पर्वत इव शत्रुगणो जिहीत पलायते स मानुषो वो युष्माकं यामाय मन्यव उग्राय च राज्यं [नि] दध्र इति विजानन्तु ॥

सपदार्थान्वयः— **हे प्रजासेनास्था मनुष्याः ! भवन्तो यस्य सेनापतेर्भयाद्वायोः सकाशाद् गिरिः** यो गिरति जलादिकं, गृणाति महतः शब्दान् वा **पर्वतः** मेघः **शत्रुगणो जिहीत**=पलायते स्वस्थानाच्चलति **स मानुषः** सभापतिर्मनुजः **वः**=**युष्माकं यामाय** यथार्थव्यवहारप्रापणाय **मन्यवे** क्रोधरूपाय, **उग्राय** तीव्रदण्डाय **च राज्यं [नि] दध्रे** निश्चयेन धरति **इति विजानन्तु ॥ ७ ॥**

भाषार्थ—हे प्रजा और सेना के मनुष्यो ! आप—जिस सेनापति राजा के भय से (**वायोः**) वायु से (**गिरिः**) जल को रोकने या महान् शब्द करने वाले (**पर्वतः**) मेघ के समान शत्रु-गण (**जिहीत**) भाग जाता है, अपने स्थान से चलायमान हो जाता है, वह (**मानुषः**) सभापति राजा (**वः**) तुम्हारे (**यामाय**) यथार्थ व्यवहार की प्राप्ति और (**मन्यवे**) क्रोधरूप (**उग्राय**) उग्र दण्ड के लिये राज्य को ([**नि**+]**दध्रे**) निश्चय से धारण करता है—ऐसा जानो ॥

भावार्थः—अत्र लुप्तोपमालङ्कारः। हे प्रजासेनास्था मनुष्याः युष्माकं सर्वे व्यवहारा राज्यव्यवस्थयैव वायुवद् व्यवस्थाप्यन्ते। स्व-

भावार्थ—यहाँ लुप्तोपमा अलंकार है। हे प्रजा और सेना के मनुष्यो। तुम्हारे सब व्यवहार, राज्यव्यवस्था से ही वायु के समान

नियमविचलितेभ्यश्च युष्मभ्यं वायुरिव सभाध्यक्षो भृश दण्डं दद्यात् यस्य भयाच्छत्रवश्च वायोर्मेघा इव प्रचलिता भवेयुस्तं पितृवन्मन्यध्वम् ॥ ७ ॥

व्यवस्थित किये जाते हैं । अपने नियम से विचलित हुए तुमको वायु के समान सभाध्यक्ष बहुत दण्ड देवे, और जैसे वायु से मेघ चलते हैं, वैसे जिसके भय से शत्रु चलाय मान होवें, उसको पिता के तुल्य मानो ॥ ७ ॥

भाष्यसार—**राजा और प्रजाजन कैसे हों**—जैसे वायु से मेघ भाग जाते हैं, वैसे जिस सेनापति राजा के भय से शत्रुगण पलायन करता है, वह राजा प्रजा को यथार्थ व्यवहार की प्राप्ति और उग्र दण्ड प्रदान करके राज्य को धारण करे। प्रजाजन उसे पिता के समान समझें ॥

अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है, अतः लुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि जैसे वायु से मेघ भाग जाते हैं वैसे सेनापति राजा के भय से शत्रुगण पलायन करें ॥ ७ ॥

समीक्षा (महर्षि दयानन्द)—मोक्षमूलरोक्तिः—"हे वायवो युष्माकमागमनेन मनुष्यस्य पुत्रः स्वयमेव नम्रो भवति युष्माकं क्रोधात् पलायत, इति व्यर्थास्ति कुतोऽत्र गिरिपर्वतशब्दाभ्यां मेघो गृहीतोस्ति। मानुषशब्दार्थो निदध्रे इति क्रियायाः कर्त्तास्त्यतो नात्र बालकशिरो नमनस्य ग्रहणं यथा सायणाचार्यस्य व्यर्थोर्थः तथैव मोक्षमूलरस्यापीति वेद्यम्। यदि वेदकर्त्तेश्वर एव, नैव मनुष्याः सन्तीत्येतावत्यपि मोक्षमूलरेण न स्वीकृतं तर्हि वेदार्थज्ञानस्य तु का कथा ॥ ७ ॥

भाषार्थ—मोक्षमूलर का यह कथन कि—"हे पवनो ! तुम्हारे आने से मनुष्य का पुत्र अपने आप ही नम्र हो जाता है, तुम्हारे क्रोध से डरकर भाग जाता है"—व्यर्थ है क्योंकि यहाँ 'गिरि' और 'पर्वत' शब्दों से मेघ का ग्रहण किया है। 'मानुष' शब्द का अर्थ 'निदध्रे' इस क्रिया का कर्त्ता है, इसलिये यहां 'बालक के शिर का नमन' अर्थ का ग्रहण नहीं है। जैसे सायणाचार्य का अर्थ निरर्थक है, वैसे ही मोक्षमूलर का भी है, ऐसा जानो। वेद का कर्त्ता ईश्वर ही है; मनुष्य नहीं। इतनी भी बात मोक्षमूलर ने स्वीकार नहीं की तो वेदार्थ-ज्ञान का तो कहना ही क्या है ॥

समीक्षा (राजवीर शास्त्री)—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे मरुद्देवो ! तुम्हारे गमन के लिये किसी गृहस्वामी मनुष्य ने घर की दृढ़ता के लिए दृढ़ स्तम्भ को बनाया है। तुम्हारे गमन से कम्पित होकर घर गिर जायेगा, इस भय से गृहपतन को रोकने के लिये दृढ़स्तम्भ बनाया है। तुम्हारा गमन तीव्र तथा अभिमानयुक्त है। तुम्हारे गमन से भय का होना ठीक भी है, क्योंकि तुम्हारी गति से चलयमान पर्वों (शिखरों) वाला पर्वत चलयमान हो जाता है ॥"

सायणाचार्य ने यहां भी देवता को न समझने से असंगत व्याख्या की है। सायण की यह व्याख्या कितनी अटपटी है कि गृहस्वामी मरुत्=हवा के गमन के लिये घर में दृढ़स्तम्भ लगाता है। यह हवा तो बिना दृढ़स्तम्भ लगाये भी गति करती रहती है, इसके लिये स्तम्भ लगाने की क्या आवश्यकता है। अपनी व्याख्या से सायण स्वयं भी सन्तुष्ट न हो सके और और उन्होंने इसका स्पष्टीकरण यह किया कि हवा के चलने से घर गिर न जाये, इस भय से दृढ़ स्तम्भ लगाया है। परन्तु मन्त्र में 'यामाय'

१. हे मरुतः ! वः युष्माकं यामाय गमनार्थं मानुषः गृहस्वामी कश्चिन्मनुजः निदध्रे गृहदार्ढ्यार्थं दृढं स्तम्भं निक्षिप्तवान्। भवदीयगमनेन चालितं गृहं पतिष्यतीति भीत्या तन्निवारणाय दृढस्तम्भप्रक्षेपः। कीदृशाय यामाय ? उग्राय तीव्राय मन्यवे चालनार्थमभिमन्यमानाय। युज्यते हि भवद्गमनाद् भीतिः। यतो भवद्गत्या चालितः पर्वतः बहुविधपर्वयुक्तः गिरिः शिखरी जिहीत गच्छेत् ॥ (सायणः)

के साथ दो पद और पठित हैं, जिनको सायण ने 'यामाय' का विशेषण माना है—'उग्राय मन्यवे' मरुतों की गति तीव्र=तेज तो हो सकती है, किन्तु मन्यु=क्रोधपूर्ण कहना नितान्त ही असंगत है ।

महर्षि-दयानन्द ने यहाँ 'मानुषः' का अर्थ 'सभापति राजा' किया है। राज्य का धारण इसलिये करता है कि यामाय=यथार्थ न्याय के व्यवहार को प्राप्त कराये और उग्राय मन्यवे=दुष्टादि को क्रोधरूप उग्र दण्ड देकर सुव्यवस्था कर सके। ऐसे सुसंगत अर्थ को न समझकर सायण ने अपनी अनभिज्ञता ही प्रकट की है। और मन्त्र के उत्तरार्द्ध की सायण की व्याख्या देखिये—जिहीत पर्वतो गिरिः=मरुत्=हवा के चलने से पर्वत भी चलायमान होकर गति कर जाता है। क्या हवा से पर्वत इधर-उधर गति कर सकते हैं ? सायण की ऐसी असम्भव व्याख्याओं का ही फल है कि जो लोकरूढ़ अर्थों के आश्रय से वेद-मन्त्रों से ऐसी मिथ्या-धारणओं को जन्म मिला कि पहले पर्वतों के पंख होते थे । पर्वत इधर-उधर उड़कर जाते रहते थे। इन्द्र ने पर्वतों के पंखों को काटकर इन्हें स्थिर किया। यदि सायण वैदिक ऋषियों की व्याख्याओं पर ध्यान देते, तो ऐसी मिथ्या व्याख्याओं से बच जाते। महर्षि-दयानन्द ने प्राचीन व्याख्याओं का भली भांति अनुशीलन करके और सत्यार्थ को समझकर सुसंगत व्याख्या की है। प्रस्तुत मन्त्रभाग की व्याख्या में 'पर्वतो मेघनाम (निघं० १ । १०) इस प्रमाण के अनुसार 'पर्वतो गिरिः=शब्द करनेवाला' अर्थ महर्षि ने किया है । धात्वर्थ के अनुसार 'गिरिः' का अर्थ 'शब्द करनेवाला' ठीक भी है। और मरुत्=हवा से मेघ जिहीत=इधर उधर भाग जाता है, पर्वत (पहाड़) नहीं। इस प्रकार उपमान-उपमेय भाव से महर्षि ने समस्त मन्त्र की बहुत ही सुसंगत व्याख्या की है, किन्तु सायण का भाष्य भ्रान्त एवं असंगतियों से पूर्ण है ॥ ७ ॥ ●

घौरः कण्व ऋषिः । **मरुतः** । (**वायवः**) देवताः । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तेषां योगेन किं भवतीत्युपदिश्यते ॥

फिर उन पवनों के योग से क्या होता है, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

येषामज्मेषु पृथिवी जुजुर्वाँ इव विश्पतिः । भिया यामेषु रेजते ॥ ८ ॥

येषाम् । अज्मेषु । पृथिवी । जुजुर्वान्ऽइव । विश्पतिः । भिया । यामेषु । रेजते ॥ ८ ॥

पदार्थः—(**येषाम्**) महताम् (**अज्मेषु**) प्रापकक्षेपकादिगुणेषु सत्सु (**पृथिवी**) भूः (**जुजुर्वान् इव**) यथा वृद्धावस्थां प्राप्तो मनुष्यः । जॄष **वयोहानावित्यस्मात् क्वसुः । बहुलं छन्दसि** इत्युत्वम् । **वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्तीति 'हलि च'** इति दीर्घो न (**विश्पतिः**) विशां प्रजानां पालको राजा (**भिया**) भयेन (**यामेषु**) स्वस्वगमनरूपमार्गेषु (**रेजते**) कम्पते=चलति ॥ ८ ॥

प्रमाणार्थ—(**जुजुर्वान् इव**) यहां आयु-नाश अर्थवाली '**जॄष्**' धातु से 'क्वसु' प्रत्यय बहुलं छन्दसि (अ० ७ । १ । १०३) इस सूत्र से ऋकार को उकार आदेश 'वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति' (महा० १ । ४ । ९) इस परिभाषा से उपधा को दीर्घ नहीं हुआ, जो कि 'हलि च' (अ० ८ । २ । ७७) इस सूत्र से प्राप्त था ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे विद्वांसो येषां मरुतामज्मेषु सत्सु भिया जुजुर्वानिव वृद्धो विश्पतिः पृथिव्यादि-लोकसमूहो यामेषु रेजते कम्पते चलति तान् कार्य्येषु संप्रयुङ्ध्वम् ॥ ८ ॥

सपदार्थान्वयः—हे विद्वांसः ! येषां **मरुतां** महताम् **अज्मेषु** प्रापकक्षेपकादिगुणेषु **भाषार्थ**—हे विद्वानो ! (**येषाम्**) जिन (**महताम्**) महान् पवनों के (**अज्मेषु**) पहुंचाने

सत्सु **भिया** भयेन **जुजुर्वान् इव** यथा वृद्धावस्थां प्राप्तो मनुष्यः **वृद्धो विश्पतिः** विशां=प्रजानां पालको राजा **[पृथिवी] पृथिव्यादिलोकसमूहः** भूः **यामेषु** स्वस्वगमनरूपमार्गेषु **रेजते=कम्पते=चलति, तान् कार्येषु संप्रयुङ्ध्वम्** ॥ ८ ॥

और फेंकने आदि गुणों के होने से **(भिया)** भय से **(जुजुर्वान्, इव)** वृद्धावस्था को प्राप्त **(विश्पतिः)** प्रजा-पालक राजा के समान **[पृथिवी]** पृथिवी आदि लोक-समूह **(यामेषु)** अपने-अपने गमन-रूप मार्गों में **(रेजते)** कांपता है, चलता है--उन पवनों का कार्यों में संप्रयोग करो ॥ ८ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालंकारः। यथा जीर्णावस्थां प्राप्तः कश्चिद्राजा रोगैः शत्रूणां भयेन वा कम्पते तथा वायुभिः सर्वतो धारितः पृथिवीलोकः स्वपरिधौ प्रतिक्षणं भ्रमति एव सर्वे लोकाश्च। नहि सूत्रवद्वेष्टनेन वायुना कस्यचिल्लोकस्य स्थितिर्भमणं च संभवतीति ॥ ८ ॥

भावार्थ—यहां उपमा अलंकार है। जैसे वृद्धावस्था को प्राप्त कोई राजा रोग अथवा शत्रुओं के भय से कांपता है। वैसे वायु द्वारा सब ओर से धारण किया हुआ पृथिवी लोक अपनी परिधि में प्रतिक्षण घूमता रहता है और इसी प्रकार सब लोक घूमते हैं। धागे के समान लिपटी हुई वायु के बिना किसी लोक की स्थिति और भ्रमण सम्भव नहीं है ॥ ८ ॥

भाष्यसार—पवनों के योग से क्या होता है—पवनों में प्रापक और क्षेपक आदि गुण हैं। जैसे वृद्धावस्था को प्राप्त हुआ राजा रोगों से या शत्रुओं के भय से कांपता है, वैसे वायु के गुणों से पृथिवी आदि लोक-समूह अपने-अपने गमनरूप मार्गों में कांपता है अर्थात् वायु से धारण किया हुआ उक्त लोक-समूह अपनी परिधि में प्रतिक्षण घूमता है। लोकों के साथ सूत्र के समान वेष्टित वायु के बिना किसी लोक की स्थिति और भ्रमण संभव नहीं। अतः विद्वान् पवनों का कार्यों में संप्रयोग करें ॥ ८ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में 'इव' पद उपमा-वाचक है, अतः उपमा अलंकार है। उपमा यह है कि जैसे वृद्धावस्था को प्राप्त राजा कांपता है, वैसे वायु से सब लोक-समूह कांपता है, चलता है ॥

समीक्षा (महर्षि-दयानन्द)—मोक्षमूलरोक्तिः—येषां मरुतां धावने पृथिवी निर्बलराजवद्भयेन मार्गेषु कम्पते, संस्कृतरीत्यायं महान् दोषो यत् स्त्रीलिङ्गोपमेयेन सह पुँल्लिङ्गोपमानं दीयत इत्यलीकास्ति, कुतो वायोर्योगेनैव पृथिव्या धारणभ्रमणे संभूय तद्भीषणेनैव पृथिव्यादीनां लोकानां स्वरूपस्थितिर्भवति, नायं लिङ्गव्यत्ययेनोपमालङ्कारे दोषो भवितुमर्हति। मनोवद्वायुर्गच्छति, वायुरिव मनो गच्छति, श्येनवन्मेना गच्छति, स्त्रीवत् पुरुषः पुरुषवत् स्त्री, हस्तिवन्महिषी हस्तिनीवद्वा, चन्द्रवन्मुखम्, सूर्यप्रकाश इव राजनीतिरित्यादिनास्य शोभनत्वात् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—मोक्षमूलर का यह कथन है कि—जिन पवनों के दौड़ने पर पृथिवी निर्बल राजा के समान भय से मार्गों में कांपती है। यहां संस्कृत-भाषा की रीति से यह महान् दोष है कि स्त्रीलिङ्ग उपमेय के साथ पुल्लिङ्ग उपमान दिया गया है" मिथ्या है, क्योकि वायु के योग से ही पृथिवी के धारण और भ्रमण संभव होकर उसके भीषण=भयंकर होने से ही पृथिवी आदि लोकों की स्वरूप में स्थिति होती है। यह लिङ्ग-व्यत्यय से उपमा-अलंकार में दोष नहीं हो सकता। जैसे—मन के समान वायु चलता है, श्येन=बाज पक्षी के समान मेना चलती है, स्त्री के समान पुरुष है, पुरुष के समान स्त्री है, हाथी या हथिनी के समान भैंस है, चन्द्रमा के समान मुख है, सूर्य-प्रकाश के समान राजनीति है, इत्यादि

उदाहरणों में लिङ्ग-व्यत्यय से उपमेय के साथ उपमान दिया है, जो ठीक है। अतः लिङ्ग-व्यत्यय से मन्त्रोक्त उपमेय-उपमान भी शुद्ध है ॥ ८ ॥

समीक्षा (राजवीर शास्त्री)—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे मरुद्देवो तुम्हारे गमन तथा क्षेपण=फेंकने से पृथिवी कांपती है। इसमें यह दृष्टान्त है, जैसे वृद्धावस्था तथा रोगादि से क्षीण होने से राजा शत्रुभय से कांपता है ॥"

इस मन्त्र में मरुत्=हवा के गुणों का वर्णन किया गया है कि हवा अज्म=वस्तुओं का इधर उधर गति से प्रापक है और क्षेपक=फेंकने वाला है। और पृथिवी आदि समस्त लोक वायु के आश्रय से ही अपनी-अपनी परिधियों में भ्रमण कर रहे हैं। सायण-भाष्य से वायु के इन गुणों का बोध नहीं होता। क्योंकि लौकिक रूढ अर्थों का आश्रय करके सायण ने व्याख्या की है। जैसे उनकी व्याख्या में पृथिवी का अर्थ 'भूमि' ही किया है महर्षि ने 'पृथिव्यादिलोकसमूह' अर्थ किया है। और सायण यहां अपनी मान्यता का भी निर्वाह करने में असमर्थ रहे हैं कि समस्त मन्त्रों में याज्ञिक-अर्थों का ही वर्णन है। इस मन्त्र के सायण-भाष्य में किसी भी याज्ञिक अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं है ॥ ८ ॥

घौरः कण्व ऋषिः। **मरुतः** (**वायवः**) देवताः। निचृद्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

पुनस्ते वायवः कीदृशगुणाः सन्तीत्युपदिश्यते ॥

फिर वे वायु कैसे गुण वाले हैं, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

स्थिरं हि जानमेषां वयो मातुर्निरेतवे। यत्सीमनु द्विता शवः ॥ ९ ॥

स्थिरम्। हि। जानम्। एषाम्। वयः। मातुः। निःऽएतवे। यत्। सीम्। अनु। द्विता। शवः ॥ ९ ॥

पदार्थः—(**स्थिरम्**) गमनरहितम् (**हि**) खलु (**जानम्**) जायते यस्मात्तदाकाशम्। अत्र **जनधातोर्घञ् स्वरव्यत्ययेनाद्युदात्तत्वम्। सायचार्येणेदं जनिवध्योरित्यादीनामबोधादुपेक्षितम्** (**एषाम्**) वायूनाम् (**वयः**) पक्षिणः (**मातुः**) अन्तरिक्षस्य मध्ये (**निरेतवे**) निरन्तरमेतुं=गन्तुम् (**यत्**) (**सीम्**) सर्वतः (**अनु**) अनुक्रमेण (**द्विता**) द्वयोः शब्दस्पर्शयोर्गुणयोर्भावः (**शवः**) बलम्। **शव इति बलनामसु पठितम्।** निघं० २। ९ ॥ ९ ॥

प्रमाणार्थ—(**जानम्**) यहाँ 'जन' धातु से 'घञ्' प्रत्यय और स्वर-व्यत्यय से आद्युदात्त है। (**शवः**) यह पद निघण्टु (२। ९) में बल-नामों में पढ़ा है ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या एषां यत् स्थिरं जानं शवो बलं द्विता वर्त्तते यदाश्रित्य [हि] वयः पक्षिणो मातुरन्तरिक्षस्य मध्ये सीं निरेतवे शक्नुवन्ति तान् भवन्तोऽनुविजानन्तु ॥ ९ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे मनुष्या ! एषां** वायूनां **यत् स्थिरं** गमनरहितं **जानं** जायते यस्मात्तदाकाशं **शवः=बलं द्विता** द्वयोः शब्दस्पर्शयोर्गुणयोर्भावः **वर्त्तते; यदाश्रित्य** [**हि**] खलु **वयः**=

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! (**एषाम्**) इन पवनों का जो (**स्थिरम्**) निश्चल (**जानम्**) जन्म-स्थान आकाश, (**शवः**) बल और (**द्विता**) दो शब्द और स्पर्श गुणों का भाव है, जिसके आश्रय से

१. हे मरुतः ! युष्माकं यामेषु गमनेषु अज्मेषु क्षेपकेषु सत्सु पृथिवी भूमिः रेजते कम्पते। तत्र दृष्टान्तः जुजुर्वाँ इव विश्पतिः। यथा वयोहानि रोगादिना जीर्णः प्रजापालको राजा वैरिभयात् कम्पते तद्वत् ॥ (सायणः)

पक्षिणो मातुः=अन्तरिक्षस्य मध्ये **सीं** सर्वतः **निरेतवे** निरन्तरमेतुं=गन्तुं **शक्नुवन्ति, तान् भवन्तोऽनु+विजानन्तु** ॥ ६ ॥

[**हि**] ही (**वयः**) पक्षी (**मातुः**) अन्तरिक्ष के मध्य में (**सीम्**) सब ओर से (**निरेतवे**) निरन्तर गति कर सकते हैं—उन्हें आप (**अनु+विजानन्तु**) अनुक्रम से जानो ॥ ६ ॥

भावार्थः— य इमे कार्यवायव आकाशादुत्पद्येतस्ततो गच्छन्त्यागच्छन्ति यत्र यत्रावकाशस्तत्र तत्र येषां सर्वतो गमनं संभवति। सर्वे प्राणिनो याननुजीवनं प्राप्य बलवन्तो भवन्ति तान् युक्त्या यूयं सेवध्वम् ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो ये कार्यरूप वायु आकाश से उत्पन्न होकर इधर-उधर आते-जाते हैं, जहाँ-जहाँ अवकाश है वहाँ-वहाँ जिनका सब ओर से गमन सम्भव है, सब प्राणी जिनसे जीवन प्राप्त करके बलवान् होते हैं, उनका तुम युक्ति से सेवन करो ॥

भाष्यसार—वायु कैसे गुण वाले हैं—इन पवनों का जन्मस्थान स्थिर आकाश है अर्थात् ये आकाश से उत्पन्न होकर इधर-उधर आते-जाते हैं। इनमें बल गुण है अर्थात् सब प्राणी इनसे बल प्राप्त करके बलवान् होते हैं। इनमें शब्द और स्पर्श गुण भी विद्यमान रहते हैं। इनके आश्रय से ही पक्षी आकाश में गति कर सकते हैं। मनुष्य इन्हें अनुक्रम से जानें और युक्ति से इनका सेवन करें ॥ ६ ॥

समीक्षा (म० दयानन्द)—मोक्षमूलरोक्तिः—सत्यमेव वायूनामुत्पत्तिस्तेषां सामर्थ्यं मातुः सकाशादागच्छत्येतेषां सामर्थ्यं द्विगुणं चास्तीति, निष्प्रयोजनास्येयं व्याख्याऽस्ति। कुतः, सर्वेषां द्रव्याणामुत्पत्तिः स्वस्वकारणानुकूलत्वेन बलवती जायते तेषां कार्याणां मध्ये कारणगुणा आगच्छन्त्येव वयः शब्देन किल पक्षिणो ग्रहणमस्तीत्यतः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—मोक्षमूलर का यह कथन है कि—"सत्य ही पवनों की उत्पत्ति और उनका सामर्थ्य माता से आता है, और इनका सामर्थ्य द्विगुणा है" व्यर्थ है; क्योंकि सब द्रव्यों की उत्पत्ति अपने-अपने कारण के अनुकूल बलवती होती है, उन कार्यों में कारण के गुण आते हैं, और 'वयः' शब्द से पक्षी अर्थ का ग्रहण है ॥ ६ ॥

समीक्षा (राजवीर शास्त्री)—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"इन मरुद्देवों का जन्म-स्थान आकाश निश्चय से स्थिर है। मरुद्देवों के जन्मस्थान आकाश से पक्षी जाने में समर्थ होते हैं। उस आकाश से मरुद्देवों का जन्म होता है, इससे मरुतों की स्तुति है। क्योंकि मरुद्देवों का बल क्रम से द्युलोक व पृथिवीलोक को विभक्त करके वर्त्तमान है, अतः मरुद्देवों का जन्मस्थान स्थिर है ॥"

इस मन्त्र में मरुद्देवों का जन्मस्थान आकाश बताया है। इसलिये आकाश मरुद्देवों का मातृ-स्थानीय है। सायण तथा दयानन्द दोनों ने ही इसी प्रकार की व्याख्या की है। शास्त्रकारों ने भी वेदों को समझकर ऐसा ही लिखा है—'तस्माद्वा एतस्माद् आत्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः०।' (तैत्तिरीय उपनिषद्) अर्थात् आकाश के पश्चात् वायु की उत्पत्ति होती है। प्रस्तुत मन्त्र में मरुत्=हवा के गुणों का भी वर्णन किया है अर्थात् द्विता=वायु में शब्द तथा स्पर्श दो गुणों का

---

१. एषां मरुतां जानं जन्मस्थानमाकाशं स्थिरं हि चलनरहितं खलु। मातुः मरुतां जननीस्थानीयादाकाशात् वयः पक्षिणः निरेतवे निर्गन्तुं समर्था भवन्तीति शेषः। तादृशादाकाशाद्भवज्जन्मेति मरुतां स्तुतिः। यत् यस्मात् कारणात् शवः भवदीयं बलम् अनुक्रमेण सीं सर्वतः द्विता द्वित्वेन द्यावापृथिव्योर्विभज्य वर्त्तते। अतो भवदीयं जानं स्थिरं हि इति पूर्वत्रान्वयः ॥ (सायणः)

ही भाव है। दर्शनकारों ने भी वायु के दो ही गुण (शब्द व स्पर्श) माने हैं। आचार्य-सायण ने दर्शन-विद्या से अनभिज्ञ होने से वायु के इन गुणों को नहीं समझा है। इसलिये उनके भाष्य में 'द्विता' पद की अन्यथा ही व्याख्या की गई है—

और दोनों ही भाष्यकारों ने आकाश को स्थिरम्=निश्चल बताया है। यह तो सत्य है। और उपर्युक्त वर्णन से यह भी स्पष्ट है कि मरुद्देव यहाँ वायु से भिन्न दूसरा कोई देव नहीं है। परन्तु इन मरुद्देवों की क्या सायण-भाष्य से संगति हो सकती है? सायण-भाष्य में इनके सम्बन्ध में कुछ असंगतियाँ देखिए—

(क) (१ । ३७ । २) मन्त्र में मरुद्देवों के वाहन मृगियाँ मानी हैं। और उनके शस्त्रों का भी वर्णन दिखाया है।

(ख) (१ । ३७ । ३) मरुद्देवों के हाथों में रथों को चलाने के लिये कशा=चाबुकों का वर्णन किया गया है।

(ग) (१ । ३७ । ५) मन्त्र में गायों को मरुद्देवों की माता माना है। क्या इस प्रकार की व्याख्याओं की मरुद्देव=हवा के साथ कोई संगति हो सकती है? क्या यह सर्वजन प्रत्यक्ष से विरुद्ध व्याख्या नहीं है? यदि यहाँ यह कहाजाये कि 'मरुतः' पद के प्रतिमन्त्र भिन्न-भिन्न अर्थ हैं, तो सायणाचार्य ने उनकी स्पष्ट व्याख्या क्यों नहीं की? अतः सर्वत्र मरुद्देवों को एकरूपता से मानना सायण-भाष्य से भी संगत नहीं होता। महर्षि-दयानन्द ने 'मरुतः' देवता की प्रतिमन्त्र प्रकरण के अनुसार सुसंगत व निर्भ्रान्त व्याख्या की है॥ ९ ॥ ●

घौरः कण्व ऋषिः। **मरुतः (राजप्रजाजना वायवश्च)** देवताः। पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनस्ते कीदृशं कर्म कुर्युरित्युपदिश्यते॥

फिर वे कैसे कर्म करें, इस विषय का उपदेश किया जाता है॥

उदु त्ये सूनवो गिरः काष्ठा अज्मेष्वत्नत। वाश्रा अभिज्ञु यातवे॥ १० ॥

उत्। ऊम् इति। त्ये। सूनवः। गिरः। काष्ठाः। अज्मेषु। अत्नत। वाश्राः। अभिऽज्ञु। यातवे॥ १० ॥

पदार्थः—(**उत्**) उत्कृष्टार्थे (**उ**) वितर्के (**त्ये**) परोक्षाः (**सूनवः**) ये प्राणिगर्भान् विमोचयन्ति। (**गिरः**) वाचः (**काष्ठाः**) दिशः। **काष्ठा इति दिङ्नामसु पठितम्।** निघं० १ । ६ (**अज्मेषु**) गमनाऽधिकरणेषु मार्गेषु (**अत्नत**) तन्वते। अत्र **लडर्थे लुङ्। बहुलं छन्दसि** इति विकरणाभावः। **तनिपत्योश्छन्दसि।** अ० ६ । ४ । ९९। अनेनोपधालोपः। (**वाश्राः**) यथा शब्दायमाना गावो वत्सानभितो गच्छन्ति तथा (**अभिज्ञु**) अभिगते जानुनी यासां ताः। अत्र **अव्ययं विभक्ति०** अ० २ । १ । ६। इति यौगपद्यार्थे समासः। वा **छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति** इति समासान्तो ञुरादेशश्च (**यातवे**) यातुम्। अत्र **तुमर्थे तवेन् प्रत्ययः॥ १०॥**

प्रमाणार्थ—(**काष्ठाः**) यह पद निघण्टु (१।६) में 'दिक्' नामों में पढ़ा है—दिक्=दिशा। (**अत्नत**) यहां 'लट्' लकार के अर्थ में 'लुङ्' लकार है 'बहुलं छन्दसि' (अ० २ । ४ । ७३) इस सूत्र से विकरण प्रत्यय का अभाव, और 'तनिपत्योश्छन्दसि' (अ० ६ । ४ । ९९) इस सूत्र से उपधा का लोप है। (**अभिज्ञु**) यहाँ 'अव्ययं विभवित' (अ० २ । १ । ६) इस सूत्र से यौगपद्य अर्थ में समास और 'वा छन्दसि

सर्वे विधयो भवन्ति' (महा० १।४।९) इस परिभाषा से समासान्त 'ज्ञुः' आदेश है। (**यातवे**) यहां 'तुमर्थे०'(अ० ३।४।९) इस सूत्र से 'तवेन्' प्रत्यय है।

अन्वयः—हे राजाप्रजाजना भवन्तस्त्ये तेऽन्तरिक्षस्थास्सूनवो वायव अभिज्ञु वाश्रा इव गिरः काष्ठा अज्मेषु उ यातवे यातुं तन्वन्तीव सुखमुत् अत्नत तन्वन्तु ॥ १० ॥

सपदार्थान्वयः—हे राजप्रजाजनाः ! **भवन्तस्त्ये**=तेऽन्तरिक्षस्थाः परोक्षाः **सूनवः**=**वायवो** ये प्राणिगर्भान् विमोचयन्ति **अभिज्ञु** अभिगते जानुनी यासां ताः **वाश्रा इव** यथा शब्दायमाना गावो वत्सानभितो गच्छन्ति तथा **गिरः** वाचः **काष्ठाः** दिशः **अज्मेषु** गमनाधिकरणेषु मार्गेषु **उ यातवे**=यातुं **तन्वन्तीव सुखमुत**+**अत्नत**=**तन्वन्तु** ॥

भाषार्थ—हे राजा और प्रजा के मनुष्यो ! आप—(**त्ये**) ये अन्तरिक्ष में रहने वाले (**सूनवः**) प्राणियों के गर्भों को छुड़ाने वाले वायु (**अभिज्ञु**) सम्मुख घुटनों वाली एवं (**वाश्राः**) जैसे शब्द करती हुई गौवें बछड़ों की ओर जाती हैं (**गिरः**) वाणियों और (**काष्ठाः**) दिशाओं को (**अज्मेषु**) जाने के मार्गों में (**उ**) निश्चय से (**यातवे**) गति करने के लिये फैलते हैं, वैसे सुख का (**उत्**+**अत्नत**) विस्तार करो ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। राजप्रजाजनैर्यथेमे वायव एव वाचो जलानि च चालयित्वा विस्तार्य शब्दानाश्रावयन्तो गमनागमनजन्मवृद्धिक्षयहेतवः सन्ति तथैतैः शुभकर्माण्यनुष्ठेयानि ॥

भावार्थ—यहां वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। राजा और प्रजाजन—जैसे ये वायु ही वाणी और जल को चलाकर विस्तृत करके शब्दों को सुनाते हुए, गमन, आगमन, जन्म, वृद्धि और क्षय के हेतु हैं, वैसे इनके द्वारा शुभ कर्मों का अनुष्ठान करें ॥ १० ॥

भाष्यसार—राजा और प्रजा कैसे कर्म करें—ये वायु अन्तरिक्ष में रहने वाले, प्राणियों के गर्भों को छुड़ाने वाले हैं। जैसे शब्द करती हुई गौवें बछड़ों की ओर जाती हैं वैसे वायु वाणियों और दिशाओं के मार्गों में गति करने के लिये फैलते हैं। जैसे वायु विस्तार को प्राप्त होते हैं वैसे राजा और प्रजा के मनुष्य सुख का विस्तार करें ॥

अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है, अतः वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि राजा और प्रजा के मनुष्य वायु-विस्तार के समान सुख का विस्तार करें ॥

समीक्षा (महर्षि दयानन्द)–मोक्षमूलरोक्तिः–ये गायनाः पुत्राः स्वगतौ गोःस्थानानि विस्तीर्णानि लम्बीभूतानि कुर्वन्ति, गावो जानुबलेनागच्छन्निति व्यर्थास्ति कुतः ? अत्र सूनुशब्देन प्रियां वाचमुच्चारयन्तो बालका गृह्यन्ते। यथा गावो वत्सलेहनार्थं पृथिव्यां जानुनी स्थापयित्वा सुखयन्ति तथा वायवोऽपीति विवक्षितत्वात् ॥ १० ॥

भाषार्थ–मोक्षमूलर का यह कथन कि–"जो गान करने वाले पुत्र अपने गति में गौवों के स्थानों को विस्तीर्ण=लम्बे करते हैं, तथा गौवें घुटनों के बल से आती थीं",—व्यर्थ है। क्योंकि यहाँ 'सूनु' शब्द से प्रिय वाणी का उच्चारण करने वाले बालकों का ग्रहण होता है। जैसे गौवें के बछड़ों को चाटने के लिये घुटनों को रखकर उन्हें सुखी करती हैं, वैसे वायु भी सुखदायक है, इस अर्थ को विवक्षा होने से ॥ १० ॥

समीक्षा (राजवीर शास्त्री)—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"वे पूर्वोक्त वाणी को उत्पन्न करने वाले मरुद्देव अपने गमन से जलों को विस्तृत करते हैं और जल को फैलाकर पीने के लिए 'हम्भा' शब्द करती हुई गायों को घुटनों के अभिमुख होने की प्रेरणा करते हैं॥"

इस मन्त्र की सायण की व्याख्या से भी स्पष्ट है कि ये मरुद्देव हवा ही हैं, जो वाणी को उत्पन्न तथा जलों का इधर-उधर विस्तार करते हैं। हम जो कुछ बोलते है, उसमें मरुत्=हवा मुख्य कारण है जैसा कि वर्णोच्चारण शिक्षा में कहा है– मारुतस्तूरसि चरन् मन्दं जनयति स्वरम्॥

अर्थात् जब हम बोलने की इच्छा करते हैं, तब उसका क्रम यह होता है कि आत्मा-बुद्धि से निर्णय करके मन को प्रेरित करता है, मन जठराग्नि को, जठराग्नि वायु को प्रेरणा करती है और वायु हृदय में विचरण करके कण्ठादि स्थानों में टकराकर विभिन्न वर्णों को उत्पन्न करती है। इसी प्रकार आकाशस्थ सूक्ष्म जलों या मेघरूप जलों को हवा ही इधर-उधर ले जाती है।

परन्तु वायु अर्थ में आए मरुद्देव सायण के भाष्य से संगत नहीं होते। सायण के भाष्यानुसार मरुद्देवों के हाथों की कल्पना, उनके वाहनभूतमृगियों का मानना तथा गायों को इनकी माता बतानादि ऐसी असम्भव बातें हैं जो वायु के साथ संगत नहीं हैं। (१।३७।६) मन्त्र की समीक्षा में इन सायण-व्याख्याओं के पते भी देदिये हैं। अतः सायणभाष्य असंगतियों से पूर्ण है। महर्षि ने 'मरुतः' देवता की प्रतिमन्त्र प्रकरणानुसार व्याख्या की है जिसमें किसी भी प्रकार की असंगति व भ्रान्ति नहीं है॥ १०॥

इति प्रथमाष्टके तृतीयाध्याये त्रयोदशो वर्गः समाप्तः॥
यह पहिले अष्टक के तीसरे अध्याय में तेरहवाँ वर्ग समाप्त हुआ॥ ●

घौरः कण्व ऋषिः। **मरुतः (राजपुरुषा वायवश्च)** देवताः। निचृद्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनरेते किं कुर्युरित्युपदिश्यते॥

फिर ये राजपुरुष क्या करें, इस विषय का उपदेश किया जाता है॥

त्यं चिद् घा दीर्घं पृथुं मिहो नपातममृध्रम्। प्र च्यावयन्ति यामभिः॥ ११॥

त्यम्। चित्। घ। दीर्घम्। पृथुम्। मिहः। नपातम्। अमृध्रम्। प्र। च्यवयन्ति। यामऽभिः॥ ११॥

पदार्थः—(**त्यम्**) मेघम् (**चित्**) अपि (**घ**) एव। अत्र **ऋचि तुनुघ** इति दीर्घः। (**दीर्घम्**) स्थूलम् (**पृथुम्**) विस्तीर्णम् (**मिहः**) सेचनकर्त्तारः। अत्र **इगुपधलक्षणः** कः प्रत्ययः। **सुपां सुलुक्** इति जसः स्थाने सुः। (**नपातम्**) यो न पातयति जलं तम्। अत्र **नभ्राण् नपात्** इति निपातनम (**अमृध्रम्**) न मर्धते=नोनत्ति तम्। अत्र **नञ्पूर्वान्मृधधातोर्बाहुलकादौणादिको रक् प्रत्ययः।** (**प्र**) प्रकृष्टार्थे (**च्यावयन्ति**) पातयन्ति (**यामभिः**) यान्त्यायान्ति यैस्तैः स्वकीयगमनागमनैः॥ ११॥

प्रमाणार्थ—(**घ**) यहाँ 'ऋचितुनुघ०' (अ० ६।३।१३३) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है– घा। (**मिहः**) यहाँ 'इगुपधज्ञा०' (अ० ३।१।१३५) इस सूत्र से इगुपध लक्षण 'क' प्रत्यय और 'सुपां सुलुक्०' (अ० ७।१।३९) इस सूत्र से 'जस्' के स्थान पर 'सु' आदेश है। (**नपातम्**) यहाँ

१. त्ये पूर्वप्रकृताः गिरः सूनवः उत्पादका मरुतः। **अज्मेषु स्वकीयेषु गमनेषु सत्सु काष्ठाः अपः** उदु उत्कर्षेणैव अतनत अतनिषत विस्तारितवन्तः। उदकं विस्तार्य तत्पानार्थं वाश्राः हम्भारवोपेता गाः **अभिज्ञु** जान्वभिमुख्यं यथा भवति तथा यातवे गन्तुं प्रेरितवन्त इति शेषः॥ (सायणः)

'नभ्राण्नापात्०' (अ० ६। ३। ७५) इस सूत्र से निपातन है। (**अमृध्रम्**) यहाँ 'नञ्' पूर्वक 'मृध' धातु से बहुल करके औणादिक 'रक्' प्रत्यय है॥ ११॥

अन्वयः—हे राजपुरुषा यूयं यथा मिहो वृष्ट्या सेचनकर्त्तारो मरुतो यामभिर्घ्नंव नपातममृध्रं पृथुं दीर्घं त्यं चिदपि प्र च्यावयन्ति तथा शत्रून् प्रच्याव्य प्रजा आनन्दयत॥ ११॥

सपदार्थान्वयः—हे राजपुरुषा! यूयं यथा मिहः=वृष्ट्या सेचनकर्त्तारो मरुतो यामभिः यान्त्यायान्ति यैस्तैः स्वकीयगमनाऽऽगमनैः घ=एव नपातं यो न पातयति जलं तम् अमृध्रं न मर्धते=नोनत्ति तं पृथुं विस्तीर्णं दीर्घं स्थूलं त्यं मेघं चिद्=अपि प्र+[च्यवयन्ति] च्यावयन्ति प्रकृष्टतया पातयन्ति, तथा शत्रून् प्रच्याव्य प्रजा आनन्दयत॥

भाषार्थ—हे राजपुरुषो! तुम—जैसे (**मिहः**) वर्षा से सींचनेवाले पवन वायु (**यामभिः**) अपने जाने-आने के मार्गों से (**घ**) ही (**नपातम्**) जल को न गिरानेवाले (**अमृध्रम्**) गीला न करने वाले (**पृथुम्**) विस्तीर्ण (**दीर्घम्**) स्थूल (**त्यम्**) उस मेघ को (**चित्**) भी (**प्र+च्यवयन्ति**) अच्छे प्रकार गिराते हैं, वैसे शत्रुओं को गिराकर प्रजा को आनन्दित करो॥ ११॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। राजपुरुषैर्यथा मरुत एव मेघनिमित्तं पुष्फलं जलमुपरि गमयित्वा परस्परं घर्षणेन विद्युतमुत्पाद्य तत्समूहमपतनशीलमतुन्दनीयं दीर्घावयवं मेघं भूमौ निपातयन्ति तथैव धर्मविरोधिनः सर्वे व्यवहाराः प्रच्यावनीयाः॥ ११॥

भावार्थ—यहाँ वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। सब राजपुरुष—जैसे पवन ही मेघ के निमित्त पर्याप्त जल को ऊपर पहुंचाकर, आपस के संघर्ष से विद्युत् उत्पन्न करके जल के अपतन शील, सुखकारी, दीर्घ अवयव वाले मेघ को भूमि पर गिराते हैं, वैसे ही धर्म-विरोधियों के सब व्यवहारों को छुड़वायें॥ ११॥

भाष्यसार—राजपुरुष क्या करें—जैसे वर्षा से सींचनेवाले वायु अपने मार्गों से गति करके मेघ को गिराते हैं वैसे राजपुरुष शत्रुओं को गिराकर प्रजा को आनन्दित करें॥ ११॥

समीक्षा (म० दयानन्द)—मोक्षमूलरोक्तिः—ते वायवोऽस्य दीर्घकालं वर्षतोऽप्रतिबद्धस्य मेघस्य निमित्तं सन्ति, पातनाय मार्गस्योपरि इति किंचिच्छुद्धास्ति। कुतः? मिह इति मरुतां विशेषणमस्त्यनेन मेघविशेषणं कृतमस्त्यतः॥ ११॥

भाषार्थ—मोक्षमूलर का यह कथन कि—"वे वायु इस दीर्घकाल तक वर्षा करते हुये, अप्रतिबद्ध मेघ के निमित्त हैं, एवं मार्ग के ऊपर गिराने के लिये हैं"—कुछ शुद्ध है। क्योंकि 'मिहः' पद 'मरुतों' का विशेषण है, और मोक्षमूलर ने 'मेघ' का विशेषण बनाया है॥ ११॥

समीक्षा (राजवीर शास्त्री)—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"ये मरुद्देव अपने गमन से मेघों को गति प्रदान करते हैं। वह मेघ कैसा है? दीर्घ=बहुत फैला हुआ, टेढ़ी गतिवाला, सेचनीय जल की वृष्टि न करने वाला तथा किसी से भी हिंसित न होने वाला है॥"

सायण के इस मन्त्र-भाष्य से स्पष्ट है कि यहाँ मन्त्र के देवता 'मरुतः' का अर्थ पवनः=हवा ही है। क्योंकि हवा ही मेघ को संघर्षण द्वारा बिजुली उत्पन्न करके छिन्न-भिन्न करती है।

---

१. त्यं चिद्ध प्रसिद्धो यो मेघस्तमपि मेघं यामभिः स्वकीयगमनैः प्रच्यावयन्ति मरुतः प्रकर्षेण गमयन्ति। कीदृशम्। दीर्घम् आयामोपेतं पृथुं तिर्यग्विस्तृतं मिहो नपातं सेचनीयस्य जलस्य न पातयितारं वृष्टिमकुर्वन्तमित्यर्थः। अमृध्रं केनाप्यहिंस्यम्॥ (सायणः)

मेघों का इधर-उधर जाना-आना भी हवा के आश्रय से ही होता है। परन्तु सायणाचार्य ने यहाँ 'मरुतः' पद की कोई व्याख्या नहीं की है। और इन 'मरुत्' देवता वाले दूसरे मन्त्रों की व्याख्या में ऐसी निरर्थक कल्पित बातों का वर्णन किया है कि जो मरुत्=हवा से कदापि संगत नहीं होतीं। जैसे (ऋ० १ । ३७ । १४) मन्त्र-भाष्य में सायण ने मरुद्देवों को 'स्वकीयवाहनैः=अपनी सवारियों वाला, (ऋ० १ । ३७ । २) में पृषत्यः=बिन्दुयुक्त हिरणियों को मरुद्देवों के वाहन माना है और ऋष्टयः=हथियार वाले माना है। इत्यादि सायण-भाष्य की कल्पनाओं से स्पष्ट है कि वे 'मरुतः' देवों की किन्हीं कल्पित देवों में ही गणना करते हैं, और उन कल्पित देवों की यहाँ कोई संगति नहीं है। क्योंकि मेघों को गति-प्रदान करने वाली हवा ही है, यह प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष का अपलाप नहीं किया जा सकता। क्या हवा के वाहनों व आयुधों (शस्त्रास्त्रों) का मानना सृष्टि-विज्ञान के विरुद्ध नहीं है ?

आचार्य-सायण ने पदार्थ तथा पदार्थ की संगति लगाने में भी अनेक त्रुटियाँ की हैं। जैसे 'मिहः' पद 'मरुतः' का विशेषण है। क्योंकि मरुतः=हवायें ही मेघ को छिन्न-भिन्न करके वृष्टि कराती हैं। सायण-भाष्य में इस पद की षष्ठ्यन्त मानकर व्याख्या की है, यह असंगत इसलिये है कि इस पद को षष्ठ्यन्त मानने पर 'मरुतः' का कोई विशेषण नहीं रहता। और मन्त्रोक्त 'प्रच्यावयन्ति' क्रिया को देखकर भी 'मिहः' पद में प्रथमा का बहुवचन ही मानना उचित है। और 'अमृध्रम्' पद में स्वयं सायणाचार्य ने 'मृधु उन्दने' (मर्धति उदकेन उनत्तीति मृध्रः=जो जल से गीला करता है, वह 'मृध्रः' कहलाता है) क्रिया मानकर उसका 'केनाप्यहिंस्यम्' अर्थ करके धात्वर्थ का परित्याग ही कर दिया है। और जब धात्वर्थ की यहाँ पूर्णतः संगति हो रही है, फिर क्लिष्ट-कल्पना करके अन्यथा अर्थ करना कदापि उचित नहीं है। महर्षि-दयानन्द के वेद-भाष्य में सायण की भांति कोई असंगति नहीं है। महर्षि ने पूर्वापर के मन्त्रोक्त विशेषणों की संगति के अनुसार यहाँ वाचकलुप्तोपमालंकार माना है। और यहाँ उपमान-उपमेय भाव से राजपुरुषों के कर्त्तव्यों का वर्णन किया है, जो कि सुसंगत होने से पठनीय है ॥ ११ ॥ ●

घौरः कण्व ऋषिः । **मरुतः** । (**सेनाध्यक्षादयः**) देवताः । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनस्ते वायुवत् कर्माणि कुर्युरित्युपदिश्यते ॥

फिर वे राजपुरुष वायु के समान कर्म करें, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

मरुतो यद्ध वो बलं जनाँ अचुच्यवीतन । गिरीँरचुच्यवीतन ॥ १२ ॥

मरुतः । यत् । ह । वः । बलम् । जनान् । अचुच्यवीतन । गिरीन् । अचुच्यवीतन ॥ १२ ॥

पदार्थः—(**मरुतः**) वायव इव सेनाध्यक्षादयः (**यत्**) यस्मात् (**ह**) प्रसिद्धम् (**वः**) युष्माकम् (**बलम्**) सेनादिकम् (**जनान्**) प्रजास्थान् मनुष्यान् । **अत्र दीर्घादटि समानपादे** । अ० ८ । ३ । ९ । इति नकारस्य रुत्वम् । **अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा** । अ० ८ । ३ । २ इति पूर्वस्यानुनासिकः **भोभगोअघो** । अ० ८ । ३ । १७ । इति य लोपः । (**अचुच्यवीतन**) प्रेरयन्ति, अत्र **लडर्थे, लङ्** । **बहुलं छन्दसि** इति शपः श्लुः । **बहुलं छन्दसि** । [अ० ७ । ३ । ९७] इति ईडागमः । **तप्तनप्तनथनाश्च** इति तनबादेशः । **पुरुषव्यत्ययः । सायणाचार्येणेदं भ्रान्त्या लुङन्तं+व्याख्याय बहुलं छन्दसि इति शपः श्लुरिति सूत्रं योजितम् । तत्र च्लेरपवादत्वाच्छबेव नास्ति कुतः श्लुः कस्य लुक् तस्मादशुद्धमेव** । (**गिरीन्**) मेघान् **गिरिरिति मेघनामसु पठितम्** निघं० १ । १० । अत्र रुत्वाऽनुनासिकाविति पूर्ववत् (**अचुच्यवीतन**) आकाशे भूमौ च प्रापयन्ति । अस्य सिद्धिः पूर्ववत् अत्रान्तर्गतो ण्यर्थः ॥ १२ ॥

प्रमाणार्थ—(**जनान्**) यहां दीर्घादटि समानपादे (अ० ८। ३। ९) इस सूत्र से नकार को 'रुत्व' आदेश है 'अत्रानुनासिक पूर्वस्यतु वा' (अ० ८। ३। २) इस सूत्र से पूर्व को अनुनासिक और 'भो-भगोऽघो० (अ० ८। ३। १७) इस सूत्र से 'य्' का लोप है। (**अचुच्यवीतन**) यहां 'लट्' लकार के अर्थ में 'लङ्' लकार है 'बहुलं छन्दसि' (अ० २। ४। ७६) इस सूत्र से 'शप्' विकरण प्रत्यय को 'श्लु' आदेश 'बहुलं छन्दसि' (अ० ७। ३। ९७) इस सूत्र से 'ईट्' का आगम 'तप्तनप्तनथनाश्च' (अ० ७। १। ४५) इस सूत्र से 'तनप्' आदेश और पुरुषव्यत्यय है। (**गिरीन्**) 'गिरिः' यह पद निघण्टु (१।१०) में मेघ-नामों में पढ़ा है, यहां रुत्व और अनुनासिकत्व पूर्व के समान है। (**अचुच्यवीतन**) इसकी सिद्धि पूर्व के समान है, यहां णिच् प्रत्यय का अर्थ अन्तर्निहित है॥

अन्वयः—हे मरुत इव वर्त्तमानाः सेनापत्यादयो यूयं यद्वो युष्माकं ह बलमस्ति तेन वायवो गिरीनचुच्यवीतनेव जनानचुच्यवीतन स्वस्वव्यवहारेषु प्रेरयत॥ १२॥

सपदार्थान्वयः—हे **'मरुत' इव वर्त्तमानाः सेनापत्यादयो** वायव इव सेनाध्यक्षादयः **यूयं यत्** यस्मात् **वः=युष्माकं ह** प्रसिद्धं **बलं** सेनादिकम् **अस्ति; तेन वायवो गिरीन्** मेघान् **अचुच्यवीतन** आकाशे भूमौ प्रापयन्ति इव **जनान्** प्रजास्थान् मनुष्यान् **अचुच्यवीतन=स्वस्वव्यवहारेषु प्रेरयत॥**

भाषार्थ—हे वायु के समान वर्तमान सेनापति आदि राजपुरुषो! तुम—(**यत्**) जिस कारण (**वः**) तुम्हारा (**ह**) प्रसिद्ध (**बलम्**) सेना आदि बल है, उससे जैसे वायु (**गिरीन्**) मेघों को (**अचुच्यवीतन**) आकाश और भूमि पर पहुंचाते हैं, वैसे (**जनान्**) प्रजा-जनों को (**अच्युच्यवीतन**) अपने अपने व्यवहारों में प्रेरित करो॥

भावार्थः—अत्र लुप्तोपमालङ्कारः। सभाध्यक्षादिराजपुरुषैर्यथा वायवो मेघानितस्ततः प्रेरयन्ति तथैव सर्वे प्रजाजनाः स्वस्वकर्मसु न्यायव्यवस्थया सदैव निरालस्ये प्रेरणीयाः॥ १२॥

भावार्थ—यहां लुप्तोपमा अलंकार है। सभाध्यक्ष आदि राजपुरुष जैसे वायु मेघों को इधर उधर चलाते हैं, वैसे ही सब जनों को अपने अपने कार्य में न्यायव्यवस्था से पुरुषार्थ में प्रेरित करें॥

भाष्यसार—राजपुरुष वायु के समान कर्म करें—जैसे वायु अपने बल से मेघों को आकाश और भूमि पर पहुंचाते हैं, वैसे सेनापति आदि राजपुरुष अपने सेना आदि बल से प्रजा जनों को अपने-अपने व्यवहारों में प्रेरित करें॥

अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है, अतः लुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि जैसे वायु मेघों को इधर-उधर प्रेरित करता है, वैसे सेनापति आदि राजपुरुष प्रजा को प्रेरित करें॥

समीक्षा (म० दयानन्द) मोक्षमूलरोक्तिः—हे मरुत ईदृग्बलेन सह यादृशी शक्तिर्युष्माकमस्ति यूयं पुरुषाणां पातननिमित्तं स्थ पर्वतानां चेत्यशुद्धास्ति। कुतः? गिरिशब्देनात्र मेघस्य ग्रहणं न शैलानां जनशब्देन सामान्यगतिमतो ग्रहणं न तु पतनमात्रस्यातः॥ १२॥

भाषार्थ—मोक्षमूलर का कथन है कि 'हे पवनो! ऐसे बल के साथ जैसी तुम्हारी शक्ति है, तुम पुरुषों के गिराने के निमित्त हो और पर्वतों के भी''—यह अशुद्ध है क्योंकि 'गिरि' शब्द से यहां मेघ का ग्रहण है, पर्वतों का नहीं, और 'जन' शब्द से सामान्य गति वाले का ग्रहण है; पतनमात्र का नहीं॥

समीक्षा (राजवीर शास्त्री)—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे मरुद्देवो ! जिस कारण से तुम्हारा बल है, इस कारण से प्राणियों को अपने अपने व्यापारों में प्रेरित करो और मेघों को प्रेरित करो ॥'

इस मन्त्र में मरुद्-देवों को प्राणियों तथा मेघों को प्रेरणा करने वाला सायण तथा दयानन्द-भाष्य में माना है, परन्तु दोनों के भाष्यों में बहुत अधिक भेद है। सायण ने न तो इन मरुद्देवों को ही समझा है, और नहीं मन्त्रोक्त उपमानोपमेय भाव को ही। सायणानुसार कल्पित मरुद्देव न तो मेघों को ही प्रेरणा कर सकते हैं, और नहीं प्राणियों को। और 'मरुत्' का वायु अर्थ मानने पर भी बिना उपमानोपमेय-भाव के यह संगति नहीं लगती। क्योंकि मरुत्=वायु मेघों को इधर-उधर अवश्य गति प्रदान करता है, किन्तु प्राणियों को प्रेरणा नहीं दे सकता। प्राण-धारी सब जीव स्वेच्छा से कार्य करते हैं, मरुद्देवों की प्रेरणा से नहीं। अतः सायणभाष्य असंगत तथा कल्पित होने से माननीय नहीं है। महर्षि ने यहाँ मन्त्रार्थ को लुप्तोपमालंकार मानकर बहुत ही सुसंगत तथा स्पष्ट किया है। जैसे मरुतः=वायु मेघों को इधर-उधर गति कराता है, वैसे ही वायु के तुल्य सेनापति आदि राजपुरुष भी जनान्=प्रजाजनों को न्यायव्यवस्था स्थापित कर अपने-अपने कर्मों में प्रेरित किया करें। इस मन्त्रार्थ में महर्षि ने सायण की भांति कोई असंगत तथा कल्पना नहीं की है और सायणाचार्य का व्याकरण-ज्ञान भी अधूरा था। जिसे यह भी बोध नहीं है कि लुङ् लकार में सामान्य विकरण प्रत्यय 'च्लिः' है, शप् नहीं। महर्षि दयानन्द ने सायण की इस त्रुटि का निर्देश इस मन्त्र के 'अचुच्यवीतन' पद के पदार्थ में स्पष्ट किया है ॥ १२ ॥ ●

घौरः कण्व ऋषिः। **मरुतः (वायवः)** देवताः। पादनिचृद् गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

पुनस्ते वायुभ्यः किं किमुपकुर्युरित्युपदिश्यते ॥

फिर वे विद्वान् वायुओं से क्या-क्या उपकार लेवें, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

यद्ध यान्ति मरुतः सं ह ब्रुवतेऽध्वन्ना । शृणोति कश्चिदेषाम् ॥ १३ ॥

यत् । ह । यान्ति । मरुतः । सम् । ह । ब्रुवते । अध्वन् । आ । शृणोति । कः । चित् । एषाम् ॥ १३ ॥

पदार्थः—(**यत्**) ये (**ह**) स्फुटम् (**यान्ति**) गच्छन्ति (**मरुतः**) वायवः (**सम्**) संगमे (**ह**) प्रसिद्धम् (**ब्रुवते**) परस्परमुपदिशन्ति (**अध्वन्**) अध्वनि=विद्यामार्गे। अत्र **सुपां सुलुक्** इति ङेर्लुक् (**आ**) समन्तात् (**शृणोति**) शब्दविद्यां गृह्णाति (**कः**) विद्वान् (**चित्**) अपि (**एषाम्**) मरुताम् ॥ १३ ॥

प्रमाणार्थ—(**अध्वन्**) यहाँ 'सुपां सुलुक्०' (अ० ७ । १ । ३९) इस सूत्र से 'ङि' विभक्ति का लुक् है ॥ १३ ॥

अन्वयः—यथा यद्येत इमे मरुत इतस्ततो ह यान्त्यायान्ति तथाऽध्वन्विद्यामार्गे शिल्पिनो विद्वांसो ह समाब्रुवते एषां मरुतां विद्यां कश्चिदेव शृणोति विजानाति च न तु सर्वे ॥ १३ ॥

सपदार्थान्वयः—**यथा यत्=एत इमे ये मरुतः** वायवः **इतस्ततो ह** स्फुटं **यान्ति=आयान्ति** गच्छन्ति, **तथा अध्वन्=विद्यामार्गे** अध्वनि=विद्यामार्गे **शिल्पिनो विद्वांसो ह** प्रसिद्धं

भाषार्थ—जैसे—(**यत्**) जो ये (**मरुतः**) वायु इधर-उधर (**ह**) स्पष्ट रूप से (**यान्ति**) जाते-आते हैं, वैसे—(**अध्वन्**) विद्या-मार्ग में शिल्पी-विद्वान् (**ह**) प्रसिद्ध रूप में (**सम्+आ+ब्रुवते**)

१. हे मरुतः ! यद्ध यस्मादेव कारणात् वः युष्माकं बलम् अस्ति, अस्मादेव कारणात् जनान् प्राणिनः अचुच्यवीतन स्वस्वव्यापारेषु प्रेरयत। तथा गिरीन् मेघान् अचुच्यवीतन प्रेरयत ॥ (सायणः)

सम्+आ+ब्रुवते संगम्य समन्तात् परस्पर-मुपदिशन्ति।

मिलकर सब ओर से परस्पर उपदेश करते हैं।

एषां=मरुतां विद्यां कः विद्वान् **चित्=एव** अपि **शृणोति=विजानाति** शब्दविद्यां गृह्णाति **च, न तु सर्वे ॥ १३ ॥**

(एषाम्) इन पवनों की विद्या को **(कः)** कोई विद्वान् **(चित्)** ही **(शृणोति)** जानता एवं ग्रहण करता है; सब नहीं ॥ १३ ॥

भावार्थः—अस्य वायोर्विद्यां कश्चिद्विद्या-क्रियाकुशल एव ज्ञातुं शक्नोति नेतरो जडधीः ॥

भावार्थ—इस वायु-विद्या को कोई विद्या और क्रिया में कुशल व्यक्ति ही जान सकता है; अन्य मूर्ख नहीं ॥ १३ ॥

भाष्यसार—विद्वान् वायु से क्या-क्या उपकार लें—विद्वान् वायु से यह उपकार ग्रहण करें कि जैसे वायु इधर-उधर जाते-आते हैं वैसे शिल्पी-विद्वान् विद्यामार्ग में मिलकर परस्पर उपदेश करें। इस वायु-विद्या को कोई क्रियाकुशल विद्वान् ही जान सकता है; जड़-बुद्धि नहीं ॥ १३ ॥

समीक्षा (महर्षि दयानन्द)—मोक्षमूलरोक्तिः—यदा खलु मरुतः सह गच्छन्ति स्वमार्गाणामुपरि परस्परं वदन्ति कश्चिन्मनुष्यः शृणोति किमित्यशुद्धास्ति। कुतः ? मरुतां जडत्वेन परस्परं वार्त्ताकरणाऽसंभवात् न, वक्तृणां चेतनानां जीवानां वचनश्रवणहेतुत्वाच्च ॥ १३ ॥

भाषार्थ—मोक्षमूलर का यह कथन कि—"जब पवन साथ जाते हैं, अपने मार्गों के ऊपर जाते हुये परस्पर बोलते हैं, तब क्या कोई मनुष्य सुनता है"—यह अशुद्ध है। क्योंकि—पवनों के जड़ होने से परस्पर वार्ता करना संभव नहीं और वक्ता चेतन जीव ही बोल और सुन सकते हैं ॥ १३ ॥

समीक्षा (राजवीर शास्त्री)—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"जिस समय मरुद्देव निश्चय से गति करते हैं, उस समय मार्ग में चारों तरफ मिलकर ध्वनि अवश्य करते हैं। इन मरुद्देवों के शब्द को कोई विरला सुनता है ॥"

इस सायण-भाष्य की असंगति देखिये कि मरुद्देव जाते समय जब मिलकर ध्वनि करते हैं तब उस ध्वनि को कोई विरला ही सुन पाता है। प्रथम तो सायण की यह भ्रान्ति है कि वे मरुद्वों को वायु से भी भिन्न कल्पित देवविशेष मानते हैं, जो शस्त्रास्त्र धारण करके पृषत्यः=बिन्दुयुक्त हिरणियों पर सवारी करते हुए आते जाते हैं। यह उनकी मान्यता प्रत्यक्ष के विरुद्ध होने से मिथ्या है। अन्यथा ध्वनि की तो बात ही क्या, हिरणियों पर आरूढ़ वे मरुद्देव आकाश में जातेहुए सभी मनुष्यों को अवश्य दिखाई देवें। और वे देव मिलकर ध्वनि करें और उनकी ध्वनि सुनाई न देवे, यह कदापि सम्भव नहीं। और आज के वैज्ञानिक युग में तो ऐसे-ऐसे यन्त्र बन चुके हैं कि जो दूरस्थ ध्वनियों को भी पकड़ सकते हैं, फिर क्यों नहीं उन मरुद्देवों की ध्वनियाँ सुनाई देतीं; अतः सायणाचार्य की यह सब मिथ्या कल्पना मात्र ही है।

महर्षि-दयानन्द ने यहाँ वायु-विज्ञान का वर्णन मानकर मन्त्रार्थ किया है। अर्थात् जो शिल्पी-विद्वान् हैं वे वायु-विज्ञान को परस्पर मिलकर जानने का प्रयत्न करें, क्योंकि वायु-विद्या से अनेक प्रकार के उपकार लिये जा सकते हैं, और इसको सब नहीं जान सकते और इसको जानकर वायु की भांति शिल्पी-विद्वान् इधर-उधर जाकर उपदेश करके दूसरे मनुष्यों को भी अवश्य

---

१. यद्ध यदा खलु मरुतः यान्ति गच्छन्ति तदानीम् अध्वन्ना मार्गे सर्वतः सं ब्रुवते ह संभूय ध्वनिमवश्यं कुर्वन्ति। एषां मरुतां सम्बन्धिनं शब्दं कश्चित् यः कोऽपि शृणोति ॥ (सायणः)

सिखायें । महर्षिकृत इस मन्त्रार्थ में कोई भी असंगति व कल्पना का समावेश न होने से यह मन्त्रार्थ सत्य है ॥ १३ ॥ ●

घौरः कण्व ऋषिः । **मरुतः** (राजप्रजाजनाः) देवताः । निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्यैर्वायुभ्यः किं किं कार्य्यमित्युपदिश्यते ॥

फिर मनुष्य को वायुओं से क्या-क्या कार्य्य लेना चाहिये, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

प्र या॑त शीभ॑माशुभि॒: सन्ति॒ कण्वे॑षु वो॒ दुव॑: । तत्रो॒ षु मा॑दयाध्वै ॥ १४ ॥

प्र । या॒त । शीभ॑म् । आ॒शुऽभि॑: । सन्ति॑ । कण्वे॑षु । व॒: । दुव॑: । तत्रो॒ इति॑ । सु । मा॒द॒या॒ध्वै॒ ॥ १४ ॥

पदार्थः—(**प्र**) प्रकृष्टार्थे (**यात**) अभीष्टं स्थानं प्राप्नुत (**शीभम्**) शीघ्रम् **शीभमिति क्षिप्रनामसु पठितम्** । निघं० २ । १५ । (**आशुभिः**) शीघ्रं गमनागमनकारकैर्विमानादियानैः (**सन्ति**) (**कण्वेषु**) मेधाविषु (**वः**) युष्माकम् (**दुवः**) परिचरणानि (**तत्रो**) तेषु खलु (**सु**) शोभनार्थे । **सुञः** । अ० ८ । ३ । १०७ । इति मूर्द्धन्यादेशः (**मादयाध्वै**) मादयध्वम् । **लेट् प्रयोगोऽयम् ॥ १४ ॥**

प्रमाणार्थ—(**शीभम्**) यह पद निघण्टु (२ । १५) में 'क्षिप्र' नामों में पढ़ा है—क्षिप्र=शीघ्र । (**सु**) यहां 'सुञः' (अ० ८ । ३ । १०७) इस सूत्र से मूर्धन्य आदेश है—षु । (**मादयाध्वै**) यह लेट् लकार का प्रयोग है ॥ १४ ॥

अन्वयः—हे राजप्रजाजना यूयमाशुभिः शीभं वायुवत् प्र यात । येषु कण्वेषु वो दुवः सन्ति तत्रो सु मादयाध्वै ॥ १४ ॥

पदार्थान्वयः—हे **राजप्रजाजनाः** ! **यूयम् आशुभिः** शीघ्रं गमनाऽऽगमनकारकैर्विमानादियानैः **शीभं** शीघ्रं **वायुवत् प्र+यात** प्रकृष्टतयाऽभीष्टं स्थानं प्राप्नुत । **येषु कण्वेषु** मेधाविषु **वः** युष्माकं **दुवः** परिचरणानि **सन्ति, तत्रो** तेषु खलु **सु+मादयाध्वै** शोभनतया मादयध्वम् ॥ १४ ॥

भावार्थः—राजप्रजास्थैर्विद्वद्भिर्जनैरभीष्टस्थानेषु वायुवच्छीघ्रगमनाय यानान्युत्पाद्य स्वकार्याणि सततं साधनीयानि । धर्मात्मनां सेवनेऽधर्मात्मनां च ताडने सदैवानन्दितव्यञ्च ॥ १४ ॥

भाषार्थ—हे राजा और प्रजा के मनुष्यो तुम—(**आशुभिः**) शीघ्र जाने-आने वाले विमान आदि यानों से (**शीभम्**) शीघ्र वायु के समान (**प्रयात**) अभीष्ट स्थान को प्राप्त करो, और जिन (**कण्वेषु**) मेधावी जनों में (**वः**) तुम्हारे (**दुवः**) सत्कार भाव हैं (**तत्रो**) उनमें निश्चय से (**सु+मादयाध्वै**) अच्छे प्रकार हर्षित होओ ॥ १४ ॥

भावार्थ—राजा और प्रजा के सब विद्वान्—अभीष्ट स्थानों में शीघ्र जाने के लिए यान बनाकर अपने-अपने कार्यों को निरन्तर सिद्ध करें, तथा धर्मात्माओं की सेवा और दुष्टों के ताड़न में सदा आनन्द लें ॥ १४ ॥

भाष्यसार—मनुष्य वायु से क्या-क्या उपकार लें—राजा और प्रजा के विद्वान्-मनुष्यों को उचित है कि वे शीघ्र गति वाले विमान आदि यानों से वायु के समान शीघ्र अभीष्ट स्थान को प्राप्त करें । और उनका जिन मेधावी विद्वान् जनों में सत्कार हो वहां पहुंचकर अच्छे प्रकार हर्षित होवें ॥ १४ ॥

समीक्षा—(**महर्षि दयानन्द**) **मोक्षमूलरोक्तिः**—यूयं तीव्रगतीनामश्वानामुपरि स्थित्वा शीघ्रमा-

गच्छत तत्र युष्माकं पूजारयः कण्वानां मध्ये सन्ति यूयं तेषां मध्ये आनन्दं कुरुतेत्यशुद्धास्ति। कुतः? महान्तो वेगादयो गुणा एवाश्वास्ते वायौ समवायसम्बन्धेन वर्त्तन्ते, तेषामुपरि वायूनां स्थितेरसंभवात्। कण्वशब्देन विदुषां ग्रहणं तत्र निवासेनानन्दस्योद्भवाच्चेति ॥ १४ ॥

भाषार्थ—मोक्षमूलर का कथन है कि—"तुम तीव्र गति वाले घोड़ों के ऊपर बैठकर शीघ्र आओ, वहां आपके पुजारी कण्वों के मध्य में हैं, तुम उनके मध्य में आनन्द करो"—यह अशुद्ध है। क्योंकि—महान् वेग आदि गुण ही 'अश्व' हैं और वे वायु में समवाय-सम्बन्ध से वर्तमान हैं, उनके ऊपर वायुओं की स्थिति संभव नहीं है। और 'कण्व' शब्द से विद्वानों का ग्रहण है और उनमें निवास से आनन्द की उत्पत्ति का कथन है ॥ १४ ॥

समीक्षा—**(राजवीर शास्त्री)** इस मन्त्र का सायणभाष्य[1] इस प्रकार है—"हे मरुद्देवो! शीघ्र गति वाले अपने वाहनों (रथों) से कर्म-भूमि में शीघ्रता से जाओ। यज्ञादि का अनुष्ठान करने वाले मेधावी पुरुषों में तुम्हारी सेवा है। उन सेवा करने वालों में तुम तृप्त हो जाओ ॥"

यहाँ आचार्य सायण ने मन्त्र के देवता 'मरुतः' को न समझकर प्रकरणविरुद्ध असंगत व्याख्या की है। मरुद्देवों के अपने-अपने शीघ्रगति वाले वाहन क्या हैं? और ये यज्ञादि प्रदेश में जाकर तृप्त होते हैं, इत्यादि समस्त मन्त्रार्थ सायण ने कल्पित-मरुद्देवों को मानकर किया है। यथार्थ में यहाँ 'मरुतः' का 'राज=प्रजाजनाः' यह महर्षि दयानन्द कृत अर्थ ही सुसंगत होता है। राजा और प्रजा के शिल्पीविद्वान् मिलकर आशुभिः=शीघ्रगति वाले विमानादि यानों को बनाकर वायु के तुल्य अभीष्ट स्थानों पर गमनागमन करें। और जो कण्वेषु=मेधावी शिल्पी हैं, राजा उनका सदा सत्कार करके इस विज्ञान को बढ़ाकर सदा आनन्द में रहें। महर्षि दयानन्द ने यहां जर्मनी के मोक्षमूलर की व्याख्या का भी युक्ति-युक्त खण्डन किया है, जो द्रष्टव्य है। सायणादि पौराणिक वेद-भाष्यकारों के अर्थों का अनुसरण करने वाले वेदार्थ से अनभिज्ञ मोक्षमूलरादि की व्याख्या भी कैसे सत्य हो सकती है, जबकि सायण का मन्त्रार्थ ही असंगत है और मरुतः=वायु को मृगी या घोड़े आदि पर स्थित मानकर मन्त्रार्थ करना क्या बुद्धि के दिवालिये पन को प्रकट नहीं करता? पाश्चात्य विद्वान् भी सायण का अन्धानुकरण कर ऐसे अवैज्ञानिक तथा काल्पनिक अर्थ कर गये, क्या यह कम आश्चर्य की बात है? ॥ १४ ॥ ●

घौरः कण्व ऋषिः। **मरुतः (वायवः)** देवताः। निचृद्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

पुनस्ते वायवः किं प्रयोजनाः सन्तीत्युपदिश्यते ॥

फिर वे वायु किस-किस प्रयोजन के लिये हैं इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

अस्ति॒ हि ष्मा॒ मदा॑य वः॒ स्मसि॑ ष्मा व॒यमे॑षाम्। विश्वं॑ चि॒दायु॒र्जीव॑से ॥ १५ ॥

अस्ति। हि। स्म। मदाय। वः। स्मसि। स्म। वयम्। एषाम्। विश्वम्। चित्। आयुः। जीवसे ॥१५॥

पदार्थः—(**अस्ति**) वर्त्तते (**हि**) यतः (**स्म**) खलु। अत्र **निपातस्य च** इति दीर्घः। **अविहितलक्षणो मूर्द्धन्यः सुषामादिषु द्रष्टव्यः**। अ० ८। ३। ९८। इति वार्त्तिकेन मूर्द्धन्यादेशः। **इदं पदं सायणाचार्येण व्याकरणविषयमबुद्ध्वा त्यक्तम्** (**मदाय**) आनन्दाय (**वः**) युष्माकम् (**स्मसि**) भवेम। अत्र

१. हे मरुतः! आशुभिः वेगवद्भिः स्वाकीयैर्वाहनैः शीभं शीघ्रम् प्रयात प्रकर्षेण कर्मभूमिं गच्छत। कण्वेषु मेधाविष्वनुष्ठातृषु वः युष्माकं दुवः दुवांसि परिचरणानि सन्ति। तत्रो षु तेष्वेव परिचारकेषु कण्वेषु मादयाध्वै तृप्ता भवत ॥ (सायणः)

लिङर्थे लिट् । **इदन्तो मसि** इतीकारागमः (**स्म**) नैरन्तर्ये । अत्रापि पूर्ववन्मूर्द्ध न्यादेशः । (**वयम्**) उपदेश्या जनाः (**एषाम्**) ज्ञातविद्यानां मरुतां सकाशात् (**विश्वम्**) सर्वम् (**चित्**) अपि (**आयुः**) प्राणधारणम् (**जीवसे**) जीवितुम् । अत्र **तुमर्थे०** इत्यसेन्प्रत्ययः ॥ १५ ॥

प्रमाणार्थ—(**स्म**) यहाँ 'निपातस्य च' (अ० ६ । ३ । १३६) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—ष्मा । और 'अविहितलक्षणो मूर्धन्यः सुषमादिषु द्रष्टव्यः' (अ० ८ । ३ । ९८) इस वार्तिक सूत्र से मूर्धन्य आदेश है—ष्मा । (**स्मसि**) यहाँ 'लिङ्' लकार के अर्थ में 'लिट्' लकार है; 'इदन्तो मसि' (अ० ७ । १ । ४६) इस सूत्र से 'इकार' आगम है । (**स्म**) यहाँ भी पूर्व के समान मूर्धन्य आदेश है । (**जीवसे**) यहाँ 'तुमर्थे०' (अ० ३ । ४ । ९) इस सूत्र से 'असेन्' प्रत्यय है ॥ १५ ॥

अन्वयः—हे विद्वांसो मनुष्या एषां हि स्म वो युष्माकं मदाय जीवसे विश्वमायुरस्ति तथाभूता वयं चित्स्मसि स्म ॥ १५ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे विद्वांसो मनुष्या ! एषां** ज्ञातविद्यानां मरुतां सकाशात् **हि** यतः **स्म** खलु **वः**=**युष्माकं मदाय** आनन्दाय **जीवसे** जीवितुं **विश्वं** सर्वम् **आयुः** प्राणधारणम् **अस्ति** वर्त्तते; **तथाभूता वयम्** उपदेश्या जनाः **चित्** अपि **स्मसि** भवेम **स्म** निरन्तरम् ॥ १५ ॥

भावार्थः—यथा योगाभ्यासेन प्राणविद्याविदो वायुविकारज्ञाः पथ्यकारिणो जनाश्चानन्देन सर्वमायुर्भुञ्जते तथैवेतरैर्जनैस्तत्सकाशात्तद्विद्यां ज्ञात्वा सर्वमायुर्भोक्तव्यम् ॥

भाषार्थ—हे विद्वान् मनुष्यो ! (**एषाम्**) जिनकी विद्या ज्ञात हैं उन पवनों से (**हि**) ही (**स्म**) निश्चय से (**वः**) तुम्हारा (**मदाय**) आनन्दपूर्वक (**जीवसे**) जीवन के लिये (**विश्वम्**) सब (**आयुः**) आयु (**अस्ति**) है, वैसे (**वयम्**) उपदेश के योग्य हम लोग (**चित्**) भी (**स्म**) सदा (**स्मसि**) होवें ॥

भावार्थ—जैसे योगाभ्यास से प्राण-विद्या को जानने वाले और वायु-विकारों को जानने वाले, पथ्यकारी मनुष्य आनन्द से सम्पूर्ण आयु का उपभोग करते हैं, वैसे ही दूसरे व्यक्ति भी उनके पास से उस विद्या को जानकर सारी आयु का उपभोग करें ॥ १५ ॥

भाष्यसार—वायु किस प्रयोजन के लिये हैं—विद्वान् मनुष्यों को योग्य है कि वे वायु-विद्या को जानें अर्थात् योगाभ्यास से प्राण-विद्या के वेत्ता और वायु-विकारों के ज्ञाता होकर पथ्यकारी बनें और आनन्दपूर्वक सम्पूर्ण आयु का भोग करें । उन विद्वानों से अन्य लोग भी वायुविद्या को जानकर सम्पूर्ण आयु का सुखपूर्वक भोग करें ॥ १५ ॥

समीक्षा (म० दयानन्द)—मोक्षमूलरोक्तिः—निश्चेयन तत्र युष्माकं प्रसन्नता पुष्कलास्ति, वयं सदा युष्माकं भृत्याः स्मः, यद्यपि वयं सर्वमायुर्जीवेमेत्यशुद्धास्ति, कुतः ? अत्र प्राणरूपेण वायुना जीवनं भवतीति वयमेतद्विद्यां विजानीमेत्युक्तत्वादिति ॥ १५ ॥

एवमेव यथात्र मोक्षमूलरेण कपोलकल्पनया मन्त्रार्था विरुद्धा वर्णितास्तथैवाग्रेप्येतदुक्तिरन्यथास्तीति वेदितव्यम् । यदा पक्षपातविरहा विद्वांसो मद्रचितस्य मन्त्रार्थभाष्यस्य मोक्षमूलरोक्तादेश्च सम्यक् परीक्ष्य विवेचनं करिष्यन्ति तदैतेषां कृतावशुद्धिर्विदिता भविष्यतीत्यलमिति विस्तरेण ।

भाषार्थ—मोक्षमूलर का कथन है कि—"निश्चये से वहाँ तुम्हारी प्रसन्नता पुष्कल (पर्याप्त) है, हम सदा तुम्हारे सेवक हैं, यद्यपि हम सम्पूर्ण आयु जीते हैं"—यह अशुद्ध है, क्योंकि यहाँ प्राण रूप से वायु से जीवन होता है, हम इस विद्या को जानते हैं; ऐसा कहा है ॥ १५ ॥

इसी प्रकार जैसे यहाँ मोक्षमूलर ने कपोल-कल्पना से मन्त्रों के अर्थ विरुद्ध वर्णन किये हैं, वैसे

आगे भी इनका कथन अन्यथा है; ऐसा जानो। जब पक्षपातरहित विद्वान् मेरे बनाये मन्त्रार्थभाष्य का और मोक्षमूलर आदि मन्त्रार्थ की अच्छे प्रकार परीक्षा करके विवेचन करेंगे तब इनकी रचना में अशुद्धि विदित हो जायेगी। इतना लिखना ही पर्याप्त है, अधिक विस्तार से क्या लाभ है ॥

समीक्षा (राजवीर शास्त्री)—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे मरुद्देवो ! तुम्हारी तृप्ति के लिये हमारे द्वारा प्रयुक्त हवि विद्यमान है। और हम तुम्हारे सेवकरूप में हैं। तुम जीने के लिये हमें सम्पूर्ण आयु प्रदान करो ॥"

इस सायण-भाष्य के अनुसार 'मरुद्देव' हवि से तृप्त होते हैं और हम मनुष्यों को समस्त आयु प्रदान करते हैं। ये 'मरुद्देव' कौन हैं ? इस की सायण ने कोई व्याख्या यहाँ नहीं की है। क्या ऐसे अस्पष्ट तथा सन्दिग्ध मन्त्रार्थ से सत्यार्थ जाना जा सकता है ? और हमें आयु कौन प्रदान करता है ? क्या ये मरुद्देव ईश्वर की कर्मफल व्यवस्था में बाधा डालकर हमें स्वेच्छा से आयु-प्रदान कर सकते हैं ? और क्या ये हवि आदि से तृप्त होने वाले और शरीरधारी देव हैं ? क्योंकि तृप्ति तो शरीर-संयोग होने पर होती है। और ये देव कहाँ रहते हैं ? ये एकदेशी देव हमारी प्रार्थनाओं को कैसे सुन सकते हैं ? इत्यादि अनेक भ्रान्तियाँ सायण-भाष्य के कल्पित अर्थ से उत्पन्न होती हैं। क्योंकि एक असत्य को मानकर शतबार असत्य बोलना ही पडता है।

महर्षि-दयानन्द की व्याख्या में ऐसी कोई असंगति नहीं है। महर्षि ने यहाँ वायु-विद्या (प्राण-विद्या) का वर्णन माना है। और 'विद्वांसो मनुष्याः' का प्राकरणिक अध्याहार करके मन्त्रार्थ की बहुत ही उत्तम संगति लगाई है। जो विद्वान् पुरुष योगाभ्यास के द्वारा प्राणायाम की विद्या को तथा आयुर्वेदादि के द्वारा वायु के विकारों को जानकर तदनुसार पथ्यकारी होकर शारीरिकादि बलों की बृद्धि कर लेते हैं, वे सम्पूर्ण आयु का भोग कर सकते हैं। मन्त्रोक्त 'मदाय जीव से' पदों में आनन्द-पूर्वक जीवन के लिये' इस प्राणविद्या का ज्ञान परमावश्यक बताया है। सायण-भाष्य में इन दोनों पदों को भिन्न-भिन्न करके पदार्थ किया है, वह संगत नहीं। और 'मदाय' पद में 'मदी हर्षे' क्रिया है, उसका 'तृप्ति-अर्थ' भी क्लिष्ट-कल्पना ही है। और महर्षि की व्याख्या में दीर्घायु की प्राप्ति के कारण-भूत प्राण-विद्या का वर्णन होने से कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध है ॥ १५ ॥

पूर्वापरसङ्गतिमाह — अत्राग्निप्रकाशकस्य सर्वचेष्टाबलायुर्निमित्तस्य वायोस्तद्विद्याविदां राजप्रजाविदुषां च गुणवर्णनादेतत्सूक्तार्थस्य पूर्वसूक्तार्थेन सह सङ्गतिरस्तीति वेद्यम् ॥ ३७ ॥

पूर्वापर-संगति--इस सूक्त में अग्नि के प्रकाशक, सब चेष्टा, बल और आयु के निमित्त वायु का और वायु-विद्या के ज्ञाता राजा और प्रजा के विद्वानों के गुणों का वर्णन होने से इस सूक्त के अर्थ का पूर्व सूक्त के अर्थ के साथ संगति है, ऐसा जानो ॥ ३७ ॥

इति चतुर्दशो वर्गः सप्तत्रिंशं सूक्तं च समाप्तम् ॥

यह चौदहवां वर्ग और सैंतीसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥३७ ॥ ●

---

१. हे मरुतः ! वः युष्माकं मदाय तृप्तये अस्ति हि ष्म अस्माभिः प्रयुज्यमानं हविर्वो विद्यते खलु। एषां युष्माकं भृत्यभूताः वयं स्मसि ष्म विद्यामहे खलु। जीवसे जीवितुं विश्वं चिदायुः सर्वमप्यायुः प्रयच्छतेति शेषः ॥ (सायणः)

अथाष्टात्रिंशं सूक्तम्

धौरः कण्व ऋषिः । **मरुतः (वायवः)** देवताः । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

तत्रादिमे मन्त्रे वायुरिव मनुष्यैर्भवितव्यमित्युपदिश्यते ॥

अब अड़तीसवें सूक्त का आरम्भ है। इसके पहिले मन्त्र में वायु के समान मनुष्यों को होना चाहिये, इस विषय का वर्णन किया जाता है ॥

कद्ध नूनं कधप्रियः पिता पुत्रं न हस्तयोः । दधिध्वे वृक्तबर्हिषः ॥ १ ॥

कत् । ह । नूनम् । कधऽप्रियः । पिता । पुत्रम् । न । हस्तयोः । दधिध्वे । वृक्तऽबर्हिषः ॥ १ ॥

पदार्थः—(**कत्**) कदा । अत्र **छान्दसो वर्णलोपो वा** इत्याकारलोपः । (**ह**) प्रसिद्धम् (**नूनम्**) निश्चयार्थे (**कधप्रियः**) ये कधाभिः=कथाभिः प्रीणयन्ति ते । अत्र **वर्णव्यत्ययेन** थकारस्य धकारः । **ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्** । अ० ६ । ३ । ६३ । अनेन ह्रस्वः । (**पिता**) जनकः (**पुत्रम्**) औरसम् (**न**) इव (**हस्तयोः**) बाह्वोः (**दधिध्वे**) धरिष्यथ । अत्र **लोडर्थे लिट्** । (**वृक्तबर्हिषः**) ऋत्विजो विद्वांसः ॥ १ ॥

प्रमाणार्थ—(**कत्**) यहां 'छान्दसो वर्णलोपो वा' (महाः ८ । २ । २५) इस वार्तिक सूत्र से आकार का लोप है—कदा । (**कधप्रियः**) यहां वर्ण-व्यत्यय से थकार को धकार आदेश है, 'ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्' (अ० ६ । ३ । ६३) इस सूत्र से ह्रस्व है (**दधिध्वे**) यहाँ लेट् लकार के अर्थ में लिट् लकार है ॥ १ ॥

अन्वयः—हे कधप्रिया वृक्तबर्हिषो विद्वांसः पिता हस्तयोः पुत्रं न मरुतो लोकानिव कद्ध नूनं यज्ञकर्म दधिध्वे ॥ १ ॥

सपदार्थान्वयः—हे [**कधप्रियः**] **कधप्रिया** ये कधाभिः कथाभिः प्रीणयन्ति ते **वृक्तबर्हिषः=विद्वांसः** ऋत्विजो विद्वांसः **पिता** जनकः **हस्तयोः** बाह्वोः **पुत्रम्** औरसं **न** इव **मरुतो लोकानिव कत्** कदा **ह** प्रसिद्धं **नूनं** निश्चयेन **यज्ञकर्म दधिध्वे** धरिष्यथ ॥ १ ॥

भाषार्थ—हे (**कधप्रियः**) कथाओं से प्रीति करानेवाले (**वृक्तबर्हिषः**) ऋत्विक् विद्वान् लोगो आप—(**न**) जैसे (**पिता**) पिता (**हस्तयोः**) हाथों में (**पुत्रम्**) पुत्र को, तथा वायु लोकों को धारण करता है, वैसे (**कत्**) कब (**ह**) प्रसिद्ध रूप में (**नूनम्**) निश्चय से यज्ञ-कर्म को (**दधिध्वे**) धारण करोगे ? ॥ १ ॥

भावार्थः— अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ । यथा पिता हस्ताभ्यां स्वपुत्रं गृहीत्वा शिक्षित्वा पालयित्वा सत्कार्येषु नियोज्य सुखी भवति तथैव ये मनुष्या मरुतो लोकानिव विद्यया यज्ञं गृहीत्वा युक्त्या संसेवन्ते त एव सुखिनो भवन्तीति ॥ १ ॥

भावार्थ—यहां उपमा और वाचकलुप्तोपमा अलंकार हैं । जैसे पिता अपने हाथों से अपने पुत्र को ग्रहण कर, शिक्षा देकर, पालन कर सत्कार्यों में लगाकर, सुखी होता है, वैसे ही जो मनुष्य—जैसे वायु लोक को धारण करते हैं, वैसे विद्या से यज्ञ को ग्रहण कर, युक्ति से अच्छे प्रकार सेवन करते हैं, वे ही सुखी होते हैं ॥ १ ॥

भाष्यसार—**मनुष्य वायु के समान हों**—कथाओं से सत्य में प्रीति कराने वले, ऋत्विक्

विद्वान् मनुष्यों को उचित है कि वे—जैसे पिता अपने पुत्र को हाथों में धारण करता है, और जैसे वायु लोकों का धारण करते हैं, वैसे यज्ञ-कर्म को धारण करें ॥ १ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में 'न' पद उपमा-वाचक है, अतः उपमा अलंकार है। उपमा यह है कि जैसे पिता अपने पुत्र को हाथों में धारण करता है, वैसे विद्वान् यज्ञ-कर्म को धारण करें। उपमा वाचक पद को लुप्त मानकर यहां वाचकलुप्तोपमा अलंकार भी है। उपमा यह है कि जैसे वायु लोकों को धारण करता है वैसे विद्वान् यज्ञ-कर्म को धारण करें ॥ १ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे मरुद्देवो ! तुम सब हमें दोनों हाथों में कब निश्चय से धारण करते हो। जैसे लोक में पिता अपने पुत्र को दोनों हाथों में धारण करता है, उसी तरह। मरुद्देव कैसे हैं ? वे स्तुति से प्रसन्न होते हैं और उनका दर्भ (कुश) यजमान के लिये काटा जाता है।"

इस मन्त्र में 'मरुतः' देवता के दो विशेषण पठित हैं—'कधप्रियः' तथा 'वृक्तबर्हिषः'। इनसे स्पष्ट है कि मरुद्देव सत्य कथाओं से प्रीति करते हैं और वे ऋत्विक्=ऋतु ऋतु में यज्ञ करने वाले होते हैं। क्योंकि निघं० (३। १८) में 'वृक्तबर्हिषः' पद ऋत्विक् के नामों में पठित है। और मन्त्रोक्त उपमा से भी ऋत्विक्—परक अर्थ की पुष्टि होती है। जैसे पिता पुत्र को धारण करता है, वैसे ही ऋत्विक् यज्ञ-कर्म को धारण करते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि विशेषण—विशेष्यभाव तथा उपमान-उपमेय भाव से यहाँ विद्वान् ऋत्विजों के लिए ही 'मरुतः' देवता की व्याख्या करनी चाहिए।

परन्तु सायणाचार्य के कल्पित मरुद्देवता से मन्त्रार्थ की कोई संगति नहीं है। सायणाचार्य ने पौराणिक मान्यता के अनुसार मरुद्देवों को भी शरीरधारी मानकर उनके हाथ आदि अवयव माने हैं, (ऋ० १। ३७। ३) की सायण-व्याख्या के अनुसार उनके हाथों में कशा=चाबुक है और (ऋ० १। ३७। २) के अनुसार सायण मरुद्देवों के वाहन पृषत्यः=हिरणियों को माना है। सायणाभिमत मरुद्देवों की लोक में ख-पुष्प की भांति कोई सत्ता नहीं है और मन्त्रार्थ के साथ भी कोई संगति नहीं है। और 'वृक्तबर्हिषः' पद की सायणकृत व्याख्या से तो यह स्पष्ट हो रहा है कि उनके मरुद्देव यजमान के लिए दर्भ=कुश नामक घास की भी खेती करते हैं, जिसे यजमान के लिये काटा जाता है। यह दर्भों की खेती ये कल्पित मरुद्देव कहां तथा कैसे करते हैं ? यह कोई अज्ञानी अन्ध-भक्त ही स्वीकार कर सकता है। जिन मरुद्देवों का जन्म-स्थान सायण ने (ऋ० १। ३७। ७ में) आकाश बताया है, क्या आकाश में दर्भों की उत्पत्ति सम्भव है ? यह सायण की व्याख्या सृष्टिविज्ञान से विरुद्ध तथा असंगत होने से सर्वथा मिथ्या ही है ॥ १ ॥ ●

घौरः कण्व ऋषिः। **मरुतः**। (मनुष्याः) देवताः। निचृद्गायत्री छन्दः॥ षड्जः स्वरः॥

पुनस्ते कथं प्रश्नोत्तरं कुर्युरित्युपदिश्यते॥

फिर मनुष्यों को परस्पर किस प्रकार प्रश्नोत्तर करना चाहिये, इस विषय का उपदेश किया जाता है॥

---

१. हे मरुतः ! कद्ध कदा खलु नूनम् अवश्यं हस्तयोः दधिध्वे यूयमस्मान् हस्ते धारयथ। तत्र दृष्टान्तः। पिता पुत्रं न हस्तयोः। यथा लोके पिता हस्तयोः स्वकीयं पुत्रं धारयति तद्वत्। कीदृशा मरुतः। कधप्रियाः स्तुतिप्रीताः, वृक्तबर्हिषः=वृक्तं छिन्नं बर्हिर्दर्भो येषां मरुतां यजमानाय ते मरुतः तथाविधाः॥ (सायणः)

क्व नूनं कद्वो अर्थं गन्ता दिवो न पृथिव्याः । क्व वो गावो न रण्यन्ति ॥ २ ॥

क्व । नूनम् । कत् । वः । अर्थम् । गन्त । दिवः । न । पृथिव्याः । क्वः । वः । गावः । न । रण्यन्ति ॥ २ ॥

पदार्थः—(**क्व**) कुत्र (**नूनम्**) निश्चयार्थे (**कत्**) कदा (**वः**) युष्माकम् (**अर्थम्**) द्रव्यं (**गन्त**) गच्छत गच्छन्ति वा । अत्र पक्षे लडर्थे लोट् । **बहुलं छन्दसीति** शपो लुक् । **तप्तनप्त०** इति तवादेशो ङित्वाभावादनुनासिकलोपाभावः । **द्व्यचोतस्तिङ्** इति दीर्घश्च । (**दिवः**) द्योतनकर्मणः सूर्यस्य (**न**) इव (**पृथिव्याः**) भूमेरुपरि (**क्व**) कस्मिन् (**वः**) युष्माकम् (**गावः**) पशव इन्द्रियाणि वा (**न**) उपमार्थे (**रण्यन्ति**) रणन्ति=शब्दयन्ति । अत्र **व्यत्ययेन शपः स्थाने श्यन् ॥ २ ॥**

प्रमाणार्थ–(**गन्त**) गच्छत, गच्छन्ति वा, यहां पक्ष में 'लट्' लकार के अर्थ में लोट् लकार है। 'बहुलं छन्दसि' (अ० २ । ४ । ७३) इस सूत्र से 'शप्' विकरण प्रत्यय का लुक 'तप्तनप्त०' (अ० ७ । १ । ४५) इस सूत्र से 'तप्' आदेश 'ङित्त्व' अभाव से अनुनासिक लोप का अभाव और द्व्यचोऽतस्तिङः' (अ० ६ । ३ । १३५) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—गन्ता। (**रण्यन्ति**) यहाँ व्यत्यय से 'शप्' विकरण प्रत्यय के स्थान पर श्यन् विकरण प्रत्यय है ॥

अन्वय—हे मनुष्या ! यूयं कन्नूनं पृथिव्या [न] दिवो गावोऽर्थं गन्त क्व वो युष्माकमर्थं गन्त तथा वो युष्माकं गावो रण्यन्ति नेव मरुतः क्व रणन्ति ॥ २ ॥

सपदार्थान्वयः— **मनुष्या ! यूयं कत्**=कदा **नूनं** निश्चयेन **पृथिव्याः** भूमेरुपरि न इव **दिवः** द्योतनकर्मणः सूर्यस्य **गावः** इन्द्रियाणि **अर्थं** द्रव्यं **गन्त** गच्छत ? **क्व** कुत्र **वः=युष्माकम्** अर्थं द्रव्यं **गन्त** गच्छत ? **तथा वः=युष्माकं, गावः** पशवः **रण्यन्ति** रणन्ति=शब्दयन्ति **न=इव, मरुतः क्व** कुत्र **रणन्ति** ?

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! तुम—(**कत्**) कब (**नूनम्**) निश्चय से (**पृथिव्याः**) भूमि के ऊपर (**न**) जैसे (**दिवः**) प्रकाश कर्म वाले सूर्य की (**गावः**) किरणें (**अर्थम्**) द्रव्यों को (**गन्त**) प्राप्त करती हैं, वैसे प्राप्त करते हो ? और तुम (**क्व**) कहां (**वः**) तुम्हारे (**अर्थम्**) द्रव्य को प्राप्त करते हो ? और (**वः**) तुम्हारे गौ आदि पशु जैसे (**रण्यन्ति**) शब्द करते हैं, (**न**) वैसे वायु (**क्व**) कहां शब्द करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थः— अत्रोपमालङ्कारौ । यथा सूर्यस्य किरणाः पृथिव्यां स्थितान् पदार्थान् प्रकाशयन्ति तथा यूयमपि विदुषां समीपं प्राप्य क्व वायूनां नियोगः कर्त्तव्य इति तान् पृष्ट्वार्थान् प्रकाशयत । यथा गावः स्ववत्सान् प्रति शब्दयित्वा धावन्ति तथा यूयमपि विदुषां संगं कर्तुं शीघ्रं गच्छत, गत्वा शब्दयित्वाऽस्माकमिन्द्रियाणि वायुवत् स्थित्वाऽर्थान् प्रति गच्छन्तीति पृष्ट्वा युष्माभिर्निश्चेतव्यं ॥ २ ॥

भावार्थ—यहां दो उपमा अलंकार हैं । जैसे सूर्य की किरणें पृथ्वी में स्थित पदार्थों को प्रकाशित करती हैं, वैसे तुम भी विद्वानों का सामीप्य प्राप्त कर, वायु का नियोग कहां करें ? ऐसा उनसे पूछकर अर्थों को प्रकाशित करें । जैसे गौवें अपने बछड़ों के प्रति शब्द करती हुई दोड़ती हैं, वैसे तुम भी विद्वानों का संग करने के लिए शीघ्र जाओ, जाकर बोलकर, हमारी इन्द्रियाँ वायु के समान कहां स्थित होकर विषयों की ओर जाती हैं ? यह पूछकर निश्चय करो ॥

भाष्यसार—**मनुष्य कैसे प्रश्न-उत्तर करें**—मनुष्य ऐसे प्रश्न-उत्तर करें—हे मनुष्यो ! जैसे कि भूमि पर सूर्य की किरणें पदार्थों को प्राप्त करती हैं, उन्हें प्रकाशित करती हैं, वैसे तुम कब

पदार्थों को प्राप्त करते हो। उत्तर—हम विद्वानों के पास जाकर वायु आदि पदार्थों को प्रकाशित करते हैं अर्थात् उनके नियोग की विद्या को जानते हैं। जैसे गौ आदि पशु शब्द करते हैं वैसे वायु कहां शब्द करते हैं। उत्तर—गौ आदि पशुओं के समान वायु विद्वान् के पास शब्द करते हैं। अतः जैसे शब्द करती हुई गौवें अपने बछड़ों के प्रति दौड़ती हैं वैसे मनुष्य विद्वानों का संग करने के लिए गमन करें और उनसे प्रश्न करें कि हमारी गौ=इन्द्रियां वायु के समान कहां स्थित होकर विषयों की ओर जाती हैं, इत्यादि ॥

अलंकार—इस मन्त्र में दो 'न' पद उपमा-वाचक हैं, अतः दो उपमा अलंकार हैं। पहिला यह है कि जैसे सूर्य की किरणें पदार्थों को प्रकाशित करती हैं वैसे मनुष्य कब अर्थों को प्रकाशित करें। दूसरा यह है कि जैसे गौवें शब्द करती हैं वैसे वायु कहां शब्द करते हैं ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे मरुद्देवो ! तुम इस समय कहाँ स्थित हो ? तुम्हारा यज्ञप्रदेश में कब गमन होगा ? तुम विलम्ब मत करो। तुम द्युलोक से गमन करो परन्तु पृथिवी लोक से नहीं। देवयजनरूप पृथिवी लोक से अन्यत्र कहाँ यजमान तुम्हारी स्तुति करते हैं ?, जैसे गायें शब्द करती हैं, वैसे तुम्हारी स्तुति यजमान करते हैं ॥"

यहाँ इस मन्त्र के देवता (प्रतिपाद्यविषय) 'मरुतः' पद को न समझकर सायण ने मन्त्र की असंगत व्याख्या की है। मरुतः' पद की व्याख्या करते हुए निरुक्त में लिखा है—अथातो मध्यस्थाना देवगणाः। तेषां मरुतः प्रथमागामिनो भवन्ति। मरुतो मितराविणो वा, मितरोचिनो वा महद्द्रवन्तीति वा।" (निरु० ११।११) अर्थात् मध्यस्थानीय देवों में 'मरुतः' प्रथम आते हैं। 'मरुतः' का निर्वचन करते हुए यास्क लिखते हैं—ये मरुत् मितरावी=मितभाषण करने वाले हैं, मितरोचिनः=मित (माप की गई) वस्तुओं से प्रीति करते हैं और महद्द्रवन्ति=ये मरुद्देव बहुत गति करते हैं। इस से स्पष्ट है कि 'मरुतः' वे देव हैं, जो मध्यस्थानीय वायु की भांति मनुष्यों को जीवन-प्रदान करते हैं। और शतपथ ब्राह्मण में वर्णों की उत्पत्ति बतलाते हुए लिखा है "स नैव व्यभवत्। स विशमसृजत्। यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा, मरुत इति।" (शत० १४। ३। ४। १२) अर्थात् वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव, मरुत् आदि समस्त देव विशः=मनुष्य प्रजा के ही अन्तर्गत हैं, अतः ब्राह्मणकार ने विशः=प्रजा की उत्पत्ति की व्याख्या में इनकी गणना की है। इन शास्त्रीय प्रमाणों से स्पष्ट है कि सायणाचार्य के अभिमत कल्पित मरुद्देव शास्त्रीय नहीं हैं।

और प्रस्तुत मन्त्र की सायण की असंगत व्याख्या देखिए–सायण मरुद्देवों को द्युलोकवर्ती मानते हैं। क्या वे पृथिवीस्थ यजमानों के प्रश्नों व स्तुति को सुन सकते हैं ? और जब उन देवों को द्युलोकस्थ=द्युलोक में निवास वाले सायण ने माना है, तो वे पृथिवीलोक से क्यों न जायेंगे ? और ऐसी निरर्थक प्रार्थना करने से क्या लाभ है ? और यजमान गायों की तरह स्तुति करते हैं, इसमें क्या उपमान-उपमेय भाव है ? क्या सायण का भाव यह है कि मरुद्देवों को सुनाने के लिए यजमान गायों की भांति जोर से शब्द करते हैं। यदि यही भाव है तो पृथिवीस्थ मनुष्य की पुकार क्या द्युलोक में सुनी जा सकती है ? यह बात प्रत्यक्ष से विरुद्ध है। हम यह प्रत्यक्ष से जान सकते हैं कि द्युलोक की तो बात दूर है,

---

१. हे मरुतः ! नूनम् इदानीं क्व यूयं कुत्र स्थिताः। कत् कदा वः युष्माकम् अर्थम् अरणं देवयजनदेशे गमनम्। विलम्बं मा कुरुतेत्यर्थः। दिवः गन्त द्युलोकाद् गच्छत। पृथिव्याः न गन्त भूलोकान्मा गच्छत। वः युष्मान् क्व रण्यन्ति। देवयजनरूपायाः पृथिव्या अन्यत्र कुत्र शब्दयन्ति। यजमानाः स्तुवन्ति तत्र दृष्टान्तः। गावो न। यथा गावो रणन्ति शब्दयन्ति तद्वत् ॥ (सायणः)

अन्तरिक्षस्थ विमानादि में स्थित मनुष्यों तक भी पृथिवीस्थ मनुष्यों की पुकार नहीं सुनी जा सकती। अतः सायणकृत समस्त मन्त्रार्थ काल्पनिक एवं असंगत है।

इस मन्त्र की महर्षि-दयानन्द कृत व्याख्या शास्त्रीय प्रमाणों से युक्त तथा सुसंगत है। महर्षि ने यहाँ 'मरुतः' देवता की मनुष्यपरक व्याख्या की है। महर्षि की व्याख्या में 'गावः=किरणें' 'अर्थम्=द्रव्य' 'दिवः=सूर्य की' इत्यादि विशिष्ट संगत पदार्थ तथा उपमान-उपमेयभाव सभी पूर्णतः प्रकरण के अनुकूल हैं। महर्षि की व्याख्या के अनुसार—'दिवो न' यहाँ 'न' निपात उपमानार्थक है। जैसे प्रकाशक सूर्य की किरणें पृथिवी के ऊपर अर्थम्=द्रव्यों को प्राप्त कर प्रकाशित करती हैं, वैसे ही मनुष्यों को विद्वानों के पास जाकर पदार्थ-विद्या को जानकर विद्या को प्रकाशित करना चाहिये। और जैसे गायें अपने बच्चों की ओर शब्द करके (रंभाती हुई) दौड़ती हैं, वैसे ही मनुष्य विद्वानों के पास प्रश्नोत्तर रूप शब्द करके विद्या को प्राप्त करें। ऐसे सुसंगत तथा मिथ्या कल्पनाओं से रहित सत्य-मन्त्रार्थ को अनृषि तथा योगादि साधनों के विना अपरिपक्व बुद्धिवाले सायणादि कैसे समझ सकते थे ?॥ २॥ ●

घौरः कण्व ऋषिः। **मरुतः (मनुष्याः)** देवताः। पादनिचृद्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनस्तदेवाह॥

फिर भी प्रश्न-उत्तर विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है॥

क्व॑ वः सुम्ना नव्यां॑सि मरुतः॒ क्व॑ सुवि॒ता। क्वो३॑ विश्वा॑नि॒ सौभ॑गा॥ ३॥

क्व॑। वः॒। सुम्ना। नव्यां॑सि। मरु॑तः। क्व॑। सुवि॒ता। क्वो३॑इति॑। विश्वा॑नि। सौभ॑गा॥ ३॥

पदार्थः—(**क्व**) कुत्र (**वः**) युष्माकं विदुषाम् (**सुम्ना**) सुखानि। अत्र सर्वत्र **शेश्छन्दसि बहुलम्** इति शेर्लोपः (**नव्यांसि**) नवीयांसि=नवतमानि। अत्र **छान्दसो वर्णलोपो वा** इति ईकारलोपः। (**मरुतः**) वायुवच्छीघ्रं गमनकारिणो जनाः (**क्व**) कस्मिन् (**सुविता**) प्रेरणानि (**क्वो**) कुत्र। अत्र **वर्णव्यत्ययेन** अकारस्थान ओकारः (**विश्वा**) सर्वाणि (**सौभगा**) सुभगानां कर्म्माणि। अत्र **उद्गातृत्वादञ्**॥ ३॥

प्रमाणार्थ—(**सुम्ना**) यहां 'शेश्छन्दसि बहुलम्' (अ० ६। १। ७०) इस सूत्र से सर्वत्र (सविता, सुभगा) 'शि' का लोप है (**नव्यांसि**) यहां छान्दसो वर्णलोपो वा (महा० ८। २। २५) इस वार्तिक सूत्र से 'ईकार' का लोप है—नवीयांसि। (**क्वो**) यहां वर्ण-व्यत्यय से अकार के स्थान में ओकार है—क्वो=कहां। (**सौभगा**) यहां 'प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ्' (अ० ५। १। १२९) इस सूत्र से 'सुभग' शब्द से 'अञ्' प्रत्यय है॥ ३॥

अन्वयः— हे मरुतो मनुष्या यूयं विदुषां सदेशं प्राप्य वो युष्माकं क्व विश्वानि नव्यांसि सुम्ना क्व सुविता सौभगाः सन्तीति पृच्छत॥ ३॥

सपदार्थान्वयः—हे **मरुतो !=मनुष्याः** वायुवच्छीघ्रं गमनकारिणो जनाः ! **यूयं विदुषां सदेशं प्राप्य वः=युष्माकं** युष्माकं विदुषां **क्व** कुत्र **विश्वानि** सर्वाणि **नव्यांसि** नवीयांसि=नवतमानि **सुम्ना** सुखानि ? **क्व** कुत्र **सुविता** प्रेर-

भाषार्थ—हे (**मरुतः**) वायु के समान शीघ्र गमन करने वाले मनुष्यो ! तुम विद्वानों के संदेश को प्राप्त करके—(**वः**) तुम्हारे (**क्व**) कहाँ (**विश्वानि**) सब (**नव्यांसि**) अत्यन्त नवीन, (**सुम्ना**) सुख हैं ? (**क्व**) कहां (**सुविता**) प्रेरणायें

णानि [**क्वो सौभगा**]=**सौभगाः** सुभगानां कर्माणि **सन्तीति पृच्छत** ? ॥ ३ ॥

भावार्थः—अत्र लुप्तोपमालंकारः । हे शुभे कर्म्मणि वायुवत् क्षिप्रं गन्तारो मनुष्या युष्माभिर्विदुषः प्रति पृष्ट्वा यथा नवीनानि क्रियासिद्धिनिमित्तानि कर्म्माणि नित्यं प्राप्येरंस्तथा प्रयतितव्यम् ॥ ३ ॥

हैं ? (**क्वो**) कहां (**सौभगा**) उत्तम ऐश्वर्य सम्बन्धी कर्म हैं ?—ऐसे प्रश्न करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—यहां लुप्तोपमा अलंकार है । हे शुभ कर्मों में वायु के समान शीघ्र चलने वाले मनुष्यो !—तुम विद्वानों से पूछकर, जैसे नवीन क्रिया की सिद्धि के निमित्त कर्म सदा प्राप्त होवें, वैसा प्रयत्न करो ॥ ३ ॥

भाष्यसार—मनुष्य कैसे प्रश्न-उत्तर करें—वायु के समान शीघ्र गमन करने वाले मनुष्यों को उचित है कि वे विद्वानों के संदेश अर्थात् जिस देश में विद्वान् निवास करते हैं उसी देश में पहुंचकर उनसे इस प्रकार प्रश्न करें—हे विद्वानो ! आपके अत्यन्त नवीन सुख कहां हैं किस में रहते हैं ? तुम्हारी उत्तम प्रेरणायें कहां हैं, किसमें निवास करती हैं ? तुम्हारे ऐश्वर्य-सम्बन्धी कर्म कहां रहते हैं ? ॥ ३ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है, अतः लुप्तोपमा अलंकार है । उपमा यह है कि मनुष्य वायु के समान शीघ्र गमन करने वाले हों ॥ ३ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे मरुद्देवो ! तुम्हारे से सम्बन्ध रखने वाले नवीनतम प्रजा व पशु रूप धन कहाँ हैं ? प्राप्त करने योग्य उत्तम मणि-मुक्तादि तुम्हारे धन कहाँ हैं ? और सौभाग्य रूप हाथी-घोड़े आदि कहाँ हैं ? तुम इन सुम्नादि=प्रजा पशु आदि के साथ (यज्ञ-प्रदेश में) आना ।"

इस मन्त्र का देवता 'मरुतः' है । जिसको न समझकर सायणाचार्य की प्रकरणविरुद्ध मन्त्र-व्याख्या देखिये—सायण के अनुसार 'मरुतः' कोई कल्पित द्युलोकस्थ शरीरधारी देवता हैं, और वे यजमान को प्रजा, पशु, ऐश्वर्य, आयु इत्यादि प्रार्थना करने पर प्रदान करते हैं । इसीलिए सायण ने (ऋ० १ । ३७ । ३) में मरुतों के हाथों में कशा=चाबुक का (ऋ० १ । ३८ । १२) में मरुद्देवों के रथ व घोड़ों का, और इस मन्त्र में हाथादि शरीरावयव, पशु व मणि मुक्तादि के लिये प्रार्थना मानी है । यह सायणाचार्य की कल्पना एवं भ्रान्तिपूर्ण व्याख्या है । जिन मरुद्देवों का जन्मस्थान सायणानुसार (ऋ० १ । ३७ । ६ में) आकाश माना है और जो ऋ० १ । ३८ ।६ में सूर्य का मेघों से आच्छादन करके अन्धकार कर देते हैं और जो ऋ० १ । ३८ । १० में भयंकर कम्पन करने वाले हैं, क्या उन मरुतः=हवाओं के रथ, घोड़े तथा शरीर सम्भव हैं और अचेतन हवा क्या हमारी प्रार्थना को सुनकर हमें उपर्युक्त वस्तुओं को दे सकता है ? ऐसी-ऐसी परस्पर विरुद्ध व्याख्याओं से सायण के कल्पित देवों का भी प्रतिपादन नहीं हो सकता । और जो 'सुम्न' शब्द निघण्टु में सुख-नामों में पठित है, उसका प्रजा व पशु अर्थ करना, 'सुविता' शब्द के आख्यातज=प्रेरणा अर्थ को छोड़कर मणि-मुक्तादि अर्थ करना और 'सौभगा' पद का यौगिक अर्थ छोड़कर सौभाग्यरूप घोड़े हाथी आदि अर्थ करना असंगत तथा काल्पनिक ही हैं । ये आकाशस्थ मरुद्देव हाथी, घोड़ों व रथों को किसके आश्रय से आकाश में रख

---

१. हे मरुतः ! वः युष्माकं सम्बन्धीनि नव्यांसि नवतराणि सुम्ना प्रजा=पशुरूपाणि धनानि क्व कुत्र वर्तन्ते । तथा सुविता शोभनानि प्राप्याणि मणिमुक्तादीनि भवदीयानि क्व कुत्र वर्तन्ते । विश्वानि सर्वाणि सौभगा सौभाग्यरूपाणि गजाश्वादीनि क्वो कुत्र वा वर्तन्ते । भवदीयैः सुम्नादिभि सर्वैः सहागन्तव्यमित्यर्थः ॥ (सायणः)

सकते हैं ? क्या ये विशालकाय पशु विना आश्रय के आकाश में रह सकते हैं ? और आकाश में क्या खाते होंगे ?

महर्षि-दयानन्द ने यहाँ 'मरुतः' देवता का वायु के तुल्य शीघ्र गति करनेवाले मनुष्य अर्थ किया है। और वे विद्वानों के पास जाकर नवीनतम सुम्ना=सुखों व सुख के साधनों को, सुविता= उनकी शिक्षाप्रद प्रेरणाओं को, और सौभगा=उत्तम ऐश्वर्यप्रद कर्मों को प्राप्त करने के लिए प्रश्नोत्तर करके उत्तम-ज्ञान को प्राप्त करें। ऐसा सुसंगत तथा देवता=प्रतिपाद्य प्रकरणानुकूल मन्त्रार्थ सायणादि पौराणिक व अनृषि लोगों को कैसे समझ में आ सकता था ? क्योंकि वे पूर्वाग्रहग्रस्त होने के कारण मलीनान्तःकरण वाले थे अतः उनकी कलुषित बुद्धि में ऐसा पवित्र वेद-ज्ञान प्रकाशमान न हो सका। ●

घौरः कण्व ऋषिः। **मरुतः** (राजप्रजा जनाः) देवताः। पादनिचृद्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनस्ते कीदृशा स्युरित्युपदिश्यते॥

फिर वे राजा और प्रजाजन कैसे होने चाहियें, इस विषय का उपदेश किया जाता है॥

यद्यूयं पृश्निमातरो मर्त्तासः स्यातन। स्तोता वो अमृतः स्यात्॥ ४॥

यत्। यूयम्। पृश्निऽमातरः। मर्त्तासः। स्यातन। स्तोता। वः। अमृतः। स्यात्॥ ४॥

पदार्थः—(**यत्**) यदि (**यूयम्**) (**पृश्निमातरः**) पृश्निराकाशो माता येषां वायूनां त इव (**मर्त्तासः**) मरणधर्माणो राजप्रजाजनाः। **अत्राज्जसेरसुग्** इत्यसुगागमः। (**स्यातन**) भवेत। तस्य तनबादेशः। (**स्तोता**) स्तुतिकर्त्ता सभाध्यक्षो राजा (**वः**) युष्माकम् (**अमृतः**) शत्रुभिरप्रतिहतः (**स्यात्**) भवेत्॥ ४॥

प्रमाणार्थ—(**मर्त्तासः**) यहाँ 'आज्जसेरसुक्' (अ० ७। १। ५०) इस सूत्र से 'असुक्' आगम है॥ ४॥

अन्वयः—हे पृश्निमातर इव वर्त्तमाना मर्त्तासो यूयं यद्यदि पुरुषार्थिनः स्यातन तर्हि वः स्तोताऽमृतः स्यात्॥ ४॥

सपदार्थान्वयः—हे **पृश्निमातरः** पृश्निराकाशो माता येषां वायूनां ते **इव वर्त्तमाना मर्त्तासः** मरणधर्माणो राजप्रजाजनाः! **यूयं यत्**=**यदि पुरुषार्थिनः स्यातन** भवेत **तर्हि वः** युष्माकं **स्तोता** स्तुतिकर्त्ता सभाध्यक्षो राजा **अमृतः** शत्रुभिरप्रतिहतः **स्यात्** भवेत्॥ ४॥

भाषार्थ—हे (**पृश्निमातरः**) पृश्नि=आकाश जिनकी माता है उन वायुओं के समान वर्त्तमान (**मर्त्तासः**) मरणधर्मा राजा और प्रजा मनुष्यो! तुम—(**यत्**) यदि पुरुषार्थी (**स्यातन**) होओ, तो (**वः**) तुम्हारा (**स्तोता**) स्तुति करने वाला सभाध्यक्ष राजा (**अमृतः**) शत्रुओं से अप्रतिहत=न हारने वाला (**स्यात्**) होवे॥ ४॥

भावार्थः—राजप्रजापुरुषैरालस्यं त्यक्त्वा वायव इव स्वकर्मसु नियुक्तैर्भवितव्यम्। यत एतेषां रक्षकः सभाध्यक्षो राजा शत्रुभिर्हन्तुमशक्यो भवेत्॥ ४॥

भावार्थ—राजा और प्रजा के पुरुष आलस्य छोड़कर, वायु के समान अपने कर्मों में नियुक्त होवें, जिससे इनके रक्षक सभाध्यक्ष राजा को शत्रु मारने में समर्थ न होवें॥ ४॥

भाष्यसार—**राजा और प्रजा जन कैसे हों**—प्रजा के जन वायु के समान हों अर्थात्

अपने-अपने कर्मों में नियुक्त रहें तथा पुरुषार्थी होवें। ऐसा होने पर इनका राजा शत्रुओं से अप्रतिहत होता है अर्थात् शत्रु उसको हनन नहीं कर सकते ॥ ४ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे पृश्निनामक धेनु के पुत्र मरुद्देवो! यद्यपि तुम मनुष्य हो जाओ, और तुम्हारा स्तोता यजमान अमृतः=देव हो जाये ॥"

इस मन्त्र के भाष्य में तो सायणाचार्य ने मरुद्देवों को पृश्नि नामक गाय के पुत्र कहकर आश्चर्य ही पैदा कर दिया है। जिन मरुद्देवों का जन्म-स्थान सायण ने भी (ऋ० १। ३७। ६) आकाश माना है, क्या पृश्निनामक गाय भी आकाश में रहती है? क्या वह भी मरुद्देवों के रथों, घोड़ों व हाथियों की भांति विना आश्रम के ही रहती है? ऐसी-ऐसी असम्भव एवं विज्ञानविरुद्ध मिथ्या बातें पौराणिक-कल्पनाओं में उड़ान भरने वालों को ही सूझती हैं। क्या सायण अपनी बुद्धि से इन वातों पर लेशमात्र भी विचार नहीं कर सके, कि आकाश में जिनका जन्म हुआ है, जिनकी पृश्निनामक गाय से उत्पत्ति है, जिनके वाहन पृषत्यः हिरणियाँ (ऋ० १। ३७। २ के सायणभाष्यानुसार) और जिनके शरीरधारी होने से हस्तादि अवयव हैं, क्या वे सूर्य को ढक सकते हैं? और क्या वे (ऋ० १। ३८। ७ सा० भा०) वृष्टि करा सकते हैं?

महर्षि-दयानन्द ने यहाँ 'पृश्निमातरः' पद की व्याख्या में शास्त्रीय अर्थ किया है। निरुक्त में लिखा है—'पृश्निः' आदित्यो भवति, प्राश्नुत एनं वर्ण इति नैरुक्ताः, संस्प्रष्टा रसान्, संस्पृष्टा भासं ज्योतिषां, संस्पृष्टो भासेति वा। अथ द्यौः, संस्पृष्टा ज्योतिभिः पुण्यकृद्भिश्च।' (निरु० २। १४) अर्थात् पृश्नि का अर्थ सूर्य और द्युलोक है। क्योंकि ये दोनों ही दीप्ति से युक्त हैं अथवा सूर्यादि ज्योति वालों से युक्त होने से द्युलोक को 'पृश्नि' कहा गया है। अतः मरुत्=वायु की उत्पत्ति द्युलोक में होने से उसे 'पृश्निमातरः' मन्त्र में कहा गया है। अथवा 'आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः' (तैत्तिरीय० उपनिषद्०) इस उत्पत्ति क्रम के अनुसार वायु की उत्पत्ति आकाश से मानी है, अतः वायु को 'पृश्निमातरः' कहा गया है। और मन्त्र की व्याख्या में मरुतों को (सायण-भाष्य के अनुसार) मनुष्य बनने को कहा गया है, क्या मरुत्, जो आकाश में जन्म लेते हैं, वृष्टि कराते हैं, मनुष्य बन सकते है? अतः इस अर्थ की संगति न होने से महर्षि ने मरुत्=वायु के समान कार्य करने वाले 'राजा-प्रजाजनाः' किया है।

और सायणाचार्य की भ्रान्ति देखिये—सायण आदि पौराणिकों की यह मान्यता है कि देवता स्वर्गादि स्थान-विशेष में रहते हैं और वे कभी न मरने के कारण 'अमृत' कहाते हैं। किन्तु इस मन्त्र के सायणभाष्य से ही उनकी अपनी मान्यता का खण्डन हो रहा है कि मरुद्देव तो मरणधर्मा मनुष्य हो जायें और स्तोता यजमान (जो मनुष्य रूप में है) अमृतः=अमरणधर्मा देव हो जाये। यदि देव अमरणधर्मा होते हैं, तो क्या मनुष्य देव हो सकता है? क्योंकि जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु अवश्य होती है। इससे तो यही स्पष्ट हो रहा है कि मनुष्यों के ही देव, ऋषि, पितर आदि भेद होते हैं। 'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा' (निरुक्त) इस प्रमाण से दानादि गुणयुक्त मनुष्य ही देव कहलाता है। क्या सायणाचार्य को यहाँ अपनी कल्पित व मिथ्या मान्यता की भी स्मृति नहीं रही?

और सायण का यह कैसा विचित्र-भाष्य है कि यजमान जिन मरुद्देवों की स्तुति कर रहा है, वह स्तोता स्तुत्य देव बन जाये और स्तुत्य देव स्तोतारूप मनुष्य हो जायें। क्या यह स्तोता-स्तुत्य

---

१. हे पृश्निनामक धेनुपुत्राः मरुतः! यूयं यद्यपि मर्त्तासः मनुष्याः स्यातन भवेत, तथापि वः युष्माकं स्तोता यजमानः अमृतः स्यात् देवो भवेत् ॥ (सायणः)

का विपर्यय भी हो सकता है ? परन्तु सायणाचार्य को इस विपर्यय से क्या मतलब था ? और उसे क्या मतलब था अपनी मान्यता या प्रतिज्ञा के स्मरण से ? उसने तो कल्पनाओं की उड़ान में प्रमत्त की भांति वेदार्थ का अनर्थ ही कर दिया है। और कमाल तो उन अन्ध-भक्तों की बुद्धिका है, जो अब भी सायण-भाष्य के आगे नतमस्तक होकर अपने को परम वेद-भक्त कहने का महान् गर्व कर रहे हैं !! महर्षि-दयानन्द के मन्त्रभाष्य में कहीं भी सायण की तरह किसी कल्पना, मिथ्या बात तथा असंगत वचन का उल्लेख नहीं है ॥ ४ ॥ ●

घौरः कण्व ऋषिः । **मरुतः** (**मनुष्याः**) देवताः । पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

तत्सबन्धेन जीवस्य किं भवतीत्युपदिश्यते ॥

वायु के संबन्ध से जीव का क्या होता है, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

मा वो मृगो न यवसे जरिता भूदजोष्यः । पथा यमस्य गादुप ॥ ५ ॥

मा । वः । मृगः । न । यवसे । जरिता । भूत् । अजोष्यः । पथा । यमस्य । गात् । उप ॥ ५ ॥

पदार्थः—(**मा**) निषेधार्थे (**वः**) एतेषां मरुताम् (**मृगः**) हरिणः (**न**) इव (**यवसे**) भक्षणीये घासे (**जरिता**) स्तोता जनः (**भूत्**) भवेत् । **बहुलं छन्दस्यमाङ्योगोपि** इत्यडभावः । (**अजोष्यः**) असेवनीयः (**पथा**) श्वासप्रश्वासरूपेण मार्गेण (**यमस्य**) निग्रहीतुर्वायोः (**गात्**) गच्छेत् । अत्र लडर्थ लुङ्डभावश्च । (**उप**) सामीप्ये ॥ ५ ॥

प्रमाणार्थ—(**भूत्**) यहां 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (अ० ६ । ४ । ७५) इस सूत्र से 'अट्' आगम का अभाव है । (**गात्**) यहां लट् लकार के अर्थ में 'लुङ्' लकार और 'अट्' आगम का अभाव है ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे राजप्रजाजना यूयं यवसे मृगो नेव वो जरिताऽजोष्यो मा भूत् यमस्य पथा च मोप गादेवं विधत्त ॥ ५ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे राजप्रजाजना ! यूयं यवसे** भक्षणीये घासे **मृगः** हरिणः **न=इव वः** एतेषां मरुतां **जरिता** स्तोता **जनः अजोष्यः** असेवनीयः **मा** न **भूत्** भवेत् **यमस्य** निग्रहीतुर्वायो **पथा** श्वासप्रश्वासरूपेण मार्गेण **च मा** न **उप+गात्** समीपं गच्छेत् **एवं विधत्त** ॥ ५ ॥

भाषार्थ—हे राजा और प्रजा के मनुष्यो ! तुम—(**यवसे**) खानेयोग्य घास में (**मृगो, न**) जैसे हरिण प्रवृत्त होता है, वैसे (**वः**) इन वायुओं का (**जरिता**) स्तोता=उपदेष्टा मनुष्य (**अजोष्यः**) असेवनीय (**मा**) न (**भूत्**) हो, अर्थात् तुम से पृथक् न हो, और वह (**यमस्य**) निग्रह करने वाले वायु के (**पथा**) श्वास-प्रश्वास रूप मार्ग से मृत्यु को (**मा**) न (**उप+गच्छेत्**) प्राप्त हो—ऐसा उपाय करो ॥

भावार्थः— अत्रोपमालङ्कारः । यथा हरिणा निरन्तरं घासं भक्षयित्वा सुखिनो भवन्ति तथा प्राणविद्याविन्मनुष्यो युक्त्याऽऽहारविहारं कृत्वा यमस्य मार्गं मृत्युं नोपगच्छेत्[पूर्णमायुर्भक्त्वा

भावार्थ—यहां उपमा अलंकार है । जैसे हरिण सदा घास खाकर सुखी होते हैं, वैसे प्राणविद्या को जानने वाले मनुष्य, युक्ति से आहार-विहार करके यम के मार्ग मृत्यु को प्राप्त न होवें,

शरीरं सुखेन त्यजेत् ॥ ५ ॥

पूर्ण आयु का उपभोग करके शरीर को सुख से छोड़ें ॥ ५ ॥

भाष्यसार—**वायु के सम्बन्ध से जीव का क्या होता है**—जैसे हरिण घास खाकर सुखी होता है वैसे जो वायु अर्थात् प्राण-विद्या का वेत्ता एवं उपदेष्टा विद्वान् युक्तिपूर्वक आहार-विहार करता है, वह राजा और प्रजा का असेवनीय कभी नहीं होता, उनसे पृथक् कभी नहीं होता। वह यम अर्थात् वायु के श्वास-प्रश्वास रूप मार्ग से मृत्यु को प्राप्त नहीं होता अपितु पूर्ण आयु को भोगकर शरीर का परित्याग करता है ॥

अलंकार—इस मन्त्र में 'न' पद उपमा वाचक है, अतः उपमा अलंकार है। उपमा यह है कि जैसे हरिण घास खाकर सुखी होता है वैसे मनुष्य युक्त आहर-विहार से सुखी होवे ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे मरुद्देवो! तुम्हारी स्तुति करनेवाला कभी असेवनीय न हो। जैसे मृग तृण=घास (भक्षणीय) के प्रति कभी भी असेव्य नहीं होता अर्थात् सदा ही खाता है, वैसे ही स्तोता तुम्हारा सदा सेवन करता रहे और वह स्तोता यमलोक का पथिक न बने अर्थात् उसकी मृत्यु न हो ॥"

इस सायणभाष्य में मन्त्र के प्रतिपाद्य-विषय 'मरुतः' देवता की उपेक्षा अथवा व्याख्या विशेष न करने से जहाँ मन्त्रार्थ प्रकरणविरुद्ध है, वहाँ इसमें यह दोष भी है कि मरुद्देवों की स्तुति करनेवाला यजमान अमरणधर्मा अथवा मृत्यु से बच सकता है? शरीर के साथ जीवात्मा के सम्बन्ध को जन्म तथा शरीर से वियोग होने को मृत्यु कहते हैं और जन्म लेनेवाले जीवों के लिये मृत्यु का होना अपरिहार्य नियम है। अतः यह कदापि सम्भव नहीं है कि इन देवों का स्तोता यमलोक का पथिक= मृत्यु को प्राप्त नहीं होगा। आचार्य सायण ने वेदार्थ की यौगिकप्रक्रिया का परित्याग और पौराणिक मान्यताओं से ग्रस्त होने के कारण 'यम' का अर्थ गरुड़ पुराणोक्त यमलोक का राजा लिया है। किन्तु यह सत्य नहीं है। महर्षि-दयानन्द ने इस विषय में लिखा है—"यमेन वायुना सत्यराजन् इत्यादि वेद-वचनों से निश्चय है कि 'यम' नाम वायु का है। शरीर छोड़ वायु के साथ अन्तरिक्ष में जीव रहते हैं और जो सत्यकर्त्ता पक्षपातरहित परमात्मा धर्मराज है, वही सब का न्याय-कर्त्ता है।" (सत्यार्थ० एकादश०) और महर्षि के इन अर्थों की पुष्टि दूसरे शास्त्र भी करते हैं—

अयं वै यमोऽयोऽयं (वायुः) पवते ॥ (शत० १४।२।२।११) अर्थात् 'यम' नाम वायु का है, और 'यम' नाम सबका नियन्ता होने से परमात्मा का भी है। जैसे—'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः··· ·····यमं मातरिश्वानमाहुः।' (ऋ० १।१६४।४६)

महर्षि दयानन्द ने यहाँ 'मरुतः' का अर्थ वायु (प्राण) विद्या के वेत्ता विद्वान् मनुष्य किया है। जिन्होंने प्राणायामादि योगांगों के अभ्यास से प्राण-विद्या को जान लिया है और जो जरिता=वायु-विद्या को जानकर उपदेश भी करता है, वह सब मनुष्यों से अजोष्य=असेवनीय कभी नहीं होता। अर्थात् उन्नति के इच्छुक जन उसका सेवन=आश्रय अवश्य करते हैं। और युक्ताहार-विहार करके प्राण-विद्या को जानने वाला योगी पुरुष यमस्य पथा=श्वास रूप प्राणवायु के मार्ग से सामान्य मनुष्यों की

---

१. हे मरुतः! वः युष्माकं जरिता स्तोता अजोष्यः असेव्यः मा भूत्। तत्र दृष्टान्तः। मृगो न यवसे। यथा तृणे भक्षणीये मृगः कदाचिदप्यसेव्यो न भवति किन्तु सर्वदा तृणं भक्षयति तद्वत्। किं च स स्तोता यमस्य पथा यमलोकसम्बन्धिमार्गेण मा उपगात् मा गच्छतु। तस्य मरणं मा भूदित्यर्थः ॥ (सायणः)

की भांति नहीं मरता। वह तो पूर्णायु को भोगकर ब्रह्मरन्ध्र से होकर शरीर से वियुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त होता है। इस प्रकार के शास्त्रीय सुसंगत मन्त्रार्थों को योग-विद्या से अनभिज्ञ, अनृषि तथा पूर्वाग्रह ग्रस्त सायणादि भाष्यकार कैसे समझ सकते थे ? ॥ ५ ॥ ●

घौरः कण्व ऋषिः। **मरुतः** (**वायवः**) देवताः। निचृद्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनस्तद्विषयमाह ॥

फिर वायु विषय का उपदेश किया जाता है॥

मो षु णः परांपरा निर्ऋतिर्दुर्हणा वधीत्। पदीष्ट तृष्णया सह ॥ ६ ॥

मो इति। सु। नः। पराऽपरा। निःऋतिः। दुःऽहना वधीत्। पदीष्ट। तृष्णया। सह ॥ ६ ॥

पदार्थः—(**मो**) निषेधार्थे (**सु**) सर्वथा (**नः**) अस्मान् (**पराऽपरा**) या परोत्कृष्टा चासावपराऽनुत्कृष्टा च सा (**निर्ऋतिः**) वायूनां रोगकारिका दुःखप्रदा गतिः। **निर्ऋतिर्निरमणादृच्छतेः कृच्छ्रापत्तिरितरा सा पृथिव्या संदिह्यते तयोर्विभागः** ॥ निरु० २। ७। (**दुर्हणा**) दुःखेन हन्तुं योग्या (**बधीत्**) नाशयतु। अत्र **लोडर्थे लुङन्तर्गतोण्यर्थश्च**। (**पदीष्ट**) पत्सीष्ट=प्राप्नुयात् अत्र **छन्दस्युभयथा** इति सार्वधातुकाश्रयणात्सलोपः। (**तृष्णया**) तृष्यते यया पिपासया लोभगत्या वा तया (**सह**) सहिता।।६॥

प्रमाणार्थ—(**निर्ऋतिः**) यह पद निरुक्त (२। ७) के अनुसार 'नि' उपसर्ग पूर्वक 'रमण' अर्थ वाली 'रम' धातु से सिद्ध होता है तथा यह कष्ट अर्थ वाली 'ऋच्छ' धातु से भी सिद्ध होता है। वह 'कष्टार्थक' 'निर्ऋति' पद, 'पृथ्वी अर्थ' वाले 'निर्ऋति' पद में सन्देह उत्पन्न करता है। उन दोनों का भेद समझ लेवें॥ (**बधीत्**) यहां लोट् लकार के अर्थ में 'लुङ्' लकार है और 'णिच्' प्रत्यय का अर्थ अन्तर्गत है। (**पदीष्ट**) यहां 'छन्दस्युभयथा' (अ० ३। ४। ११७) इस सूत्र से सार्वधातुक के आश्रय से 'स्' का लोप है॥ ६॥

अन्वयः—हे अध्यापका यूयं यथा पराऽपरा दुर्हणा निर्ऋतिर्मरुतां प्रतिकूला गतिस्तृष्णया सह नोऽस्मान्मोपदीष्ट मोपबधीच्च किं त्वेतेषां या सुष्ठ सुखप्रदा गतिः सास्मान्नित्यं प्राप्ता भवेदेवं प्रयतध्वम्॥ ६॥

सपदार्थान्वयः—**हे अध्यापक ! यूयं यथा पराऽपरा** या परोत्कृष्टा चासावपराऽनुत्कृष्टा च सा **दुर्हणा** दुःखेन हन्तुं योग्या **निर्ऋतिः=मरुतां प्रतिकूला गतिः** वायूनां रोगकारका दुःखप्रदा गतिः **तृष्णया** तृष्यते यया पिपासया लोभगत्या वा तया **सह** सहिता **नः=अस्मान् मो** न **पदीष्ट** पत्सीष्ट=प्राप्नुयात् **मो** न **बधीत्** नाशयतु **च किं त्वेतेषां या [सु] सुष्ठु सुखप्रदा गतिः सास्मान्नित्यं प्राप्ता भवेदेवं प्रयतध्वम्** ॥ ६ ॥

भाषार्थ—हे अध्यापको ! तुम - जिस प्रकार से—(**पराऽपरा**) परा=उत्कृष्ट और अपरा=निकृष्ट वायुओं की दो गति हैं उनमें से—(**दुर्हणा**) दुख से निवारण करने योग्य (**निर्ऋतिः**) वायुओं की प्रतिकूल, रोगकारक, दुःखप्रद गति (**तृष्णया**) पिपासा या लोभ-गति के (**सह**) सहित (**नः**) हमें (**मो**) न (**पदीष्ट**) प्राप्त होवे, तथा (**मो**) न (**बधीत्**) नष्ट करे—किन्तु इन वायुओं की जो [**सु**] अच्छी सुखदायक गति है, वह हमें नित्य प्राप्त होवे—ऐसा प्रयत्न करो॥ ६॥

भावार्थः—मरुतां द्विविधा गतिरेका सुख-

भावार्थ—पवनों की दो गतियाँ हैं—एक

कारिणी द्वितीया दुःखकारिणी च, तत्र या सुनियमैः सेविता रोगान् हन्त्री सती शरीरादिसुखहेतुर्भवति साऽऽद्या। या च कुनियमैः प्रमादेनोत्पादिता कृच्छ्रदुःखरोगप्रदा साऽपरा। एतयोर्मध्यान्मनुष्यैः परमेश्वराऽनुग्रहेण विद्वत्संगेन स्वपुरुषार्थेश्च प्रथमामुत्पाद्य द्वितीयां निहत्य सुखमुन्नेयम्। यः पिपासादिधर्मः स वायुनिमित्तेनैव यश्च लोभवेगः सोऽज्ञानेनैव जायत इति वेद्यम् ॥ ६ ॥

सुखकारक और दूसरी दुःखकारक। उनमें से जो उत्तम नियमों से सेवन की हुई, रोगों का हरण करने वाली होकर—शरीर आदि के सुख का हेतु होती है वह प्रथम, और जो अनियमों के द्वारा प्रमाद से उत्पन्न हुई, क्लेश, दुःख और रोगों को देती है वह दूसरी है। इन दोनों में से मनुष्य परमेश्वर के अनुग्रह से विद्वानों के संग से और अपने पुरुषार्थ से प्रथम गति को उत्पन्न कर दूसरी गति का नाश करके सुख की उन्नति करे। जो पिपासा आदि धर्म है, वह वायु के निमित्त से, और जो लोभ का वेग है वह अज्ञान से ही उत्पन्न होता है, ऐसा जानो ॥ ६ ॥

भाष्यसार—वायु-विषयक उपदेश—वायु की दो गति हैं एक परा=उत्कृष्ट अर्थात् सुखकारक और दूसरी अपरा=अनुत्कृष्ट अर्थात् दुःखकारक। उनमें से दूसरी दुःख से निवारण करने योग्य, प्रतिकूल, रोगकारक और दुःखदायक गति पिपासा आदि के रूप में हमें प्राप्त न हो किन्तु पहली जो सुखदायक गति है वह हमें नित्य प्राप्त हो। विद्वान् अध्यापक ऐसा प्रयत्न करें अर्थात् वायु-विद्या का उपदेश करें ॥ ६ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे मरुद्देवो ! हमारा वध निर्ऋति=राक्षस जाति का देवता न करे। क्योंकि वह देवता बहुत बलवान् और किसी से भी मरने वाला नहीं है। और वह निर्ऋति=राक्षस जाति का देवता हमारी तृष्णा के साथ ही नष्ट हो जाये ॥"

इस मन्त्र के सायण-भाष्य में निम्नलिखित दोष हैं—

(१) इस भाष्य में मन्त्र के देवता की कोई व्याख्या नहीं है। समस्त मन्त्रार्थ देवतार्थ के अनुकूल न होने से असंगत है।

(२) सायणाचार्य ने मन्त्रोक्त 'निर्ऋतिः' पद का 'रक्षो जाति देवता' अर्थ किया है। यह अर्थ शास्त्रविरुद्ध, असंगत तथा काल्पनिक है। निरुक्त में 'निर्ऋति' पद के 'भूमि' तथा 'दुःख-प्राप्ति' दो अर्थ किये हैं। महर्षि दयानन्द ने मन्त्र-व्याख्या में निरुक्त का प्रमाण लिखा है। और निरुक्त में 'बहुप्रजा=निर्ऋतिमाविवेश' (ऋ० १। १६४। ३२) दिये इस मन्त्र में 'निर्ऋतिः' पद का कष्ट-प्राप्ति अर्थ ही संगत है। और राक्षसों की मनुष्यों से भिन्न कोई जाति होती है, यह भी सायणादि की कल्पना मात्र ही है। मनुष्य जाति में ही देव व राक्षस होते हैं। और देवता जिन्हें सायणादि पौराणिक अमृत=कभी न मरने वाले मानते हैं, क्या राक्षसों के भी देवता होते हैं? राक्षस और देवता तो परस्पर विरुद्ध अर्थों को बता रहे हैं। जो राक्षस है वह देवता कभी नहीं हो सकता। हाँ!

---

१. हे मरुतः ! नः अस्मान् निर्ऋतिः रक्षोजातिदेवता मोषु वधीत् सर्वथा वधं मा कार्षीत्। कीदृशी। परापरा उत्कृष्टादप्युत्कृष्टा अतिबलेत्यर्थः। अतएव दुर्हणा केनापि हन्तुं दुःशक्या। सा निर्ऋतिः तृष्णया सह पदीष्ट पततु। अस्मदीया तृष्णा बाधिका निर्ऋतिश्च विनश्यत्वित्यर्थः ॥ (सायणः)

राक्षसवृत्ति को छोड़कर देवता बन सकता है। अतः 'निर्ऋतिः' पद का निरुक्त शास्त्रीय अर्थ ही लेना चाहिये।

(३) सायणाचार्य को अपने परस्पर विरुद्ध पदार्थ का भी ध्यान नहीं है, क्या यह कम आश्चर्य की बात है? जिस 'निर्ऋति' को सायण राक्षसजाति का देवता तथा दुर्हणाः=किसी से भी न मरने वाला, परापरा=अतीव बलवान् मान रहे हैं, उसे ही फिर यह कहना कि 'तृष्णा के साथ नष्ट हो जाये, क्या यह परस्पर विरुद्ध व्याख्या नहीं है?

(४) मन्त्र में 'परापरा' पद दो विभिन्न भावों को ('परा' और 'अपरा') बता रहा है। इस पद की 'उत्कृष्टादप्युत्कृष्टा अतिबला' यह सायण-व्याख्या कल्पित ही है। जो 'परा' वह 'अपरा' नहीं हो सकती और जो 'अपरा' है, वह 'परा' नहीं हो सकती। क्या इन परस्पर विरोधी अर्थों का भी सायण को ध्यान नहीं था? अथवा उन्हें यह सत्यार्थ सूझा ही नहीं?

(५) सायणाचार्य ने लिखा है कि निर्ऋति=राक्षसजातीय देवता हमारी तृष्णा के साथ नष्ट हो। क्या तृष्णा का 'निर्ऋति' के साथ कोई सामान्य-धर्म है? अथवा कोई कारण-कार्य भाव है? जो तृष्णा के साथ उसका नष्ट होना आवश्यक हो। और जो दुर्हणा=किसी से भी नष्ट नहीं हो सकती, वह नष्ट भी कैसे होगी? अतः सायणकृत मन्त्रार्थ सारा ही असंगत तथा काल्पनिक है।

महर्षि दयानन्द की व्याख्या में सायण की भांति किसी भी प्रकार का कोई दोष नहीं है। महर्षि ने देवता (मरुतः=वायवः) की व्याख्या करके तदनुकूल समस्त मन्त्रार्थ किया है। वायु की ही परा=उत्कृष्ट तथा अपरा—निकृष्ट दो गति होती हैं। वायु की जो निर्ऋतिः=कष्ट-प्रद और दुर्हणा=दुःख से निवारण करने योग्य प्रतिकूल गति है उसको छोड़ने तथा प्राणायामादि के द्वारा सुनियमों से सेवित रोगनाशक वायु की उत्कृष्ट गति को प्राप्त करने के लिये ही मन्त्र में प्रार्थना की गई है॥ ६॥ ●

घौरः कण्व ऋषिः। **मरुतः (वायवः)** देवताः। निचृद्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनस्ते कीदृशा भवेयुरित्युपदिश्यते॥

फिर वे मनुष्य कैसे हों, इस विषय का उपदेश किया जाता है॥

सत्यं त्वेषा अमवन्तो धन्वञ्चिदा रुद्रियासः। मिहं कृण्वन्त्यवाताम्॥ ७॥

सत्यम्। त्वेषाः। अमऽवन्तः। धन्वन्। चित्। आ। रुद्रियासः। मिहम्। कृण्वन्ति। अवाताम्॥७॥

पदार्थः—(**सत्यम्**) अविनाशि गमनागमनाख्यं कर्म (**त्वेषाः**) बाह्याभ्यन्तरघर्षणेनोत्पन्न-विद्युदग्निना प्रदीप्ताः। (**अमवन्तः**) अमानां=रोगाणां गमनागमनबलानां वा संबन्धो विद्यते एषान्ते। अत्र **संबन्धार्थे मतुप्**। अम रोगे। अम गत्यादिषु चेत्यस्माद्हलश्च इति **करणाधिकरणयोर्घञ्**। अमन्ति रोगं प्राप्नुवन्ति यद्वाऽमन्ति गच्छन्त्यागच्छन्ति बलयन्ति यैस्तेऽमाः (**धन्वन्**) धन्वन्यन्तरिक्षे मरुस्थले वा। **धन्वेत्यन्तरिक्षनामसु पठितम्**। निघं० १। ३। **पदना० च**॥ निघं० ४। २। (**चित्**) उपमार्थे (**आ**) अभितः (**रुद्रियासः**) रुद्राणां=जीवानामिमे जीवननिमित्ता रुद्रिया=वायवः। **तस्येदम्** इति शैषिको घः। **आज्जसेरसुग्** इत्यसुगागमः (**मिहम्**) मेहति=सिञ्चति यया तां वृष्टिम् (**कृण्वन्ति**) कुर्वन्ति (**अवाताम्**) अविद्यमाना वातो यस्यास्ताम्॥ ७॥

प्रमाणार्थ— (**अमवन्तः**) यहाँ सम्बन्ध अर्थ में 'मतुप्' प्रत्यय है। 'अम रोगे और अम गत्यादिषु' इन दो धातुओं से 'हलश्च' (अ० ३। ३। १२१) इस सूत्र से 'करण' और 'अधिकरण' कारक में 'घञ्' प्रत्यय है। (**धन्वन्**) 'धन्व' यह पद निघण्टु (१। ३) में अन्तरिक्ष नामों में पढ़ा है, और निघण्टु (४। २) पद-नामों में पढ़ा है—पद के अर्थ ज्ञान, गमन और प्राप्ति हैं। (**रुद्रियासः**) यहां 'तस्येदम्' (अ० ४। ३। १२०) इस सूत्र से शैषिक 'घ' प्रत्यय है 'आज्जसेरसुक्' (अ० ७। १। ५०) इस सूत्र से 'असुक्' आगम है॥ ७॥

अन्वयः—हे मनुष्या यूयं धन्वन्नन्तरिक्षे त्वेषा अमवन्तो रुद्रियासो मरुतो वर्त्तन्तेऽवातां मिहं वृष्टिमाकृण्वन्ति तेषां मरुतां सत्यकर्मास्ति चिदिवानुतिष्ठत॥ ७॥

सपदार्थान्वयः—**हे मनुष्या! यूयं धन्वन्=अन्तरिक्षे** धन्वन्यन्तरिक्षे मरुस्थले वा **त्वेषाः** बाह्याभ्यन्तरघर्षणेनोत्पन्नविद्युदग्निना प्रदीप्ताः **अमवन्तः** अमानां=रोगाणां गमनागमनबलानां वा सम्बन्धो विद्यते एषान्ते **रुद्रियासः** रुद्राणां=जीवानामिमे जीवननिमित्ता रुद्रिया वायवः **मरुतो वर्त्तन्ते, अवातां** अविद्यमाना वातो यास्यास्तां **मिहं=वृष्टिं** मेहति=सिञ्चति यया तां वृष्टिम् **आ+कृण्वन्ति** अभितः कुर्वन्ति; **तेषां मरुतां [सत्यं]=सत्यकर्म** अविनाशिगमनागमनाख्यं कर्म **अस्ति, चित्=इवानुतिष्ठत॥ ७॥**

भाषार्थ— हे मनुष्यो! तुम—(**धन्वन्**) अन्तरिक्ष या मरुस्थल में (**त्वेषाः**) बाह्य और आभ्यन्तर घर्षण से उत्पन्न विद्युत् रूप अग्नि से प्रदीप्त (**अमवन्तः**) अम अर्थात् रोग एवं या गमन, आगमन और बल से सम्बन्धित (**रुद्रियासः**) जीवा रुद्र=जीवों के जीवन के निमित्त वायु हैं, जो (**अवाताम्**) वात-रहित (**मिहम्**) वर्षा को (**आ+कृण्वन्ति**) सब ओर उत्पन्न करते हैं, उन वायुओं के [**सत्यम्**] अविनाशी गमन-आगमन रूप सत्यकर्म है, (**चित्**) वैसा अनुष्ठान करो॥

भावार्थः— मनुष्यैर्यथा येऽन्तरिक्षस्थाः सत्यगुणस्वभावा वायवो वृष्टिहेतवः सन्ति त एव युक्त्या परिचरिता अनुकूला सन्तः सुखयन्ति, अयुक्त्या सेविताः प्रतिकूलाः सन्तश्च दुःखयन्ति तथा युक्त्या धर्माऽनुकूलानि कर्माणि सेव्यानि॥

भावार्थ—सब मनुष्य—जैसे अन्तरिक्ष में रहने वाले तथा सत्य गुण और स्वभाव वाले वायु वृष्टि के हेतु हैं, वे ही युक्ति से सेवन किये हुए अनुकूल होकर सुख देते हैं, और अयुक्ति से सेवन किये हुए प्रतिकूल होकर दुःख देते हैं, वैसे युक्ति से धर्मानुकूल कर्मों का सेवन करें॥ ७॥

भाष्यसार—मनुष्य कैसे हों—अन्तरिक्ष में अग्नि से प्रदीप्त, रोग या गमन-आगमन और बल से सम्बन्धित, जीवों के जीवन-निमित्त वायु हैं, जो वर्षा को उत्पन्न करते हैं, तथा सत्य गुण, स्वभाव वाले हैं, वे अयुक्ति से सेवन किये हुये प्रतिकूल होकर दुःख देते हैं और युक्तिपूर्वक सेवन किये हुये सुख देते हैं। वैसे सब मनुष्य सत्य-कर्मों का युक्तिपूर्वक सेवन करें॥ ७॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"मरुद्देव मरुस्थल (रेगिस्तान) में भी रुद्र द्वारा पालन करने से वायु से रहित वर्षा करते हैं, यह सत्य है। रुद्र द्वारा पालित मरुत् कैसे हैं? प्रकाशमान और बलवान् हैं॥"

इस मन्त्र में 'मरुतः' देवता का क्या अर्थ है? इसका स्पष्टीकरण मन्त्रोक्त विशेषण-विशेष्य-

---

१. धन्वञ्चित् मरुदेशेऽपि रुद्रियासः रुद्रेण पालितत्वात् तदीया मरुतः आ सर्वतः अवातां वायुरहितां मिहं वृष्टिं कृण्वन्ति कुर्वन्ति तदेतत् सत्यम्। कीदृशा रुद्रियासः। त्वेषाः दीप्ताः अमवन्तः बलवन्तः। मरुतां रुद्रपालनमाख्यानेषु प्रसिद्धम्॥ (सायणः)

भाव से स्पष्ट हो जाता है। ये मरुद्देव त्वेषाः=घर्षण से उत्पन्न विद्युत् से दीप्त हैं, अमवन्तः=('अम रोगे, अम् गत्यादिषु' इन धातुओं के अनुसार) रोग और गमन-आगमन रूप बल से संबद्ध और रुद्रियासः=रुद्र (जीवात्मा) के जीवन का निमित्त हैं। इन तीनों विशेषणों से 'मरुतः' का अर्थ 'वायुपरक' ही संगत होता है। सायणाचार्य ने इनमें दो विशेषणों के उपर्युक्त अर्थ ही किये हैं, किन्तु 'रुद्रियासः' का अर्थ 'रुद्र द्वारा पालित' किया है, यह उनकी कल्पना है। क्योंकि 'तस्येदम्' सूत्र से पालन अर्थ में प्रत्यय नहीं होता। और रुद्र कौन है? जो मरुद्देवों का पालन करता है? यह सायण-भाष्य में कुछ भी स्पष्ट नहीं है।

और ये मरुद्देव धन्वन्-चित्=रेगिस्तान में वायुरहित वृष्टि करते हैं, यह अर्थ भी संकुचित है। मरुस्थल से अन्यत्र भी वृष्टि मरुद्देव ही करते हैं, अतः यहां निघण्टु के अनुसार (निघं० १ । ३) 'धन्वन्' का अर्थ अन्तरिक्ष अधिक उपर्युक्त है। और इस मन्त्र की सायण-व्याख्या से यह भी स्पष्ट है कि मरुद्देवता वृष्टि करते हैं। क्या इस व्याख्या से सायण की अन्य व्याख्याओं के साथ कोई संगति हो सकती है कि ये देव पृश्नि नामक गाय के पुत्र (ऋ० १ । ३८ । ४) हैं, इनके वाहनभूत पृषत्यः (ऋ० १ । ३७ । २) हिरणियाँ हैं, इनके (ऋ० १ । ३८ । १२) रथ, घोड़े तथा हाथों का वर्णन किया हैं, इत्यादि। क्या आज के वैज्ञानिक युग में कोई बुद्धि-जीवी सायण की कल्पित बातों पर लेशमात्र भी विश्वास कर सकता है कि ऐसे शरीरधारी मरुद्देव रथों पर अरूढ़ होकर वर्षा करते हों? महर्षि-दयानन्द की व्याख्या में ऐसी किसी भी प्रकार की असंगति नहीं है ॥ ७ ॥ ●

घौरः कण्व ऋषिः । **मरुतः (वायवः)** देवताः । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

एते किंवर्तिक कुर्य्युरित्युपदिश्यते ॥

ये मनुष्य किस के समान क्या करें, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

वाश्रेव विद्युन्मिमाति वत्सं न माता सिषक्ति । यदेषां वृष्टिरसर्जि ॥ ८ ॥

वाश्राऽइव । विऽद्युत् । मिमाति । वत्सम् । न । माता । सिषक्ति । यत् । एषाम् । वृष्टिः । असर्जि ॥ ८ ॥

पदार्थः—(**वाश्रेव**) यथा कामयमाना धेनुः (**विद्युत्**) स्तनयित्नुः (**मिमाति**) मिमीते=जनयति। **अत्र व्यत्ययेन** परस्मैपदम्। (**वत्सम्**) स्वापत्यम् (**न**) इव (**माता**) मान्यप्रदा जननी (**सिषक्ति**) समेति सेवते वा। **सिषक्तु सचत इति सेवमानस्य।** निरु० ३ । २१ । (**यत्**) या (**एषाम्**) मरुतां संबन्धेन (**वृष्टिः**) अन्तरिक्षाज्जलस्याधःपतनम् (**असर्जि**) सृज्यते। **अत्र लडर्थे लुङ् ॥ ८ ॥**

प्रमाणार्थ—(**मिमाति**) यहां व्यत्यय से परस्मैपद है। (**सिषक्ति**) 'सिषक्तु और सचते' ये दोनों पद निरुक्त (३ । २१) के अनुसार सेवा करने वाले के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। (**असर्जि**) यहां 'लट्' लकार के अर्थ में 'लुङ्' लकार है ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यूयं यद्यैषां विद्युद्वत्सं वाश्रेव मिहं मिमाति कामयमाना माता पयसा पुत्रं सिषक्ति नेव यया वृष्टिरसर्जि सृज्यते तथैव परस्परं शुभगुणवर्षणेन सुखकारका भवत ॥ ८ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्या! यूयं **यत्=या एषां,** मरुतां संबन्धेन **विद्युत्** स्तनयित्नुः **वत्सं** स्वापत्यं **वाश्रेव** यथा कामयमाना धेनुः **मिहं** विद्युत्—(**वत्सम्**) बछड़े की (**वाश्रेव**) कामना

भाषार्थ—हे मनुष्यो! तुम—(**यत्**) जो (**एषाम्**) इन पवनों के सम्बन्ध से (**विद्युत्**)

मिमाति मिमीते=जनयति; **कामयमाना माता** मान्यप्रदा जननी **पयसा पुत्रं सिषक्ति** समेति सेवते वा **न=इव यया वृष्टिः** अन्तरिक्षाज्जलस्याधः-पतनम् **असर्जि=सृज्यते तथैव परस्परं शुभगुण-वर्षणेन सुखकारका भवत ॥**

करने वाली गौ के समान—वर्षा को (**मिमाति**) उत्पन्न करती है, और जैसे कामना करने वाली (**माता**) जननी दुग्ध से पुत्र को (**सिषक्ति**) सींचती है, (**न**) वैसे जिससे (**वृष्टिः**) वर्षा (**असर्जि**) उत्पन्न होती है,—वैसे परस्पर शुभ गुणों की वर्षा से सुखकारक होओ ॥

भावार्थः-अत्रोपमालङ्कारौ। यथा स्वस्व-वत्सान् सेवितुं कामयमाना धेनवो मातरः स्व-पुत्रान् प्रत्युच्चैः शब्दानुच्चार्य धावन्ति तथैव विद्युन्महाशब्दं कुर्वन्ती मेघावयवान्सेवितुं धावति ॥ ८ ॥

भावार्थ—यहां दो उपमा अलंकार हैं। जैसे अपने बछड़ों को सेवन करने की इच्छा करती हुई धेनु और मातायें पुत्रों के प्रति ऊँचे स्वर से शब्द करती हुई दौड़ती हैं वैसे ही विद्युत् महान् शब्द करती हुई मेघ-अवयवों को सेवन करने के लिए दौड़ती है ॥

भाष्यसार— मनुष्य किसके समान क्या करें—जैसे बछड़े की कामना करने वाली गौ अपने बछड़े की ओर शब्द करती हुई दौड़ती है वैसे पवनों के सम्बन्ध से विद्युत् शब्द करती हुई वर्षा को उत्पन्न करती है। और जैसे जननी दूध से अपने पुत्र को सींचती है, वैसे विद्युत् वर्षा से जगत् को सींचती है। सब मनुष्य इसी प्रकार परस्पर शुभ गुणों की वर्षा से सुखकारक हों ॥

अलंकार—इस मन्त्र में 'इव' और 'न' दो पद उपमा-वाचक हैं अतः दो उपमा अलंकार हैं। पहिला यह है कि जैसे गौ शब्द करती हुई दौड़ती है वैसे शब्द करती हुई विद्युत् वर्षा को उत्पन्न करती है। दूसरा यह है कि जैसा माता अपने पुत्र को दूध से सींचती है वैसे विद्युत् वर्षा से जगत् को सींचती है ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायणभाष्य[1] इस प्रकार है—"गर्जन शब्द करने वाली तथा दुधारु गाय की भांति बिजुली मेघस्थ दिखाई देती हुई शब्द (गर्जन) करती है। बिजुली चमकते समय मेघों की गर्जना प्रसिद्ध है। जैसे गोमाता बछड़े का सेवन करती है, वैसे ही विद्युत् मरुद्देवों का सेवन करती है। क्योंकि मरुतों से सम्बद्ध वृष्टि होती है, अथवा गर्जन सहित बिजुली चमकते समय वृष्टि होती है, अतः बिजुली का मरुद्देवों का सेवन करना प्रसिद्ध है ॥"

इस सायणभाष्य से स्पष्ट है कि 'मरुतः' देवता वृष्टि कराते हैं और ये वायु ही हो सकते हैं, जिनका सेवन विद्युत्=बिजुली करती है। इन मरुतों का उत्पत्ति स्थान आकाश है, अतः इन्हें 'पृश्निमातरः' (ऋ० १। ३८। ४ मन्त्र में) कहा है। और ये मरुत् ही (ऋ० १। ३८। ६ में) मेघों से सूर्य को ढककर दिन में भी अन्धकार कर देते हैं। परन्तु इन वृष्टिकारक मरुद्देवों को शरीरधारी, रथारूढ़ होकर हाथों में चाबुक लिए हुए, अथवा शस्त्रधारण किए हुए, यजमान की प्रार्थना पर यज्ञप्रदेश में आकर हवि से तृप्त होते हुए इत्यादि इस सूक्त की व्याख्या में सायणाचार्य की कल्पनाओं पर वृष्टि-विज्ञान से अनभिज्ञ व्यक्ति भी विश्वास कैसे करेगा ? क्योंकि वृष्टि होते हुए सब देखते हैं,

---

१. वाश्रेव शब्दयुक्ता प्रस्नुतस्तनवती धेनुरिव विद्युत् मेघस्था दृश्यमाना सति मिमाति शब्दं करोति। विद्युद्वेलायां हि मेघगर्जनं प्रसिद्धम्। माता धेनुः वत्सं न वत्समिव सिषक्ति इयं विद्युत् मरुतः सेवते। यत् यस्मात्कारणात् एषां मरुतां सम्बन्धिनी वृष्टिरसर्जि गर्जनसहिते विद्युत् काले वृष्टा भवति तस्मात् विद्युतो मरुत्सेवनमुपपन्नम् ॥ (सायणः)

किन्तु ये मरुद्देव कदापि नहीं दीखते । क्या सायणाचार्य ऐसी व्याख्या स्वप्न-दशा में तो नहीं लिख गये कि जो अपनी व्याख्या में भी परस्पर विरोध उन्हें नहीं सूझा ॥ ८ ॥ ●

घौरः कण्व ऋषिः । **मरुतः (वायवः)** देवताः । निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनस्ते वायवः किं कुर्वन्तीत्युपदिश्यते ॥

फिर वे वायु क्या करते हैं, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

दिवा चित्तमः कृण्वन्ति पर्जन्येनोदवाहेन । यत्पृथिवीं व्युन्दन्ति ॥ ९ ॥

दिवा । चित् । तमः । कृण्वन्ति । पर्जन्येन । उदवाहेन । यत् । पृथिवीम् । विऽउन्दन्ति ॥ ९ ॥

पदार्थः—(**दिवा**) दिवसे (**चित्**) इव (**तमः**) अन्धकाराख्यां रात्रिम् (**कृण्वन्ति**) कुर्वन्ति (**पर्जन्येन**) मेघेन (**उदवाहेन**) य उदकानि वहति तेन । अत्र **कर्मण्यण्** । अ० ३ । २ । १ । इत्यण् प्रत्ययः **वाच्छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति** इत्युदकस्योद आदेशः । (**यत्**) ये (**पृथिवीम्**) विस्तीर्णां भूमिम् (**व्युन्दन्ति**) विविधतया क्लेदयन्त्यार्द्रयन्ति ॥ ९ ॥

प्रमाणार्थ—(**उद्वाहेन**) यहाँ 'कर्मण्यण्' (अ० ३ । २ । १) इस सूत्र से 'अण्' प्रत्यय है, 'वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति' (महा० १ । ४ । ९) इस परिभाषा से 'उदक' शब्द को 'उद्' आदेश है ॥

अन्वयः — हे मनुष्या यद्ये वायव उद्वाहेन पर्जन्येन दिवा तमः चित् कृण्वन्ति पृथिवीं व्युन्दन्ति तान्युक्त्योपकुरुत ॥ ९ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **मनुष्या** ! **यत्**=**ये वायव उद्वाहेन**=**पर्जन्येन** य उदकानि वहति तेन मेघेन **दिवा** दिवसे **तमः** अन्धकाराख्यां रात्रिं **चित्** इव **कृण्वन्ति** कुर्वन्ति; **पृथिवीं** विस्तीर्णां भूमिं **व्युन्दन्ति** विविधतया क्लेदयन्त्यार्द्रयन्ति; **तान् युक्त्योपकुरुत ॥ ९ ॥**

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः । वायव एव जलावयवान् कठिनीकृत्य घनाकारं मेघं (उत्पाद्य) दिवसेप्यन्धकारं जनित्वा पुनर्विद्युतमुत्पाद्य तया तान् छित्वा पृथिवीं प्रति निपात्य जलैः स्निग्धां कृत्वानेकानोषध्यादिसमूहान् जनयन्तीति विद्वांसोऽन्यानुपदिशन्तु ॥ ९ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! (**यत्**) जो वायु (**उद्वाहेन**) जल को वहन करने वाले मेघ से (**दिवा**) दिन में (**तमः**) अन्धकार रूप रात्रि के (**चित्**) समान अन्धकार (**कृण्वन्ति**) करते हैं, और (**पृथिवीम्**) विस्तीर्ण भूमि को (**व्युन्दन्ति**) विविध प्रकार से आर्द्र=गीला करते हैं, उनका युक्ति से सेवन करो ॥ ९ ॥

भावार्थ — यहाँ उपमा अलङ्कार है । वायु ही जल के अवयवों को कठिन कर, घनाकार मेघ को उत्पन्न करके दिन में भी अन्धकार प्रकट कर और फिर विद्युत् को उत्पन्न करके, उससे इनको काटकर, पृथ्वी पर गिराकर, जलों से स्निग्ध कर, अनेक ओषधि-समूह को उत्पन्न करते हैं, इस प्रकार विद्वान् अन्यों को उपदेश करें ॥ ९ ॥

भाष्यसार—वायु क्या करते हैं—वायु—जल को वहन करनेवाले मेघ से दिन में रात्रि के समान अन्धकार करते हैं । वे पृथिवी को जल से आर्द्र करते हैं और विविध ओषधियों को उत्पन्न करते हैं ॥ ९ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में 'चित्' पद उपमा-वाचक है, अतः उपमा अलङ्कार है। उपमा यह है कि जैसे रात्रि में अन्धकार होता है, वैसे वायु मेघ से दिन में अन्धकार करते हैं॥ ९॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"वे मरुद्देव जल को धारण करने वाले मेघ के द्वारा सूर्य को ढककर दिन में भी अन्धकार कर देते हैं। जब पृथिवी को विशेषरूप से गीला करते हैं, तब अतिवृष्टि के समय अन्धकार करते हैं॥"

इस मन्त्र में भी मरुतः=वायु के कार्यों का ही वर्णन किया गया है। सायण-भाष्य में भी मरुद्देवों का अर्थ वृष्टि करना, मेघों को इधर-उधर ले जाकर सूर्य का आवरण करना और उससे अन्धकार का होना लिखा है। यद्यपि सायणाचार्य ने यहाँ भी 'मरुतः' देवता की कोई व्याख्या नहीं की है, किन्तु मरुद्देवों के कार्य से उनके विषय में अवश्य जानकारी मिलती है। मरुद्देवों के कार्य से (वृष्टि करना) सायण-व्याख्या की दूसरी कल्पित-मान्यतायें स्वतः ही खण्डित होकर धराशायी हो जाती हैं। क्योंकि वृष्टि-कारक मरुतः=पवनें शरीरधारी, रथारूढ़, पृश्निनामक गाय के पुत्र तथा शस्त्रधारणादि सायण की कल्पनाओं से बिलकुल पृथक् हैं। महर्षि-दयानन्द ने यहाँ देवता की स्पष्ट व्याख्या करके समस्त मन्त्र का सुसंगत अर्थ किया है॥ ९॥

घौरः कण्व ऋषिः। **मरुतः** (**वायवः**) देवताः। निचृद्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनरेतेषां योगेन किं भवतीत्युपदिश्यते॥

फिर इन पवनों के योग से क्या होता है, इस विषय का उपदेश किया जाता है॥

अध॑ स्व॒नान्मरु॒तां विश्व॒मा सद्म॒ पार्थि॑वम्। अरे॑जन्त॒ प्र मानु॑षाः॥ १०॥

अध। स्व॒नात्। म॒रुता॑म्। विश्व॑म्। आ। सद्म॑। पार्थि॑वम्। अरे॑जन्त। प्र। मानु॑षाः॥ १०॥

पदार्थः—(**अध**) आनन्तर्ये। **वर्णव्यत्ययेन** थस्य धः। (**स्वनात्**) उत्पन्नाच्छब्दात् (**मरुताम्**) वायूनां विद्युतश्च सकाशात् (**विश्वम्**) सर्वम् (**आ**) समन्तात् (**सद्म**) सीदन्ति यस्मिन् गृहे तत्। **सद्म इति गृहनामसु पठितम्** निघं० ३। ४। (**पार्थिवम्**) पृथिव्यां विदितं वस्तु (**अरेजन्त**) कम्पन्ते **रेजृ कम्पन अस्माद्धातोर्लंडर्थे लङ्**। (**प्र**) प्रगतार्थे (**मानुषाः**) मानवाः॥ १०॥

प्रमाणार्थ—(**अध**) यहाँ वर्ण-व्यत्यय से 'थ' को 'ध' आदेश है। (**सद्म**) यह पद निघण्टु (३। ४) गृह-नामों में पढ़ा है—गृह=घर। (**अरेजन्त**) कम्पन अर्थ वाली 'रेजृ' धातु से 'लट्' लकार के अर्थ में लङ्' लकार है॥ १०॥

अन्वयः—हे मानुषा यूयं येषां मरुतां स्वनादध विश्वं पार्थिवं सद्म कम्पते प्राणिनः प्रारेजन्त प्रकम्पन्ते चलन्तीति विजानीत॥ १०॥

सपदार्थान्वयः— हे **मानुषाः**! मानवाः! **यूयं येषां मरुतां** वायुनां विद्युतश्च सकाशात् **स्वनात्** उत्पन्नाच्छब्दात् **अध** अनन्तरं **विश्वं** सर्वं **पार्थिवं** पृथिव्यां विदितं वस्तु **सद्म** सीदन्ति यस्मिन् गृहे तत् **आ** समन्तात् **प्र अरेजन्त** प्रकम्पन्ते चलन्तीति विजानीत॥ १०॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो! तुम—जिन (**मरुताम्**) पवनों और विद्युतों से **स्वनात्** उत्पन्न शब्द के (**अध**) पश्चात् (**विश्वम्**) सब (**पार्थिवम्**)

---

१. ते मरुतः उदवाहेन उदकधारिणा पर्जन्येन मेघेन सूर्यमाच्छाद्य दिवा चित् अह्न्यपि तमः कृण्वन्ति अन्धकारं कुर्वन्ति। यत् यदा पृथिवीं भूमिं व्युन्दन्ति विशेषेण क्लेदयन्ति तदानीमतिवृष्टिकाले तमः कुर्वन्तीति पूर्वत्रान्वयः॥ (सायणः)

सर्वं **पार्थिवं सद्म** सीदन्ति यस्मिन् गृहे तत् **कम्पते प्राणिनः प्रारेजन्त=प्रकम्पन्ते=चलन्तीति विजानीत** ॥ १० ॥

भावार्थः—हे ज्योतिर्विदो विपश्चितो मरुतां योगेनैव सर्वं मूर्तिमद्द्रव्यं चेष्टते, प्राणिनो भयङ्कराद्विद्युच्छब्दाद्भीत्वा कम्पते, पृथिव्यादिकं प्रतिक्षणं भ्रमतीति निश्चिन्वन्तु ॥ १० ॥

पार्थिव (**सद्म**) घर आदि स्थान कांपता है और प्राणी भी (**प्र+अरेजन्त**) कांपते हैं—ऐसा जानो ॥ १० ॥

भावार्थ— हे ज्योतिष जानने वाले विद्वानो ! आप—वायु के योग से ही सब मूर्तिमान् पदार्थ चेष्टा करते हैं, प्राणी भयंकर विद्युत् शब्द से डरकर कंपाते हैं, पृथिवी आदि प्रतिक्षण भ्रमण करते हैं—ऐसा निश्चय करो ॥ १० ॥

भाष्यसार— **वायु के योग से क्या होता है**—वायु से उत्पन्न शब्द के पश्चात् सब पार्थिव गृह आदि स्थान एवं मूर्त्त द्रव्य कांपते हैं, चेष्टा करते हैं। और विद्युत् से उत्पन्न भयंकर शब्द से प्राणी कांपते हैं। वायु के योग से पृथिवी आदि प्रतिक्षण भ्रमण करते हैं ॥ १० ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"मरुद्गण से संबद्ध गर्जनरूप ध्वनि से पृथिवीस्थ सब घर कम्पित हो गये। और घरों में रहने वाले मनुष्य भी प्रकृष्टरूप से कम्पित हुए।"

इस मन्त्र की सायण-व्याख्या से भी स्पष्ट है कि मरुद्देव कोई स्वर्गस्थ कल्पित शरीरधारी नहीं हैं, अपितु पवनों का नाम ही 'मरुतः' है। और पवनों की तीव्र गति तथा संघर्षण से उत्पन्न विद्युत् के शब्द से सारा विश्व ही भयभीत हो जाता है। इस वृष्टि-विज्ञान को जानने वाले विद्वान् सायण के विग्रहवान्, शस्त्रधारी, रथारूढ़ तथा स्वर्ग से आनेवाले मरुद्देवों पर कदापि विश्वास नहीं कर सकते। और ये मरुद्देव पहले कभी वृष्टि कराते थे अथवा ध्वनि=गर्जन से सम्बद्ध रहते थे, ऐसी जो सायण ने भूतकालीन व्याख्या की है, वह भी प्रत्यक्ष विरुद्ध तथा वैदिक नियमों से अनभिज्ञता के कारण ही है। क्योंकि ये मरुद्देव अब भी वृष्टि करते हैं और आगे भी करेंगे। और 'अरेजन्त' क्रिया में लङ् लकार है, इसका लोक में भूतकाल में ही प्रयोग होता है, किन्तु 'लुङ्लङ्लिटः' (अ० ३। ४। ६) इस वैदिक व्याकरण के नियम से लङादि लकारों का वेद में सामान्यकाल में भी प्रयोग है।

और सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि समस्त ब्रह्माण्ड आकाश में गति कर रहा है, इसका कारण भी मरुद्देव=पवनें ही हैं। इन पवनों के योग के विना पुथिवी आदि का भ्रमण सम्भव नहीं है। महर्षि दयानन्द ने मन्त्रार्थ का साक्षात्कार होने के कारण इस रहस्य को स्पष्ट किया है। सायणाचार्य ने तो विद्युद्-ध्वनि से कम्पित होना मात्र ही लिखा है। उन्होंने यह नहीं विचार किया कि चलन, कम्पन, भ्रमणादि क्रियायें एकार्थक ही हैं। इनका भयवश कम्पन ही अर्थ करना संकुचित तथा अस्पष्ट व्याख्या है ॥ १० ॥ ●

घौरः कण्व ऋषिः। **मरुतः**। (**मनुष्याः**) देवताः। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनस्ते मानवा वायुभिः किं कुर्वन्तीत्युपदिश्यते ॥

फिर वे मनुष्य पवनों से क्या करते हैं, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

---

१. मरुतां संबन्धिनः स्वनात् अध ध्वनेर्गर्जनारूपादनन्तरं पार्थिवं पृथिवीसम्बन्धिविश्वं सद्म सर्वं गृहम् आ समन्तात् अरेजत इति शेषः। तथा मानुषाः गृहवर्त्तिनो मनुष्या अपि प्र अरेजन्त प्रकर्षेण कम्पितवन्तः ॥ (सायणः)

मरुतो वीळुपाणिभिश्चित्रा रोधस्वतीरनु यातेमखिद्रयामभिः ॥ ११ ॥

मरुतः । वीळुपाणिऽभिः । चित्राः । रोधस्वतीः । अनु । यात । ईम् । अखिद्रयामऽभिः ॥ ११ ॥

पदार्थः—(**मरुतः**) योगाभ्यासिनो व्यवहारसाधका वा जनाः (**वीळुपाणिभिः**) वीळूनि=दृढानि बलानि पाण्योर्ग्रहणसाधनव्यवहारयोर्येषां तैः । **वीड्विति बलनामसु पठितम्** । निघं० २ । ९ । (**चित्राः**) अद्भुतगुणाः (**रोधस्वतीः**) रोधो=बहुविधमावरणं विद्यते यासां नदीनां नाडीनां वा ताः **रोधस्वत्य इति नदीनामसु पठितम्** । निघं० १ । १३ । (**अनु**) अनुकूले (**यात**) प्राप्नुत (**ईम्**) एव (**अखिद्रयामभिः**) अच्छिन्नानि=निरन्तराणि गमनानि येषां तैः । **स्फायितञ्चि०** उ० २ । १३ । इति रक् । **सर्वधातुभ्यो मनिन्** इति करणे मनिँश्च ॥ ११ ॥

प्रमाणार्थ—(**वीळुपाणिभिः**) 'वीळु' यह पद निघण्टु (२ । ९) में बल-नामों में पढ़ा है । (**रोधस्वतीः**) 'रोधस्वत्यः' यह पद निघण्टु (१ । १३) में नदी-नामों में पढ़ा है । (**अखिद्रयामभिः**) यहाँ 'स्फायितञ्चि०' (२ । १३) इस उणादि सूत्र से 'रक्' प्रत्यय और सर्वधातुभ्यो मनिन् (४ । १४४) इस उणादि सूत्र से 'करण' अर्थ में मनिन् प्रत्यय है ॥

अन्वयः—हे मरुतो यूयमखिद्रयामभिर्वीळुपाणिभिः पवनैः सह रोधस्वतीश्चित्रा ईमनुयात ॥ ११ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **मरुतः** योगाभ्यासिनो व्यवहारसाधका वा जनाः ! **यूयमखिद्रयामभिः** अच्छिन्नानि=निरन्तराणि गमनानि येषां तैः **वीळुपाणिभिः** वीळूनि=दृढानि बलानि पाण्योर्ग्रहणसाधनव्यवहारयोर्येषां तैः **पवनैः सह रोधस्वतीः** रोधो= बहुविधमावरणं विद्यते यासां नदीनां नाडीनां वा ताः **चित्राः** अद्भुतगुणाः **ईम् एव अनु+यात** अनुकूलं प्राप्नुत ॥

भावार्थः—वायुषु गमनबलव्यवहारहेतूनि कर्माणि स्वाभाविकानि सन्ति । एते खलु नदीनां गमयितारो नाडीनां मध्ये गच्छन्तो रुधिररसादिकं शरीराऽवयवेषु प्रापयन्ति तस्माद्योगिभिर्योगाभ्यासेनेतरैर्जनैश्च बलादिसाधनाय वायुभ्यो महोपकारा ग्राह्याः ॥ ११ ॥

भाषार्थ—हे (**मरुतः**) योगाभ्यासी और व्यवहार के साधक मनुष्यो ! तुम (**अखिद्रयामभिः**) निरन्तर गति वाले (**वीळुपाणिभिः**) पाणि=ग्रहण और साधन रूप व्यवहारों में दृढ़ बलवाले पवनों के सहाय से (**रोधस्वतीः**) बहुत प्रकार के आवरणवाली (**चित्राः**) अद्भुत गुणों वाली नदियों या नाडियों को (**ईम्**) अवश्य (**अनुयात**) अनुकूलता पूर्वक प्राप्त करो ॥

भावार्थ—पवनों में गमन, बल और व्यवहार के हेतु कर्म स्वाभाविक हैं, ये निश्चय से नदियों को चलाने वाले, नाडियों में चलते हुए रुधिर, रस आदि को शरीर के अवयवों में प्राप्त कराते हैं इस लिए योगीजन योगाभ्यास से और दूसरे मनुष्य बलादि साधनों के लिये वायु से महान् उपकार ग्रहण करें ॥

भाष्यसार—**मनुष्य वायु से क्या करें**—योगाभ्यासी मनुष्य निरन्तर गति वाले, साधनरूप व्यवहारों में दृढ़ बलवाले वायु के सहाय से विविध आवरण वाली अद्भुत नाडियों को अवश्य प्राप्त करें । ये वायु नाडियों में गति करते हुये रुधिर, रस आदि को शरीर अवयवों में पहुंचाते हैं । इसलिये योगीजन बल आदि की सिद्धि के लिये वायु (प्राण) से उपकार ग्रहण करें । लोक-व्यवहार के साधक मनुष्य भी निरन्तर गति वाले, ग्रहणरूप व्यवहारों में दृढ़ बलवाले वायु के सहाय से विविध आवरण=

अवरोध वाली एवं अद्भुत गुणों से युक्त नदियों को अवश्य प्राप्त करें। वायु वर्षा से नदियों को चलाने वाले हैं। मनुष्य बल आदि की सिद्धि के लिये वायु से महान् उपकार ग्रहण करें ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण- भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे मरुद्देवो ! तुम सब दृढ़ हाथों से किनारे वाली नदियों को लक्ष्य करके निरन्तर गति करते ही रहो ॥"

सायणाचार्य ने यहाँ वेद-भाष्य की प्राचीन यौगिक-प्रक्रिया का परित्याग तथा लौकिक रूढ़ अर्थों का आश्रय करके मन्त्रार्थ किया है। जैसे मन्त्र में 'वीळुपाणिभिः पद का सायणभाष्य में 'दृढ़ हाथों से' अर्थ किया है। मन्त्र के देवता 'मरुतः' के साथ इस अर्थ की कोई संगति नहीं है। क्योंकि स्वयं सायण ने भी (ऋ० १ । ३८ । ८-९) मन्त्रों में मरुद्देवों को वृष्टि करने वाले माना है और ये मरुतः=पवन ही हैं। इन पवनों के हाथादि अवयव कदापि सम्भव नहीं हैं। अतः यहां 'पाणि' शब्द का 'पण व्यवाहरे स्तुतौ च' इस धात्वर्थ के अनुसार 'जो पाणि=ग्रहण तथा साधन के व्यवहारों में वीळु=दृढ़ बल वाले पवनों से अथवा बल के साधक प्राणायामादि से' इस अर्थ की ही 'मरुत्' देवता के साथ संगति है।

इसी प्रकार मन्त्र-पठित 'रोधस्वतीः' पद का नदी अर्थ ठीक नहीं है। यहां भी धात्वर्थ के अनुसार रोधस्वती=बहुत तरह के आवरण वाली (नाडियां या नदियाँ) अर्थ होना चाहिये। क्योंकि इस पद में 'रोधस्' शब्द से मतुप् प्रत्यय है और रोधस् का अर्थ है—

रोधः कूलं निरुणद्धि स्रोतः ॥ (निरु० ६ । १) अर्थात् प्रवाह को इधर-उधर फैलने से जो रोकता है उसे 'रोधस्' कहते हैं। वह 'तट' अर्थ नदियों व नाडियों दोनों के साथ संगत होता है। प्रस्तुत मन्त्र में 'मरुत्'=पवनें नदियों को लक्ष्य करके कृषि आदि के साधन में दृढ़ बल से चलकर वृष्टि करें और दूसरे मरुतः=प्राणविद्या के अभ्यासी योगी जन नाडियों में रुधिर को प्रवाहित करने वाले प्राण को वश में करके बलादि की सिद्धि करें।

और सायण-भाष्य में मन्त्र-पठित 'चित्राः' पद को तो छोड़ ही दिया है। सम्भव है वे इस की संगति न लगा सके और पद को बिना व्याख्या किए ही छोड़ दिया, यह उनके भाष्य की अपूर्णता ही है। यथार्थ में 'चित्राः पद की संगति शरीर की नाडियों के साथ अधिक संगत है। क्योंकि शरीर में नाडियों का जो विस्तार है, वह अतीव विचित्र है, जिसे शरीर-विज्ञान के विद्वान् ही जान सकते हैं। योगाभ्यासी पुरुष को शरीर विज्ञान का बोध अवश्य होना चाहिये। परन्तु शरीर-विज्ञान से शून्य सायणादि पौराणिक-भाष्यकारों को इस सुसंगत अर्थ का प्रस्फुरण कैसे हो सकता था ? इस प्रकार सायण का मन्त्रार्थ असंगत ही है। और सायण-कृत अर्थ में किसी भी प्रकार की सत्यता तथा रहस्य नहीं है। 'नदियों को लक्ष्य करके सायण के कल्पित मरुद्देव दृढ़हाथों के साथ निरन्तर गति करें' इस अर्थ में क्या संगति है ? नदियों के साथ मरुद्देवों का वृष्टि करने के कारण यदि सम्बन्ध बताया जाये, तो वृष्टि करनेवाले मरुद्देवों के हस्तादि अवयव न होने से यह अर्थ निरर्थक ही प्रतीत हो रहा है ॥ ११ ॥ ●

घौरः कण्व ऋषिः । **मरुतः (वायवः)** देवताः । पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तदेवाह ॥

फिर वायु विषय का उपदेश किया है ॥

---

१. हे मरुतः ! यूयं वीळुपाणिभिः दृढहस्तैः सहिताः सन्तः रोधस्वतीरनुकूलयुक्ता नदीरनुलक्ष्य अखिद्रयामभिः अच्छिन्नगमनैः यातेम गच्छतैव ॥ (सायणः)

स्थि॒रा वः॑ सन्तु ने॒मयो॒ रथा॒ अश्वा॑स एषाम् । सुसं॑स्कृता अ॒भीश॑वः ॥ १२ ॥

स्थि॒राः । व॒ः । स॒न्तु॒ । ने॒मयः॑ । रथाः॑ । अश्वा॑सः । ए॒षा॒म् । सुऽसं॑स्कृताः । अ॒भीश॑वः ॥ १२ ॥

पदार्थः—(**स्थिराः**) दृढाः (**वः**) युष्माकम् (**सन्तु**) भवन्तु (**नेमयः**) कलाचक्राणि (**रथाः**) विमानादीनि यानानि (**अश्वासः**) अग्नयादयस्तुरङ्गा वा । अत्र **आज्जसेरसुग्** इत्यसुगागमः । (**एषाम्**) मरुतां सकाशात् **सुसंकृता** सुष्ठु संस्क्रियन्ते शिल्पक्रियया सम्यक् सम्पाद्यन्ते ते (**अभीशवः**) अभितोश्नुवते=व्याप्नुवन्ति मार्गान्यैस्ते रश्मयो हया वा । अत्राभिपूर्वादशूङ् व्याप्तावित्यस्माद्धातोः **कृवापा० १ । १ । इत्यण् वर्णव्यत्ययेनाकारस्थान ईकारश्च ॥ १२ ॥**

प्रमाणार्थ—(**अश्वासः**) यहां 'आज्जसेरसुक्' (अ० ७ । १ । ५०) इस सूत्र से 'असुक्' आगम है । (**अभीशवः**) यहां 'कृवापा०' (१ । १) इस उणादि सूत्र से अण्, प्रत्यय और वर्ण-व्यत्यय से आकार के स्थान में 'ईकार' आदेश है ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे विद्वांसो मनुष्या वो युष्माकमेषां मरुतां सकाशात्सुसंस्कृता नेमयो रथा अभीशवोऽश्वासश्च स्थिराः सन्तु ॥ १२ ॥

सपदार्थान्वयः—हे विद्वांसो मनुष्याः **वः**=युष्माकमेषां=मरुतां **सकाशात्, सुसंस्कृता** सुष्ठु संस्क्रियन्ते शिल्पक्रियया सम्यक् संपाद्यन्ते ते **नेमयः** कलाचक्राणि **रथाः** विमानादीनि यानानि **अभीशवः** अभितोऽश्नुवते=व्याप्नुवन्ति मार्गान्यैस्ते रश्मयो हया वा **अश्वासः** अग्न्यादयस्तुरङ्गा वा **च स्थिरा** दृढा **सन्तु** भवन्तु ॥ १२ ॥

भाषार्थ—हे विद्वान् मनुष्यो ! (**वः**) तुम्हारे (**एषाम्**) इन पवनों के योग से (**सुसंस्कृताः**) अच्छे प्रकार शिल्पक्रिया से निष्पन्न (**नेमयः**) कलाचक्र से युक्त (**रथाः**) विमानादि यान और (**अभीशवः**) सब ओर मार्गों को व्याप्त करने वाले (**अश्वासः**) अग्नि आदि या तुरंग=घोड़े (**स्थिराः**) स्थिर (**सन्तु**) हों ॥ १२ ॥

भावार्थः—ईश्वर उपदिशति । हे मनुष्या युष्माभिर्विविधकलाचक्राणि यानानि रचयित्वा तेष्वग्निजलादीनां शीघ्रं गमयितॄणां संप्रयोगेण वायूनां योगात्सुखेन सर्वतो गमनागमनानि शत्रुविजयादयः सर्वे व्यवहाराः संसाधनीया इति ॥१२॥

भावार्थ—ईश्वर उपदेश करता है—हे मनुष्यो ! तुम विविध कलाचक्रवाले यानों को रचकर, उनमें शीघ्र चलने वाले अग्नि, जल आदि के प्रयोग, तथा वायु के योग से सुखपूर्वक सब ओर गमन-आगमन और शत्रु-विजय आदि सब व्यवहार सिद्ध करो ॥ १२ ॥

भाष्यसार—**वायु-विषयक उपदेश**—वायु के योग से शिल्प-क्रिया से निष्पन्न, कलाचक्र से युक्त विमान आदि यानों को विद्वान् स्थिर करें । विद्वानों के सब मार्गों को व्याप्त करने वाले अग्नि आदि और तुरंग आदि भी स्थिर हों ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे मरुद्देवो ! तुम्हारे रथों की नेमियाँ=धुरियाँ, रथ और गोड़े स्थिर हों । और तुम्हारी अंगुलियां घोड़ों को बान्धने=संयम करने की रस्सी=लगाम के पकड़ने में सावधान हों ॥"

इस मन्त्र का तो सायणाचार्य ने भ्रान्तिवश समस्त मन्त्रार्थ ही मिथ्या व कल्पित किया है । जिन मरुद्देवों को इसी सूक्त में सायण ने वृष्टि कराने वाले माना है, उन्हीं के वाहनभूत रथों, घोड़ों

१ हे मरुतः! एषां वः युष्माकं नेमयः रथचक्रवलयाः स्थिराः सन्तु । तथा रथा अश्वासः अश्वाश्च स्थिराः सन्तु । अभिशवः अङ्गुलयः सुसंस्कृताः अश्ववन्धनरज्जुपरिग्रहणे स्वलंकृताः सावधानाः सन्तु । (सायणः)

तथा लगाम पकड़ने के लिए लोक की भांति हस्तादि अवयवों का मानना क्या निरर्थक कल्पना नहीं है? क्या वृष्टि कराने वाले मरुद्देव शरीरधारी तथा रथारूढ़ होकर आते हुए किसी ने देखे हैं? अतः यह शास्त्रविरुद्ध, सृष्टि-विज्ञान से विरुद्ध तथा प्रत्यक्षविरुद्ध होने से सायणाचार्य की निरर्थक कल्पना ही है।

महर्षि दयानन्द की इस मन्त्र की सुसंगत व्याख्या देखिये—मरुतः=पवनों के गुणों को जानकर शिल्पी विद्वान् पवन के योग से ऐसे रथ=रमण करने के विमानादि यानों का निर्माण करें, जो अभिशवः=चारों ओर मार्गों पर व्याप्त होकर चल सकें। और उन यमों में नेमयः=कलाचक्र स्थिराः=दृढ़ होने चाहिये। उनको चलाने के लिए अश्वासः=अग्नि जलादि का वैज्ञानिक रीति से प्रयोग किये जायें अथवा भूमि-यानों में घोड़े आदि पशुओं का प्रयोग कर सकते हैं। और वे यान सुसंस्कृताः=शिल्पविद्या के द्वारा निष्पन्न होने चाहिए।

महर्षि के इस भाष्य में कोई भी अप्रामाणिक अर्थ तथा कल्पना का प्रयोग नहीं है। महर्षि ने सभी पदों की संगति यौगिक-प्रक्रिया तथा देवता के अनुसार की है। परन्तु सायण ने इस महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया का सर्वथा परित्याग करके 'रथाः' 'अश्वाः' आदि पदों के लोकरूढ़ अर्थ करके तथा देवता के संगत अर्थ को न समझने के कारण सारे ही मन्त्र की भ्रान्त व्याख्या की है॥ १२॥ ●

घौरः कण्व ऋषिः। **मरुतः** (**मनुष्याः**) देवताः। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

तदेतदुपदेशको विद्वान् कीदृशो भवेदित्युपदिश्यते॥

फिर इस विमानादि यान-विद्या का उपदेशक विद्वान् कैसा होवे, इस विषय का उपदेश किया जाता है॥

अच्छा वदा तना गिरा जरायै ब्रह्मणस्पतिम्। अग्निं मित्रं न दर्शतम्॥ १३॥

अच्छ। वद। तना। गिरा। जरायै। ब्रह्मणः। पतिम्। अग्निम्। मित्रम्। न। दर्शतम्॥ १३॥

पदार्थः—(**अच्छ**) सम्यग्रीत्या। अत्र दीर्घः। (**वद**) उपदिश। अत्र **द्व्यचोतस्तिङ** इति दीर्घः। (**तना**) गुणप्रकाशं विस्तारयन्त्या (**गिरा**) स्वकीयया वेदयुक्तया वाण्या (**जरायै**) स्तुत्यै। **जरा-स्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणः**। निरु० १०। ८। (**ब्रह्मणः**) वेदस्याऽध्यापनोपदेशेन (**पतिम्**) पालकम् (**अग्निम्**) ब्रह्मवर्चस्विनम् (**मित्रम्**) सुहृदम् (**न**) इव (**दर्शतम्**) द्रष्टव्यम्॥ १३॥

प्रमाणार्थ—(**अच्छ**) यहाँ संहिता में दीर्घ है—अच्छा। (**वद**) यहां 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (अ० ६। ३। १३५) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—वदा। (**जरायै**) निरुक्त (१०। ८) के अनुसार 'जरा' पद स्तुत्यर्थक है और स्तुति अर्थ वाली 'जरति' धातु से सिद्ध है॥ १३॥

अन्वयः—हे सर्वविद्याविद्विद्वंस्त्वं ब्रह्मणस्पतिं दर्शतमग्निं मित्रं न जरायै तना गिरा विमानादियानविद्यामच्छा वद॥ १३॥

सपदार्थान्वयः—हे **सर्वविद्याविद्विद्वन्!** **त्वं ब्रह्मणः** वेदस्याध्यापनोपदेशेन **पतिं** पालकं **दर्शतं** द्रष्टव्यम् **अग्निं** ब्रह्मवर्चस्विनं **मित्रं** सुहृदं **न** इव **जरायै** स्तुत्यै **तना** गुणप्रकाशं विस्तारयन्त्या **गिरा** स्वकीयया वेदयुक्त्या वाण्या

भाषार्थ—हे सब विद्याओं के ज्ञाता विद्वान्! आप—(**ब्रह्मणः**) वेद के अध्यापन रूप उपदेश से (**पतिम्**) पालक (**दर्शतम्**) दर्शनीय (**अग्निम्**) ब्रह्मवर्चस्वी (**मित्रम्**) मित्र के (**न**) समान (**जरायै**) स्तुति=यथार्थ गुण-ज्ञान के लिये (**तना**) गुण-

विमानादियानविद्यामच्छ सम्यग्रीत्या **वद** उपदिश ।। प्रकाश का विस्तार करनेवाली (**गिरा**) अपनी वेदयुक्त वाणी से विमान आदि यान-विद्या का (**अच्छ**) अच्छी रीति से (**वद**) उपदेश करो ।।

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः । हे विद्वांसो मनुष्या यथा प्रियः सखा प्रीतं तेजस्विनं वेदोपदेशकं सुहृदं सेवागुणस्तुतिभ्यां प्रीणाति तथा सर्वविद्याविस्तारिकया वेदवाण्या विमानादियानरचनविद्यां तद्गुणज्ञानाय सम्यगुपदिशत ।। १३ ।।

भावार्थ—यहाँ उपमा अलङ्कार है । हे विद्वानो ! जैसे प्रिय सखा—प्रिय, तेजस्वी, वेदोपदेशक, मित्र की सेवा और गुण-स्तुति से तृप्त करता है, वैसे सब विद्या का विस्तार करनेवाली वेद-वाणी से, विमान आदि यान रचने की विद्या का, उसके गुणज्ञान के लिए निरन्तर उपदेश करें ।।

भाष्यसार—**विमान आदि यान-विद्या का उपदेशक विद्वान् कैसा हो**—विमान आदि यान-विद्या का उपदेशक विद्वान् सब विद्याओं का ज्ञाता हो । वह वेद के अध्यापन रूप उपदेश से पालक हो । वह दर्शनीय (सुन्दर), ब्रह्मवर्चस्वी और मित्र के समान हो । वह स्तुति अर्थात् यथार्थ गुण-ज्ञान के लिये गुणों का गुण-प्रकाश का विस्तार करने वाली अपनी वेदोक्त वाणी से अच्छे प्रकार उपदेश करे ।।

अलंकार—इस मन्त्र में 'न' पद उपमा-वाचक है, अतः उपमा-अलङ्कार है । उपमा यह है कि मन्त्रोक्त विद्या का उपदेशक विद्वान् मित्र के समान व्यवहार करनेवाला हो ।। १३ ।।

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार—"हे ऋत्विक्समूह ! तुम देवता के स्वरूप को प्रकाशित करने वाली वाणी के द्वारा मन्त्र के पालक अथवा हविरूप अन्न के पालक मरुद्गण से, अग्नि से, और दर्शनीय मित्र से भी सामने होकर बातें करो ।।"

इस मन्त्र के सायण-भाष्य में मरुद्गण, अग्नि, मित्र से बात करने के लिये ऋत्विजों से कहा है । किन्तु मरुद् आदि पदों की कोई व्याख्या नहीं की है । ये देव कौन हैं ? क्या मरुद्गण, जो वृष्टि करते हैं, उनसे बातें करना सम्भव है ? और अग्नि व मित्र क्या हैं ? यदि ये भी भौतिक ही हैं, तो इनसे कैसे बातें हो सकती हैं ? क्या जड़-पदार्थों के साथ चेतन के तुल्य वाणी का व्यवहार करना सम्भव है ? इत्यादि अनेक भ्रान्तियों का कारण सायण की दर्शनविद्या से अनभिज्ञता थी । और मरुद्गण क्या हैं, जो वृष्टि कराते हैं ? क्या वे वेद-मन्त्रों के रक्षक हो सकते हैं ? वृष्टि कराने वाले मरुद्देवों को अन्न का पालक तो कहा जा सकता है, किन्तु मन्त्रों की रक्षा कैसे कर सकते हैं ? अतः सायण का मन्त्रार्थ असंगत कल्पनाओं से परिपूर्ण है ।

महर्षि-दयानन्द ने मन्त्र के देवता 'मरुतः' का अर्थ 'मनुष्य' किया है । मनुष्यों का कर्त्तव्य है कि वे ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि के लिये ब्रह्मणस्पतिम्—जो वेद के अध्यापक होने से रक्षक, दर्शतम्—दर्शनीय, अग्निम्—ब्रह्मवर्चस्वी, और मित्रं न=मित्र के समान विद्वान् पुरुष हैं, उनके पास जाकर जरायै—पदार्थविद्या की स्तुति के लिये उनके उपदेशों को सुनें । इस मन्त्रार्थ में किसी भी प्रकार की कल्पना अथवा असंगति नहीं है ।

परन्तु सायण-भाष्य में कल्पनाओं व असंगतियों के अतिरिक्त यह भी दोष है कि उन्होंने

---

१. हे ऋत्विक्समूह ! तना तनया देवतास्वरूपं प्रकाशयन्त्या गिरा वाचा ब्रह्मणस्पतिं मन्त्रस्य हविर्लक्षणस्यान्नस्य वा पालकं मरुद्गणम्, अग्निं दर्शतं दर्शनीयं मित्रं न मित्रमपि जरायै स्तोतुम् आभिमुख्येन वद ब्रूहि ।। (सायणः)

मन्त्र-पठित 'न' निपात को समुच्चयार्थक मानकर उसकी 'अपि' शब्द से व्याख्या की है। 'न' निपात के 'निषेध करना' तथा 'उपमा' दो अर्थ तो शास्त्रोक्त हैं, किन्तु यह तीसरा अर्थ सायण ने शास्त्रों से विरुद्ध किया है, क्या यह महाभ्रान्ति नहीं है? और मन्त्रपठित 'दर्शतम्' पद किसका विशेषण है? यह भी सायण-भाष्य से स्पष्ट नहीं है। यदि यह 'मित्रम्' का विशेषण है, तो यह 'दर्शनीय-मित्र' कौन है? यदि यह मरुद्गण का ही विशेषण है, तो भी मिथ्या है कि मरुतः—पवनें रूप का विषय न होने से दर्शनीय नहीं है, और सायण के कल्पित मरुद्गण तो किसी ने आज तक देखे नहीं हैं। क्या फिर यह 'दर्शतम्' पद निरर्थक ही है? इसकी संगति सायण-भाष्य से नहीं लग सकती॥ १३॥ ●

घौरः कण्व ऋषिः। **मरुतः (मनुष्याः)** देवताः। यवमध्या विराड्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनस्तत्पाठितो विद्यार्थी कीदृशो भवेदित्युपदिश्यते॥

फिर उस विद्वान् का पढ़ाया शिष्य कैसा होना चाहिए, इस विषय का उपदेश किया जाता है॥

मिमीहि श्लोकमास्ये पर्जन्यइव ततनः। गाय गायत्रमुक्थ्यम्॥ १४॥

मिमीहि॥ श्लोकम्। आस्ये। पर्जन्यःइव। ततनः। गाय। गायत्रम्। उक्थ्यम्॥ १४॥

पदार्थः—(**मिमीहि**) निर्मिमीहि। माङ् माने शब्दे चेत्यस्य रूपम् **व्यत्ययेन** परस्मैपदम्। (**श्लोकम्**) वेदशिक्षायुक्तां वाणीम्। **श्लोक इति वाङ्नामसु पठितम्**। निघं० १। ११। (**आस्ये**) मुखे (**पर्जन्य इव**) यथा मेघो गर्जनं कुर्वन्वृष्टिं तनोति (**ततनः**) विस्तारय। लेटि मध्यमैकवचने तनु विस्तार इत्यस्य रूपम्। **विकरणव्यत्ययेन** श्नोः श्लुः। (**गाय**) पठ पाठय वा (**गायत्रम्**) गायत्रीछन्दस्कम् (**उक्थ्यम्**) गातुं=वक्तुं योग्यम्॥ १४॥

प्रभ्राणार्थ—(**मिमीहि**) यहां 'मान' और 'शब्द' अर्थ वाली 'माङ्' धातु का रूप है और यहां व्यत्यय से परस्मैपद है। (**श्लोकम्**) 'श्लोक' यह पद निघण्टु (१। ११) में 'वाक्' नामों में पढ़ा है—वाक्=वाणी। (**ततनः**) यह 'लेट्' लकार मध्यमपुरुष एकवचन में विस्तार अर्थवाली 'तनु' धातु का रूप है तथा यहां विकरण-व्यत्यय से 'उ' को 'श्लु' और धातु को द्वित्व है॥ १४॥

अन्वयः—हे विद्वन् मनुष्य त्वमास्ये श्लोकं मिमीहि तं च पर्जन्य इव ततनः। उक्थ्यं गायत्रं च गाय॥ १४॥

सपदार्थान्वयः—हे **विद्वन् मनुष्य**! **त्वमास्ये** मुखे **श्लोकं** वेदशिक्षायुक्तां वाणीं **मिमीहि** निर्मिमीहि, **तं च पर्जन्यः इव** यथा मेघो गर्जनं कुर्वन्वृष्टिं तनोति **ततनः** विस्तारय, **उक्थ्यं** गातुं=वक्तुं योग्यं **गायत्रं** गायत्रीछन्दस्कं **च गाय** पठ पाठय वा॥ १४॥

भाषार्थ—हे विद्वान् मनुष्य! आप—(**आस्ये**) अपने मुख में (**श्लोकम्**) वेद की शिक्षा से युक्त वाणी का (**मिमीहि**) निर्माण करो, और उसका (**पर्जन्य इव**) जैसे मेघ गर्जता हुआ वर्षा करता है, वैसे (**ततनः**) विस्तार करो, और (**उक्थ्यम्**) उपदेश करने योग्य (**गायत्रम्**) गायत्री छन्द वाले वेदमन्त्र (**गाय**) पठन-पाठन करो॥१४॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः—हे विद्वद्भ्यो-धीऽतविद्या मनुष्या युष्माभिः सर्वथा प्रयत्नेन स्वकीयां वाणीं वेदविद्यासुशिक्षितां कृत्वा वाचस्पत्यं

भावार्थ—यहां उपमा अलंकार है। हे विद्वानों से विद्या पढ़े हुए मनुष्यो! तुम सब प्रकार प्रयत्न से वाणी को वेद-विद्या से सुशिक्षित करके, वाच-

संपाद्य परमेश्वरस्य वाय्वादीनां च गुणाः स्तोतव्याः श्रोतव्या उपदेशनीयाश्च ॥ १४ ॥

स्तुति बनकर, परमेश्वर और वायु आदि के गुणों की स्तुति, श्रवण और उपदेश करो ॥ १४ ॥

भाष्यसार—**विद्वान् का पढ़ाया शिष्य कैसा हो**—विद्वानों से विद्या पढ़े हुए विद्वान् शिष्य अपने मुख में वेद-शिक्षा से युक्त वाणी का निर्माण करें। और जैसे मेघ गर्जता हुआ वर्षा करता है, वैसे उसका विस्तार करें। उपदेश करनेयोग्य गायत्री आदि छन्दों से युक्त वेद का पठन-पाठन करें ॥ १४ ॥

अलंकार—इस मन्त्र में 'इव' पद उपमा-वाचक है, अतः उपमा अलंकार है। उपमा यह है कि जैसे मेघ गर्जता हुआ वर्षा करता है वैसे विद्वान् मनुष्य वेद-वाणी का विस्तार करे ॥ १४ ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे ऋत्विक्समूह ! तुम अपने मुख में स्तोत्रों को बनाओ और उन्हें विस्तृत करो। जैसे मेघ वृष्टि को फैलाता है, उसी तरह (स्त्रोत्र को फैलाओ)। और प्रशंसा के योग्य गायत्री छन्द वाले सूक्त का पाठ करो ॥"

इस मन्त्र के देवता 'मरुतः' की आचार्य सायण ने भाष्य से बिल्कुल ही तिलाञ्जलि दे दी है। देवता जो मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय है, क्या उसको छोड़कर मन्त्रार्थ सत्य हो सकता है ? और यदि 'मरुतः' की व्याख्या 'ऋत्विक्समूह' माना जावे, तो सायण की दूसरी कल्पित मान्यताओं का (स्वर्गस्थ शरीरधारी, रथारूढ मरुद्गणों का) सायण-भाष्य से ही खण्डन हो जाता है। और वृष्टि करने वाले मरुद्गणों के न होने से श्लोकादि का उच्चारण भी सम्भव नहीं है। महर्षि दयानन्द ने यह 'मरुतः'= देवता का 'मनुष्याः' अर्थ किया है। और वेद-विद्या का पठन-पाठन तथा उपदेश करें, इसका मन्त्र में उदाहरण देकर उत्तम उपदेश दिया है। महर्षि की व्याख्या में मन्त्र के देवता के साथ मन्त्रार्थ की पूर्णतः संगति है तथा किसी प्रकार की असंगति नहीं है ॥ १४ ॥ ●

घोरः कण्व ऋषिः। **मरुतः**। (**मनुष्याः**) देवताः। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

पुनः स किं कुर्यादित्युपदिश्यते ॥

फिर वह विद्वान् क्या करे, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

वन्दस्व मारुतं गणं त्वेषं पनस्युमर्किणम्। अस्मे वृद्धा असन्निह ॥ १५ ॥

वन्दस्व। मारुतम्। गणम्। त्वेषम्। पनस्युम्। अर्किणम्। अस्मे इति। वृद्धाः। असन्। इह ॥ १५ ॥

पदार्थः—(**वन्दस्व**) कामय (**मारुताम्**) मरुतामिमम् (**गणम्**) समूहम् (**त्वेषम्**) अग्न्यादि-प्रकाशवद्द्रव्ययुक्तम् (**पनस्युम्**) पनायति=व्यवहरति येन तदात्मन इच्छुम् **क्याच्छन्दसि**+इत्युः प्रत्ययः। (**अर्किणम्**) प्रशस्तोऽर्कोऽर्चनं विद्यते यस्मिँस्तम्। अत्र **प्रशंसार्थ इनिः**। (**अस्मे**) अस्माकम्। अत्र **सुपां सुलुग्** इत्यामः स्थाने शे। (**वृद्धाः**) दीर्घ-विद्यायुक्ताः (**असन्**) भवेयुः। लेट् प्रयोगः। (**इह**) अस्मिन् सर्वव्यवहारे ॥ १५ ॥

---

१. हे ऋत्विक्समूह ! आस्ये स्वकीयमुखे श्लोकं स्तोत्रं मिमीहि निर्मितं कुरु। तं च श्लोकं ततनः विस्तारय। तत्र दृष्टान्तः। पर्जन्य इव। यथा मेघो वृष्टिं विस्तारयति तद्वत्। उक्थ्यं शस्ययोग्यं गायत्रं गायत्रीछन्दस्कं सूक्तं गाय पठ ॥ (सायणः)

प्रमाणार्थ–(**पनस्युम**) यहां 'क्याच्छन्दसि' (अ० ३ । २ । १७०) इस सूत्र से 'उ' प्रत्यय है (**अर्किणम्**) यहां प्रशंसा अर्थ में 'इनि' प्रत्यय है । (**अस्मे**) यहां 'सुपां सुलुक्०' (अ० ७ । १ । ३९) इस सूत्र से 'आम्' विभक्ति के स्थान पर, 'शे' आदेश है । (**असन्**) यह 'लेट्' लकार का प्रयोग है ॥

अन्वयः—हे विद्वंस्त्वं यथेहास्मे वृद्धा असन् तथार्किणम् त्वेषं पनस्युं मारुतं गणं वन्दस्व ॥ १५ ॥

सपदार्थान्वयः—हे विद्वन् ! त्वं **यथेह** यस्मिन् सर्वव्यवहारे **अस्मे** अस्माकं वृद्धाः दीर्घविद्यायुक्ताः **असन्** भवेयुः; **तथार्किणं** प्रशस्तोऽर्को=ऽर्चनं विद्यते यस्मिंस्तं **त्वेषम्** अग्न्यादिप्रकाशवद्द्रव्ययुक्तं **पनस्युं** पनायति=व्यवहरति येन तदात्मन इच्छुं **मारुतं** मरुतामिमं **गणं** समूहं **वन्दस्व** कामय ॥ १५ ॥

भाषार्थ—हे विद्वन् ! आप जैसे (**इह**) इस समस्त व्यवहार में (**अस्मे**) हमारे मध्य में (वृद्धाः) दीर्घ विद्या से युक्त पुरुष (**असन्**) होवें, वैसे (**अर्किणम्**) प्रशस्त अर्चना वाले (**त्वेषम्**) अग्नि आदि प्रकाश वाले द्रव्य से युक्त (**पनस्युम्**) अपने व्यवहार के इच्छुक (**मारुतम्**) वायु-सम्बन्धी (**गणम्**) गण की (**वन्दस्व**) कामना करो ॥

भावार्थ:—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । मनुष्यैर्यथा वायवः कार्याणि साधकत्वेन सुखप्रदा भवेयुस्तथा विद्यापुरुषार्थाभ्यां प्रयतितव्यम् ॥१५॥

भावार्थ—यहां वाचकलुप्तोपमा अलंकार है । सब मनुष्य—जैसे पवन कार्यसाधक होने से सुखप्रद होवें, वैसे विद्या और पुरुषार्थ से प्रयत्न करें ॥ १५ ॥

भाष्यसार—विद्वान् क्या करे—विद्वान् ऐसा प्रयत्न करे कि जिससे समस्त व्यवहार में हमारे मध्य में दीर्घ-विद्या से युक्त पुरुष होवें । वह प्रशस्त अर्चना वाला अर्थात् प्रशंसनीय, अग्नि आदि प्रकाश वाले द्रव्य से युक्त अपने व्यवहार के इच्छुक वायु-गण की कामना करे । तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार से वायु कार्य-साधक होकर सुखदायक हों वैसा प्रयत्न करे ॥

अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है, अतः वाचकलुप्तोपमा अलंकार है । उपमा यह है कि—विद्वान् जैसे दीर्घविद्या से युक्त पुरुष अर्चनीय होते हैं वैसे प्रशंसनीय वायुगण की कामना करें ॥

समीक्षा—इस मन्त्र का सायण-भाष्य[1] इस प्रकार है—"हे ऋत्विजों के समूह ! तुम सब मरुद्-गणों को नमस्कार करो अथवा उनकी स्तुति करो । वह मरुद्गण कैसा है ? प्रकाशमान, स्तुति के योग्य और अर्चना=पूजा से युक्त है । हमारे इस कर्म में मरुद्गण वृद्धि को प्राप्त हों ॥"

इस मन्त्र में मरुद्गण की वृद्धि तथा उसकी वन्दना के लिये कहा गया है । यह मरुद्गण कौन है ? यह सायण-भाष्य से स्पष्ट नहीं है । यदि इसी सूक्त के ८-९ मन्त्रों के सायण-भाष्य के अनुरूप मरुद्गण का अथ वृष्टि करने वाले पवन हवायें लिया जाये, तो इस मन्त्र के विशेषणों से विरुद्ध है । क्योंकि मन्त्र में मरुद्गण को त्वेषम्=प्रकाशमान कहा है । हवाओं को प्रकाशमान कहना प्रत्यक्ष का अपलाप करना है । और अचेतन पवनों की वन्दना=नमस्कार करनादि भी निरर्थक है क्योंकि नमस्कारादि के अभिप्राय से पवनादि शून्य ही हैं । अतः सायण-भाष्य सन्दिग्ध एवं भ्रान्तिपूर्ण ही है ।

---

१. हे ऋत्विक्संघ ! मारुतं मरुत्संबन्धिनं गणं समूहं वन्दस्व नमस्कुरु स्तुहि वा । कीदृशं गणम् । त्वेषं दीप्तं पनस्युं स्तुतियोग्यम् अर्किणम् अर्चनोपेतम् । अस्मे अस्माकम् इह अस्मिन् कर्मणि वृद्धा असन् मरुतः प्रवृद्धा भवन्तु ॥ (सायणः)

महर्षि-दयानन्द ने यहां मन्त्र के देवता 'मरुत् की व्याख्या 'विद्वान्' की है। और जो वृष्टि-विज्ञान के वेत्ता विद्वान् पुरुष हैं, त्वेषम्=मरुत्=वायु-विज्ञान से प्रकाशमान या प्रख्यात हैं, पनस्युम्=स्तुति योग्य अथवा समस्त व्यवहारों के इच्छुक हैं उनकी पूजा=सत्कार करके वृद्धि करने से विज्ञान की वृद्धि होती है, अतः उन विद्वानों की सर्वदा पूजा करनी चाहिये। महर्षि की व्याख्या जहां सुसंगत तथा निर्भ्रान्त है, वहां शास्त्रानुकूल भी है। महर्षि ने 'मरुतः=ऋत्विङ्नाम' (निघं० ३। १८) के अनुसार 'मरुतः' की व्याख्या ऋतु-विज्ञान के वेत्ता विद्वान् पुरुष किया है और मन्त्र के समस्त पदों की विद्वत्परक-व्याख्या में ही सङ्गति है ॥ १५ ॥

पूर्वापरसंगतिमाह—अथास्मिन् सूक्ते वायुदृष्टान्तेन विद्वद्गुणवर्णितेनातीतेन सूक्तेन सहास्य संगतिरस्तीति बोध्यम् ॥ ३८ ॥

पूर्वापर-संगति—इस सूक्त में वायु के दृष्टान्त से विद्वानों के गुणों का वर्णन होने से पूर्व सूक्त के साथ इस सूक्त की संगति है, ऐसा जानो ॥

इति प्रथमाष्टके तृतीयाध्याये सप्तदशो वर्गः,
प्रथम मण्डलेऽष्टमानुवाकेऽष्टात्रिंशं सूक्तं च समाप्तम् ॥

यह पहिले अष्टक के तीसरे अध्याय में सत्रहवां वर्ग,
प्रथम मण्डल के आठवें अनुवाक में अठतीसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥ ३८ ॥ ●